

प्रकाशक— { पण्डित-श्रीआशुबोध-विद्याभूषण  
तथा  
पण्डित-श्रीनित्यबोध-विद्यारत्न ।

प्राप्तिस्थान— { २ न०, रमानाथ मजुमदार ट्रोट, छारिसन  
रोड—पोष्ट अफिस । कलिकाता ।

---

प्रिण्टर—वि, वि, मुखर्जी ।

२ न०, रमानाथ मजुमदार ट्रोट, कलिकाता ।

# मृच्छकटिकस्य नवीनायाः समालोचनायाः सूचीपत्रम् ।

| विषयः                                   | पृष्ठे | विषयः                                    | पृष्ठे |
|---|--------|--|--------|
| भानुपरीत चारुदत्तस्य ..                 | १८     | स्नानो गृहकाविभावसन्धेय खुटीय            |        |
| चारुदत्त हि मृच्छकटिकोपजीवम्            | १९     | नवमधिकशततमसप्तमस्य ..                    | १७     |
| काशाङ्गुलतुल्येषु तयो मादृश्यम्         | २९     | प्रीक्षादि अनुवर्गशीयभूय यज्ञश्री        | १८     |
| मृच्छकटिके कथञ्चिदनादरहेत् .            | २९     | यज्ञश्री मृच्छकटिककविश्री शैव इति        | २८     |
| मृच्छकटिकानां मृच्छकटिकतत्वे मतभेद      | ३०     | साम्यात् यज्ञश्रीमृच्छकटिककृती 'अमत्यन्त |        |
| चारुदत्तस्य खण्डितत्वे काव्यो हेतु      | ३०     | सुश्रुत' . ... ..                        | ४९     |
| चारुदत्तस्य खण्डितत्वे द्वितीयो हेतु    | ३०     | द्वितीयशताब्दीर्षये मृच्छकटिकरचना        |        |
| चारुदत्तस्य खण्डितत्वे तृतीयो हेतु      | ३१     | काल .. ..                                | ४९     |
| मृच्छकटिके कथिते पति नष्टताभिगीत        | ३१     | अज्ञात परमेव मृच्छकटिककाल                |        |
| सङ्क्षेपे हेतुषु चारुदत्तस्य खण्डितम् . | ३१     | इत्युदापत्ति .. ..                       | ८९     |
| विद्वद्वादिना द्वितीयहेतो खण्डनम्       | ३२     | कविरेख नाट्याचार्यभरतमतानुसरणम्          | ५०     |
| तत्र तृतीयस्य हेतो खण्डनम् ..           | ३४     | भरतयोगशास्त्रकालविनिर्णय                 | ५०     |
| मृच्छकटिकस्य अमरकवि कथञ्चलम्बने         |        | मृच्छकटिक खण्डपूर्वशताब्द्या विरचितस्य   |        |
| विरचितत्वे प्रस्तावनादानामास            | ३५     | नाट्यशास्त्रस्य पराचीनमेव .              | ५१     |
| प्रीतिविषयस्य सङ्क्षेपमिहान .           | ३७     | सम्पूर्णप्रस्तावनाया गृहककृतित्वे वितर्क | ५१     |
| मृच्छकटिकचारुदत्तयो परस्परनाम्नवैषम्यम् | ३८     | परवर्त्तमानये प्रस्तावनाया परिवर्त्तनम्  | ५२     |
| चारुदत्तमृच्छकटिकयोरेकविभिन्नता         | ४३     | प्रस्तावनाया कथं रूपकस्य च परस्पर        |        |
| मृच्छकटिको बहुगृहकदर्शनान् तत्काल       |        | सम्बन्ध . . . .                          | ५२     |
| निर्देशद्वाराहेतुस्य . . . .            | ४३     | मृच्छकटिके तत्कालममानसम्बन्ध             | ५३     |
| पति खण्डित 'पति' इत्याद्यायापकस्य       |        | मृच्छकटिके चरिताङ्गवैशिष्ट्यम् .         | ५४     |
| मन्त्रेदण्य 'एव' 'इति' इति तत्तु        |        | प्रकरणलक्षणम् .. .                       | ५५     |
| अज्ञातकाल                               | ४४     | 'मृच्छकटिकम्' इति समाख्याया का           |        |
| गृहककवि केवदनी                          | ४५     | दि नाम सादृशता ? ..                      | ५६     |
| मृच्छकटिके गृहकागृहकालप्रमाणम्          | ४५     | पताङ्गस्य प्रधानतावीजम् ..               | ५७     |

| विषयः                                   | पृष्ठे | विषयः                              | पृष्ठे |
|---|--------|------------------------------------|--------|
| अद्वयमन्तरा कालान्तरवधाननिर्णयः         | ६२     | अमृत्तर्णविवादः                    | ७२     |
| मृच्छकटिकवटना पञ्चमै दिवसे              |        | वेण्यानां सन्धिः समर्पणचलनञ्च      | ८०     |
| सम्पन्ना .. ...                         | ६६     | वेण्याभवनचित्रम् .                 | ८०     |
| दृश्यकाल्यपु भरताऽऽदिष्टसमयनिर्द्धारणम् | ६६     | तात्कालिकाचारः ..                  | ८१     |
| मृच्छकटिके भाषाशब्दहारः नाट्यशास्त्र    |        | मृच्छकटिक राष्ट्रिय समाजस्य च      |        |
| सम्भव .. ...                            | ६७     | उत्कृष्ट चित्रम् . . .             | ८१     |
| वर्णनामालुल्यम् .. ..                   | ६८     |                                    |        |
| घटनावचनायां शूद्रकस्य नैपुण्यम्         | ६८     | चारुदत्तः ।                        |        |
| घटन वल्लीनां साधक्यम् ..                | ६८     | चारुदत्तस्य दारिद्र्यम् . ..       | ८२     |
| प्रवेशस्थलविचारः . . .                  | ६८     | तदीया भक्ति धम्मनिष्ठा च           | ८२     |
| पाषाटीनां सटसन्निधितचारवाङ्मयम्         | ७०     | च रुदतीया गुणवली                   | ८४     |
| कवेर्नीवजनेषु सहानुभूति ..              | ७०     | चारुदत्तस्य नागराचारः              | ८४     |
| मापचित्रम् . . . . .                    | ७०     | चारुदत्तस्य संयमः . . .            | ८४     |
| विसदृशचित्राङ्गणम् .. ...               | ७१     | चारुदत्तस्य भावप्रवणत्व दीप्त्यञ्च | ८५     |
| दृश्ययोगनायामसङ्गति ..                  | ७१     | चारुदत्तस्य मत्यामृता तज्ज्विता च  | ८५     |
| शूद्रघटनामामसामस्यम् ..                 | ७२     | चारुदत्तस्य हृदय तदीयमौदायञ्च      | ८६     |
| शब्दाद्यदीपवाङ्मयम् .. .                | ७२     | चारुदत्तस्य सान्त्वना              | ८६     |
| आलङ्कारिकाणामनादरः तत्र च कारणम्        | ७२     | चारुदत्तस्य प्रेम                  | ८७     |
| मृच्छकटिकमालङ्कारिककल्पनाविनिर्मुक्तम्  | ७४     | वसन्तसेनाऽनुरागे तस्य मृगय         | ८७     |
| मृच्छकटिके कविकल्पितराष्ट्रीयवस्था      | ७४     | वसन्तसेनाविरहान् चारुदत्तस्य मनीषा | ८७     |
| यूतक्रीडायां प्रचलनम् .. .              | ७६     | मृगयभङ्गन तत्रोन्मिलनञ्च           | ८७     |
| विचाररीति . . . . .                     | ७६     | चारुदत्तस्य वैदग्ध्यम्             | ८७     |
| ब्राह्मणस्य कायिकदण्डः ..               | ७६     | गणिकायामपि वसन्तसेनायः तत्पुनराग   | ८७     |
| अमाकालान्तरमेव प्रणीतमेतदिति मतस्य      |        | हन्                                |        |
| खण्डनम् . . . . .                       | ७७     | चारुदत्तस्य धृता प्रति सदावधार     | ८७     |
| मृच्छकटिकादनुमिता सामाजिकावस्था         | ७८     | शरणागतवाङ्मयञ्च                    | ८७     |
| ददुरक .. . . .                          | ७८     | वसन्तसेन द्वे तस्य उच्छ्वा         | ८७     |
| श्रीतदासवप्रथा . . . .                  | ७८     | तस्य दौर्द्व २० कल्पितव्यञ्जना     | ८७     |
| श्लोकाभिप्रेयः .. . .                   | ७८     | प्रदा .. . . .                     | ८७     |

| विषयः                              | पृष्ठे | विषयः                                      | पृष्ठे |
|------------------------------------|--------|--|--------|
| पुष्पाव यशसुवदानम् ..              | ८४     | मिलनाकौशल्य चारुदत्तपरिजने                 |        |
| चारुदत्तस्य श्वावपि चमा .          | ८४     | ग्रहाभावश्च                                | १०८    |
| कृत्ते धम्म एव विजयनेतराम् ..      | ८५     | धृतायै रत्नावलीप्रदानं तस्या               |        |
| <hr/>                              |        | तदनङ्गीकारश्च ..                           | १०९    |
| <b>वसन्तसेना ।</b>                 |        | वसन्तसेनाया विस्मय धृताया                  |        |
| वसन्तसेनाया एकानुरक्तिः            | ८६     | ग्रहाप्रकर्षश्च                            | ११०    |
| वेष्मणादिकप्रोर्भेद .              | ८६     | तस्या चारुदत्तभाग्यविषय्ये कातरता          | ११०    |
| नदिकाविषये भरताभिमितम् ..          | ८७     | तस्या मातृपदवाक्यत्वाधिगतौ स्पष्टा         | १११    |
| वसन्तसेनाया कुसुमधम्               | ८७     | वसन्तसेनाया विपत्तौ तेजस्विता वेराग्यश्च   | ११२    |
| सूक्तकटिके चारुदत्तवसन्तसेनायो     |        | वक्ष्यमानाविनिमय ..                        | ११३    |
| प्रथममन्त्रजनम्                    | ८८     | नायिकाप्राधान्यम्                          | ११३    |
| चारुदत्तस्य इन्द्रपदवासप्रयोजनम्   | ८८     | <hr/>                                      |        |
| तस्या निराश्रमेन भावाभिमता च       | ८८     | <b>धृता ।</b>                              |        |
| सत्कण्ठः .                         | १००    | स्निग्धजनवाक्कल्यम् ..                     | ११४    |
| विपद्ग्रस्तं प्रियानुरागिता च      | १००    | रत्नावलीप्रदानम्                           | ११४    |
| चारुदत्ते वसन्तसेनाया प्रेमप्रकर्ष | १०१    | भोजयिता ..                                 | ११५    |
| अलिप्तनारदस्तदोद्यमप्रयत्न         | १०२    | चिताऽऽरीहृषप्रयत्न                         | ११५    |
| पुरषान्तरे उपेक्षा निर्लोभता च     | १०२    | <hr/>                                      |        |
| समिधा शिष्टाचारश्च                 | १०२    | <b>मैत्रेयः ।</b>                          |        |
| सद्व्यवसति                         | १०३    | विदूषककलक्षणम् .                           | ११३    |
| प्रदयापुदारता .                    | १०४    | मैत्रेयस्य चारुदत्तपक्षपात .               | ११६    |
| नक्षत्रपदभागा विलासप्रवाह .        | १०४    | चारुदत्तदाग्निद्राजनिजयिनी ...             | ११६    |
| सौकुमार्यवर्धितम् ..               | १०५    | तेजस्विता .                                | ११७    |
| दृष्टिने स्यात्समिधा               | १०६    | चारुदत्तस्य मैत्रेयात् सूक्तकटिकमैत्रेयश्च |        |
| चाकरीद्वितादिना अनुरागप्रदर्शनम्   | १०६    | वैशिष्ट्यम्                                | ११८    |
| परम्यानुरागे निमग्नता              | १०७    |  |        |



| विषयः                             | पृष्ठे | विषयः                                 | पृष्ठे |
|-----------------------------------|--------|---------------------------------------|--------|
| चारदत्तमुक्तिलाभे मैत्रेयस्यानन्द | १२१    | विटस्य दृजेन निरपेक्षता गुणग्राहिता च | १२४    |
| मैत्रेयश्चरित कवेरभिनवा सृष्टि    | १२१    | न्यायानुरागिता ..                     | १२६    |
| <hr/>                             |        | विटस्य जणिकम्भान्या चारुदत्तवसन       |        |
| <b>शकारः ।</b>                    |        | सेनयो विपत्ति ..                      | १२७    |
| शकारस्य नीचकुलोद्भवत्वे प्रमाणम्  | १२२    | विटस्य अपावे मित्रता                  | १२७    |
| शकारलक्षणम् . ...                 | १२२    | <hr/>                                 |        |
| शकारस्य मदमूर्खत्वाभिमाना ...     | १२३    | <b>स्थावरक ।</b>                      |        |
| शकारस्य असूयापरवशता ...           | १२४    | चेटशकाराणी प्रभेद .                   | १२७    |
| शकारस्य चेष्टावैफल्यम् ...        | १२४    | चेटस्य तेजस्विता ..                   | १२८    |
| <hr/>                             |        | तस्य समुन्नतचित्तता मत्थानुरागिता च   | १२८    |
| <b>विटः ।</b>                     |        | शर्जिलक .. ..                         | १३०    |
| विटस्य लक्षण व्युत्पत्तिश्च .     | १२५    | उपसंहार .. ...                        | १३१    |

### समालोचनायाः शुद्धिपत्रम् ।

|        |         |                           |                               |
|--------|---------|---------------------------|-------------------------------|
| पृष्ठे | पङ्क्तौ | अशुद्धम्                  | शुद्धम्                       |
| २८     | १३      | अधिजगौ                    | ... अधिजगाम                   |
| २८     | १४।१५   | विशुद्धा आसीत्            | ... विशुद्धा                  |
| २८     | १५      | अधुनातनै तत्त्वै          | . शास्त्रिमहोदयेन             |
| ३४     | २०      | तेन                       | . तद्वचनया                    |
| ३४     | २४      | आत्मनश्चैव्यापवादपरिहाराय | आत्मानश्चैव्यापवादपरिहाराय इव |
| ३६     | ५।६     | आत्मानभागस्यान्तरा        | . आत्मानभागमन्तरा             |
| ३७     | ८       | वास्तवौ                   | . वास्तव्ये                   |
| ३७     | १२।१३   | सुतधार.                   | प्रभावनाया पार्श्ववर्त्तन     |
| ३७     | २१      | ठट्ट—”                    | . टट्ट—”                      |
| ३७     | २५      | विरच्य                    | . विरच्य                      |
| ३८     | १५      | यस्मावन्नायक              | यस्मावन् नायक                 |
| ३८     | १५      | अभिहित, स तु              | अभिहितस्तु तत्                |
| ४०     | ५।६     | मृच्छकटिकम्               | वसन्तस्य भावः प्रवृत्तः       |
| ४३     | ११      | चारदत्ते                  | .. चारदत्त                    |

|    |  |  |
|----|--|--|
| ५८ | पङ्क्तौ अग्रदम्  | ग्रहम्   |
| ४५ | ४ भूमदापह  | .. भूमरापह                                       |
| ४६ | २२।२१ एकविंशत्यधिकविंशततमे<br>सवस्वरे                                  | { एकविंशत्यधिकविंशततमस्वस्वरादौ<br>त्राक् श्रुटक |
| ४६ | १५ रुद्रदाननी नाम  | ... रुद्रदाननाम                                  |
| ४६ | २४ रुद्रदानन रूप   | ... रुद्रदानरूप                                  |
| ४७ | ४ रुद्रदाननरूपति   | ... रुद्रदाननरूपति                               |
| ४८ | १६।१० रुद्रदाननामा पुलनादिना   | .. पुलनायी रुद्रदाननामा                          |
| ४८ | १७ पुनरुत्पत्तिश्च   | ... पुनरुत्पत्तिश्च                              |
| ४८ | ६ रुद्रदाननरूपति   | ... रुद्रदाननरूपति                               |
| ५० | २२।२३ पूर्वरेङ्ग पादप्रवेशश्चालरा                                      | .. पादप्रवेशनन्तरेण                              |
| ५४ | १ सम्पादित   | .. सम्पादित                                      |
| ५५ | ४ किन्तु   | ... अन्यतश्च                                     |
| ६० | १४ ऐहिकदृष्ट्यविषयाभिमुखौ<br>भक्तिं शक्त्यादपि सा                      | { ऐहिकविषयाभिमुखौ अपि                            |
| ६० | १५ चिरप्रचलितप्राचीनपञ्च<br>लक्ष्मीलक्षणनितपञ्च-<br>प्रतिफलतामुपगताऽपि | { चिरप्रचलितपञ्चतित<br>किञ्चित्प्राक्कमुपगताऽपि  |
| ६४ | २ अन्यथा   | अन्यथा   |
| ६० | २३   | .  |
| ७० | ८  | .  |
| ७१ | ८  | .  |

७८ २३ २५ परिगृहीतम्

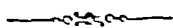
( परिगृहीतम्, अपि च कामन्दकीयौपनिष  
दाधिकारस्य प्रथमाध्यायेऽपि गणिकाया  
पाठिरूपेणापारम्परीयदर्शनात् एवमन्  
नीयते इतः, अपरशक्तया अनादृताऽपि तादृशी

|        |         |               |           |
|--------|---------|---------------|-----------|
| पृष्ठे | पङ्क्तौ | अगुडम्        | गुडम्     |
| ८७     | १       | तस्यासाते इति | तस्यासाते |
| ८७     | ३       | अभग्नम्       | अभग्नदिति |
| १११    | २६      | इति ।         | ।         |

## अन्यस्य शुद्धिपत्रम् ।

|        |         |                       |   |
|--------|---------|-----------------------|---|
| पृष्ठे | पङ्क्तौ | अगुडम्                | गुडम्   |
| ६      | २७      | सुरत                  | सुरसम्पत्   |
| ७३     | ६       | रमयितु                | रन्तु   |
| ७४     | २१—२७   | { इत परम्<br>भवतीति } | { [“रमिदुमिच्छामि इत्यव”रमवितुमिच्छामि”<br>इत्यनुवदन्त केचित् इदं प्राचक्षन्मित्राहुः, तत्र<br>समीचीनं, सृच्छकटिकप्रकरणस्य आदशभूतं<br>भासकृतद्वन्द्वचारुदत्तेऽपि एतदगस्य दृष्टत्वात्,<br>स्वमुखिनेदृशच्छापकटनस्य रमणीजनविरुद्धे<br>ऽपि परमप्रेमास्पदाया मत्स्या समापे तत्-<br>प्रकाशस्य सख्यया सम्भाषमाणताञ्जलि मुनी<br>भिर्विभाष्यम् । ] |
| १४४    | २७      | वर्त्तयिष्य ।         | { वर्त्तयिष्य । [“परात्ययानुष्ठा” इत्यव “पार-<br>त्ययादिमुञ्चो” इति पाठान्तरे “पौरुष्याभ-<br>मुञ्च” इति संस्कृतं पृथ्यादशवर्गस्मितास्य<br>इत्यथश्च, पृथ्वाभ्यर्त्तव दानशङ्कस्य राज्ञा<br>विद्वित्तनादिति ] ।  |
| २५७    | १२      | भवतीति                | { भवतीति वीपटेश्वरसमं दौलतस्य “प्राद-<br>क्षिटीकायैष्यष्व” ( वा० ) इत्यस्य आख्या-<br>नावसर “द्वैत्य प्र० ” इति पदद्वय-<br>वभिन्नवाक्यानां प्रकारभेदेन निर्यादितवान्<br>इति  |
| ४४६    | २१      | स्त्रियश्च इ          | स्त्रियश्चान्चाङ्   |
| ४४६    | ६       | विद्वत्               | वचनस्तेनावा   |

## कविसमयनिरूपणम् ।



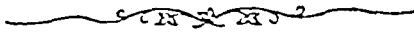
नृच्छकटिकप्रणेता शूद्रक ब्राह्मणो राजा च आसीत्, यतोऽनौ ऋक्नामवेदयोः अधीतो अश्वमेधयाजी चान्यूयत । तेन खलु स्वकीयं पुत्रं राज्येऽभिषिच्य दशदिनाधिकं वर्षाणां शतम् आयुःपरिमाणं लब्ध्वा अग्निप्रवेशं कृतः । कोऽसौ राजा ? इति प्रश्ने.—शातकर्णीविशतन्भवः अन्ववशीयः प्रथमो राजा शिशुकः शिशुक-निम्बुकैत्यन्यतमनामधेयः इति प्रत्युत्तरयाम । सोऽपि च शिशुकः शातकर्णीगोत्रतन्भवो ब्राह्मणो बहुतरयज्ञकर्त्ता प्रबलो दीर्घायुश्च राजा आसीत् । राज्यञ्च तस्य दक्षिणस्यां दिशि नविस्तौर्गं बभूव । नृच्छकटिके ग्रन्थकारस्य द्रविडादिभाषासु प्रावीण्यं, कर्णाटकलक्षणे, च अतीव पाटवं लक्ष्यते ; तेन चैतदनुमीयते यत् कविरनौ दक्षिणदेशीयः इति । दृश्यन्ते च शातकर्णीगोत्रोत्पन्नानां राज्ञां बहवः शिलालेखाः, तेषु च शिशुकानुजस्य कृष्णस्य लेखः प्राचीनतमः ; अस्ति च तस्मिन् लेखे शिशुकस्य कृष्णस्य च प्रतिमूर्तिः, शातकर्णीनां प्रायशः यज्ञानुष्ठानस्य यज्ञदक्षिणायाश्चोद्धेखः इति ।

एवञ्च यदि नृत्यमेव शूद्रकः ब्राह्मणो राजा अन्वुदेशीयः हविस्तौर्गस्यान्ववशीयः प्रवर्त्तयिता, तदा तस्य आविर्भावः समग्रः सुगमः एव । अनौ राज्ञः अशोकस्य नृत्यो पञ्चाशद्वत्सरेभ्यः पूर्वात् सौख्यवशीयानां राजत्वमुच्छ्रिय अन्वुदेशे स्वाधीनं राज्यं स्थापयामास, तेन च खट्वप्रादुर्भावात् हिमवतवत्सरेभ्यः पूर्वमस्य प्रादुर्भावकालः इति नृच्छकटिकप्रकरणपाठे सम्यक्तया प्रतिभाति । खट्वप्रादुर्भावात् पञ्चमः शताब्द्यां भातनामा प्रसिद्धः कविः बह्वनि रूपकाणि रचयामास, तेषु च दरिद्रचारुदत्तः नृच्छकटिकस्य मूलतया अवतन्वते । दरिद्रचारुदत्ते चारुदत्तस्य नृत्यं महाहकः सभिकः

हस्तात् परित्रातः परित्राट् बभूव, मृच्छकटिके तु असी शाक्य-  
भिचुरिति । अनुमीयते चैतेन, यत् दरिद्रचारुदत्त-मृच्छकटिक-  
रचनाकालयोरन्तरा बौद्धानां प्रादुर्भावः आसीदिति । अशो-  
कस्य च बौद्धधर्मप्रचारक राज्य, दरिद्रचारुदत्तम् अशोकप्रादु-  
र्भावात् पूर्वं, मृच्छकटिकञ्च तदनन्तरम्, अशोकेन स्वकीयेषु  
अनुशासनेषु सर्वत्र विजिते दण्डसमता व्यवहारसमता च प्रव-  
र्त्तिता ; तथा च तेन जातिनिर्विशेषेण समाने अपराधे समानो  
दण्डो देय इति आज्ञा प्रचारिता । तत्पूर्वं ब्राह्मणानां कायिको  
दण्डो नासीत् । मृच्छकटिके तु दृश्यते, यदैव राज्ञा पालकेन  
ब्राह्मणस्य चारुदत्तस्य वधदण्ड आज्ञप्तः, तस्मिन्नेव मुहूर्त्ते राज्यं  
विप्लवो जातः, हतश्च दुरात्मा पालकः । नवीनं च राज्ञा आर्य-  
केण शर्विलकमुखेन वध्यभूमावेव चारुदत्ताय वेणानटे कुशावती  
राज्यदानवार्त्ता प्रचारिता । यतश्च पूर्वं ब्राह्मणानां वधदण्डो  
नासीत्, यतश्चाशोकेनैव प्रथमतः ब्राह्मणानां प्राणदण्डाय  
निर्वन्धः कृतः, यतश्च मृच्छकटिके तादृगदण्डाज्ञाप्रचारानन्तरं  
मेव राज्यविप्लवो जातः, अतः प्रतीयते अशोकराज्यध्वमानन्तरं  
ब्राह्मणानां राज्यकाल एव प्रकरणमिदं प्रणीतम् ।

तीक्ष्णबुद्धिना प्रवृत्ततत्त्वपारगं यमता काशीप्रसादजय-  
श्यालेन लिखितं खृष्टप्रादुर्भावादेकादशाधिकद्विगतवत्सरंभ्य  
पूर्वं शूद्रकनरपते राज्यं मृच्छकटिकस्य च प्रणयनमिति,  
एतादृशीं मृच्छाणुमृच्छगणनां तु भारतवर्षीयतिहासं कुत्रापि न  
कृता, अतः साऽच न गृहीता, दीर्घायुप्लवस्य राज्ञः कियति  
वयं परिमाणं नाटकलिखने प्रयत्नः, तत् न केनापि कथयितुं  
शक्यते इति तत्त्वम् ।

## मृच्छकटिकप्रकरणीयकथासङ्क्षेपः ।



### तत्र अलङ्कारन्यासाख्यप्रथमाङ्ककथासङ्क्षेपः ।



तवभवान् महाकवि चित्तिपति यद्रक्त किल मृच्छकटिक नाम प्रकरणमेतन्  
न्यरचयत् । अवन्यीपुरीवास्य साधवाहसधम्ना दरिद्र हिज चाबुटत अस्य  
नायक नायिका तद्वृणानुरागिणी साधारणी वसन्तसेना, स्वकीया कुलजा धृता  
चेति । प्रकरणस्यास्य वर्णनीयवस्तुन प्रारम्भे तवभवान् कवि कृतमङ्गलाचरण  
प्रस्तावनाया मृवधारमुखेन कविप्रशंसापुरस्सर एतत्प्रकरणायनायकादीनामुक्तरूप  
सङ्क्षेपत पारचयमदात् ।

ततश्च मृवधार समाप्तसङ्ग्रातक्रिय दुमुचाप्रपीडित किञ्चित् प्रातराशमिच्छन्  
गृहं प्रविष्टः, एकस्मादसम्भाषित भोजनादयोगमाखीक्य विस्मित स्वपत्नीमाह्वय,  
इदानीमशितव्यं किञ्चिदस्ति न वेति अपृच्छत् । सा च तस्मै अस्तीति विज्ञाप्य, पुन  
तेनैव आकस्मिकभोजनादयोगकारणं पृष्ट्वा अनुष्ठितोपवासव्रतारुद्रब्राह्मणभोजनमेव  
तदयोगहेतुतया निर्दिशन्तो निश्चयमाह । मृवधारश्च स्वावस्थानुरूपं ब्राह्मणमेक  
निमन्त्रयितुं बाह्यगत्वा, समन्वृतं यान्त ब्राह्मणं मैत्रेयमानीक्य तं निमन्त्रयितुम्  
आज्ञाहव । स च स्वकायव्ययतामुल्लिखन् तं प्रत्यादिदेश । मृवधारोऽपि तेनैव  
प्रत्यादिष्टं अन्यं ब्राह्मणं निमन्त्रयितुम् अन्यत्र गतः । इतश्च मैत्रेयं प्रियमुहद  
आचारुदत्तस्य अनिद्यतकालमपिसाक्षिषु अश्विसर्जनजनित विभवचयमनुस्मरन्  
नतरं, उत्सवता बहुधा हिल्लापः ।

मातृकाभ्य बलिमुपहर्तुमादिदेश । सैवेयम् “यदि एनं प्रव्यमाना अपि देवता ३  
त प्रसीदन्ति, तदा किं दर्वैरञ्जितं ? अपि च एतस्मिन् प्रदीपसमये राजपथे गणिक  
राजवल्लभा विटायानिग सखरन्ति, अहं तेषामभिमुखोपतितयेन वञ्च भविष्यामि”  
इति वदन् तेषु भोत्या तत्कार्यं निर्वर्त्तयितुं नैच्छत्, चारुदत्तस्तु “भवत्वेवम्”  
इत्युक्ता सायात्रिकीं क्रिया सम्पादयितुं प्रवहने ।

अथान्तरे, विटचेष्टशकारैरनुगम्यमाना वसन्तसेना चारुदत्तगृहसमीपवर्तिना पथा  
प्रचलितुमारब्धा । शकारं प्रति अनुरागसम्पादयितुं तैर्मुहुरनुमोद्यमाना वसन्तसेना तु  
तान् स्वानुसरणप्रवृत्तान् विलीक्य भोत्या बालकदलीव दरकास्पन्नी बभूव, आज्ञाव  
च “पल्लवक ! परभृतिके ।” इत्युक्ता स्वानुचरान् स्वानुसरणप्रवृत्तेभ्यस्तेभ्यो रक्षितुम् ।  
बहुधा चैवम् आह्वयामि कमपि शरणसंप्राप्य स्वयमेव आत्मानं रक्षितुं यत्नवती बभूव ।  
शकारस्तु तदानामपि वसन्तसेनामननुरागिणी मत्वा बलादव ता धरयितुमिच्छेत् ।  
भद्रवशीर्य, विटस्तु तदा तां तथा विपत्तामालीक्य कथञ्चित् रक्षितुमयत्नत । वसन्तसेना  
तु स्वालङ्करणयङ्ग्यायमेवैतया समानुसरणमिति विभाव्य विटं तदग्रमगच्छत्, स तु  
“पुण्यिता-ल्लतिका न पुष्पापहरणाद्या, तत्कृतमलङ्करणे” इत्युक्ता रिरम् शकार  
स्वशरीरदानेन प्रीणयितुं ता बहुधा अनुरोध । ततश्च ता सञ्जया तताननुरागिणीं  
चारुदत्तानुरागिणींश्च विदत्वाऽसौ तदनुरागं भूयसा प्रशस्य मदेतन् ता वामत  
स्थित तत्प्रथमं चारुदत्तस्य भवनं दर्शितवान् । तदवलीक्यैव वसन्तसेना “भागादवाप्त  
प्रियभवनसमीपमुपागता” इति आत्मानं कियद्वि प्रियवाक्यं, तयां पुनः परामर्श  
ऽऽगच्छया विटोपदेशत तस्मिन् घनाश्वकारैर् नृपराणि पादभ्यामुन्मूष्य, मात्मानं  
चापनीय, रुद्धे चारुदत्तपक्षद्वारेनभृतां तृणैः स्थिता ।

समाप्तसाधननक्त्यस्तु चारुदत्त, मातृकाभ्य बलिमुपहर्तुं भूय विदूषकमादिदेश,  
स तु पुष्पवटश्च तन्नाङ्गीकृतवान् । ततः स्वकीयम् अन्तरङ्गजनमपि आजापरिपालन  
विमुखं विज्ञाय, नितरां खिन्नमना दारिद्र्यमेवैतस्य मूलकारणं निश्चयमासीत् बहुधा  
व्यस्यत् । तच्छ्रुत्वा मलञ्ज सैवेयं पुनस्तदादेशमनुपालयितुं कामं “यदि मया गन्तव्यं,  
तदा रदनिका स सहायिका भवतु” इति यथाचे, चारुदत्तोऽपि “तथा, हा इत्यनं  
मोदितवान् ।

तद्गृहीता रदनिका तु भीता सती “आर्य्यनिग्रै कथमेवमकार्य्यमनुगृहीयते ?” तम इति तिरस्कृतवती । अथ प्रदीप गृह्णीत्वा प्रत्यागत मैवेथोऽपि तेषां तथाविध दुर्व्यवहार दृष्टा नितरां क्रुद्ध तान् दण्डकाष्ठेन ताडयितुमेषकम् । विटस्तु अनेन मञ्जित “अन्यजनममकृतमेतत् भवत्यनिजमपघणम्” इत्यभिधाय तमनुमनाय, सायहमन् करोष च त चारुदत्तस्य काशमेतत्कर्ममुपवर्णयितुम् । तद्दर्शनाच्च सासृष्टेन शकारेण “कथ त्वमस्य पादयोर्निपतित, कस्माद्वा भीत ?” इति पृष्टोऽसौ “आर्य्यचारुदत्त-गतेष्व ण्वाह जिमेमि” इत्युक्त्वा वदान्यस्य तस्य बहुधा प्रणमामकरोत् । शकारे तु “वसन्तसेनामगृहीत्वा न गमिष्यामि” इत्युक्तवति विट त विसृज्यैव प्रातिष्ठत् । अथ शकार “वसन्तसेनानास्त्री काचित् गणिकादागिका त्वदमरुक्ता अस्माभिर्बहुधाऽनुनीयमानाऽपि तव नेह प्रविष्टा, ता यदि न दाम्यसि, तदा नूनमह त्वां राजदण्डेन दण्डयिष्यामि” इति चारुदत्तमावेदयितुं विदूषकमादिशत्, एव बहुविध त भीषयित्वा तस्यानात् सत्वरमपातरञ्च । स्वपरिजनानामेवमवमाननावात्तामुपश्रुत्य सखा मे द्विगुणतरं दुःखिती भविष्यतीति सत्वा मैवेय रदनिका तद्वर्षणवृत्तान्तज्ज्ञात चारुदत्ताय विज्ञापयितुं न्यषेधत्, साऽपि तद्यैव करिष्यामीत्यङ्गीकृतवती ।

अतान्तरे चारुदत्त शीतार्त्तं रोदसेनमाच्छादयितुं रदनिकाभरणेण वसन्तसेनाया उपरि स्वकीयं प्रावारकं निषिञ्चेत् । तच्च जातिकुसुमसुगन्धि प्रावारकमाग्राय, वसन्तसेना—दीनोऽपि चारुदत्त शौचनमुखोपभोगे अनुदासीन एवेति विभावयामास ।

तदानामैव च मैवेयेण सह प्रत्यागता रदनिकामालोक्य “केयमपरा स्त्री, रदनिके-लभिमानता मया मद्रावावसक्तेन वाससा दूषिता ?” इति पृच्छते चारुदत्ताय मैवेय “कामदेवायतनीयानि दशनात् प्रभृति त्वयि अनुरक्ता वसन्तसेना नाम गणिका त्वां नीवितुं समुपागता” इत्यभिधाय शकारीकं सर्वं विज्ञापयामास । तदुपश्रुत्य चाम्नी चारुदत्त परिजनीचितीपचारजनित स्वापराधं क्षामयितुं ता सादरमनुमनाय । ततः वसन्तसेना एवमकस्मान् आगत्य प्रियभवममधिवस्तुमनुचितमिति विचिन्त्य “एते पापा अमरुदण्डलोभादेव नामनुसर्गन्ति, अत एतत् सर्वमेव मेऽलङ्करणं भवदण्डे निक्षेपमिच्छामि” इति क्षल्लमेकमनुसृतवती । चारुदत्तस्तु स्वगृहस्य व्यासुरचणां वर्ततां तस्य वदन्तपि तदनुगृहातिपृष्टेन अनिच्छन्नेव मैवेय तदल्लितुमुपादिशत् । अतः सौम्यीदृशीकृतदिदण्डे चन्द्रमण्डली मायकप्रशंसाधानिव चन्द्रिकाधारा विकिरते चारुदत्तमैवेयाभ्याननगरमनां वसन्तसेना स्वगृहं प्रति चञ्चल । प्रविष्टाऽहं तस्यां स्वगृहं, ताऽपि स्वभवनं प्रत्यायातानिति ।



## अथ द्यूतकरसेवाहकाख्यद्वितीयाङ्ककथासङ्क्षेपः ।

अथ चारुदत्तनिमित्तमुत्कण्ठितायां वसन्तसेनायां, मदनिकया सह विविधतन्त्र-  
भूयिष्ठा चारुदत्तविषयिणी वाचमभिधातु सम्प्रवृत्ताया नेपथ्यात् द्यूतक्रीडकाणां  
सहान् कोलाहल प्रादुरासीत् । द्यूतक्रीडायां हारितदशसुवर्णकानां कृतं चक्रं  
द्यूतकरे सवाहके पलायिते, द्यूताध्यक्ष माथुर अन्त्येन द्यूतकरेण सह तमनसमार ।  
स च इतस्ततो बहुधाऽन्विय, गूढदेवमन्दिराभ्यन्तरे प्रच्छन्नं स्थितं तमुपलभ्य च  
हारितदशसुवर्णकानां कृते बहुधा ताडयामास ।

अत्रान्तरे मार्गवशात् तत्र समागतं दूर्दुरकनामा अपरं कथितं द्यूतकरं,  
द्यूतकरमाथुराभ्यां ताडयमानं सवाहकं विलोक्य दयापरवशं तेषां कलहं निराकृत्य  
चेष्टमानोऽपि तव विप्लवमनोरथं सन्नसौ पुनः कृतकृत्यकलहं, माथुरस्य चतुराणां  
पाशुभिः पुरयित्वा, सवाहकाय सत्वरं पलायितुं सज्जामदात्, सोऽपि उचितमवसरं  
प्राप्याप्रसन्नः । दूर्दुरकोऽपि प्रधानसभिकमाथुरं विरुध्य, तदानीं तस्मिन्नात्र  
स्थाने अशुभफलमाशङ्कमानः, “आर्यको राजा भविष्यति” इति प्राक्श्रुतं प्रियमुद-  
ञ्चर्विलक्षवचनमनुस्मरन्, “अशरणा अस्मादिषां सर्वे एव इदानीं तमेवायं गन्तीत्यह-  
मपि तवैव गच्छामि” इति निश्चित्य, भाविमं राज्ञं आर्यकस्य समीपमाजगाम ।

सवाहकोऽपि तदा पुरं स्थितसपाहतं वसन्तसेनापक्षहारं निरीक्ष्य, तदभ्यन्तरे  
प्रविष्टं तस्यां शरणागतोऽभूत् । वसन्तसेनाऽपि शरणागताय तस्मै अमरं दत्त्वा  
पक्षहारमावृतमकरोत् । माथुरद्यूतकरौ च सुष्टिप्रहारणं भयायां सवाहकस्य  
नासिकायां निःसृतस्य रक्तस्य लिङ्गमनुसृत्य वसन्तसेनापक्षहारद्वेष्टं पुनः तत्र  
रोधाशया तस्थुः । आत्मपरिचयकथाप्रसङ्गाच्च सवाहकं कदाचित् आश्रयार्थं  
गृध्रधारतं ज्ञात्वा तमं आसनदानादिना व्यज्जनेन च सादरं संवदितवत्, तस्मिन्नेन  
वर्तौ च तं सभिकायां दशसुवर्णमूल्योदितहज्जामरणं दत्त्वा कृतवन्मनात् । सभिका  
द्यूतकरौ च ततः गृहीत्वा सानन्दं निष्क्रान्ताः । सवाहकस्य ततः प्रसन्नं च सद्यः  
करापमानमनुस्मरतिनिविष्टं शाकायमणकं मन्त्रतः ।

ब्रह्मेव लौकिकेण त ममकस्मिन् प्रहस्य सवाहकप्रमाणं गणितवान्, तदा  
 रानपक्षे गच्छन् कथितं सहृदयं नश्यन्ति प्रावारकं स्वगावात्प्रीत्य दत्तवान्” इत्यपि  
 लब्धेदयत । आतिकुसुमवासितं तच्च प्रावारकमालोक्य, स्वप्रियतमस्य चारुदत्तस्यैवायं  
 मिति प्रत्यभिज्ञाय ज्ञानदीप्तपुद्गवदना वसन्तसेना स्वगृहपार्श्ववर्तिना मार्गेण गच्छत  
 म्प्रियतमस्य दर्शनेनात्मानं विनादयितुम उपरितनमस्ललितसारोह ।

अथ सन्धिच्छेदाख्यतृतीयाङ्कयासङ्क्षेपः ।

गन्धर्वोत्तमस्तस्य समहद चारुदत्तस्य अहरजस्यान् अतिक्लान्ताया, तत्परि  
चारकं बहुमानकं वन्निर्हारशालिकायां सुखाप । अथ सङ्गीतमाकलय चारुदत्ते  
विदूषकेन नृह भावरेभिलस्य गृहान् प्रतिनिवृत्ते विदूषकाह्वानेन प्रतिबुद्धं बहुमानकं  
पञ्चकुशाट्यानाम् तौ च गृहं प्रविश्य स्वपितुमुपक्लान्ता । “वसन्तसेनया निक्षिप्त  
तदनङ्गराजात् दिवा बहुमानकयेष्टं रक्षति, रात्रौ च विदूषकः” इति नियमान्  
नारिण चारुदत्त आगतनावनेव “भवानिदानीनिदमलङ्कारजातं गृहाण” इति  
मिष्टप्रकमादिष्टेन । विदूषकस्तु तदा स्वयं तद्वर्जितुमनिच्छन् अन्तः परं रक्षितुम तमन-  
ुरोधः । चारुदत्तस्य साधारणनारीहृततया निक्षिप्तं तत्तं बहिः प्रकीर्त्ते एव स्थापयितु-  
मिच्छन् पुनरपि तन्नेव रक्षितुमादिष्टः । अगत्या विदूषकस्य तदलङ्कारजातं स्वसमीपे  
स्थाप्य निवृत्तौ ।

तत् तयो प्रगादप्रमुखाय शर्विलक्षणमा कथित तस्मै चोरयितुमागतः  
तस्मै सन्निविष्टात्कृतज्ञाश्रयत्वादेव अपहरणोचित किमपि द्रव्यमनवलोका-  
त्तस्मात्तानुसारिणा परीक्षया च सृष्टिनिश्चातमपि धनादिक किमपि नास्तीति  
विज्ञाय 'परमाद्येदृष्टि एव शारदस्त' इति कृतनियय हताश सन् यदा अप-  
रमेवमुपपन्नं तदासौ, 'युक्ते सन्नि भित्त्वा चौर प्रविष्ट' इत्येव स्वप्ने दृष्ट्वा  
तद्वत्तद्वत्तभागापरस्परदृष्ट्वा तद्वत्प्राधान्येव शारदस्ताय तत् प्रदातुमुद्यतह्रस्व-  
विद्वत्कृत एवमनाकृत सन्निविष्टा दीपमन्त्रेण निनस्यद्वयभागात् दृष्ट्वा निवृत्तुरपि  
स्वप्ने तद्वदति कदाचिदपि प्रपुष्टं ना दृष्ट्वा चौरत्वेन विनानीयात्' इति शङ्का-  
युक्तिः यथा- 'नेत्रेण विवृतेषादेयं दीपं भित्त्वा च दीपं तत् तस्मै ह्यमादपहृत-  
तस्मात्तद्वत्तभागापरस्परदृष्ट्वा तद्वत्प्राधान्येव शारदस्ताय तत् प्रदातुमुद्यतह्रस्व-

ਸਰਕਾਰੀ ਸੇਵਾ ਵਿਚ ਪਾਇਆ ਗਿਆ ਸੀ। ਉਸਦੀ ਮੌਤ ਹੋਣ ਤੋਂ ਪਹਿਲਾਂ ਉਸਨੇ ਆਪਣੀ ਸਾਰੀ ਸੰਪਤੀ ਆਪਣੇ ਪਤਨੀ ਨੂੰ ਦੇ ਦਿੱਤੀ ਸੀ।

विदूषकमपि प्रबोधयामास । रदनिकामुखात् विदितवृत्तान्तं विदूषकोऽपि चारुण्यं  
 जागरयामास । स तु तन्मात्रात् अपहरणवार्तां श्रुत्वा उज्ज्वलिनीवामिभिः सर्वैरन-  
 स्वदीनताया विज्ञाततया तन्तु पश्यतोऽहर सुदूरदेशादागतं निश्चिन्त्य च स्वग्रन्थ-  
 निर्दशनतया तं कृतमर्थप्रयासं मन्यमानः परं विषादमुपगच्छन् पश्चात् तदलङ्कारप-  
 हरणवार्तां ज्ञात्वा आपन्नवत्सलोऽसौ तं सफलमनोरथमाकलयन् नितरामहणत ।  
 ततस्तु तत् न्यासभृतमासीदिति विदूषकेणानुस्मारितं स परं मोक्षमुपागतः । समा-  
 श्रुत्य विदूषकेण प्रस्तावितं मिथ्याऽपलापेन आत्मत्वाणं चारुवभगकारणतया  
 अतिघृण्य मन्यमानः प्रत्याचख्यौ ।

इतश्च चारुदत्तवधू धृताऽपि रदनिकामुखात् एतत्सर्वं वृत्तान्तमाकण्य मोक्ष-  
 मुपागता, पुनस्तथैव किञ्चित् समाश्रुत्वा आश्चर्यस्य चारिव सन्तथा अकलङ्कितमन-  
 सस्थापयितुं स्वमातृदत्ता रत्नावलीं न्यामप्रतिक्रियार्थं दातुमिच्छन्ती यदि प्रिय-  
 अतिशौण्डीरतया न गृह्णातीत्याशङ्कमाना मेवेवमाह्वयं स्वपत्नीततदानामपेण तया  
 तां समर्पितवती, विदूषकोऽपि तस्माभिवार्तां अचिरादत्र प्रियमुद्दत्तं आज्ञपत् ।  
 चारुदत्तोऽपि परन्वा तादृशीं महानुभावतामवलीक्य अतिदारदसात्मानसमधिनिष्ठा-  
 समनन्तरमेव “नासी प्रकृतं दरिद्रं, यस्यास्ति निवर्तं दारदमुत्तमं दृष्टुमी गणवती  
 भाव्या” इति विभाव्य धन्यमेवात्मानममन्यत । अयामौ तत्क्षणमेव स्वगतां  
 विनिमयेन वसन्तमेनां रत्नावलीं प्रत्यपात्रतं विदूषकसादृश्यं उपदिष्टम् ।  
 स्वदारिद्र्यात् प्रकृताशकथने यदि सा न विवश्यादिति मयाभूतमाप “ननु आत्मा  
 आत्मायमिति कृत्वा न्यासाभृतं तत् सुवर्णभाण्डमस्माभिः दत्तं चारितं, भावो तद-  
 विनिमयेनेदं गृह्णातु” इत्यभिधातुम् । तथाविवा चतुःसदस्यारसतां रत्नावलीं  
 अल्पमूल्यद्वयविनिमयेन वसन्तमेनां दातुमनिच्छत विदूषकाः । “ननु यामयेन सा न्या-  
 दीयत, न त्वपहतधनस्य” इति विचाष्य, असौ वसन्तमेनां रत्नावलीं प्रदानायक-  
 अकृपणशीलं दाय्यमभिधातुं पुनरपि उपदिशत । अतः च विदूषकं चारुदत्तं न  
 मानकं सन्निदेशं सुमहत्तं कर्तुमुपदिश्य कृतार्थं च सन्तान्तां सर्वान् कृतवान् ।

अथ रदनिकाशब्दिलकास्यचतुर्थादृक्शालास्य ।

मुद्रादानेन स्वामासीया कर्तुंकामस्य कामपरवशस्य राजग्यामकसंस्थानकस्य प्रभावमस्वीकुर्वाणा स्थिता, तदा शर्विलक वसन्तसेनासदनं प्रविश्य स्वप्रियतमा नदनिकानन्विष्यन् वसन्तसेनाऽऽदेशेन तालवृन्तं गृहीत्वा तत्समीपं प्रत्यागच्छन्ती तानपश्यत् । दृष्ट्वा च ता तथा निजने स्थाने, अन्तीऽन्यसम्मेलनात् परमानन्दितः, वसन्तसेना निष्क्रियेण त्वा मीक्षति न वेति तामपृच्छत् । इतश्च वसन्तसेना तालवृन्तं नानेतुं गतानपि मदनिका सुदोषकालनापि पुनरप्रत्यागता गवाक्षमार्गेण पश्यन्ती, केनचित् पुरुषेण तां स्वविषयमालपन्तीमाकण्य निभृतं स्थिता तयोः सर्वं रहस्यं नगृणात् । मदनिकया च स्वनिष्क्रियचितविभवागमीपाय पृष्ठं शर्विलकं चौक्यमेव तदपायं विनिर्दिशन् चारुदत्तगृहादृतमलङ्करणजातं मदनिकाहस्ते समर्पितवान् । सा हि तत् चारुदत्तगृहादपहतं श्रुत्वा नीहसुपगता पुनस्तेनैव सजां लक्षिता, अपहरणमनये तेन चारुदत्तपरिजनस्य कापि शारीरिकी चति न कृतेति श्रुत्वा कथांश्च दाशकां ज्ञाता । शर्विलकस्तु मदनिका चारुदत्तपरिजनस्य निरापहान्ताश्चवरेण प्रहृष्टा दृष्ट्वा ता तद्वतदृष्ट्या मन्यमाना सामूय ता स्वीजातीश्च सर्वविशेषम् अधिचिक्षेपं पश्चाच्च मदनिकात् सर्वं रहस्यं ज्ञातं श्रुत्वा भृशं ललज्जे । स्वनिष्क्रियार्थं वसन्तसेनाहस्ते तद्वातुं शर्विलकेनानुरुद्धा मदनिका, “तद्धि सर्व्वमलङ्करणं वसन्तसेनाया एवति एतस्मिन् तद्वत्सगते सा नूनमेव प्रत्यभिज्ञास्यति” इति तस्यै तद्दानस्य कर्मापि साधूपायं निणेतुमक्षमा पारिशील्यात् “चारुदत्त एव अलङ्करणं प्रत्यपयितुं मा प्रेरित्वान्” इति कथयित्वा वसन्तसेनायै स्वयमेव तद्वातुं शर्विलकमुपदिष्टवती । सोऽपि तदुपदेशानुसारं वसन्तसेनासमीपं गत्वा, तत्रैव आगमनकारणं पृष्ठं “मायं वाहं जज्ञरत्वात् गृहस्य दूरत्वमित्थं सर्वं मत्वा तुभ्यं दातुं मा प्रेषयामास” इत्युक्त्वा तत्समापवसित्ये सद्वानकार्यं तत्समं प्रस्थातुमुपचक्रमे । वसन्तसेनाऽपि रहसिं श्रित्वा प्राग्वदिताखलद्विधान्ततया मदनिकाम् कृणोत विभीष्य वधूमिवावशुश्रूता हत्वा नक्षौतुकां शर्विलकहस्ते उपागन्तवेन समर्पितवती । मदनिकाऽपि तेनातिदृष्टा गमनमनये प्रस्थानिकी संसृचिता वसन्तसेनायाः सकृत् विधाय शर्विलकेन सह ३ वारं गच्छति ।

प्रस्थितं शर्व्वीलकं, ततः प्रभृति राज्ञः प्रकृतिपुञ्जान् तं प्रति विरञ्जयितुं, विरक्तान् राजपरिजनांश्च उत्तेजयितुं विविधकृतकस्यणि मनो निविवेश ।

अत्रान्तरे चारुदत्तेन प्रेषितं मैत्रेयं अपहृतनिक्षेपविनिसयरूपेण रत्नावलीं द्रातुं वसन्तसेनागृहमागत्य तस्या अष्टप्रकीर्णसमन्वितसतिरमणीयं सुरपतिभवनं त्यज्यमानां पश्यन् विस्मितेन चेतसा सविस्मरं वर्णयन् तस्या समीपमुपस्थाप्य सङ्गत्पादप प्रकारेण सर्व्वमभिदधत् तदब्रावलीं तस्यै प्रायच्छत् । सा तु तन्मुखात् स्वकीयमालं दूरणजातं द्यूतं हारितमित्याकर्ण्य, राजादृशात् स्थानान्तरं प्रस्थितस्य रिजितं सभिकस्य कस्या अपि वार्त्ताया अनवगते, तस्य सकाशात् हारितालदूरणस्य कथं सपि पुनलाभायोगात् तडिनिमयेन रत्नावलीप्रदानोत्तररूपस्य चारुदत्तमल्लेशस्य च रहस्यं सन्यगवबुध्य, सर्व्वं कलिकमेतदिति ज्ञातव्यमपि स्फुटया वाचा किमप्यनभिधायैव तस्मात्ता रत्नावलीं गृहीत्वा “विनापय तमपृथ्व्यदूतकरं, यदहं सत्वरमेव तं ददुं नागच्छामि” इत्येतावन्मातमेव मपरिहाममुक्त्वा मैत्रेयं विममञ्च, समनन्तरं चामौ सहसा अकालदुर्दिने समुपस्थितेऽपि तदगणितत्वेन हारं गृहीत्वा चेटीशानुगलं नादिश्य चारुदत्तदर्शनाय निष्क्रान्ता इति ।

अथ दुर्दिनाख्यपञ्चमाङ्ककथामङ्गेप ।

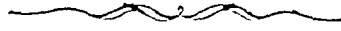
तेन पर्याप्ताप्रत्याभावात् स्वगावादुक्तुष्य स्वक प्रावारक प्रायच्छत्, सोऽपि त गृहीत्वा स्वामिन प्रणम्य च यथास्थान प्रतस्थे ।

विदूषकस्तु तस्या आगमनवात्तोमाकण्डं “अपि जानामि किमर्थम असौ इदृशे दुदिने आगता ” इति चारुदत्त पृच्छन्नपि सदुत्तरमप्राप्य पन “तस्या सुवर्णभाग्य बहुन्यमासीत्, तेन हि अल्पमूल्यया रत्नावल्या अपरितप्य इयमप्य सार्गीयत् नागच्छति इत्युक्तवान् तदुपश्रुत्याप्यसौ नौनौ एव तस्यौ ।

इतश्च अभिसारात्कुलसमुच्चलवेशविभूषितशरीरा रतरङ्गीत्पुका वसन्तसेना, यदि विटेन हवधारिता चानगन्तमाना विटेन साई नवीदितजलधरस्वभाव वदुषा वगयन्ती यथाकाल प्रियतमगृहमुपतस्थौ । अथ वेशीपचारकुशल विट नञ्जलकलाऽभिज्ञानपि वसन्तसेना स्नेहातिरेकात् सुरतविधौ समधिकमभिमानमकर्तु-  
मुपदिदेश सुरतानुरागमनुचयाय काले ईषत् प्रणयकोप विधातु, तथा प्रियतमस्य प्रसादनाय यत्र कर्तुमनुकरोष च । तत आर्यचारुदत्तसकाश द्वारप्रान्तवत्तिनी त विनापयितुमुद्देश्य विट तथा निपण गमनायानुनोदित तत प्रतस्थे ।

वसन्तसेनाऽपि प्रविष्टेव प्रियतमगृहाभ्यन्तर “कुत्र ते यूतकरस्मिष्ठति ?” इति विदूषकमदृक्षत् सोऽपि “अद्वैत गुफाव्याटिकाया तिष्ठति” इति प्रत्यबोधत । तव प्रविष्टेव चारुदत्त पण्येनाडयन्ती सा “यूतकर ! अपि मुखमे प्रदीष ?” इत्यादिका नञ्जलजिहा वाचनीरितवती । सोऽपि “मुख न नीत प्रदीष, परन्त्विदानी सौभाग्य-  
वशादप्राप्तोपमता त्वानभिगम्यैव मुखेन नेष्यते” इति सहर्षं प्रत्युवाच । तत चारु-  
दत्तादेशेन चेष्टा वसन्तसेनाया निरुवसने परिवर्तिते विदूषक “किमिति घनान्ध-  
कारे ततभवती अत्र समागता ?” इति वसन्तसेनानपृच्छत्, चेटी तु “एषा खलु  
आद्या भवद्वला रत्नावली आत्मोद्येति कृत्वा यूनेन हागिता” इत्यादि पूर्वोक्तविदूषक  
वचननातानुक्रमेण कृत्वा तदपहतमेव सुवर्णभाग्य रत्नावलीविनिमयेन प्रादात्,  
विदूषकस्तु तस्या विस्मितोऽभवत् । अथ चेटी तत्सर्वमुदलजात शङ्खिलकापहरण  
मद्वान् विस्मया तस्मै नवेदयत् सोऽपि विदितवृत्तान् नवं चारुदत्ताय विना-  
यदानम् । तेन च तदुच्य चारुदत्त तस्मै पारितोषिकत्वेन स्वीयम् अङ्गुरीयक दातु  
मदयन्मन्त्रि चरङ्गरीदिकानङ्गुलिमयलीङ्ग लज्जित सन् नितरा विलम्ब विदूषकेन  
नमाश्रित । पञ्चमश्च तदानीं योग्यतर वर्णन चारुदत्त सम्यक् उपपत्तिवान् ।  
येन च सह विरमदना वसन्तसेना प्रहाराभाव प्रदर्शयन्ती चारुदत्तान्निहितवती,  
तु विट प्रत्य लिङ्ग गरी वा च त गृहाभ्यन्तरगमनाय निष्क्रान्त इति ।

## अथ प्रवहणविपर्ययाख्यपष्टाङ्ककथामञ्जेष ।



अथ प्रभाते चेष्टा विमोक्षिता वसन्तसेना चारुदत्तादेशेन पथकरण्डकजीर्णगान  
गत्वा तत्र स्थितम्याय्यचारुदत्तस्य दर्शनेन आत्मानं कृतार्थं कर्त्तुमभिलषन्ती, चेष्टा मत्र  
चारुदत्तपरिजनविषयकालापप्रसङ्गेन तां रक्षावलीं धूतायै प्रत्यपयितुं चेष्टीं माननय  
मथितवती । चेष्टी तु तत्कर्तुमनिष्कन्त्यपि वसन्तसेनाया आग्रहातिशयेन तां रक्षा  
वलीं गृहीत्वा धूतामकाशं गत्वाऽनन्तरमेव प्रत्यागत्य “आय्यपुत्तेण युष्माकं प्रमादीकृता,  
न युक्तं समैतां गृहीतुम्, आय्यपुत्त एव समाभरणविशेष इति जानातु भवती” इत्य  
वैदग्ध्याभ्युष्टं धूताया प्रतिवचनं निवेद्य च पुनस्तथै तां प्रत्यर्पितवती ।

अनन्तर चारुदत्तदारक रोहसेन रटनिकया मृग प्रयोधितोऽपि प्रतिवैशिकस्य  
पतिपुत्रस्वानिकस्य सौवर्णशकटस्य कृते रीरुद्यमानं वसन्तसेनामभीपं वदिरुह  
मानीत । वसन्तसेनाऽपि ततो रटनिकासुखात् तं चारुदत्ततनयं ज्ञात्वा अत्यन्त  
खेदाद्वा तमुच्छेदं निदधौ, ततश्च रटनिकासुखात् बालस्य रात्र्यकरणं विनागम्य  
दुःखिता तं सान्त्वयामास । “का ऽप्या १” इति प्रच्छन्न दारक रटनिका “ऽप्या  
तव जननी” इति अभिहितवती । अथ बालकमुखात् “ऽप्या न हि मञ्जुमती, यत  
अवभवती सालङ्कारा” इत्याकण्य वसन्तसेना भयविरहिता तत्जननी भक्तिमेव  
स्वशरीरात् अलरुरणजातमुन्मुच्य तेन सच्छकटं प्रपुण्य सौवर्णशकटं निष्पातं तस्मात्  
तम सर्व्वमदात् । ततश्च दारकमहिता रटनिका तस्मात् निष्कान्ता ।

अथ कियदनन्तरं पुनः प्रविष्टया रटनिकया “चेष्ट प्रवहणं पन्थात् सज्जाम  
भवती प्रतीक्षते” इति विज्ञापिता वसन्तसेना “महत्तमं त्वत्पुत्रं यान्त्रिकं आत्मानं  
प्रमाधयामि” इत्युक्त्वा प्रमाधनमविधानरता अभूत् । इतश्च रटनिका वसन्तसेनाऽदृष्ट्वा  
चेष्टं न्यवेदयत् । एवमभिहितं सोऽपि वदमानकथेत्,

एव वसन्तसेनायां चारुदत्तप्रवहणभ्रमेण स्यावरकप्रवहणमारुह्य प्रस्थिताया  
पृथ्वीं निहादेष्टुप्रव्ययात् राजा पालकेन घोरि कारागारी अवकृत् गोपालदामक  
आय्यक शक्तिनकसाम्राज्येन बन्धन भित्त्वा गङ्गानयतपाद एव कथञ्चित्  
पलाय्य अपावतचारुदत्तपञ्चद्वारपाशे प्रच्छन्न तस्थौ । इतश्च वर्द्धमानकश्येत् स्वगृहमात्  
दानान्तरणमानीय पूज्यत् शक्ये चारुदत्तपञ्चद्वारे सस्यापयामास । शकटायवर्त्ता  
चासौ बहनामक पञ्चद्वारपाशं बन्धित्वा आय्यकस्य पादलप्रशङ्खलधनौ नूपुरगन्धभान्त्वा  
वसन्तसेना एव दानमारुद्रुमागतमिति मत्वा, अग्रतो क्लीववर्द्धाक्रमणभीत्या ता पथा-  
ज्ञानेन दानमारुद्रुमुपादिशत । आय्यकस्तु तत्प्रवहणमालोक्य “वह्निर्वाग्निमिदं मम  
भाद्रवगादिह सनागतम्” इति मन्यमान, पथाज्ञानेन सुगुप्तं तदाकरोह । समाकृदे  
च तस्मिन् प्रवहण भारात्कालं विज्ञाय, वसन्तसेना समाकृदेति मत्वा वर्द्धमानक  
स्वयान् जीर्णोद्यानं प्रत्यवालयत् ।

अथ कारागृह भङ्क्ता आय्यके पलायिते दण्डपालस्यादेर्गण तदवरोधाय तदानीं  
सर्व एव रक्षितुं राजपदे स्वस्वस्थानेनावहितमतिष्ठन् । ततः स्तनियोगे सावधानौ  
चन्दनकवीरकनामानौ द्वौ राजपुरुषौ वर्द्धमानकपालित-प्रवहणं सम्मुखगतं दृष्ट्वा तत्  
परोक्षितुमिच्छन्तौ “कस्य इदम् ? कोऽवाक्यं ? कुत्र वा इदं गच्छति ?” इत्यादिकं  
प्रश्नैः पप्रच्छन् । ततश्च “आय्यचारुदत्तप्रवहणमिदं, वसन्तसेनाऽवाक्यं,  
पुष्करणक जीर्णोद्यानं गच्छति चारुदत्तसमापे” इति चेदोक्तमुत्तरं वीरकमुखात्  
शुद्धा चन्दनक चारुदत्तं प्रति विश्वासात् अपरीक्ष्यैव यानं चालयितुमादिदेश ।  
वीरकेषु तु तदापि रुद्धिहानेन चन्दनकमुखात् चारुदत्तगुणगाथाऽऽकर्णनेनापि  
अपरितुष्टता तदा मान्सानि । तेन हि वीरकप्रीणनाथं चन्दनक स्वयमेव प्रवहणं  
परोक्षितुमुपेत्य तत्र सुगुप्तं स्थितम् आय्यकमपश्यत्, आय्यकस्तु तदानीं नात्मानं  
प्रकथितमात्रात् भूय, तस्य शरणं ययाचे । शरणगतवत्सल चन्दनकोऽपि  
प्रसन्नं तस्मै अभयं दत्त्वा प्रवहणादवतीर्य वीरकसनीयं गत्वा च “आर्यां कृष्टा” इति  
वक्तुं शक्तोऽपि रङ्गकरीरं “आर्यं दृष्ट्वा” इत्युवाच । तस्य भावविकृतिं वचनवैपरीत्यञ्च  
अदोक्ष्य सङ्गच्छते वीरके स्वयमेव परोक्षितुं प्रवहणमारुह्यति, चन्दनक पुनः  
प्रवहणं प्रवृत्तं दृष्ट्वापि तं निवर्त्तयितुमसमं कञ्चिद् गृहीत्वा भनौ निपाल्य पादौ  
तदङ्गान्तरात् । तेनैवापमानेन क्रुद्धं वीरकं चन्दनक बहुधा भीषयमाह अभियोग-  
मनेतुं रजाधिकरणं प्रत्ये ।

तदा विज्ञानेन च तस्मिन् चन्दनकं वर्द्धमानक “यदि पथि कोऽपि पृच्छति, तदा  
तत्र गच्छन् दत्तं चन्दनकवीरकाभ्यामवली च नेतुं प्रवहणं गच्छति” इत्युपदिशत्



प्रवहण चालयितुमादिश्य, वसन्तमेनाव्यपदेशेन तत्र स्थिताय आर्यकाय स्वेयं  
परोक्षेण च अभिज्ञानभूत स्वस्वङ्गददौ । आर्यकस्तु सद्यः समादाय चन्दनकमभिनय  
तथैव निष्क्रान्त । चन्दनकोऽपि वीरकविरोधात् राजदण्डसागडुमान पुनर्भावादिभि  
पण्डित प्रियवयस्य शब्दिलकमेवागुगन्तुमिच्छन् ततः प्रस्थित इति ।

### अथ आर्यकापहरणाख्यसप्तमाङ्ककथासङ्क्षेपः ।

अथ प्रियमुद्धदा मैत्रेयेण साह कश्चित् शिलातलमुपविश्य रमणीयाया पुण  
करण्डकजोर्णोऽगानशोभाया निरीक्षणेन वसन्तसेनाऽऽगमनानलस्यजनितात्माया  
व्याकुलस्य मनसः कथञ्चित् स्वयन्तामापादयति चारुदत्ते, वर्द्धमानकृपेण समागत  
प्रवहणागमनवार्त्ता मैत्रेयाय व्यजिज्ञपत् । सृष्टव्यत्वात् वसन्तसेनाया आगमनवार्त्ता  
सधिस्य चारुदत्तेनापि ता मत्वर प्रवहणात् अवतारयितुमनुकम्प मैत्रेय प्रवहणमसाप  
गत्वा पुरुषाकृतिं दृष्ट्वा “नेय वसन्तसेना, वसन्तसेन खल्वेय” इति चारुदत्तमकथयत् ।  
तत् मैत्रेयस्य वचनम् उपज्ञासकृत मत्वा स्वयमेव प्रवहणमसाप गत निगडमुत्पात  
माश्रेयं यान्ताभ्यन्तरस्थितमपश्यत् । “को भवान् ?” इति चारुदत्तन पृष्ट्वा, सो मोत  
लम्भे आत्मपरिचयं विनाप्य सकातरं शरणं ययाचि । शरणागतत्वात्तयासौ शरणा  
धिने तस्मै अभयं प्रदाय वर्द्धमानकेन तत्पादात् निगडमुन्मोचयामास । निगडमुत्पात  
तद्दृष्ट्वा राजादृष्टविरुद्धाचरणात् स्वेया राजरोपवशवर्तितामाग दत्त, ततः च वसन्तसेना  
आरुदत्त त भवयामास । ततः प्रवहणाद्वरुणं जिगमिषति आरुदत्त, आरुदत्त  
प्रणयसम्भाषणम् त समुचितं सुस्वहृद्वा पथि रनिगण्डटिपतनमिवा तत्तत् प्रवहणम्  
पुनर्दंशनाय गन्तुमनुश्राप्य च वरुणा सौजन्यं प्रकाशयामास । सोऽपि तस्मात् प्रपन्न  
असीत् कृतवेदित्वं प्रकाशय यथाऽभिमतं प्रतप्य । प्रस्थितः च तस्मात् नारायण  
राजपुरुषदण्डनमिवा निगडं पुराणकृपे निनिष्य वसन्तसेनाया वदन्तः ॥ १० ॥  
हृदयं चेष्टमैत्रेयाभ्यां सार्द्धं गृह्य गन्तुं निष्क्रान्त इति ।

### अथ वसन्तसेनामोटनाख्याटसाङ्ककथासङ्क्षेपः ।

मनुनीतोऽपि दूष्यगन्धिचीवरप्रचालनेन कल्पदीप्ततपानीयं तं बहुधा ताडयामास । तत्रासहायं श्रमणकमेव सुहृन्मुहुःकाण्डितमालोक्य सञ्जातदयेन विटेन तं वराकं मीचयितुं पुनरप्यसावन्वरोधि । शकारस्तु सप्तजम्बूवतया बहुधा असम्भावितं प्रस्तावमुत्थाप्य पुनरपि तमताडयत् । तेनैव सुहृदः प्रहृतं भिक्षुरपि तमाक्रुश्य स्वाभिमतदेशं प्रतस्थे ।

अथ विटेन सह जीर्णोद्यानरासणीयकं विलोकयति शकारे, विटस्तु सन्निहितं शिलातल्लसुपवेष्टुमनुरीध । ततोपविष्टयासीं विटसकाशम् आत्मनः वसन्तसेनाकृष्टचित्ता व्यजिज्ञपत्, अकथयच्च मध्याङ्गार्कतापतापितो बुभुक्षितं चिरायितस्य स्थावरकस्य अनागमनविषयिणीं वाक्ताम् । एव क्रमेणोत्कण्ठितः सः सङ्गीतेनात्मानं विनीदयितुकामं बहुधा गायन् विटेनातितरां सव्यङ्ग्यं प्रशृणुसे । इतश्च पथि विघ्नवशात् आगमनविलम्बेन शकारात् भीतस्य जीर्णोद्यानसुपतिष्ठमानस्य स्थावरकस्य स्वरमयी गच्छुवा “नायं वर्धमानकस्य स्वरमयी ग, तत् कस्येदं प्रवहणम् ?” इति भीतया वसन्तसेना स्वयमस्य कारणं बहुधा व्यतर्कि । तया च समाकृष्टं प्रवहणमादाय तद्देशमागते स्थावरके शकारं तदगतं सहसा तत्प्रवहणमारुह्यैव तदभ्यन्तरस्थिता वसन्तसेना राक्षसीं मन्यमानां समग्रं विटसमीपमागत्य भीत्या विटं कण्ठे अवलम्ब्य च “प्रवहणे राक्षसी वा घोरौ वा तिष्ठति” इति तमकथयत् । विटस्तु हृषभयाने राक्षसीसञ्चारां सम्भवेन तद्वचनमविश्वस्य निर्णयं च मध्याङ्गार्कतापच्छन्नदृष्टितैव ईदृशभ्रमकारणं स्वयमेव यान् पथ्यवेचितुमाजगाम ।

इतश्च वसन्तसेना पुरतः तमेव चक्षुःशूलभूतं शकारमालोक्य स्वजीविते जातसंशयां किञ्चित्त्व्यविमूढां समजनि । विटस्तु यानमारुह्य तव वसन्तसेनां दृष्ट्वा विषस्व “पूर्वे यौवनगव्यात् शकारं प्रत्याख्याय, इदानीं मातुरादेर्गन् धनलिप्सया तमेव श्रयस्तनुप्रपन्नाऽसि ?” इति तामन्वयुङ्क्ता । सा तु शिरःकम्पनेन तदस्वीकृत्य तस्मै प्रकृतं निवेद्य च उपस्थितार्यां विषदि शकारहस्तात् आत्मानं रक्षितुं तस्य शरणमुपागच्छत् । शरणागतवत्सलशसौ तस्यै अभयं दत्त्वा दुष्टशकारकवलात् तां परिवातुं, नोदाशयं तं राक्षसीसवादेन वञ्चयित्वा स्थानान्तरं नेतुं बहुधा चेष्टमानोऽपि न साफल्यमुपनिम्ने ।

अथ उपायान्तरमपश्यन् प्रियवाक्प्रेम शकारं सन्तोष्य वसन्तसेनां परिचितुनभिपद्यन् विटः वसन्तसेना त्वाभिसारयितुमागता” इति तमभाषत्, तेन च अतीव दृष्टं शकारं पूर्वं श्रयं रोषिता ता पुनः प्रसादयितुं तत्पादद्वोरपतत् । सा तु तस्य दण्डाय प्रत्यावेगं कृष्ट्वा तं पादेनात्पादयत् । तेनैव अवसानेन स्तुपजं तातिरोप, तथा ‘पट्टं राक्षसीं प्रहरणविषयास्तेनाकारता, नाभिसारयितुमिच्छाम्य स्थानान्

ता सकेशयाहमवतारयितुकाम शकारं, तस्मान्निन्दितकर्मण कथमपि निवाण विट  
स्वग्रमेव तस्मात् तामवतारयामास । वसन्तसेनाऽपि शानात् प्रवर्तयति निःशस्त्रसकाले  
तस्यौ । अथैव सञ्जातविद्वेय शकारं विट बहुधा प्रलोभ्य वसन्तसेनाह्वयनाय अन  
करोध । स तु तथा प्रलोभितोऽपि “एवमकार्यं न करिष्यामि” इति तस्यानागप्रमान  
प्रत्याचक्ष्यौ । तेनैवं प्रत्याख्यात स पुन स्यावरक चेटमनुनीय प्रलोभ्य च तां  
भारयितुमादिदेश, सोऽपि परलोकभीत आकाशमिति तत् साधयितुं कैच्छत । तम  
हि अतिक्रुद्ध शकारं चेट बहुधा सन्ताड्य, तं स्थानान्तरं गन्तुमादिदेश । तत  
स्तेनैवमादिष्ट चेट वसन्तसेनामनुनीय यथाभिमतदेशं प्रतस्थे । अथ अनयोपाय  
शकारं यदा स्वग्रमेव वसन्तसेनां हन्तुकाम तस्मैपमागत, तदा विटिनं गन्तुं  
गृहीत्वा भूमौ निपातितोऽसौ मोहमुपागच्छत ।

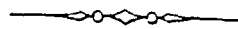
अथ कियत्कालानन्तरं सञ्जां लब्ध्वा शकारं “केनचित् कृतेन इतो विटमपमार्थं  
वसन्तसेनां मारयिष्यामि” इति स्थिरीकृत्य अचिरमत्र तज्जिघांसायाकृतं “मन्य  
रमणीयसुकाऽपि वसन्तसेना भवत सुकार्णं सो रमयितुं लज्जत, तत मत्प्रभारण  
पलायितस्य स्यावरकस्य सान्त्वयना पुनरिहानुसन्धिपिण कियत्कालासताऽपमर इति  
कथयन् विट स्थानान्तरं गन्तुमनुरोध । युक्तियुक्तया “वचनमस्य मय्य भविष्यति”  
इति धिदिच्य तत स्थानान्तरं गन्तुमुद्यते विटे, भीता वसन्तसेना तं तस्यान्तराग  
निववार । विटस्तु तस्यै अभयं दत्त्वा, शकारस्य मय्यग्रपद्येन विश्रुत् तदभायं सम्य  
न्यासत्वेन निश्चय्य, तत किञ्चिदपसृत्य च, “मयि गतं दण्डमयत्नं हनान्नास” इति  
यन्दिहानं तच्चिकीर्षितं ज्ञातुम् एकान्ते प्रच्छद्र स्थित ।

आत्मापराध गोपायितुं प्रवृत्तात शकारात् तत्कृतवसन्तसेनावधवारिणीं श्रुत्वा नितरा  
निविन्त बहुधा विलप्य च सुमीह । अथ कालेन कथञ्चित् संज्ञां लब्ध्वा “कदाचित्  
पापोऽयं वसन्तसेनाहत्याऽपराधं मयि सङ्गमयेत्” इत्याशङ्क्य गन्तुमुद्यतः शकारिण्य  
“स्वयं नारयित्वा तदपराधेन ना दूषयन् कुत पलायसे ?” इत्युक्तं । पदसेनेनैव  
“वसन्तसेनाहत्याऽपराधं नयनारीष्य अन्यस्योपरि आरोपय” इति सविनयमनुकण्ड  
शम्भौ विष्टं तं सविशेष निभक्त्य यदा पुनरपि गन्तुमिष्येत्, तदा शकार “नदीथोद्याने  
वसन्तसेना नारयित्वा कुत पलायसे ? एहि मम भगिनीपतेरगतौ व्यवहारः देहि”  
इति वृक्त्वं तं दृष्टं जग्राह । विष्टोऽपि खड्गेन तं भीषयित्वा तस्मात् आत्मानमुन्मुच्य च,  
स्त्रीवधपातकिनमनु विहाय शर्विलकचन्दनकादिसकाशं गन्तुं ततो निश्क्राम ।

इतश्च शकार नयस्यमुत्तात चैत्रात् राजाधिकरणे रहस्यप्रकाशमभिया तं निगड-  
नियमितं कृत्वा प्रासादवात्यायप्रतीलिकायां मध्यापयितुं तत्र प्रेषितवान् । इतश्च  
वसन्तसेना सस्यसेव सृता न वेति स्वयं परीक्ष्य सुन्दरेति निश्चित्य, स्वनामाङ्कित-  
प्रावारकेदाञ्चादने राजपुरुषप्रत्यभिज्ञानाशङ्कया वातालीपुञ्जितैः शुष्कपत्रैः तद्वह  
प्रक्षाल्य हत्याऽपराधं चासुदन्तस्य उपरि आरोपयितुं धम्माधिकरणं प्रति प्रतिष्ठमानः,  
यदि भिक्षुमेकमागच्छन्तनपश्यत् । अथ स्वयं न स हृदिनेन प्राकृतनिकारममु  
प्रत्यभिज्ञाय “नानन्द दृष्टं ब्रह्मेव अस्या हत्याकारोति यदि कदाचिदयं प्रकाशयेत्”  
इति शङ्कमानः तदृश्यनपद्यादपमर्त्तुन् अर्हपतितप्राकारखण्डमुद्धृत्य पलायत ।

अथ यावदसौ भिक्षुं सिक्तधीवरमातपतापेन शोषयितुं अन्यत् सर्वं स्थानं  
सान्तरायनाशङ्कमानः वातालीपुञ्जितशुष्कपत्राणां उपरि सस्याप्य समीपत एव उपा-  
विष्टः तावदेव तदभ्यन्तरे शयनायां असन्त्या स्त्रिया अलङ्कारभूषितं रमणीयं  
हृत् ततो निर्गच्छन्मल्लिकार्जुनसङ्घातविश्रम्य तत्स्थलं गत्वा निर्वर्ण्य च मृतकस्या  
स्त्रियं वसन्तसेनात्वेन प्रत्यभ्यजानात् । ततः तस्या पानीयं कामयमानायाम्, अर्शो  
मन्त्रादयः दूर्धर्षित्वात् ततः पानीयानयने विलम्बे अनिष्टमभिया तदेव सिक्तधीवर-  
शालं स्यान्निलदानेन वाञ्छनेन च तां कथञ्चित् मुष्टितानकरीत् । अथ तत्परिचयं  
पुनरुक्तं वसन्तसेनार्थं अर्शो ननु प्राप्तं द्यूतकरविवरणं तदा तद्वृत्तस्य आत्महारितदश-  
पुष्पाधिकमन्त्रं लङ्कारस्य विनिर्दिष्टं साधुद्यूतकरहन्नात् स्वस्य विभीक्ष्णव्यापार-  
कारणतः । अथ सौ विद्वत्कालं मम धम्ममग्निना विहारे स्थिता समाश्रयमना  
रहं न तदं न’ इति वसन्तसेन विद्यायां तदा साह निजान् ।

## अथ व्यवहाराख्यनवमाङ्ककथामङ्गलैः ।



अथाधिकरणिकैराज्ञप्त शोधनक अधिकरणमण्डप समागत्य तत्सम्मानं गत  
पर तदासनादिक विन्यस्य यावत् अवतस्ये, तावदेव शकार स्वावस्थाऽनुरूपवेगसमु  
ज्ज्वल स्वयमेव स्वावस्थामुपवर्णयन्, चारुदत्ते हत्याऽपराध सङ्क्रम्य स्वदोष मङ्गीपा  
यितु धर्माधिकरण प्रविश्य अधिकरणिकानपेक्षाचक्रे । अत्रान्तरे त्रैलोक्याख्याऽऽ  
परिहृत समागत्याधिकरणिक व्यवहारपराधीनतया परचित्तगहणस्यातिदुष्करत्वमुप-  
वर्णयन् शोधनकेनोपदर्शितमार्गे अधिकरणमण्डपं प्रविश्य आसनपरिग्रहात् पर नदि  
कोऽपि काव्यार्थो अस्ति न वेति प्रष्टु प्रेरितात् शोधनकात् “शकार काव्यार्थो नदि-  
क्षिति” इत्याकर्ण्य, तादृग्दुर्जनस्य प्रथमतः काव्यार्थत्वेन सहृदयद्रव्यमाशङ्कमान  
शोधनकमुखेनैव प्रथम त प्रत्याख्यातवान् । तेन च अतिक्रुपिते शकारे “भगिनीपति  
राज्ञान विज्ञाप्य, सङ्गवहारदर्शने उदासीनम् एतमधिकरणिक दूरीकृत्य अधिकर-  
णिकान्तर नियोजयिष्यामि” इति भीषयित्वा गन्तुमुद्यत, भीत शोधनक त तत्रैव  
किञ्चित्काल प्रतीक्षितुमनुसृत्य शकारोक्तिम् अधिकरणिकाय विज्ञापयामास ।  
शोधनकाच्च तत् सर्वं समाकर्ण्य, नास्ति खलु अकाव्य किञ्चित् मूर्खस्येति मन्यमान  
अधिकरणिक अगत्या त प्रवेशयितुमादिदेश ।

ततश्च शोधनकमुखात् पुन प्रवेशानुमतिमुपलभमान शकार समवे तमुपसृत्य  
“सदीपजीर्णोद्याने काऽपि सृता स्त्री भूमौ निपतिता वर्तते” इत्यादिशेषमुवाच ।  
तत पुन “अपि जानामि का सा ?” इत्यधिकरणिकेन प्रष्टु स “जानाम्येव सा  
नगरभण्डगृहताम्, केनापि दुर्जनेन अथलीभेन वसन्तसेना नाम गणिका सदीपस्य  
करण्डकजीर्णोद्याने नीत्वा बाहुपाशवलात्कारेण व्यापादिता” इत्युक्त्वा “न मया—”  
इत्यसम्पूर्णवाक्येन अलीकमभियोगमानिनाय ।

“श्रेष्ठित्वगवान्मन्याय्ये चारुदत्तस्य भवनं यौवनमुखमनुभितुं गता” इत्यवदत् ।  
तच्छ्रुत्वा शकार तस्या उक्तिं व्यवहारपद्धतेन लिखितुमनुकथ्य “चारुदत्त एव मम  
प्रत्यर्पितया विवादविषयः ” इत्यधिकरणिकं व्यजिज्ञपत् ।

अथ विचारक, चारुदत्तगृहे वसन्तसेनागमनवार्त्तामाकर्ण्य, शकारमुखान् चारु-  
दत्तस्यैव प्रत्यर्चितं विज्ञाय च अनिष्टमपि तमधिकरणे आकारितवान्, सोऽपि  
शोधनकेनाहत अकस्मादधिकरणिकाहानस्य हेतु बहुधा वितर्कयन्नपि किमपि  
निरेतुमञ्जन, शोधनकेनोपदर्शितमार्गं, पथि बहुविधमनिमित्त पश्यन् सगद्गम् अधि-  
करणसम्बन्धमाजगाम । तत समागत त ससन्धुममासनदानादिना अधिकरणिके  
नाभिनन्दितम् आलीक्य ईर्ष्यापरवश शकार, अपराधिनोऽस्य एवमभिनन्दनमतीव  
अन्याय्यं मन्यमान, सगर्वमधिकरणिकं प्रति कटाक्षमपातयत ।

इतथाधिकरणिकेन, वसन्तसेनया सह भवत प्रसक्त्यादिरस्ति न वेति पृष्ट्या स  
दत्त लज्जामनाटयत् । तत पुनरप्यधिकरणिके “अल लज्जया, व्यवहारस्ता पृच्छति”  
इति कथयति, “केन सह मम व्यवहारः ?” इति तमसावपृच्छत् । तदाकर्ण्य केना-  
प्यनादिष्टोऽपि शकार स्वत एव “मया सह” इत्युत्तरयामास । तेन चातिमुन्तमे चारु-  
दत्ते, पुनरप्यसौ ‘वसन्तसेना नारयित्वा साम्प्रत निगृहसि ?’ इत्युवाच । तच्चासम्बद्ध-  
प्रत्यापिन शकारानुपेत्य अधिकरणिकेन “सा गणिका तव मित्र न वा ?” इति  
पुनरपि पृष्ट चारुदत्त, एवमेवेति प्रत्युत्तरयामास । “काम्नीदानौ वसन्तसेना ?”  
इति पुन पृच्छते प्राङ्मुखिकाय, “सा हि गृह प्रस्थिता” इत्यसौ न्यवेदयत् । तच्छ्रुत्वा  
शकार “मर्दायजीरोद्यान प्रवेश्य अशनिमित्त बाहुपाशबलात्कारेण वसन्तसेनां  
नारयित्वा साम्प्रत गृह गता इति वदसि ?” इत्यादिमिथ्याऽभिधीनेन सन्दृष्ट्य  
तमतज्जयत् । प्राङ्मुखिकास्तु स्वमत्या “प्रस्थितधाम्निक सुगृहीतनामा चारुदत्त न  
कदाऽपि ईदृग्भयलाकरिरोधिकम्पेणोऽनुष्ठाता” इति स्थिरीकृत्य मिथ्यावादिन शकार  
तिरस्कार । वसन्तसेनाजन्मपि अलौकिकदानवीरस्य तस्य अर्द्रकल्पवर्त्मनिमित्तम्  
ईदृगदायकरादीन्यत्र समग्रमाना तन्मिचित्तेषु ।

[illegible]

प्रत्ययित. यदैव यानं परीक्षितुकामस्तदागौट् प्रचक्रमे, तदैव चन्तसेन पादाभ्यामस्य विताडित " इति नवम् एकमभिधीगमानिनाय ।

सुखैतत्सर्वं चारुदत्तपक्षपाती धर्माधिकरणिक चारुदत्तस्य विपदाश्रया विपक्षोऽपि स्वकर्तव्यानुरोधादेव "तवाभियोग पथात् द्रव्यामि, अधुना हारदेशस्थितमन-  
भारुह्य पुष्पकरणकोथानं गत्वा, तत्र काचित् विपद्वा स्त्री अस्ति न वेति सम्यक् पश्य-  
वेत्य द्रुतमागच्छ " इति वीरकमादिदेश । असौ तु तदादेशात् तद्देशं गत्वा यापदे  
विलुप्यमानं सतशरीरमालोक्य, तच्च सुदीर्घकेशकलापादिभिलक्षणे स्त्रिया एवेति  
निश्चिन्वानं राजाधिकरणं प्रत्याहत्य यथायथमधिकरणिकसकाशमुपावर्णयत् । तत्र हि  
तदैव चन्ताया वसन्तसेनाया शरीरमिति मन्वमानं प्राङ्निष्ठां चारुदत्तस्य माप-  
राधत्वे सन्दिहानीऽपि शकारेणानुगुक्तं तं निरासनं कर्तुमादिदेश । ततः स्वप्रमेया-  
सनादवतीर्य भूमावुपविष्ट्यारुदत्तं पुनरपि निपुणतरविचारेण तत्त्वं निष्कृतमधिकर-  
णिकमन्वर्धत्, व्यक्तपक्षं स्वगतं मैत्रेयादौमधिकृत्य नितराम् । अथासौ स्वयमत-  
कथयितुं आश्रित, वसन्तसेनासकाशात् मैत्रेयस्य कथमागमनविलम्बो जायत  
इत्यन्वितयत् ।

इतथ मैत्रेय शकटिकाकरणार्थं वसन्तसेनया रोद्धसेनाय प्रदत्तमलङ्करणजातं  
चारुदत्तादिशेन तस्यै प्रत्यपयितुं गच्छन् पथि रश्मिलसुस्मात् "चारुदत्त धर्माध-  
करणिकेन विचारान्वये समाहृत " इति गुण्याव । आकण्य चेतां ताता, गुरुणैव  
कारणेन भवितव्यमिदमधिकरणिकाज्ञानमित्यतीवोद्दिष्टदृष्टं दृष्टान्तिधं वसन्तमना  
भवममगत्वेव प्रत्याहृतं विचारमण्डपमगात् । तत्र प्रविश्य "कथमवाहृतस्वम् " इति  
पृष्ट्वा, चारुदत्तसुखात् शकारानीतं तादृशं मिथ्याऽभिधीगमाकल्प्य च, शकारमनकं  
निर्भर्त्सयन् क्रीधान्तं दण्डकाष्ठेन ताडयितुमुपचक्रमे । शकारणापि सक्रीवनिमित्तन  
ताडितं विदूषकं तं प्रतीपं ताडयामास । एवमन्त्याऽन्यं दण्डादिप्रदत्तं तं  
विदूषकस्य कष्टदेशात् सहसा विच्युतानि तान्येवाभरणानि मुक्तौ पतितानि दृष्ट्वा तद-  
वहोत्वा च तानि, शकारं विचारपतिमामन्तावदत्, — "भा मद्भाभारा । यदा  
एत एव चारुदत्तमिव कचच्युता तस्या अलङ्कारा, एतदेवाहृतं स्ववत्तं तं मा-  
वराको चारुदत्तेन मारिता " इति । तत्रावर्त्तकं सर्वं एवमधिकरणिकस्य  
अधोमुखा अतिष्ठत् ।

कोऽपि विद्वद्भात, परन्तु केवल दैन्यप्रदर्शनमेव भवेत् इति त विज्ञाप्य, प्रकाश न किमप्यवदत् । तदवभोक्त्य श्रेष्ठिकायस्थौ वसन्तसेनासातरमुद्दिश्य—“एतान्याभरणानि भवत्या दूहितु न वा ? इति पपञ्चत् । सा तु तदालोक्य “न ह्येतानि तानि, परन्तु तस्माद्दृश्यमवाप्ति इति न्यवेदयत् ।

एव स्वाभिप्रेतविरुद्धमभिदधतीं तामधिचिपन्त शकार साऽपि अधिचिषेप । ततः पुनरप्यधिकरणिकेन “भद्रे । अप्येतानि प्रत्यभिजानासि ?” इति पृच्छमाना सा तदवावदत् । तस्मात्कण्य अधिकरणिक पुनः “शिल्पिनेषुण्येन वस्त्रनिरसदृशमपि वस्तु भवितुमर्हति इत्युक्त्वा तद्वचन चारुदत्तानुकूलमन्यत । अथ श्रेष्ठिकायस्थौ “एतानि अलङ्कारानि किं तत्र ?” इति पुनरपि चारुदत्तमपृच्छताम् । तेन च “न सम, अपि तु वसन्तसेनाया एव” इति प्रत्युक्त्वाभ्यां ताभ्यां “कथमेतानि तस्या विधौ गतानि ?” इति पुनरसावपृच्छत् । चारुदत्तस्तु विस्तर किमपि अनुक्त्वा “सम गृहादेतानि आनीतानि इति जाने, नान्यत् किमपि” इत्यवोचत् । तस्यैवमपरिस्फुटमुत्तरमाकर्ण्य शकारे “तानुद्यान प्रवेक्ष्य व्यापाद्य च साम्प्रत निगूहसि ?” इति ब्रुवति, अधि करणिकेनापि त भोपयता सत्यं वक्तुं समादिष्टचारुदत्त “सदृशोत्पन्नोऽहं न प्राप्नोयान्, तद्याऽपि यदि भवन्त अपाप मा पापिन मन्यन्ते, तदाऽल सम एतेन क्लृप्तजीवनेन” इत्युक्त्वा वसन्तसेनाविरहितस्य आत्मन निष्प्रयोजनत्वं मन्यमान भया शकारमुक्त्वा हत्याऽपराध स्वीचकार ।

ततः चारुदत्तवचसि विचारकाणां दृष्टिनाकषयता शकारेण निरपराधीऽपि चारुदत्त तदानीं सापराध प्रमापित । प्रागज्ञातप्रत्ययैरपि विचारकै इदानीं सवि श्वप्रमाणदलमाश्रित्य “स्त्रीघातुर्कोऽयं चारुदत्त” इति निश्चायं यहीतुमादिष्टा राजपरदा तमगृह्णन् । इतश्च अद्यापि वसन्तसेनानावा चारुदत्त प्रति स्नेहेन “एतत् यदि सम कन्या व्यापादिता, व्यापादिता, तव अद्यापि सम नास्ति कोऽपि च भयोऽहं तन्मुञ्चते” इति अनुवृत्तिऽपि अधिकरणिक त न सुमोच, परन्तु राजपरदेन तत् दृष्टिपरदासात् ।



राजानम् अधिकरिणांश्च विनिन्द्य मास्त्रे स्वाभिवादनं विज्ञापयितुं, रोहसेनं  
पालयितुञ्च सखायं विदूषकमनुरोधः । तत्र तु आत्मानं मामय्याभावे विज्ञाप्य स्मित  
पुनरपि आत्मप्रतिनिधिभूतस्य रोहसेनस्य रक्षणार्थं प्रियसुहृदाऽनुरक्तं विदूषकं अस्मि  
दुःखितं सुहृद्विरहितस्य आत्मनो निष्पृगेजनतां निवेदयामास । ततः, तेन स्व रोहसेन  
प्रदर्शयितुम् अनुरक्तं कथमपि स्वसम्पत्तिं विज्ञापयन् शोधनकैश्च विचारकादृशादपि  
सारितः । विचारपरितरपि एव राजाभिमतमाकर्ण्य चाण्डालेभ्यः चारुदत्तवधादपि  
दत्त्वा विचारासनादुत्थाय च अन्यं सर्वं राजपुरुषं सह ततोऽन्यत्रागतम् । चारु  
दत्ताऽपि मैत्रेयमामन्त्र्य बहु विलपन् राजकुलान्यभिगम्य रत्निभिः सह निक्रान्तः  
इति ।

### अथ संहाराख्यदशमाङ्ककथासङ्क्षेपः ।

अथ राजादेशाच्चारुदत्तं बध्यचिह्नवैष्टितं विधाय राजपथेन ब्रह्मस्थानं गम्यन्तो  
चाण्डालौ, तद्दर्शनार्थं समागतान् पौरान् सुजनवधस्यादर्शनीयत्वव्यापन्नपुरःसरमपि  
सारयन्तो, दुर्विनीतान् शिञ्चयितुमेव नगव्यां पञ्चसु घोषणास्थानेषु आश्रयमधिष्टाय,  
प्राणदण्डनिमित्तोभूतं चारुदत्तकृतमपराधं, राज्ञः पालकस्य दण्डादेशेन चारुदत्तस्य  
वंशपरिचयोऽल्लखपुरं सरसुष्मापयामासतु । बध्यघोषणायां चाण्डालौ भ्रूयविशद्वनशर्मा  
होषणमसौ आकर्ण्य, तत्र पातित्यमाशङ्कमानं पिहितयवणो बमलमेमामुद्दिश्य  
सन्निवेदं बहुधा विललाप । चाण्डालावपि अस्य विपन्नस्य गुणावलीं वणयन्तीं  
जगति विपन्नसहायस्य दुर्लभत्वं जगदतु । अथ विदूषकमामन्त्र्य विनयशान्दम  
नेपथ्यात् आगच्छतोर्मैत्रेयरोहसेनयोर्विलापं श्रुत्वा चाण्डालावनुभूय पुत्रसमवदन्  
मभ्यथयामास, ताभ्याञ्च तदन्वमन्यत । ततस्ताभ्यामनुमतं विदूषकं दारुकमाणां  
चारुदत्तसमीपमुपगत्यो । वीन्य च तावुपस्थितौ चारुदत्तं शोभीच्छ्रितवदय  
विलपन्ननुपनीतं तनयं स्वयजोपवीतेन उपवीतितं विदधे ।

अथ द्वितीयघोषणाध्यानात् चारुडालाभ्या पूर्ववदुद्घोषिता चारुदत्तस्य वध्यभक्ति-  
नयनवासा, दध्दट्टाट्टिजङ्गाकरा अतीव व्याकुल स्यावरक प्रासादायात् ताडुद्विग्न  
वमनमेनाहवाविषयक प्रवृत्तज्ञानमुच्चैरभयत परन्तु अतिव्यवहिततया तद्वचन  
कोऽपि न श्रुयाव । ततः क्षिप्तं विविच्य अनयोपाय स्वजीवननाशमध्यगपयन्  
महत्तितपाद एव प्रासादबालारप्रतीलिकात् जीर्णवादीं कथञ्चिदात्मानमध-  
पातमानास । तेनाप्यनुपरतस्य तस्य देववशात् दण्डनिगड भ्रष्टोऽभूत् । ततः  
ललितपदेनामुना तमेव स्वरुधोगननृप्य घोषणाध्यानमुपेत्य च तत् सर्वं यथाग्रथ  
नवेदि । तच्च कष्टं चारुदत्त अनेनात्मन अलीकापवादधालनसम्भावनाया कथ  
ञ्चिद्विद्वत् । “तदैतद्वचनं किं मूलम् ?” इति चारुडालाभ्या पृष्ट स्यावरक पुनः  
“मूलम्” इत्युक्त्वा, रहस्यप्रकाशमित्रा शकारिण प्रासादबालारप्रतीलिकाया निज-  
नयननीदलनपि तत्र प्राकाशयत् ।

इतश्च तद्घोषणावाक्यमाकर्ण्य चारुदत्तवधस्यवग्रभादित्थनिययेन प्रहट शकारः,  
इदुविनाशदग्नेनात्मानं सन्तोषयितुं प्रासादबालारप्रतीलिकायासुदुर्गतकृत् । तस्य  
स्थितस्य तत्सर्वं पद्मद्वर्गी, जनताया कालेन स्वभवनसमीपमागताया, घोषणां क्रमेण  
निमित्ता निवारिताच्च विज्ञाय “कथमेतां निवृत्ता घोषणा ?” इत्युद्विग्नद्वयेन  
तत्कारणमुदुम्ब्यात् प्रवृत्त, तवैव प्रासादबालारप्रतीलिकायां मयस्य स्यापित चेष्ट-  
नहन पलादिनेन तेन रहस्यप्रकाशनाशङ्कमान, तदन्वेषणाय ततो द्रुतमवतीर्थ्य  
घोषणाध्यानमभिवृत्तम् । तद्वागच्छनमालीका तत्र स्थिता सर्वे, दुर्जनसमागमा  
दन्दितामृता सन्तुला वन्दु । इकारे च तद्विषयाय मधुरवचनेन तस्यानात्  
चेष्टमपमारयित प्रहसने, चेष्ट “अनाथ ! वसन्तसेना मारयित्वाऽपि अपग्नितुं यन्  
इदानीं चारुदत्तमपि मारयितुं प्रवृत्तोऽसि ?” इति तमधिचिह्नेप । ततो नाश  
नष्टं तं ति भयो वदन् तत्पत्न्या सर्वे “तमेव वसन्तसेनाघातो, न चारुदत्त ” इति  
नयनं तद्वचनं क प्रतेतु ।

द्याने वसन्तसेनामारणाटेशलक्ष्मणात् प्राप्त प्रहारचिह्नं, शकारकथितमवगापहरणकृतं  
मत्वा शकारोक्तिमेव यथायतया प्रतीयतु । तेन च खिन्नश्रेष्ठ आत्मनो दामभावस्यैवायं  
प्रभावः इति मन्यमानं चारुदत्ताय, तद्वक्ष्ये इतीऽधिकस्य स्वसामर्थ्यस्याभावात् विज्ञाप्य  
तत्पादयोर्निपपात । चारुदत्तेनापि तं करे धृत्वा उत्थापयता सकृन् कृतमात्मनो  
ऽसौ चेष्टां चाण्डालाभ्यामनुमतेन शकारेण तस्मान्निरकासि ।

अथ चारुदत्तस्य वधे विलम्बे दृष्टा, तं शीघ्रं निहन्तु शकारेणादिग्यमानयो चाण्डाला-  
स्यो, रीहसेन पुनरपि आत्मविनिमयेन पितरं मोचयितुमयाचत । तदाकृण्वन्  
शकारं सपुत्रमेव तं व्यापादयितुं तावादिदेश । श्रुत्वा च अस्मैवमनाय्यप्रभावं चारुदत्तः,  
मूर्खे सर्वथैव सम्भाव्यतया पुत्रजीवननाशभीतः, रीहसेनमितो गृहं गत्वा साक्षात्  
सहाविलम्बेनैव आश्रयं गन्तुमुपदिश्य, बालं तं गृहीत्वा प्रस्थात मैत्रेयमनुगृहीध । स  
तु प्रियवयस्यविरहितजीवनस्य दुःखं मन्यमानः, धूतार्थं रीहसेनं सम्पद्य प्राणत्यागं  
प्रियवयस्यमनुगन्तुमना “शौघमेव एनं नयामि” इत्युक्त्वा रुदता बालकेन साक्षं चारु-  
दत्तस्य पादयोः पपात । तदालोक्य पुनरपि शकारेण सपुत्रं चारुदत्तं हनुमादिष्टौ  
चाण्डालौ “नास्माकं एतादृशौ राजाजनि” इति तदादश प्रत्याख्याय, तस्यानाम  
बालकं निष्क्रमय तृतीये घोषणाख्याने डिण्डिममताडयताम् ।

अथ तदानीमपि चारुदत्तस्य सापराधत्वे अविश्वस्तानां पीराणां विनाशोत्पादनाय  
शकारं चारुदत्तं स्वमुखेन स्वापराधं स्वीकृतुमवदत् । चारुदत्तस्तु किमप्यभग्नं तृणा-  
मास । तेन चानन्यगतिकं शकारं तं अज्जरवंशखण्डेन ताडयित्वा स्वीकारायत  
चाण्डालावादिदेश । तथोक्तं तथा कर्तुमुपक्रमतो चारुदत्तः बहुधा अनुशील्य पुन-  
र्वर्द्धं भग्नां शकारमुखेन स्वापराधं स्वीचकार ।

अथ बध्यपालिकामवलम्ब्य अन्योऽन्यं विवदमानयोः प्रशङ्गात् प्रथमं  
स्वजातिमुलभं विविधं लिख्य कृत्वा “ममैव बध्यपालिका चेत्, तदा शिष्यकालं  
मपेक्षस्व” इति, स्वर्गं गच्छत स्वपितृमृत्याभुतसादेशमुल्लिख्यप्रभावः । “कृतं पित्रा  
त्वमेवमादिष्टं” इति पुनर्हितायेन पृष्ठं प्रथमं, कदाचिद्राजपण्डितानां विद्वानां  
मोक्षसम्भावनामेव तादृशपिवादेशकारणतया निदिदिष्टं ।

प्रदर्शयति, तद्विधानस्य भीषणतामालोक्य नितरा विपत्तौऽसौ सावेगमुपविवेश । त  
तथाविधं दृष्ट्वा “किं भीतीऽस्मि ?” इति पृच्छति चाण्डाली सहस्रोत्थितोऽसौ “नाह  
सरणात् विभेमि, किन्तु केवलमलीकापवादादव” इति प्रत्युवाच । ततः प्रथम-  
चाण्डालस्तथोक्तवन्त त वचनविशेषेण समाश्रय्य, चतुर्थे घोषणास्थानमालोक्य द्वितीय  
चाण्डालान्न मिलितं पृथ्वत सर्व्वमुदघोषयत् ।

अचान्तरं भिक्षु सबाहक धम्मभगिन्या मठात् वसन्तसेनां तस्या णवामिप्रायेण  
चारुदत्तभवनं नयन् पथि महान्तं कोलाहलमाकर्ण्य, कथमतदिति निर्णेतुकाम  
तमेवानुससार । किञ्चिदुपसर्पयासौ विपुलजनसम्पार्द्धमभिगच्छन् पञ्चमघोषणा-  
स्थानमुपेताभ्यां चाण्डालाभ्यामुद्बुध्यमाणां घोषणामाकर्ण्य, स्वकृते व्यापायमान  
प्रियतमं रक्षितुमतित्ययमा वसन्तसेनाऽनुगतं दर्शकभ्योऽन्तरमवाचत । इतश्च  
चाण्डाल राजादेशकृतीऽयमस्मादपराध इत्युक्त्वा, पुनरपि अन्तिसम्पत्तव्यस्मरणाय  
चारुदत्तमुपदिश्य च, वधसौकर्यायै तमुक्तानां भूत्वा समं स्थातुमादिदेश । तस्मिन्  
तथास्थितं खड्गमुत्थोन्य प्रहृष्टमुद्यतोऽसौ स्वहन्तात् खड्गं पतितं दृष्ट्वा विस्मित,  
नूनं न विपद्यत चारुदत्त इति निश्चिकाश, यथाचे च स्वकुलदैवता भगवती सख्य-  
वामिनीसख्यं गौचत । एवमपि राजादेशमनुष्मृत्य यावत् तौ तं शूले सनारीपयितुन्  
इदम् तावदव वसन्तसेनासमेतो भिक्षु तदालोक्य “आख्या । मा तावत् मा  
तावत्” इति ससम्भ्रममुर्ज्ज्वलदन् द्रुततरमुपससार, निपपात च वसन्तसेना भिक्षुश्च  
यदाक्रम चारुदत्तस्य उरसि पादयोधेति ।

अथ भिक्षुर्वसन्तसेना च चाण्डालमुखात् चारुदत्त जीवन्तमाकर्ण्य नितरा ननन्द ।  
दृष्ट्वा च तमकक्षात् सनागता चाण्डाली, समयसंपत्तय वाक्तामिना यज्ञवाटगताय  
रान्ने पात्रकायं गिहैदयितुं द्वितीयेन सख्यं बहिर्निष्क्राम्यति, शकारं पुरतः शरीरिणीं  
यत्नतः समाभाष्य, अलीकाभिधौगेन चारुदत्तं घातयितुं प्रहृतस्य आत्मन विपद  
माश्रया पलायितुमुपचक्षमे । तच्च पलायमानमालोक्य चाण्डाली “येन वसन्तसेना  
मारिता तर्हि व मारयत इति राजाज्ञास्मि अमुस्तस्य तमेव राष्ट्रियशालमनुसन्धातु  
मद्यतानि ।

पृथया वसन्तसेनया असौ स्वजीवनरक्षकतया निरुद्दिशि । अथ तत्परिचयजिज्ञासुना चारुदत्तेन “कस्मैककारणवत्सु ?” इति जिज्ञासितोऽसौ भिक्षुः प्राक्तनतत्त्वज्ञानमना हकत्वेनात्मपरिचयं कथयन् श्रद्धाविविधिमयेन द्यूतकरिण्यतात् वसन्तसेनया आत्मनः परिचयं प्रवक्ष्याकारणञ्च त्ववेदयत ।

अथ नेपथ्यात् कलकलशब्दात्मानानन्तरमेव स्पष्टमायकस्य जयघोषणायामुच्चारिताया, सहसा शर्विलक प्रविश्य, पालकवृत्तिविनाशनं आय्यकराज्याभिषेकवाता सुधीपयन् चारुदत्तमोक्षणाय प्रवृत्तं मग्नितजीवनमपि चारुदत्तं प्रियतमया साहे जीवन्तमालोक्य, स्वप्रभोगार्थकस्य महतीं प्रीतिं सम्भाव्य नितरां ननन्द । ततः चारुदत्तगृहात् पूर्व्वकृताङ्गद्वारापहरणवृत्तान्तस्मरणेन क्षणितोऽपि तस्य लीलीतमाहात्म्यविश्वासात् तमुपसृत्य ब्रह्माक्षलिं आय्यचारुदत्तं ।” इत्यभाषत । ततः “कीं भवान् ?” इति चारुदत्तेन पृष्टोऽसौ स्वकर्मक्षेत्रेनात्मपरिचयमदात् । चारुदत्तेनापि सकण्ठग्राहं मिषत्वेन सम्भाषितोऽसौ, आय्यकेण यज्ञवाटगतस्य राज्ञः पालकस्य हननं, तथा तस्य अभिनवराज्याभिषेकश्च विज्ञाप्य, निवेद्य च ‘राज्ञः प्रतिष्ठितमात्रेण आय्यकेण प्रियमुद्ददे तुभ्यं वेणातटस्य कुशावतीराज्यमतिमष्टम्” इति, प्रियमुद्दद, आय्यकस्य प्रथमप्रणममविचारितं स्वीकर्तुं तमनुरीक्ष । अथ शनिमर्कन, राष्ट्रियशालं तवानेतुमाज्जना राजपुरुषा, तदानीं पथाङ्गद्वारा शकारं ततानयन् ।

अथ तत्रानौतय शकारं, प्राणभयेन याकुलं अनन्यशरणं चारुदत्तनरणाया निपत्य, शरणागतवत्सलं तमेव शरणमयाचत । सोऽपि यदथ तस्यै अभयमनात् । दृष्टव्यं तस्यानाय्यव्यवहारस्मरणेन प्रतिहिंसापरवशतया पौरिषु तद्वयाथ याकुल्यं, शर्विलक शकारं दण्डयितुकाम “किमस्य प्रापकानुतापताम ?” इति चारुदत्तं अप्रच्छत् । वसन्तसेना तु, चारुदत्तकण्ठान् वयकरवोरमात्मामपनीय शकारस्य पापं निक्षिप्रवतीति स्वबधभीतं शकारं, वसन्तसेनामनुनीय, तामात्मपरिवाणमना ततः । ततः कीदृशं दण्डेन दण्डयितव्योऽसौ पाप ?” इति शर्विलकेन पुनः पृथं चारुदत्तं सत्यद्वारेण शर्विलकं ब्रह्मा, कृतापराधमपि शरणाग्निं तावता दण्डं मयि मनुकरीष । तेन चानन्तित शकारं राजपुरुषं महं ततो नियुक्तम् ।

तना धूतानुद्दिग्न् बहु विलपशारुदत्त सहसा सुमोह । अयानेन आकास्मिकप्रसादेन  
किञ्चिच्चविमूढे शञ्जिलके, वसन्तसेनया समाश्रितयारुदत्त चन्दनकेन दम्ति-  
मार्गे सर्वे नह तव गन्तु प्रवहते ।

अवानरे सपरिजना धूता तनयहस्तात् अञ्जलमाक्षिपन्ती ज्वलन प्रवेष्टु तदभिमुखं  
परिचक्षात् । तदा रोहसेनेन विदूषकेण च बहुधा निवायेमाणाऽपि सा स्वसङ्ख्यात्  
न कथमपि न्यवर्त्तत । ततो यावत् बालक सान्त्वयितुं परिरक्षितुश्च रदनिकाविदूषकी  
अदुरुध्याऽप ताभ्या प्रत्याख्याता सा, पटभ्य तिलीदकदानाय स्वयमेव आत्मानं  
पच्यध्माप्रेति बालकम् उपादिशत, तावदेव चारुदत्त तत्स्थानमागत्य, समालिख्य  
च बालकं बाहुभ्या प्रापसन्ता प्रियतमा ज्वलनप्रवेशञ्चवसायात् न्यवारयत् । सा  
चाप्रत्याशित प्रियतमदर्शनमवाप्य नितरामनन्दत् । तयोश्चैव परस्परमेलनमाशीक्य,  
विदूषकीऽपि सतीप्रभावमेव पुन प्रियवयस्यदर्शनकारणं निश्चित्य परा प्रीतिमवाप ।  
अन्यता वसन्तसेना धूता च परस्परमालिख्य परा प्रीतिमविन्दत ।

अथ शञ्जिलक रानादेशमुत्तरन् वसन्तसेना बधूगन्धेन सवर्द्धा, अवगुण्ठा च  
ता स्वरसेन, भिक्षुभक्तिमुहुरक्षणं प्रति कृतव्य चारुदत्तमपृच्छत् । ततश्चरु-  
दत्ताभ्या अमी भिक्षु मन्त्रविहाराणामध्यक्ष, स्यावरक विमुक्तदासभाव, घातुक-  
चाण्डाली सन्तवाण्डालानामाधपती, चन्दनकक्ष पृथिवीदण्डपालक विदधे, केवल  
शशाङ्ग पृच्छवत् स्वातन्त्र्य दातुमनिच्छन्, त व्यापादयितुं पुन चारुदत्ताय स्वाभि-  
लाषं व्याज्जपत । स तु “अथ शरणागतस्य” इत्युक्त्वा तं निरामाश्रके । अथ  
“किं तं भूय प्रयच्छामि ?” इति शञ्जिलकेन पृष्टश्चारुदत्त, शञ्जिलकादेरनुग्रहात्  
सम्पन्नं नन प्रियकायमुत्तरन् ततोऽप्याधिकप्रियसम्पत्तये भरतवाक्यमुल्लिख्य इति ।

## सृच्छकटिकस्य नवीना समालोचना ।



महाकविभामविरचिताना ग्रन्थानामाविष्कृते पूर्व, सम्स्त-  
भाषानिवद्धेषु रूपकेषु सृच्छकटिक नामैतत्प्रकरणमेव सर्वेभ्य  

भासप्रणीत  
 चारुदत्तम्

 प्राचीनतया सर्वत्र प्रथितमासीत् । इदानीं  
 भासग्रन्थानाम् आविष्कृतिसमकालमेव प्रथिति  
 रसौ सर्वथा परिवर्तितमगात्, सृच्छकटिक-  
 कृत. शूद्रकात् भासकवे. प्राचीनतरताया नास्ति कस्यापि  
 वैमत्यमिति ।

विचक्षण श्रीमान् गणपतिशास्त्री, भारतवर्षस्य दक्षिणाहि  
 स्थितस्य त्रिवाङ्गुरजनपदस्यान्तर्वर्तिन. पद्मनाभपुरपत्तनस्य  
 नातिदूरवर्तिन. मणलिकूराह्वयस्य मठस्य पुस्तकागारात्,  
 तथा कोट्टयप्रदेशान्तर्गत माड्डानस्थानवास्तव्यात् श्रीमत  
 नीलकण्ठशाक्याराञ्च महाकविभामविरचितस्य चारुदत्ताभि-  
 धेयस्य रूपकस्य आदर्शभूतं लिपिद्वयमधिजगौ । तयोस्तु  
 प्रथमा भ्रान्तिभूयिष्ठा, चरमा तु तदपेक्षया किञ्चित् विगडा  
 आसीत् । मूलभूत तदेव लिपिद्वयमवलम्ब्य प्राधुना तनै तत्रत्ये  
 चारुदत्त नाम प्रकरणं त्रिवान्द्रमाग्यप्रधाननगरात् सुद्रायन्त्येण  
 प्राकाशि ।

यद्यपि न दृश्यते तस्य आदर्शपुस्तकद्वयस्य प्रारम्भे नान्दा,  
 न वा कवेरात्मपरिचयोक्तात्तन, नापि च अन्ते भरतवाक्यादि  
 किमपि, तथाऽपि द्वितीयस्यादर्शपुस्तकस्यान्ते “अत्रामन चारु  
 दत्तम्” इत्येतावन्मात्रस्यैवोक्तेरुद्वेगदर्शनात् रूपकमिदं चतुर्भर  
 वाङ्मै समाप्तिमागतमिति शास्त्रिमहोदयस्याभिप्राय इत्यस्मै  
 भिरन्वयायि ।

अथ च रूपकस्य पाठादन्त्याभिरितदेव विज्ञायते यत्, राज-  
कविना शूद्रकेण, स्वरचितस्य नृच्छकटिकास्यप्रकरणस्य  
आदिमेषु चतुर्ष्वेवाङ्गेषु उपवर्णित वस्तु,  
अन्योऽन्यमाभाषण, बहव. श्लोकाः, किं बहुना.  
नायकनायिकादीना नामान्यपि च अविकृता-  
न्येव महाकविभामविरचितात् चारुदत्तादेव अग्राहिषत : तथा  
च भामरचित चारुदत्तमेव नृच्छकटिकस्य उपजीव्यतया  
निरणायि ।

च रूपक । नृच्छ-  
कटिक पञ्चीकृतम्

चारुदत्त हि चतुर्भिरेवाङ्गैरवमितम्, नृच्छकटिकन्तु दशा-  
ङ्गाक्तक सुविस्तृत प्रकरणमिति अनयोर्द्वयोराकृतिगत न विद्यते  
किमपि नादृश्यम् । यावदेव वर्णनीय वस्तु  
चारुदत्ते चतुर्भिरेव परिममाप्त, तावदेव  
अविकल सत् नृच्छकटिकेऽपि तावद्भिरेवाङ्गै-  
रुपनिबद्धमिति चारुदत्तेन नृच्छकटिकस्य साम्यं तस्य आद्येषु  
चतुर्ष्वेव अङ्गेषु नियमितम् . शिष्टाश्च षडङ्गा शूद्रकेण स्वीय-  
प्रतिभयैव निरमायि । एतयोश्च रूपकयो. साम्यं वैषम्यञ्च वयं  
यदाभ्यान प्रदर्शयितुं यतिष्यामहे ।

यथा इत्युददेश  
तथैव न दृश्यते

अत्र दृश्ययोजनाया विविधामङ्गते, तथा श्लोकसमूहेषु च  
नानादोषाणां सङ्गादैःपि, आसौत् किल सम्कृतमाहित्यानु-  
रागिणाम् एतन्निन् नृच्छकटिकप्रकरणे सुम-  
हान् समादर, किन्तु भामकविविरचिते  
चारुदत्ते विद्वज्जननयनातिथीभूते, मन्ये अस्मी  
क्रमेण परिशीलनानुपगन्तुमुपक्रमते इति ।

१. २. ३. ४. ५. ६. ७. ८. ९. १०.

इति चेत् — चारुदत्तरूपकस्य आदर्शमेता प्राचा लिपि  
मन्थनी नान्येन केनाप्यधिरता अन्येनानधिगतमपि स्वयं मङ्ग-  
लान्तरं च समसवलम्ब्य शूद्रकं पुरा नृच्छकटिकं अरचयदिति



शिष्टपङ्कानां  
शूद्रकराचतले  
सतभेद

ब्रुवन्तः, मृच्छकटिकस्य अवशिष्टाः पङ्क्ता  
शूद्रकेण राज्ञा अभिनवया स्वप्रतिभया समु-  
द्भास्य विरचिताः इति न स्वीकुर्वन्ति । तेषां  
मते चारुदत्तप्रकरणस्य खण्डितत्वे, तथा

अन्यैरप्राप्ततच्छेषाशमुपजीव्यैव शूद्रकस्य शेषाङ्गपट्कप्रणयने च  
क्रमेण तैरेवोपदर्शितं हेतुवयमुपन्यस्यते ; तथा हि,—

अन्यमात्रस्यैव वर्णनीयविषयस्य सीमावद्धतया, विषया-  
काङ्क्षापरिसमाप्तेः पूर्वम्, अन्तरा यत्र कुत्रचिद्वा समाप्ति  
नैव भवितुं युज्यते इति । चारुदत्तस्य  
प्राचीनादर्शहस्तलिपिः एवंविधं स्थाने  
समाप्तिमधिगता यत्, तथाविधे स्थले कस्यापि

चारुदत्तस्य खण्डि-  
तत्वे आसीद् हेतु

अन्यस्य परिसमाप्तिर्न युज्यते, तथा हि,—“एहि, इमं अलङ्कार-  
गच्छिष्य अज्जचारुदत्त अभिमरिस्सामो” एतावती साकाङ्क्षा  
उक्तिः न हि कस्यापि रूपकस्य समाप्तेः प्रयोक्तुमुचिता, तादृश  
साकाङ्क्षवाक्यमात्रस्यैव अवगणे “तत किमभृतु ?” इति श्रौट-  
जिज्ञासाया अविनिवृत्तेः, तादृशाकाङ्क्षामत्त्वे च वर्णनीयविषय-  
स्यापरिसमाप्ततया अन्यसमाप्तेः सुतरामसम्भवः इत्याद्य चारु-  
दत्तस्य खण्डितत्वमाधकवीजम् ।

अस्य च चारुदत्ताख्यरूपकस्य अन्ते आलङ्कारिकसम्मतस्य  
नाटकरूपकादिसमाप्तिमूचकस्य भरतवाक्यस्य असत्त्वेन, नाय

चारुदत्तस्य खण्डि-  
तत्वे द्वितीयो हेतु

अन्य, चतुर्भिर्गवाङ्गैः समाप्तिमधिगत, अपि  
तु अस्य अगान्तरमप्यस्तीति प्राक्तनैरप्यनु-  
मातुं शक्यते, तथा च—आमता गणपति

गास्त्रिमहोदयेन या आदर्शभृता हस्तलिपिरधिगता, सा तु  
खण्डितैवेति द्वितीय चारुदत्तस्य खण्डितत्वमाधकवीजम् ।

यो हि कविराद्येषु अङ्गवतुटयेषु भामोजचारुदत्तस्य पङ्क्तयः

स्वयत्वं विरचयितुमारभमाणः ग्रन्थनिबद्धपात्राणां नामापि,  
 ( का कथा श्लोकादीनाम् ) परिवर्त्तयितुं नैव  
 प्रवभूव, स खलु किमप्यनुपजीव्य केवलं स्वीय-  
 प्रतिभोद्भाविताकल्पनाप्रभावमाश्रित्य सम्पूर्णा-  
 नन्यान् पडङ्गान् व्यरचयदिति सर्व्वथा सर्व्वस्यैवाविश्वास्यमिति  
 तृतीय चारुदत्तस्य खण्डितत्वसाधकबौजम् ।

चारुदत्तस्य खण्डित-  
 त्वे तृतीयो हतः

प्रोक्तहेतुत्रयमुपजीव्य विरुद्धवादिनस्तावत् साटोपमेव-  
 माहुः, यत् भासरचितचारुदत्तस्य वर्णनीयविषयान् बह्वनवि-  
 कृतान् श्लोकान्, भाषामात्रपरिवृत्त्या परस्पर-  
 मुक्तिप्रत्युक्तीः, किं बहुना, नायकनायिका-  
 दीनां तत्तन्नामान्यपि स्वग्रन्थेऽविकलमुप-  
 न्यस्यन्, तत्र कुत्रापि तदुपजीव्यतास्त्रोकारमकुर्व्वंश्च सृच्छ-  
 कटिककवि शूद्रक रूपकरचयितृषु स्वीयामनिर्वाच्या लघुता  
 प्रख्यापयामासेति ।

गट्टकस्य कवित्व-  
 प्रति लघुताऽभिधेयम्

प्रोक्तेषु त्रिषु चारुदत्तस्य खण्डितत्वसाधकहेतुषु नाद्य-  
 स्तावत् प्रमाणपटवोमारोढमर्हतीति समर्धेयमानैरस्माभिरादौ  
 विरुद्धवादिनः पृच्छन्ते, यदेकस्यैव ग्रन्थस्य  
 विभिन्नस्थानप्राप्ता द्विविधैव हस्तलिपिः  
 कथमेकत्रैव समाप्ति गता ? तयोश्चादर्श-  
 लिपिद्वयोः एकस्या भ्रान्तिभूयिष्ठत्वेन, अपरस्याः अपेक्षाकृत-  
 विशुद्धिमत्त्वेन च विभिन्नतया, प्रोक्तलिपिद्वयमपि एकमेवा-  
 दर्शमवलम्ब्य न लिखितमिति प्राक्तनैरप्यनायासेनानुमातुं  
 शक्यते, एवञ्च भ्रमस्य भूयस्त्वाल्पोयस्त्वाभ्यां भिन्नाकारतया  
 भिन्नादर्शप्रसृतयोः, विभिन्नदेशप्राप्तयोश्च द्वयोरैव आदर्शहस्त-  
 लिप्योरवशिष्टैव स्थानं समाप्तिदर्शनात्, नाद्य ग्रन्थ, खण्डित,  
 अपि तु कविरसो भास प्रकरणमिदं यथाकामं समापयितु-

उक्तेषु हेतुषु  
 आद्यस्य खण्डितत्व-  
 साधकत्वम्

मीहमानो बलवद्दुरदृष्टरूप-अपरिहाय्यान्तरायवगात् आत्य-  
न्तिकेच्छासत्त्वेऽपि चतुर्थाङ्गात् पर किमपि विरचयितुमशक्नु-  
वन् असम्पूर्णावस्थायामेव तद्रचनातो विररामेति समीचीन-  
सिद्धान्ते किमस्ति कस्यचित् विप्रतिपत्तिलेश ? सम्भवति वा  
कस्यचित्, प्रतिपक्षोक्ते चारुदत्तस्य खण्डितत्वमाधके आद्यहेतौ  
निर्भरः ?

अपि च, नाट्यगुरुभरतप्रणीतस्य नाट्यशास्त्रस्य अष्टादशा-  
ध्याये द्वादशिकशततमसहस्रकलाकस्या “प्रकरणनाटकाविषये  
पञ्चाद्या दशपरास्तथा चैव । अङ्गा कर्तव्याः स्युर्नानारमभाव-  
मयुक्ताः ॥” इत्युक्तिमभिलक्षयन्तः केचन “चारुदत्तस्य प्रकर-  
णत्वं हि सर्व्ववादिसम्मतं, तच्च चतुरङ्गतया प्रोक्तप्रकरणलक्षणा  
क्रान्तं न भवतीति खण्डितम्” इति मन्यन्ते, तेषामप्याशङ्का-  
मपनेतुकाभिरस्माभिरिवमुच्यते, तथा हि,—प्रकरणस्यास्य रच-  
यिता कविर्भासः सव्वलक्षणोपेततया सर्व्वज्ञमुन्दरतया च  
ग्रन्थमिमं रचयितुमुपक्रममाणोऽपि बलवद्दुरदृष्टवगात् मध्ये-  
प्रस्तावमुपहततया असम्पूर्णावस्थायामेव व्यरमदिति बहुभि  
प्रकरणलक्षणैरूपितमध्येतत्र पञ्चादिकदशपराङ्गोपेतत्वलक्षणो-  
पेतमिति । पञ्चादिकदशपराङ्गानुपेतत्वेऽपि अस्य प्रकरण  
तया प्रसिद्धिस्तु अपरविधबहुतलक्षणसम्बन्धकृतेति सुधोभि  
विभाव्यम् ।

अन्यच्च, विरुद्धवादिभिर्यदेव “एहि, इम—” इत्यादि साक्षात्  
वाक्य चारुदत्तस्य खण्डितत्वमाधकत्वेनापन्यन्त सम्प्रदृष्ट्या  
परिलक्ष्यते चेत्, तदा तदेवास्माकमनकलतामापादयिष्यति .  
तथा हि,—यः किल कविः चतुर्थाङ्कं यावत् अस्मिन् प्रकरणे  
अन्येषु च बहुषु, नाटकेषु, उपनिषद्भ्यां विविधरस-वर्णनाना  
लङ्कारममन्वितया स्वरचितया काव्यकलया काव्य-रस-दिन

सम्मोदयन् तदानीन्तनेषु कविसमाजेषु नितरां ख्यातिमलभत ; स खलु तादृशेन साकाङ्क्षावाक्येन प्रकरणमिदं समापयदिति कल्पयितुमपि न शक्यते, तथा च बलवदन्तरायवशादेवायम् अस्यासम्पूर्णताऽवस्थायामेव विररामेति समीचीनं सिद्धान्तः ।

एवञ्च यदि शूद्रकः, विषयाकाङ्क्षाविनिवृत्तेः पूर्वमेव कवे-  
रस्य रचनातो विनिवृत्तिदर्शनात् ग्रन्थमिमम् असम्पूर्णं विभाव्य,  
चतुर्थाङ्कं यावत् तमेव ग्रन्थमुपजीव्य च, अस्य परिसमाप्तिचिकौ-  
षया चारुदत्तात् आख्यानभाग, श्लोकान्, पात्रादीनां नामानि  
च अविहृतान्येव गृहीत्वा मृच्छकटिकं नाम प्रकरणं व्यर-  
चयत्, तदा न कथमपि तस्य कवेर्गौरवहानिम् ; न वाऽस्य  
कवित्वं प्रति जनसाधारणस्य लघुताऽभियोगकारणं किञ्चिदपि  
परिलक्ष्याम ।

चारुदत्तस्य खण्डितत्वसाधकहेतुषु द्वितीयस्याप्रमाणतायाम्  
अस्माकमेतदेव वक्तव्यमस्ति यत्, चारुदत्तप्रकरणस्य अन्ते  
ग्रन्थसमाप्तिसूचकस्य भरतवाक्यस्याभावे तत्र  
तत्प्रयोगस्यानवसर एव हेतुः, तथा हि,—यदि  
कविरतः परं कश्चिद्वलवदन्तरायः स्रमुपस्थितः  
रचनाविघ्नमुदपादयदिति बाधित एव तस्या-  
सम्पूर्णतादशाया व्यरमत्, तदा कथमपि नास्ति तत्र भरत-  
वाक्यस्यावसर इति सर्व्व एव निर्विवादं स्वीकरिष्यन्ति ।

विरहवादाभा  
द्वितीयदृष्टौ  
खण्डनम्

अपि च, यदि अन्ते भरतवाक्यासत्त्वेन ग्रन्थस्यापरेऽपि  
प्रप्राप्ता अशा सन्तीत्यनुमीयेत, तर्हि चारुदत्ते आदौ  
काव्यपरिचयं नास्तीति भासोऽपि चारुदत्तस्य रचयिता  
नाऽस्त्वातः सत्प्रतिपक्षस्यर्थायमनुमानान्तरमपि प्रमज्येत ।  
तथा च—यथा काव्यपरिचयं विनाऽपि अन्यद्वहुप्रमाणबल-  
भाषित्य, चारुदत्तप्रणेता भास एवेति निर्धारि, तथैव

मीहमानो बलवद्दुरदृष्टरूप-अपरिहार्यान्तरायवशात् आत्यन्तिकेच्छासत्त्वेऽपि चतुर्थाङ्गात् पर किमपि विरचयितुमशक्नुवन् असम्पूर्णावस्थायामेव तद्रचनातो विररामेति समीचीन-सिद्धान्ते किमस्ति कस्यचित् विप्रतिपत्तिलेशः ? सम्भवति वा कस्यचित्, प्रतिपक्षोक्ते चारुदत्तस्य खण्डितत्वमाधके आद्यहेतौ निर्भरः ?

अपि च, नाट्यगुरुभरतप्रणीतस्य नाट्यशास्त्रस्य अष्टादशाध्याये द्व्यधिकशततमसङ्ख्यकश्लोकस्था “प्रकरणनाटकविषये पञ्चाद्या दशपरास्तथा चैव । अङ्गा कर्तव्याः स्युर्नानारसभाव-सयुक्ताः ॥” इत्युक्तिमभिलक्ष्यन्तः केचन “चारुदत्तस्य प्रकरणत्व हि सर्ववादिसम्मत, तच्च चतुरङ्गतया प्रोक्तप्रकरणलक्षणा-क्रान्तं न भवतीति खण्डितम्” इति मन्यन्ते, तेषामप्याशङ्कामपनेतुकामैरस्माभिरेवमुच्यते, तथा हि,—प्रकरणम्यास्य रचयिता कविर्भासः सव्वलक्षणोपेततया सर्वाङ्गसुन्दरतया च ग्रन्थमिमं रचयितुमुपक्रममाणाऽपि बलवद्दुरदृष्टवशात् मध्ये-प्रस्तावमुपहततया असम्पूर्णावस्थायामेव व्यरमदिति बहुभिः प्रकरणलक्षणैरुपेतमध्येतन्न पञ्चादिकदशपराङ्गोपेतत्वलक्षणोपेतमिति । पञ्चादिकदशपराङ्गानुपेतत्वेऽपि अस्य प्रकरणतया प्रसिद्धिस्तु अपरविधबहुतलक्षणसम्यन्वक्तृतेति सुधीभिर्विभाव्यम् ।

अन्यच्च, विरुद्धवादिभिर्यदेव “एहि, इम—” इत्यादि साकाङ्क्ष-वाक्य चारुदत्तस्य खण्डितत्वमाधकत्वेनोपन्यस्त, स्रग्मदृष्ट्या परिनिक्ष्यते चेत्, तदा तदेवाम्नाकमनुकूलतामापादयिष्यति, तथा हि,—यः किल कवि चतुर्थाङ्गं यावत् अस्मिन् प्रकरणे, अन्येषु च बहुषु नाटकेषु उपनिबद्धया विविधरमध्वनिगुणालङ्कारममन्वितया स्वरचितया काव्यकलया काव्यामीदिन

सम्नोदयन् तदानीन्तनेषु कविसमाजेषु नितरां ख्यातिमलभतः । स खलु तादृशेन साकाङ्क्षवाक्येन प्रकरणमिदं समापयदिति कल्पयितुमपि न शक्यते. तथा च बलवदन्तरायवशादेवायम् अस्यासम्पूर्णताऽवस्थायामेव विररामेति समीचीन. सिद्धान्तः ।

एवञ्च यदि शूद्रकः, विषयाकाङ्क्षाविनिवृत्तेः पूर्वमेव कवे-  
रस्य रचनातो विनिवृत्तिदर्शनात् ग्रन्थमिमम् असम्पूर्णं विभाव्य,  
चतुर्धाङ्गं यावत् तमेव ग्रन्थमुपजीव्य च, अस्य परिसमाप्तिचिकौ-  
षया चारुदत्तात् आख्यानभाग, श्लोकान्, पात्रादीनां नामानि  
च अविकृतान्येव गृहीत्वा मृच्छकटिकं नाम प्रकरणं व्यर-  
चयत्. तदा न कथमपि तस्य कवेर्गौरवहानिम् ; न वाऽस्य  
कवित्वं प्रति जनसाधारणस्य लघुताऽभियोगकारणं किञ्चिदपि  
परिलक्ष्याम ।

चारुदत्तस्य खण्डितत्वमाधकहेतुषु द्वितीयस्याप्रमाणतायाम्  
अस्माकमेतदेव वक्तव्यमस्ति यत्, चारुदत्तप्रकरणस्य अन्ते  
ग्रन्थसमाप्तिसूचकस्य भरतवाक्यस्याभावे तत्र  
तत्प्रयोगस्यानवसर एव हेतुः, तथा हि,—यदि  
कविरतः परं किञ्चिद्बलवदन्तरायं समुपस्थितः  
रचनाविघ्नमुदपादयदिति बाधित एव तस्या-  
सम्पूर्णतादशाया व्यरमत्, तदा कथमपि नास्ति तत्र भरत-  
वाक्यस्यावसर इति सर्व्व एव निर्व्विवादं स्वीकरिष्यन्ति ।

विरुद्धवादम्  
। इतोदहती  
खण्डितम्

अपि च, यदि अन्ते भरतवाक्यासत्त्वनं ग्रन्थस्यापरेऽपि  
अप्राप्ता अशा सन्तीत्यनुमीयेत. तर्हि चारुदत्ते आदौ  
काव्यपरिचयं नास्तीति भामोऽपि चारुदत्तस्य रचयिता  
नाऽस्त्विति सत्यतिपक्षस्यर्त्तायमनुमानान्तरमपि प्रमज्जेत ।  
तदा च—यथा कविपरिचयं विनाऽपि अन्यद्वहुप्रमाणबल-  
माश्रित्य चारुदत्तप्रणेता भाम एवेति निर्धारः. तथैव

पूर्वोक्तबहुप्रमाणबलात् भरतवाक्यस्यामत्त्वेऽपि अमम्पूर्णतया रचित चारुदत्तम् अखण्डितमेवेति निर्णेतुमपि शक्यते ।

तृतीयस्याप्रमाणतायान्तु अस्माभिरितदेवोच्यते, यत् भूर्ग्व-  
तमोऽपि कश्चित् यदि कदाचित् ग्रन्थान्तरनिबद्धं वस्तु चोरयितु-

तत्र तृतीयस्य  
हेतोः खण्डनम्

मिच्छति, तदाऽसौ प्रथमत एव तद्व्याक्त-  
पात्रादे' नामधामादिक परिवर्तयति, तथा-  
विधा मृच्छकटिककवे' कामपि चेष्टा न उय

पश्याम' । तदानीन्तनो हि जनममाज अस्मत्त समधिकरूपेण

भासकृतकाव्यानुशीलनपरायणः आसीदित्यस्माभिर्वक्ष्यमाणस्वर  
सादवगम्यते, तथा हि,—अस्मत्पितामहपादै शोमजीवानन्द

विद्यासागरमहोदयैः प्रकाशितकाव्यालङ्कारसूत्रवृत्ते' द्वितीय-  
संस्करणे चतुःषष्टितमपृष्ठे “यामा वलिर्भवति महृहदेहलीनाम्”

इत्यादिश्लोक' उदाहरणतयोपन्यस्तो दृश्यते, श्लोकैष भूयमा-  
ऽशेनानुरूप' चारुदत्ते मृच्छकटिके च अस्ति, परन्तु अस्मिन्

चारुदत्तीयश्लोकस्य सादृश्यातिशयमत्त्वात् चारुदत्तादेवाय  
श्लोकः उदाहरणत्वेन गृहीतः, इत्यस्माभिर्वमनुमातु शक्यते यत्,

वामन, चारुदत्तेन सह सुपरिचितः एवासीदिति । एव प्रमत्त-  
राश्रवे “भामो हासः कविकुलगुरुः कालिदामो विनाम”

इत्यादिश्लोकदर्शनात् विज्ञायते यत्, अस्य रचयिता कवि जय-  
देवोऽपि स्वग्रन्थे भासकवये प्राधान्यदानात् तेन माई' सुपरि-

चित एवासीदिति । तथा च शूद्रकममकालिककविममाज  
सर्व एवास्य कवेर्भामस्य काव्यकलाप्रणयी आसीदित्यस्माक-

मनुमान न हि कथमप्यमङ्गति भजते । एवञ्च विद्वत्समाज  
आत्मनश्चौर्यापवादपरिहाराय तदानीन्तनमब्जनावादिताम्

चारुदत्तप्रकरणस्य वृत्तना श्लोकानां, पात्रादनान्नाञ्च मृच्छ-  
कटिके अच्युततया मस्यापनमेव, न केवलं शूद्रकस्य कवे

चौर्यप्रवृत्त्यभावस्य, अपि तु सरलतायाः चित्तसमुन्नतेश्च प्रकष्टं निदर्शनमिति मन्यामहे ।

अपि च, काव्यालङ्कारसूत्रवृत्ते पञ्चविंशत्तमपृष्ठे “शूद्र कादिरचितेषु प्रबन्धेषु अस्य भूयान् प्रपञ्चा दृश्यते” इति लेखोऽवलोक्यते, तथा च, अत्र वामनेन स्वग्रन्थे प्रमाणस्वरूपेण शूद्रक-नामोद्देशदृशनादस्माभिरेतदनुमीयते यत्, तदानीं शूद्रकस्य कविममाजेषु न तावत् चोरकवित्वेन प्रसिद्धिः, अपि तु प्रमाण-कविस्वरूपेण महतो प्रतिपत्तिरेवासीदिति । एवञ्च वामनस्य चारुदत्तमृच्छकटिकयोः द्वयोरेव सम्यगभिज्ञतासत्त्वेऽपि, तथा-ऽऽरोपितचौर्यविधौ नासौ किमप्यभ्यधात्, तस्य तदानीं शूद्रकं प्रति चौर्यविश्रामहेतुकाश्रद्धामत्त्वे स्वग्रन्थे प्रमाणतया तन्ना-मोपन्यासेन तं प्रति समादरं कथमपि न सम्भवतीति निपुणै-र्विभाव्यम् ।

अपि च —मृच्छकटिकं हि शूद्रकस्य अस्मद्वृष्टिविषयेषु एकैव कृतिः, साऽपि यदि चोरितान्यार्थवृष्टितया उपेक्षणीया भवेत्, तदा वामनेन स्वग्रन्थे कथमपि प्राधान्येन कवे, शूद्रकस्य नाम नाग्राहिः ।

यैस्तावत् पूर्वं भासेन सह सम्यगपरिचितैरपि, कालेन तस्य चारुदत्तप्रकरणाविष्कारात्परं मृच्छकटिकेन मार्दमस्य मौमा-  
 दृश्य दृष्टैव अमशय स्थिरीकृतं यत्, चारु-  
 दत्तादामूलं भाव-वृत्तान्त-नाम-श्लोकादीन-  
 विकलं चोरयता शूद्रकेण विरचितमिदं मृच्छ-  
 कटिकं नाम प्रकरणं, सर्वान् प्रकृततत्त्वा-  
 नभिज्ञान् प्रतार्य, काव्यामोदिसमाजेषु समा-  
 दृतं सुचिरं सुख्यातिमन्भवत्, नो चेत् कथं न कुवापि मृच्छ-  
 कटिककृता स्वग्रन्थे चारुदत्तोपनीयतां स्वमुखेन स्वीकृता इति,

|                   |
|-------------------|
| मृच्छकटिकम्       |
| अ. ५८ क. ८        |
| म. १. १. १. १. १. |
| १. १. १. १. १.    |
| १. १. १.          |



तानेकदेशदर्शिन प्रति ब्रूम,—शूद्रक चतुर्थाङ्ग यावत् भाम-  
प्रणीतचारुदत्तमुपजोष्यैव मृच्छकटिक व्यरचयदित्यत्र नास्ति  
न' कोऽपि मतभेद, किन्तु मृच्छकटिके तस्य तादृशीं  
कामपि स्वीकारोक्तिमलभमानैः तैर्यदस्मिन् चौर्ध्याभियोग  
समुद्भावितः, तत्रैव नः प्रतिवादः, तथा हि,—आख्यानभागस्या-  
न्तरा स्वीकारोक्तिमत्त्वासम्भवात् प्रथमतः प्रस्तावनायामेव  
तत्सत्त्व न्यायत' सम्भवति ; किन्तु मृच्छकटिकस्य प्रस्तावनाया  
तादृशी काऽपि स्वीकारोक्तिरामीन वेति निर्णये, अभावपक्षेऽपि  
नास्ति किमपि बलवत् प्रमाणम्, यत इदानीं मृच्छकटि-  
कस्य या प्रस्तावना अस्माभिरधिगम्यते, तस्य सर्वाङ्गः शूद्रकेण  
न विरचितः, शूद्रकविरचितायाः मूलप्रस्तावनाया परवर्तिनि  
अभिनये तत्तत्कालानुरूप विपरिवर्तितत्वात् । सैव परिवर्तिता  
प्रस्तावना अस्माभिरधिगतेति । अस्माकमेतादृशाभिनवकल्पना-  
प्रसूतसिद्धान्तस्य कारणं वयं यथास्थानं प्रदर्शयिष्यामः ।

एवञ्च मृच्छकटिके शूद्रकस्य स्वीकारोक्त्यदर्शनात् त  
' चौर्ध्यापराधेनाभियोक्तुं कथमपि न शक्नुम । परन्तु अस्माभि  
मूक्षमौच्यते चेत्, तदा शूद्रकेण पूर्ववर्तिन कस्यचित् कवे  
रचनामवलम्ब्य मृच्छकटिक विरचितमित्यस्याभासं वयं तत्रैव  
प्रस्तावनाया सूत्रधारोक्तपष्ठश्लोकादधिगन्तुं शक्नुमः, तथा हि,—  
तत्र “युवा दग्धिः किल चारुदत्त ” इत्येतद्वाक्यस्थित “किल”  
इति पदमस्माकं दृष्टिमाकर्षति । किलेत्यव्ययगच्ची हि निश्चये  
प्रसिद्धार्थं च वर्तते । अत्रत्यस्यायं किलगच्च् निश्चयार्थं प्रयुक्तयेत्,  
तदा न कोऽपि विशिष्टोऽर्थः एतस्मादधिगम्यते, इति प्रसिद्धार्थं  
एवायं प्रयुक्त इत्यकामेनापि स्वीकार्यम्, तथा च, वमन्तमना-  
चारुदत्तनामानौ नायकौ तदानीं सर्वजनविदितौ आस्माभिर्या-  
यातम्, सर्वजनेषु तन्नामप्रसिद्धिं पृथ्विविरचितचारुदत्तादयः

समजनोत्पन्नीयते, तथा च, शूद्रकेण तत्र किलशब्द प्रयुज्य  
इङ्गितेन “चारुदत्तप्रकरणे यच्चारुदत्त. नायकतया प्रसिद्धः, सोऽयं  
मयाऽपि नायकरूपेणात्र गृहीतः” इत्याभिप्रायः प्रकटितः । न च  
तत्त्वतः एव तन्नामानौ जनौ तदानीं विद्यमानौ आस्ता, तयोश्च  
चरित्रमवलम्ब्य शूद्रकेण मृच्छकटिकप्रकरणं विरचितमिति  
वाच्यं, चारुदत्तस्य प्रकरणत्वात्, प्रकरणस्य च काव्यकल्पितवस्तु-  
विषयकत्वात् नाटकस्यैवैतस्य ख्यातवृत्तत्वासम्भवात्, तथा च  
वसन्तमेनाचारुदत्तनामानौ वास्तवी जनौ काव्यपि नासाता,  
तौ तु प्रकरणनायकतया नूनमेव कस्यापि कवेः कल्पनाप्रसूत-  
चरित्रा. काल्पनिकं तच्चरित्रमवलम्ब्यैव च मृच्छकटिकमेतत्  
विरचितमिति । ईदृशाभासस्य तत्रत्यषष्ठश्लोके परिदृश्यमान-  
त्वात् मन्यामहे. एतत्सर्वं सूत्रधारः तदाऽज्ञासौदिति ।

अपि च मृच्छकटिकस्य सूत्रधार भासरचितचारुदत्तमप्य-  
जानादित्यस्माभिः एतत्प्रकरणीयमसमश्लोकादवगम्यते ; तथा  
हि.—तस्मिन् श्लोके “नयप्रचारम्” “व्यवहारदुष्टता” “खलस्वभावम्”  
इत्यादि वाक्यं ब्रुवन्नभावस्माकं विशेषेण दृष्टिमाकर्षति ; तेष्वेव  
च विषयेषु चारुदत्तात् मृच्छकटिकस्य विशेषेण प्रार्थक्यदर्शना-  
दस्माभिरेतदनुमायते यत्, अस्मै भासस्य चारुदत्त मनसि कृत्वैव  
मसमश्लोके “नयप्रचारम्” इत्यादिकं ब्रुवन् चारुदत्तेन सह  
मृच्छकटिकस्य वेशिष्ठ्यं प्रदर्शयितुं प्रायततेति ।

एवञ्च उल्लिखितरव प्रमाणैः सिद्धान्तपक्षे अस्माभिरेव दृष्ट-  
तरं वक्तुं शक्यते यत्, भासेन बलवदन्तरायवशादसमापयता  
विरचितं चतुरङ्गं साकाङ्क्षं चारुदत्तं नाम  
प्रकरणमुपजोष्य शूद्रकं स्वकपोलकल्पितेन  
विषयेण शेषमद्वयत्वं विरच्य मृच्छकटिक  
नामेतदभिनवमेव प्रकरणं व्यरचयदिति । स्वयमेव ग्रन्थकारेण

११५ ५५१४८

४२५६३१—

चारुदत्तोपजीव्यकत्वस्य कथमप्यनुज्ञेयस्तु अप्रमाणक इत्यस्मत्-  
सिद्धान्तसङ्क्षेपः ।

इदानीमेतदेवास्माभिरालोचनीयं यत्, आद्येषु चतुर्ष्वङ्गेषु  
चारुदत्तमृच्छकटिकयोः कुत्र साम्यम् ? कुत्र वा वैषम्यम् ? तत्र  
शूद्रकेण किं किं नाम परिवर्तितम् ? तस्य तस्य वा परि-  
वर्तनस्य किं बीजम् ? इति ।

एषु च विचार्यविषयेषु आद्यमेवादौ विचारयामः ; तथा  
हि,—उभयोरेव रूपकयोः नाटकीयवस्तुनः उपस्थापनरीतिः ,

मृच्छकटिकचारु-  
दत्तयोः परस्पर-  
साम्यवैषम्य

उपाख्यानाशः, परस्परानापविषयश्च प्रायशः  
तुल्यः एव । किन्तु अभिनवानामनेकेषां  
स्वाकानां सन्निवेशात्, तथा कुत्रचित् नवो-  
द्भावितानामपि दृश्यानां योजनाच्च मृच्छ-

कटिकस्य चत्वार एव अङ्काः चारुदत्तत आकृत्या वृहत्तरा  
परिदृश्यन्ते । पात्राणां नामानि तु उभयत्रैवाभिन्नानि , केवलं  
चारुदत्ते यस्तावन्नायकः सञ्जलक इत्याख्यया अभिहितः, स तु  
मृच्छकटिके शविलक इति नाम्ना अभ्यधायि । तथा मृच्छ-  
कटिकोक्तं हस्तिपकः कर्णपूरकः, चारुदत्ते केवलं चेट इति  
नामविशेषाविशेषित एव उल्लिखितः ।

एतत्तु पूर्वमेवोक्तं यत्, मृच्छकटिकवत् चारुदत्ते आदौ  
नान्दी, कवेः परिचयः, तथाऽन्तः भरतवाक्यञ्च नास्तीति ।

प्रथमे अङ्के, नानयोरुभयोरपि रूपकयोः तादृशं काचित्  
विशेषो दृश्यते, केवलं चारुदत्तप्रकरणे—विटशकारो दावद  
वसन्तसेनामनुमस्रतुरित्युक्तम् ; अत्र तु—तदनुसरणे विटचेट-  
शकाराणां त्रयाणामवतारणां दृश्यते इति भेदः ।

द्वितीये अङ्के, चारुदत्तप्रकरणे—भामेन द्यूतकारकाणां  
मायुर द्यूतकर ददुर्गकादीनां नामापि नोदनेति, मृच्छकटिके

तु—तैरनुष्ठित व्यूतव्यापारमवलम्ब्य विरचित सर्व्वेवाभिनव  
दृश्यमेकमालोक्यते इत्यनयोरत्र विशेष ।

अपि च, चारुदत्तप्रकरणस्यास्मिन्नेवाङ्गे, सवाहक वसन्त-  
सेनात, प्रास्थानिकोमनुमति गृह्णीत्वा प्रचलितः, तत परि-  
व्राजक सहत्तश्च, सृच्छकटिके तु असौ ततः शाक्यश्रमणक-  
संहत्तः इति विशेषः परिदृश्यते । ॥

तृतीयेऽङ्गेऽपि नानयो, किमपि विशेषतः पार्थक्य परि-  
लक्षयाम ।

चतुर्थेऽङ्गे तु सृच्छकटिके प्रथमांशे एव चेटी वसन्त-  
सेनासमीपमागत्य,—“अज्जए । अत्ता आस्सवेदि, गहिदा-  
वगुण्ठण पक्खदुआरण मज्ज पवहणं । ता गच्छेत्ति” इति  
राजश्यालकमस्थानकमभिगन्तु ता व्यजिज्ञपत् । तच्छ्रुत्वा  
सा,—“एव्व विस्साविदव्वा, जइ म जीअन्तिं इच्छसि, ता एव्वं  
न उणो अह अत्ताए आस्साविदव्वा” इति प्रत्यवदत् । मन्या-

महे मृच्छकटिककृता एतेनैतदावेदितं यत्, चारुदत्तं प्रति वसन्तसेनायाः अनुरागः न खलु गणिकाजनानुरूप. इति । यद्यपि वसन्तसेना गणिकादुहिता, तथाऽपि तदीयव्यवहारस्तु गणिकाऽननुरूपतया प्रशसनीय इति । किं नाम एकानुरक्ततायाश्चरमोत्कर्षः, तत्किल सा सम्यक्तयाऽज्ञासीदिति मृच्छकटिकस्यात्यन्तोत्कर्षप्रतिपादकोऽयमशः नास्माभिश्चारुदत्त-प्रकरणे कुत्रापि दृश्यते ।

तत्रैवाङ्गे चारुदत्तप्रकरणे,—वसन्तसेनया मदनिकासज्जलकयोः एकान्तकृतादन्योऽन्याभाषणादेव भूषणवृत्तान्ते विदिते, चारुदत्तादेशात् विदूषकः धृतया दत्ता रत्नमालाम् अपहृतालङ्कारविनिमयत्वेन वसन्तसेनायै दातुं तत्र समुपस्थितः प्रदाय च प्रातिष्ठत । गते तु विदूषके मदनिकया नीतेन सज्जलकेन स्वकपटप्रयोजनं विज्ञापिता वसन्तसेना सहसैव अव्रवीत्,—“इमं तस्मै चारुदत्तस्मै देदु अज्जो” इति ; तच्चाकर्ण्य सज्जलकेन,—“भवति । न खल्वहं गच्छामि” इत्युक्ते, वसन्तसेना पुनरपि “अहं जाणामि, तस्मै गेहे माहमं करिअ आणोदो अअ अलङ्कारो—” इति ब्रुवती तद्वृत्तानि अलङ्करणानि नाग्रहीत् ।

मृच्छकटिके तु तत्रैव, एकान्ते स्थितया वसन्तसेनया, मदनिकाशर्विलकयोः रहसि कृतादन्योऽन्यानापात् विदितालङ्कारवृत्तान्तया सकपटं शर्विलकप्रदत्तानि अलङ्करणजातानि अग्राहिपत, न च किमपि रहस्यं तदानीमुदघाटि, केवलं वाङ्मात्रेणैतदेवाभ्यधाय यत्, “अहं अज्ज चारुदत्तेण भणिदा—‘जो इमं अलङ्कारं ममप्यदस्मदि, तस्मै तुए मदणिआ दादव्वा’ ता सो जेज्ज एदं ते देदिदत्तं, एज्ज अज्जेण अवगच्छिदव्वम्” इति । इत्यमतिवैदग्ध्येन रहस्यं

मिदमतिरमणीयं विदधती वसन्तसेना तत्क्षणमेव क्लेन  
आश्रितायाः सदनिकायाः शर्व्विलकस्य च अभीष्टमपूरयत् ।  
ततश्च विदूषके अपहृतालङ्कारविनिमयेन रत्नमाला दातु-  
मागते, अविचारितमेव सा तस्मात् रत्नमालामग्रहीत्, तेन  
च रहस्यमपि क्रमात् घनौभूतमभवत् ।

चारुदत्ते तु रूपके एतदुपवर्णितं यत्, चारुदत्तगृहात्  
निक्षेपभूतानि निजभूषणानि अपहृतानौति वसन्तसेना मद-  
निकासज्जलकाभ्यामावेदिता सती चोरितालङ्कारविनिमयेन  
रत्नमालामर्पयितुमुपागतात् विदूषकात् यदा रत्नमालाम-  
गृह्णात्, तदाऽपि भूषणजातं नाभवदस्याः करतलगतमिति,  
तेन च तत्र रहस्यमेतन्मदनिकासज्जलकाभ्यां विकासमभजत,  
नादीयत च हृतालङ्कारव्यापारे चारुदत्तेन किं क्रियेत, इत्यव-  
गन्तुं वसन्तसेनायै कौतुहलीहेगयोः कोऽप्यवसर इति ।

मृच्छकटिके तु दृश्यते, विदूषकस्य वसन्तसेनासदनसमाग-  
मनात् पूर्व्वमेव एकान्तस्थिता सा हृतालङ्कारणवृत्तान्तमश्रीषीत्,  
अभूवश्च तान्येवाभरणानि तस्या एव हस्ते अवस्थितानि इति ।  
तेन च वसन्तसेनायाः अलङ्कारप्राप्तिकालं विदूषकागमनकाल-  
ज्ञान्तरा, निक्षिप्तभूषणेषु चोरितेषु, चारुदत्तस्य मानमिकाव-  
स्यायाम् अलङ्कारविषये तत्कर्त्तव्यतायाश्च वसन्तसेनायाः ( तथा  
पाठकानां दर्शकानामपि ) उद्देगः कौतुकश्च तथा अन्यद् वा  
यत्किञ्चिद्भवेत् तद्भवतु, परन्तु अलङ्कारप्रत्यर्पणेन वसन्तसेना  
चारुदत्तस्य मनसि शान्तिं नेतुं शक्यति, इत्येवविधः उद्दे-  
गोपशमस्य भाविकौतुकस्य च सम्यग्-विकाशावकाशः अत्र  
प्रदर्शित इति ।

ततः परमेव यदा चारुदत्तेन प्रत्ययस्य परिशीलार्थं विदू-  
षकहस्तेन रत्नमाला प्रेषिता, तदाप्रभृति वसन्तसेनायाः मनः

त प्रति दृढात् दृढतर समाकृष्टमभूत्, तस्या प्रेम च पूर्वस्मा-  
दपि घनीभूतमभवत्, तदा तु सा चारुदत्तमपश्यन्ती जगन्मपि  
अपेक्षितं नाशक्नोत् । भासप्रणीते चारुदत्ते तु ईदृशी वर्णना  
न हि उपकल्पिता विवृता वा ।

अपि च रहस्यमिदं चारुदत्त वसन्तसेनाञ्चाधिकृत्य सृच्छ-  
कटिके स्फुटतया विक्राममलभत इति नाय्यवस्तूनि समधिका  
प्रकृष्टतामभजन्त ; सा खलु वसन्तसेनायाः वेशवामसवादिनी  
विमलचरित्रानुरूपा च ; रचनाया कियन्मात्रपरिवर्तनेनैव  
तदिदं चारुदत्तरहस्यात् परिस्फुटा चारुतामावहतीति  
मन्यामहे ।

अपि च चारुदत्ते वसन्तसेना भूषणानि न प्रत्यग्रहोत्,  
परन्तु चारुदत्तमेव प्रत्यर्पयितुमुपादिशत्, तेन च मन्यामहे,  
सृच्छकटिकवत् भूषणसङ्क्रान्तविवरणस्य नेह सम्यक् विक्रामन  
कवेरभीक्ष्णितमासीदिति । यो हि कौतुकोद्दीपको भावः सृच्छ-  
कटिकेऽस्मान् नितरां समाकर्षति, तादृशस्याभासमात्रमपि  
कविर्भासः स्वहृत्तौ चारुदत्ते न प्रकाशितवानिति ।

अपि चासौ कविर्भासः चारुदत्ते यथा मञ्जलकमङ्गावमाने  
निरचिक्रमत्, तेन पुनरनुमन्यामहे यत्, विवर्णितादन्यत् किमपि  
नाटकीय वस्तु स मञ्जलकेन प्रकाशयितुं नैच्छदिति । कवि  
शूद्रकस्तु सृच्छकटिके वसन्तसेनामदनान्निर्गच्छत, तदानीन्तनी  
घोषणावाणीमाकलयतश्च शर्व्वलकस्य “अहमिदानीं ज्ञातान्  
विटान्” इत्यादि वचोभिः प्रयोजनान्तरमपि स्फुट प्रादग्भयत् ।

सृच्छकटिकस्यान्योऽन्यस्मादङ्गात् चतुर्थाङ्के एव चारुदत्त-  
प्रकरणेन सह, भृयसी वैषम्यस्य एतदेव कारणं यत्, एत  
प्रभृति सृच्छकटिककविना स्वकीयया असामान्यया कल्पनया  
काव्य नवीन निर्मास्यते, तदर्थमेवामौ अत्र अग्रसरत्वाति ।

चारुदत्त-सृच्छकटिकयोरुद्देश्यन्तु विभिन्नमेव । चारुदत्त-  
स्योद्देश्य चारुदत्तवसन्तसेनयोः प्रणयोपवर्णनमात्रम् । सृच्छ-

चारुदत्तसृच्छ  
कटिकयोरुद्देश्य  
विभिन्नता

कटिके तु उद्देश्यद्वयमस्ति, आदिमं नायिका-  
नायकयोः प्रेमवर्णनम्, द्वितीयन्तु, सामाजिका-  
चारव्यवहारयोः प्रदर्शनं, राज्यस्य तात्कालि-

कावस्यावर्णनञ्च । तत्र चरमोद्देश्यं प्रका-  
शयितुं शूद्रकेण बह्वनामवान्तरविषयाणाम् अवतारणां श्रक्तिय-  
तति, परन्तु तेनापि मूलप्रस्तावस्य गतिः न हि प्रतिरुद्धा,  
प्रत्युत प्रायशः सर्वावतारणा एव तस्य परिपोषिका जाता ;  
इयोः रूपकयोः प्रधानचरित्रमपि विभिन्नं, चारुदत्तप्रकरणस्य  
मुख्यचरित्रं चारुदत्ते एव विकासता गतम् ; सृच्छकटिकस्य  
तु वसन्तसेनायामिति । एतत्तु सर्वं पश्चात् विशदीकर्तुं  
यतिष्यामहे इति ।

दृश्यते चैतत् सृच्छकटिके प्रस्तावनाया, राजकवि, शूद्रक-  
स्य रचयितृति । शूद्रक इति नाम्नः, अवर्णनसमकालमेव  
ग्रन्थात्, स एव किसमौ यः कादम्बर्या  
कथाया नायकः ? इति स्मृतिपथमोरोहति,  
किमेतत् सम्भवति, यदसावेव सृच्छकटिक  
व्यरचयत् ? इति । किञ्च, तमुपजीव्य इयती  
किम्बदन्ती प्रचरति यत्, अस्मै काल्पित एवे-

संस्तुतकाले षट्  
पटकदशनाम  
तत्त्वान्निर्णय  
०११ तम

त्यनसोद्यते । तथा हि, कादम्बर्यामस्मै विदिशाया अधिपति-  
रिति, कथासारकागरे तु शोभावत्या, वेतालपञ्चविंशतिकाव्ये  
च वर्तमानपर्यन्तेति, द्वितीयपटेशपि तमधिकृत्य काचिदाख्या-  
यिना विद्यते दशकुमारचरिते पुनः तस्य विविधा जन्मपरि-  
णामवता इत्येतत्, स्कन्दपुराणस्य कुमारिकाखण्डेऽपि तदुल्लेखो  
स्मर्यते, ००१।१६.—



“त्रिषु वर्षसहस्रेषु कलेर्यातेषु पार्धिव ।।

त्रिशतेषु दशन्यूनेष्वस्या भुवि भविष्यति ॥

शूद्रको नाम वीराणामधिपः सिद्धिमत्र सः ।

चर्चिताया समाराध्य लप्स्यते भूभयापह ॥”

एवविधे विप्रलापे प्रचरति, मृच्छकटिककवि. शूद्रकः  
एतेषामन्यतमः कश्चिन्न वेति वक्तुमशक्यमेवेति ।

किञ्च शूद्रक एव प्रकरणस्यास्य रचयिता न वेति निःसं-  
शयमभिधातुं कथमपि न शक्यते, कोऽपि अज्ञातनामा कविः  
स्वयं प्रकरणमेतत् विरचय्य राज्ञः शूद्रकस्याख्यया प्राकाशय-  
दित्यपि अनुमातुं सम्भाव्यते, काव्यप्रकाशे “श्रीहर्षाद्वाका-  
दौनामिव धनम्” इत्यादि दृष्टान्तदर्शनादेवविधा प्रथाऽपि तदा  
प्रचलिता आसीत् इति परिज्ञायते । किन्तु येषु येषु अलङ्कार-  
ग्रन्थेषु मृच्छकटिकप्रबन्ध उद्धृतोऽभूत्, तत्र तत्र, यथा दश-  
रूपके, यथा च वामनसदृशप्राचीनालङ्कारिकगणानां ग्रन्थे,  
अन्यत्र वा कुत्रापि प्रोक्तमशयजनकहेतोः आभाममात्रस्याप्य  
दर्शनात्, शूद्रक एवास्य प्रकरणस्य रचयितेति अस्माभिरन्यैर-  
कामैरपि अङ्गोक्तुमुचितमिति ।

“लिम्पताव तमोऽङ्गानि वपेतीवाञ्जन नभ ” एष. श्लोकाद्वै  
मृच्छकटिकं दण्डिप्रणीतं काव्यादर्शं च दृश्यते, काव्यादर्शं  
दण्डौ स्वर्गचितमेवोदाहरणं प्रादर्शयत्, इति  
विभाव्य “पिण्णल्” इति नाम्ना अध्यापकेन  
एवमुक्तं यत्, मृच्छकटिकं दण्डिविरचितं  
मिति, तत् न मस्यक् । न खलु कविर्दण्ड्या  
काव्यादर्शं स्वर्गचितमेव सर्वमुदाहरणं प्रद-  
र्शितवान्, परन्तु अपरविरचनमपि, यथा, -

प्राच्यविदेष । पण्डित  
इत्याख्याध्यापकस्य  
मतं “दण्डौ एव  
शूद्रकः” इति,  
तत् अर्थोक्तिकम्

“लक्ष्म लक्ष्मी तनोतीति प्रतीति मुभय वच.” चेद्वि “लक्ष्म लक्ष्मी

तनोति” इति शाकुन्तलीयचरणैकाग्रमात्रमाश्रित्याभिधीयते यत्, अभिज्ञानशकुन्तल दाण्डिना विराचित, न तु महाकवि-  
कालिदासेनेति, तत् किं समीचीनम् ? एकपादमात्रानुकूलोदा-  
हरणमवलम्ब्य काव्यरचयित्वावर्णय, सर्वथा न युज्यते एव ;  
तेन च नृच्छकटिक दाण्डिनोद्गायितमिति असङ्गचितमभिधानं  
न हि युक्तमुत्पश्याम । अपि च “लिम्पतीव तमोऽङ्गानि”  
इति वचन भासग्राथिते चारुदत्तेऽपि दृश्यते , एवञ्च अध्यापकस्य  
प्रागुक्तवचन न हि भवति युक्तितर्कसहमिति ।

राज्ञः शूद्रकस्य शासनसमयः शकारेः विक्रमादित्यस्य

शूद्रककवि विवरणो

पूर्वं एवेति ऐतिह्यं प्रचरति, यदि ह्येतद-  
मूलकं न स्यात्तदा खट्वजन्मनः पूर्वतन-  
शताब्द्या प्रथमभागे एव तथाविधे वा कस्मिंश्चिदेव समये  
अस्य शासनमस्ति। निर्धारयितुं युज्यते इति ।

इदानीमेतद्विचार्यते यत्, नृच्छकटिकप्रकरणपाठेनास्माभि-

नृच्छकटिके शूद्रका  
शूद्रादानप्रमाणम्

रस्य रचनानमयस्य किमपि ज्ञातुं शक्यते  
न वेति, नृच्छकटिकस्य प्रथमाङ्के एकोन-  
चत्वारिंशद्श्लोके दृश्यते,—

चारुदत्तकवि  
रचयित्वे

“अन्धश्राले पलाश्रन्ती मल्लगन्धेण शूद्रा ।  
केशविन्दे पलामिष्टा चाणक्येणैव दौवदी ॥”

अष्टमाङ्कस्य चतुस्त्रिंशे पञ्चत्रिंशे च श्लोके चारुदत्तशब्द-  
प्रयोगदर्शनात्, तदाविर्भावात् परं नृच्छकटिकप्रकरणं विर-  
चितमित्यनुमातुं शक्यते, ततश्च खट्वजन्मनः पूर्वस्मिन् एक-  
विंशत्यधिकतिस्रस्तमे सवत्सरे एतद्वार्षिकीर्षादिति आपाततः  
निर्णीयते ।

प्रथमाङ्के चतुस्त्रिंशे श्लोके दृश्यते यथा,—‘किं शि शक्ये  
पालिभुते महिन्दे लक्ष्मणुते जालरेसी शुवन्नु,’ इति : एत-

राज्ञ अशोकस्य  
पुत्रमहेन्द्रकथोल्लेख

च्छोकिनिहितं महेन्द्रपदमस्माक नयनमा-  
कर्षति । प्रथमन्तावदत्र महेन्द्रपदं देवराजार्थं  
प्रयुक्तमित्यस्माक मनसि समुल्लसति, ततश्च  
पुनः तत्पर्यायकशक्रपदप्रयोगदर्शनेन तदुपादानस्य कारणा-  
न्तरासत्वेन च प्रोक्तमहेन्द्रपदं राज्ञः अशोकस्य पुत्रस्य तद्भातु-  
ष्यतस्य वा महेन्द्राभिधेयस्य परिचायकम् इति समीचीनतया  
सम्भाव्यते, यः खलु बौद्धधर्मप्रचाराय लङ्कापुरमगमत्, तस्यैव  
कथा श्लोके चास्मिन्नुपन्यस्ता इति; एवञ्च सति अशोकगाम-  
नात् परतः, सङ्घातवर्षपरिमाणेन तु खृष्टजन्मनः पूर्वतः एक-  
त्रिंशदधिकद्विंशततमवर्षात्परस्मिन् काले प्रकरणमेतत् विर-  
चितमभूदिति ।

पुनश्चाष्टमाङ्के चतुस्त्रिंशे श्लोके दृश्यते यथा,—“लुहे लाआ  
दोणपुत्ते जडाज्ज चाणक्के वा धुम्भुमाले त्रिगङ्ग” इति, एतच्छ्लो-

चक्षपददमनकथा

कोक्तः रुद्रराजः को हि नाम भवति ? इति-  
हासि श्रूयते यत्, रुद्रदमनो नाम एक परा-  
क्रान्त क्षत्रपः ( सट्टपः ) आसीत्, अस्मा राज्ञः चटनस्य पौत्रः,  
स तु अन्ध्रवशीयाय राज्ञे पुलुमार्यायनामर्धयाय दत्तामिवा नाम  
स्वकीया तनयामददात्, ततश्च तेनैव स्वार्थेन सह जामावा  
युयुधानः तं खृष्टाब्दे अष्टत्रिंशदधिकशततमे पञ्चचत्वारिंश-  
दधिकशततमे च व्यजेष्ट, वात्सल्यात्तु पुलुमार्यायनं तद्राज्यात् न  
भ्रशयामास, केवलं कर्तिचित् जनपदान् अन्ध्रराज्यात्  
विच्छिद्य, विधाय च स्वराज्यान्तर्निविष्टान् तं तदधिकारात्  
विद्यावितवान्, पुरातत्त्वविद्भिः विद्वद्भिः चतुर्णां लिखानां  
दृष्ट्वा एव हि निर्धारयत्, रुद्रदमनं नृपं द्वापराय  
शक्रनरपतेरतातान्द्रे, खृष्टाब्दमानेन च त्रिंशदधिकशततमे  
तत्तज्जनपदमधिपद्विद्वत्, तेनैवमनुमिनुमः वयं यत्, प्रोक्तम् ।

“रुद्रो राजा” इत्यभिधाय कवि. शूद्रकः किल अमुष्यैव नरपते. कथा उपन्यस्ता इति । अस्माकमेतदनुमानस्य बीजमनुपदसेवाभिधास्याम । “रुद्रो राजा” इति पदद्वयेन यदि रुद्रदमननृपतिरेवावबोध्यते, तदा सृच्छकटिक पञ्च चत्वारिंशदधिकैकशततमात् खृष्टीयाब्दात् परत एव विरचितमित्यायातम् ।

अपि च सृच्छकटिकस्य प्रथमाङ्के त्रयोविंशे श्लोके, “एशा णाणकमूशिकामकशिका मच्छाशिका लाशिका” इति दृश्यते ,

णाणककधील्लव णाणकमुद्रा तु प्रसिद्धे बौद्धधर्मावलम्बिनि काश्मीरदेशाधिपतौ कणिष्के भुव शामति प्रचलिता आसीत्, असौ कणिष्कः, खृष्टजन्मनः परतः प्रथम-शताब्द्या भुवमशादिति ।

अत एवैतत् तर्क्यते यत्, सृच्छकटिकं खृष्टीयप्रथमशताब्द्या अपि परत विरचितमभूदिति ।

को नाम सृच्छकटिककविः शूद्रक इति अतितरा दुरुह-तया असन्दिग्ध निर्धारयितुं न शक्यते । केरपि अस्मद्देशीयै-  
पुद्रकस्य दाक्षिणात्यमन्त्रकथा रालङ्कारिकैः पुनः प्रायशः तस्य कवेः श्लोकः, चृणक वा नोटधारि, परन्तु द्राविड-भाषाया तस्यापूर्वकौशलमाकलय्य इदानी-न्तना विद्वान् एव निश्चिन्वन्ति यत्, असौ दाक्षिणात्यभूभाग-वास्तव्य आसीदिति ।

भाष्यवेणवीयपुराणादी भविष्यता राजन्यपुञ्जाना नामो-

१. १. १. १. १.  
२. १. १. १. १.  
३. १. १. १. १.  
४. १. १. १. १.

क्तोक्तनावसरे न हि शूद्रकस्य राज्ञः नामो-  
 ल्लेखो दृश्यते, स्कन्दपुराणे तु कुमारिका-  
 खण्डे शूद्रकस्य नाम उल्लिखितमस्ति । स  
 च शूद्रको नृपः कल्लेरुगस्य गतेषु नवति-

युतद्वात्रिशच्छतसङ्घरातेषु वर्षेषु, खट्वीयाब्दमानेन तु नवति-  
युतशततमे सवत्सरे भुव शसिष्यति इति तत्र दृश्यते, खट्वीय-  
प्रथमशताब्द्या अपि उत्तरकाले मृच्छकटिक विरचितमभूदिति  
तु प्रागेव अस्माभिरालोचितम् ; तेन हि स्कन्दपुराणोक्तप्रमाण-  
मनुसृत्य नवत्यधिकशततमखट्वीयाब्द एव शूद्रकाधिकारकालः  
इति स्वीक्रियमाणे काऽपि चतिर्न भवति, न वा केनचित्  
विरोधेन प्रसज्यते ।

अस्मिन्नेव नवतियुते शततमे खट्ववत्सरे मगधस्य राजामन-  
मलङ्कृत्य यज्ञश्रीर्नाम कश्चिदन्युवंशीयः पराक्रान्तः भुवति.

प्रोक्ताब्दे अन्ध्रवशीय  
भुव यज्ञश्री.

भुवमशात् । वशस्यामुष्य सर्व्व एव राजान्.

“शातकर्णी” इति संज्ञया समाख्याता अभ-

वन्, एषा कोऽपि स्वीय प्रकृतमाख्यान धृत्वा

सिंहासनं नाधिरुरोह ; एष हि यज्ञश्रीः यदि शूद्रक-

भवति, तर्हि अमुष्य द्राविडभाषाया पाण्डित्यस्य तथा तत्कृतौ

मृच्छकटिकेऽपि प्रयुक्ताना चाणक्य-महेंद्र गाणकप्रभृतिशब्दाना

सङ्गतिरपि जायेत । एतस्यैव पूर्व्वतनः पुरुष रुद्रदमननामा

पुलुमायिना राज्ञा सह युयुधे, तेन पुनरर्मन्दिग्ध सम्भावयामः

यत्, शूद्रककविदर्शितः रुद्रराजोऽपि स ण्वेति ।

अन्यदपि दृश्यते यत्, अन्ध्रवशीयेषु राजसु भूयामः एव  
वौद्धर्मावलम्बिनः आसन्निति । परन्तु यज्ञश्रियः तत्पूर्व्वतना-

यज्ञश्री मृच्छकटिक  
कविश्च शैव इति

नामन्येषाञ्च कर्त्तॄणा नरपतीना शिवशब्द-

पूर्व्वाणि शिवश्री-शिवस्कन्दश्रीप्रभृतीना

नामानि समीच्य ते सर्व्वे शैवा एवाभवन् इति

मततमेव मनसि समुदेति, नो चेदेव, तदा तेषा तथाविधानि

नामानि न स्युरिति । किञ्च, मृच्छकटिकस्य प्रथमे श्लोके

निर्विघ्न स्वाभीप्सितपरिसमाप्तये शूद्रकोऽपि सृष्टिर्म्यतिप्रलय-

कारिण भगवन्त शिवमुपास्यतया यदवन्दिष्ट, तेन सोऽपि  
शैव एवाभवदिति अनुमिनुमः ।

दृश्यते चास्माभिः नृपः शूद्रकः अतीव पराक्रान्तः दाक्षि-  
णात्यः शैवशासीदिति, तस्य च शासनसमयः ख्रृष्टीयप्रथम-

शताब्द्याः उपरिष्ठादेव, किञ्च "रुद्रो राजा"

साम्नात यज्ञश्री  
नृच्छकटिककृतो  
अनन्तरत्नमशय

इत्यनेन यदि रुद्रदमननृपतिरवबोध्यते, तदा  
पञ्चचत्वारिंशदयुतशततमख्रृष्टीयसवत्सरादपि  
परत एवेति । पुनश्चान्यत्र समौच्यते यत्,

यज्ञश्रीरपि अतीव प्रवृत्तः अन्ध्रवंशावतसः दक्षिणदेशाधिपतिः  
शैवश्च, ण्योऽपि नृपतिः नवतियुतशततमे ख्रृष्टसवत्सरे भुवम-  
शिपत् इति तच्च पञ्चचत्वारिंशदधिकशततमख्रृष्टाब्दस्य पश्चात्,  
तेनैव सशैसहे वयं यत्, यज्ञश्रीरेव नृच्छकटिकरचयिता किमु ?  
तस्यैवापरं नाम शूद्रकः किम् ? इति । किन्तु अन्ध्रवंशीयानां  
खनु भूरतिवृन्दानां स्वप्रकृतनामवैयमपहाय नामान्तरं परि-  
रुद्धं मिहामनाधिरोहणदर्शनात् यज्ञश्रीरेव शूद्रकः इति  
निःसन्देहं नाभिधातुं शक्यते ।

हित'दशताब्दीय  
नृच्छकटिकरचयिता  
का

एतदेव वयमसमयमभिधातुमीशमहे यत्, नृच्छ-  
कटिकरचयिता अन्ध्रवंशीय एव, ख्रृष्टीयद्वितीय-  
शताब्द्यां अन्तिमे तत् रचयामास चेति ।

केचन चैवमाहुः यत्, ख्रृष्टजन्मन द्विशतसंवत्सरात् पूर्वं

४३ इति ५४५६  
५४५६ इति ५४५६  
५४५६ इति ५४५६

राज्याशोकस्य शासनकालादव्यवहितोत्तर-

मेव नृच्छकटिक विरचितमभूदिति । अस्मा-

मिन् नृच्छकटिक ख्रृष्टीयद्वितीयशताब्द्यां

अन्तिमे भागे विरचितमिति प्रागेवाभिहितं,

तदनुवृत्तप्रमाणानामपि प्रदर्शितं, प्रमाणान्तरमपि वयम् अव-  
तारयिष्यामः ।

भरतकविकृतं किल नाटकोद्योगास्तु समीच्य वयमेव-  
 मभिजानीमहे यत्, मृच्छकटिककविरेतन्ना  
 व्यशास्त्रमतिनिपुणतया अनुसन्नेव ग्रन्थमिम  
 प्राणैषीदिति । तदनुकूलमुदाहरणं वयं  
 यथास्थाने प्रदर्शयितुं यतिश्यामहे ।

कवेरस्य नाट्याचार्य  
 भरतमतानुसरणम्

भरतीयनाट्यशास्त्र  
 कालविनिर्णय

अस्यैव नाट्यशास्त्रस्य आचार्याभिनय-  
 प्रसङ्गे एकविंशे अध्याये एतदुक्तमस्ति,

यथा,—

“शकाश्च यवनाश्चैव पङ्गवा वाह्लिकाश्चयाः ।

प्रायेण गौराः कर्त्तव्या उत्तरा पश्चिमा दिशम् ॥” इति ।

इतिहासे दृश्यते यदेतद्वाह्लिकदेशीयानां यवनानां ( ग्रीक-  
 समूहानां ) राज्यं ख्रिष्टजन्मनः पूर्वस्मात् सार्द्धशतद्वयात्  
 सवत्सरात् प्रभृति ख्रिष्टजन्मनः पूर्वं प्रायशः सप्तपञ्चाशद्वर्षं  
 यावत् स्थितमासीत्, शकानां पङ्गवानाञ्च जातिविशेषाणां  
 नामानि नानाविधे मस्कुने ग्रन्थेऽपि दृश्यन्ते, एते भारतवर्षस्य  
 पश्चिमोत्तरदेशवास्तव्या आसन्निति । प्रायशः ख्रिष्टीयपञ्चाश-  
 दधिकशतसवत्सराणां पुरस्तात् शकाः भारतवर्षस्य पश्चिमभागं  
 अधिकृत्य क्रमशः उत्तरस्मिन् प्रदेशे स्वाधिपत्यं समस्थापयन्तः,  
 तथात्वे भारतीयनाट्यशास्त्रं ख्रिष्टजन्मनः प्राक् द्विशततमसवत्स-  
 रादुत्तरस्मिन् कदाऽपि विरचितमभूदिति स्फुटतया प्रमाणितम् ।

अपि चैतस्य ग्रन्थस्य सप्तदशाध्याये षट्पञ्चाशत्तमे आक्षे-  
 प्रयुक्तात् “सुरङ्ग” इति शब्दात् आकाणामागमनानन्तरमतीतेषु  
 बहुषु वर्षेषु ग्रन्थस्याभ्याविर्भाव इति प्रतीयते, यत्र च  
 सुरङ्गशब्द “मादुरेणक” इति आकभाषाप्रचलितशब्दात् उद्-  
 पाटि इत्येवमभिभाषन्ते विद्वान्, द्विशतसवत्सराभ्यन्तरे  
 कोऽपि नाम वैदग्धिका शब्दं कस्याद्विद्वत्स्या भाषायां

कथमपि नान्तर्भवितुमर्हति । एवञ्च शब्दतत्त्वपर्यालोचने-  
नास्य नाट्यशास्त्रस्य खृष्टजन्मनः पूर्वशताब्द्या ग्रन्थना इति  
मिथ्येत्येव . एवञ्च भरतकृतनाट्यशास्त्रविधिनिषेधावनुसृत्य चेत्  
कविरयं मृच्छकटिकं विरचयेत्, तदा खृष्टीयपूर्वद्विशततम-  
संवत्सरस्य परत एव विरचितस्य नाट्यशास्त्रस्यानन्तर लिखित  
मृच्छकटिकं खृष्टीयपूर्वद्विशततमसंवत्सरात् प्राक् प्रणीतमभू-  
दिति न वक्तव्यमेव ।

शब्दतत्त्वपर्यालोचनया च अस्य नाट्यशास्त्रस्य विरचन

मृच्छकटिकं खृष्ट-  
पूर्व विरचितनाट्य-  
शान्तपराचीनमेव

खृष्टपूर्वशताब्द्या तत्सामोप्यवति वा कस्मि-  
न्चित् कालेऽभूदित्येव सम्भाव्यते ; ततश्च  
तदुत्तरकालिकी एव मृच्छकटिकरचना इति

निर्णतव्यम् ।

समालोचनोपेतद्रूपकप्रतिपाद्यस्य समवतरणिकाया प्रागेव

मृच्छकटिकरचनाया  
—द्रुकं तत्वे विवर्त

अन्माक प्रस्तावनाविषयकं किञ्चिद्वक्तव्य-  
मस्ति । प्रस्तावनायाः चतुर्थश्लोके दृश्यते,  
यथा,—“लब्ध्वा चायुः शताब्दं दशदिनमर्हत्तं

शूद्रकोऽग्निं प्रविष्टः” इति , अत्रैव विचार्यते,—शूद्रकः स्वयमेव  
कथमता कथां विलिखित् ? न खलु कश्चित् कदा कथमात्मनः  
सरणं भविष्यति इति वक्तुं शक्नुयात् ।

अत्र केचनानुहुः, ज्योतिर्विद्याप्रभावेण सर्वमेव ज्ञायते ;  
तेन हि शूद्रकोऽपि कविः स्वकीयमायुः कियत्, कथमात्मनः  
सत्यं भविष्यति इति च ज्योतिःशास्त्रानुशीलनेन विज्ञाय  
पूर्वोक्तं चरणमलिखित् इति ।

अस्माभ्यन्तेतत् समीचीनतया न रोचते, यतो हि—  
लोकान् पराजित्वा शूद्रकवरपती नृन तद्वशात् रूपकमेतद-  
भाषितं एवञ्च गतं अस्मिन्वावसरं सुदधरः शूद्रकोऽग्निं



प्रविष्टः” इत्यभिदधत्, सर्व्वेपा श्रोतृणां नटानाञ्च समक्षम् एव-  
विधं कविपरिचयं व्यजिज्ञपदिति तु सर्व्वथा युक्तिप्रतिकूल-  
तया विचारामहत्वेन मनीषिणामनभिमतमेव, अपि चात्र  
“एतत् कवि किल” “वभूव” “चकार” इत्याद्यभिधानं शूद्रक  
सम्बन्धे अन्यकविप्रयुक्तत्वेनैव समुद्भूतं भवितुमर्हति, किञ्च  
कोऽपि कविः स्वस्य शारीरकमौन्दर्यादिकं स्वयमेव वर्णये-  
दित्यपि कदाचिदश्रुतपूर्व्वत्वेनास्माकं मनसः प्रीतिः कथञ्चिदपि  
नावहत्येव ।

तेन हि वयमेवं मन्यामहे यत्, दिवमुपगते शूद्रकनरपती

द्वितीयाभिनये  
प्रस्तावनाया  
परिवर्त्तनम्

पुनः कदाचित् कालान्तरे सृच्छकटिकाभि-  
नयावसरे “एतत्कविः किल” इत्यत्र प्रभृति  
“चकार सर्व्वं किल शूद्रको नृपः” इत्यन्त-  
यावत् कविपरिचयभूतं मन्दर्भं संस्कृत्य परि-

वर्द्धं च सूत्रधारः, अपरः कश्चिद्वा व्यरचयत्, स्वयं शूद्रकेण  
कथमपि तदानीमिममं विरचयितुं नैव शक्ते इति ।

प्रस्तावनायामेवविधविरोधदर्शनात् रूपकमेतत् शूद्रकेण  
कविना न विरचितमिति कल्पनाऽपि न युक्तियुक्ता, केनापि  
कविना शूद्रक इति नाम प्रदाय किल विरचितमिदं रूपकं  
मित्यपि प्रमाणाभावतया नास्माभिः सुदृढं कल्पयितुं शक्यते  
इति ।

एषा च प्रस्तावना अतिनिपुणतयैव विरचिता, समुक्त

प्रस्तावनाया  
अस्य रूपकस्य  
च परस्परसम्बन्धः

रूपकान्तरेषु प्रायशः पृथ्वरङ्ग पातप्रवेगश्च  
न्तरा प्रस्तावनाया मूलप्रस्तावस्य विधिप्र-  
सम्बन्धाभावो लक्ष्यते, अस्याश्च प्रस्तावनाया  
एतद्रूपकप्रवन्धानुकूलत्वेन समुद्भूतसम्बन्धवत्

पातप्रवेगविधानेन च न तथाविधत्वम् । अतिनिपुणतया प्रस्ता-

वनायामस्या सूत्रधारस्य दारिद्र्यं वर्णयित्वा कविः सचेतसा सामाजिकसमूहानां चेतसि मूलग्रन्थनिहितं चारुदत्तदारिद्र्यं सततमेव जागरयति, एतन्निबद्धया असम्बद्धोक्त्या च मूलग्रन्थोपशकारसमीरितं सम्बन्धहीनं भाषणमपि स्मारयति; इत्येव प्रस्तावनया समस्य ग्रन्थस्य सरञ्चितो विशिष्टः सम्बन्ध इति कविना प्रस्तावनायामेव दर्शितं स्वकीयरचनायामसीमं नैपुण्यम् ।

संस्कृतकाव्येषु तु यावन्ति खलु सन्ति रुचिराणि रूपकाणि, तेषु प्रधानतमं सर्वमेव प्रायशः रामायणमहाभारतादिपुराणपरिष्ठीतहृत्तं, कविकपोलकल्पितं प्रकरणाटिरूपरूपकं हि स्तोकतया परिमितमेव, तेषु किन् यानि सुन्दराणि मधुराणि च सन्ति, तानि वस्तूनि निखिलान्येव लोकलोचनानां पुरत एवोपस्थापितानि । प्राचीनतमा हि कवयः समाजानामभ्यन्तरीणावस्था, समाजकूटनीतिव्यापाराश्च सविशेषं नापश्यन्, न च जनसमाजानामभ्यन्तरं कथञ्चिदपि प्रवेष्टुमैच्छन्, न वा तदभ्यन्तरप्रवेशप्रयोजनमपि किञ्चिदस्तीति मेनिरे, ते तु तदानोन्तनं मल्यभृतमपि समाजचित्रं परिहृत्य, मार्क्सकालिकं हि यत् मल्यं, तस्यैव चित्रं चेतसि निवेश्य, तथाभृतानेव विविधान् जनमानसमहन्तिमसूहान् समदृश्यन्त ।

अस्माकं समालोचनीये पुनरेतस्मिन् नञ्चकटिकप्रकरणे तदाविधकल्पनाया व्यतिक्रम एव लक्ष्यते.—तथा हि,—अस्मिन्

४८६ ट २  
४८७ ट ३  
४८८ ट ४

प्रकरणे अतिगर्भारतया तात्कालोचितममाज-सम्बन्धं कविना सर्वथा सुमरञ्चितं एव, तात्कालिकानां जनसमाजानामाचारपद्धतिः, राज्यानां विशिष्टावस्था च अतिपरिष्फुटतयैवातं प्रदर्शिता. सुन्दराणामसुन्दराणाञ्च वस्तूनामेकत्र, यथाऽत्र

दृश्यकाव्ये स्फुटतया समावेश सम्पादित ; कुत्राप्यन्यत्र केनापि कविना नैव तथा कृत इति मन्ये । कवयश्च प्रायशः सर्व एव समाजप्रभाववर्णनादपसर्तुकामा इव कुत्रचिदेकस्मिन् द्वयोर्वा स्थलयोस्तत्तत्कालिकसमाजप्रभावमुपावर्णयन्, तैश्च तदानीन्तनीं सत्यामपि समाजावस्थामपहाय कालातीतमपि यत् चिरमत्य मेने, तथाविधमेव चित्र चित्रितम् । कवे शूद्रकस्य रचनासु तादृशो यत्नः कुत्रापि नास्माभिः प्रत्यचीकृत, अपि च तेन स्वरचनासु तदानीन्तनी जनसमाजानां स्वरूपावस्था एव सम्यक्तया प्रकटीकृता, सृच्छकटिकप्रकरणे च कविना नायकादचरित्र तथा सुष्ठुतया चित्रित, यथा किमपि केवल कल्पना सम्भूतमेव न भवेदिति, प्रत्युत तदानीं सम्भाव्यत्वेन सत्यतयैव सम्यक् प्रतीयते, पात्राणामेवविधं जीवितवत् चित्राङ्गसमत् कवेः बहुलमेवास्माभिरभिलक्ष्यते ।

तेषु तेषु चरित्रेषु यदतिरमणीय किमप्यस्ति वैशिष्ट्य, तदन्यत्र कुत्रापि नास्तीति मन्यामहे । रूपकान्तरे तु प्रायशः पात्र चरित्रे एवमेव अस्माभिः परिनिक्ष्यते यत्, यो हि उत्तमचरित्रो नायकः, स सदैव अतिपवित्र साधुजनाचरित सत्कार्यमेव सविशेषमनुतिष्ठति । यथानुत्तमचरित्र पात्रविशेष, स तु आ जीवितात् साधुजनविगर्हितं धर्मविवर्जितं कर्म नियतमेव विदधति ।

सृच्छकटिके चरित्राङ्गवैशिष्ट्यम्

एवमेव चरित्रमुपवर्ण्य दर्शयितुं किमपि प्रयोजन नास्ति इति नास्माभिरभिधीयते ; सृच्छकटिकेऽपि एवविधम एक इदमेव वा चरित्रमुपवर्णितं नास्ति, तदपि न, परन्तु प्रायशः बहुलमेव चरित्रं यदि एवविध भवेत्, तदा दृश्यकाव्यस्य वैशिष्ट्यमेक सपद्येव विलुप्तप्रायं स्यात्, चरित्राणि हि नास्ति कविना कल्पितानि, न तु निमग्ननिदतया सत्यभूतानि, इत्येव

समस्यप्रतीत्या तेषां जीवत्सदृशतया प्रतीतिरेव न स्यात् । सर्वथा पवित्रचरित्रः सर्वथा निन्दितशीलश्च मानवः अतितरां विरल एव । अतिपूतचरित्राणामपि जनानां प्रायशः किमपि दीर्घञ्च तिष्ठतीति सत्यं, किन्तु जुगुप्सितचरित्रेषु जनेषु अनवद्यानामुच्चतराणाञ्च चित्तवृत्तीनां विकाशस्यासत्त्वेऽपि अन्तराऽन्तरा तथाविधानां वृत्तीनां विकाशावभासः संलक्ष्यते, तेन च प्रकृतो हि मनुष्यः गुणदोषयोरुभयोरेव आकरो भवतीति चिरमस्माभिरवधार्यते ।

अपि च दृश्यतेऽस्माभिः अन्येषु रूपककाव्येषु एकैकस्मिन् पात्रचरित्रे एकैकं विशिष्टकार्यं निर्दिष्टमस्ति, यस्य तु यदेव कर्म निरूपितं, तदेवासौ अनुतिष्ठतीति ; यथा विदूषकः,—  
अस्य तु केवलं हास्यरमस्यैवोत्ससदृशस्य हास्यरमोद्दीपकव्यापार-  
मन्तरेण किमपि कार्यान्तरं कदाचिदपि नैव लक्ष्यते, प्रकृत-  
मानुषस्य हि तस्य एवम्भवनं नितान्तमसम्भवितम् अस्वाभा-  
विकवर्णनग्रामप्रस्तुतेति । प्रकृते तु मनुष्ये अखण्डकालवशात्  
अवस्थाविशिष्टाञ्च सर्वविधा एव चित्तवृत्तयः यथाऽवसरं स्फुरन्ति,  
शूद्रकविना च मृच्छकटिकप्रकरणे तथाभूतस्य प्रकृतमनुष्य-  
स्येव निमर्गमिदं चरित्रं चित्रितं, न तु कार्यविशेषसम्पादनाय  
यथेच्छं स्वकल्पनया परिकल्पितम्, शोणितमासपिण्डमयोऽयं  
प्रकृतो हि मनुष्यः कथमाजोवितमेकया वृत्त्या अवस्थातुं शक्नु-  
यात् । प्रतिपातं चरित्रसमालोचनाऽवसरे वयमेतत् यथाशक्ति  
विशिष्य प्रदर्शयितुं यतिष्यामहे ।

पूर्वमेतद्वदितं यत्, मृच्छकटिकान्तं प्रकरणमेवेति ,

१५११००५५

दृश्यते तावद्विदानीं, किं नाम भवति प्रक-  
रणलक्षणमिति । तत्रभवान् भरतस्तु नाट्य-

शास्त्रस्य महादशाध्याये एवमाह, यथा,—

यत् कविगताम्बुद्ध्या वस्तु शरीरञ्च नायकञ्चैव ।  
 औत्पातिकं प्रकुर्वते प्रकरणमिति तद्वधैर्ज्ञेयम् ॥ ८३ ॥  
 यदनर्थमपाहार्यं काव्यं कुरुते प्रभृतगुणयुक्तम् ।  
 उत्पन्नवौजवस्तु प्रकरणमिति तदपि विज्ञेयम् ॥ ८४ ॥

\*

\*

\*

विप्रवर्णिकस्मच्चिवानां पुरोहितामात्यमार्थवाहानाम् ।  
 चरितं यत्रैकविधं ज्ञेयं तत्प्रकरणं नाम ॥ ८५ ॥  
 नोदात्तनायककृतं न दिव्यचरितं न राजसम्भोगः ।  
 बाह्यजनसम्प्रयुक्तं ज्ञेयं तत्प्रकरणं नाम ॥ ८६ ॥  
 दासविट्श्रेष्ठियुतं वेशः स्त्रुपचारकरणोपेतम् ।  
 मन्दकुलस्त्रीचरितं काव्यं कार्यं प्रयोगे तु ॥ ८८ ॥

\*

\*

\*

यदि वा प्रकरणयुक्त्या वेशकुलस्त्रीकृतोपचारः स्यात् ।  
 अविक्ततभाषाचारं तत्र तु पाठ्यं प्रयोक्तव्यम् ॥ १०१ ॥  
 प्रकरणनाटकविषये पञ्चाद्या दशपरास्तथा चैव ।  
 अङ्गा कर्त्तव्याः स्युर्नानारसभावमयुक्ताः ॥ १०२ ॥

साहित्यदर्पणकारेणोक्तं “नायिकानायकाभ्यां सञ्जा  
 प्रकरणादिषु” इति, अनेन पुनर्विधानेन अस्मदानीचनीयस्य

एतस्य रूपकस्य “मृच्छकटिकम्” इति नाम-  
 धेयविधानं न हि सम्भवेत् । कथं हि नाम  
 कविः पृष्ठाङ्कविवर्णिता नातिमहती प्राप्ति-  
 द्विकीमेका मृत्तिकाशकटविषयिणी घटना  
 सवलम्ब्य “मृच्छकटिकम्” इति नामधेयं

“मृच्छकटिकम्”

इति समाख्याया

का हि नाम

साधकता ?

व्यधात् ? कथं वा पृष्ठाङ्कव्येष्टशौमन्योयमी घटनामित्यं नाम  
 प्रधानतया अर्जागणत् ? एव तत्र मन्यामहे वयं यत् वसन्ता-  
 सेना एवास्य प्रकरणस्य विवर्णितेषु वस्तुषु प्रदानं, तदयन्ति

मेव क्रमेण सुविकाशं प्रदर्शयितुं कविर्यथायथमचेष्टत ; वसन्त-  
मेनाचरित्रस्य सम्यक् विकाशश्च सृत्तिकाशकटसङ्ग्रान्तमाख्यान-  
माश्रित्यैव समजनि, तेन च प्रकरणमिदं शूद्रकेण कविना  
“सृच्छकटिकम्” इति समाख्यया समलङ्कृतं कृतमिति । एत-  
न्नामविधानेनैवं प्रतीयते यत्, वसन्तमेनाचरित्रस्य प्राधान्य-  
विधानमेव कवेरभीक्षितमासीत्, तेन हि कियत्पूर्वमस्माभिर-  
मिहितं यत्, प्रधानतः वसन्तमेनाचरित्राङ्गणं हि रूपकस्यास्य  
निदानमिति ।

अपि च,—एष षष्ठोऽङ्कः एतत्प्रकरणस्य विशिष्टनिदानभूत-  
तया (केन्द्रीभूततया) कविना निबद्धः, इमं सृच्छकटिकासङ्ग्रान्तं  
व्यापारमवलम्ब्यैव अतर्कितोपनता अति-  
शोचनीया च चारुदत्तस्य आपत् क्रमेण  
सन्निहिताऽभवत् । तथा हि,—यान्येव भूष-  
णानि स्वगात्रादुन्मुच्य वसन्तमेनया शकटिकानिर्माणाय  
रोहमेनाय प्रदत्तानि, तान्येव चारुदत्तस्य स्वविनाशमाधन-  
भूतानि समजायन्त । प्रथमाङ्कतः प्रभृति अत्र विवर्णिताः सर्वा  
एवेतिवृत्तयः षष्ठाङ्कमासाद्य सम्मिलिताः, अपि च ता एव तत्र  
भिन्नाकारतामापद्य समन्तात् विस्मरतामधिगताः, विभिन्न-  
विकाशपथञ्च अधिजग्मुः । अत्र अङ्गे प्रवहणविपर्ययो हि  
वर्णनीयो विषय । यदि नाम वसन्तमेनया तत्र चारुदत्तस्य  
मात्तात्कारोऽभविष्यत्, तदा भूषणविनियोगव्यापारः सम्यक्तया  
ममपत्स्यत, परन्तु सृच्छकटिकासङ्ग्रान्तमिमं विषयमवतार्य कविः  
चारुदत्तमुद्दिश्य वसन्तमेनाप्रयाणस्य किर्याहिलम्बमुत्पादयामास,  
तेन च अतीव त्वरया प्रियमुपगन्तुमुत्कण्ठितचित्तायाः वसन्त-  
मेनाया प्रवहणस्य विभ्रमं महटित । तदनन्तरञ्च एतत्प्रक-  
रणस्य हृत्तजान् विभिन्नेन पद्या प्रसृतं सत् भिन्नरूपता-

षष्ठाङ्कस्य

प्रधानतादीप्तम्

मयासीत् । मृच्छकटिकाव्यापारमुपजीव्य सर्व्वमेव व्यापारमुप-  
निबद्ध कविः एतादृशीमर्त्तीयसीं घटनामेतावतीं प्राधान्यवती-  
मकार्षीदिति ।

प्रकरणमिदं शृङ्गाररसात्मकम् । अन्येषु अङ्गभूतेषु रमेषु  
हास्यकरुणरसयोरत्राधिक्यमस्ति । नायकस्यास्य धीरप्रशान्त

अङ्गिना शृङ्गार-  
रसेन प्रतिपाद्य  
वस्तुन विकासः,  
अन्येषाञ्चाङ्ग-  
रसानामाधिक्यम्

ब्राह्मणश्च, नायिका च अनुरागवती गणिका-  
दुहिता । कस्मिन् खलु काले केन पुनर्भावेन  
आविर्भूतस्तयोरुभयोः परस्परमनुरागः, नाय-  
कस्तु न तदस्मान् स्ववचसा प्रादर्शयत्, केवल-  
शकारमुखेनैवमश्रूयतास्माभि यत्, काम-

देवायतने वसन्तसेना चारुदत्तमवलोक्य तस्मिन्ननुरागवती  
जाता इति । निशायामेकस्या पथि गच्छन्तो वसन्तसेना  
शकारविटाभ्यामाक्रान्ता चारुदत्तभवनमग्नियत्, तत परम्  
अलङ्करणन्यासः, वसन्तसेनासवाहकयोः परस्परमानाप,  
कर्णपूरककथा च, सर्वाण्येतानि चारुदत्त प्रति वसन्त  
सेनायाः प्रणयमतिगाढमवर्द्धयन्, अपहृतं च भूषणजातं प्रथम  
तस्तयोरत्युद्देगवतीरपि परिणामे तदलङ्कारवृत्तान्तमवलम्ब्य  
प्रणयः पृथ्वीऽपि दृढतामभजत । ततः विपदा प्रथमममारम्भ-  
विलासः सम्भूतः, क्रमेण प्रतिकूलदैव शकारवैरञ्च एते चारु-  
दत्त वसन्तसेनाञ्चातिमात्र पर्याकुलमकुरुताम् । ततश्च तयो-  
विपज्जालदुर्दिनघनान्धकार क्रमादपममार, विरराज च  
विमलमिलनानन्दचन्द्रिकाप्रवाह । एव नाम शृङ्गाररसावल-  
म्बनेन ग्रन्थस्यास्य विषय विकासतामविजगाम परिपश्य  
च इति ।

प्रागभिहितयो अङ्गभूतयो करुणहास्यरसयो करुण  
विषये कियदभिधान न भवेदप्रामादिकमित्यागाम्यते । सर्व्वं

पुनरेवमभिजानन्ति यत्, बहुलतया वणिक्तेष्वपि करुणरसेषु,

संस्कृतदृश्यकाव्य न भवेत् वियोगान्तमिति ।

संस्कृतदृश्यकाव्ये  
गान्धोपवन कथं  
हि नाम नाम्नि ?

तत्र हि दृश्यकाव्ये करुणरसबाहुल्येन विद्य-  
मानेष्वपि नितरामरुन्तुटेषु दृश्येषु, तद-  
वसाने पुनर्निर्मलं सुखं नियता च शान्ति-

भवतीति ।

न खलु कविदर्शनिकमतमवलम्ब्यते काव्यविरचनाय, यत्  
तस्य वैदिकान्तकस्येव ब्रह्मातिरिक्तवस्तुनोऽसत्यतया एकस्यैव  
सत्यत्वसङ्गीकार्यमिति ; नियतजन्ममृत्युपुण्यापुण्यवतां हि  
नामारिकाणां प्राणिनां सुखदुःखं पुण्यापुण्यञ्च प्रतिपाद्य  
प्रदर्शयत' कवे बहून्नेव सन्ति सत्यानि, स च एकमेव वास्तव-  
सत्यमवलम्ब्य बहुभिर्दिग्भिः नानाविधैर्भावैः नानारसैश्च यत्र  
तत्र प्रसक्तुं शक्नोति ।

एवञ्च मति कथं कविभिर्दृश्यकाव्यात् वियोगरूपमति-  
कठोरमेकं वास्तवमेव सत्यं काव्यप्रतिपाद्यतया नाग्राहि ?  
तत्रास्माभिरवमभिधायते यत्, भारतीयास्तु कवयः मनुष्यहित-  
काव्यतया काव्यविरचनमपि केनापि कल्याणोदकेण वस्तुना  
महं मयोजयितुमैषेषु, ते हि मनुष्येषु महत्तरहृत्तिप्रस्फोटनं  
काव्यनिर्मितमुद्बोधेष्ट्यत्वेनावधार्य साधारणेषु जीवनधारि-  
जनेषु अवश्यं सम्भाव्यमानानपूरणहृदयकलुषत्वार्दान् यथायथं  
प्रदमत प्रदर्श्य च परम् अलौकिकी शान्तिं लोकोत्तरां पूर्ण-  
तां तत्र प्रतिष्ठापयन्ति, तदेव काव्यनिर्मितरुद्बोधमिद्विपन्ने  
प्रहृष्टनिदानांसत्यवगणयन्ति च । तेषामात्मनश्च केनचिद्विशेषो  
पादानेन विनिर्मिततया तच्चेतनामपि निश्चयमाभिमुखो  
प्रहृतिं निमग्नं एव सम्भवतीति मन्यामहे ।

इदंरूपाया हि कवयः हृन्दादेव प्राणिना सर्वेषामत्यन्ति-



रुन्नतिश्च जायेत, पुनः तेनैव द्वन्द्वेन तेषां पर्यवसानमित्येव  
निसर्गसिद्ध नितरामदर्शन् । भारतीयास्तु कवयः प्रतिभया  
जीवनमेवमनभिवीक्ष्य ध्वंससङ्घटनयोः केवलं सङ्घटनामेव आदि-  
यन्त ; तैस्तु ध्वसान्तरालवर्त्ती एवमस्ति कोऽपि सङ्घटनाविधिः,  
येन सङ्घर्षात्परं शान्तिः, विरहानन्तरं मेलनं, दुःखावसानं च  
सुखं समुत्पद्यते, एतेषामाभासं सुस्फुटमधिगम्यैव भारते  
वियोगान्तं रूपकं न निरमायि । इडरोपाख्यमहादेशे तु  
प्रतीच्यैः ध्वंसमेव समन्ताद्बीक्ष्य रूपकमपि तदनुकूलं वियो-  
गान्तमेव व्यधायि ।

परस्परकलहानां सङ्घर्षाणाञ्चान्तरा, जीवनस्य विषमयाणां  
विविधानां परिणामानाञ्च मध्ये यत् सौन्दर्यमन्तर्निहितमस्ति,  
तत् प्राक्ततजनानां न हि भवति गोचरोभूतं, किन्तु कविधिया  
मेव नियतमुपलब्धिविषयभूतं वस्तु, तथाविधकविवुद्धिर्हि  
ऐहिकदृश्यनिचयाभिमुखीभवितुं शक्नोतीदृशं, सा नात्यल्प-  
चारुतरा, न वा न्यूनमत्यसमन्विता । भारतीया हि  
कवयः, इडरोपाख्यमहादेशवासिनां प्रोक्तमतं काव्यनिर्मितो-  
नातिस्वीचक्रुरिति ।

प्रतीच्यास्तु कवयः दृश्यकाव्यविषये प्रथमं विच्छेददुःख-  
विलासं सविशेषं परिस्फुटं विधाय, पर्यवसानं एकस्मिन्  
विषये विध्वंसं सर्व्वमेव परिममाप्तमकार्षुरिति । प्राच्यास्तु  
कवयः प्रकर्षतां गतं करुणरसमवतारयन्त विरहदुःखमिति  
कठोरं सङ्घटयन्तश्च पर्यवसानं परमां शान्तिं सम्मेलनञ्च  
सुगभीरमनुभावयितुं नितरां प्रयतमाना आसन्, ( नेत्रमृच्यते  
यत् इडरोपीया कवयः कदापि एवविविभावस्य रसज्ञा-  
नाभूवन्निति ) आदित आदिप्रवृत्तं ततो युद्धप्रवृत्तं, तदनन्तरञ्च  
शान्तिपर्व्व इत्येव क्रमेण सङ्घटनमेव प्राच्यविदुषा प्रतिभांशार्पितं

तम् अभिमतम्, एवं हि तेषा जीवनस्य क्रम, शिल्पकलाविकाशे रसविन्यासविधौ च एकविधमेव क्रमं ते समरक्षन्निति ।

अत एव हि अस्माक समालोचनीयग्रन्थस्य दृश्य कुत्रचित् करुणरसात्मक कुत्रचिदतिबहुलकरुणरसपूर्णं वा वियोगान्त-दृश्यस्यातिमन्निकर्षे स्थितमपि सत् वियोगान्ततया नैव परि समाप्तमिति ।

नृच्छकटिके यत्र यत्र करुणो रस अवतारितः, प्रायशः तत्र स्थले प्रतिपाद्यविषयाणा सङ्घर्षवशादसौ सुविकाशतामाम-माद . नास्ति केवलं तत्र विलापभूयिष्ठवचसा कवेः करुणरसा-वतारणाप्रयाम' इति । कुत्रचिच्च ता एव उक्तय अतीव मर्म-स्पृश स्वाभाविकवर्णनोपनिबद्धाश्चेति दृश्यन्ते ।

हास्यरमेऽपि वैचित्र्य किञ्चित् परिलक्ष्यते, हास्यरमस्तु विभिन्नान्वयवस्यासु विभिन्नेनैव भावेन व्यभिचारिणा प्रका-  
शतामापद्यते । विविधा मुखभङ्गौ, अव-  
स्थाया विपर्यय . तथा परिहासकौतुक-  
प्राकृतजनदीर्घल्यानि च सामान्यतया हास्य-

संस्कृतिके  
हास्यरसस्य वैचित्र्यम्

स्य कारणतामुपयान्ति . प्रोक्तहेतुमसूहजायमानाना हास्याना कारणभेदेन हास्यस्यापि भिन्नत्व प्रतीतिमिदमेव । तथा हि,—  
विकृतमुखभङ्गौदर्शनेन यादृश हास्यमाविर्भवति, तत्तु व्यक्ति-  
विशेषस्य दीर्घजनितहास्यादिभिन्नमेव . तथा परिहासममु-  
लम् प्रवस्थाविपर्ययदर्शनेनोत्पन्नञ्च हास्य कारणान्तरजायमान-  
स्याप्येतया पृथग्विवमेव । एवञ्च हास्यकारणभेदेन हास्यस्य  
पृथग्यथा तदस्यपि किञ्चित् तारतम्यभवनमेव अस्माभिर-  
वश्य मस्माद्व्यते । संस्कृतरूपकसमृद्धेः, अस्माभिरिव दृश्यते  
यत्, नैदरिकविप्रस्य सोदकभक्त्ये निरतिशया प्रीति,  
तथा च मत्त जागतिववस्तुनिन्द्याना साम्यस्यापवादिक-

माश्रित्य कविभिः हास्यरसावतारणा व्यधीयत , प्रहसनादौ च परमनीचजनसमादृतस्यापि हास्यस्य अवतारणा द्रस्माभिः प्रत्यक्षीकृता, किन्तु सृच्छकटिकस्य हास्यरस रूपकान्त-  
रोयहास्यरसादपरविध एव । सुव्यक्तकौतुकात् यथाविध हास्य समुत्पद्यते, प्रच्छन्नकौतुकजनितात् तस्मात्त्वेतदधिकतरमेव रमणायम् । तत्रोदाहरणभूतस्तु न्यस्तालङ्करणवृत्तान्त एवेति वक्तुं शक्यते । चतुर्थे अङ्के यदा वसन्तसेना भृषणापहरणस्य प्रकृतव्यापार जानत्यापि कामपि वाचमनभिधाय शर्विलकाद लङ्करणजात विदूषकाच्च रत्नमालामग्रहीत्, तदानीन्तन वसन्तसेनायाः मनोगत भावमवबुध्य, वयमेतस्मादौपट्यतीव हृद्य कौतुकमनुभवाम, तद्धि सुभोज्यलम्पटस्य मुखभङ्गीगते अङ्गभङ्गोसहस्रैश्च विबोधयितुं नेव शक्यते इति सम्भाव्यते, तेन हि वयमेव द्रूमं यत्, सृच्छकटिके हास्यरसस्य विकास केन चिदभिनवेन नाट्यपरिशोलननैपुण्यसमुत्थेन भावेनाभिव्यक्त , स च चिरप्रचलितप्राचीनपद्धत्यनुशीलनजनितपथप्रतिकूलता मुपगतोऽपि सचेतसा विदुषामतीव प्रशमनीय ।

बहुषु रूपकेषु द्वयोरङ्गयोः क्रियत कालस्य व्यवधानमनु-  
मीयते, विषयाश्च सर्वे क्रियद्वयवहितकालव्यापितया समुप-  
निवडा, अपि च का घटना कस्मिन् समये, प्रभाते मध्याह्ने अपराह्णे रात्रौ वा सम्पा-  
दिता, इति स्फुटं न प्रतिपादितम्, एतादृ-  
निर्णयश्च दार्ढ्यकाल चित्तामन्तरण नर सभा  
वति । कस्मिंश्चित् रूपके द्वयोरङ्गयोः दृश्यानामपि वषाणा  
व्यवधानं परिकल्प्यते । का च घटना कस्मिन् समये सम्भूता,  
तद्विनिर्णयश्च नैव सुगमः, किमविकल्पन्यतया,—एतेन तु रूप-  
कस्य रसग्रहणविधौ मद्भान् प्रतिबन्धक एव प्राप्तमवशिष्टम् ।

अद्वयमन्तरा  
कालव्यवधानं  
निर्णय

नृच्छकटिके तु घटनाकालादिविनिर्णयस्यातिमुगमतया तद्यो-  
षावकाशो नास्तीति दृश्यते अस्माभिः ।

अधुना नृच्छकटिकस्य प्रत्यङ्गनिवृद्धा का हि नाम घटना  
कस्मिन् समये सञ्जाता, समया च घटना क हि कालमन्तरा  
समजनि, तद्विदानी विनिर्णेतुं यथामति चेष्ट्यते ।

अस्मिन् रूपके प्रथमाङ्गीयविदूषकचारुदत्तयोरुक्तिवत्तादेव  
एकदा नायाङ्गस्य किञ्चित्पूर्वमेव रूपकेतिवृत्तभागः समा-  
रब्ध इति अनायामेनैव जिज्ञासुभिरभिज्ञातुं शक्यते ; तथा  
हि — विदूषक प्रथमाङ्गे प्रथमदृश्यस्यावसाने एवाह यथा,  
— अस्मद् पट्टाण पटोमवेत्ताण इध रात्रमग्ने गणित्रा विडा  
वेडा राजवत्तहा अ पुरिमा सचरन्ति । अङ्गावसाने चारु-  
दत्तश्च आह यथा,—“सैद्रेय । भवतु, हत प्रदीपिकाभिः ;  
एतद् — उदयति हि शशाङ्क ” इत्यादि । तथा मति सन्ध्याया,  
किञ्चित्पूर्वकाले रात्रौ दृश्यकाले प्रथमाङ्गविवर्णितघटनाकाले  
इत्युपलभ्यते ।

द्वितीयाङ्कस्य प्रथमतः एव दृश्यते यत्, चेटी आगत्य  
वसन्तमेतान्नब्रवीत यथा,—“अल्लण अत्ता आदिमदि, झाटा  
सविण देवदा” पृश्णिस्तेहि त्ति, एवञ्च मति स्नानाञ्चन-  
वान्नात् समारब्धा द्वितीयाङ्कस्य घटना यावता कालेन अङ्गो-  
प्यसमिनीदेत तावन्निव वानमधिकृत्य अङ्कस्या' सर्वा  
घटना परिममापिता इत पर किञ्चित्कालान्तरमत्र  
निर्दिष्ट मति वान्नादेव किमपि नास्ति प्रयोजनम् ।

प्रावारककथा उपन्यस्ता, यावता कालेन तदीयो गन्धो विलुप्येत, तावान् समय अत्र नातीत', अन्यथा वसन्तमेनाया ईदृश प्रश्न नैव युज्यते इति ।

तेन च प्रथमाङ्कस्य घटना यस्मिन्नेवाङ्के प्रदोषसमयस्य किञ्चित्प्राक् समजनि, तस्य परित्यज्य प्रातरिव स्नानादिकालमारभ्य यामाभ्यन्तरतः द्वितीयाङ्कस्य घटना समाप्तिमायाता इति लभ्यते ।

तृतीयाङ्कप्रारम्भे एव चेष्ट आह,—“...अदिकमदि अद-  
नअणी” इति । अथ किञ्चिदवशिष्याया रजन्या जागरितः  
चारुदत्तः गृहं सन्धिभिन्नमवलोक्य, मैत्रेयं रत्नमालामाढाय  
वसन्तसेनामकाशं गन्तुमादिश्य “अहमपि कृतशौचः सस्याम्-  
पासे” इत्युक्त्वा निश्चकाम । तेनैतत् प्रतीयते यत्, यस्मिन्नेव दिवसे  
द्वितीयाङ्कस्य घटना सम्प्लवत्ता, तद्विवसीयमध्यरात्रात् प्रभृति पर-  
दिवसीयप्रत्युपकालं यावत् तृतीयाङ्कस्य वृत्तं सङ्घटितमिति ।

तृतीयाङ्के चौर्यकार्यं सम्पाद्य शर्विलक आह,—“तत्  
तावत्सदनिकाया निष्कुर्याणार्थं वसन्तमेनागृहं गच्छामि” इति ।  
चतुर्थाङ्के तु स एव प्रविश्य पुनरेवमब्रवीत्,—“स एष स्रष्टादय  
मन्दरश्मि क्षपाक्षयाञ्चन्द्र इवास्मि जातः ” इति , तेनैतदायात  
यत्, तृतीयाङ्कघटना यस्यामेव रजन्या समजनि, तस्या परस्मि  
न्नहनि प्रभाते एव चतुर्थाङ्कघटनासमयं समाप्य इति । ततश्च  
तदङ्गावसाने वसन्तमेनया व्रभापे यत्,—“अहं पि पदोभं अज  
पेक्खिदु आअच्छामि च्छि” इति । कियत्कालानन्तरमवसामो पुनर-  
प्याह,—“हञ्जे । गल्ल एद अलकारय, चारुदत्त आहामिदं  
गच्छम्” इति , तेन हि तदा प्रदोषसमयं आमादित्यनमो रते,  
एवञ्चैतदुपलभ्यते यत्, प्रत्युपसमयमारभ्य प्रदोषकालं यावत्  
चतुर्थाङ्कस्या घटना समपश्यतेति ।

चतुर्थाङ्कावसाने वसन्तसेनायाः,—“अहं पि पदोसे—” इत्याद्युक्ते. पञ्चमाङ्के च तस्याश्चारुदत्तेन सह सन्दर्शनस्यानन्तर, चारुदत्तस्य च तदानीं “समाद्य शोकान्तकर प्रदोषक” इत्यादिप्रदोषसूचकाक्तेश्च चतुर्थपञ्चमाङ्कयोर्घटना परस्परं पौर्वापर्यकालेनैव सम्पादितेत्यनुमीयते ; तेन हि प्रदोष-समयस्य सम्प्रवृत्तेः कियत्कालात् पूर्वतः रजनीसमागमात् प्राक् यावत् पञ्चमाङ्कस्य घटना सम्पन्नेति निःसंशयमस्माभिरुपलभ्यते ।

षष्ठाङ्कस्य समारम्भे एव चैटी वसन्तसेनामाह,—“उत्थेदु उत्थेदु अज्जआ, पभाद सवुत्तम्” इति । तेन हि पूर्वस्मिन् प्रदोषे मिलन समजनि, परस्मिन् प्रभाते षष्ठाङ्कीयघटना-कालस्य समारम्भश्च इति द्वावप्येतावङ्कौ केवल रात्रिसात्रेण व्यवच्छिन्नौ ।

षष्ठाङ्कविहृतः प्रवहणविपर्ययास, सप्तमाङ्कवृत्तमार्थकाप-हरणम्, अष्टमाङ्कस्थितञ्च वसन्तसेनामाटनमेतानि किल एकाङ्के एव पर्यवसितानीति तु नवमाङ्के अधिकरणमण्डपप्रविष्टस्य, पूर्वे षष्ठाङ्के चन्दनकेन तिरस्कृतस्य वीरकस्य वचनेनैव प्रतीयते : तद्यथा,—

“पादप्पहारपरिभवविमाणणावहगुरुअवेरस्स ।

अणुसोअन्तस्स इअ काध पि रत्ती पभादा से ॥” इति । तेन हि षष्ठसप्तमाष्टमाङ्कगत वृत्तं नवमाङ्कीयवृत्तेन सह केवलं रात्रिसात्रेणैव व्यवच्छिन्नमिति । प्रवहणविपर्ययमस्तु प्रत्युपमि सम्भूत , ततः, कियदनन्तरञ्च एकास्मिन्नेव समये विभिन्नेषु स्थलेषु मार्थकापहरण वसन्तसेनामाटनञ्च सहोदितम् , नव-माङ्कगतघटना च पर्यवधि प्रभातसमयादेव सम्प्रवृत्ता, इति प्रतीयते ।

नवमाङ्गे चारुदत्तस्य प्रागदण्डादेशप्रदानम्बानन्तरं दशमे  
तस्य वध्यभूमिनयनात्, दशमाङ्गीयघटना नवमाङ्गतवृत्त  
परिसमाप्तेरत्यधिककालव्यवच्छिन्न इति न प्रतीयते, सा च नव-  
माङ्गतघटनादिवसस्य परस्मिन् ब्रभाते एव समजायत इत्येव-  
मस्माभिरनुमीयते ।

तेन च एतत्प्रकरणेयमसम्पूर्णवृत्तजातस्य पञ्चभिः सप्तभिर्वा  
दिवसैः सम्पादिततया निर्वाधमेव वृत्तप्रवाहः क्रमेण प्रमर्त्तुं

नृच्छकटिकघटना  
पञ्चसहस्रैः दिवसैः  
सम्पन्ना

मशक्नोत्, घटनापरम्पराणां अन्यनमपि  
घनमन्निर्विष्टतया वैशिष्ट्यमेव प्रतिपादयितुं  
शशाकः । एवमातिभूयसो वृत्तजातस्य एवविध  
सौन्दर्येण सङ्गम्य न रूपकान्तरे नैव लभ्यते ;

अपि च एतत्प्रकरणमर्तानिखिलदृश्यानामुज्ज्वलिनी सम्भूतत्वेन  
प्रकरणमिदम् अखण्डं सम्पूर्णञ्च सञ्जातमित्यस्माभिरनुमीयते ।

कविः शूद्रकां दृश्यकाव्यविधौ भगवतः नाट्यशास्त्राचार्यस्य

दृश्यकादिषु

भरतादिषु

समयनिर्धारणम्

भरतस्यादेशमतिनिपुणतयैवानुसरन् यतः  
प्रकरणमिदं प्राणनाय, तत एवास्य घटना  
कालं प्रति तथैवविधा सावहिततया च प्रसरा  
दष्टिरामीदित्यनुमीयते । मुनि भरतस्य

तदीयनाट्यशास्त्रस्य अष्टाविंशे अध्याये एकस्मिन् स्थले नाट्य-  
प्रयोगे कालाकालविनिर्णयविधौ एवमादिशत्, यथा, -

“यच्छ्रोत्रमणीयं स्यादस्मात्पानकृतञ्च यतः ।

पूर्वाह्ने तत्प्रयोज्यं शुभं वा विज्ञातञ्च यत् ॥ ८० ॥

सत्त्वात्मानं गुणैर्युक्तं वाक्प्रभृतिभिर्यथा वा ।

पुष्कलं सत्त्वमयुक्तमपराह्णे प्रयोजयेत् ॥ ८१ ॥

कैशिकावृत्तिमयुक्तं शुद्धाररमस्ययम् ।

नृत्यवादित्रगोतास्य प्रदीपे न द्योदयः ॥ ८२ ॥

यत्र साहाय्यसंयुक्त करुणप्रायमेव च ।

प्रभातकाले तत्कार्यं नाय्य निद्राविनाशनम् ॥ ८३ ॥

न प्रयुञ्जीत मध्याह्ने नार्द्धरात्रे कथञ्चन ।

सन्ध्याभोजनकाले च न नाय्य सम्प्रयोजयेत् ॥ ८४ ॥ इति ।

प्रोक्तश्लोकसमूहपर्यालोचनयैतत्प्रतीयते यत्, सृच्छकटिके कविना पूर्णतया भरतानुशासनमनुसृत्य यस्मिन् काले या घटना तदनुमादिता, तस्मिन्नेव सा समुपनिबधेति । किं बहुना, —“नार्द्धरात्रे कथञ्चन” इति भरतानुशासनेन अर्द्धरात्रे नाय्य-प्रयोगनिषेधदर्शनात्, तृतीयाङ्गीयवृत्तमर्द्धरात्रे समारब्ध न वेति यदि कोऽपि समयेत, तत्सन्देहनिराकरणाय कविः शूद्रकः अङ्गम्य प्रथमत एव चेटमुखेन “अटिकमटि अङ्गलअणी” इत्यभाषत ।

महाकविना शूद्रकेण सृच्छकटिकप्रकरणे पात्रादिप्रभेदेन भाषाणामपि विभेदमुपकल्प्य यत् विविधा एव भाषा प्रायु-  
ज्यत, तत्तु न तेन स्वेच्छया सम्पादित, किन्तु  
भगवान् भरतः स्वकीयनाय्यशास्त्रे यम्य  
यादृशीं भाषा प्रयोक्तुमादिदेश, सृच्छकटिके  
कविः शूद्रकः तस्य तादृशीमेव भाषा प्रयुक्त-  
वान् । अस्मिन् रूपके प्राधान्येन कविना यासु यासु भूमिकासु  
या या भाषा प्रयुक्ता, विशदीकर्तुमधस्तात् ता एवास्माभिः  
एकत्र सङ्गृह्य प्रदर्श्यन्ते । तथा हि,—वसन्तसेना-रदनिका धृता-  
शाधनकथोष्ठना शीरसेनी, वारक-चन्दनकयो, अवन्तीया,  
मैत्र्याविदृषकस्य प्राच्या, वसन्तसेना रोहमेनयो मागधा;  
शवार चाण्डाल नायुर द्यूतकाराणां सपन्नश-शाकार-चाण्डाल-  
भाषा प्रयुक्ता इति ।

एतद्देशान्तरस्थानि, भाषाविषये कियत् नाय्यशास्त्राभिमत-

सृच्छकटिके भाषा-  
व्यवहार नाय्य-  
शास्त्रसम्मत



मिहान्तमुद्भूत्य तेन सह शूद्रकनिवहभाषाया. कियतामशाना  
सौमादृश्यमस्ति, तद्वबोधयितुं यतिष्यते ।

“प्राच्या विदूषकादोना धूर्तानामप्यवन्तिजा” १७ अध्याये  
५१ श्लोकः ; “मागधी तु नरेन्द्राणामन्त.पुरनिवासिनाम्”  
तत्रैव ५० श्लोकः ; “अधमो मागधभाषी भवति गकारा बहु  
विकार.” २४ अध्याये १०५ श्लोक , श्वराणां शकारदोना  
तत्स्वभावश्च यो गणः । शकारभाषा योक्तव्या चाण्डालो पुक्-  
सादिषु ॥” १७ अध्याये ५३ श्लोक. ।

रूपकस्यास्य निखिलान्तरु अवान्तरवृत्तावलि मूलघटना  
मेव नितरा परिपुण्याति । अथार्थमुद्दिश्य तत्तद्विषये विनाश  
माणे मति सर्वमेवैतत्सार्थकमिति प्रतीयते ।  
एतदीयदृश्यजातञ्च कविना राष्ट्रीयतया सामा-  
जिकतया च द्विधा परिकल्पितम् । कविः किमपि किमपि दृश्य  
सङ्क्षिप्य वर्णयितुमपि शक्नुयादिति च कदाचिदस्माकं चेतामि  
जागर्ति ; तथा हि,—वसन्तमेनाया भवनवैभववर्णना, पञ्चमाहे  
प्राहृङ्गवर्णना च स्नाकमहाराया विषयवाङ्मयेन च कियत्प्रपाञ्चनति  
चिन्त्यते । किन्तु स्मर्त्तव्यमेतदस्माभिरवसरं यत्, समाजराज्ययो  
विशिष्य प्रदर्शनमप्यत्र कवेरर्भाषितम्, एवविधवाङ्मयेन नाया  
मत्यामपि यत्, अन्यप्रतिपाद्यघटना कुत्रचित् विशेषेण न  
वाधिता, तदेवात्रास्य कवेरसीम नैपुण्यमावेदयतीति मन्यामहे ।

प्रकरणस्यास्य आख्यानभागे घटनापरम्परान्वित्यामं विषय

तथा कवे नैपुण्यप्रकर्षो दृश्यते, तथा हि, -  
प्रस्तुतवृत्तमस्य विभिन्नघटनापरि-  
परम्परमहर्षञ्चालना प्रसरत्परम्परामस्य

घटनारचनाया  
यदकस्य नैपुण्यम्

दोषहीनतया अप्रामादिकत्वाद्विदोषाभाववचना - यदप्र-  
सत् समाप्तिमविगतम् ।

अत्र प्रकरणे पष्ठाङ्क एव आख्यानभागस्य अवान्तरघटना-

नाञ्च गुम्फतनैपुण्यपददर्शनस्य प्रकष्टतममेकं  
निदर्शनम् । एव नाम निपुणतया विभाव्य  
कविना रचितोऽयमङ्को यत्, निखिलभावि

पञ्चाङ्क  
प्रधानतार्किकम्

वृत्ताना वीजमवाङ्गे सम्यक् सन्निविष्टमासीदिति तु सूक्ष्म-  
दर्शिभिः सूक्ष्मतया लक्षणोपमिति ।

किञ्च पूर्वतना सर्वा एव घटना अस्मिन्नेवाङ्के सङ्गत्य विव-  
र्णिता नत्य पुनर्विभिन्नेन पथा प्रसारिता अभवन्, घटनारच-  
नायाम् अस्मिन्नेवाङ्के कवि यत् असामान्य नैपुण्यं प्रादर्शयत्,  
तदन्यत्र कुत्रापि रूपके नाम्नाभिरिदानीमपि प्रत्यचीकृतम् ।  
वस्तुतः रूपकस्यास्य आत्मा पष्ठाङ्क एव ।

कविना च रूपकेऽस्मिन् यावतीनामवस्थाना घटनानाञ्च  
अवतारणमकारि, तत्सर्वमेव नायिकानाय-  
कयो चरित्र सम्यक् स्फोटयितुमुपन्यस्तमिति  
सन्त्ये, तेन हि घटनाप्रवाहा तदेव नाट-  
काप्रसृतीभृतमुद्देश्यमाश्रित्य वेचित्त्रेण स्त्रैरगत्या च समन्तात्  
परिभ्रम्य अन्ते गन्तव्यस्थानमभ्येत्य सम्मिलिता आसन् ।

घटनावर्णनम्  
नाटकम्

प्राग्ग नाटकायपात्रादीना प्रवेशस्थलविनिर्णयो हि नाट्य-  
वस्तुताम् उक्तेर्पात्रकपेनिदानम्, एतदनुचिन्तयन् कवि अभि-

नेतृनायकादीना प्रवेशो येन हि सम्यक्  
समोर्चनेषु स्थानेषु भवेत् तत्र तु सप्रणिधान  
मानस निदधौ । तेन हि तेषां प्रवेश कुत्रापि अस्वाभाविक  
मात्रवदिति ।

१. नाटकावर्णनम्

चरिताण्येऽपि कवेरपि नैपुण्यं दृश्यते, वस्तुमेवा-वाक्य-  
रूपं विदुषकाणां विचित्रचरित्रचित्रणमेवाप्य प्रकष्ट प्रमाणम् ।  
चरित्रचरितेभ्यः कवेरपि नैपुण्यं दृश्यते, वस्तुमेवा-वाक्य-  
रूपं विदुषकाणां विचित्रचरित्रचित्रणमेवाप्य प्रकष्ट प्रमाणम् ।

मिहान्तमुद्धृत्य तेन सह शूद्रकनिबद्धभाषायाः कियतामशानां  
सौमादृश्यमस्ति, तदवबोधयितुं यतिष्यते ।

“प्राच्या विदूषकादोना धूर्तानामप्यवन्तिजा” १७ अध्याये  
५१ श्लोकः ; “मागधी तु नरेन्द्राणामन्तःपुरनिवासिनाम्”  
तत्रैव ५० श्लोकः , “अधमो मागधभाषी भवति शकारो बहु  
विकारः” २४ अध्याये १०५ श्लोकः , श्वराणां शकारोना  
तत्स्वभावश्च यो गणः । शकारभाषा योक्तव्या चाण्डालां पुक्क-  
सादिषु ॥” १७ अध्याये ५३ श्लोकः ।

रूपकस्यास्य निखिना खलु अवान्तरवृत्तावलिः भूतघटना  
मेव नितरा परिपुष्णाति । अर्थार्थमुद्दिश्य तत्तद्विषये विचार्य-

वर्णनाबाहुल्यम्

माणे मति सर्वमेवैतत्सार्थकमिति प्रतीयते ।

एतदीयदृश्यजातञ्च कविना राष्ट्रीयतया सामा-

जिकतया च द्विधा परिकल्पितम् । कविः किमपि किमपि दृश्य  
सद्विषयं वर्णयितुमपि शक्तुयादिति च कटाचिदस्माकं चेतमि  
जागर्ति, तथा हि,—वसन्तसेनाया भवनवैभववर्णना, पञ्चमाङ्गे  
प्रावृड्वर्णना च श्लाकमङ्गया विषयबाहुल्येन च कियत्प्रपञ्चितं  
चिन्त्यते । किन्तु स्मर्तव्यमेतदस्माभिरवसरे यत्, समाजराज्ययो  
विशिष्य प्रदर्शनमप्यत्र कवेरर्भाषितम्, एवविधबाहुल्यवर्णनाया  
सत्याभाप यत्, अन्यप्रतिपाद्यघटना कुतचित् विशेषेण न  
बाधिता, तदेवात्रास्य कवेरमीम नैपुण्यमावेदयतीति मन्यामहे ।

प्रकरणस्यास्य आख्यानभागे घटनापरम्पराविन्यासं विशेष

घटनारचनाया  
शूद्रकस्य नैपुण्यम्

तया कवे नैपुण्यप्रकर्षो दृश्यते, तथा हि,—  
प्रस्तुतवृत्तमस्य विभिन्नघटनावलि तेषां  
परस्परमङ्गुर्पञ्चालरा प्रसरत्परम्परामस्यद्व-

टोषहीनतया अप्रासङ्गिकत्वादितोषाभाववत्तया च अप्रतिहत  
सत् समाप्तिमधिगतम् ।

अत्र प्रकरणे पष्ठाङ्ग एव आख्यानभागस्य अवान्तरघटना-

पष्ठाङ्ग

प्रधानताशीलम्

नाञ्च गुम्फननैपुण्यप्रदर्शनस्य प्रकृतममेकं  
निदर्शनम् । एव नाम निपुणतया विभाव्य  
कविना रचितोऽयमङ्को यत्, निखिलभावि

वृत्ताना बीजमत्राङ्गे सम्यक् सन्निविष्टमासीदिति तु सूक्ष्म-  
दर्शिभिः सूक्ष्मतया लक्षणोपमिति ।

किञ्च पूर्वतना सर्वा एव घटना अस्मिन्नेवाङ्के सङ्गत्य विव-  
र्णिता सत्य पुनर्विभिन्नेन पथा प्रसारिता अभवन्, घटनारच-  
नायाम् अस्मिन्नेवाङ्के कवि यत् असामान्य नैपुण्यं प्रादर्शयत्,  
तदन्यत्र कुत्रापि रूपके नाम्नाभिरिदानीमपि प्रत्यक्षीकृतम् ।  
वस्तुतः रूपकस्यास्य आत्मा पष्ठाङ्ग एव ।

कविना च रूपकेऽस्मिन् यावतीनामवस्थाना घटनानाञ्च

घटनावर्गीनां

साधनानाम्

अवतारणमकारि, तत्सर्वमेव नायिकानाय-  
कयो चरित्र सम्यक् स्फोटयितुमुपन्यस्तमिति  
मन्ये . तेन हि घटनाप्रवाहा तदेव नाट-  
कायसृजनीभृतमुद्देश्यमाश्रित्य वेचित्वेण स्वैरगत्या च समन्तात्  
परिभ्रम्य अन्ते गन्तव्यस्थानमभ्येत्य सम्मिलिता आसन् ।

प्रायशः नाटकायुपादादीना प्रवेशस्थलविनिर्णयो हि नाट्य-  
वस्तुनाम् उक्तप्रीपक्षेनिदानम् , एतदनुचिन्तयन् कवि अभि-

१. नाट्यविचार

नेटनायकादीना प्रवेशो येन हि सम्यक्  
समीचीनेषु स्थानेषु भवेत् तत्र तु सप्रणिधान  
मानस निदर्शनी । तेन हि तेषां प्रवेश कुत्रापि अस्वाभाविक  
नामवदिति ।

चरित्राण्यपि वदेरपि नैपुण्यं दृश्यते वस्तुतः सेना-चारु-  
दत्त विदुषाणां विचित्रचरित्रचित्रणमेवास्य प्रकृत प्रमाणम् ।

२. नाट्यवस्तुनाम् उक्तप्रीपक्षेनिदानम्

पावादीनां सद-  
सन्निधित  
चरित्राङ्गणम्

वानपि सर्व्वयैव न भवत्यत्कष्ट, कदाचि-  
हर्हितमपि स विदध्यात्; तथा अग्रेषु दुष्कर्म-  
निरततया अधमोऽपि जनः सर्व्वयैव न  
भवत्यपकष्ट, सोऽपि कदाचित् किञ्चिन्नवद्य  
कृत्यमनुतिष्ठेत्, इत्येवमसौ कवि यथावसर चित्रयितुं नियत-  
मेव प्रायततेति दृश्यते ।

तथा हि,—दुर्दुरकस्य द्यूतक्रीडाविपन्ने संवाहके सम्य  
गानुकूल्य, माथुरद्यूतकरहस्तात् तस्य परिव्राणार्थं समधिक.  
प्रयासश्च एतस्यैवान्यतम निदर्शनम् । सततमसत्कर्मरतस्यापि  
शर्व्विलकस्य सदसद्विवेकबुद्धिः, स्वकृतेऽपि निन्दितकर्मणि  
घृणा, परानुष्ठितेषु साधुषु कर्मसु आन्तरिकी श्रद्धा च, एत-  
स्यान्यतमरमेकमुदाहरणम्, यद्वलेन पश्चादसौ शर्व्विलकः  
दुष्कार्य्यसमूहादनायासेनैव विरराम । अग्रेषु गुणगणविभू-  
षितेऽपि मानुषे सर्व्वथा दोषाभावः कथञ्चिदपि नैव सम्भवे-  
दित्यत्र च प्रमाणं चारुदत्त एवेति ।

अपि च,—ब्राह्मणोऽसौ इति सदा सर्व्वोच्च एव भवेत्,  
नीचजातीयस्तु सर्व्वथा नीच एव स्यादिति यद्यपि स्थित,

कवेर्नोचनेषु  
सहासुभूति

तथाऽपि तदनङ्गीकुर्व्वन् कविः नराणां  
कार्य्यवशात् अवद्यानवद्यकर्मसु प्रवृत्तिर्न  
निसर्गमिद्वैव, एतत् शर्व्विलकस्यावरकचरित्रे  
विशिष्य प्रदर्शयितुं प्रायतत । एतेनास्माभिः कवेः समारम्भ  
सम्यगुदारभावस्यानुकूल्यस्य च परिचयः समधिकमेव प्राप्यते  
इति ।

कविः शूद्रकस्तु दुष्कृतशालिभिरनुष्ठितं पापचरित्रं यथा-

पापचितम्

यथ चित्रयितुं कथञ्चिदपि नैव कुण्ठितव्यम-  
वाप । पाप पतनहेतुतया परिगृह्यते, विदध-

प्रस्थिताना हि स्वानुष्ठितदुष्कृताना भोगादितः परिचयोऽपि भवितुमहतीत्यावेद्यतश्च कवेरुन्मार्गगामिनः प्रति प्रायो मार्जना अस्येवेत्यभिप्रायः लक्ष्यते ।

अपि चास्मिन्नेव प्रकरणे परस्परविसदृशमपि सदमङ्गेदेन द्विविधं हि चित्रम् अन्योऽन्यं निकषा अवस्थाप्य, तदेव चित्र-  
विस्मयचित्रादृष्टम् मङ्गयन् कवि निखिलान्यपि पात्रचरित्राणि सुविकाशितान्यकार्षीत्, तथा हि,—एकतः चारुदत्तः, अपरतः शकारः, अपि चैकत्र शकारः इतरतश्च विटस्थावरकाविति । एव हि अन्योऽन्यविरुद्धे चित्रद्वये मूल-चित्रमपि सम्यक् विकाशतामगात्, किं बहुना, प्रासङ्गिक-चरित्रेऽपि कविना सम्यक्तया परस्परगतभेद सुसरक्षित एव ; यथा—वैरकचन्दनकयोस्तथा द्वयोश्चाण्डालयोः चरित्रे पर्यालोचितं तथैव परस्परभेद सम्यगुपलभ्यते । एतेषा सर्वेषामेव सत्काव्यगुणानामत्र सत्त्वात्, सृच्छकार्टिक नामैतत्प्रकरणं जगति सामाजिकानां समधिकमिव समादरणीयं मनोज्ञञ्चाभूदिति मन्यामहे ।

किन्त्वेकास्मिन् विषये किञ्चित् विमिश्रणमधिगता वयम् ; तथा च—यस्य काव्यग्रन्थनाया दृष्टाया रमञ्जाना सामाजिक-  
दृष्टं जगत्प्राप्तं जनानामीषदपि कौतूहलं कुत्रापि न हि न्यूनतामधिगच्छति, यद्वावान्तरान् विविधान् विषयानपि अवतार्य तथाविधं कौतूहल-सङ्गतया सर्वत्र सुसरक्षितुमशक्नोत्, एतादृशस्य हि कवेः विचार्यमाणस्य स्थूलविनोदं प्रदर्शितदृश्ययोजनासु विविधा पद्धतिरिवावलोक्यते । तथा हि—नाट्यशास्त्रं पठितं अस्मात्तरुणसंभवादि यत् तत्कालिकं रङ्गसरूपं न हि सर्वथा रसपूर्णं सतीत्, तच्च सर्वथा जनान्तरङ्गसदृशमदृशमपि

सर्वस्मिन्नेव विषये न केवल कार्थ्योपयोगि, अपि तु इदानीन्तनात् कस्मिन् कस्मिन्नपि विषये प्रशस्यतममेवामीदित्यवधारयामहे । तथा च,—एवं स्थिते सृच्छकटिकस्य दृश्ययोजनायामेवविधायाः असङ्गतैः हेतोः विनिर्णयः अतीव दुरूह एवेति । तदुदाहरणभूता अस्माभिरेका द्वयी वा असङ्गतिरिहोक्तिष्यते, यथा,—प्रथमाङ्के चारुदत्तभवनस्याभ्यन्तरे वहिश्च एकस्मिन्नेव समये अन्योऽन्यमंलापः इति, वहिरेकवारम् अभ्यन्तरे चैकवारम् इति शीघ्रतया रङ्गमध्ये तादृशदृश्यप्रदर्शनेन नूनं समाप-  
कर्षकतया रसभङ्गमन्तरेण नैव सम्भवति, तर्हि रङ्गमञ्चे तत्तत्स्थलं यथायथं कथमभिनोयेत्, एतस्य प्रकल्पना अपि नास्माभिः सपदि कर्तुं शक्यते इति । षष्ठाङ्के प्रवहणविपर्यया-  
घटनायाः कियत्कालात् पूर्वं हि युगपत् गृहस्याभ्यन्तरे वहिश्च विवर्णितम्, इत्येहि घटनास्थलं अन्येऽस्मिन्नसङ्गतं प्रदर्शितम् । नवमाङ्के धर्माधिकरणदृश्येऽपि इत्यमेवैकं द्वितीयवर्णितम् । फलतस्तु न खलु विरलमस्मिन्नेतस्योदाहरणं यत्, प्रायशः सर्वस्मिन्नेवाङ्के एवविधा असङ्गतिः परिलक्ष्यते इति । कथं हि पुरातनरङ्गमञ्चे प्राञ्चः, एवंविधानि तानि दृश्यानि प्रादर्शयन्निति तु सहृदयानामेव हृदयगम्यमिति ।

वसन्तसेनायाः अष्टधाविभक्तभवनस्य वर्णनायाः सम्यगाकलितायाः सपदि समुदेति मनसि यत्, प्रामादोपमम् आश्चर्यं दर्शनं सुविस्तृतं भवनमेतत् न सुप्रवेगं, किन्तु द्वितीयाङ्के विपन्नं सवाहकं इयता लघुना कालेन कथमोदृगं सुविशालं नम्यं सपदि प्राविशत्, प्रविश्य च अनुपदमेव वसन्तसेना प्राप्त इत्येवमेव कविः प्रादर्शयत्, तदपि परिलक्षणीयम् । वसन्तसेना वामभवनस्यानन्यमाधारणतया च सवाहकस्य तदानीं क्षणा

चुदघटनानाम  
सामञ्जस्यम्

भ्यन्तरे तत्र प्रवेशोऽपि तस्या तादृशभवनविभवस्य कथञ्चित्  
प्रतिकूलतामेव सम्पादयति, इत्यादिकं किञ्चिदसमञ्जसं हि  
कविचित्रित प्रतिभाति ।

पञ्चमाङ्गावसाने च चारुदत्तकृतात् इन्द्रधनुषो वर्णनात्  
प्राक् वसन्तमेतया विटेन च प्रवलनवज्रधरमानया कौमुदी-  
राजिरपावता, तारकापङ्क्तिश्च विनोपिता इत्यादिक विवर्णि-  
तम्, अस्तुमुपगते च भगवति विवस्वति न हि सम्भवति इन्द्र-  
धनुषामुदयः ; यत जलदे प्रतिफलिता हि सूर्यविम्बाः नाना-  
वर्णैरञ्जिता धनुराकारतामापद्यन्ते इति प्रस्तुतं, ज्योत्स्नाना  
तारकाणाञ्च समुद्रमयोग्यसमये समायाते कथं हि वामव-  
धनुषः समुद्रमस्य सम्भव इत्यपि सुधीर्भारवभाव्यम् । एव-  
विधानङ्गतिदर्शनात् कवेरनवधानतामूलकं किन्तैवमुदितमिति  
नन्यामहे ।

इह कुत्रचित् कुत्रचित् स्थलविशेषे अमङ्गतिः, भूयःसु

गङ्गाद्वीप

५५

स्थलेषु गङ्गाद्वीपाश्च मङ्गटिताः, एवम्

एकस्मिन्नेव श्लोके तत्र चत्वारोऽपि द्वीपाः

दृश्यन्ते, यथा.—प्रमिदित्यागः कथितपदता,

सुतसन्कारता भग्नप्रकासता च, एवम्भूतानां द्वीपाणाम् उदा-  
हरणानि न हि भवन्त्यत्र असुलभानि इति ।

आन्तरिककृतेषु न केनापि रुञ्जकटिकमिदं तादृक्तया  
प्रधानमिति न सम्यक्, तथा हि.—साहित्यदर्पणे तु पण्डित-

प्रवर विज्ञनाय केवलमेतस्य द्विवार

नामोक्तिश्च कृतवान्, काव्यान्तराश्रयवृत्तौ

वामनेनापि कुत्रचित्कं हो वा ओक्ता तथा

एतं हि नाम पुरुषस्याभिधानं राज्यम्”

तथा हि “कुत्रचित् कुत्रचित् इदं श्रुतं दशरथकृतं “समस्त-



परिपूत गोत्रमुद्गामित मे” इत्यादि श्लोक एव केवलं दृश्यते ।  
 आलङ्कारिकमङ्गै एवमनादृततया शूद्रकस्य दक्षिणात्यता-  
 प्रवादोऽपि सत्यतया कथञ्चित् परिज्ञातुं शक्यते , तथा हि,—  
 आर्यावर्त्तेवामिनाममीषा विदुषा दक्षिणावास्तव्येनानेन  
 कविना सह नासीत् सम्यक् सम्प्रोति , एतदेव तेषामनादर-  
 कारणमित्यपि सम्भाव्यते । एवमनादरमत्वेऽपि मृच्छकटिकस्य  
 बहवः श्लोकाः संस्कृतकाव्यानुगणिना मुखेऽपि नियतमेव सञ्च-  
 रन्ति, प्रशंसन्ति च ते शूद्रकस्य प्रसादगुणमयीं रचनामवलोक्य  
 सततमेव तदीयम् अतिशोभनं कवित्वम् ।

पर्यवसाने च दृश्यते रूपकस्यास्य अपरोऽपि कश्चित् गुण-  
 विशेष इति ; यदेतत्, नाट्यशास्त्रस्यालङ्कारशास्त्रस्य च विधि-  
 निषेधावङ्गीकृत्य विरचितमपि, कस्यापि  
 तच्छास्त्रीयविशेषानुशासनस्य तथाविधमधीन  
 नाभूत्, येन हि तत्तच्छास्त्रस्य विशेष-  
 विधिनिषेधयोः सम्यगनुसरणेन प्रकरणमिदं  
 मोन्द्येविरहितं भवेत् ; तेन हि रूपकमेतदालङ्कारिकाणां  
 कृत्रिमकल्पनाया भृयस्तया विनिर्मुक्तमेवेति ।

इदानीमेतदेव पर्यालोच्यते यत्, मृच्छकटिके शूद्रकेण  
 कीदृशी राज्यस्य समाजस्य च अवस्था चित्रिता प्रकल्पिता च ,  
 कल्पना हि प्रायशः कामपि वास्तविकी भित्तिमुपजीव्य  
 कविभिः स्वप्रतिभया प्रपञ्च्य कल्प्यते , तस्मात् शूद्रकोऽपि  
 कथञ्चित् कल्पितयापि राज्यसमाजयोरवस्थया तात्कालिकी  
 प्रकृता राज्यशासनसमाजव्यवहारयोरवस्था अगतं अचित्रय-  
 टिति वक्तुं शक्नुमः ।

मृच्छकटिके कविः शूद्रकः तात्कालिकमुज्जयिन्यां यादृशं  
 चित्रमचित्रयत्, तत्तु वाञ्छनं अतीव रमणीयं, विशेषेण

मृच्छकटिके  
कविकल्पित-  
राष्ट्रीयावस्था

समृद्धिसम्यन्नचेति; परन्तु तदीयाभ्यन्तरोणा  
वस्था किञ्चिदसामञ्जस्यपूर्णा इत्यवलोक्यते ।  
तथा हि,—जनतासङ्गुले राजमार्गे प्रदीप  
समये ( न तु निशीथे ) शकारेण धर्षणार्थ-

समुद्यता वसन्तसेना परित्रातुं न कश्चित् नगरपालः तत्रा-  
जगाम । यद्येवमुच्यते,—राजश्यालकस्य शकारस्य राजानु-  
गृहीततया, रक्षिजननिग्रहानुग्रहविधातृतया च कथं रक्षिणः  
तत्प्रतिकूलतामाचरितुं प्रभवेषु, तथाऽपि धर्माधिकरणे  
शकारस्य विचारके अशिष्टसम्मतः यादृच्छिकव्यवहारः, सिद्धा-  
देश्प्रत्ययात् मृद्गलनियमितपाणिपादस्य आर्य्यकस्य कारागार  
भङ्गत्वा शर्व्विलकेन वन्धनविमोचनञ्च इत्यादिकं किल राज्यस्य  
विमृद्गलतायाः प्रकृष्टतमं निदर्शनम् । अपि च,—चन्दनकः  
कलहावसरे एकयैव वाचा चिरसहचर वीरक विहाय आर्य्यक-  
तनुकलयितुं, तेन तत्सपक्षैश्च सह न्ययुज्यत इति । एतेन हि  
कविरेतददर्शयत् यत्, तस्य तस्य राजपुरुषस्य राजनि पालके  
ऐकान्तिकी भक्ति सम्प्रीतिर्वा नासीदिति । शरणागतवत्सल-  
स्यापि चारुदत्तस्य राजनिगृहीते आर्य्यके निर्भयसक-  
पटम् आनुकूल्यं हि राजनि साधारणजनानां अद्याप्रीतिहीन-  
तामेव आवेदयति । समनन्तरमेव सञ्जातो राज्यविप्लवोऽपि  
राज्यस्य विमृद्गलतामेव ज्ञापयति । वह्ननामेव लोकानां  
मरीभृतानाम् आर्य्यकपक्षावलम्बनमुपवर्णयन् कवि शूद्रक-  
स्फुटतया राज्यस्य विमृद्गलतामेव व्यजिज्ञपत्, चन्दनक-  
वीरकयोर्व्यवहारतोऽपि नगरपालानां परस्परम् ऐकमत्या-  
भावं पर प्रतिबन्धित्वञ्च वयं सम्यगज्ञामिषः । एवविधानि  
वदन्ति विमृद्गलतायाः चित्राणि शूद्रकेण मृच्छकटिके  
जल्पितानि ।

सूक्ष्मकटिकस्य द्वितीयेऽङ्के एकस्मात् दृश्यात् तदानीं द्यूत-  
क्रीडायाः अतिबाहुल्येन प्रचलनं लक्ष्यते । सव्वजनसमक्षं राज-  
पथे द्यूतक्रीडाप्रवर्तनविषयक-चित्रदृशनेनैत-  
दपि बुध्यते यत्, नैतिकापराधतया गणि-  
तायामपि तस्या क्रीडायाः, राजद्वारे द्यूत-  
कराणां दण्डो नाभूत् ; तत्क्रीडाविमोहितास्तावदनेके एव  
मनुजाः द्यूतकरैः द्यूतेन हतसर्व्वस्वाः अभवन्निति , तत्सम्बोद्ध-  
प्रकारश्च नाट्यकारः सबाह्वकदर्दुरकादीनां चरिताङ्गणे  
स्फुटतया एव प्रादर्शयत् ।

द्यूतक्रीडायाः  
प्रचलनम्

नवमाङ्कविवर्णितविचारव्यापारे पर्यालोचिते च अस्माभि-  
रेतदभिज्ञायते यत्, तदानौत्तरीं विचारपद्धतिं सूक्ष्मतमा  
नासीत् । नाट्यकारः अस्मिन् दृश्ये पुनरेत-  
दप्यदर्शयत् यत्, सर्व्वथा दोषरहितानामपि  
जनानां कदाचिदवस्थाभेदेनापराधितया प्रतिपादितत्वात्  
सर्व्वस्मिन् समये न्याय्यः विचारः सम्भवितुमशक्य एवेति । किं  
बहुना, विचारका अपि यथादृष्टप्रमाणबलेन दोषप्रत्यया प्रति-  
पन्न निर्दोषमपि जनं, निरपराधोऽयमिति सम्यगवगच्छन्तोऽपि  
आरोपितापराधात् तम् विमोक्तुं सर्व्वथा अनीशा एव ।

विचाररीति

अस्मिन्नङ्के एतदपि दृश्यते यत्, विचारकस्य मतेन अक्षत  
विभवैः सह चारुदत्तस्य राज्यात् निर्व्वामनमेव उचितमिति ।

ब्राह्मणस्य  
कायिकदण्ड

परन्तु राजा पालकः तस्य प्राणदण्डमेव विदधी,  
उवाच च अतः परं स्त्रीघातुकानां सुवर्णापहार-  
काणाञ्च द्विजानामपि पौरजानपदेषु तत्प्रमाण-  
विनिवृत्तये प्राणदण्डः सविधातव्य इति । एतेनैतदभिज्ञायते  
यत्, तदानीं दण्डविधौ विचारकेषु सर्व्वथा विन्यम्ने सत्यपि,  
सन्दिग्धेषु स्थलविशेषेषु दण्डव्यवस्था राज्ञा स्वयमेवाक्रियते ।

कायिकदण्डावतारणात्. अन्यदप्येक तथ्यमाविष्कृतं यत्, सस्त्राज्ञा अशोकेन प्रचारिता दण्डविधानाविशेषपद्धति तदानीं सञ्चित्रं सर्वानुमततया परिगृहीता नाभवत् ।

सृच्छकटिके ब्राह्मणस्य कायिकदण्डविधानदर्शनादेव केचन प्रबलतत्त्वविद एवमाहुः, यत् सस्त्राङ् अशोक एव प्रथमतः ब्राह्मणस्य कायिकदण्डविधानविधिं प्रवर्त्तयामास, सृच्छकटिकेऽपि यतश्च तथाविधदण्डादेश-प्रचारात् परत एव राजपरिवर्त्तनं समजनि इत्युपवर्णितं, तत् अशोकराज्यध्वमात् अव्यवहितोत्तरमेव ब्राह्मणे राजनि शासितरि मति सृच्छकटिकं नामैतत् प्रकरणं विरचितमिति । अत्रोच्यते,—यद्यपि रूपक-मेतदार्थ्यवशीयभूपतीना शासनसमये प्रणीतमिति प्रतीयते इति सत्यं, तथाऽपि स खलु शासनसमये अशोकराज्यध्वमात् अव्यवहितोत्तर एवेति कथं निरूपितं, तत्त्वस्माकं बुद्धेरविषयीभूतमेव, यत् अशोकराज्यध्वमात् परत भूयः सु वर्षेषु गतेष्वपि ब्राह्मणा राजानं महोपशासु । विरुद्धवादिभिरेवमुच्यते चेत्, यत्, दण्डसाम्यप्रचलनसमकालमेव ब्राह्मणानां ब्राह्मण-शासितानां च तथाविधदण्डविधानजनित विद्वेषभवनं स्वभाव-सिद्धमेवेति, बहुकालात्यये च तथाविधं न हि विद्वेषभाव-क्रमेण क्षामतामेव गच्छतीति, तदपि न, यदि नाम शूद्रकेन तादृशदण्डादेशफलभूतं राष्ट्रविप्लवो जात इत्यदर्शितं, तदा विरुद्धवादिभिरुपन्यस्तं प्रोक्तवचनमपि युक्तियुक्ततया अवश्यमेव अस्माभिरङ्गीक्रियेत, न चात्र शूद्रकेन राष्ट्रविप्लवदण्डाज्ञाप्रचारी वार्षिकारणरूपतया प्रदर्शितो, प्रत्युत प्रोक्तदण्डादेशप्रचारा-एवमप्यत्र राष्ट्रविप्लवस्य बीजोमे विचारामहं प्रोक्तमतं कथं न'दं समालोचनतया नाम्नाभ्य रीचते इति ।

अशोकानन्तर  
प्रणीतमिति  
मतम्, दण्डनम्

सृच्छकटिकात् तात्कालिकसमाजचित्तं सम्पूर्णतया नास्मा-

सृच्छकटिका-

दगमिता

सामाजिकावस्था

भिरधिगम्यते, नापि तत्सम्भवति; कविनिबद्धैः  
कतिपयैस्तदानीन्तनैर्दशाचारैर्व्यवहारैश्च तात्-  
कालिकसमाजस्य आंशिकमेव चित्तं केवल-  
मस्माभिरुपलभ्यते, तेन हि रूपकादस्मादुल्लिख्य कियदेवात्  
प्रदर्श्यते ।

इदंशः कश्चित् समयः आसीत्, यदा तु ब्राह्मणशामित-  
समाजस्य बौद्धेषु विद्वेषबुद्धिरतिमात्रमवर्तत; तस्य च विद्वेष-  
भावस्य प्राबल्यं बौद्धधर्मप्रचारस्य प्रथमदशायामिव सम्भवति ।  
अस्मिन् प्रकरणे एतदेवास्माभिः परिदृश्यते यत्, तदानीं तद्देश-  
वास्तव्यैः निखिललोकैरपि धर्मशास्त्रानुमतमेव विधानं सतत-  
मनुतस्थे, किन्तु बौद्धधर्मपरान् प्रति च तेषां अप्रीतिः कियत्पि  
च न लक्ष्यते, प्रत्युत तेषु समधिकां श्रद्धामेव ते अन्तरा अन्तरा  
दर्शयामासुरित्यपि द्रष्टव्यम् । अपि च तदानीम् आर्य्येषु बौद्धेषु  
च धर्मगतविद्वेषभावः सुदूरमास्ता, परन्तु आर्य्या बौद्धनीतिषु  
विशेषतो गुणगृह्या एव आसन्नित्यपि तत एव प्रतीयते; अत्र च  
रूपके “अपकारिणः उपकारिणं जयेयुः” “उत्तमाधममाधारण-  
जना एव धर्म्मार्जनस्य अधिकारिणः” एवमादयः बौद्धनीतयः  
शूद्रककविना अतिसुष्ठुतया प्रतिपाद्य दर्शिताः । सृच्छकटिक-  
प्रकरणावसाने संवाहकाय सर्व्वविहाराधिपत्यदानदर्शनात्  
बौद्धानाम् अनुष्ठानादिकं तदानीमपि न विलुप्तमिति स्फुटतयैव  
प्रतीयते । यद्येवमुच्यते, यतः सप्तमाहावसानं चारुदत्तमुखात्  
श्रुयते यत्, “कथमभिमुखमनाभ्युदयिकं यमगकदर्शनम् ॥” इति,  
अत एवानुमीयते यत्, आर्य्या, बौद्धधर्मपराणां प्रति समधिक-  
विद्वेषभावमेव हृदये पुपुषुः, तत्र; आर्य्यगाम्भममूर्त्तषु कपाय  
वसनधारिणामपि दर्शनमनाभ्युदयिकमेव, “काषादीगुडतण्डु-

पङ्क्तिविधवाकुञ्जा" इत्यादिदर्शनात्, अत एव अनया चारुदत्तोक्त्या विशेषेण वौडधर्मपराणा प्रति कियत्यपि विद्वेषभावो न व्यज्यते ।

मृच्छकटिकस्य तृतीयाङ्के ददुरकनामकवाद्यभेदकथा उप-  
न्यस्ता . एष हि वाद्यविशेष भगवतः भरतस्य नाट्यशास्त्रस्य  
प्रचारसमये आतोद्यस्य प्रधानाङ्गभूततया परि-  
गणितः आसीत् ; परन्त्वन्यस्मिन् कस्मिन्नपि  
रूपकेऽप्य समुल्लेखादर्शनादनुमीयते यत्, मृच्छकटिकरचना-  
कालप्रचलितोऽसौ वाद्यभेद कालेन पश्चात् विलुप्तोऽभवदिति ।

ददुरक

क्रीतदासत्वप्रथा

मदनिका दास्याद्विमोचयितुं निष्केशार्थसङ्ग्रहीतुं शर्वि-  
लकस्य चारुदत्तभवनाङ्गूषणापहरणदर्शनेन  
क्रीतदासत्वप्रथाऽपि तदानीमासीत् इत्यस्मा-  
भिर्नुमीयते ।

स्वीकृताभिन्ना

प्रथमाङ्के यदा शकार वसन्तसेनाभ्रान्त्या  
रदनिका वलादगृह्णात्, तदा विटमुखात्  
श्रूयते यथा,—

“इयं रङ्गप्रवेशेन कलानाञ्चोपशिक्षया ।

वञ्चनापण्डितत्वेन स्वरनैपुण्यमात्रिता ॥” इति ।

अत्र रङ्गप्रवेशपदोपादानेन तदानीं रमणीजनानामभि-  
नयार्थं नाटिकादिभूमिकास्वीकरणमस्माभिः अवश्यमेवाव-  
गन्तव्यमिति ।

अत्र हि विवाहविधी एतदस्माभिः सूक्ष्ममीच्यते यत्, तदा-

१. १. १. १. १

नोमाधुनिकजनसमाजव्यवस्थितविधानं न  
तथा दृढतमनियमनियन्वितमासीत् . स्वी-  
कृतं दुष्कलादपि एतद्वि मनुवचनं तदा सर्वत्र सर्वत्र परि-  
गृहीतम् न चेदेव तदा नृपतिः स्वयं वसन्तसेनाया वदगच्छ  
प्रयत्नं कृतं हि तदपि नैवादिदेश । मदनिकागर्विलकयोस्तथा-

विधपरिणये सर्वजनानामविरुद्धाचरणं हि प्रागभिहितमेव सतं सर्वथा परिपुष्णाति ।

वसन्तसेनायाः अष्टधाविभक्तहर्म्यवर्णनया च तदानीन्तनानां वेश्याजनानाम् अतितरा समृद्धिरासीदित्यनुमीयते ;

वेश्यानां समृद्धिः  
ससर्गप्रचलनञ्च

अपि च, तदानीं तत्र सुजनतया प्रसिद्धस्य चारुदत्तस्य कुलवधूनिवासे निजान्तःपुरे गणिकया वसन्तसेनया सह निशि शयन

संवेशादिकं वेश्यासहवासस्यातिप्रचलनमेव प्रमाणयति । किमन्यत्, वारस्त्रीभिः सहवासस्तदा अपराधविशिष्टत्वेन न केनापि स्वीकृत एव इत्यपि सूच्यते ।

शूद्रकनरपतेः शासनसमये प्रोक्तासवर्णविवाहगणिकासहवासयोरतिप्रचलनं नूनमेवासीत्, न तु तत्केवलं कवे. स्वकपोलकल्पितम् इत्यशस्यमेव वक्तुं शक्यते । तत्रायमेव हेतुः, — यदि तस्मिन् काले तदप्रचलितं सर्वजनविगर्हितञ्च स्यात्, तदा एतत्, नाट्यरसिकानां सर्वेषामेव सामाजिकानामुद्देजकमेव भवेत् । अपि च कविना शूद्रकेण मृच्छकटिके तादृशानां चित्राणाम् अङ्गनात्, तेषामेव एतत्प्रकरणमूलतया निर्धारणाच्च तात्कालिकजनसमूहानां तत् सर्वमनुमतमेवासीदिति प्रतीयते ।

अत्र वेश्याभवनचित्रमपि कविना यथायथमङ्कयित्वा प्रदर्शितम् । जारजनानाम् अकर्मण्यताकथा, तथा उभयतो वहिभ्रत-

वेश्याभवनचित्रम्

त्वोक्तिश्च तेषां स्वमुखेनैव प्रख्यापिता । वेश्याजनाश्रये भद्रवशायाणां व्यवहारस्यापि नाश्वकारिणं विद्रूपकमुखेनैव विवर्णितः । यथा पुनरिदानीं गणिकाऽऽलये गणिकामातुराधिपत्यं व्यवहारश्च परिलक्ष्यते, तदानीं समपि तथैव आसीत् । यथा च पुरुषविगमे अनुरक्तहृदयतया

विषयप्रस्थिताभ्यः तनयाभ्यः मातृभिः सर्व्वजने समानानुराग-  
प्रदर्शनादिरूपः समीचीनोपदेशः प्रदीयते तदानीमपि तथैव  
तन्मातृभिरकारि । वाररसण्यः अपि देवतानामर्चनासु स्तव-  
पाठादिक्रियासु च तदानीमनुरागपरा एवासन्निति च द्विती-  
याङ्गस्य प्रथमांशे चेटीवाक्यादस्माभिरनुमीयते ।

वर्त्तमाने हि पशुमासानि सलिलैरप्रक्षालितान्येव पाकाय  
व्यवहरन्ति, तदानीन्तु तानि प्रक्षाल्यैव पेषुरिति, तथा तात्का-  
लिकसुरापायिनोऽपि इदानीन्तना इव सुरा  
तात्कालिकाचार घनीभूततुषारमिश्रणेन अतिशीतला विधा-  
यैव अपिवन् इति च नियमो रूपकादस्मादवगम्यते । एतत्प्रक-  
रणे पुनरस्माभिरेतदपि वीक्ष्यते यत्, तदा वारस्त्रिय. उपानद्रूढ-  
पादा एव गतागतमकुञ्चन्, प्रावारकादिषु सुगन्धिकुसुमानि  
विन्यस्य तानतितरा सुगन्धानकार्पुष्व इति । एवविधानाञ्च  
क्षुद्रतराणामन्येषां व्यवहाराणामुल्लेखः मृच्छकटिकप्रकरणे  
अवेक्षणीय इति ।

वस्तुतस्तु प्रकरणेऽस्मिन् 'तत्तत्कालिका' व्यवहारा, नीतयश्च  
एवं हि अङ्गापिता, तथा नगरपालाना नागरिकाणाञ्च जीव-  
नस्य समाजस्य च ईदृक् मनोहर चित्रचित्रित,  
मृच्छकटिक  
नाम समाजस्य  
च एतत् विषयः यत् अन्यस्मिन् कस्मिन्नपि रूपके न तथा,  
इत्यभिधान न कियदत्युक्तिदोषदुष्ट भवति ।  
अपि च वयमेवमनुमिनुम यत्, ईदृश  
रूपकम् एतस्मात् अन्यत् द्वितीय नास्ति इति । प्रकरण-  
निर्देश रूपकविषयक व्यापारमन्तरेणापि सामाजिकाचार  
नातिप्रसृतौना प्रदर्शनेन समधिकमेव गौरव भजत इति  
रक्षोभावेनाव्ययम् ।

साम्प्रतं ग्रन्थस्यास्य नामान्वयतया वक्तव्यमस्माकं परि-



समाप्तिमागतम् । समनन्तरञ्च नायकादेः प्रत्येक चरित्रं  
विशिष्य वयमालोचयितुमग्रेसरामः ।

### चारुदत्तः ।

चारुदत्तः खलु तरुणः पण्यजीवितया श्रेष्ठिपदलाञ्छितः

चारुदत्तस्य  
दारिद्र्यम्

आढ्यचरः कश्चित् द्विजः सम्प्रति निशेषो-  
पक्षीणविभवः । भूतपूर्वधनिकस्य तस्य देव-  
वशात् समापतितं तदेवाभिनवं दारिद्र्य-

सतीवारुन्तुडमभवत् । अमत्यपि पर्याप्तवित्ते तस्य मनसि  
धननिमित्तः न हि कियानपि निर्व्वेदः समुद्रितः, तत्त्वमौ  
स्वयमेवाभाषत ; यथा,—

“सत्यं न मे विभवनाशकृताऽस्ति चिन्ता

भाग्यक्रमेण हि धनानि भवन्ति यान्ति ।

एतत्तु मा दहति नष्टधनाश्रयस्य

यत् सौहृदादपि जनाः शिथिलीभवन्ति ॥” इति ।

निर्द्धनाना हि गृहानतिथयो विमुञ्चन्ति, सुहृदोऽपि मौहादे-  
शिथिलतामापद्यन्ते, बुद्धिरपि प्रतिदिवसमेव क्षीणता-  
मधिगच्छति च, ततश्च ते निस्तेजस्काः सन्तो नियतमेव परै-  
परिभूयन्ते, तदर्थमेव चारुदत्तः अत्यर्थं मन्तव्यं निर्व्विण्ण-  
बभूव । निर्द्धनत्वं हि भोगविलासादीनामन्तरायभृतमित्या-  
कल्य्यामौ कदाऽपि न विपादः प्राकाशयत्, वित्तादृते बहव-  
हितैषणाः न हि सफलतामायान्ति, सर्पादि समुदीयमानाश्च  
ता स्वचेतस्येव विलीयन्ते, तेनैवामौ धनस्य कामुक-  
तत एव विभवक्षयादुपनतः दारिद्र्यं तन्निगरामदिश्यत,  
किन्त्वमौ दारिद्र्यसमुद्राभ्यन्तरनिमग्नोऽपि स्यात्पुनरिवाचलः,

प्रशान्तपयोधिरिवानाविल, कूट इवाटलश्चातिष्ठत्; कदाऽपि सर्वजनादर्शभूतचरित्रः महामहिमशाली चासौ तेन नितरा निदग्धोभूयापि स्वाभाविकमर्हीयस्वात् स्वकर्तव्यपरायणता-  
पथाच्च स्वकीयं सुधाऽवदातं चारित्र्यं द्विषा हासैः अतिमिती-  
कुर्वन् नाश्वाशीत् । विदूषक. सत्यमेवोवाच,—“पण्डितजण-  
मकमिटविहवस्य सुरजणपीढसेसस्स पडिवच्चन्दस्स विअ  
परिक्खओ वि दे अहिअदर रमणीओ ।”

दारिद्र्यमुपलकठोरनिष्प्रेषणेनापि तस्य देवतासु अकृत्रिमा  
भक्तिः सुचिरमक्षुणा एवासीत्, एतादृशि दुर्वहे दारिद्रे  
निपतितस्याप्यस्य मुखात् देवताना दैवस्य च  
विगर्हणा कदाप्यस्माभिरन हि अश्नावि ।  
निरन्तरं देवाभ्यर्चनानिरतममुमवलोक्य तद्व-  
यस्य सैत्रेयः यदा प्रथमाङ्गे एवमभाषत,—“जदो एव्व पूइ-  
ज्जन्ता वि देवदा ण ते पमीदन्ति, ता को गुणो देवेसुं अच्चि-  
देसुं ?” इति, तदा प्रत्युवाच चारुदत्तः,—“वयस्य, मामैवम् ।  
गृहस्यस्य नित्योऽय विधिः,—

तदीया भक्ति  
धम्मनिष्ठा च

तपसा मनसा वाग्भि पूजिता वलिकर्मभि ।

तुपन्ति शमिना नित्य देवता कि विचारितै ॥” इति ।

गृहिणा हि देवताऽर्चन नित्यमेवानुष्ठेय कर्म, तदकरणे च  
प्रत्यवायवाहुल्यदर्शनात् तैः पूजनमनुष्ठीयते, न तु वित्तप्राप्ति-  
पत्याशया इत्यवजानन् चारुदत्तोऽपि किञ्चित् फलमकामय-  
मान अगृध्रैव सर्वास्ववस्यासु निरन्तरं देवानपूपुजत्, यच्चासौ  
धर्म्यमिति विवेद. गृहस्थानामवश्यपालनीयत्वेन विहित  
यज्ञाज्ञासीत्. शतानामपि विपदासन्तरा निपत्य तत् कदा-  
चिदपि नाम्नी विसम्भार. परस्पर विवदमानाना भृत्यमामनु-  
गामनाना ये च विधिनिषेधा वैधेषु कर्मसु धर्म्येषु च दृश्यन्ते,

स तु तेषां सदसतोः मिहान्तपक्षे कथञ्चित् विचारचिकीर्षुरपि नैवाभवत् ।

आसीदमुष्यैव गुणगणैः समलङ्घ्यता उज्जयिनी नाम नगरी,  
तद्वि विटाच्चानुश्रूयते यथा,—असौ चारुदत्त एव,—“दीनाना  
चारुदत्तोवा  
गुणावली कल्पवृक्षः स्वगुणफलनतः सज्जनाना कुटुम्बो  
 आदर्शः शिञ्जिताना सुचरितनिकप शील-  
 विलासमुद्रः । सत्कर्त्ता नावमन्ता पुरुषगुण  
 निविर्दक्षिणोदारसत्त्वो ह्येकः श्लाघ्यः स जीवत्यधिकगुणतया  
 चोच्छसन्तीव चान्ये ॥” इति ।

वात्स्यायनः स्वरचितकामसूत्रस्य साधारणाधिकरणे चतु-  
 र्याध्याये षष्ठसूत्रेणैवमुवाच यथा,—“वर्षेप्रमृष्टनेपथ्याना दुर्दि-  
चारुदत्तस्य  
नागराचार नाभिसारिकाणा स्वयमेव पुनर्मण्डन, मित्र  
 जनेन वा परिचरणम्” इति । दृश्यते चैतत्  
 पञ्चमाङ्के, चारुदत्तोक्तौ यथा—“तद्वयस्य । क्लिन्ने  
 वामसी वसन्तसेनाया, अन्ये प्रधानवामसी समुपनीयेताम्”  
 इति, एतस्मात् तथा षष्ठाङ्कोपवर्णितात् वसन्तसेनाया चारु-  
 दत्तादेशेन पुष्पकरण्डकजीर्णोद्यानगमनस्योदयागादितोऽपि  
 अस्माभिः चारुदत्तस्य नागरवृत्ते परिचयः प्राप्यते एवेति ।

तथाऽप्यासीत् चारुदत्तः सयर्तान्द्रय एव । तथा हि,—यदा  
चारुदत्तस्य सयस प्रथमाङ्के प्रच्छन्नीभूय एकान्तस्थिताया  
 वसन्तसेनाया उपरि असौ रदनिकाभ्रान्या  
 स्वप्रावारकं निचिक्षेप, पथाच्च यदा अज्ञामीत् नैषा रदनिकेति,  
 तदा त्वमौ राजर्षि दुष्मन्तः इव मानुशयमुवाच,—‘न युक्तं पर  
 कलत्रदर्शम्” इति ।

राक्षिण्यादिगुणविभूषितस्य चारुदत्तस्य मन्त्रं हृदयमार्मा-  
 दतीव कोमल भावप्रगुणञ्च, अन्तराऽन्तरा एतस्य ईदृक् बाह्य

चारुदत्तस्य भावः  
प्रवणत्वं दौर्बल्यञ्च

परिलक्ष्यते यत्, एतदनैसर्गिकमेवेति प्रति-  
भाति । तथा हि,—तृतीयाङ्के यदा न्यासी-  
कृतमलङ्करणजातमपहृतमभूदित्यभौ नाजा-  
नात्, तदा सन्धिदर्शनस्यानन्तरं, चौरः “सन्धिच्छेदनखिन्न एव  
सुचिर पश्चान्निराशो गतः” इत्यं विचिन्त्य नितरा दुःखित एवा-  
भूत् । अथ यदा अलङ्करणानि चौरिणापहृतानि इति विवेद,  
तदा मैत्रेयमुवाच,—“वयस्य । दिष्ट्या ते प्रियं निवेदयामि ।  
विदूषकः,—किं ण अब्हिदम् ? चारुदत्तः,—हृतम् । विदू-  
षकः,—तथापि किं पिश्रमः ? चारुदत्तः,—यदसौ कृतार्थो गतः”  
इति । तस्कर चोरयितुमागतः किमप्यप्राप्य खिन्नेन मनसा  
स्वगृह प्रतिनिवृत्त इति विभाव्य यस्य चेतः निरन्तरं व्यथते,  
पुनश्च कृतायः स गत इति विदन्नेव यस्य मानसं हृष्यति, तस्य  
हृदयं कियत् कोमल भावमेदुरञ्च, तदुपवर्णनेन बोधनं सर्व-  
जनाशक्यमेव । अपहृतधनानि वसन्तसेनया न्यासीकृतानि  
इति तु तदाऽसौ विस्मयः । चौरस्तु यत् “मार्थवाहसुतस्य  
गृहं प्रविश्य न किञ्चित्सया समासादितम्” एवं न कथयि-  
ष्यति, इत्यमेव विचिन्त्यन्नसौ नितरा प्रीतिमलभत । ततश्च  
विदूषकोऽब्रवीत्—‘णामो क्व सो’ इत्येवाकर्णयन्नसौ सर्व-  
मुदन्तजातमपदि ससृज्य मुग्धः ।

यस्य २३ ३०  
२५ ०५ ०१ ५

तथाविधं तदोयं वैलक्षण्यं विलोक्य यदा मैत्रेयः  
उवाच—“अहं क्व अबलविस्मयम्—केन  
दिशतः, केन गच्छिदम्, को वा सक्रियति” ।

इति । तदाकथं चारुदत्तः समर्थः प्रत्युवाच—

“मैत्रेयस्यैव यस्यासि पुनर्न्यासप्रतिक्रियाम् ।

एतत्तु नाभयस्यासौ चारित्र्यभङ्गकारणम् ।” इति ।

चारुदत्तस्य वदन्त्या सत्यपराधतायाः शोचितायाश्च एव-

सुदाहरणं न हि भवत्यत्र विरलम् ; प्रलोभनशतमपि दूरतः  
अपचाय स केवल सत्यमेव सिध्ये ।

न्यासीकृतानामलङ्करणानां विनिमयेनासौ वसन्तसेनायै  
यत्ततोऽपि बहुमूल्या रत्नावलीमददात्, तत्तु स्वल्पमूल्यानाम्

चारुदत्तस्य हृदय  
तदीयमौदाय्यञ्च

अपहृतानामलङ्करणानां न भवति खलु

मूल्यभूतं, परन्तु वसन्तसेनया येन पुनः

विश्वासेन स्वकीयमलङ्करणं तस्य समीपे

न्यासीकृतं, तं सुदृढ विश्वासमेवासौ अलङ्करणसमूहादपि बहु  
मूल्यममन्यत, ततश्च चारुदत्तेनाभिहितम्,—

“यं समालम्ब्य विश्वासं न्यासीऽस्मासु तथा कृतं ।

तस्यैतन्महतो मूल्यं प्रत्ययस्यैव दीयते ॥” इति ।

वसन्तसेनया “पुरुसेसु णासा णिक्खिबिअन्ति, ण उण  
गेहेसु” इत्यभिधाय, तस्मिन् अतिभूमिद्वयेन येन विश्वासेन  
भूषणन्यासो विहितः, तुल्यतया समीकरणे, स च महानमूल्यो  
विश्वासी बहुमूल्याया अपि रत्नमालाया गरीयानेव भवति ।

एकतो दारिद्र्यस्य अरुन्तुदं निष्पेपणम्, अपरतश्च हत-

देवस्य परिहासप्रायं तथाविधं विलसितम्,  
तेन च,—

“कं श्रद्धास्यति भृतार्थं सर्वो मां तुलयिष्यति ।

शङ्कनीया हि लोकेऽस्मिन्निष्पृतापा दारिद्र्यता ॥”

इत्येवमुक्तश्लोकसूचितं चिन्तनं तदा तस्य मनसि मत्ततः  
मसुदियाय ; न्यासीकृतेषु बहुमूल्येष्वलङ्कारेषु चौरैरपहृतैश्चपि  
नासौ क्लिष्टतामयामीत्, किन्तु एतेन स्वस्यावदातं चरित्रं यद्  
पितं भविष्यति, सैव भावना निरन्तरमेव चारुदत्तमविश्यत् ।  
तस्यैतदेवामीत् मनःमन्तर्पणं यत्, मस्यदि विपदि च निरमत्र  
चरी अपांशुलानां धुरि कीर्तनीया पत्नी धृता, सुखदुःखयोग्नु

कूलमकपटञ्च मित्रं मैत्रेय. तस्यामाते इति ; तयोश्च नियतं  
तत्पार्श्वद्वयमलङ्घ्य तिष्ठतोरानुकूल्येन कदाचिदसौ सत्यपथात्  
नैव शम्भश्यत् ।

चारुदत्तस्तु कस्यामवस्थाया वसन्तसेनाया नितरा सञ्जात-

हार्दः अभवत्. तत्तु कविरस्मान् नादर्शयत् ,  
चारुदत्तस्य प्रेम

प्रथमाऽङ्के यदा विदूषक पुनरेवमभाषत,  
“एसा हि वसन्तसेणा” इति. तदा चारुदत्तमुखादेवमस्माभिः  
श्रूयते.—“द्वय वसन्तसेना.—

यया मे जनित काम क्षौणे विभवविस्तरे ।

क्रोधं कुपुरुषस्त्वेव स्वगात्रेष्वेव सीदति ॥” इति ।

वसन्तसेना तदनुरागिणीति पूर्वं नामौ विवेद ; तदानीं  
विदूषकमुखादेव प्रथममाकर्णयामास,—“एसा वसन्तसेणा  
कामदेवाश्रदणुज्जाणादो पहुटि भवन्तमणुरन्ता” इति , किन्तु  
न खलु वसन्तसेनाया अनुरागस्य निदर्शनं किमपि चारुदत्त.  
तदाऽपि प्रापत्, केवल विपदमापद्येव वसन्तसेना तटीय  
वामभवनमग्निश्रियदित्येव अजानात् । तेन हि अस्या अनु-  
रागस्य विरागस्य वा कोऽपि प्रसङ्गः काऽपि चिन्ता वा न तस्य  
मनसि पदमादध । अपि च परिहासरसिकस्य विदूषकस्य  
तयाविधभाषणस्याविश्वसनीयत्वेन तस्यापि तावति वचनमम-  
प्यवान् आस्था स्थापयितुमसौ कियदपि नाशक्तात् ।

पहमाङ्के वसन्तसेनासकाशात् प्रत्यावृत्त्य यदा मैत्रेय  
एवाच, —“एह वदह्मणो भविअ दाणि भवन्ता नीसेण पडिअ

विरुडेसि, गिवन्ताअदु अण्णा इमादो बहुपह-  
वाअदो गणियाअनगादो”—तदा तच्छ्रुत्वा  
चारुदत्तः प्रत्यबोचत् “ अदस्ययेवाम्नि

वसन्तसेनाया  
८७ २५२

निवारित । सत्यं दानं पुरुषस्य चला स्वभावा

खन्नास्ततो हृदयमेव पुनर्विशन्ति ॥ अपि च वयस्य ।—यस्या-  
 र्थास्तस्य मा कान्ता धनहार्यो ह्यसौ जनः । ( स्वगतम् ) न,  
 गुणहार्यो ह्यसौ जनः । ( प्रकाशम् ) वयमर्थं परित्यक्ता ननु  
 त्यक्तैव सा मया ॥” इत्यादि । एतेन स्फुटमेवैतत् प्रतीयते यत्,  
 अद्यप्यसौ चारुदत्त स्वयमेव वाचा प्रकाशयति, वसन्तसेना  
 धनहार्यं प्रण्यभूतमेव शरीरं वहति, दारिद्र्योऽहम् अभिलाष-  
 भाविण्यैव तां लब्धुं कथं शक्नुयामित्, तथापि न खलु चारुदत्त,  
 वसन्तसेनाया गुणहार्यत्वात्, तस्या प्राप्त्याशामेकपटे एव  
 त्यक्तुं शशाकः । विदूषकोक्तिम्, “एसा वसन्तसेना कामदेवाश्र-  
 दगुज्जाणादो पहाद भवन्तमणुरत्ता” इत्येतद्वचनजातं, तथा  
 वसन्तसेनाया च समीरित स्वास्मिन् अद्वाऽतिशयसूचकं “पुरुषसु  
 णासा णिक्खिदिअन्ति, ण उण गेहेसु” इत्येतत् । इत्येव वचन-  
 मसौ कथमपि विस्मर्तुं नाशक्नोच्च । स च एकशो मनस्येवम-  
 चिन्तयत् यत्,—दारिद्र्योऽहमिति तु सर्वजनानां विदितम्  
 एव, पुनश्च वसन्तसेना मम गुणानुगागिणीति तस्या समक्षमेव  
 विदूषक आचचक्षे, तत् किं वसन्तसेना मत्स्यमेव हानविभवे  
 मयि प्रेमपरवशा ? इति । अनन्तरमेव चेतसि पुनरिवमाक-  
 लयत् यत्, एतावन्तं हि कालं नासादितं किमपि तस्य निद-  
 र्शनं, तत् न मयि सा अनुरक्ता ? इति । इत्य सा तस्मिन्ननुरक्ता  
 नानुरक्ता वा, इत्येतयोरेकतरं निर्णेतुं नैव शशाकः ।

तदानीन्तुं वसन्तसेना तत्प्रेमपरतन्त्रा न वेति मन्दं  
 दोलाया चारुदत्तस्य चित्तं दोदुल्यमानमभवत्, स खलु किञ्चन  
 कातरतामापन्न इति तु विदूषकस्य “जधा एमो उद पकिअ  
 दोह णिमसदि, तधा तक्केमि, मए त्रिणिवाग्गिअन्तम अवि  
 अदर वड्डिदा से उक्खण्ठा” एतेन वचसा स्फुटतरं प्रतीयते ।  
 चारुदत्तस्य तादृश भावविपर्ययमवलाक्य भावति तदीयम्

त्कण्ठामपनेतुं सैवेयस्तसमापत,—“भाण्ड अ ताए—‘भणोहि’  
चारुदत्त—अज्ज पटोसे मए एत्थ आअन्तब्ब’ त्ति,” अपि च  
समनन्तरमेव “ता तक्केमि, रअणावलीए अपरितुष्टा अबरं  
मग्गिदु आअमिस्सदि त्ति” एतावदभिधाय तं सावहितं  
विधातुमपि प्रयत्नमकार्षीत् । चारुदत्तस्तु ता वाच सम्यक्तया  
अपरिवुध्यैव सपरिहासमाख्यत्,—“परितुष्टा यास्यति” इति ;  
परन्तु सोत्कण्ठचित्तवृत्तिरेवामौ वसन्तसेनासमागमनस्य  
कारणं किं भवेदिति चिन्तयितुमारभे,—तथा हि हृता-  
लङ्कारादपि अधिकमूल्या रत्नमाला तद्विनिमयेन तस्यै प्रदत्ता,  
तेन च न पुनरर्थनिमित्तं तदागमनं सम्भाव्यते इति ; ततश्च  
मत्त्वमेव किमु एषा आगमिष्यति न वेति विभाव्य किमपि  
निर्धारयितुममौ नाशकत् । तदा त्वतिबहुलमौढास्यञ्च तस्य  
चिन्ताकुलितचेतः सविशेषमाशिक्षेष्ट ।

विदूषकस्तु यदा पारावतकुलमाहन्तुमुद्यतः, तदा कविः

वसन्तसेनापरिहातुं  
चारुदत्तस्य  
सनीभाव

जुद्धचूर्णकमिति न अत्यल्पेन वचसा चारु-  
दत्तस्य हृदयगतं सर्वमेव भावतदानीन्तनीं  
निखिलामवस्थाञ्च अतिनिपुणतया विशदी-  
कृत्य आचक्षते । तद्वि एतत् यथा—“वयस्य । उपविग,  
किमनेन, तिष्ठतु दयितामहितस्तपस्वी पारावतः” इति, एतस्य  
पर्यालोचनेन “गाहन्ता महिषा निपानमलिलम्” इत्यादिः  
शाकुन्तलीय श्लोकः अस्माकं स्मृतिपथमारोहति ।

अथ वसन्तसेनाया वरिहिरिमुपागताया सैवेय चारुदत्त-

१४ १२०  
० १२०५

माह “एसा वसन्तसेणा आअदा” इति ।  
तदानीमपि चारुदत्त तत्कथा सम्यगश्रुत्वा  
कुशीलवनामानं चेटमपृच्छत् “कथय मत्त्व  
आहा वसन्तसेना” इति चारुदत्तस्तु तदा सैवेयस्य परि-



‘हामभाषितमेतत् किमु इति व्यचिन्तयत् ; तस्याभीप्सित वस्तु  
एतावता स्वल्पेनैव कालेन सन्निवृत्तमभूदिति विश्वसितुं तदीय  
मनः सभयमवतस्थे, यदि हि अतिहर्षात् परं पुनः विषादः  
पदं निदधाति इति । वसन्तसेना तद्व्यग्नमागमिष्यति नवेति च  
संशयस्तस्य एतावन्तं कालं क्षपयामास, अधुना तु, अप्रार्थि-  
तोपनतत्वात् सा सत्यमेव तस्मिन्ननुरागिणी इति तु प्रत्ययः  
तस्य मनः कियदेव स्थिरीचकारिति ।

विदूषकश्च पुनरपि तं सार्वाहितं कर्तुंमन्नवीत्, “अप्यमुक्ता  
रअणाबला, बहुमुक्तं सुवर्णभण्डं अस्ति न परितुष्टा, अवरं ममिदं  
आअदा” इति । एतदाकर्ण्य प्रकाश्य किमपि नासौ वभाषे,  
कवल स्वगतमुवाच “परितुष्टा यास्यति” इति, तदानीमसौ  
वसन्तसेनायाः स्वभवेनागमनकारणं मस्पृणतया निरर्णयोत्,  
तत्तु जनान्तराविदितमिति केवलं तस्यैव हृदयदरीशयमासीत्,  
तेनासौ “परितुष्टा यास्यति” इति वचः सप्रकाशं नाभ्यधात् ।  
“परितुष्टा यास्यति” इत्यस्य स्वगतोक्तेः प्रकाशोक्तेश्च तात्पर्यं  
प्रकाश्यभाषणादपि सद्ब्रह्मैकानुमानगम्यं सदातुष्टुतया  
स्फुटिष्यति ।

यश्च चारुदत्तस्य मनसि वसन्तसेनाऽनुरागविषये कियानपि  
संशयः पूर्व्वमतिष्ठत्, वसन्तसेनया प्राविश्यैव कर्तनं कुसुम-  
प्रहारिणं तस्य अणुमात्रमपि तदा नासीत् ; सर्व्वथा निव्विध-  
मपश्ये च तत्तत्संशये, चारुदत्त आदौ सम्भाषमाण एव  
वसन्तसेनाम् “अयि प्रिये” इत्युक्त्वा अभिनन्दितवान्, मम  
नन्तरञ्च निखिलमेव हृतालद्वारहृत्तजार्तं प्रकाशतामुपागमनं,  
सर्व्वन्तु तदा समिलनानन्दप्रवाहनिमग्नं सदैव पृणतया मधु  
रायमाणमभवत् ।

पञ्चमाद्वावसाने च—“एतं पिष्टतमालवणं कनिभैरालिप्त-

सम्भोधरैः संसक्तेरुपवीजितं सुरभिभिः शीतैः प्रदोषानिलैः ।

चारुदत्तस्य  
वैदग्ध्यम्

एषाम्भोदसमागमप्रणयिनी स्वच्छन्दमभ्या-  
गता रक्ता कान्तमिवास्वर प्रियतमा विद्युत्  
समालिङ्गति ॥” इत्यमुष्मिन् स्नाके अस्माभि-

रवमवलोक्यते यत्, वसन्तसेनायाः हावभावादिक सर्वैदग्ध्य  
विद्यति समारोपयता नायकेन स्वीयः मनोभावः रत्यनुकूला-  
भिनिवेशश्च सुव्यक्तः कृत इति ।

अशेषमद्गुणविभूषितस्य सुचरितचरितानामग्रेसरस्य चारु-  
दत्तस्य गणिकाया वसन्तसेनाया कथमनुरक्तिर्जाता एवविधः

गणिकायामपि  
वसन्तसेनाया  
तदनुरागस्तु

प्रश्न स्वतएव प्रेक्षावता मनसि उदेतु शक्नु-  
यात् : तत्रप्रश्नस्य च सिद्धान्तानुसरणे स्वीकर-  
णीयप्रयत्नस्य पुरत एव चारुदत्तस्य चरित्रे  
किञ्चित् दौर्बल्य लक्षितव्यम् । चारुदत्त-

हृदयस्य तु अनैसर्गिक कामलत्वमस्माभि प्रागेव विवृताकृत,  
तडि चारुदत्तस्यातिशयभावप्रवणत्वमेव यत्, तदायचरित्रगतं  
प्रधान दौर्बल्यमुच्यते । न चेदिदमस्यास्यत् तर्हि यैश्च सद्गुण-  
राशिभिरामोदमौ विभूषितः तैश्च नूनं देवतैवायमभविष्यत् ।  
मनुजा हि गुणदोषाणा समिश्रणभूमिरिति, तेन मनुजे तास्मान्  
कियन्तो दापा गुणाश्च नियतमासते, एतद्विमृश्य कविर्वापि  
नस्माले चारुदत्तचरित्रे तादृशमातिमात्र दौर्बल्यमवताये यथा-  
यथमस्मान् प्रादशयत् ।

चारुदत्तस्तु, येन भावस्त्रिगुणेन हृदयेन चोरयितुमागतोऽपि  
तत्स्वरो रित्तस्त एव स्वभवनात् प्रास्यत इति मस्मृत्य माति-  
प्रसन्नत्वान्न, येन भावमन्दुरेण विह्वलेन मानसेन कठारदारिद्र्य-  
पक्षिण्णोऽपि स्वस्मिन् वसन्तसेनाया, प्रगाढविश्मानध्यापा-  
रहः प्रकृतं नाशङ्कान् तथाविधभावाद्भुतेनान्तःकरणेनासौ

वसन्तसेनया स्वयमुपन्यस्तं प्रेमापि प्रत्याख्यातुं न समर्थयत ।  
न चेदेव, तर्हि अन्यत्र परिलक्षितया तया तया तच्चरितगत-  
दृढतया वसन्तसेनाऽनुरागमनायासेनासौ सपदि प्रत्याख्यातुं  
शक्नुयादिति मन्यामहे ।

अपि च स चारुदत्त तदानीं एतदजानात् यत् वसन्त-  
सेना नूनं तं दरिद्रं विदित्वाऽपि, तस्मिन् अनुरागिणीं सहृदया,  
या खलु गणिकागणललामभृता देश्याजनसुलभ, धनलोभमप-  
चाय राजश्यालकसंस्थानकस्य प्रलम्भनशतानि समुत्पीडनानि  
च समुपेक्ष्य प्रणय प्रार्थयितुं तमेव स्वयमुपागतवती, सा खलु  
सत्यपि वारविलासिनौ स्वार्थत्यागेन समुन्नतस्वभावा मतामाद-  
रणीया च, एवविधाया अप्रार्थितोपनताया अवलाया प्रणय  
प्रत्याख्यानमन्याय्यमेवेति तं तदानीमवाधि । अपि च, वसन्त-  
सेनायामनुरक्तिः दीपास्यदमिति भावना तदीयहृदये कदा  
चिदपि नोदियाय । एकदा तु मेतरेण वसन्तर्मना व्यापारात्  
मनः प्रत्यावर्त्तयितुं समनुरुद्धचारुदत्त इति मत्स्य, किन्तु तदानीं  
तस्या वलवदामक्तं स्वकीयं चित्तं ततो निवर्त्तयितुं सर्वथा  
अशक्त एवामौ आसीत् । दृश्यते च केवलं धर्माधिकरणे प्राङ्-  
विशकममत्र वसन्तसेनाऽनुक्तिमेव प्रकाश्य ममारयितुमर्मा  
एकदा लज्जितः एवमभाषत “दीवनमत्रापराध्यति न चारि-  
त्रम्” इति ।

तस्य च परिणोताया स्वकीयाया पत्न्या धृताया भर्तृमम-

चित्तव्यवहारस्याभावः कुत्रापि न परिलक्ष्यते,

प्रत्युत अस्य धर्मपत्नीममुचितमत्कारं प्रणयि  
जनांचितं सङ्गावश्यं सर्व्ववानुगवेनालोकात् ।

समसाङ्गे च दृश्यते, दत्तं चारुदत्तं, विपदा

भूतानि समापनितुं शक्नुयुरिति ज्ञात्वाऽपि, प्रणयार्थिनसादृश

चारुदत्तस्य धृता  
प्रातः सङ्गवहार  
शरणागतवात्सल्यं च

सरञ्जीत्, तत्तु शरण्यस्य तस्य शरणागतवत्सलताया प्रकृष्ट-  
तममेक निदर्शनम् ।

वसन्तसेना पुष्पकरण्डकजीर्णोद्यानमेतावता कालेनापि

वसन्तसेनायै तस्य  
उत्कण्ठा

अनागतामवलोक्य यदाऽसौ शून्येन मनसा  
मैत्रेयेण साकं तत्स्थानात् प्रचलितुमारम्भे,  
अस्मिन् समये तस्य वामाक्षिस्सन्दनात्

न एवमाचचक्षे,—

“अपश्यतोऽद्य ता कान्ता वाम स्फुरति लोचनम् ।

अकारणपरितस्त हृदयं व्यथते मम ॥”

एवमभिदधतोऽपि प्रत्युत तस्य हृदय न पुनः कारण-  
मन्तरणैव परितस्तम् . यद्यप्यसौ तदानीं वसन्तसेनागतं  
किमप्यत्याहित श्रोत्रेण नाश्रीषोत्, चक्षुषा वा नाद्राक्षीत्,  
तथाऽपि त तदीयमानसमेव वसन्तसेना कामपि विषमा विपद  
प्रापदिति समावेदयत् ।

नवमाङ्गे दशमाङ्गे च तस्य करुणरसव्यञ्जिका उक्तिजातयो  
विशेषतो मर्मस्पर्श अतीव स्वाभाविकतया सुमधुराश्च जाता ।

तस्य सौश्लेष्यस्य  
आमोहात् तस्य च  
शान्ति शब्दा

अकारणमरणमस्मावनयाऽपि नामौ विह्वल .  
अथवाऽपवादोऽन केवल तदीये विमले कुले  
कलङ्को जात, तत्प्रयोजकश्च दुर्देव राष्ट्रिय-  
शठ एषा च भावना सततमुदिता तदीय-  
सनागस मानस नियतमाकुलीचकार । तन्मुखादेवमस्माभि-  
रपश्यते च यथा —

तदीयल्लेशकारणमपरमेकं यथा,—

“प्राप्यैतद्वासनमहार्णवप्रपातं

न त्रासो न च मनसोऽस्ति मे विषादः ।

एको मा दहति जनापवादवह्निः

वक्तव्य यदिह मया हता प्रियेति” ॥

दशमाङ्गे एकस्मिन् स्थले दृश्यते यदतिदानशीलो हि दारिद्र्यः प्रयत्नगतेनापि यदेव दातुं समर्थो भवेत्, तस्मादपि

पुत्राय

यज्ञसूत्रदानम्

दानात् चारुदत्तस्य दानमतीव गरीयः मही-

यश्च, समुन्नतप्रदेशमधिरूढश्च अभवत्, तथा

हि,—चारुदत्तं द्रष्टुमुपागते च रोहमेने म

स्वपुत्रं किं नाम वस्तु अन्तिममुपायनभूतं दत्त्वा आशिषा सम्य-

र्द्धयिष्यतीति निरन्तरमचिन्तयत् ; सपदि तस्य मनसि उदिषाय

“आम्, इदं तावदास्ति, मम च,—

अमौक्तिकमसौवर्णं ब्राह्मणानां विभूषणम् ।

देवतानां पितॄणाञ्च भागो येन प्रदायते ॥” इति ।

असौ पुनरेवमुक्त्वा स्वदेहात् यज्ञसूत्रमुन्माद्य रोहमेनाय तप्रायच्छत् । नैतद्वि चञ्चल वित्तं, यद्वि भाग्यक्रमेण भवति

याति च ; चारुदत्तस्तु अद्य स्वस्य सर्वस्वभूतं यज्ञसूत्रं स्वपुत्राय

रोहमेनाय प्राददात् । दानमेतदतीव प्रशम्यतरमतीव करुण

रसव्यञ्जकमिति मन्यामहे ।

दारिद्र्यनिपोडितस्य, दुर्हत्तशकारेण हथाऽभियुक्तस्य, हन्तुं वध्यस्थानं नातस्य च चारुदत्तस्य सर्वापि क्षया अयमेवानेप-

चारुदत्तस्य

श्रमावपि क्षमा

विषयः यत्, “शरणेन विपाक्तेन दृष्टिर्तेनाऽपि

दृष्टितः” इत्युक्तप्रकारभृतस्तदानीं ज्ञान

इति । क्रमेण च तदानीपर्वोक्तं दुरमप्रसूतं,

दुर्हत्तशकारस्य कूटजालानि च क्षिन्नानि, शठः गादियन्तु तदा

वन्द्यभूत एव आसीत् । ब्राह्मणस्य चिरमेव क्षमाप्रधानतया  
अपकारिणोऽपि शकारस्य उपकारेण जयविधानमेवासी स्लाघ्य-  
तमममन्यत, तेनासी शकारे अलौकिकी क्षमा प्रदर्श्य स्वकीयं  
यदतिमहत्त्वं प्रख्यापयामास, तस्य तु निदर्शनं भुवनेऽस्मिन्नति-  
विरलमेवास्ति ।

अपस्तुते च चारुदत्तस्य दुर्द्वे, परावृत्ते च तदीयभाग्यचक्रे,  
धृता वसन्तसेनाच्च पुनरसौ प्राप । अवसाने सूक्ष्मगतेर्धर्मस्य

अन्ते धर्म एव  
विजयतेतरान्

प्रभावेण तस्य सर्वथा परिवर्द्धितो महान्  
सम्प्लोदः. सुधाधवल निर्मल चरित्रञ्च मेघा-  
वरणनिर्मुक्त शारद शशधर इव सातिशय

गुणभे । चारुदत्तस्य तादृशे चरित्रे कलङ्ककालिमान् विलिप्तुं  
दुर्द्वेत्तशकारस्य कुत, सामर्थ्यम् ? यच्च एक सत्यमेव प्रशस्तपथ-  
तया चिरमजानात्, यस्य च धर्म एव एकमात्रमवलम्बनीयः,  
अलौकिककलङ्कलेप तस्य किं विधास्यति ? कस्मिंश्चिदेकस्मिन्ने-  
वाहनि तद्वत् मिथ्याभूतमावरणं नूनं विगलितं भविष्यति,  
सत्यस्य चिरममुज्ज्वल ज्योतिश्च सर्वतोर्विमारि सत् निपति-  
ष्यति . मूढस्तु शकारं तत्तु नावेदात् स तु समुज्ज्वल चारु-  
दत्तस्य चरित्रं स्लापयितुं बहुधा अक्षेष्टत । स्लापनस्य कथा तु  
दूरत आस्ता, परं तेनैव चारुदत्तस्य चरित्रं पूर्वतोऽपि सम-  
धिकं समुज्ज्वलतरं सत् सूविकाशतामापद्यत ।

## वसन्तसेना ।

प्रकरणस्यास्य नायिका वसन्तसेना नाम गणिका, परन्तु-  
तस्या एतत्प्रकरणीयवृत्तांशे गणिकासुलभा वृत्ति कुत्रापि न  
सलक्ष्यते ; तथा हि,—प्रथमाङ्के शकारस्य  
जुगुप्सिते प्रस्तावे असम्भतायामेतस्या सत्या,  
विटस्तामाह,—“वसन्तसेने । वेश्वामविरुद्ध-

वसन्तसेनाया  
एकानुरक्ति

मभिहित भवत्या” इति । एतदाचरणन्तु गणिकावृत्तिविरुद्ध-  
तयैवात्र-कविना प्रदर्शितम् । पुनश्च “वेश्याऽमि सर्व्वं भज”  
इति विटवचनेन वसन्तसेना कदाऽपि वेश्याजनोचिता वृत्ति न  
हि पर्य्याग्राहीदिति च सम्यक्तया वक्तुं न शक्यते । चतुर्थाङ्केऽपि  
दृश्यते, यत् वसन्तसेनायाः माता तदीयां दुहितरं राजश्यालक  
संस्थानकं-रमयितुमादिशतीति, कदाचिदपि गणिकावृत्ति-  
रनया न चेदवलम्बिता, तदा तु विटवचनं मातुस्तादृशानु-  
रोधश्च कथञ्चिदमङ्गतमिव प्रतिभाति । तदास्ता तावत्,  
वसन्तसेनाया चरित्रस्य ईदृशो भागः कविना कियच्च समा-  
वृतः कृत इव इत्यनुमीयते । चारुदत्ते तदीयपृथ्वरागोत्पत्तेः  
प्रभृति वसन्तसेना यत् धनहार्य्यं पण्यभृतं स्वीयं शरीरं न हि  
अवोढ इति तु स्फुटया वाचा कविः व्यक्तोक्तुमभिलपतीति  
दृश्यते ।

साम्प्रत गणिकाशब्दव्यवणममकालमस्माकं मनसि या च  
घृणा पदमादधाति, पुरा तु गणिका नामादीदृश घृणाम्पद,

वेश्या-  
गणिकयोर्भेद

प्रत्युत, एता किंल सम्मानिता एवाभवन्ति  
प्रतीयते । अपि च साधारणवेश्याजना  
पेक्षया गणिकाशब्दवाचा स्त्रियो हि कियदि

भिन्ना एव । वात्स्यायनः कामसूत्रे चतुःपटिकलावर्णनाऽनन्तरं

साधारणाधिकरणस्य तृतीयेऽध्याये षोडशश्लोके उवाच ;  
यथा.—

“आभिरभ्युच्छिता वेश्या शीनरूपगुणान्विता ।

लभते गणिकाशब्द स्थानञ्च जनमसदि ॥

पूजिता सा सदा राज्ञा गुणवद्भिश्च सस्तुता ।

प्रार्थनीयाभिगम्या च लक्ष्यभूता च जायते ॥”

अत्र श्रीमद्भगवद्गीताध्याये व्याख्यात यथा,—“स्थानञ्च  
जनमसदीति । जनसभायामासनभूमि लभते, न वेश्येत्यव-  
गम्यते ।” इति ।

गणिकाशब्दे  
भरताभिरुक्तम्

नाट्यशास्त्रकार भरत स्वग्रन्थे चतु-  
र्विंशध्याये गणिकालक्षणमेवमनुशिष्ट-  
वान् —

“कालोपभोगराचाय्यशुश्रूषाभिरता सदा ।

लालया भावहावाभ्या मत्त्वेन विनयेन च ॥ १११ ॥

माधुर्येण च मयुक्ता चतु पटिकलाऽन्विता ।

नृत्योपचारकुशला स्त्रीदोषैस्तु विवर्जिता ॥ ११२ ॥

प्रियवार्दा प्रियकया स्फुटा दक्षा जितश्रमा ।

एभिर्गुणैस्तु मयुक्ता गणिका परिकीर्तिता ॥ ११३ ॥ इति ।

वसन्तसेनायामेतानि लक्षणानि पूर्णतया विद्यन्ते इत्य-  
यमभि पारलक्ष्यते ।

प्रथमाह “वक्ष्यामि सर्वं भज” इति विष्टेनाभिहितया  
वसन्तसेनया पुनरवन्ति गुणोक्तुं अनुगम्यस्त कालेन न उक्त-

१११  
११२

कलङ्करो । इत्येवमुक्तिरुक्तस्या वैजयन्तीवित-  
ताननुपपत्त्येव प्रदानात्, वसन्तसेना  
यदा प्रवक्ष्यामि मम स्मृता तदापि तदीय निष्ठा

११४ ११५ इति । अतः इत्येवमुक्तिरुक्तस्या वैजयन्तीवित-  
ताननुपपत्त्येव प्रदानात्, वसन्तसेना



चारुदत्तेन साक प्रणयव्यापारे वसन्तसेनायाः साहसस्य उद्योगस्य क्षिप्रकारितायाश्च पर्याप्ति परिचये समधिगते मत्यपि, स्त्रीजनस्वभावसुलभं भौरुत्वमपि तस्या परिलक्ष्यते एवेति । चारुदत्तस्तु यदा तं रदनिकाभ्रमेणोवाच “ननु रदनिके । रोहसेन गृहीत्वा अभ्यन्तरं प्रविश” इति, तदा वसन्तसेनायाः “मन्दभाङ्गी क्व अहं तुम्हे अद्भन्तरम्” एतस्मिन्नेव वचसि, तस्याः कुलस्त्रीजनानुरूपा लज्जा शङ्का च सुविकाशताप्तायाता ।

कवि यस्यामवस्थाया वसन्तसेनाचारुदत्तयोः प्रथम परस्पर दर्शनं सङ्घटयामास, तच्चातीव मनोरम हृदयग्राहि च

सृच्छकटिके चारु-  
दत्तवसन्तसेनयो  
प्रथमसन्दर्शनम्

जातम् । अन्यस्या कस्याञ्चिदवस्थाया तयोः प्रथमदर्शने सङ्घटिते च इयतीमतिबहुला वाच-  
मभिधातुं न हि तौ शक्नुयाता, तयोरन्योऽन्य-  
सस्तवोऽपि एतावतीमतिघनिष्टतामुपगन्तुञ्च

नाशकत् । यस्यामवस्थाया तयोः प्रथमसाक्षात्कारः समर्जन, तत्र परस्परमनोभाव लक्ष्यीकृत्य अत्यल्पाया समारितायामपि भूयानेव भावः स्फुटोभतोऽभवदिति विभाव्यते । चारुदत्तस्तु यत् रदनिकाभ्रान्त्या वसन्तसेना “ननु रदनिके, रोहसेन गृहीत्वा अभ्यन्तरं प्रविश” इत्युवाच, तेनैव नाय तयो नूतनपरिचयः, अपि तु बहुपुरातन एव इति प्रतीतिमुत्पादयता कविना स्थाभि-  
प्रायः सर्वथा सफलकृतः । अत एव यदा किल वसन्तसेनाया रदनिकाभ्रान्तिरपसृता, तदा चारुदत्तेन तत्क्षणमेव पृथ्वीप्र-  
चितवत् सप्रथयमामन्दणपदं प्रयुक्तमिति दृश्यते । चेत् तयोः परस्परमात्मीयवत्प्रतीतिर्न तदा सञ्जायते, तर्हि वसन्तसेना “पुरुषेसु णामा णिक्किवडिअन्ति ण उणं मेहेसु” इत्युक्ता तावन्-  
मात्मीयता प्रदर्श्य भूषणानि न्यासोक्तुं नैव शक्नुयादिति ।

चारुदत्तभवने एतद्भूषणन्यासप्रयोजनमस्माभिः द्वितीयाङ्कतः  
अनुभूयते , तथा हि,—वसन्तसेना तु चारुदत्त धार्मिकमभि-  
जानती तदन्तिके केषुचित् वस्तुषु न्यासी-  
कृतेषु सहसा नासी दुर्लभदर्शनो भविष्य-  
तीति सेने, तेन च चारुदत्तो यथा तस्या  
दर्शनपथादन्तरितो न भवेत् तदर्थमेव तथा चारुदत्तगृहे  
स्वकीयभूषणानां न्यासो विहित इति ।

चारुदत्तगृहे भूषण  
न्यासप्रयोजनम्

कामदेवायतनसम्पादितं वृत्तजातन्तु कविरस्मान् सविशेषं  
न हि व्यजिज्ञपत् ; तत्र वसन्तसेना चारुदत्तस्य गुणानुरागिणी  
जाता, शकारमुत्वेन एतावन्मात्रमेव केवल-  
मावेदयत् । द्वितीयाङ्कप्रारम्भे च मदनिका-  
वसन्तसेनयोः सलापादस्माभिरेतदभिज्ञायते  
यत्, चारुदत्तस्य प्रथमदर्शनात् प्रभृति वसन्तसेना गणिका  
जनोचिता वृत्ति जुगुप्सितामेवामन्यत । प्रतिपुष्पं मधु सञ्चित्य  
परिभ्राम्यन्ती मधुलुब्धा मधुकरी कुसुमहोन सहकारपादप-  
मनायामेनैव परित्यक्तुं शक्नोति, वसन्तसेना न तथा ; सा खलु  
धनहोन इति मत्वा चारुदत्तं परित्यक्तुं नैव शक्नोति, यतः सा  
हि चारुदत्तमेव केवलं प्रार्थयते, न तु तदनानि । अपि च  
राजनि राजवल्लभे व्रणिजि जने च प्रणय याच्यमाने अपरिहार्यं  
दुःखमुदेतुं प्रभवति, तस्मिन्नु तथाविधदुःखस्य कियतोऽपि समु-  
त्पत्तिर्न हि सम्भवति इति । चारुदत्तो हि भवन्नपि ब्राह्मण ,  
यीश्वनोचितभोगेषु नासीदुदामीन , इति तु सुरमिका वसन्त-  
सेना तदीयप्रावारके केवलं जातीकुसुममौरभमेकमाप्रायैव  
सन्त्यगनुसिमाय ।

द्वितीयाङ्कप्रारम्भे एव चारुदत्तचिन्तया वसन्तसेना अत्यन्त-  
मेव विमनायमाना आसीदिति परिलक्ष्यते, तेन च स्नानपूजादि-

नित्यकर्मापि तस्यै सम्यक् नारोचिष्ट । तच्च सम्पादयितुं  
 [उत्काण्डा] स्वमात्रा समाहृताऽपि तदनुष्ठातुमक्षमा सा  
 मातरमेवमभाषत यत्, “अज्ज ण ग्हाइस्स ।  
 ता वल्लणो ज्जेव पूअं णिव्वत्तेदु त्ति” इति । चारुदत्तभवनतः  
 प्रत्यावर्त्तनात् प्रभृति सा नियततदनुध्यानपरैव शून्येन मनसा  
 कालमतिवाहयामास ; तथाविधा तामवलोक्य मदनिकया  
 यदा सा तत्कारणमपृच्छत, तदा चारुदत्तस्यैव प्रसङ्ग प्राव-  
 र्त्तत ; या खलु यस्मिन् निर्भरमनुरक्ता, सा तु तत्सदृष्टासु कथा-  
 स्वेव रमतेतराम् इति ।

अथ यदा विपन्नः सवाहकः आत्मपरित्वाणार्थं वसन्तसेना-  
 निवासमग्नियत्, तदानीमप्यसौ मदनिकया साकं चारु-  
 [विपन्नवाण  
 प्रियानुरागिता च] दत्तप्रणयविषयिकासु कथास्वेव निरता तमेव  
 व्यचिन्तयत् । प्रागनेन सवाहकेन कियत्काल  
 चारुदत्तस्य शरीरपरिचर्यां कृतेति यदा  
 वसन्तसेनया तन्मृगादग्रावि, तत्पूर्व्वस्मादपि सा चारुदत्तमे-  
 वानुदध्यौ, इदानीं पुनः वहिरङ्गात् सवाहकादपि तस्यैव चारु-  
 दत्तस्य वात्तामाकर्ण्य तद्गणवलीपु आसक्तमपि तदीयं चित्तं  
 मातिशयमेव तासु निमज्जयामास । तदानीन्तु यथाकथञ्चित्  
 चारुदत्तसम्बन्धिनमपि सवाहकमसौ बहु मन्यते स्म । वसन्तसेना  
 यत् सवाहकं तदानीन्तननिग्रहादरक्षत्, तत्तु तस्या समुन्नत-  
 चेतसः परिचायकमपि सर्व्वेया न स्वार्थेविनिर्मुक्तम् ; परन्तु  
 सवाहकस्य चारुदत्तसम्बन्धितया ( तथाविधं सम्बन्धः यावानेव  
 विप्रकृष्टः भवतु नाम ) तदुपकृतिविधाय चारुदत्तोपश्रुतिमिव  
 तामजोगणत् ; तेन च अनौ मनसि श्रमासा मुच्यमन्तति सम-  
 धिकं गच्छन् तथा विभ्रामास, यथा प्रियतमस्य चारुदत्तस्यैव  
 कर्म सम्पाद्यात्मानं कृतार्थं करोतीति ।

संवाहके च तावत् कियद्दूरमगतवत्येव कर्णपूरकः वसन्त-  
सेनासमीपमाजगाम, तन्मुखाच्च सा अश्रुतनामधेयस्य कस्यचित्  
पुसः गुणावलीमश्रीषीत् । समनन्तरमेव  
प्रावारकसवादे श्रुतिमागते काऽपि कथा  
तस्या मनसि त्वरितमेव सौदामनीव समु-  
दिता, येन सा अवीचत,—“कस्य ऊरुश्च ।

चारुदत्ते  
वसन्तसेनाया  
प्रेमप्रकर्षं

जाणीहि दाव किं एसो जादीकुसुमवासिदो पावारओ ण  
वेत्ति ?” वसन्तसेनायाः चेतसः चारुदत्ते प्रीतिरसपरिपूरित-  
तया कस्याञ्चिदपि विमलगुणावलीसंस्पृष्टाया वाचि तत्कर्णपथ-  
ममापतिताया, तामेव गुणावलीमसौ चारुदत्तगुणग्रामेण नियो-  
जयितुमिच्छति, तेन च “किमेव प्रावारकश्चारुदत्तस्य न भवति ?  
सोऽपि नूनं जातीकुसुमवासित एव” इति तस्या मनसि सपदि  
समुदियाय । तदनन्तरञ्च तस्मिन् प्रावारके चारुदत्तस्य द्वाङ्गितं  
नाम दृष्ट्वा अतीव हृष्टा सा तदुत्तराङ्गं न मलङ्कृत्य  
प्रियाङ्गस्य टवस्तुमस्पर्शजं सुखमनुभवितुमारभत ; यास्तदानी-  
मग्रमेवाशयः यत्, मत्प्रेयस, चारुदत्तादपरस्मिन् कस्मिन्नपि  
पुरुषविशेषे एतावदतिबहुलगुणराशयो न हि दाचिदपि  
सम्भवेयुरिति । तदानोन्तु वसन्तसेना चारुदत्तप्राप्त्यर्थमतीव  
समुत्सुका अभूत् ।

एतदङ्गे च चारुदत्तस्य निरन्तरानुधानेन, तत्प्रभृतगुणा-  
वलीना कीर्तनश्रवणतश्च, वसन्तसेनामानसं केवलं चारुदत्ता-  
भिमुखीभूतमेवाभवत् । कविस्तु विविधप्रकारेण वसन्तसेना-  
नानसं चारुदत्ताभिमुखमनुप्रेषित विधाय प्रेमात्कण्ठता ता  
प्रेमं पूर्णविकाशपथं नेतुं प्रावर्तत ।

एवविधोऽवसरे प्रियमुखमन्दर्शनवासना प्रेयसीना निमर्ग-  
सिद्धिं खलु, तेन वसन्तसेनाया मानसं सविशेषमेव पर्या-

कुलितमभूत् ; इदानीमपि स सुचिराकाङ्क्षितदर्शनः चारुदत्तः ।

अलिन्दमारुह्य  
तदीक्षणप्रयत्नः

राजपथेन गच्छेत् इति मनसि आकलय्य,  
सा अलिन्दभूमिमारोढुं त्वरितपदमेव विनि-

ष्क्रान्ता । एवमेव योषिता प्रामादगवाक्षादि-

पथेन निरीक्षणस्य कथा अस्माभिः वात्स्यायनीयकामसूत्रे  
वैशिकप्रकरणे द्वितीयाध्याये तृतीयसूत्रे दृश्यते यथा—“प्रेक्षण-  
मन्यमनस्कस्य—राजमार्गे च प्रामादस्यायास्तत्र विदितायाः  
ब्रीडाशाठ्यनाशः” इति ।

चतुर्थाङ्कस्य प्रथमे दासी समागम्य वसन्तसेनामाह यत्,  
राष्ट्रियः सस्थानकः दशमहससुवर्णाघं भूषणजातं तदर्थमेवात्र

पुरुषान्तरे उपेक्षा  
निर्लोभता च

प्रेषयामास, तदीया माता च तां सस्थानक-

प्रेषितं शकटमारुह्य राजश्यालकभवनं यातुं

व्यादिशतीति । तदाकर्ण्य वसन्तसेना प्रत्य-

वाच “जइ मं” अन्ती इच्छामि, तदा ग उग अह अत्ताए एब्बं

आस्साविदव त इति । तदानीं वसन्तसेनाचित्तवृत्ते चारुदत्त-

प्रीतिपूर्णतया सस्थानकस्य तथाविधं प्रभूतार्थलाभकर्मणि

प्रस्ताव सहगमुपेक्षितं न खलु मा इषदपि कुण्ठता अभवत् ।

पालकस्य नृपते, श्यालके सस्थानके अवज्ञया प्रत्याख्यातं

साम्प्रतमेव विपदः समापतेयुरिति मनसा विदित्वापि मा

चारुदत्तात्प्रत्यावृत्त्य पुनः गणिकावृत्तिस्वीकारात् वरविपक्षमृ-

हानां समाश्लेष इति निर्दोष्य, स्वयं विपदां राशिमेव मस्यजे ।

तदनन्तरं यदा शाब्वलक मदनिकामाह, “वच्च त्वा

मदगधा  
शिष्टाचारश्च

किञ्चिद्रहस्यम् । तद्विवेकमिदम् ?” तदुप-

श्रुत्य मदनिकया च तत्र स्वममतां प्रदर्श-

याम, एकान्तस्थितया वसन्तसेनायाः स्वगत-

मेतदभ्यधाय “कध परमरहस्यं, तां ग मुणिस्सम्” इति ।

एतस्मादेव वसन्तसेनाया शिखाया शिष्टाचारस्य च परिचयः  
सम्यगधिगम्यते, प्रायश हि रमण्य कौतुकपूर्णं पररहस्य-  
सम्बद्धं वच, श्रोतुमतिमात्रमौत्सुक्यं भजन्त, किन्तु वसन्त-  
सेनायामस्माभिः, तथाविधपररहस्यश्रवणप्रणयित्वं कियद्रूपि  
न खलु दृश्यते ।

अस्मिन्नेवाङ्गे यदा मदनिकाशर्षिलकौ परस्परं रहसि भाष-  
माणौ आसता, तदा मदनिकामन्वेष्टुमागता वसन्तसेना तां  
मिथं सङ्गतीं दृष्ट्वा, अन्योऽन्यमनुरागवन्तौ खलु  
ताविति त्वरितमेव विदितवती ; सत्यपि  
नमुदिते स्वप्रयाजने मदनिका समाह्वयं क्षणमपि तयोः पर-  
स्परानापसुक्तं व्याहन्तुं नेच्छन् । वसन्तसेनायाः मनस्तु तदानीं  
चारुदत्ते सम्यगनुरागपूर्णमेवास्तु, परन्तु सा चारुदत्तात् स्वप्रेमः  
अनुरूपं प्रेम लस्यते न वेति मशयं निराकर्तुं न निर्भरमश-  
क्तात् . तस्यास्तु मनसि विरहाद्वयमपि सविशेषमास्ते, वियो-  
गाद्विभ्यन्तस्तु तदेव वाञ्छन्ति, यथा कस्यापि विरहदुःखं कदा-  
चिदपि नापनोदिति . सा हि विरहाद्विभ्यतां स्वीयेन मनमेव  
विरहिणा निखिलमव दुःखं वेद, तस्या आत्मनोऽपि किल  
तस्मादेव दुःखं तेन च सा उवाच, “ता रमद रमदु । सा  
कल्पावि पादिच्छेदो भोदु । न कतु महाविन्त” इति ।

अथ मदनिकाममाज्ञया वसन्तसेनायै हृतालङ्करणानि  
प्रदातुमपामते च शर्षिलके वसन्तसेना स्वीयेनैवमर्गिकीटाख्येन  
नक्षत्रमन्त्रेण मदनिकां तत्क्षणमनुहत् । मदनिका खलु  
तस्याः शिखां सज्जरा, तत्र सङ्गटं खनयित्वा यावतोनाम्नैव

यतो नियमितायां हि तस्या यादृक् स्वयमेव प्रियविरहजं दुःखमुपभुङ्क्ते, तादृगेव साऽपि नियतमुपभोच्यते इति नितरामशङ्कितम् ।

एतेषु च स्थलेषु एतदस्माभिः दृश्यते यत्, चारुदत्ते वसन्त-सेनायाः सम्प्रोतिः विविधामेव मूर्त्तिं परिगृह्णातीति । प्रथम-

प्रणयाद्द्वारता

कविना वसन्तसेनायाः पृथ्वीरागः सङ्क्षिप्यैव आलिखितः, तदानीं वसन्तसेनाया दृष्टिः

केवल स्वस्य चारुदत्तस्य चोपरि न्यस्ता आसीत्, न हि कमपि विषयान्तरं सम्यगलक्षयत् ; साम्प्रतन्तु तस्या, दर्शनमवान्तरा-वस्थास्वपि निपनति ; तेन च असङ्कीर्णं वसन्तसेनाचरित्रं चरम-विकाशस्य पथि प्रसर्तुमुद्यतम् । इदानीमसौ स्त्रौयेनान्त कर-णेन परिषामन्त'करणतत्त्वमपि अनुभवितुं समर्थयते । प्रेम्ः ईदृशी हि शक्तिरस्ति, यद्वलात् हृदयं समुदार भवति नाम ; प्रकृतस्य प्रेम्' एष हि स्वभाव, यदसौ कमपि जनं सङ्कीर्णता न नयति । तेन च प्रेमपरतन्त्रा वसन्तसेना क्रमेण विकाशित-चित्तवृत्तिरेव जाता इति ।

शर्व्वीलकहस्तात् भृपणमसूहाना ग्रहणादनन्तर वसन्त-सेनायाः मानसिकी अवस्था स्फुटमस्माभिरनुमीयते ; तथा हि,

न्यस्तभृपणमाश्रय  
चिन्ताप्रवाह

—न्यामीकृताना भृपणजातानामपहरणेन किमिदानीं करोति चारुदत्त', तथा वा सह कीदृश समाचरिष्यति, अतितरा कातरता

समुपागते च चारुदत्ते सा तस्मै तदलङ्काराणां प्रदानेन तदीया तावतीमुत्कण्ठा सर्व्वञ्च समुद्देगं समूनमपनीय तं सुखाकारिष्यति, एवविधा विविधाचिन्ता' प्रादृष्टपयोवर नभस्तलमिव तदीयमानसं सपदि समाग्रवत ; ईदृशे समये तत्र मैत्रेय समागत्य रत्नमाना तस्मै समर्प्य च यथायथ चारुदत्तमन्दगम्

आकलयामास,—“मए तं सुवसुभण्डं विस्सम्भादो अत्तण  
केरकेत्ति कदुअ जूदे हारिदम्” इति । वसन्तसेना तु तदा-  
कर्ण्य परं विस्मयमवाप, मनसि एवमनुदध्यौ च,—“कधम् !  
चोरेण अबहिदं पि सोण्डौरदाए जूदे हारिदं त्ति भणादि ?  
अदो ज्जेव कामीअदि” इति । वसन्तसेनायाः चिन्ताप्रसरः  
पूर्वपथ परिहृत्य अन्य पन्थानमवललम्बे; पूर्वोक्त “विस्सम्भादो  
अत्तणकेरकेत्ति कदुअ” इति वच. तस्याः मर्म चास्पृशत्, तस्याः  
हृदि हर्षे आशा च सममेवोदियाय, सा चिन्तयितुमारभे “किं  
दंसेमि त अलङ्कारं ?” इति । ततश्च कौतुकपरा ईषद्विमृश्य  
निर्णीतवती “अधवा ण दाव” इति ।

स्थलादस्माच्च कौतुकं समारब्धम् ; विदूषकस्तु पूर्वं “गेह्लदु  
भोदी इम रअणावलिम्” एवमुवाच , इदानीं वसन्तसेना तूष्णी-  
मवस्थिता चिन्तयमानाञ्च समीक्ष्य विदूषकः  
कौतुकप्रणयित्वम्
 आशासमन्वित. सन्नेवमवोचत,—“किं दाव  
 ण गेह्लदि भोदी एद रअणावलिम् ?” वसन्तसेना तु तदलङ्कार-  
 णानां स्वस्था. ग्रहणमसौ नाभिलषति इति सम्यक् विदित-  
 वत्यपि, चारुदत्त. खलु तामात्माशामिव विभावयति इत्याकर्ण्य  
 प्रोत्पुल्लचित्तवृत्तिं विदूषकेण सह किञ्चित् नर्मप्रायं वक्तुं न  
 शिथिलप्रयत्ना बभूव , सा हि तदानीं रहस्य गोपायितुं मैत्रेय-  
 मुखं निरीक्षितुमसमर्था (“विहस्य सखीमुखं पश्यन्तो”) उवाच,  
 —“कध ण गेह्लिस्स रअणावलिम् ?” एतद्वसन्तसेनाभाषित-  
 माकर्ण्यतो विदूषकस्य महती आशा प्रतिरुद्धा अभवत्. स्मित-  
 मुखो वसन्तसेना दृष्ट्वा तस्य सपञ्जरं शरीरं वद्विज्ज्वालामाना-  
 कुलमिवासीत् । अत्रान्तरे वसन्तसेना स्वगतमाह,—“कधं  
 भाणसुसम्भादो वि सहशरपादवादो सअरन्दविन्दओ निव-  
 दन्ति ” इति । इतीं प्राप्ते सदनिजाऽपि वभाषे,—“अज्जए ! किं



भीणकुसुमं सहआरपादवं महुअरीओ उण सेवन्ति ?” इति ।  
अधुना तु मदनिकायाः तत्रासत्वात् तद्वचनं संस्मृत्य महता  
सुखेन वसन्तसेनायाः सुखात् ईदृशो कथा नि सृता । एवविधे  
काले मदनिकाया तत्रावस्थिताया ता सर्व्वमेतद्वचनं कथयित्वा  
वसन्तसेना सम्पूर्णं सुखमुपभोक्तुं शक्नुयात् ।

पञ्चमाङ्गे वसन्तसेना अभिसारिका । चारुदत्तस्तु तस्या-  
मनुरक्तो न वेति वसन्तसेना तदानोमपि अमन्दिग्धं न हि

दृष्टिने  
स्वयमभिसार

विवेद, सा तु कथाप्रसङ्गेन विदूषकात् एता-  
वन्मात्रमेवावगमत् यत्, चारुदत्तः तामात्मीय  
तया विभावयतीति, तेनैव सा तत्प्रणयप्राप्ति-

प्रत्याशावशतामवाप । अपि च वात्स्यायनीयकामसूत्रस्य वैशि-  
काधिकरणगीयप्रथमाध्यायगतदशमसूत्रस्य “भावजिज्ञामार्थं  
परिचारकमुखान् सवाहकगायनवैहामिकान् गम्ये तद्भक्तान् वा  
प्रणिदध्यात्” एवविधशामनानुसारत जनान् विनियुज्य प्रेयस-  
मनोभावं विज्ञातु तस्या धैर्य्यं नामोत् । तेन च सा स्वय-  
मेवाय विटेनानुगम्यमाना घोरं दुर्दानेन चारुदत्तस्य मनोऽभि-  
प्रेतं विज्ञातु भूषणप्रत्यर्पणापदेशेन कान्तमभिमर्त्तुं प्रचलिता ।  
तथा च, वात्स्यायनीयकामसूत्रस्य वैशिकाधिकरणप्रथमाध्याय-  
द्वादशसूत्रे दृश्यते “मपीठमर्हायाश्च कारणापदेशेन स्वयं गमनं  
मिति गम्योपवर्त्तनम्” इति ।

पुनश्च प्राक्ताधिकरणद्वितीयाध्यायस्य चतुर्थसूत्रे दृश्यते यत्,  
“अनुरागस्यावचनमाकारतस्तु दृश्यते” इति, इहापि कथिना

आकारिद्वितादिना  
अनुरागप्रदर्शनम्

तदनुसरता इव प्रथमं वसन्तसेनाया मया  
शरीरचेष्टादिभिश्चारुदत्तं प्रति तदनुरागं  
प्रदर्शितं, तदनन्तरञ्च चारुदत्तसमापसा-

गच्छन्ती वसन्तसेना स्वयमेव तदीयचित्रद्वारापरिचिताया अदृ-

रागप्रकटनहेतुकादङ्गचेष्टादिकादपि स्फुटतरमिङ्गितमाश्रित्य सुकुमारपुष्पेण तमताडयत् । ततश्च त सम्बुधाह,—“अहं जृदिश्रर ! अवि सुहो दे पदोसो ?” इति ।

प्रदोषकालस्य रागवर्द्धकतया भटिति तद्विषयकप्रश्नेनैतदेव

परस्परानुरागे  
नि सन्निभता

प्रकाश्यते यत्, “तव प्रदोष. सुखिन याति न वा, तत्तु न जाने, मम तु न याति” इति । ततश्च वसन्तसेना तदीयप्रश्नस्य स्वाभि-

लपितमेव प्रतिवचन चारुदत्तमुखादश्रीषोत् ; यथा,—“अयि प्रिये ।—

सदा प्रदोषो मम याति जायतः

सदा च मे नि श्वसतो गता निशा ।

त्वया समेतस्य विशाललोचने ।

ममाद्य शोकान्तकर प्रदोषकः ॥” इति ।

एतत्प्रतिवचनजातमाकलय्य आश्वस्तायास्तस्याः निखिल-सशयजालानि सकला शङ्काश्च तदानी दूरीभृता एवाभवन् ; चारुदत्तोऽपि तदीयानुरागे तत एव नि मशयो जातः ; एवञ्च तयो परस्परमिलने कश्चिदप्यन्तरायो नावर्तत ।

गणिकासुतायामपि वसन्तसेनाया यद्यपि गणिकोचित-हत्तिरम्भाभिर्न खलु परिलक्ष्यते, तथाऽपि सा गणिकैव ; तस्या-

गणिकासुताया  
उक्तं तस्याऽङ्गा-  
दिति यत्नः

स्तदनुरूप प्रागल्भ्यं प्रदर्शयता च कविना निरतिशयनैपुण्येन तच्चरित्रस्य सर्वतोभावेन सामञ्जस्यमेव रचितम् । एवविध मप्रागल्भ्य सम्बोधनमपि प्रयोक्तुं लज्जिता च वसन्तसेना

चेटीमुवाच,—“अवि पारङ्मन्” इति । तदा चेटी प्रत्युवाच,—“प्रदोषो जेव पारङ्मन्दि” इति । वसन्तसेनाया एतया लज्जया निलज्जतया चान्नाभिर्नैतदवगम्यते यत्, तदीयशिक्षा

व्यवहारादिषु वेशवासमादृश्येषु अलभ्यमानेष्वपि ते तस्याः  
वेश्यासुलभभाव न हि व्यतीयुरिति । एतेन कविः  
वसन्तसेनायाः चरित्रसामञ्जस्यसरक्षणं, तथा शिञ्जावशेनापि  
स्वभावमतिक्रामितुं न हि कोऽपि शक्नोतीति च स्फुटमस्मान-  
द्रशयत् ।

हृतालङ्कारप्रत्यर्पणसमये हि वसन्तसेना किमप्यनभिधाय,  
केवलं कौतुकपरवशा सती चारुदत्तचित्तवृत्तिपरिज्ञाननिरता

धृतायां  
श्रद्धाप्रदर्शनम्

एवासीत् । सुचतुरा खलु सा कस्येयं रत्ना-  
वली, कुतश्चैषा समागता इति तु स्वधिया  
पूर्वमेव विदिततया भूषणविषये अविमनाय-

माने हि चारुदत्ते तमेतावन्मात्रमेव वचनमवोचत् यत्,—“अञ्ज  
चारुदत्त । जुत्त गेटं इमाए रअणाबलीए इम जणं तुलयिदु”  
इति ; एतैश्च कतिपयैरेव वचोभिः रत्नावलीस्वामिनीं प्रति सा  
निरतिशयां श्रद्धा प्रादर्शयत् ।

पृष्ठाङ्के च अभिनवभावविवशा सती समवतीर्णा वसन्त-  
सेना इत्येवमस्माभिः समीक्ष्यते ; तथा हि,—नेदानीमसौ

मिलनात्सौख्य  
चारुदत्तपरिजने  
श्रद्धाभावय

पूर्ववत् चारुदत्तविरहेण विधुरा भवति,  
उद्देगश्च तस्याः साम्प्रतमुपशमतामेव लभते,  
प्रेमा हि हृदयवृत्तेः प्रसारवर्धनेन न केवल-  
मसौ स्वसुखमेव साम्प्रतं चिन्तयति, अपि तु

परदुःखभावनायामेव समधिकं कालमतिवाहयति । ततश्च  
तदानीं चारुदत्तभवनमुपागता, तत्पत्नीपुत्रसञ्जना किमिदं  
मन्यन्ते इत्येवमेवामी नियतमनुध्यायति । तेन च सा चेटा-  
मपृच्छत् यत्,—“हञ्जे । किं पविटा अह इह अश्वन्तर  
चतुस्मान् ?” इति । एतदपश्यन्वती च चेटो प्रत्यवाच,—“ए  
केवल अश्वन्तरचतुस्मान्, सञ्जनास्म वि हिअय पविटा”

इति । तदाकर्ण्य वसन्तसेना समाश्रय्य पुनरप्राचीत्,—  
 “अत्रि सतपिदि चारुदत्तस्य परिश्रमो ?” एतत्प्रश्नेन तस्याः  
 यच्च समुद्देशः प्रकाशते. स तु वेश्यासुलभभावं न हि प्रकटयति,  
 परन्तु सपत्न्यानुरूपामाशङ्कामेवावेदयति ; न चेदेव तदा, तत्प-  
 रिजनाः सन्तप्ताः भवन्तु न वेति तेन गणिकायाः तस्याः  
 का क्षतिलाभो वा भवेत् ? चारुदत्ते तु वसन्तसेनाऽनुरागो  
 नैव भवति वेश्याजनसुलभः. अधिकन्तु तत्परिजनेषु तस्याः  
 अहातिशयमेव सर्वत्र स्फुटतया प्रकाशते । पूर्वोक्तप्रश्नस्य  
 समुचितमुत्तरं दातुं चेटी आह,—“सतपिस्सदि” । वसन्तसेना  
 तु प्रपञ्च,—“कदा ?” चेटी पुनरब्रवीत्,—“जदो अज्जआ  
 गमिस्सदि” इति । तदाकर्ण्य वसन्तसेना चारुदत्तभवने न हि  
 मा हृणितेति विदित्वा पुनरेवमूचे,—“तदो मए प्रदम संतपि-  
 दब्बम्” इति ।

वसन्तसेना तु कुत समागत्य रत्नावलीति अनुमाय पूर्व-  
 स्मिन्नङ्गे अवादीत्,—“जुत्त गेदं इमाए रअणावलीए इम जणं  
 तुल्यिदुं” इति ; तेन च सा चेटीहस्ते चारु-  
 दत्तप्रदत्ता रत्नावली ममर्ष्य उवाच,—“हञ्जे !  
 गेह एद रअणावली, मम वहिणिआए  
 पल्लाधुदाए गदुअ समप्पेहि ; भणिदब्बं च,—  
 ‘एह शिरिचारुदत्तस्स गुणणिज्जिदा दामो, तदा तुल्लाणं वि ।  
 ता एसा तुए ल्लेव कण्ठाहरण होदु रअणावली’ इति । तदा-  
 वर्य चेटी प्रत्युवाच,—“अज्जए ! कुपिन्निदि चारुदत्तो अज्जाए  
 दाइ” । वसन्तसेना मज्जेदा चारुदत्तमनोभावमज्ञासीत्, तं  
 तदा विधत्तात्वे दहाकापीत् तेन स्वकृतमनी नृनमनुमस्यते इति  
 विद्यास्य पुन प्रत्युवाच —“अज्ज न कुपिन्निदि” इति । ततः  
 चेटी तत् स्थानात् पलायता । किददन्तरश्च सा रत्नावली

धुदाए रत्नावली  
 प्रदानं कृत्वा  
 तत्पदवीकारम्

समादाय प्रत्यावर्त्य व्यजिज्ञपत्, यत्,—आर्या धृता रत्ना-  
बलीमगृह्णती भवतीम् एव विज्ञापयति यत्,—“अज्जउत्तो ज्जेव  
सम आहरणविसेमो त्ति जाणादु भोटो” इति । तेन च वसन्त-  
सेना विस्मिता स्तम्भिता च जाता ।

अथ सौवर्णशकटाय रोरुद्यमानं रोहसेनमङ्गे निधाय  
रदनिका वसन्तसेनासकाशमुपातिष्ठत् । बालस्य रोदनकारणं

वसन्तसेनाया  
विस्मय, धृतायां  
श्रद्धाप्रकर्षय

जिज्ञासमानायाञ्च वसन्तसेनायां रदनिका  
तस्यै रोदनहेतुं यथायथमाख्यत् । प्राक् धृतया  
रत्नमालाप्रत्याख्यानान्न विस्मयमासादिता  
वसन्तसेना तदानीमेतदेव चिन्तयामास यत्,

एतावदेतासा दारिद्र्यं, येन दारक शकटाय भृश रुदनपि न  
हितं लभते, सुतवत्सलतया दिक्सर्वोऽप्येता दारिद्रेण नैव  
किमपि प्रदातुं समर्थाश्च, तथाऽपि स्निग्धाया एतन्मातुरन्त  
रात्मा तनयाभिलापपूरणाय व्याकुलोऽपि च पतिगौरवरक्षणार्थं  
रत्नावलीमकातरमेव प्रत्याख्यातुमीषदपि कुण्ठा नैव प्रापत् ।  
अस्या स्वामिसम्भोगजसुखेषु कृताशतयाऽहमन्तरायभृता जाता,  
तथाप्यसौ मामविकृतमेव ब्रवीति,—“अज्जउत्तो ज्जेव सम  
आहरणविसेमो त्ति जाणादु भोटो” इति । अहो ! चित्तमेतत्,  
कुत ईदृश तेजः ? नैतदस्मद्विधैः कदाऽपि कुत्रापि दृष्टपूर्वं,  
चारुदत्तस्य सहधर्मिणीपदगौरवेण चेदेवमोजस्विता, तदा नूनं  
सहधर्मिणीपदमतोव श्लाघ्यतर मन्ये इति ।

दरिद्रतया सुतवामनामपि सम्पादयितुमनीगनिनान्

तस्या चारुदत्तमात्र  
विषये कातरता

समोक्ष्य स्वभावकारुण्येन द्रव्यभूतहृदया  
वसन्तसेना तदा सविप्रादसिदम्बराच,—  
“भवश्च कश्चन्तः । पोक्खरवत्तपडियन्नलविन्दुः

सरिमेहि कीलमि तुम पुरिमभाश्रयणहि” इति । इयमेव किंल

वाक् तृतीयाद्देश्यस्माभि धूतामुखादाकर्णिता । दिशा चानया  
कविना अतिनिपुणतयेव वसन्तसेनाया चरितस्थान्यमेकमभि-  
नवमुत्कर्षे दर्शयितुम् आरम्भे ।

सुवर्णशकटलिप्सया निरतिशयक्लिष्टमानसं रोहसेनमाक-  
ल्य रुदता वसन्तसेना इदमब्रवीत्,—“जाद । मा राद ।

तस्या नातपदवाच्य  
ताभिरतो सूहा

मोवसुमअडिआए कौलिस्ससि” इति ।

आकर्ण्य च तत् सकरुणवचन रोहसेनो यदा  
रदनिकायै वसन्तसेनापारिचयमजिज्ञासत,

तदा रदनिका तमाह,—“जाद । अज्जआ दे जणणी भोदि”

इति । रोहसेनस्तु तदा दीयमान तत्परिचयमलोकमेवेति मत्वा

यदा आह,—“जइ अन्हाण जणणी, ता कौस अलकिदा ?”

इति तदा वसन्तसेनाया नारीस्वभावसुलभ प्रसुप्त मातृत्वं

नपदि जागरितमभूत्, मा अविलम्बितमेव सकरुणमुवाच,—

“जाद । मुहेण मुहेण अटिकरुण मन्तेमि । ( नाट्येनाभरणान्य-

वतायै रुदतो ) एसा दाणि दे जणणी सवुत्ता । ता गेण्ह

एद अलकारअ, मावसुमअडिअ घडाविहि” इति । रोहसेन-

सोवाच —“ण गेण्हिस्स, रोदसि तुम” इति । रोहसेन, किल

बालक, कथमसौ वसन्तसेनारोदनस्यार्थमवगमिष्यति ? मन्ये,

वसन्तसेनाऽपि स्वरोदनस्य हेतु स्वयमेव नविज्ञेय नावगता ।

अथ हि तस्या चरित्रस्य स्वाभाविको विकाशः ; तदानीं

तस्या मातृपदवाच्यत्वलाभवामना समजनि, तच्च रोदन भवति

तस्या सम्मथल्लसत्सुलस । बालस्य तादृशवचसा वसन्तसेनाया

संतत्य समदिष्यात्, मा हि तदेवमवृध्यत, भवति समत्ववात्स-

ल्यदि वसन्ति हि मातृनूर्ति का हि नाम तत्रास्ति ताव-

त्पदे मेव । वल्लभासुवक्त्वा एतन्मतेन चरित्रादुक्तस्य । अथ

य एवमवृत्तिः —“जइ ए रोदिस्स । मज्झ, काल इति ।

(अलङ्कारैर्मृच्छकटिका पूरयित्वा) जाट । करेहि मीवससअडिअ” इति । वात्सल्यदेवालयद्वारि तदानीं वसन्तसेनया विलासवलि, उमगीकृत, —एव किल तदीयविलासमण्डितमूर्त्यन्तरालात् अश्रुविधौता-पूता निर्मला च मातृमूर्तिः वहि प्रचकाशे; एव हि तस्याश्चरित्रं पूर्णतया एव विकाशतामवाप । उत्तरकाले च आर्य्यकेण राज्ञा तस्या बधूशब्दप्रयोगस्य यः आदेशः प्रदास्यते, अद्यैव किल वसन्तसेना तस्य यथार्थाधिकारिणी जाता ।

ततः परं प्रवहणविपर्य्यासः समजनि, तेन च वसन्तसेनाया विपदा समारम्भ प्रासरत् । अष्टमाङ्के चारुदत्तप्रेमविह्वला

वसन्तसेनाया  
विपत्ति, तेन  
खिता, वैराग्यञ्च

तदभिसारनिरता च वसन्तसेना शकारिणी त्पोडिता चारुदत्तमेव सम्मृत्य कृतान्तर्निकेतनातिथिर्भवितुमुद्युक्ता अभवत् । अत्रैव स्थले वसन्तसेनाया तेजस्विताया परिचय

कियानस्माभिरधिगम्यते ; सा खलु तदा शकारं पद्ममाहन्तु मपि कियन्मात्रं नाकुण्ठात् । एवविधं पुरुषोचितमाचरणं वसन्तसेनासमायामेव नायिकाया सम्भवति । मन्ये, अन्या काऽपि रमणी ईदृशहेतुना कमपि पुरुषं पदा आहत्य दृष्टा-क्तुं न हि शक्नुयादिति । अत्रापि अस्या गणिकाकुलमभृत-त्वानुरूपं चरित्रमङ्कयता च कविना तदीयस्वभावस्य सामञ्जस्यं सर्वथा सरञ्चितम् । शकारिणामस्तत्र हततया मृतप्रायाया तस्या चैतन्यं सम्पाद्य सवाहको यदा तामपृच्छत्,—“बुडो वाशिण । किं सोद ?” इति,—तदा निम्ननायजीवनं प्रति प्रव्रजया घृणया तस्या मनः पूर्णमभूत्, सा तदानीमेवमचिन्तयत्, यद्यहं गणिकागर्भजाता नाभविष्यं, तदा नैवेदृशं निदारुणं क्लेशमपमानपरम्पराञ्चामहिष्ये ; तेन हि मवैराग्यमुवाच,—“ज मरिम वैसभावस्स” इति ।

अथ यदा दशमाङ्के चारुदत्तस्य वधार्थं समुद्योगः समा-  
रब्धः, तदन्तरे वसन्तसेना भिक्षुणा सह तत्र समागता अभवत् ।

वधमाला-  
विविधम्

यस्या वधापराधेन चारुदत्तस्य प्राणदण्ड  
राजपुरुषैः समादिष्टः, सा मूर्त्तिमती तत्र  
समुपस्थिता । वसन्तसेनाया एतत् दक्षिण-

स्नानप्रवेशदृश्यमेकमद्भुतं नाटकीयं वस्तु । तस्याञ्च समागत-  
वत्या निर्दोषचारुदत्त प्राणदण्डव्यसनात् मुक्तिमवाप, दुर्वृत्त-  
शकारश्च सापराधतया धृतोऽध्यतिष्ठत् । दृष्ट्वा च त वसन्तसेना  
चारुदत्तकण्ठदेशात् वधमालामाकृष्य तीव्रया घृणया ता  
शकारकण्ठदेशे निचिक्षेप । अस्मिन् स्थलेऽपि नाट्यकार-  
वसन्तसेनाया प्रगल्भतायाः परिचय प्रकाश्य तस्या जन्मन-  
चरितस्य च सामञ्जस्यं ररक्ष । मत्तु च तत्र चारुदत्तस्य अन्येषु  
बहुषु हितेषु सन्निधुः, नारीजनस्वभावसुलभशालीनताविरुद्ध  
तथाविध प्रागल्भ्यम् अन्यस्यान्तु कस्यामपि स्त्रिया न हि  
समुदेतु प्रभवति ; गणिकामसुत्पन्नाया वसन्तसेनायामेव  
तदुपयुज्यते ।

संस्कृतरूपकविवर्णितासु नायिकासु वसन्तसेना हि भवति

नायिकापदान्तरम्

चतुरा असामान्या च नायिका ; प्रणयस्य  
गार्भार्थं ता परार्थपरा सुखस्वभावामुदागाञ्च  
सम्यगकार्षीत् । कविना चरितमिदं विशेषेण सुग्रथितं सुवि-  
वाशितं हृतमिति ।

धृता ।

वशिना एतादृशरितं न विशेषं न हि अद्वितम् । अभि-  
रुदन्तरे प्रायशस्तानुपस्थायैव प्रस्तुतं हृतमिदं परिसंज्ञापि



तम् । अस्मिन् रूपके, तृतीयाङ्के दशमाङ्के च सा वारहयमेव केवलमस्माकं दृष्टिपथमापतिता ।

तृतीयाङ्के गृहे चोरित चोरिणेति समाकर्ण्य समाकुलित-चित्ता धृता उवाच,—“अइ । मच्च अवरिकवदसरीरो अज्ज-उत्तो अज्जमित्तेण सह ?” इति । चारु-  
स्निग्धजनवात्सल्यम् दत्तम्याशुभमाशङ्कमानाया, तस्या परा काष्ठा गतायामप्युत्कण्ठायां, प्रियकुशलप्रश्नेन सममेव प्रियतमप्रियवयस्यस्य मैत्रेयस्यापि कुशलं प्रष्टुं न ह्यसौ विसम्भारः ; यतः सा एव भवति गृहकर्त्री । ततश्च वसन्तसेनान्यासीकृताभरणानि तस्करेणापहृतानौति समाकर्ण्य सा सपदि मूर्च्छिता जाता, मोहापगमे पुनरेवमभाषत यत्,—“हज्जे । किं भणामि ? अवरिकवदसरीरो अज्जउत्तो त्ति ? वर दाणिं सो सरारेण परिकवटो, ण उण चारित्तेण” इति । चारुदत्तधर्मपत्न्याश्च धृताया एतद्भाषणं नूनं तदनुरूपमेव ।

सा च तदानीं कथं हि स्वामिनममुष्या विपदं सर्गच्छति, मत्पुरुषतया प्रख्यातस्य भर्तुः नाम कथमक्षतं स्थास्यति,  
रत्नावलीदानम् इत्येव सततमचिन्तयत्, अलङ्कारणेषु केवलतन्मातृदत्ता रत्नावली एव अवशिष्टा अस्ति, तान्तु चारुदत्तः शौण्डीरतया न हि ग्रहीष्यति, इति तु सा नूनमेव विवेद, तेन च सा भर्तुः चारुदत्तस्य हितैषिणः सखायमैत्रेयमाह्वय रत्नपट्टीव्रतच्छलेन तामेव रत्नमाला तस्मै प्रायच्छत् । चतुरः मैत्रेयस्तु आह,—“सोत्थि, गमिस्स, पिअ वअस्सस्स निवेदिमि।” इति, श्रुत्वा च तद्वचनं धृता अतीव सङ्कचिता “अज्जमित्तेअ । मा क्व, मं लज्जावेहि” इत्युक्त्वा प्रातिष्ठत ।

पठाङ्के पुनः यदा वसन्तसेना इमामेव रत्नावलीं दाम्ना

हस्तेन धूतायै प्रत्यर्पयितुमैषीत्, तदाऽसौ अतीव तेजसा प्रत्यु-  
वाच,—“अज्जउत्तो ज्जेव मम आहरणाविसेसो त्ति जाणादु  
भोदी” । एतेन यादृशं तदीय नैसर्गिकं  
तेजः प्रतीयते, निगूढाभिमानगर्भं तथाभूतं  
तेजः केवलमहधर्मिण्यामेव सम्भवति । वसन्तसेना तु प्रथ-  
मतो धूताचरित्वानभिज्ञतया चेटीहस्तेन रत्नावलीमनुप्रेष्य  
तामभिनन्दयितुमैच्छत् ।

भोक्ष्विता

तदनन्तरञ्च पुनर्दृशमाङ्गे दृश्यते यत्, आर्या धूता चिता-  
रोहणसमुद्यता मैत्रेयरोहसेनादिभिस्तस्मादतिसाहसार्चिहृत्यर्थे  
भृशमनुरुद्धाऽपि न तत्र समाधिमादधे इति ।  
स्वामिना सह एकस्यामेव चितायामधिरोह-  
णादृते ब्राह्मण्या चितायामधिरोहण धर्मशास्त्रविरुद्धतया  
पापजनकमिति मैत्रेयेण अभिहिताऽपि सा अत्रवीत्,—“आर्य-  
पुत्रस्यामङ्गलश्रवणात् वरमेतत् पापाचरणमपि” इति । एव-  
विधादेकैकस्मात् वाक्यादेतस्याः धूताया अन्तःकरणभावमपि  
स्फुटमेव वयमवजानीमः । सत्यमेवैतद् यत्, सृच्छकटिके वयं  
वारहयमेव धूतामीक्षामहे, किन्तु तत्रैव कविना द्वित्रैहि-  
निपुणतरैः तूलिकामस्यातै तदीय चरित्रमधिकमेव समु-  
च्चलीकृतमिति ।

चिताऽऽरोहणप्रयत्नः

मैत्रेयः ।

प्रत्यर्पनामा मैत्रेय चारुदत्तस्य वयस्यो सृच्छकटिकप्रकरणे  
विदूषक इति परिभाषितः । विदूषकगज्जायन्तु कामशास्त्रीय-  
साधारणाधिकरणस्य चतुर्थाध्याये समदृग-  
स्तनापे आसद्यज्ञाधरेन्द्रपादा आहुः,—  
‘स च देव्या नागरकं वा वृत्तिं प्रसाद्यन् लब्धप्रणयत्वादप-

२५७४-२५८२

वदते इति विदूषकः । क्रीडनकत्वाच्च वेगे गीष्ट्याच्च विविधेन  
हासेन चरतीति वैहासिक इत्युभयनामा । अस्य चरित्रस्य  
समालोचनावसरे वयमेतत् द्रव्याम' यत्, विदूषकसजा अत्र  
सुमङ्गता इति । नाट्यशास्त्रस्य चतुर्विंशाध्याये भगवान् भरत  
विदूषकस्य लक्षणमेवमाह , यथा,—

“वामनी दन्तुर' कुञ्जो द्विजन्मा विकृतानन' ।

खलति' पिङ्गलाक्षश्च स विधेयो विदूषक.”॥१०६॥इति ।

अन्यत्राप्युवाच,—“विदूषकस्य खलति स्यात् काकपटमेव वा” ।  
सृच्छकटिके विदूषकस्य काकपटचिह्नितत्वमेव परिदृश्यते ।

चारुदत्तहितैषिणा मैत्रेयस्य न केवल तस्य विभवेन सह  
सम्बन्ध , अपि तु दारिद्रेणापि ; तथा हि,—चारुदत्तस्य  
सम्पदि विलुप्ताया सर्व्वे एव पृथ्वेपरिजना  
युगपदेव तममुञ्चन्, न तु अकृत्रिममित्त्र  
दरिद्रो मैत्रेय , तेन च चारुदत्त. त “मय  
दु खसुहृत्” इत्युवाच । “भो वयस्म । त ज्जेव अत्यकलवत्तअ  
सुमरिअ अल सतप्पिटेण” मैत्रेयस्यानयैव वाचा चारुदत्ते तस्य  
प्रगाढानुरागः प्रकटित. वभूव ।

मैत्रेयस्य चारु  
दत्तपक्षपात

न च गुणानामाधार' चारुदत्त भ्रमेणापि कदाचित्  
पापात्मक कर्म अकृत , तस्य धनानि तु विपन्नाना दारिद्र्याणाञ्च  
पुरुषाणामुपकृतये एव आमन् , प्रभत-  
दारिद्रेणापि देवतासु सुदृढा भक्तिश्च न  
विलुप्ता , तथाऽपि देवता भक्तिमति तस्मिन्  
नानुकूला अभवन् , एतान्येव विभाव्य मैत्रेयस्य ग्रन निवृत्त  
क्षोभेण दु खेन च पूर्णमभवत्, तेनास्मौ चारुदत्तमत्रवात —  
“जदो एव्व पृइज्जन्ता वि देवदा ण दे पमीदन्ति, ता की ण्णा  
देवेमु अच्चिदेमुं ?” इति । इदञ्च भाषित मैत्रेयस्य देवतासु

चारुदत्तदारिद्र्य  
जनितक्षोभ

न पुनरनुरागाभावं सूचयति, न च मैत्रेय, अनेन भाषितेन चारुदत्त देवाञ्जेनात निवर्त्तयति, एतत्तु चारुदत्तस्य विभवक्षये तन्मन्त्रस्य मैत्रेयस्य निदारुणशोकस्य क्षोभस्य च परिचायक-मिति मन्तव्यम् ।

ब्राह्मणस्य मैत्रेयस्य व्यवहारा कदाचित् स्वनिर्व्वुद्धितायाः प्रतिपादका यद्यपि दृश्यन्ते, तथाऽपि न केवलमस्मान् हास-  
नेमिस्मिता यितुमसौ शालभञ्जिकाकल्प कल्पित, न वा हास्यरसानुकूलकार्यकरणमात्रकुशल जड इति बोधयितुमुपन्यस्त . सोऽपि हृदयवान् पुरुषोचितवृत्ति-युक्तश्च, तेन हि तस्यापि तेजोऽस्ति इत्यवधातव्यम् । तथा हि,— गकारस्तु यदा वसन्तसेनाभ्रमेण रदनिकामयहीत्, तदा हास्य-रमस्य प्रस्रवणस्वरूपोऽपि विदूषक मदर्पमाह,—“चुत्त गेद, मरिम गेद, ज अज्जचारुदत्तन्त दलिददाए मपदं परपुरिसा गेह पविमन्ति” इति । तत “अज्ज मित्तेअ । पेक्ख मे परिहव” इत्यक्त्वा रदनिकया स्वकातरताया प्रकटितायामसौ प्रत्युवाच,— “किं तव परिहवो? आदु अन्हाण” इति । ईदृशो च वाक् कस्यचित् प्रभृतर्तजस्त्रिब्राह्मणस्यैव मुखान्निर्गन्त, प्रभवति, न तु निस्तज्जस्य कस्यचित् दुःखभोपमस्य । ततश्च प्रियमखचारुदत्त-स्यावक्ष्या क्षोभोन्मथितचित्तवृत्तिमैत्रेय उन्मत्तप्राय, उवाच —  
 मा दाव । भो ! मके गेहे कुङ्करो वि दाव चण्ढो भोटि कि उण अए इत्थणे ।

प्रागेवैतदुक्तमस्माभिः यत्, संस्कृतरूपकेषु चित्रितं हि चरित्रं प्रायशः एकास्मिन्नेव विषये विकाशितं भवेत्, तथा

चारुदत्तीयमैत्रेयात्  
मृच्छकटिकमैत्रेयस्य  
वैशिष्ट्यम्

हि,—परिहामप्रियपात्रचरित्रे तु परिहाम  
द्यातकव्यापारादन्यत् किमपि कविभिः न  
हि चित्रितमेव, कौतुकप्रणयितामन्तरं  
अन्या कार्पि हृत्ति तास्मिन्नार्जोवित नोन्नम-

तीव । ननु परिहामप्रणयिणस्तदन्तरेण वृत्त्यन्तरं कदाचि  
दापि नैव स्फुरति, रसान्तरासम्पृक्तं विशुद्धः ह्याम्यरम  
एव तत्पात्रस्य चिरमुपजीव्यभूतः इति चेन्न, प्राणिमात्रे  
एवविधैकवृत्तिमात्रस्फुरणवच्चरित्रस्यानैसर्गिकतया सहृदय-  
सामाजिकरुचिविरुद्धत्वात् । मृच्छकटिके तु प्रायशः सर्व-  
मेव चरित्रं न पुनरित्यमभिलिखितं, मैत्रेयस्य चरित्रं तत्  
प्रकृष्टमेकं निदर्शनम् । भासरचिते चारुदत्ते तु विर-  
न्तनोमविकृता पङ्क्तिमवलम्ब्यैव मैत्रेयचरित्रं चित्रितमिति  
दृश्यते, तत्र हि पूर्वाचार्यपरिशीलिताऽऽचारस्य कियता-  
ऽप्यपरिवर्तिततया अनुसरणात् । किञ्चिदपि वैशिष्ट्यं  
नास्तीति । तथा हि,—तदाया मैत्रेयः विटशकारयोः हस्ते  
खड्गं दृष्ट्वैव कामपि वाचमनभिधाय पद्यादपममार । यद्यपि  
मृच्छकटिकप्रकरणेऽपि विटस्य हस्ते कृपाण आसीत्, तथाऽपि  
कृपाणपाणि तमवलोकयता मैत्रेयेण भोतिविह्वलतामनामाद्य  
स्वस्य प्रियसखचारुदत्तस्य च मर्यादां सर्वथा मर्यादितुमवाग्-  
सरेणाभूयत, तमेवासि विटस्तु मैत्रेयपाददंष्ट्रे मस्थाप  
यामास । न्याय्याविकारमरक्षणोद्यमस्य न्यायमार्गप्रवर्जनस्य  
वा पुरतः पशुजनोचितवलप्रयोगस्य घृण्यचरणस्य वा यथाभव  
एव हि शोभते ।

मैत्रेयस्य चरित्रे ह्याम्यरमसमिथ्यादृष्टं कर्णरमदंष्ट्रं गोऽपि

दृश्यते । प्रागप्यसौ चारुदत्तदौर्भाग्यविलसितेन व्यथितहृदय  
मैत्रेयस्य हृदयवक्ता आसीत्, इदानीं पुनस्तदौयमहेतुकं तिर-  
 स्कारमवलोक्य नितरामिव मर्मण्यभिहत इव  
 सहत् । शकारिणं माकं मलापेन एतत् सख्यया प्रस्फुटित-  
 मभूत् । पाठकानां स्मृतिविवोधनायंमस्माभिः तथाविधा-  
 ऽन्योऽन्यभाषणस्य सम्पूर्णस्यैवाशयस्य उद्भूती प्रलीभनं नियन्तुम-  
 शक्यतया तदविकलम् अधस्तादपन्यस्यते, यथा,—

“शकार’ । अले काकपटशीशमत्यका दुष्टवडुआ । उव-  
 विश, उवविश । विदू । उववेनिदा जेव अन्हे । शकार ।  
 केण ? विदू । कअन्तेण । शकार । उट्टेहि उट्टेहि । विदू ।  
 उट्टिमामो । शकार । कदा । विदू । जदा पुणो वि देव्व  
 अणुजल भविस्सदि । शकार’ । अले । लोद लोद । विदू ।  
 रोदाविदा जेव अन्हे । शकार । केण ? विदू । दुग्गदीए ।  
 शकार । अले । हग हग । विदू । हमिस्सामो । शकार ।  
 कदा ? विदू । पुणो वि ऋहीए अज्जचारुदत्तन्स” ।

एतासु उक्तिप्रत्युक्तिकासु आवर्त्तप्रायासु प्रकाशितं दारुणं  
 क्षोभं नैराश्यञ्चान्तरा पुनरपि चारुदत्तस्य भाग्यसुप्रसन्नमदे-  
 वादेष्यति इति तस्य क्षीणा आशा विकसिता अभूत् ; ऋजु-  
 कस्यास्य ब्राह्मणस्य सा च आशा एकदा सफलतामलभत ।

तृतीयाहस्य पर्यवसाने दृश्यते चाम्भाभि यत्, अनवरतोप-  
 भुज्यमानदारिद्र्यस्य कठोरनिष्पेक्षणेन निर्पीडितस्य चारुदत्तस्य  
 सौभाग्योदयदर्शने तावद्दूरत एवास्ताम्, परन्त्वधुना उपर्युपरि  
 समापतां हि हिंदुानुसारिणाभिरार्कान्निवर्षाद्भिर्नितरामभि-  
 र्भूतमिव तमवलोक्य मैत्रेयस्य ईर्ष्यातिरभवत् । वसन्तमनया  
 न्यासोक्तानां भूषणजालानां चौरैरपहततया अतावत् समुद्दिग्ध-  
 चारुदत्तमभोक्ष्य च मैत्रेय मोहेगमाह — “अहं क्व अह-

लब्धिसं । केण दिस्सं ? केण गहिदं ? को वा सक्किं ति” ? इति ; एव खलु दुर्विधिविलसितेनातिमात्रमहिष्णुरमी दैवेन सह प्रतियुध्य तत्प्रतिशोधमेव ग्रहीतुं बडसुदृढपरिकर इवाभवत् ।

चारुदत्तस्य परमहितैषी किल मैत्रेयः, दरिद्राणां वेश्या-जनैः सह सम्यन्धस्याशुभकरत्वेन तस्य वेश्यासंसर्गं सम्भाव्यैव,

मैत्रेयस्य दूरदर्शिता

“अम्हाणं पटीविआओ अवमाणिटणिङ्गण-  
कामुआ विअ गणिआ णिस्सिणेहाओ टाणि

सवुत्ता” इत्युक्त्वा प्रियवयस्य त कुपथः निवर्त्तयितुमचेष्टत ।

पञ्चमाङ्गे च दृश्यते, मैत्रेयः चारुदत्तमाह,—“ता अहं वम्हणी

भविअ टाणि भवन्तं भौसेण पडिअ विस्सवेमि,—णिवत्तीअद

अप्पा इमाटो बहुपञ्चवाआटो गणिआपसङ्गाटो । गणिआ णाम

पाटुअन्तरप्पविट्ठा विअ लेट्टुआ दुक्खेण उण णिराकरीअदि”

इति । इत्याद्युक्तिजातेन बहुतरानर्थहेतुकात् गणिकामंसर्गात्

पुनः पुनरेवासौ चारुदत्तं विरमितुमुपादिशत् ।

चारुदत्ते मैत्रेयस्य कीदृक् प्रणय आसीत्, तत्तु दश-  
माङ्गे वध्यस्थानं प्रति नीयमानस्य चारुदत्तस्य समीपे रीहमेन-

मैत्रेयस्य  
चारुदत्तानुरक्ति

मादाय गतस्य तस्योक्तितः सम्यगवधार्यते ।

मैत्रेयस्तु चारुदत्तगतप्राण इवार्मात्, दुर्दैवं

विपाकवशात् प्राणदण्डादेगविपन्नं चारुदत्त

मवलोकयता तेन तदा सकातरमभिहितं यत्,—“ण मक्ख

णोमि पिअवअस्सविरहिदो प्पाणाइ धारिदु” इति । वस्तु

तस्तु मैत्रेयः चारुदत्तात् न हि पृथगार्मात्, चारुदत्तस्य सर्व-

नैवासी मुख, तद्दुःखेनैवासी दुःखमन्वभुङ्क्त, इत्येवाम्भिन्नियत-

सम्भाभिरवलोक्यते ।

प्रियमुद्धट प्राणममा पत्नी धृता वज्रिप्रवेगव्यवमायात्

निवर्त्तयितुं यतमाने च मैत्रेये यदा चारुदत्तो मुक्तिं लब्ध्वा तत्र समागतः, तदा तस्य एतादृगेव निर्भरानन्दो-  
 ऽजायत यत्, असौ स्वयमेव तत्र स्वस्य चक्षुषी  
 प्रत्यागत त प्रियं प्रत्याययितुं न शक्नोति स्म ।

चारुदत्तमुक्तिलाभे  
 मैत्रेयस्यानन्द

निर्मलचरित्रस्य चारुदत्तस्य गुरुतरवितथापवादात् निष्कृतिः,  
 प्रेयसा वन्धुना च सह पुनः समागमः, धतायाः पातिव्रत्यनिष्ठा  
 च सममेव तस्य मनसि हर्षं शान्तिं गौरवञ्च अतितरामजन-  
 यन्, तदाऽसौ वाप्यगह्वदाक्षरं हर्षभरेण उच्चैः,—“ही ही  
 भो । एदाह ज्जेव अच्छीहिं पिअवअस्सो पेक्खीअदि, अहो ।  
 सदीए प्पहावो । जदी ज्जलणप्पवेशे व्ववमाणे ज्जेव पिअ-  
 समागम प्पाविटा । जेदु जेदु पिअवअस्सो” इत्युक्त्वा चारुदत्तं  
 जयध्वनिना संवर्द्धयामास । चारुदत्तस्य सौभाग्य पुनरेवोदे-  
 प्यति ऋजुकस्य ब्राह्मणस्य एवविधः प्रत्ययः इयतः कालात्  
 पर फलितः अभूदिति ।

मन्यामहे खलु सस्कृतरूपकेषु एकस्मात् अत्रत्यात् मैत्रेया-  
 दन्यत्र अपरत्र कुत्रापि चरित्रे हास्येन तारल्येन च सह करुण-

मैत्रेयचरित्र  
 कदरभिनवा सृष्टि

रमस्य गाम्भीर्यस्य च प्रवाहः न हि दृश्यते,  
 तेन च मृच्छकटिके चित्रित विदूषकस्य  
 चरितम् एका अभिनवा सृष्टि । तस्य च  
 चरित्रे खाद्यममृतं किमपि वस्तु न खलु वर्त्तते, तस्याज्ञताया  
 परिहासप्रियतायाश्च अन्तराले करुणरममङ्गुला विषादमयो च  
 वाचत् मूर्त्त अन्तरान्तरा दृश्यते, एव खलु तच्चरित्रम्  
 अन्तःसलिलाया फलानुद्या जलमन्तानवत् तारल्यस्य मूर्ख-  
 ताया वातुकस्य विकारमेव सह प्रवाहितमभूदित्यत एवैतदधि-  
 वतरस्त्वभोग्यमिति ।



लब्धिसं । केण दिसं ? केण गहिदं ? को वा सक्खि त्ति” ? इति ; एव खलु दुर्विधिविलसितेनातिमात्रमभहिष्णुरमो दैवेन सह प्रतियुध्य तत्प्रतिशोधमेव ग्रहीतुं वदसुदृढपरिकर इवाभवत् ।

चारुदत्तस्य परमहितैषी किल मैत्रेयः, दरिद्राणां वेश्या-  
जनैः सह सम्बन्धस्याशुभकरत्वेन तस्य वेश्यासंसर्गं सम्भाव्यैव,

मैत्रेयस्य दूरदर्शिता “अस्माकं पटीविआओ अवमाणिटणिहण-  
कामुआ विअ गणिआ गिस्सिणेहाओ दाणिं  
सवुत्ता” इत्युक्त्वा प्रियवयस्य त कुपथः निवर्त्तयितुमचेष्टत ।  
पञ्चमाङ्गे च दृश्यते, मैत्रेयः चारुदत्तमाह,—“ता अहं वम्हणो  
भविअ दाणि भवन्तं भौसेण पडिअ विस्सवेमि,—गिवत्तीअदु  
अप्पा इमादो बहुपच्चवाआदो गणिआपसङ्गादो । गणिआ णाम  
पादुअन्तरप्पविट्ठा विअ लेट्ठुआ दुक्खेण उण गिराकरीअदि”  
इति । इत्याद्युक्तिजातेन बहुतरानर्थहेतुकात् गणिकासंसर्गात्  
पुनः पुनरेवासी चारुदत्तं विरमितुमुपादिशत् ।

चारुदत्ते मैत्रेयस्य कीदृक् प्रणय आसीत्, तत्तु दश-  
माङ्गे बध्यस्थानं प्रति नीयमानस्य चारुदत्तस्य समीपे रोहसेन-

मैत्रेयस्य  
चारुदत्तानुरक्ति

मादाय गतस्य तस्योक्तिः सम्यगवधार्यते ।  
मैत्रेयस्तु चारुदत्तगतप्राण इवासीत्, दुर्दैव-  
विपाकवशात् प्राणदण्डादेशविषमं चारुदत्त-

मवलोकयता तेन तदा सकातरमभिहितं यत्,—“ण सक्कु-  
णोमि पिअवअस्सविरहिदो प्पाणाइं धारेदु” इति । वस्तु-  
तस्तु मैत्रेयः चारुदत्तात् न हि पृथगामीत्, चारुदत्तस्य सुखे-  
नैवासी सुख, तदुःखेनैवासी दुःखमन्वभुङ्क्त, इत्येवाम्निश्चित-  
मस्माभिरवलोक्यते ।

प्रियमुद्धटः प्राणममा पत्नीं धृता यज्ञिप्रवेशय्यवमायात्

निवर्त्तयितुं यतमाने च मैत्रेये यदा चारुदत्तो मुक्तिं लब्ध्वा तत्र समागत, तदा तस्य एतादृशेव निर्भरानन्दो-  
 ऽजायत यत्, असौ स्वयमेव तत्र स्वस्य चक्षुषी  
 प्रत्यागत त प्रियं प्रत्याययितुं न शक्नोति स्म ।

चारुदत्तमुक्तिनाम  
 मैत्रेयस्यानन्द

निमोलचरित्रस्य चारुदत्तस्य गुरुतरवितथापवादात् निष्कृतिः,  
 प्रेयसा बन्धुना च सह पुनः समागमः, धतायाः पातिव्रत्यनिष्ठा  
 च सममेव तस्य मनसि हर्षं शान्तिं गौरवञ्च अतितरामजन-  
 यन्तः तदाऽसौ वाप्यगद्गदाक्षरं हर्षभरेण उच्चैः,—“ही ही  
 भो । एतां हि ज्ञेयं अञ्छीहि पिअवअस्सो पेक्खीअदि, अहो ।  
 सदीए पहावो । जदी जलणप्पवेश ज्ववमाणे ज्ञेयं पिअ-  
 समागम प्याविदा । जेदु जेदु पिअवअस्सो” इत्युक्त्वा चारुदत्तं  
 जयध्वनिना संवर्द्धयामास । चारुदत्तस्य सौभाग्यं पुनरेवोदे-  
 र्थात्, ऋजुकस्य ब्राह्मणस्य एवविधः प्रत्ययः द्रव्यतः कालात्  
 परः फलितः अभूदिति ।

मन्यामहे खलु मस्कररूपकेषु एकस्मात् अवत्यात् मैत्रेया-  
 दन्यत्र अपरत्र कुत्रापि चरित्रे हास्येन तारत्येन च सह करुण-

मैत्रेयचरित्र  
 चरित्रमभिनवा सृष्टि

रमस्य गाम्भार्यस्य च प्रवाहः न हि दृश्यते,  
 तेन च मृच्छकटिके चित्रितं विदूषकस्य  
 चरितम् एका अभिनवा सृष्टिः । तस्य च  
 चरित्रे स्वाद्येयमप्युक्तं किमपि वस्तु न खलु वर्त्तते, तस्याज्ञताया  
 परिहाराप्रयतायाश्च अन्तराले करुणरमनङ्गुला विषादमयो च  
 काचित् सृष्टिः अन्तरान्तरा दृश्यते : एव खलु तच्चरित्रम्  
 अन्तःसलिलाया फलानुया जलमन्तानवत् तारत्यस्य मृग-  
 तादा कात्कस्य अवकाशेन सह प्रवाहितमभूदित्यत एवैतदधि-  
 कतरमुपभोग्यमिति ।

## शकारः ।

राजश्यालकसंस्थानकस्य आचरणादिषु सम्यगनुशीलितेषु एवमेवानुभूयते यत्, असी न खलु अभिजातवशममुत्पन्न इति ।

शकारस्य नीच-  
कुलोद्भवत्वे प्रमाणम्

विटस्तु तमनिन “काणेलीमात ” इति कृत्वा आजुहाव । विदूषकोऽपि त “काणेलीसुत ।” “कुटनापुत्र ।” इत्यादिक विना अन्यया

कयाऽपि वाचा नामस्वध्यत । सत्यमेव यदि सस्थानक राज-  
पत्न्या एव सद्योदरोऽभूत्, तदा विट विदूषकश्च तमित्यमभि-  
धातुं न ह्यशक्यताम्, अपि च, यो हि यादृशं मूर्खो भवतु  
नाम, तथाविधोक्ते किञ्चिद्बीजमन्तरा कोऽपि कटाऽपि तादृश  
भावज्ञमस्वोधनं विसोढुं नाशकत् । विशेषतश्च प्रभावशालिना  
तदङ्गीकरणं सर्व्वथैवासम्भवितमिति मन्यामहे । शकारस्तु  
महशमभूतश्चेत्, तादृशं सस्वोधनमविकृतेनैव चेतसा कथमपि  
नियतं नासहिष्ट ।

साहित्यदपणे तृतीये परिच्छेदे शकारलक्षणमेवमुज्जिखित-  
मस्ति, यथा,—“मदमूर्खताभिमानी दुष्कलतैश्वर्य्यसयुक्त ।

शकारलक्षणम्

मोऽयमनूढाभ्राता राज्ञ श्याल शकार  
इत्युक्तः ॥” इति । भगवान् भरताऽप्युवाच,

यथा,—“उज्ज्वलवस्त्राभरणः कुप्यत्यनिमित्तत प्रमीदति च ।  
अधमो सागधभाषी भवति शकारो बहुविकार ॥” इति ।

एताभ्या लक्षणाभ्या सह शकारस्य चरितं सर्व्वथैव सुम-  
हच्छते । अहितायमूर्खराष्ट्रियसंस्थानकस्य विकाराणाम् इय-  
त्तेव तावत् नास्ति, तन्मीर्य्यविजृम्भणस्य उदाहरणमपि न  
कुत्रापि दुल्लेभम् ; तद् यथा,—

“शे वा वञ्चिदभादुर्के मम पिटा माटेव सा टोप्पदी ।

जे शे पेक्खदि ऐदिश ववगिद पुत्ताह गृलत्तण” ॥

यः खलु एव कथयितुमौष्ट, स पुनः कियान् मूर्ख, तत्तु  
वाचा विन्यसनमनावश्यकमेव । तस्य परस्परसम्बन्धाः वाचाऽपि  
अतौव विस्मयोत्पादिकाः, पौराणिकतिष्ठत्तसर्वालिता का. आ.य  
कथाः तेन न हि ज्ञाता, तथाऽप्यसौ स्वीयमसामान्य वैदग्ध्यं  
प्रकटयितुं तदुपवर्णेनाया सदव तत्पर आसीत्, तत एव  
हास्यरसभूयिष्ठानामेतेषा श्लोकाना समुत्पत्तिः ।

नौचवशसम्भूतस्य सपदि राजसम्पदमवाप्तवतश्च तस्य तूर्णं  
तुष्टे. भ्रश. चित्तस्य विकारश्च समजनि, अय लघु गुरुर्वा ईदृशं  
ज्ञानमपि त्वरितमेव तस्य विलुप्तमभूत् ।  
कविस्तु नवमाङ्ग अधिकरणमण्डपदृश्ये  
सम्यक्तया तत् प्राकटयत् । असौ भौकः,  
धनमटेनान्धीभूतश्च, परलोकमपि न गणयति, इति तु अष्टमाङ्गे  
स्थावरकेण सह मलापावसरे स्फुटमेव विज्ञायते । अकस्मात्  
दारिद्र्यात् नौचजनममर्गाच्च समुन्नतमधिकारं विपुलविभवश्चा-  
धिगतवति दालिशे जने यदेवावश्य भाव्य, तत् सर्वमेव शकारे  
सहत्तमिति । तेन हि तस्य मुखतश्चेतत् श्रूयतेऽस्माभिः,—“के  
विश्व तश्च गुणा. ? जश्च गेह पविशिश्व अशिदन्व पि णत्थि” ।  
इति । भगवान् भरतस्तु यदशिपत्,—“कुप्यत्यनिमित्तत प्रमी-  
दति च’ , एतस्य प्रकृष्टमेकमुदाहरणमस्माभिः शकारचरित्रे  
परिलक्ष्यते, तत्तु सम्यगनुपवर्णयितुमस्माक कौतूहल न निव-  
त्तत, अत तदेवाधस्तात् विन्यस्यते, तथा हि,—“शकार ।  
भाव । तुम पि मे गुलु पलमगुलु । पेक्खोअशि शादत्तके अब्भ-  
त्तवल्लत्त पुल्लल्लणाएत्त तुम दाव पवहण अग्गदो अहि-  
त्तह । विट । एव भवतु । ( इत्याराहति । ) शकार । अधवा  
एतत् तुम तुह वप्पवेल्लव पवहणे, लेण तुम अग्गदो अहि-  
त्तह । एतत् पवहणमासा, अग्गदो पवहण अहिलुहामि ।

विटः । भवानेवं ब्रवीति । शकारः । जइ वि हगो एव्व भणामि,  
तथा वि तुह एगे आदले अहिलुह भइकेत्ति भणिदु” । मइप-  
तस्तु प्रचलितप्रवचनानुसारेण लोके यः खलु “कापटिकपण्डः”  
इत्युच्यते, राष्ट्रियशठोऽपि नूनं तथाभूतः एवासीत् किलेति ।

स यदाऽपश्यत् यत्, अथेलोभभातिप्रदर्शनादिभिरपि  
वसन्तसेना न तस्य वशतामाप्ता, तदा यथाशक्ति तस्या वैर-  
माचरत्, किं बहुना, पश्चात् ता हन्तुमपि  
प्रवृत्तोऽभवत् ; तत्राऽप्यपरितुष्यन्नसौ तल्लंघ्यासं  
चारुदत्तमपि निर्यातयितुमैपीच्च । धार्मिकस्य  
तस्योत्पीडने प्रायशः सफलता लब्धाऽपि “यतो धर्मस्ततो जयः”  
इति पूर्वाचार्याक्तस्याभ्यभिचारितया सूक्ष्मगतेर्धर्मस्य च प्रभा-  
वादनन्तरमकृतकार्य एवाभूत् ।

शकारस्य अस्या  
परवशता

शूद्रकस्तु कविः शकारचरितं सविशेषं विकीर्णयितुं, तस्य  
मूर्खशठत्वे सुस्फुटं विवरोतुञ्च शोभनाशोभनत्वेन एकस्मिन्नेव स्थाने  
समकालमेव द्विविधं चरित्रं प्रदर्शितवान् ; यथा,—एकतः धूर्त-  
शकारः, अपरतस्तु सुशोला विटस्यावरकाविति ; तेन हि शकार-  
चरित्रमतोऽव विशदभावेन विकीर्णितम् । ईदृशं हि क्रूरचरितं  
प्रायशः सस्कृतरूपकेषु कुत्रापि न च दृश्यते, तथा शकाराख्य  
पात्रमपि परवर्तिरूपकान्तरेषु अस्माभिः न खलु परिलक्ष्यते ।

शकारः किल जिह्वा वैधेयः निर्विवेकश्चासीत्, तथात्वेऽपि  
शाख्येषु कापट्येषु च न हि तस्य बुद्धिः क्षीणा विकल्पा वा ।

शकारस्य चेष्टा  
वैफल्यम्

असौ हि दरिद्रचारुदत्तं वसन्तसेनाहत्याऽप-  
रार्धनाभियुज्य, स्थावरकर्मापि स्वमन्दिर-  
बालाग्रपतोलिकायाः पाशनियमितं कृत्वा  
समस्याय च स्वस्यापूर्वं कौटिल्यं बुद्धेः चातुर्यञ्च प्रख्यापयामास ।  
यदा खलु स्थावरकं बन्धनादात्मानं विमुच्य यथायथमुप्राग्यान

समोदितवान्, तदाऽप्यसौ किञ्चिदपि सङ्गुचितो नाभूत्, प्रत्यत  
कापटिकाऽऽचार्योऽसौ चौर्यापराधेन त पुनरभियुज्य, तस्य  
वचमि सर्व्वेषामेवाविश्वासमुत्पाद्य च, स्वकीय वच सप्रमाण-  
मेवाकरोत्, परन्तु कियत्कालानन्तर जीवन्त्या वमन्तसेनाया  
तत्र समागताया सत्या तस्य सर्वा एव बुद्धिर्व्यलुम्पत्, न च  
किमपि कापट्यविलसित फलदायकमभूदिति । एवञ्च तस्य  
प्रतारणाप्रकाशात् सन्निहिताऽपि विपत् केवलं दीनदयान्तोः  
चारुदत्त यातुननोयेनाश्रितवासत्येन तदानी दूरमपामरत्,  
तस्य पृष्ठाधिकृत पदमपि सर्व्वथाऽक्षुण्णमेवासौत्; परन्तु काप-  
टिक शकारः अपापेषु निर्दोषेषु च जनेषु यद्वैरमकार्षीत्, तदु-  
त्पीडनञ्च व्यधित, तदनुरूप तस्य दण्डस्तु कविना न हि उप-  
वर्णित, स च सर्वात्मनैव विमुक्तोऽभूत्, इति तु नाशङ्कितव्यम्;  
तस्य दण्ड सम्भूत एवेति, यत धार्मिकेषु भृयस्तया अथवा  
निपीडितेषु धर्मप्रभावात् किलानौ समाधकमेव गौरवभाजन  
भवति, अधर्ममसरे पराभूतः सन्नपि धार्मिकमणि जयति,  
दृष्टतस्य तदेवारुन्तुदमिति ।

## विटः ।

भगवान् वात्स्यायन किल साधारणाधिकरणस्य त्रतुर्था-  
ध्यायं षोडशसूत्रे उवाच यथा — भुक्तविभवस्तु गुणवान्  
सकललो वेशि गाढ्याश्च बहुमतस्तदुपजीवी  
च विटः' इति, इतिमन्यामन्विच्छन् वेद्या-  
जन नागरकजन चापजीवति । तदुपजावि-  
तया तयो मन्तेन विटिति कथयतेति विट, विट शब्दे इति  
आत्मादात् इति शैब्ये दर्शयन्नुपादा ।

२०. ४५८

२०. ४५९

मृच्छकटिकप्रकरणायविटस्तु विदग्धः सहृदयश्च । स्त्रीप-  
जीवितयाऽसौ संस्थानकमदृशेन दुर्जनेन सह मिलित्वाऽपि

विटस्य दमन-

निरपेक्षता

गणगादिना च

परिशेषे यदा अजानात्, संस्थानकस्तु न केव-  
लम् अतीवामज्जनं, परन्त्वसौ नितराम-  
विदग्धः मूर्खतमश्चेति, तदाऽसावितदनुदध्यौ  
यत्, शकारः संस्थानकः वसन्तसेनाया इव

विदग्धायाः गुणवत्याश्च रमण्या अतितरामननुरूप एव इति ।

ततः प्रभृद्येवासौ यथाऽवसरं वसन्तसेनायां यथाशक्ति यथासम्भ-  
वञ्चानुकूल्यमकार्षीत् । तथा हि प्रथमाङ्के, असाविव वसन्त-  
सेनायै चारुदत्तभवनगमनाय समझेतमुपदेशं प्रदाय, व्यालाटिव  
दुष्टेतात् शकारात् तामगोपायीत्, चारुदत्तेन सह तस्यां  
समागमोपायमपि यथासम्भवं सुगममकार्षीत् ।

अथ यदा वसन्तसेना प्रेयासं, चारुदत्त रमयिनुमभिप्रसार,  
तदाऽपि वयं विटं वसन्तसेनाऽनुगम्यमानं पश्याम । विटस्तु  
वसन्तसेनायां चारुदत्तस्य च गुणेन नितरामेव विमुग्धचित्त-  
वृत्तिरामीत् ; प्रथमाङ्के तस्यैव मुखात् अस्माभिरार्थ्यचारुदत्तस्य  
गुणावली समाकर्णिता ।

विदूषकेणापि सह तस्य व्यवहारः अतीव हृदयाकपेकः ,

न्यायानुरागिता

आत्मनः भ्रमं विज्ञाय विदूषकस्य समीपे  
स्वकृतापराधस्य मार्जनाप्रार्थना च विटस्या-

शेषाणां गुणानां नूनमेव परिचयं प्रमाणयति ।

मत्तं खल्वमुनैवमुक्तं, यत्,—

“आलानि गृह्यते हस्ती वाजी वल्गासु गृह्यते ।

हृदये गृह्यते नागी यदिदं नास्ति गम्यताम्” ॥ इति ।

किन्तु अष्टमाङ्के यदसौ वसन्तसेना वारजनोचितशीलवत्त्वे  
नान्यथाऽवगम्य तद्वृत्तेषु ईषत् मशयितोऽभवत्, तत्तु गणिका

चरित्राभिज्ञत्वेन न तस्य दीपाधायकम् । तादृशार्थलोभ-  
रहितगणिकाया अत्यन्तविरलविषयत्वात् स  
पुनरेवममन्यत यत्, एषा वसन्तसेना नून-  
मर्थलोभेन शकारं रमयितुमुपागता, सृष्टैव  
प्रवहणविपर्ययासोक्तिरिति । एव विश्वासपर-  
तन्त्रं सः दुर्वृत्त शकार किमपि वसन्त-  
सेनाया अशिवमुत्पादयितुं शक्नुयादिति प्रथमं मनस्यवधा-  
र्यापि, तत्स्थानमपह्नाय दूरमपमसार । न चेदेवं, तदा वसन्त-  
सेनाया हत्याऽपराधमवलम्ब्य प्रबलतरा तावती विपत् न  
तदानोमुत्पत्तुमपारयत् ।

विटस्य क्षणिक  
भान्या चारुदत्त  
वसन्तसेनयो  
विपत्ति

सृच्छकटिके विवृत विट इव सर्व्वगुणविभूषितः पुमान्  
नागरिकप्रधानस्य दयावत दानशौण्डस्य आर्य्यचारुदत्तस्य,  
तथा विदुष्या उदारचेतस एकानुरक्तायाश्च  
गणिकाया वसन्तसेनाया इव नायकयोरेव  
नित्यसहचरो भवितु समुपयुक्त । यद्यपि  
एषैव तदीया वृत्तिः, तथाऽपि कथमसौ मस्थानकस्येव नियत-  
कुक्कर्माभिरतस्य पम सहचरो भूत्वा एतावन्तमेव कालं  
क्षपितवान्, तत्तु सव्ययैवाश्चर्य्यमेवोत प्रतिभाति ।

विटस्य अपाते  
शिवता

## स्थावरकः ।

चेष्ट स्थावरकश्च शकारभाग्योपजीवी तदङ्गमेवक गर्भ-  
दास आनीत् । मस्थानकस्थावरकयोश्चरित्रे  
विपरीतवृत्त्य पर्यालोचने 'यदस्य दास्य  
तव चेश्वरत्वम् इत्याद्युक्ता विष्टो यदनुशु-  
शीलः, तत्तु विदुष्यन्तस्यैव' इति मनसि कथमपि न

२२३  
१२८



समुदेति । स च स्वचेतसः समुद्रतत्त्वमत्युदारत्वञ्च सर्वत्रैव  
मप्रमाणमकार्षीत् । अधस्तनविन्यस्तेन वाक्यमसूहेन प्रभुता-  
मुपागतस्य शकारस्य तदनुजीवितामधिगतस्य चेटस्य च  
चरितगतं प्रभूततमं प्रभेदः सम्यक् अनुमातुं शक्यते एवेति ,  
यथा,—

“शकारः । एणं वशन्तशेणिअ मालेहि । चेट । पशी-  
ददु भट्टके । इअं मए अणज्जेण अज्जा एवहणपनिवत्तणेण  
आणीदा । शकारः । अले चेडा । तवावि ण पव्वामि ?  
चेट । पव्वदि भट्टके शल्लोलाह, ण चालित्ताह । ता पशी  
ददु पशीददु भट्टके, भाआमि क्वु अह । शकारः । तुमं  
मम चेडे भविअ कण्ण भाआमि ? चेटः । भट्टके ! पल्लोअण्ण ।  
शकारः । के शे पल्लोए ? चेटः । भट्टके । शुकिददुक्किदण्ण पणि  
णामे । शकारः । केलिगे शुकिदण्ण पणिणामे ? चेट । जाटिगे  
भट्टके वहुसोवण्णमण्डिदे । शकारः । दुक्किदण्ण केलिगे ?  
चेटः । जाटिगे ज्जगे पणपिण्डभक्कवे भूदे । ता अकज्जं ण  
कल्लदण्ण । शकारः । अले ण मालिण्णमि ? ( इति बहुविध  
ताडयति ) । चेट । पिट्टदु भट्टके, मालेदु भट्टके, अकज्ज ण  
कल्लदण्णं । जेण सिंह गवभटागे विणिम्मिदे भाअहेअदांशेहि ।  
अहिअं च ण कीणिण्णं तेण अकज्ज पणिहल्लामि” ॥ इत्यादि ।

अनेन उपरितनप्रदर्शितपरस्परोक्तिप्रत्युक्तिमहाक्यमसूहेन  
स्थावरकस्य धर्मभोक्ताया परिचयः कियानधिगम्यतेऽस्माभिः ।

चेटस्य तेजस्विता

यो हि स्वप्रभुमप्येवमावेदयितुं शक्नोति यत्-  
त्वं मे शरीरस्य प्रभुः, न तु मानसस्येति, स  
गुणः कियान् तेजस्वी, इति तु उक्तिमन्तरेणाप्यनुमातुं शक्यत  
एव । शकारस्य भादृत्वमदान्याभूतत्वञ्च स्थावरकेण महास्मिन्  
संलापावसरे सम्यक् व्यक्ताभूतमेवाभूत् ।

यो हि स्वजीवनविनाशभयमपि अनायासेन सन्त्यज्य निर-  
पराधं पुमासं रक्षितुं दोषात् विमोचयितुञ्च नितरामेव प्रयतते,

तस्य च तथाविधं मनः कियत् समुन्नतं मही-  
दारञ्च, तदपवर्णनमन्तरेणापि मतामनुभव-  
मिदमेवेत्यत्राणीयानपि मंशयो नास्ति । चेत्

वसन्तसेनाया हत्यामवलितवृत्तं सर्वजनसमक्षं प्रकाशता-  
मियात्, नूनं तदा स्वाभीप्सितं नैव मिध्यति, एतद्विद्या शकार'  
यदा स्यावरकं प्राप्तादवालाग्रप्रतोलिकाया पाशनियमितं हत्वा  
अप्यापयत् तदा "चारुदत्ते, वसन्तसेनाहत्याऽपराधेन वध्यभूमि  
चाण्डालाभ्या नीयते" इति घोषणामाकर्ण्यमौ स्यावरक', कथं  
पुनः चारुदत्तं संरक्ष्यते, अनया चिन्तया नितरां समाकुलो-  
ऽभूत्,—“ता किं कलेमि ? अत्ताणञ्च पाडेमि ? ( विचिन्त्य )  
जइ एव्व यलेमि, तदा अज्जचालुदत्ते ण वावाटीअटि । वल  
त्तणे उव्वत्ते ण उण एअे बुलपुत्तविहगगं वागपाटवे अज्ज-  
चालुदत्ते । एव्व जइ विवज्जामि, लडे मए पल्लोए” एताव-  
दत्तैरामौ गपाक्षदेशात् सहसा वह्निरधोभृश्या निपतितः,  
दैवानुकूपात् विमुक्तशूलस्य मञ्जातः । ततश्च त्वरितपट  
घोषणास्यन् प्रविशता तेन यद्यायय सर्वं प्रकाश्यापि यदा  
विमपि फलं नैव लेभे तदा न सकरुणं चारुदत्तमवदत्,—  
'अज्ज चालुदत्त' एत्तिके मे विहवे' । अटमाइएपि स्यावरक  
प्रकारस्य अपराधपूर्णत्वात् वसन्तसेना विमोचयितुमशक्त इत्यमेव  
उच्यते । तस्य तु वचास्यपि न हि भवन्ति नीचजनो-  
पेक्षानि न तु वारमौ सर्वेषामेव मानवता दद्यादयं सदान  
नरस्य विनाशना वाचः समीक्षितुमपि शक्यः ।

यो हि स्वजीवनविनाशभयमपि अनायासेन सन्त्यज्य निर-  
पराधं पुमासं रक्षितुं दोषात् विमोचयितुञ्च नितरामेव प्रयतते,

वर्णयितुं कथमपि न शक्यते। यदि च नीचान्वयादेव स्यावरक  
उदपादि, तथाऽपि तस्य समुन्नतं हृदयं मनोवृत्तिः सदाचरणञ्च  
उदारवंश्यैरपि पुम्भिः सततमनुकरणीयमेवेति ।

### शर्विलकः ।

मृच्छकटिकप्रकरणे राज्यविप्लवध्यापारेण सममेव शर्विल  
कस्य विशिष्टसम्बन्धः संलक्ष्यते । भृशुरसुतोऽप्यमौ गणिकायाम  
नुरक्तो गर्हितकर्माणि कर्तुं समारभत एव, मत्प्येव कविना  
ऽसौ नैव सर्वथा नृशंसचरित्रतया चित्रितः । जुगुप्सितकर्म  
निरतोऽपि स, अन्तराऽन्तरा स्वानुष्ठितपापकर्मणा कृते नित-  
रामिवानुशुशोच । तच्चरित्रपर्यालोचनाऽवसरे एतदपि समीच्यते  
यत्, स्वानुष्ठितं कर्म प्रशस्त निन्दित वा इति तु स सर्वथैव  
अजानात् ; उत्तमाधमयो, को नाम विशेषः, इति च ज्ञात्वाऽपि  
स्त्रीयस्वभाववशेन स्वदैन्यावस्थया च कुकर्मण, प्रत्यावर्त्तित  
नाशकदिति । तस्य तात्कालिक वचनजातमतीव क्लेशहेतु  
हृदयद्रावि च भवति, यदा स परमपवित्र यज्ञसूत्र मन्थिकार्य  
सम्पत्तये प्रमाणसूत्ररूपत्वेन विगण्य, तेन मन्थिस्थल परिमातु-  
मैच्छत् । एतेनानुमीयते, कविरस्य स्यावरकस्य च चरित्रे एत  
देव प्रदर्शयितुं सततमचेष्टत यत्,—

“किं कुलेनोपदिष्टेन शीलमेवात्र कारणम् ।

भवन्ति नितरा स्फीता मुनेत्रे कण्टाकद्रुमा ।” इति ।

सृच्छकटिकप्रकरणस्यास्य नायकादिविशेषचरितानि  
 प्रत्येक विस्मिष्य समालोचनानि । साम्प्रतमन्ते सकलान्तेवामि-  
 नामन्तरत्यन्तमन्तोषमस्यादनाय सङ्क्षेपतः  
 उपसर्गः कात्स्न्येन किञ्चिदुच्यते । प्रष्टव्यमेतद् यत्,  
 इह जगति किमुपकृतं काव्येन ? न हि कर्त्तव्याकर्त्तव्य-  
 विषयप्रवृत्तिनिवृत्त्यपदेशमात्रात्सनापिनी श्रुतिरिव कण्ठ-  
 विस्फुटमुपदिश्य प्रवर्त्तयति सन्मार्गं, निवर्त्तयति वाऽमन्मार्गात्  
 कुपथगामिनो जनान् काव्यम् ; केवलमवगुण्ठितशरीरा  
 प्रियवदेव कुनकान्ता नवनवरमसञ्चारभासुरकोमलानाप  
 मालप्य व्याजेन सन्मार्गमानयति विद्यावयति च दुर्मार्गात् ।  
 अत एवोक्तं सम्यग्भट्टपादैः,—“कान्तामस्मिततयोपदेशयुजे”  
 इति । एतदेव काव्यस्योपयोगितायाः परिनिष्ठान, एतदेव  
 हि काव्यस्य नीरसेभ्यः श्रुतिवाक्यादिभ्यः परमोत्कर्षः,  
 तच्च समयमस्मिन् प्रकरणे विस्फुटं जागर्त्तम् । तथा हि,  
 —प्रसादगुणगरिमा विविधभाषासमावेशः, अनभिजाताया  
 अपि वसन्तसेनाया प्रियप्रेम्नि, मपत्नीसमाया धृतायास्तनय-  
 मनु स्नेहप्रकाशे, पण्यजोविकाया अपि तस्या धनिकोपरि  
 वातरागभावमन्दशने च दिव्यभावमस्थापनं, नियतदैव्य  
 दावानलदग्धचेतसश्चारुदत्तस्य वदान्यत्वे, आश्रितानुरागे, मित  
 प्रणवे, क्षमाभूमति, नायिकाप्रेमणि चालौकिकत्वमुभरत्तनं,  
 कस्य वा महदयस्य चेतसि रूपकान्तरेभ्य वैशिष्ट्यबुद्धि नोप  
 जनयति • न वाऽस्य प्रकरणकवेरमरत्वधियम् ? अपि च पुण्य  
 प्रश्न शमपारणात् पापपाङ्किलस्य पद्यात्तापमन्दर्शनेन कथ-  
 रितचित्तपारणहिमावलय्य पदशित कविना पुण्यपापयोर्वैषम्य,  
 प्रकृति पण्यपुण्ययोः प्रवृत्तिनिवृत्त्यपदेशपर मन्त्रजनीन  
 रसाद सञ्चल्य रूपकान्तरदुर्लभतदानीन्तनसामाजिक

चितम् । अतो मन्ये, विचित्रचरित्राङ्गनपाटवेन, प्रामद्विकृत-  
रचनानैपुण्येन, विविधभाषामन्निवेशेन, सदुपदेशपरिशौल्-  
नेन, प्रसादगुणवाहुल्येन च किमुत प्रकरणेषु, अपि तु सर्वेष्वेव  
रूपकेषु अन्यतमश्रेष्ठत्वमामादयितुमलमिदं सृच्छकटिकं नाम  
प्रकरणम् ।

अपरञ्चेद वक्तव्यम्,—आशंसे खलु, चेदयं प्रबन्धः अन्ते-  
वासिना नाद्याशावबोधे किञ्चिदुपकर्तुमलं, तदाऽस्माकं परि-  
श्रमः सफलो भविष्यतीत्यलं पक्षवितेन ।

श्रीमज्जीवानन्दविद्यासागरपौत्रः

एम् ए इत्युपाधिक

श्रीपञ्चाननशर्मा ।

---



|        |            |     |                |
|--------|------------|-----|----------------|
| नवमाहे | शोधनक      | ,   |                |
|        | अधिकरणिक,  | ... |                |
|        | अष्टी      | ..  |                |
|        | कायस्थ,    | ... |                |
|        | रत्नपूषा   | ..  |                |
| दशमाहे | .. आर्द्रा | }   | चान्द्रावदयः । |
|        | गोद        |     |                |
|        | नागरिका    | ... |                |

### स्तियः ।

|                |     |           |     |                           |
|----------------|-----|-----------|-----|---------------------------|
| प्रस्तावनायाम् | ..  | नटी       | ... | सूयधारपवी ।               |
| प्रथमाहे       | ..  | रदनिका    | ... | चारुदत्तस्य दासी ।        |
|                |     | वसन्तसेना | ... | चारुदत्तानुरागिणी गणिका । |
| द्वितीयाहे     | ..  | चेटी      | ..  | वसन्तसेनाया दासी ।        |
|                |     | मदनिका    | ..  | वसन्तसेनाया, अपरा दासी ।  |
| तृतीयाहे       | ... | धूता      | ... | चारुदत्तस्य पवी ।         |
| पञ्चमाहे       | ... | कुवधारिणी |     |                           |
| षष्ठाहे        | ... | चेटी      | ,   | चारुदत्तस्य अपरा दासी ।   |
| नवमाहे         | ... | वृद्धा    | ..  | वसन्तसेनाया माता ।        |

नायकचारुदत्ता धीरप्रशाल । अनुरक्ता वेश्या वसन्तसेना, कुलजा स्वकीया  
 मध्या धूता च नायिके आलम्बनविभावौ । प्राष्टुसमयादयादय सहापनविभावौ ।  
 अन्योऽन्यान्नापाविक्रियादयाऽनुभावौ । निवेदादौ व्यभिचारिण । रति स्थायी ।  
 सभाग्यज्ञाररसाऽज्ञा । करुणदायादयाऽङ्गरसा । विटचटविदूषकाया सहाया  
 शीति लाटी । प्रसादास्ते दुष्ट । प्रस्तावना कथोद्घातपदा ।

# मृच्छकटिकम् ।

प्रथमोऽङ्कः ।

नान्दी । (क)

पर्यङ्कग्रन्थिवन्धद्विगुणितभुजगाश्लेषसंवीतजानो-  
रन्त प्राणावरोधव्युपरतसकलज्ञानरुद्धेन्द्रियस्य ।  
आत्मन्यात्मानमेव व्यपगतकरणं पश्यतस्तत्त्वदृष्ट्या  
शम्भोर्वः पातु शून्येक्षणघटितलयव्रह्मलग्नः समाधिः ॥ १ ॥

टीकाकृष्णमङ्गलाचरणम् ।—

कार कार विभुवनपति शैलराजात्मजेश  
ध्याय ध्याय गुरुपदभुग ज्ञानदृष्टिप्रद तत् ।  
दुर्नेयांशप्रकटनपरां शृङ्गीते सुवीधां  
निष्मातीमा विवृतिमसन्धानेय साराशपूर्णम् ॥

( ष ) नन्दयतीति नान्दी, शम्भुशम्भेन लोकानामानन्दजननात् नान्दीति  
शब्दा, तत्तत्तम्,—“आशीर्षचनसयुक्ता स्तुति ( नित्य ) यस्मात् प्रदुज्यते । देवद्विज-  
रूपादाना तन्माह्वान्तीति सन्निता ॥’ इति । सा चात्र अष्टपदा “पदैर्युक्ता द्वादशभि-  
रुपाभिः पदैरुक्त’ इति वचनात् । अष्टपदत्वादिकन्तु सुविविध लिखितमस्याभि  
॥ मिश्रामश्रवणालम् ॥ भिनवटीकादान् ।



अपिच,—

पातु वो नीलकण्ठस्य कण्ठः श्यामास्त्रुदीपमः ।

गौरीभुजलता यत्र विद्युत्तेखिव राजते ॥ २ ॥

इत्यर्थः, यो भुजगः,—सर्पः, तस्य आग्नेयेण—वृष्टेन, रुचीते—सयते, जानुनी यस्य तथीकृतस्य, अन्तः,—अभ्यन्तरे, प्राणानां—शरीरस्यवायूनाम्, अवरोधेन—निरोधेन, व्युपरत—विशेषेण निवृत्तः, सकल ज्ञान—बाह्यवस्तुवबोध यस्य स, अत एव रुद्धानि—विषयेभ्यः सयतानि, इन्द्रियाणि येन स, अन्तर्निष्ठहीतेन्द्रिय इत्यर्थः, समाधिसमये इन्द्रियनियन्त्रस्यावश्यकत्वात्, यदुक्तं योगसारे,—“करणान्यवहित्कृत्य स्थाणुवन्निशलात्मकः । आत्मानं हृदये ध्यायेन्नामागम्यमलोचन ॥” इति, ततश्च अन्तःप्राणावरोधव्युपरतसकलज्ञानयामौ रुद्धेन्द्रिययेति तादृशस्य, [ विशेषणयोरकस्य विशेष्यत्वकल्पनया नीललोहितदिवत् समासः ] कुम्भकेन इन्द्रियनियन्त्रेण च बाह्यज्ञान-रहितस्थित्यर्थः, तत्त्वदृष्ट्या—सम्यग्दर्शनेन, ब्रह्मदर्शनेन वा, ( “तत्त्व ब्रह्मणि याथार्थ्यं” इत्यमरः ) आत्मनि—स्वस्मिन्, व्यपगतकरण—निरिन्द्रियं, देहसम्बन्धाभावादिति भावः, करणं चक्षुरादीन्नेकादशेन्द्रियाणि बुद्धिरहङ्कारयेति त्रयोदशविधम्, “करणं त्रयोदशविधम्” इति साङ्ख्योक्तेः, यद्वा,—क्रियाविशेषणमेतत्, तथात्वे करणं—हेतुः, व्यपगतं करणं यत् तत् व्यपगतकरणम्—अहेतुकं यथा स्यात् तथा इत्यर्थः, यदुसल्ल-विग्रहस्य योगज्ञानमयस्य योगगम्यस्य योगिभिश्चिन्त्यमानस्य हि भगवतः शम्भो योगकरणे कारणानावश्यकत्वात् इति भावः, आत्मानं—परमात्मानमेव, न तु अन्यत् किमपि, पश्यतः,—सान्नात्युत्तं, स्वमिदमेव परमात्मनोऽभावादित्याशयः, शम्भो,—हरस्य, शम्भेन—संस्मरन्मुखत्वात् सृष्टिविमुखेन इति यावत्, ईक्षणेन—दृष्ट्या, घटितः,—कृतः, यो लयः,—प्रलय तस्मिन्, प्रलयसमये इत्यर्थः, ब्रह्मणि—परमात्मनि, लयः,—निहितः, समाधिः,—समाधानं, चित्तं कायमित्यर्थः, एकाग्रतया ब्रह्मचिन्तनमिति यावत्, ( कर्तुं ) व,—युष्मान्, रज्जस्थानिति भावः, पातु—रक्षतु । सन्धरा इति,—“सन्धर्यानां वधेण विमुनियतियुता सन्धरा कौर्त्तितयम्” इति लक्षणात् । अथ तन्म-शोकस्य नान्दीत्वात् सङ्गलायम् आर्दी मगणं सन्निवेशितं, तथा च भासते,—“निस मन्त्रगुरुदंष्ट्रे मगणी भूमिदैवत” इति । अस्य प्रमाणसङ्ग्राहः ३०३०११ तन्मो ॥ १ ॥

पुनरप्यस्यैव भवानोपते स्वरूपवर्णनात्मकं सङ्गलमाचरन्नाह, पारिवर्तिता—श्यामा स्त्रुदापमः,—नवजलधरश्च, नीलवर्ण इत्यर्थः, नीलकण्ठः—हरः, कण्ठः,—गलदेशः, व,—युष्मान्, पातु—रक्षतु । अत्र—वस्त्रेण कण्ठः, गौरीभुजलता—

नान्यत्ने (ख) सूत्रधार (ग) ।

इतः अलसनेन परिप्लुततूहलविमर्दकारिणा परि-  
श्रमेण (घ) । एवमहमार्थमिच्छान् प्रणिपत्य विज्ञापयामि,

गौर्या, — प्रान्त्या भुन एव लता — भुजवल्लीत्यर्थः, वेष्टनसाधन्यात् भुजे लतात्वा-  
नेप, विद्युन्नेखा इव — सौदामनीरिखावत्, विराजते — विजिषेण राजते, शोभते  
इत्यर्थः । [ अत्र गौरीभुजयोरभेदेन लतात्वान्वयसामानादूपकं, तथा विद्युन्नेखेत्यादावुपमा  
चेति रूपकानुपारितोपमाऽलङ्कारः ] । पद्यावक्तुं वक्षन्, — “शुजीयतु यतो जिन  
पद्यावक्तुं प्रकीर्तितम् इति लक्षणम् ।

अस्मिन्नेव त्रिकषये काव्याप्रसूचकं कश्चिदर्थो लक्षणीयः “त्रिकैः काव्याद्यं-  
मसर्वं इत्यालङ्कारिकवचनात् । न यथा, — “सवीतजानी ” इति पटेन उपचारी-  
हृतवस्तुनेनादधस्य चारुदत्तस्य मथनम्, “अल प्राणावरोधपगतसक्तलज्जान-  
रन्नेन्द्रियम् ” इति वाक्येन राजशरीरपस्थापितस्य चारुदत्तस्य अवस्थावर्णनम्, यथा,  
— लिङ्गविपरिणामेन “अल प्राणावरोधः सङ्घट्टिनाम् ” इत्युक्ता शकारभनेन  
धम्मनिर्पादनमन्ताया वस्तुनेनाम्ना अवस्थावर्णनम्, तत्त्वदृष्ट्या आत्मदर्शनादिना  
परब्रह्मचिन्तनं हि रूपकं तच्च तदानीं सुपुच्छाया चारुदत्तपत्न्या अलभावावर्णनम्  
इति । द्वितीयश्लोके हि नीलकण्ठपदेन चारुदत्तस्य, तथा गौरीपदेन सुपुच्छाया  
वस्तुनेनाम्ना उपलब्धम् । “ग्रामास्तुदीपसः कण्ठः ” इति उपमावलेन वस्तु-  
नेनाम्ना कण्ठे निर्पादनमन्तुं कश्चिन्मा उभयत्र लिङ्गविपरिणामेन वस्तुनेनाम्ना  
एव चारुदत्तस्य रूपस्य बोध्यते, इति सूचीभिः अनुधातव्यः ॥ २ ॥

( २ ) नान्ता — उक्तलक्षणाया आशीर्वादरूपाया अष्टपदानिकाया इत्यर्थः,

अल — अलङ्कारः ।

यदिदं वयं सृच्छकटिक नाम प्रकरणं प्रयोक्तुं व्यवमिता ।  
एतत्कविः (ड) किल,—

द्विरदेन्द्रगतिश्चकोरनेत्रः परिपूर्णेन्दुमुखः सुविग्रहश्च ।

द्विजमुख्यतमः कविर्बभूव प्रथितः शूद्रक इत्यगाधसत्त्वः ॥ ३ ॥

(ड) आर्यमिश्रान्—आर्या, —मान्या, मिया, —बहुदण्ठितया सम्भ्रान्ता,  
आर्यांश्च ते मियाश्चेति तान्—सम्माननीयसम्भ्रानिति यावत् । सृच्छकटिक—सदा  
निम्मिता शकटिका—चुटशकट यवेति [ “अत इनिठनौ” ( ५।२।११५ पा० ) इति  
ठन् ] सृद शकटिका अस्मिन्निति वा बहुव्रीहि [ प्राचीनपुस्तकेषु “सृच्छकटिका”  
इति स्त्रीलिङ्गपाठ दृश्यते, तत्र षष्ठीसमास एव, पठे अङ्गे चैतत् स्फुटोभविष्यति ]  
प्रकरण—प्रक्रियते प्रस्ताव्यते यदिति व्युत्पत्त्या रूपकभेद, तदुक्तं,—“भवेत् प्रकरणे  
वस लौकिक कविकल्पितम् । शृङ्गारोऽङ्गी नायकस्तु विप्रोऽमात्योऽथवा वणिक् ॥  
सापायधम्मकामाधंपरी धीरप्रशान्तक । नायिका कुलजा कापि वेण्या कापि इय  
क्वचित् ॥ तेन भेदास्त्रयस्तस्य तत्र भेदस्तृतीयक । कितवद्यूतकारादि विटचेटक-  
सङ्कुल ॥” इति, अन्यत् सर्वं नाटकवत् ज्ञेयम् । अत्र प्रकरणे नायक चारुदत्त  
ब्राह्मण धीरप्रशान्त, तल्लक्षण यथा,—“सामान्यगुणैर्भूयान् द्विजादिको धीरप्रशान्त  
स्यात्” इति । नायिका चाव वसन्तसेना वेण्या, प्रतिनायिका च चारुदत्त ब्राह्मणी  
धृता कुलजा । अथ शृङ्गार-रसीऽङ्गी, तेन कुलजावेण्ययोरुभयोरपि नायिकयो  
सद्भावात्, तथा कितवद्यूतकारादिसङ्कुलत्वात् प्रकरणस्यास्य तृतीयभेद एवान्तर्भाव  
इति बोध्यम् । अन्यच्च प्रकरणलक्षण यथा,—“यत्र कश्चित् स्वयुद्धा वस्तु शरीरस्य  
गायकश्चैव । विरञ्चति समुत्पाद्य तज्ज्ञेय प्रकरण नाम ॥” इति । प्रयोक्तुम्—  
अभिनेतु, व्यवमिता,—प्रवृत्ता । एतत्कवि,—एतस्य प्रकरणस्य रचयिता इत्यर्थः ।

कवे अलौकिकाकारप्रतिभाप्रभावादिसत्त्वात् तत्प्रणीतकाव्यादिकमपि गुणवद्भव  
तीति प्रकरणगौरव प्रतिपिपादयिष्यतस्य स्वरूपवर्णनमारभते, द्विरदेन्द्रगतिरिति ।  
—द्विरदेन्द्रम्—गजपते, गतिरिव गतिर्यस्य /स, गजेन्द्रसन्दर्शन इत्यर्थ, चकोर  
नेत्र,—चकोरस्य—स्वनासमसिद्धपक्षिविगणस्य, नेत्रे इव नेत्रे यस्य स, चकोरस्य  
मनोहरनयन इत्यर्थ, परिपूर्णं,—सुकलकलीपेत्, इन्दुरिव मुख यस्य स, सप्त  
कलापतिमुन्दरानन इत्यर्थ, सुविग्रह,—मुन्दरशरीर, द्विजमुख्यतम,—विप्र  
मुख्यतम, चक्षिण्येष्ट इत्यर्थ, (“वयो वणा दिना” इति वचनात् नतिदशादि  
द्विजत्व मानुषवन्नम्) । अगाधम्—अतन्मग्नगम, अपरिमितनिकट, सत्त्व—वन्त,

अपिच,—

ऋग्वेद सामवेद गणितमथ कला वैशिकीं हस्तिशिक्षां  
ज्ज्ञात्वा शर्वप्रसादाद् व्यपगततिमिरे चक्षुषी चोपलभ्य ।  
राजान वीक्ष्य पुत्र परमसमुदयेनाश्वमेधेन चेष्टा  
लब्ध्वा चायुः शताब्द दशदिनसहित शूद्रकोऽग्निं प्रविष्टः ॥ ४ ॥

गुणी वा, यस्य स गम्भीरत्वभाव इति वाच्य, गूढक इति प्रथित, —गूढक इति  
वाचा प्रयुक्त कवि —काव्यरचयिता वभव । अत्र उपमा नामालङ्कार ।  
मालभारिणी इति तद्वत्त्व उदा,—“विषने ससजा यदा गूढ चेत् सभरा येन तु  
मालभारिणीयम्” इति ॥ ३ ॥

कवे शिक्षा तपस्या, पुत्रे राज्यसमर्पणम्, अश्वमेधयागानुष्ठान, जीवनकालश्च  
एतदति, कवेदमिति ।—गूढक,—एतद्गुह्यप्रणेतृ कवि, ऋग्वेद, सामवेद, गणि-  
तम्—शङ्खमात्र, कला—चतुर्पट्टप्रकारा दृग्-गीतादिदृष्या विद्या, तथा वैशिकी—  
वैश्यानामिहसम्पत्तिः, हस्तिशिक्षा—हस्तिपालनपालनादिकौशल, ज्ञात्वा—विज्ञाय,  
उदा—वैशिकीमिति कलामित्यस्य विग्रहणम्, “वैशी वैश्याजनादयः” इति कोषात्  
वैश्याजनेष्वप्येवमित्यत्र अत्र वा,—वैश,—अप्रिविशाम्य कश्चित् राजा, तत्कृता

अपिच,—

समरव्यसनी प्रमादशून्यः ककुदो वेदविदां तपोधनश्च ।

परवारणबाहुयुद्धलुब्धः क्षितिपालः किल शूद्रको बभूव ॥ ५ ॥

अस्याञ्च तत्कृतौ,—

अवन्तिपुण्यां द्विजसार्थवाहो युवा दरिद्रः किल चारुदत्तः ।

गुणानुरक्ता गणिका च यस्य वसन्तशोभेव वसन्तसेना ॥ ६ ॥

विजृम्भणत्वाद्धेयम्, अग्निप्रवेशश्च सर्वस्वसारनामके यज्ञविशेषे यथा शरभद्रमुनिना कृतस्तद्वद् बीज्यम् । सङ्घरा वृत्तम् ॥ ४ ॥

पुनश्च शूद्रकः विशेषयति, समरव्यसनीति ।—यः शूद्रकः समरव्यसनी—युद्धा-  
सक्तः, सततः समरपटुरिति यावत्, प्रमादशून्यः,—अवहितः, अवधानतावानित्यर्थः,  
(“प्रमादोऽनवधानता” इत्यमरः) वेदविदां ककुदः,—प्रधानः, श्रेष्ठ इत्यर्थः, (“प्राधान्ये  
राजलिङ्गे च वृषाङ्गे ककुदोऽस्त्रियाम्” इत्यमरः) तपोधनः,—तपोनिष्ठः, परवारण-  
बाहुयुद्धलुब्धः,—परेषां वारणैः,—हस्तिभिः सह बाहुयुद्धे लुब्धः,—कृतबाहुयुद्ध इत्यर्थः,  
परे—शत्रव एव, वारणा तैः सह बाहुयुद्धे लुब्धः इति वाङ्मयः, अथवा,—परवारणो—  
शत्रुजयिनी, यौ बाहू ताभ्यां युद्धे लुब्धः,—बाहुयुद्धप्रिय इत्यर्थः, तथा क्षितिपालः,—  
भूपतिश्च, बभूव—आसीत्, किलेति प्रसिद्धौ । नालभारिणी वृत्तम् ॥ ५ ॥

कवेः स्वरूपमुक्त्वा इदानीम् एतत्प्रकरणेयनायकस्य स्वरूपवर्णनमारम्भः, अवन्ति  
पुण्यामिति ।—अवन्तिपुण्याम्—उज्जयिनीनगर्यां द्विजसार्थवाहः,—द्विजः, “प्राज्ञः,  
तथा सार्थवाहः,—वाणिज्यव्यवसायी च, यद्वा,—द्विजानां—ब्राह्मणादीनां, साथ—  
समूहः, वहति—अन्नपानादिना पोषयति, अथवा,—तान् वाहयति—दानशीलत्वात्  
सर्वप्रकारेण चालयति, यद्वा,—सार्थं—वणिक्समूहः, वाहयति—ऊनविक्रयार्थम्  
इतस्तत् प्रेषयति इति सार्थवाहः, स्वीयार्थेन व्यापारिकं व्यापारकत्वा इत्यर्थः,  
[ सर्वत्र “कर्मण्यण्” ( ३।२।१ पा० ) इत्यण्, “साथो वणिक्समूहे स्यादपि सङ्ग-  
मात्रके” इति मेदिनी ], दरिद्रः,—निवृत्तः, चारुदत्तः,—चारुदत्त इति नाम्ना  
किल प्रसिद्धः, युवा,—युवकः, आसीदिति शेषः, वसन्तशोभा इव—वासन्ता दीरिव,  
वसन्तसेना—तदाख्या काचित्, गणिका—वेश्या च, (“वाग्म्या गणिका वेश्या”  
इत्यमरः) यस्य—चारुदत्तस्य, गुणानुरक्ता—गुणैः,—तदाद्यादिगणादिभिः, सुवन्तः—  
विशेषः, वा, अनुरक्ता—अनुरागिणी, आसीदिति शेषः । अत्र उपमा, “तदाद्या-  
उपेन्द्रवत्ता वृत्तम्,—“उपेन्द्रवत्ता प्रथमे लघौ सा” इति लक्षणात् ॥ ६ ॥

तयोरिदं सत्सुरतीक्ष्णवाश्रयं, नयप्रचारं, व्यवहारदुष्टताम् ।

खलस्वभाव भवितव्यता तथा चकार सर्व्वं किल शूद्रकी नृपः ॥७॥

[ पश्चिम्यावलोक्य च ] अये । शून्येयमस्मत्सङ्गीतशाला ॥ कं नु गताः

कुशीलवा. (च) भविष्यन्ति ? [ विचिन्त्य ] आं ज्ञातम्,—

शून्यमपुत्रस्य गृह, चिरशून्य नास्ति यस्य सन्निवृत्तम् ।

सूर्खस्य दिशः शून्या, सर्व्वं शून्यं दरिद्रस्य ॥ ८ ॥

साम्प्रतमस्य प्रकरणस्य वर्णनीयविषयान् सङ्क्षेपेणाह, तयोरिति ।—इदं—प्रकरणं, तयोः,—चारुदत्तवसन्तमेनयोः, सत्सुरतीक्ष्णवाश्रयं—सन्—उत्तमं, यं सुरतीक्ष्णं, —निधुवनलोला, स एव आश्रयः,—अवलम्बनं यस्य तत् तादृशम् । शूद्रकी नृपः,—शूद्रकाख्यो नृपतिः अत्र यवेति पदमध्याहार्यं, नयप्रचारं—नयस्य—नीत्या, प्रचारं—गतिं, व्यवहारदुष्टतां—दुष्टव्यवहारम्, अथवा,—व्यवहारा,—अष्टादशविधानि विवाहपदानि, तेषां तेषु वा दुष्टतां, खलस्वभाव—दुष्कृतचरितं, तथा भवितव्यताम्—अवग्रह्याविनी नियतिम्, एतत् सर्व्वं चकार—प्रणिनाय, किलेति प्रसिद्धौ । वशस्यविलं हन्त,—“वदन्ति वशस्यविलं जतौ जगौ” इति लक्षणात् ॥ ७ ॥

(च) कुशीलवा,—नाट्यप्रयोगकार (नट्याश्रयणाय कुशीलवा” इत्यमरः) ।

अगाधवक्त्रशीलवानामनुपस्थिते कारणान्तरमनुपलभमान स्वस्य दारिद्र्यमेव तत्कारणत्वेन निदिशति, शून्यमिति ।—अपुत्रस्य—पुत्रहीनस्य, गृहम्—आलयः, शून्यं—शून्यवत् प्रतीयमानमित्यर्थः, यस्य सत्—साधु अकृतिरिति यावत्, निवृत्तं नास्ति तस्य च गृहं चिरशून्यं—चिराय शून्यं, न कदाऽपि सुखकर्मित्वं, सुखं च दिशः, सदा एवेति शेषः शून्या,—यत्र यत्र स गच्छति, तत्रैव विफलाश्च

कृतञ्च सङ्गीतकं मया । अनेन चिरसङ्गीतोपासनेन ग्रीष्म-  
समये प्रचण्डदिनकरकिरणोच्छुष्कपुष्करबीजमिव प्रचलित-  
तारके क्षुधा ममाक्षिणी खटखटायेते (क), तद् यावद्  
गृहिणीमाह्वय पृच्छामि, अस्ति किञ्चित् प्रातराशो (ज) न  
वेति । एषोऽस्मि भोः । कार्यवशात् प्रयोगवशाच्च (झ) प्राक्त-  
भाषी संवृत्तः,—

अविद अविद भोः । (ज) चिरसंगीतोपासनेन सुक्व-  
पोक्वरणालादं बिभ्र मे वुभुक्त्वाए मिलाणादं अङ्गादं, ता

\* अविदेति ।—अविद अविद भो । चिरसङ्गीतोपासनेन शुष्कपुष्करनाम्ना

(क) 'चिरसङ्गीतोपासनेन—चिर—दीर्घकालं, सङ्गीतस्य यद् उपासन—  
सेवनं, तेन, दीर्घकालव्यापिसङ्गीतकलाऽनुशीलनजनितपरिश्रमेणेत्यर्थः । प्रचण्ड-  
दिनकरकिरणोच्छुष्कपुष्करबीजमिव—प्रचण्डा, —तीक्ष्णा, ये दिनकरकिरणाः,—  
सूर्यरश्मयः, ते उच्छुष्क—विशेषतः समुपजातशीपः, पुष्करस्य—पद्मस्य, बीजमिव,  
प्रचलिते—विधूर्णने, क्षुधया वह्निर्निर्गमनोन्मुखे इति यावत्, तारके—कनीनिके,  
ययो तादृशे ( "तारकाऽक्ष्य कनीनिका" इत्यमरः ) मम अक्षिणी—चक्षुषी, क्षुधा—  
वुभुक्षया, खटखटायेत—खटखटेति अव्यक्तशब्दं कुत्वाते, क्षुधाक्षयं भोजनालार्गे  
चक्षुषी सरसत्वापायात् शिथिलथोश्चलितारकत्वेन तादृशशब्दस्य सम्भावनादुपपन्नाऽन-  
ङ्गारो ध्वन्यते, स पुष्करबीजमिवैव उपमाऽनुप्राणिततया समधिकं तदवस्थांतीति  
बोध्यम् । खटखटायेते इति असम्बद्धप्रलापेन आगामिनः शकारासम्बद्धभाषणस्य  
सूचनमिति केचित् ।

जाव गेह गदुअ आणामि, अत्थि किपि कुटुम्बिणीए उव-  
वादिद ( ट ) ण वेत्ति । [ परिक्रम्यावलोक्य च ] एद तं अम्हाण  
गेह, ता पविमामि । [ प्रविश्यावलोक्य च ] हीमाणहे । कि ण  
क्खु अम्हाणं गेहे अवरं विअ संविहाणअं वट्टदि ॥ आआ-  
मितण्डुलोदअप्पवाहा रच्छा, लोहकडाहपरिवत्तणकसण-  
मारा किटविसेसआ विअ जुअदौ अहिअदरं सोहदि भूमी ;  
मिणिहेण गन्धेण उट्ठीवन्ती विअ अहिअ बाधेदि मं वुभुक्खा ,  
ता कि पुव्वविहिद णिहाण उववस्स [ उव्वस्सं ] भवे ? आदु अहं  
ज्जेव वुभुक्खादो ओदणसअ जीअलोअ पेक्खामि ॥ एत्थि किल  
पादरासो अम्हाण गेहे, पाणाच्चअं [ पाणाधिरं ] बाधेदि म  
वुभुक्खा , इध सव्वं णव विअ सविहाणअ वट्टदि , एक्का वस्सअ  
पीमेदि, अवरा सुमणाइ गुप्फेदि । [ विचिन्त्य ] । कि खेदं ? भोदु,  
कुटुम्बिणी मद्दाविअ परमत्य ( ठ ) जासिस्स । [ नेपथ्याभिसुखनवलोक्य ]  
अज्जे । इटी दाव ।

गीव मं वुभुक्खा खानानि अन्नानि, तद् यावद् गृहं गत्वा जानामि, अस्मि किमपि  
कुटुम्बिन्या उपपादितं न वेत्ति । इदं तदग्राकं गृहं, तत् प्रविशामि । आश्चर्यम् ।  
कि न खलु अग्राकं गृहं अपरमिव सविधानकं वर्त्तते ॥ आयानितण्डुलोदकप्रवाहा  
वत् । लोहकटाहपरिवर्त्तनरूपमारा कृतविशेषका इव युवती अधिकतरं शोभते  
अस्मि । तिर्यगेन गन्धेन उट्ठीप्यमानेन अधिकं बाधतं मां दुमुच्छा , तत् कि पूव्व  
विहितं विधानम् उपपन्नम् ।



नटी । [ प्रविश्य ] अज्ज । इअं म्हि । ॥\*

सूत्र । अज्जे । साअट्ठे १ ॥†

नटी । आणवेदु अज्जी, की गिओओ अणुचिट्ठीअदु त्ति । ‡

सूत्र । अज्जे । चिरसंगीदोवासणेण—[ इत्यादि पठित्वा ] अत्थि  
किपि अम्हाणं गेहे असिदब्बं (ड) ण वेत्ति १ §

नटी । अज्ज । मब्ब अत्थि । ¶

सूत्र । कि कि अत्थि १ ॥\*\*

\* आर्य्य । इयमस्मि ।

† आर्य्ये । स्वागतं ते १

‡ आज्ञापयतु आर्य्य, की नियोगोऽनुष्ठायतामिति ।

§ आर्य्ये । चिरसङ्गीतोपासनेन—अस्ति किमपि अस्माकं गेहे अशितञ्च न  
वेत्ति १

¶ आर्य्ये । सर्व्वमस्ति ।

\*\* किं किमस्ति १

योग, आयोजनमित्यर्थः । आयामितगुलोदकप्रवाहाः,—आयामिनः,—दीपा,  
तण्डुलोदकानां—घृततण्डुलजलानां, प्रवाहाः,—प्रसारा, यस्या तादृशी । लौह-  
कटाहपरिवर्तनकृणसारा—लौहकटाहस्य—लौहनिर्मितपात्रविशेषस्य, परिवर्तनेन  
—इतस्ततो घर्पणेन, कृणा—कृणवर्णा, सारा—शबला च, कृणवर्णमिश्रितत्वादिति  
भावः, कृतविशेषका—कृत—रचित, विशेषयति अन्येभ्य पृथक् करोति, शोभयति  
वेति विशेषकं—तिलकं यथा सा, तिलकालङ्कितेत्यर्थः, [“कृतविशेषका” इत्यत्र कात्  
पूर्वाकारस्य न इत्थं, लिपिकादित्वात्], पूर्व्वविहित—पूर्व्वं,—पुत्र्यपुरुषैः, विहित—  
सञ्चितं, निधानं—निधीयते इति निधानं, निधिः, भृगभंनिहितधनम इत्यर्थः, उपपन्न  
—लब्धं, तथात्वे एव उत्पन्नमभव इति भावः । प्राणान्यत्र—प्राणानाम् अन्यत्र,—  
नाशः, यत्रेति क्रियाविशेषणम् । एका—काचित् स्त्री । वर्णकं—कम्पूयादिकं समा-  
लम्बनम् । सुमनसः,—पुष्पाणि, (“स्त्रिय सुमनसः पुष्पम्” इत्यमरः । विभाषा  
बहुत्वञ्चास्य शब्दस्य ) गुम्फति—यथाति, माला रचयतीत्यर्थः । शब्दापि वा—आदयः,  
परमार्थं—यथायम् ।

( ड ) अशितञ्च—खाद्यम् ।

नटी । त जधा,—गुडीदणं, घिअं, दहीं, तण्डुलाइं,  
अल्लेण अत्तल्ल रसाअणं सल्लं अत्थि त्ति, एवं दे देवा  
आसासेदु । \* (ढ)

सव । किं अन्हाण गेहे सल्लं अत्थि ? आदु परिहससि ? †

नटी । [स्वगतम्] परिहसिस्सं दाव । [प्रकाशम्] अल्ल ।  
अत्थि आवणे । ‡

सव । [स्वीडम्] आः अणल्ले । एवं दे आसा क्खिज्जि-  
न्मदि, अभाव अ गमित्थमि, जं दाणि अह वरण्डलम्बुओ  
विअ दूर उक्खिअ पाडिटो । § (ण)

नटी । मरिसेदु मरिसेदु अल्लो ; परिहासो क्खु मए  
किटो । ¶

सूत्र । ता किं उण इदं एव विअ संविहाणअं वट्ठि ?  
एक्का वसअं पीसेदि, अवरा सुमणाइं गुम्फेदि, इअं अ पञ्च-  
वसकुसुमोवहारसोहिदा भूमी । \*

नटी । अज्ज । उववासो गहिदो । † (त)

सूत्र । किं णामहेओ अअ उववासो ? ‡

नटी । अहिरूववदो णाम । § (घ)

सूत्र । अज्जे ! इहलोइओ, आदु पारलोइओ ? ¶

नटी । अज्ज ! पारलोइओ । \*\*

सूत्र । [सरोपम्] पेक्खन्तु पेक्खन्तु अज्जमिस्सा । मइएण  
भच्चपरिव्वएण (द) पारलोइओ भत्ता असेमीअदि ॥ ††

\* तत कि पुनरिदं नवमिव सविधानक वर्त्तते ? एका वर्णकं पिनटि, अपरा  
सुमनसी गुम्फति, इयञ्च पञ्चवर्णकुसुमोपहारशीभिता मूमि ।

† आर्य्ये । उपवासो गृहीत ।

‡ किंनानधेयोऽयमुपवास ?

§ अभिरूपपतिर्नाम ।

¶ आर्य्ये । इहलौकिक, अथवा पारलौकिक ?

\*\* आर्य्ये । पारलौकिक ।

†† प्रेक्षन्ता प्रेक्षन्ताम् आर्य्यमित्रा । सदैवेन भक्तपरिव्रजेन पारलौकिको मत्ता  
अन्विष्यते ॥

नटी । अज्ज । पसीद पसीद . तुम ज्जेव मम जम्भन्तरेवि  
भत्ता भविन्ममि त्ति उववसिदन्हि । २

म्व । अध अत्र उववानो केण उवदिट्ठी ? १

नटी । अज्जन्त ज्जेव पिअवअस्सेण चुस्सवुट्ठेण । ३

म्व । [सङ्कोप्य] आ दासीए पुत्ता चुस्सवुट्ठा । कटा एण क्खु  
तुम जुविटेण रस्सा पालएण एववह्मकेसकत्तावं विअ ससुअन्ध  
कप्पिल्लन्त [ वज्झन्तम् ] पेक्खिस्स । § (ध)

नटी । पसीददु पसीददु अज्जो । ए अज्जस्स ज्जेव पार-  
लीडओ अत्र उववानो अणुचिट्ठीअट्ठि । १ [ इति पादयो पतन्ति ] ।

म्व । अज्जे । उट्ठेहि उट्ठेहि, कधेहि कधेहि इध उववामे  
केण कज्ज १ २

नटी । अन्हारिमज्जजोगेण वल्हणेण उवणिमन्तिटेण । १ १

म्व । तेण हि गच्छदु अज्जा । अहपि अन्हारिसज्जजोगे  
वल्हण उवणिमन्तेमि । ३ १

नटी । ज अज्जो आणवेदि । \* [ इति निष्कात्ता ] ।

सूत्र । [ पङ्क्तिम् ] होमाणहे ! ता कधं मए णव्व सुस-  
मिद्धाए उज्जङ्गीए अम्हारिसज्जणजोगो वम्हणो अस्सेमिदव्वो !  
[ विलोक्य ] एमो चारुदत्तस्स मित्तं मित्तेओ इधो ज्जेव  
आअच्छदि , भोदु, पुच्छिस्स दाव । अज्ज मित्तेअ । अम्हाणं  
गेहे अमिदुं अगणो भोदु [ अधिदो भोदु ] अज्जो । †

[ नेपथ्ये ] (न) भो । अस्सं वम्हणं उवणिमन्तेदु भव ,  
बावुदो (प) दाणि अहं । ‡

सूत्र । अज्ज । सम्पस्स भोअण णोसवन्तं अ । अवि अ,  
दक्खिणा कावि दे भविस्सदि । § (फ)

\* यदार्थ्यं आज्ञापयति ।

† आश्चर्यम् । तस्मात् कथं मया एव सुसमृद्धाणामुज्जयिन्नामस्मादृशजनयोग्यो  
ब्राह्मणोऽन्वेष्टव्यः । एष चारुदत्तस्य मित्रं मैत्रेय इति एवागच्छति । भवतु, प्रत्यामि  
तावत् ! आर्थ्यं मैत्रेय । अस्माकं गेहे अशितुमयणोर्भवतु [ “अधिदो भोट” इति  
पाठे “अतिथिर्भवतु” इति स ] आर्थ्य ।

‡ भो अन्य ब्राह्मणमुपनिमन्तयतु भवान्, व्यापृत इदानीमहम् ।

§ आर्थ्य । सम्पन्न भोजनं नि सपत्रम् । अपि च, दत्तिणा काऽपि न भविष्यति ।

( न ) नेपथ्ये—वैशंपरियहशालायाम् ( “अलज्जंश्रितिकामाज्जेनेपथ्यम्” इति  
कोप६ ) । केचित्तु नेपथ्यं रङ्ग इत्याहुः, ( “नेपथ्यं स्यादलङ्कारि रङ्गज्याया नपुंसकम्”  
इति मेदिन्युक्ते ) ।

( प ) व्यापृत, —यत्नः, कार्यान्तरिषु व्यापृत इति यावत् ।

( फ ) भोजन—भाज्यद्रव्यम् । सम्पन्न—प्रसन्न, नाव विनश्येन काप्यति  
पातसम्भव इति भावः । नि सपत्र, —नि शतुकम्, अवाधमित्यर्थः, [ सह प्रकारं  
पतति यतने इति व्युत्पत्त्या सपत्रस्य—विपन्नस्यापरस्य इत्यर्थः, अभावी एव तस्य  
बहुभिः साहं भोजने विलम्बस्य व्याघातस्य च सम्भवः, तच्छ्रद्धाभावनात्, अत्र  
बहुनामनिमन्त्रितवादिति । किञ्च दग्धद्रव्यं बहूनां भोजनं सर्वं य एव  
सम्भावनायां भोजनोपचारद्रव्याणाम् असम्यग्भाव एव भवितुमर्हति, एकस्य पुनः

[ पुनर्नेपथ्ये ] भी । ज दाणि पढम ज्जेव पञ्चादिट्ठोसि, ता  
को दाणि टे गिब्वन्धो पदे पदे सं अणुसन्धिदु ? \* (व)

सुव । पञ्चादिट्ठोस्मि एदिणा । भोदु, अस्स वम्हण उव-  
णिमन्तेसि । † [ इति निष्क्रान्त ] ।

[ इति आमुखम् ] (भ) ।

[ प्रविश्य प्रावारहनी (स) नैवेद्य । “अस्स वम्हण—” इति पूर्वोक्त पठित्वा ]  
आदु, मए मित्तेण परस्स आमन्तणआइ भक्खिदब्बाइ [ पच्छि-  
टब्बाइ ] हा अवत्ये । तुलीअसि । जो दाणि अहं तत्त-

\* भी । यदिदानीं प्रथममेव प्रत्यादिट्ठोऽसि, तत् क इदानीं ते निवन्ध पदे  
पदे नामनुसन्नातुम् ?

† प्रत्यादिट्ठोऽस्मि एतेन । भवतु, अन्य ब्राह्मणमुपनिमन्त्रयामि ।

‡ अथवा, नया नैवेद्येण परस्य आमन्त्रणकानि भक्षयितव्यानि [ “पच्छिटब्बाइ”  
इति पाठे—“समाहितव्यानि” इति स ] ॥ हा अवस्य । तुल्यसि ॥ य इदानीमह

भवदो चारुदत्तस्स रिद्धीए अहोरत्त पअतणसिद्धेहि उगारसुरहि-  
 गन्धेहि मोदकेहि ज्जेब्ब असिदो अढभन्तरचटुस्सालअदुआरे  
 उवविट्ठो गल्लकसदपरिवुदो चित्तअरो विअ अङ्गुलीहि छिविअ  
 छिविअ अवणेमि, णअरचत्तरवुसहो विअ रोमण्णायअमाणो  
 चिहामि ; सो दाणिं अहं तस्स दलिहटाए जहि तहिं चरिअ  
 गेहपारावदो विअ आवातणिमित्तं इध आअच्छामि । एसो  
 अ अज्जचारुदत्तस्स पिअवअस्सेण चुण्वुट्ठेण जाटीकुसुम-  
 वासिदो पाबारओ अणुप्पेसिदो, सिद्धीकिटदेवकज्जस्य अज्ज-  
 चारुदत्तस्स उवणेदब्बो त्ति ; ता जाव अज्जचारुदत्त पेक्खामि ।  
 [ परिक्रम्यावलोक्य च ] एसो चारुदत्तो सिद्धीकिटदेवकज्जो गिहदेव-  
 दाणं वलिं (य) करेन्तो [ हरन्तो ] इदो ज्जेव आअच्छदि । ॥

तवभवत चारुदत्तस्य ऋद्धा अहोरात्र प्रथममिहै उद्गारसुरभिगन्धिभिर्मोदकैरेवा  
 गित अभ्यन्तरचतु शालकद्वारे उपविष्ट गल्लकशतपरिवृत चिवकर इव अङ्गुलीभि  
 स्पृष्टा स्पृष्टा अपनयामि, नगरचत्तरवृषभ इव रोमण्याश्रमानमितिष्ठामि, स इदानीम् अहं  
 तस्य दरिद्रतया यव तव चरित्वा गेहपारावत इव आवासनिमित्तमवागच्छामि ।  
 एष च आर्यचारुदत्तस्य प्रियवयस्येन चुण्वुट्ठेन जातोकुसुमवासित प्रावारको  
 ऽनुप्रेषित, सिद्धीकृतदेवकायस्य आर्यचारुदत्तस्योपनेतव्य इति, तद् यावत् आर्य-  
 चारुदत्त पश्यामि । एष चारुदत्त सिद्धीकृतदेवकाय सृद्धदेवताना वलिं कृतुन्  
 [ 'हरन्तो' इति पाठे, — "हरन्" इति स । उपहरन् इत्यर्थ ] इति एवागच्छति ।

इत्यर्थ, ("हौ प्रावारोत्तगसङ्घौ" इत्यमरः) ["गङ्गादिभ्य परा मतर्भा" इति यातिना  
 हल्पदस्य परप्रयोगः] ।

(य) आसन्नणकानि—आसन्नण—निमन्त्रणे प्रस्तुतानि द्रव्याणि । तु अपि  
 —तुल करोषि, तुलवत् तुल्य करोषि इत्यर्थ, मामिति शेषः । ऋद्धा—मृष्टा ।  
 उद्गारति ।—उद्गारेण—अशितद्रव्यस्य उद्गामिवायुवशाद्गमनेन, सुरभि—  
 सौगन्धित, गन्धं देया तयोर्गन्धित्यर्थ, मोदकान्पावट्ठेव सौगन्धितानि ।  
 केवलं तपासजनकाल एव सौगन्धितम्, अपि तु अर्घ्यं तस्मात् यत्तद्वत् तस्य  
 अवात्यतिरिति भावः । अशित,—द्रव्यम् । गदकंशतपरिवृत,—गदकंशतपरिवृतम् ।

[ ततः पविशति यद्यमिर्दिष्टयारुदसो रदनिका च ] ।

वाह । [ रुद्रमवलोक्य मुनिर्वेदं निब्रूय च ]—

यामा वलि मपदि मङ्गुहटेहलौना

हमैद्य सारसगणैश्च विलुप्तपूर्व ।

तात्त्वेव सम्प्रति विरुद्धलगाङ्गुरासु

बीजाञ्जलि पतति कोटमुखावलीढ ॥ ८ ॥

[ इति नन्द मन्द परिक्रम्य उपविशति ] ।

नाटिकायाः “दीना” इति नाम्ना प्रसिद्धानामित्यर्थः, प्रतै,—बहुशतसङ्ख्याकैः गृहकै-  
रित्यत्र हीनादिमुखाद्यपरिपूरितैरिति भावः, परिहत,—परिव्याप्तः, चित्रकर-  
पट्टे—उपपादशतपरिवृतः । अपनयामि—अजानि, नात्रासौति यावत्, अति-  
तन्त्रादिति भावः तस्यावमिति शेषः । यद्यपि चित्रकर तुलिकया वणिंकाभाण्ड-  
स्य स्य स्यैव परिचलति, तदिति भावः । नगरचतुरवृषभ,—नगराद्भनवृष-  
भः । रोमन्वापमान—उद्गोच्यं चर्चणं कुर्वाणः । गृहपारादत इव—गृहकपीत-  
इव । आशामनिमित्त—अयमनिमित्तम् । इह—आशुतन्त्रगृहे इत्यर्थः । जार्ता-  
कमुद्रासित—जार्ताकुमुद्रं—मान्तीपुष्पं, दासित,—मुरभीकृतः । सिद्धीकृत-  
द्वकायम्—सस्य दिनपञ्चाङ्गमादिवक्त्रम् । उपनेतव्य,—दातव्यम् । वलि—  
पत्नी ( “वलि पत्नीपदार्थी” इत्यमरः ) ।



विदू। एमो अज्जचारुदत्तो । ता जाव सम्पटं उवसप्पामि ।

[ उपसृत्य ] सोल्लि भवदे । वड्ढु भवं । \*

चारु । अये । सर्व्वकालमित्तं मैत्थेयः प्राप्तः । सखे । स्वागतम् ? आस्यताम् ।

विदू । जं भवं आणवेदि । [ उपविश्य ] भो वअस्स । एसो दे पिअवअस्सेण चुसवुड्डेण जादीकुसुमवासिटो पावारओ अणुप्पेसिटो, सिद्धीकिददेवकज्जस्स अज्जचारुदत्तस्स तुए उवणेदब्बो । † [ इति समर्पयति ] ।

चारु । [ गृहीत्वा सचिन्त, स्थित ] ।

विदू । भो ! इदं किं चिन्तीअदि ? ‡

चारु । वयस्य !—

सुखं हि दुःखान्यनुभूय शोभते

घनान्धकारेष्विव दीपदर्शनम् ।

सुखात् तु यो याति नरो दरिद्रतां

धृतः शरीरेण मृतः स जीवति ॥ १० ॥

\* एष आद्येचारुदत्तः । तत् यावत् साम्प्रतमुपसपामि । सति भवतः । वर्द्धतां भवान् ।

† यत् भवान् आज्ञापयति । भो वयस्य । एष ते पित्रवदमेन चुण्वनेन जातो कुसुमवासितः पावारकोऽनुप्रेषितः, सिद्धीकृतदेवकाज्यस्य आद्येचारुदत्तस्य तया उपनेतव्यः ।

‡ भो ! इदं किं चिन्ततः ।

विलासिजनीचित कुसुमसुरभीकृत पावारकमुपलभ्य स्वीयवभसानावध्याप्रतिफलं । प्रदर्शयन्नाह, सुखमिति ।—घनान्धकारेषु—निविडतिमिराच्छन्नेषु देशेषु, दीपदर्शनम्—प्रदीपप्रकाश इव, दुःखानि—कष्टानि, अनुभूय, स्थितमेति शेषः, सुखतः—आनन्दः, हि—निश्चितः, शोभते—राजतः, दुःखानुभवानन्तरं सुखानुभवः समः किं सन्तोषाय भवतीति भावः । तु—किन्तु, यो नरः,—पुरुषः, सुखतः—सुखमोक्षेण परमिष्यतः, दरिद्रता—निर्धनता, याति—प्राप्नोति, स मृतः,—परितः, सः । सनागम्य इत्यर्थः, एव शरीरेण—देहेन, धृतः,—यवन्मृतः, मृतः—मृतः ।

विद् । भो वञ्चस् । मरणादो दालिहादो वा कदरं दे  
रोचति ? \*

चारु । वयस्य ।—

दारिद्र्यान्मरणाद् वा मरणं मम रोचते न दारिद्र्यम् ।

अल्पक्षेश मरणं, दारिद्र्यमनन्तकं दुःखम् ॥ ११ ॥

विद् । भो वञ्चस् । अलं सन्तापिण । पण्डितजनसंकासिद-  
विहवस्म सुरलीकपीतसेमस्म विञ्च पडिवच्चदस्म परिकृतञ्चो वि  
दे अहिञ्चदर रमणीञ्चो । † (र)

\* भो वयस्य । मरणात् दारिद्र्याद्वा कतरं ते रोचते ?

† भो वयस्य । अलं सन्तापिन । पण्डितजनसङ्क्रान्तिविभवस्य सुरलीकपीतजीवस्य  
प्रतिपक्षद्वयेव परित्यज्योऽपि ते अधिकतरं रमणीयम् ।

चार। वयस्य । न समर्थान् प्रति दैन्यम् । पश्य,—

एतत् तु मा दहति, यद् गृहमस्मदीय

क्षीणार्थमित्यतिथयः परिवर्जयन्ति ।

सशुष्कसान्द्रमदलेखमिव भ्रमन्तः

कालात्यये मधुकराः करिणः कपोलम् ॥ १२ ॥

विद् । भो वयस्य ! एते क्व दासौए पुत्ता अत्यकलवत्ता  
वरडाभीटा विअ गोपालदारआ अरखे जहि जहि ण  
खज्जन्ति (ल) तहिं तहिं गच्छन्ति ।

\* एते खनु दास्या पुत्ता अथकलवत्ता वरडाभीटा इव गोपालदारका अरखे  
यव यव न खादन्ते, तत्र तत्र गच्छन्ति ।

धर्मादिरभिव्यज्यते ] तेन च विभवहीनताया अतिरमणीयत्वम्, सुरलोकपीतशेषस्य  
—सुरलोकै, —देवै, पीतशेषस्य—क्रमेण मुक्तावशिष्टस्य इत्यर्थः, प्रतिपन्नस्य इव  
—युक्तप्रतिपदि चन्द्रदर्शनाभावात् एतत् कृष्णचतुर्दश्या उपलक्षकम् । तथा च  
कामन्दक, —“धर्माद्यं क्षीणकीयस्य क्षीणत्वमपि शोभते । सुरे पीतावशेषस्य कृष्ण  
पक्षे विधीरिव ॥” इति । यथा वा,—“मणि शालालोढ समरविजयो हितनिष्ठता  
सदक्षीणो नाग शरदि सरित प्रानपुलिना । कलाशेषयन्त मुरतसद्विता काल  
बनिता तनिस्त्रा शोभन्ते गनितविभवाद्यार्थिषु नृपा ॥” देवताभि क्रमणान्पादपत  
कृष्णपक्षीयक्षीणचन्द्र पूर्णचन्द्रमपेक्ष्य लोको यथा ममज्ञ पश्यति, तद्वत् अविमर्शकृत्  
शेषविभवं निर्द्द्वेन त्वां लोकोऽधिकतर मन्यते इति भावः ।

चारु । वयस्य ।—

सत्य न मे विभवनाशङ्कताऽस्ति चिन्ता,  
भाग्यक्रमेण हि धनानि भवन्ति यान्ति ।  
एतत् तु मा दहति, नष्टधनाश्रयस्य  
यत् सौहृदादपि जनाः शिथिलीभवन्ति ॥ १३ ॥

अपिच.—

दारिद्र्याद् क्षियमेति, क्लीपपरिगत. प्रभ्रश्यते तेजसो,  
निस्तेजाः परिभ्रूयते, परिभवान्निर्वेदमापद्यते ।  
निर्विष्य शुचमेति, शोकपिहितो बुद्ध्या परित्यज्यते,  
निर्वुद्धिं जयमेत्यहो । निधनता सर्वापदामास्रदम् ॥ १४ ॥

विद्। भो वयस्य । तं ज्जेव अत्यकलवत्त सुमरिअ अल  
सन्तप्पिदेण । \*

धारु। वयस्य ! दारिद्र्य हि पुरुषस्य,—

निवासश्चिन्ताया, परपरिभवो, वैरमपर,

जुगुप्सा मित्राणां, स्वजनजनविद्वेषकरणम् ।

वनं गन्तुं बुद्धिर्भवति च, कलत्रात् परिभवो,

हृदिस्थः शोकाग्निर्न च दहति मन्तापयति च ॥ १५ ॥

\* भो वयस्य । तमेव अत्यकलवत्तं भूत्वा अल सन्तापितेन ।

निर्द्वन्द्वत्वात्, क्रिय—लज्जाम्, एति—प्राप्नोति, लोक इति शेष, अभीष्टनिष्पादना  
सामर्थ्यात् इति बोध्यम्, ज्ञीपरिगत,—लज्जित, जम्, तेजस,—यत्नात्, प्रभृष्यते  
—प्रच्युतो भवति, निस्तेजा,—तेजोरहितः, परिभूयते—येन केनापि कारणेन लोके  
निर्भयं तिरस्क्रियते इत्यर्थः, भीतिकारणतेजसोऽभावात् इत्यवधेयम्, परिभवात्—  
अवमानात्, निर्वेद—स्वावमाननम्, अनुताप वा, आपद्यते—प्राप्नोति, निविण,—  
निर्वेदयुक्त, यच्च—शोकम्, एति—प्राप्नोति, जीवनस्य वैयर्थ्यादिति भावः, शोक  
पिहितः,—शोकाक्रान्तः, बुद्ध्या—विवेकेनेत्यर्थः, परित्यज्यते—विहीयते, निगुडि,  
—निर्विवेक, चय—नाशम्, एति—गच्छति, उक्तञ्च श्रीमद्भगवद्गीतायां,—“वृद्धि  
नाशात् प्रणश्यति” इति, अत्र अत एवेति ऊह्यम्, अही इति आश्चर्यात्कर्मण्य,  
निधनता—दारिद्र्यं, सर्वापदां—सर्वासाम् आपदां—विपत्तीनाम्, आस्पद—स्थान,  
दारिद्र्यात् सर्वा एवापदी भवन्तीत्यर्थः । निधनशब्दो हि मरणे दृढः, अत्र तु धन-  
शून्यत्वे प्रयुक्तत्वान् प्रसिद्धिविरुद्धताख्यदोषः, स च चतुर्थपादस्य “निर्वेदि चयमेत्यर्था ।  
निधनता सर्वापदामास्पदम्” इत्येव परिवक्षणेन समाधात् शक्यते । अत्र दारिद्र्याद्  
कचरोत्तर लज्जादीन् प्रति कारणतया कारणमालाऽलङ्कारः । शार्दूलविस्तोऽन  
वृत्तम् ॥ १४ ॥

दारिद्र्यस्य सर्वापन्नदानत्वं प्रकारान्तरेणाह, निवास इति ।—चिन्ताया,—कथ  
मस व्यथिनिर्वाह भविष्यति, कथं वा एतावान् परिवार पोषणीय इत्येव चिन्ताया  
इत्यर्थः, निवास,—आश्रयः, परपरिभवः,—परिणाम—अन्तेषां, परिभवः,—तिर-  
स्कारस्यानम्, अन्यकर्तृकावमाननाऽऽस्पदमित्यर्थः, दारिद्र्यानामभिव्यक्तं भवति  
भावः, अपरम्—अन्यत्, वैर—शत्रुभावः, शत्रुवत् विपक्षनकृतं भवति वैरम्,  
मित्राणां—वस्त्राणां, जुगुप्सा—घृणाभ्यानमित्यर्थः, प्रत्युपकारमामिष्य इति भावः,

तद् वयस्य । कृतो मया गृहदेवताभ्यो बलिः । गच्छ,  
त्वमपि चतुष्पथे मातृभ्यो बलिमुपहर । (व)

विद् । ए गमिस्मि । \*

चार । किमर्थम् ?

विद् । जटो एवं पूज्यन्ता वि देवदा ए दे प्रसीदन्ति,  
ता को गुणो देवेभ्यु अर्चिदेभ्यु ? †

चार । वयस्य । मा मैवम् ; गृहस्थस्य नित्योऽय(श) विधिः,—  
तपसा मनसा वाग्भि पूजिता बलिकर्मभि ।

तुष्यन्ति शमिना नित्य देवता किं विचारितै ? ॥१६॥

तद् गच्छ, मातृभ्यो बलिमुपहर ।

\* न गमिष्यामि ।

† गत एव पुत्र्यमासा अपि देवता न ते प्रसीदन्ति तत्र को गुणो देवेभ्यु अर्चिदेभ्यु ?

विद्। भो । न गमिस्मिं, अस्मो कोवि पउञ्जीअदु । मम उण वम्हणस्स सव्वं ज्जेव विपरीटं परिणमदि, आदंसगदा विअ छाआ वामादो दक्खिणा दक्खिणादो वामा । अस्मं अ,— एटाए पदोस-वेलाए इध राअमग्गे गणिआ विडा चेडा राअ-वत्तहा अ पुरिसा सचरंति । (घ) ता मण्डूअलुडस्स कालमप्पस्स मूषिओ विअ अहिमुहावटिटो वज्झो दाणि भविस्मिं । तुम इध उवविटो कि करिस्ससि ? \*

चारु । भवतु तिष्ठ, तावदहं समाधिं निर्वर्त्तयामि । (म)

[ नेपथ्ये ] । तिष्ठ वसन्तसेने । तिष्ठ ।

\* भो । न गमिष्यामि । अन्य कोऽपि प्रयुज्यताम् । मम पुनरागमणस्य सर्वमेव विपरीत परिणमति, आदर्शगता इव छाया वामतो दक्षिणा, दक्षिणतो वामा । अन्यच्च,—एतस्या प्रदीपवेलायामिह राजमार्गे गणिका विटायिटा राजवत्तमाय पुरुषा सचरन्ति, तस्मात् मण्डूकलुब्धस्य कालमप्यस्य मूषिक इव अभिमुखापतितो वध्य इदानीं भविष्यामि । त्वमिह उपविष्ट किं करिष्यसि ?

—देवता,—देवा, तपसा—तपस्या, मनसा—चेतसा, ध्यानेनेत्यर्थः, वामम्,—वाक्यैः, स्ववपाटादिभिरित्यर्थः, बलिकम्पभिः,—पुजाकाययः, पुगिता,—समायिता मत्स्यः, नित्य—नियतः, शमिना—शान्तात्मना, तप्यन्ति—तपसापयन्ति, तदा उत्कृष्ट परलोक गमिष्य प्रयच्छन्ति इति यावत्, “शान्दकदतिथिप्रियो मण्डूकोऽपि मुच्यते” इति शास्त्रवचनात् । विचारिते,—विचारणैः, कि—कि फलम् ? नात विचार कर्त्तव्य इत्यर्थः ॥ १६ ॥

(घ) आदर्शस्य प्रतिबिम्बे वामा भागी दक्षिणे दृश्यन्ते, दक्षिणाय वामः, एता वल्लगतिः । “एतस्या प्रदीपवेलायामिह राजमार्गे गणिका विटायिटा राजवत्तमाय पुरुषा सचरन्ति” इत्यनेन विटायिना प्रवेशः सूचितः, “नामुन्नितस्य देवा” इति शास्त्रात् । तथापि “गणिका” इत्यनेन वसन्तसेनायाः, राजवत्तमा “इत्यनेन शकारस्य च प्रवेशः विज्ञप्यतीत्येव ।

(म) समाधि—निद्राम्, मण्डदेवतापुनरागमिति भवति, निद्रायाः समाप्तिरिति ।

[ ततः प्रविशति विटः शकार-चेष्टैर्गुण्यमाना (ह) वसन्तसेना ] ।

विट । वसन्तसेने । तिष्ठ तिष्ठ,—

किं त्वं भयेन परिवर्तितसौकुमार्या

नृत्यप्रयोगविशदौ चरणौ क्षिपन्ती ।

उद्विग्नचञ्चलकटाक्षविस्फट्टि-

व्याधानुसारचकिता हरिणीव यासि ? ॥ १७ ॥

शकार । चिह्नं वसन्तसेनि । (क) चिह्नं, —

\* तिष्ठ वसन्तसेनि । तिष्ठ —

( १ ) विट — वेद्यानागरिकयोः परस्परं सन्देशं विटति—कथयतीति लुप्यन्त्या सचतुर भद्रवशीयं लुप्यत इत्यर्थः, तथा चोक्तं,—“सम्भोगहीनसम्पदं विटल्लुप्यन्त्यं कर्त्तव्यम् । वेणीपचारकुशलो वाग्मी सधुरोऽथ बहुमती गोठ्याम् ॥” शकार —“सदमूढताऽभिमानो दुःखलतैश्च यमयुक्तः । सोऽयम्पूढाभाता राश्यान् शकार इत्युक्तः ॥” इत्युक्तं लक्षणे, चेष्टा,—हीनजातीप्रदानम् ।



किं याशि, धावशि, पलायशि, पक्खलन्तो,  
 वाशू । प्रसीद न मलीशशि, चिद्ध दाव ।  
 कामेण दज्झदि हु मे हल्लके तवशी,  
 अंगाललाशिपडिटे बिअ मशखण्डे \* ॥ १८ ॥

चेट । अज्जए । चिद्ध चिद्ध,†—

उत्ताशिता गच्छशि अन्तिका मे  
 शंपुसपुच्छा बिअ गिम्हसोरी ।

\* किं यासि, धावसि, पलायसे, प्रखलन्तो,  
 वासु । प्रसीद, न मरिष्यसि, तिष्ठ तावत् ।  
 कामेन दह्यते खलु मे हृदय तपस्वि,  
 अङ्गारराशिपतितमिव मासखण्डम् ॥

† आर्ये । [ “अज्जुके ।” इति पाठे, “गणिके ।” इति तद्व्याख्यान, “माद्योक्तौ  
 गणिकाऽज्जुका” इत्यमर वचनात् ] तिष्ठ तिष्ठ,—

‡ उत्तासिता गच्छसि अन्तिका मे  
 सम्पूर्णपुच्छेव शोणमयूरी ।

विटवच्छकारोऽपि तां तादृक् पलायनपरामनुसरन्नाह, किं यामोति ।—वाम ।  
 —वाले । ( “वाला स्याद् वाम् ” इत्यमर ) त्वं प्रखलन्तो—पादखलनवर्तो मता,  
 बन्धुरभूमौ पदविक्षेपणादिति भावः, किं—कथं, यासि, धावसि, पलायसे इत्येषा  
 मेकार्थत्वेन पौनरुक्त्यं शकारवचनत्वात् न दोषावहम्, तदुक्तम्,—“अपायमक्रमं यथा  
 पुनरुक्तं हतोपमम् । लोकन्यायविरुद्धं शकारवचनं विदुः ॥” इति । अन्यथा,—  
 “आगमलिङ्गविहीनं देशकलान्यायसमयविपरोतम् । व्यर्थेकार्थसंपाद्यं भवति हि अचन  
 शकारस्य ॥” इति । एवमुत्तरवापि बोध्यम् । प्रसीद—मयि प्रसन्ना भव, न  
 मरिष्यसि—न ते जीवननाशो भविष्यतीत्यर्थः, तिष्ठ—पलायनात् विरता भव, तावत्  
 दिति वाक्यालङ्कारे । मे—मम, तपस्वि—अनुकम्पार्हं, हृदयमे—अन्तःकरणम्,  
 अङ्गारराशिपतितम्—अग्निपुञ्जालगतं, मासखण्डमिव, कामेन—मदनान्नेन यत्,  
 दह्यते—सन्तप्यते, खल्विति नियतं । अथ उपनाऽलङ्कारः । दमनतिलक उल्लेखः ।

विटशकारवच्छेदोऽपि तां तथाविवामनुसरन्नाह, उत्तासिता—स—मम,  
 पन्तिका—ज्येष्ठा भगिना, ( “अन्तिका भगिना त्वया” इत्यमर ) दमनतिलक

श्रीवृन्दो ग्रासिग्र भट्टके मे

वसे गडे कुक्कुडशावके व्व ॥ १६ ॥

विट । वसन्तसेने । तिष्ठ तिष्ठ,—

कि ग्रामि १ बालकदलीव विकम्पमाना

रक्ताशुकं पवनलोलदश वहन्ती ।

रक्तोत्पलप्रकरकुङ्कुमसुत्तजन्ती

टडैमेन शिलगुह्येव विदार्यमाणा ॥ २० ॥

शकार । चिह्न वशन्तशेणिए । चिह्न, —

मम मअणमणङ्ग ममह वड्डअन्ती  
णिशि अ शअणके मे णिहअ पक्खिवन्ती ।  
पशलशि भअभीदा पक्खलन्ती खलन्ती  
मम वशमणुजादा लावणस्येव कुन्ती ॥ २१ ॥

विटः । वसन्तसेने !—

किं त्वं पदैर्मम पदानि विशेषयन्ती  
व्यालौव'यासि पतगेन्द्रभयाभिभूता ? ।  
वेगादहं प्रविशतः पवनं निरुन्म्या  
त्वन्निग्रहे तु वरगात्रि । न मे प्रयत्नः ॥ २२ ॥

\* तिष्ठ वसन्तसेने । तिष्ठ,—

† मम मदनमनङ्गं मन्मथ वड्डयन्ती  
निशि च शयनके मे निर्दयं प्रक्षिपन्ती ।  
प्रसरसि भयभीता प्रखलन्ती खलन्ती  
मम वशमनुयाता रावणस्येव कुन्ती ॥

कि—कथं, यासि ? अथ उत्प्रेक्षाऽनुप्राणित उपमाऽलङ्कार । वसन्ततिम क  
वृत्तम् ॥ २० ॥

ममेति ।—शयनके—शय्यायाम् । प्रसरसि—गच्छसि । [ “पक्खिवन्ती” इत्यत्र  
“आक्खिवन्ती” इति पाठे,—“आक्षिपन्ती” इति, तथा “णिहअ” इत्यस्य “निद्रास”  
इति वा स ] अन्यत् सर्वं पुनरुक्तत्वादिकं पृथक् पृथक् बोद्धव्यमिति । भयभीतति  
भयशब्द अपायक । रावणस्येव कुन्तीति शास्त्रावरुदतया हतोपममिति श्रुत्यम ।  
सालिनी वृत्तम् ॥ २१ ॥

तथापि वेगात् पलायमानासालीक्य पुनरपि विट कथयति, किमिति ।—  
पदै,—पादविक्षेपै, मम पदानि—पादविक्षेपान्, विशेषयन्ती—अतिशयम्,  
मन्मथोऽपि ममधिकं पादविक्षेपं कुर्वती मतीत्यर्थः, पतगेन्द्रात्—गरुडात्, यत् भयं न  
अभिभूता—आक्रान्ता, व्यालौव—भुजङ्गीव, कि—कथं, यासि ?—गच्छसि ।  
वरगात्रि—वर—श्रेष्ठ, कीमलमित्यत्र, गाव यथा सा तस्यस्य, कीमलमिति  
इत्यत्र, अहं वेगात्—स्ववेगमादित्य इत्यत्र, [ व्यालौव पवनम् ] प्रविशतः,—

इकार । भावे भावे । ३ (ख) —

एषा गानकसूशिकामकशिका, मञ्जुशिका, लाशिका,  
गीसाशा, कुलनाशिका, अवशिका, कामश्श मञ्जुशिका ।  
एषा वेशवहृ मुवेशगिलत्रा, वेशङ्गणा, वेशिआ,  
एषे शे दशगामके मइ कले, अज्जावि म गेच्छदि १ ॥ २३ ॥

भाव । भाव । —

एषा गानकसूशिकामकशिका, मञ्जुशिका, लाशिका,  
निनाशा कुलनाशिका अवशिका, कामश्श मञ्जुशिका ।  
एषा वेशवहृ मुवेशगिलत्रा, वेशङ्गणा वेशिका,  
एतान्ना दश नामकानि मया कृतानि, अद्यापि ना नेच्छति ॥

अस्मिन् सन्, पवन — सास्तमपि, निरन्याम् — आतक्रान्तु शक्तुया, [ न रन्याम् ?  
इति पाठे तु — एकार काकी, न रन्याम् ? अपि तु रन्यामेव इत्यर्थे ] तु — किल,  
तद्विगर्ह — तव निगर्ह — वलात्कारि ते — मम, प्रयत्न, — अभिलाष, न, मुन्दरी  
त्वा वल्लि महीतु नेच्छामीत्यर्थः । अत्र पृथार्थे उपमाद्वयम् । वसन्ततिलक  
हस्त । २३ ।

विट । प्रसरमि भयविक्षवा किमर्थं ?

प्रचलितकुण्डलघृष्टगण्डपाश्वी ।

विटजननखघटितेव वीणा,

जलधरगर्जितभीतसारसीव ॥ २४ ॥

शकार । भ्राणज्झणन्तबहुभूषणशब्दमिश्रं

किं दीवदी बिअ पलाअशि लामभौटा ? ।

\*

भ्राणज्झणमिति बहुभूषणशब्दमिश्र

किं दीवदी इव पलायसे रामभौटा ? ।

प्रत्यय “प्रत्ययम्यात्—” ( ७।३।४४ पा० ) इति पूर्वस्यात् इत्त्वम्, “मभ्रुयाऽपि च मञ्जूषा पेटा च पेटिकेत्यपि” इति शब्दरत्नावली ] एषा, सुवेणानां—शीभनालङ्कार परिधानानां, निलया—स्थानभृता, सतत शीभनालङ्कारवसनविराजिता इत्यर्थ, वेशवधू,—वेशस्य—वेश्याजनायस्य जनस्य, ( “वेशो वेश्याजनायस्य ” इत्यमर ) वधू,—स्त्री, ( “वधूजांया स्नुषा स्त्री च” इति कोषान्तरम् ) वेशाङ्गना—वेशप—वेश्याजनाययेषु, अङ्गना—उत्तमाङ्गसौष्ठववती स्त्री, वेश्याजनेषु परमा सुन्दरीत्यर्थ, वेशिका—वेशवती, अस्या,—वसन्तसेनाया, एतानि—पूजकयितानि, दण—दण सहस्रकानि, नामानि मया कृतानि—रचितानि, अत्रापि—इदानीमपि, मां न इच्छति—अभिलषति । अत्र “वेशवधू” “वेशाङ्गना” इत्यादौ एकाग्रशब्दप्रयोगस्य द्विरुक्त्यादिलोप्य शकारवचनत्वात् सोढय । शार्दूलविकीर्णित इतम् ॥ २५ ॥

एषे हलामि सहस्रंति जघा हणूमे

विज्ञावशुश वहिणिं विअ त शुभद ॥ २५ ॥

चेट । लामेहि अ लाअवसह, तो क्वाहिशि मच्छमशकं ।

एदेहि मच्छमशकेहि शुणआ मलअं ए शेवन्ति ॥ २६ ॥

विट । भवति वसन्तसेने ।—

किं त्व कटीतटनिवेशितमुद्वहन्ती

ताराविचित्ररुचिर रशनाकलापम् ।

एष हरामि सहस्रंति यथा हनूमान्

विज्ञावसीभंगिनीमिव ता सुभद्राम् ॥

† रनय च राजवन्नभ, तत खादिप्यसि नक्त्यमासकम् ।

एताभ्या नक्त्यमासाभ्या द्वाभ्या स्तक न सेवन्ते ॥

दसे १—द्रुतमन्दव यासि १ एष,—त्वदनुसारी अहमित्यर्थ, हनूमान् यथा—पवन-  
नन्दन इव विज्ञावसी,—स्वनानप्रसिद्धस्य कस्यचित् गन्धर्वाधिपते, ता—प्रसिद्धा,  
भंगिनी—स्वसार, सुभद्रामिव—ग्रीष्मस्य भंगिनीमिव, सहस्रंति हठादेवमित्यर्थ,  
हरामि—हलामि । शङ्कारवाक्यत्वात् इति हतिपनत्वादितोष सीढ्य । अत्र  
उपमाऽलङ्कार । वसन्ततिलक हस्तम् ॥ २५ ॥

वक्त्रेण निर्मथितचूर्णमनःशिलेन

तस्ताद्भुतं नगरदैवतवत् प्रयासि ? ॥ २७ ॥

शकार । अम्हेहि चण्डं अहिशालिअन्ती

वणे शिआली बिअ कुकुलेहि ।

पलाशि शिग्घ तुलिदं शवेगं

शवेडण मे हलअं हलन्ती \* ॥ २८ ॥

\* अस्माभिश्चण्डमभिसाध्यमाणा वने शगालोव कुकुरे ।

पलायसे शीघ्र त्वरित सवेग सवेदन मम हृदय भरन्ती ॥

ताराभि,—सुक्ताभि, ( राजनिघण्टौ स्त्रीलिङ्गीऽपि ताराशब्दः सुक्तावाचकतया निर्दिष्टः ) विचित्रम्—अद्भुतम्, अत एव रुचिर—मनीहरं, रशमाकलाप—सखला-भूषण, ( “कलापी भूषणे वर्हे” इति कोप ) उदहन्तो—धारयन्ती, निर्मथिता—विलेपिता, चूर्णा—चूर्णीकृता इत्यर्थः, मनःशिला—रक्तवर्ण उपधातुविशेषा गत तादृशेन, वक्त्रेण—मुखेन, उपलक्षिता सती, नगरदैवतवत्—नगराधिदेवता इव, प्रस्ताद्भुत—समयविस्मयं यथा तथा, [ “वस्ताद्भुतम्” इत्यत्र “वस्तद्भुतम्” इति पाठा न्तरम् ] कि—कथं, प्रयासि ?—गच्छसि ? अत्र उपेक्षाऽलङ्कारः । यमलङ्कारः क इत्यम् ॥ २७ ॥

वस । पल्लवश्चा । पल्लवश्चा । परहुदिए । परहुदिए । ५

शकार । [ सभयन् ] भावे ! भावे । मणुशे मणुशे । १

विट । न भेतव्य न भेतव्यम् ।

वस । माहविए । माहविए । ६

विट । [ सहासम् ] नूर्ख । परिजनोऽन्विष्यते ।

शकार । भावे ; भावे । इत्यिआ असेशदि ? §

विट । अथ किम् ।

शकार । इत्यिआणं शद मालेमि, शूले हगे । १ (ग)

वस । [ शून्यमवलोक्य ] हद्दी । हद्दी ! कध परिअणो वि  
परिव्भट्ठो ॥ एत्य मए अप्पा सअ ज्जेव्व रक्खिदव्वो । ५\*

विट । अन्विष्यतामन्विष्यताम् ।

शकार । वशन्तशेणिए । विलव विलव, परहुदिअ वा  
पल्लवअ वा शव्व वा वशन्तमाश । (घ) मए अहिशालिअतीं तुमं  
को पलित्ताइशदि ११११—

\* पल्लवक । पल्लवक । [ “पल्लवश्चा । पल्लवश्चा ।” इत्यत्र “पल्लविए । पल्लविए ।”  
इति पाठान्तरम्, तत्र “पल्लविके । पल्लविके ।” इति स ] परभृतिके । परभृतिके ।

- भाव । भाव । मनुष्या मनुष्या । ‡ माधविके । माधविके ।

§ भाव । भाव । स्निग्धमन्विष्यति ?

॥ स्त्रीणां इति मारयामि, शूरोऽहम् ।

॥ रा धिक् । रा धिक् । कध परिजनोऽपि परिभट्ठ ॥ अत्र नया आत्मा  
मदन्तिव रत्नत्वम् ।

वसन्तसेनिके । विलव विलव, परभृतिका वा पल्लवक वा सर्वे वा वसन्त  
माश । मया अभिज्ञातमाणा त्वा क परिदास्यते ?—

( ४ ) नानासंयुक्तरण इकारस्य सङ्ख्यवचननिर्दिष्टम् ।

( ५ ) इति विपश्चया वसन्तसेनया सन्नाहनाया सद्विचारिकाया कीर्तिनापर  
एव ५३ परभृतिकेति नामाकारं इकार परभृतिकाशब्दस्य कीर्तिनादपरतया  
५-५३ इति वदन्तिरन्तरम् ।



कि भीमशेणे ? जमदग्निपुत्रे ?

कुन्तीशुटे वा ? दशकम्बले वा ? ।

एषे हगे गेह्लिअ केशहत्थे

दुश्शाशगश्शाणुकिदि कलेमि \* ॥ २६ ॥

गं पेक्ख, गं पेक्ख,†—

अशो शुतिक्वे बलिदे अ मत्थके,

कप्पेम शीशं, उट मालएम वा ।

\* कि भीमसेन ? जमदग्निपुत्र ?

कुन्तीसुतो वा ? दशकम्बरो वा ? ।

एषोऽह गृहीत्वा केशहस्त

दशासनस्यानुकृति करोमि ॥

† ननु प्रेक्षस्व ननु प्रेक्षस्व,—

‡ अस्मि सुतोऽङ्गी बलित्थ मत्तक,

कल्लाम शीर्षम्, उत माग्गामो वा ।

मयि त्वामाक्रामति वीरेषु न कोऽपि त्वां परिवातुमर्हं इति मगजमभिदधान  
शकार प्रसिद्धवीराणां रचणासामर्थ्यं दर्शयति, किमिति ।—किं भीमसेन,—वत्ता  
दर, त्वां रक्षिष्यति इति शेष, एव सर्व्ववत् । जमदग्निपुत्र,—परशुराम, वा—  
अथवा, कुन्तीसुत,—कुन्तीपुत्र कण, अर्जुनी वा इत्यर्थः, अथवा दशकम्बर,—  
दशानन रावणो वा ? एषोऽह केशहस्त—केशकलापं, कुल्लमसमुद्गमिष्य, ( “पाग  
पत्तथ हस्तथ कलापायां कचात् परे” इत्यमरः ) तत्रेति शेषः, गृहीत्वा—ग्रन्था,  
आकृष्येत्यर्थः, दशासनस्य—तत्र स्त्री धृतराष्ट्रपुत्रस्य, अनुकृतिं करोमि—नमस्क  
करोमीत्यर्थः, दुश्शासनी यथा द्रौपद्या केशवाक्यं निर्पाटयामास, तथा अहमपि त्वां  
केशकर्षणेन पौडगितुमारभे, उटि कश्चित् रत्नकं स्यात्, सुखं ननु इति भावः ।  
अथ उपमाऽलङ्कारः । इन्द्रवज्रा व्रतम् ॥ २६ ॥

अल तवेदेण पलाइदेण,

मुमुग्गु जे होदि, ण शे क्खु जीअदि ः ॥ ३० ॥

वस । अज्ज । अवला क्खु अह । १

विट । अत एव प्रियसे ।

जकार । अतो ज्जेव ण भालीअशि । १

वस । [स्वगतम्] कध अणुणओ वि से भअं उप्पादेदि ।

भोदु एव दाव : [प्रकाशम्] अज्ज । इमादो किम्पि अलङ्करण  
तक्कीअदि १ = (ङ)

विट । शान्तम् । भवति वसन्तसेने । न पुष्पमोषमर्हति  
उद्यानलता, तत् कृतमलङ्करणैः । (च)

अल तवैतेन पलायितेन,

मुमुर्षुर्भवेति, न स खलु जीवति ॥

१ आर्य । अवला खलु अहम् ।

२ अत एव न नाय्यसे ।

३ कदमनुमयीऽप्यस्य भगमुत्पादयति । भवतु एव तावत्, आर्य । अस्मात्  
किमपि अलङ्करणं तद्वदेति १

वस । ता किं क्वु दाणिं ? \*

शकार । हगे देवपुलिशे मणुशे वाशुदेवके कामइटब्बे । †

वस । [सक्रोधम्] शन्त शन्तं । अवेहि, अणज्जं मन्तेमि । ‡

शकार । [सहस्रताल विहस्य] भावे । भावे । पेक्ख दाव, अन्त-  
लेण शशिणिद्धा एशा गणिआदालिआ ण, जेण म भणादि,  
एहि, शन्ते शि, किलिन्ते शि त्ति । हगे ण गामन्तल ण  
णगलन्तलं वा गडे । अज्जके । शवामि भावण शीश अत्तण-  
केहिं पाटेहिं , तव ज्जेब्ब पयाणुपयिआए (छ) आहिंडन्ते  
शन्ते किलिन्ते म्हि शवुत्ते । §

विट । [स्वगतम्] अये । कथं शान्तमित्यभिहितं शान्त  
इत्यवगच्छति मूर्खः । [प्रकाशम्] वसन्तसेने । वेशवामविरुद्ध  
मभिहितं भवत्या । पश्य,—

\* तत् किं खलु इदानीम् ?

† अह देवपुरुषो मनुष्यो वासुदेव कामयितव्य ।

‡ शान्त शान्तम् । अपेहि, अनार्यो मन्त्रमि ।

§ भाव । भाव । प्रेक्षस्व तावत्, अन्तरेण सुखिण्या एषा गणिकान्तरिका  
ननु, येन सा भणति, एहि, शान्तोऽसि, कान्तोऽसीति । अह न गामान्तर न  
नगरान्तर वा गत । आर्थिके । शपे भावस्य शीघ्रम् आत्मोपशान्त्या पान्ताभ्याम्,  
तथैव पृष्ठानुपृष्ठिकया आहिङ्गमानं शान्तं कान्तोऽस्मि मन्त्रम् ।

तरुणजनसहायश्चिन्त्यतां वेशवासो  
विगणय गणिका त्व मार्गजाता लतेव ।  
वहसि हि धनहार्यं पण्यभूतं शरीरं,  
सममुपचर भद्रे । सुप्रिय चाप्रियञ्च ॥ ३१ ॥

अपिच,—

वाप्या स्नाति विचक्षणो द्विजवरो मूर्खोऽपि वर्णाधमः,  
फुल्लां नाम्यति वायमोऽपि हि लता, या नामिता वर्हिणा ।

अकारकतप्रभाव “शान्तम्” इत्यनेन वसन्तसेनया प्रत्याख्यातमाकर्ण्य तदुक्तेः  
अर्थोक्तत्वं वाप्या लोकाभ्यामाह, तरुणजेनेति ।—वेशवास,—वेशे—वेश्यालये,  
वास,—वसति, ( “वेशी वेश्याजनात्रय ” इत्यमर ) तरुणजनसहाय,—तरुण-  
जन,—युवजन सहाय यस्य तादृश, चिन्त्यताम्—अवधार्यता, [ अथ विध्यर्थे  
लोट् ] या हि गणिका भूत्वा तत्पक्षानिवावतिष्ठन्ते, ताभि युवजनान्वेषणस्यावश्य-  
स्त्वन्त्यता न तया वयमुपेक्षणीयेति भावः । “वेशवास ” इति पदस्य “वेशे—  
वेश्यालये वास यस्य तादृश ” इति बहुव्रीहिसमासनिष्पन्नत्वे तु—ये हि युवानः सुख-  
प्राप्तयना स्वजनान् हित्वा विलासमुखैः साहै वेश्यालयमेवाधिवसन्ति, ते एव वेश्याभि  
चन्दिरन्ते, अतः तमपि अस्मान् परित्यज्य अन्यसहाय मा याचस्व इति भावः । हे  
भद्रे ।—साधुशेले । त्व मार्गजाता—पक्षिसमुत्पन्ना, सकलजनसमुपगम्येति भावः,  
लतेव—वलीव गणिका—वेश्या, साधारणीत्यर्थः, इति विगणय—मन्यस्व, आत्मान-  
मिति ईप, हि—यतः परम्भत—विक्षेयस्वरूपम्, अत एव धनहार्यम्—अर्धविनि-  
मयेन कथ्य, शरीर—देह, वहसि—धारयसि, अतः सुप्रिय—स्वाभिमतम्, अप्रियम्  
—अनभिमतञ्च, जनमिति ईपः सम—तुल्यम्, उपचर—सेवस्व,—“निर्गुणानपि  
न हरेत् न रजति गतिरपि । दत्तमात्रं सनालोक्य सा रागं दर्शयेद् वहि ॥”  
इति वैष्णवसूत्रप्रभाषे आलङ्कारिकोक्तिः । अथ “वयमप्रिया अपि त्वया सेव्या ”  
इति प्रस्तावः अस्मन्नेन कस्या गणिकावादिष्यापन्नेन अवन्यते इत्यस्मन्तप्रशसा,  
नित्येव दाद उपमा, ईषाहै च सुप्रियाप्रिययोः तुल्यरूपेण सेवया धनहार्यत्वरूप-  
पदस्योपगमा आलम्बित्वेनैवैवामलसाराणां सल्लिखितः । इत्यन्तः साहिनी नाम,  
—“नमः कथं नमः साहिनी” इति लक्षणा ॥ ३१ ॥

अपिच,—विचक्षण—द्विजवरो, द्विजयेत, ज्ञानेन इत्यर्थः,

ब्रह्मचरविशस्तरन्ति च यथा नावा, तथैवेतरे,  
त्वं वापीव लतेव नौरिव जन वेश्याऽसि सर्व्वं भज ॥ ३२ ॥

वस । गुणो क्व अणुराअस्स कालणं, ण उण बलकारो । (ज)

शंकारः । भावे ! भावे ! एषा गम्भदाशी (झ) कामदेवाअ-  
दणुज्जाणादो पडुदि ताह दलिहचालुदत्ताह अणुनत्ता, ण

\* गुण खलु अनुरागस्य कारणं, न पुनबलात्कार ।

† भाव । भाव । एषा गम्भदासी कामदेवायतनोद्यानात् प्रभृति तस्य

तथा मूर्खं,—अज्ञानं, वणोधमं,—सर्व्ववर्णनीचं, शूद्रोऽपीत्यर्थः, वाप्या—दीर्घं  
कायाम्, एकस्यास्येति भावः, स्नाति—अवगाहति, या—लता, वहिणा—मयूरं,  
नामिता, [ “त्वलक्षलक्षनमामनुपसगाहा” ( ग० ) इति मित्तस्य त्रैकल्पिकतया  
ऋष्याभावः ] उपवेशनेनेति शेषः, वायस,—काकोऽपि, फुल्ला—विकसितां, ( तां )  
लता नाम्यति—नमयति, [ नमनं नाम भावे घञ्, नामं करोति इति वाको णिच्,  
तत किप्, “षेरनिटि” ( ६।४।५१ पा० ) इति णिचो लोपः, ततो नाम्णञ्च  
कण्ठादेराकृतिगणत्वेन तस्य निवेशनात् “कण्ठादिभ्यो यक्” ( १।१।२० पा० ) इत्यनेन  
यकि कृते नाम्यतीति रूपम् । नाम करोति इत्यर्थे णिचि “संज्ञापूर्व्वको विभिरनित्य”  
इति नियमात् अपि गुणसकृत्वा इकारस्य यकारे कृते नाम्यतीत्यपरे ] तथा ब्रह्मचर-  
विशः,—ब्राह्मणचरित्रवैश्या, यथा नावा—तरणया, तरन्ति—पारं गच्छन्ति, इतरे  
—शूद्रादयोऽपि, तथैव—नावा, तरन्तीति शेषः । त्वं वेश्या—गणिका, अस्मि अतः  
वापीव—सरसीव, लतेव—वृक्षीव, नौरिव—तराणारवः, सर्व्वं जननं—अविश्रयण  
सकलं प्राथयितारमित्यर्थः, भज—सेवम्, मन्त्रनावागणनात् तथा कामदेवात् कर्त्तव्यं ।  
अनादरो न कर्त्तव्य इति भावः । अस्मिन्नेव श्लोकेऽपि उपदिष्टं नाम नाश्वानवगमः,  
तच्च यथा दर्शये, —“उपदिष्टं मनोहारि वाक्यं शास्त्रानुसारतः” इति,  
तथाऽव प्रक्रमभद्रं दीपोऽपि । इदमेकस्या उपमेयभताया वसन्सेनाया वाको लता  
नावादिभिर्वहुभिः समानैः सादृश्यकथनात् सामान्यमाशङ्क्यते । शार्दूलविक्रीडित  
वृत्तम् ॥ ३२ ॥

( ज ) अथ गुणिनः चारुदत्तस्याहमनुरागात्, न पुनर्भवेत्तदिति प्रसक्तं ।  
कारणम् अमिहितमित्यप्रसक्तप्रशमाशङ्क्यते ।

( झ ) गम्भदासी—आज्ञायां किदरा, माधुर्यं इति भावः ।

म कामेदि । वामदो तश्च घलं । जधा तव मम अ हत्यादो  
एशा ण पल्लिभशदि, तधा कलेदु भावे । † (ज)

वित । [स्वगतम्] यदेव परिहर्त्तव्यं, तदेवोदाहरति  
सूत्रेः । (ट) कथं, वसन्तसेना आर्यचारुदत्तमनुरक्ता ॥ सुष्ठु  
खल्विदमुच्यते, “रत्न रत्नेन सङ्गच्छते” इति । तद् गच्छतु,  
किमनेन सूत्रेण । [प्रकाशम्] काणेलीमात । (ठ) वामतस्तस्य  
सार्धवाहस्य गृहम् ?

शकार । अध इ, वामदो तश्च घलं । ‡

वस । [स्वगतम्] अहंहे । वामदो तश्च गेहं त्ति जं  
शच्च ; अवरञ्जन्तेण वि दुज्जणेण उवकिदं, जेण पिअसङ्गमं  
पाविद । § (ड)

दरिद्रचारुदत्तस्यानुरक्ता, न मा कामयते । वामतस्तस्य गृहम्, यथा तव मम  
च हन्तात् एषा न परिभश्यति, तथा करोतु भाव ।

‡ अथ किं, वामतस्तस्य गृहम् ।

§ आश्चर्यम् । वामतस्तस्य गृहमिति यत् सत्यम्, अपराध्यतापि दुर्जनेन  
उपकृत, येन प्रियसङ्गम प्रापित ।

(ज) अत्र उपदेशन नाम नाट्यालङ्कार, तद्वचनं यथा दर्पणे,—“शिखा  
स्यादुपदेशनम्” इति ।

(ट) परिहर्त्तव्यं—परित्यक्तव्यम् । चारुदत्तस्य गृहमिति निकटे वृत्तं इति यत्  
वसन्तसेनायै वक्तुं नीचित, तदेव सूत्रं कथयतीत्यर्थः ।

(ठ) काणेलीमात ।—काणेली—अविवाहिता स्त्री, व्यभिचारिणी वा, माता  
एव तत्काम्युद्धी, [समानान्तविधेरनित्यत्वात् अत्र ककाराभावः । “विश्वेश्वरीं  
विप्रमाता एतिका त्वा मनामहम्” इत्यादिप्रयोगदर्शनात् आकारालो माताशब्दो  
ऽप्यस्ति हेतुः तन्मते—काणेलीमात । इति निर्विसर्गपदम्] तद्वर्जनात्  
इत्यर्थः ।

(ड) अहंहे इति दर्शनादत्र दर्शनार्थम् । अत्र आनन्दो नाम निर्वहणार्थः  
इति ।

शकार । भावे । भावे । बलिण क्खु अन्धअले माशलाणि-  
पविट्टा बिअ मणिगुडिआ (ठ) दीशन्दी ज्जेव पण्डा वशन्त-  
शेणिआ । ३३

विट । अहो । बलवानन्धकारः । तथा हि,—

आलोकविशाला मे सहसा तिमिरप्रवेशविच्छिन्ना ।

उन्मीलिताऽपि दृष्टिर्निमीलितेवान्धकारेण ॥ ३३ ॥

अपिच,—

लिम्पतीव तमोऽङ्गानि वर्षतीवाञ्जनं नभः ।

असत्पुरुषसेवेव दृष्टिर्विफलता गता ॥ ३४ ॥

\* भाव । भाव । बलीयसि खलु अन्धकारे मापरागिप्रविष्टेव मसीगुटिका  
दृश्यमानैव प्रनष्टा वसन्तसेना ।

( ठ ) मसीगुटिका—अञ्जनवटिका , कौटविशेष इति केचित् ।

बलवदन्धकाराच्छन्नदृष्टिर्विट किमपि द्रष्टुमक्षम स्वीयामवस्थां वणयन्नाह,  
आलोकिति ।—आलोक—दर्शने, विशाला—महती, तीक्ष्णदर्शनशक्तिसम्पन्नेत्यर्थ,  
मे—मम, दृष्टि तिमिरप्रवेशविच्छिन्ना—तिमिरे—अन्धकारे, प्रवेशन—आगमनेन,  
विच्छिन्ना—हीनशक्तिरित्यर्थ, तिमिरस्य—अन्धकारस्य, प्रवेशन—आगमनेन,  
विच्छिन्ना—व्याप्ता, दर्शनशक्तिरहिता इति वाऽयं, अत एव उन्मीलिताऽपि—  
दर्शनार्थं कृतोन्मेषा अपि, अन्धकारेण—तिमिरेण, निमीलिता—मुद्रिता इव, जायते  
इति शेष । उत्प्रेक्षाऽलङ्कारः । आय्या वृत्तम् ॥ ३३ ॥

दृष्टिव्याघातकस्यान्धकारस्यातिगादत्व प्रकारान्तरेण वर्णयन्नाह, लिम्पतीति ।—  
तम—अन्धकारम्, अङ्गानि—देहावयवान्, लिम्पतीव—सञ्चतीव, नभः,—  
आकाशम्, अञ्जनं—कञ्जलं, वर्षतीव, दृष्टि,—नेत्रम्, असत्पुरुषसेवेव—नीनपरि-  
चर्या इव, विफलता—फलराहित्यं, गता—प्राप्ता । अत्र प्रथमाहं उपेक्षा, तिमिरं ।  
उपमा इत्यनयो मसृष्टि । नन्विय पूर्वार्थप्रतिपत्तिरिति चेत् उपमेव कर्तव्यं न भवति  
इवपदस्य सादृश्याशक्तौ बाधकाभावात् ? यत्तु,—उपमायास्मिन्नेव निम्नसमानं न  
शासनात् प्रकृतं समानस्यासम्भवात् “नाय्या समानो युष्माकः” इत्युक्त्या नान्य-  
नामत्वाभावात्, अतोऽयं न सादृश्यमिवाय इति, तद्विलम्बम्, इत्येवम् समानं न  
मित्येवाभावस्य उपमाप्रकरणे एव दर्शितत्वात्, अन्धकार इवपदस्य सम्भावना ॥ ३३ ॥

शकार । भावे । भावे ! अस्मेशामि वशन्तशेणिअं । \*

विट । काणेलीमात । अस्ति किञ्चिच्चिद्धं, यदुपलक्षयसि ।

शकार । भावे । भावे । किं विअ ? †

विट । भूषणशब्द सौरभ्यानुविद्ध माल्यगन्धं वा । (ण)

शकार । शुणामि मल्लगन्धं, अन्धआलपूलिदाए उण णाशि-  
आए शुव्वत्त उण ण पेक्खामि भूषणशब्दं । ‡

\* भाव । भाव । अन्विष्यामि वसन्तसेनिकाम् ।

† भाव । भाव । किमिव ?

‡ शृणोति माल्यगन्धम्, अन्धकारपूरितया पुनर्नासिकया सुव्यक्तं, पुनर्न पश्यामि भूषणशब्दम् । [ “णाशिआए शुव्वत्त” इत्येव “णाशिआए ण शुव्वत्त,” “उण ण पेक्खामि” इत्येव “उण पेक्खामि” इति पाठान्तरम् । “नासिकया न सुव्यक्तं,” “पुन पश्यामि” इति स ] ।

समासानुपपत्ते । न हि इवेन सह समास सादृश्येनेवाव प्रमाणमस्ति, “इवेन समाने विभक्त्यलीपश्च” (वा०) इति सामान्यत एवोक्ते । अथ यत्र समासेप्राप्ति-  
सर्वत्र नियमः, आख्यानेन सह तु समासप्रसङ्ग एव नास्ति इति विनैव समासमय  
प्रयोग इति चेत् ? तर्हि सादृश्याप्रतायासपि समासाप्रसङ्गेन विनैव समासनिव-  
पदप्रयोगे बाधकाभावात् इति चेत्, नैवम्, उपमानाभावस्यैवोपमाबाधकत्वात्,  
तदा हि,—किमवोपमानम् ? न तावत्कर्त्ता, दैयाकरणमते आख्यातार्थस्य कर्त्तु-  
भावमात्रा विजपणीभूतत्वेन तस्येवार्थे सादृश्ये स्वप्रतिशेगिकत्वसम्बन्धेनान्वयासम्भवात्,  
अथविधिपण्यान्वयान्वयायोगात् । तदेतदुक्तमाचार्यदण्डिना,—“कर्त्ता यद्युपमान  
स्यात् तन्मूर्तोऽसौ क्रियापदे । स्वक्रियासाधनव्यथो नालमन्यदपेक्षितुम् ॥” ननु  
रूपं नवोपमानमस्ति चेत्, न, लेपनक्रियातमसौ साधारणधर्माभावात् लेपनस्यैव



विट । [जनान्तिकम्] (त) वसन्तसेने ।—

काम प्रदोषतिमिरेण न दृश्यसे त्वं

सौदामनीव जलदोदरसन्धिलीना ।

त्वां सूचयिष्यति तु माल्यसमुद्भवोऽयं

गन्धश्च, भीरु । मुखराणि च नूपुराणि ॥ ३५ ॥

श्रुतम् ? वसन्तसेने !

वस । [स्वगतम्] सुदं गहिदं अ । [ नाय्येन नूपुराणि उत्साथ्य,  
माल्यानि चापनीय किञ्चित् परिक्रम्य हस्तेन परामृश्य ] अम्हो । भित्ति-  
परामरिससूइद पक्खदुआरअं क्वु एदं । जाणामि अ संजो-  
एण (य) गेहस्स संवुदं पक्खदुआरअ । \*

\* श्रुत गृहीतश्च । अहो । भित्तिपरामशंसूचित पक्षहारक गृन्नेतत्, जानामि  
च संयोगेन गेहस्य सवत पक्षहारकम् ।

( त ) जनान्तिक—“विपताककरेणान्यामपवाय्यान्तरा कथाम् । अन्योऽनाम  
न्तरेण यत् स्याज्जनान्ते तज्जनान्तिकम् ॥” इत्युक्तलक्षणम् ।

गाढान्धकारविलीना वसन्तसेनामुद्दिश्य तस्या अदर्शनेऽपि माल्यगन्धानुसंगता  
साह, काममिति ।—हं भीरु ।—भयशोले । त्वं जलदोदरसन्धिलीना—मेधाधन्तर  
विलीना, सौदामनी—विद्युदिव, ( जलदोदरसन्धिलीनेत्यस्यावमभिप्रायः,—सद्य  
साम्बन्ध्याने घर्षणेन विद्युदुत्पद्यते, तादृशमेघसम्बन्धघातान्धघ्नताय जलदोदरपद,  
तथैव च विद्युतः सुस्पष्टदर्शनाभावः सम्भवतीति ) प्रदोषतिमिरेण—रत्ननीमगादत  
तमसा, काम—पथ्यातरूप, सम्यगूपेत्यर्थः, न दृश्यसे—नावर्तते, न-  
माल्यसमुद्भव,—माल्यविनि सृजत, अयम्—अनुभूतान, गन्ध,—संभ्रम, ता  
सूचयिष्यति—जापयिष्यति, मुखराणि—सधुरं शब्दावमानान, नूपुराणि—पाना  
प्रदानि, पादभूषणानि चेत्यर्थः, सूचयिष्यन्ति इति विभाजितपदसंज्ञायाः ।  
अवापमाऽलङ्कारः । वसन्ततिलक इति ॥ ३५ ॥

चारु । वयस्य । समाप्तजपोऽस्मि । तत् साम्प्रतं गच्छ,  
मातृभ्यो बलिमुपहर ।

विद् । भो ! न गमिस्मि । \*

चारु । धिक् कष्टम् !—

दारिद्र्यात् पुरुषस्य बान्धवजनी वाक्ये न सन्तिष्ठते,  
सुस्निग्धा विमुखीभवन्ति सुहृदः स्फारोभवन्त्यापदः ।  
सत्त्व ज्ञासमुपैति, शीलशशिनः कान्तिः परिस्त्रायते,  
पाप कर्म च यत् परैरपि कृत, तत् तस्य सम्भाव्यते ॥३६॥  
अपिच,—सङ्ग नैव हि कश्चिदस्य कुरुते, सम्भाषते नादरात्,  
सम्प्राप्ती गृहमुत्सवेषु धनिना सावज्जमालोक्यते ।

\* भो । न गमिष्यामि ।

मातृभ्यो बलिप्रदानाय समादिष्टेन विदूषकेण कृत प्रत्याख्यानमाकण्यातिदुःखित-  
चारुदत्त सनिर्वेद दैन्यमेव एतद्दुःखनिदानमिति श्लोकव्येष्ट्याह, दारिद्र्यादिति ।—  
बान्धवजन, —सुहृज्जन, पुरुषस्य—जनस्य, दारिद्र्यात्—अधनत्वात्, वाक्ये—वचसि,  
न सन्तिष्ठते—वाक्यं न गृह्णाति, न प्रतिपालयतीत्यर्थ, [ “समवप्रविभ्य स्य ”  
( १।१।२२ पा० ) इति आत्मनेपदम् ] प्रतापाभावात् इति भावः, सुस्निग्धा,—अति-  
प्रदयिनः, सुहृदः,—बन्धवः, विमुखीभवन्ति—प्रातिकूल्यमापद्यन्ते, आपदः,—  
विपत्तयः, स्फारोभवन्ति—विस्तारमापद्यन्ते, सत्त्व—बलः, ज्ञास—मन्दोभावम्,  
उपैति—प्राप्नोति, शीलशशिनः,—सहजचन्द्रस्य, कान्तिः,—दीप्तिः, परिस्त्रायते—  
परितो स्त्राना भवति, ज्ञास गच्छतीत्यर्थः, किञ्चेति चार्थः, परैः,—अन्यैरपि, कृतम्  
—आचरितं, यत् पाप—पापजनकं कर्म—चौद्यादिकमित्यर्थः, तत्—पापजनक-  
स्य तस्य—दारिद्र्यं सम्भाव्यते—अनुमीयते, दारिद्र्यतया इदमनेनैव कृतमिति  
निरुद्धं इत्यर्थः, इदमस्य मार्गादिदानीं कथनित्वादित इहात इति तात्पर्यम् ।  
इदमपि नास्ति अस्माकं दारिद्र्यादिति भावः । अतः शीलशशिन इति उपकीपनार्थो  
इति । ३६ ।

दूरादेव महाजनस्य विहरत्यल्पच्छदो लज्जया,  
मन्ये, निर्द्वन्द्वता प्रकाममपरं षष्ठं महापातकम् ॥ ३७ ॥

अपिच,—

दारिद्र्य । शोचामि भवन्तमेव-  
मस्मच्छरीरे सुहृदित्युषित्वा ।  
विपन्नदेहे मयि मन्दभाग्ये,  
ममेति चिन्ता क्व गमिष्यसि त्वम् ? ॥ ३८ ॥

गृह—भवन, सम्प्राप्त,—समागत, दरिद्र इति शेष, सावज्ञ—सावहेलम्, आलीक्यते—दृश्यते, लोकैरिति शेष, तथा अल्पच्छद,—सामान्यपरिच्छद, मलिन वेशो दरिद्र इत्यर्थ, लज्जया—मलिनवेशत्वप्रयुक्तवपयेत्यर्थ, महाजनस्य—उत्तमपरिच्छदवतो धनिन इत्यर्थ, दूरादेव विहरति—भ्रमति, अतः निर्द्वन्द्वता—दारिद्र्यम्, अपरम्—अन्यत्, षष्ठं—ब्रह्महत्यादिपञ्चविधातिरिक्त, प्रकाम—पूणे, महापातक—महापातकस्थानीया इत्यर्थ, इति मन्ये—सम्भावयामि । पातित्यजनकपातकविषय-महापातकानां पञ्चविधत्वं मनुना प्रतिपादितम्, यथा,—“ब्रह्महत्या सुगपान् मतेय गुर्वङ्गनागम् । महान्ति पातकान्याहुः समर्गयापि ते सह ॥” इत्यस्य पञ्चविधत्वं सुपपन्नमिति सार । अथ षष्ठमहापातकस्याप्रसिद्धा मन्ये इत्युपेक्षावाचकतया उत्प्रेक्षाऽलङ्कार । शार्दूलविक्रीडित वृत्तम् ॥ ३७ ॥

दारिद्र्येति ।—हे दारिद्र्य ।—दैव्य । भवन्त—त्वां, शोचामि—तव भविष्यद्दशा मनुचिन्तयन् दुःखमनुभवासीत्यर्थ, यतः, त्वं सुहृद इति—अयं ममा ताप्रयत्नन यम्, रिति, मत्वेति शेष, अस्मच्छरीरे—मम देहे, [ अस्माकं शरीरे दात विषयः अल्पम् “अस्मदो इयंय” ( १।२।५८ पा० ) इत्यनेन सातु ] एवम्—इत्युपेक्षा, आपत्ता वास कृत्वा, मन्दभाग्य—द्वन्द्वभाग्य, मयि विपन्नदेह—मम मति, अ—मम, ममि ष्यसीति मम चिन्ता—भावना, अस्मच्छदक् काशप त साज्जकान्ति मृच्छकटिके तत अस्मदभावे तव निविवादमवस्थानस्यान न पय्यासति महता मे विन्ता दन तात्पय्यम् । दारिद्र्यगच्छन् नपुंसकत्वेन भवन्मिति पुल्लिङ्गेन प्राप्तम्, ३९ । चिन्त्यम्, अत एवाव श्रुतसंस्कारता दीर्घा ष्यमि । अथपरन्तान् पल्लव १।२।५९ । यथा,—त भवम्—दृश्यति, शोचामि इति दृष्टादिव कयाग्या १।२।५९ । दक्षदो सुहृदित्वात्पत्तिरिति ॥ ३८ ॥

विद् । [ सवैलक्ष्यम् ] भो वयस्स । जइ मए गन्तव्व, ता एसा  
वि मे सहाइणी रदणिआ भोदु । \*

चारु । रदनिके । मैत्रेयमनुगच्छ ।

चेटी । ज अज्जो आणवेदि । †

विद् । भोदि रदणिए । गेह वलिं, पदीवं अ, अहं  
अवावुदं पक्खदुआरअ करोमि । ‡ [ तथा करोति ] ।

वच । मम अद्भुववत्तिणिमित्तं (द) विअ अवावुद पक्ख-  
दुआरअ, ता जाव पविसामि । [ दृष्ट्वा ] । हृद्वी ! हृद्वी ! कथं  
पदीवो ॥ § [ पटानेन निवाप्य प्रविष्टा ] ।

चारु । मैत्रेय । किमेतत् ?

विद् । अवावुदपक्खदुआरण पण्डीकिदेण (ध) वादेण  
णिब्बाविदो पदीवो । भादि रदणिए । णिक्कम तुमं पक्ख-  
दुआरण . अहपि अद्भन्तरचदुस्सालादो पदीवं पज्जालिअ  
आअच्छामि । ¶ [ इति निष्क्रान्त ] ।

इकार । भावे । भावे । अस्मेशामि वयन्तशेणिअ । \*\*

विट । अन्विष्यताम् अन्विष्यताम् ।

\* भो वयस्य । यदि मया गन्तव्यं, तर्हि तेषां मम सहायिनी रदनिका भवतु ।

† उक्तं वाच्यं आज्ञापयति ।

‡ भवति रदनिके । यथाए वलिं प्रदीपञ्च, एवम् अपाहतं पक्ष्माकारकं करोमि ।

§ मम अद्भुतवृत्तिनिमित्तमित्थं अपाहतं पक्ष्माकारकम्, ततः यावत् प्रविशामि ।

¶ विद् । हा हिम् । कथं प्रदीपः ॥

\* अपाहतपक्ष्माकारकं पिण्डं हस्तेन वातेन निवापितं प्रदीपः । भवति रदनिके ।

निष्क्रान्तं तत् पक्ष्माकारकं एवमपि अद्भन्तरचतुःशालात् प्रदीपं प्रज्वाल्य आगच्छामि ।

\*\* नव । भावः । अस्मिन्नि वयन्तशेनान् ।

(२) अद्भुतवृत्तिनिमित्तम्—अदुर्लभम् ।

(६) अन्विष्यताम्—राशं नयेत्

शकार । [ विट धृत्वा ] । भावे । भावे । गहिदा गहिदा । \*  
विट । मूर्ख ! नन्वहम् ।

शकार । इदो दाब पच्छन्नी भविअ एअन्ते भावे चिट्ठु ।  
[ पुनरन्विष्य चेट गृहीत्वा ] भावे । भावे ! गहिदा गहिदा । †  
चेट । भट्टके । चेडे हगे । ‡

शकार । इदो भावे, इदो चेडे । भावे चेडे, चेडे भावे ।  
तुम्हे दाब एअन्ते चिट्ठु । [ पुनरन्विष्य रदनिकां केशेषु गृहीत्वा ] भावे !  
भावे ! शम्पदं गहिदा गहिदा वशन्तशेणिआ । §—

अन्धआले पलाअन्ती, मल्लगन्धेण शूडटा ।

केशबिन्दे पलामिट्टा, चाणक्केणेब्ब दोवटी ॥ ३८ ॥ ¶

\* भाव । भाव । गृहीता गृहीता ।

† इतस्त्वावत् प्रच्छन्नी भूत्वा एकान्ते भावस्तिष्ठतु । भाव । भाव । गृहीता  
गृहीता ।

‡ भट्टारक ! चेटोऽहम् ।

§ इतो भाव, इतश्चेट । भावश्चेट, चेटो भाव । युवां तावत् एकान्ते स्ति-  
तम् । भाव । भाव । साम्प्रत गृहीता गृहीता वसन्तशेनिका ।

¶ अन्धकारे पलायमाना, माल्यगन्धेन मृचिता ।

केशबिन्दे परामिट्टा, चाणकीनेव द्रौपदी ॥

गाढाश्वकारे काञ्चित् गृहीत्वा शकार तदेव विटमकाशं व्यापयति, अश्वकारे  
इति ।—अश्वकारे—तिमिराच्छन्नप्रदेशे, पलायमाना—पलाय्य अपसरन्तो अपि,  
माल्यगन्धेन—स्वकण्ठपरिहितमञ्जु मौरभेण, मृचिता—नापिता, इय वसन्तशेनेति  
शेष, चाणकीन—स्वनामप्रसिद्धपण्डितेन, द्रौपदी—उपदराजतनयेन, केशाब्ज—  
केशकलापे, केशपाशावच्छेदनेत्यर्थ, [ इह अवच्छेदे मयको ] परामिट्टा—गृहीता  
इत्यर्थ । अथ शकारवाक्ये उपमायाद्विहितं सूचितम् । [ “केशबिन्दे” इत्येत “हृ-  
हले” इति पाठे “केशहर्षि” इति सूत्रतः, तत्र अश्वकारस्य केशाब्जं तत्रावर्तितं  
कलापार्थक्ये,—“पाशं पक्ष्यं हृन्मयं कलापादां कृत्वात्तर” इति सूत्रेण । अथ  
उपदराजम् ॥ ३८ ॥

वट । एषाऽसि वयसो दर्पात् कुलपुत्तानुसारिणी ।

केशेषु कुसुमाब्जेषु सेवितव्येषु कर्षिता ॥ ४० ॥

शकार । एशाशि वाशू । शिलशि ग्गहीदा,

केशेशु, वालेशु, शिलोलुहेशु ।

अक्रोश विक्रोश, लवाहिचण्डं,

शम्भुं, शिवं, शङ्खलमौशलं वा \* ॥ ४१ ॥

रद । [ समयम् ] किं अज्जमिस्सेहि बवसिद ? † (न)

विट । काणेलीमातः । अन्य एवैष स्वरसयोगः ।

शकार । भावे । भावे । जधा दहिच्छ्लिपलिलुद्धा एमज्जालीआए  
शलपलिवत्ते (प) होदि, तधा दाशीए धौए शलपलिवत्ते कडे । ‡

\* एषासि वामु । शिरसि गृहीता, केशेषु, वालेषु, शिरोरुहेषु ।

आक्रोश, विक्रोश, लपाधिचण्ड, शम्भु, शिव, शङ्करमौश्वर वा ॥

† किम् आर्य्यमिदं बवसितम् ?

‡ भाव । भाव । यथा दधिसरपरिलुब्धाया माज्जारिकाया स्वरपरिवर्त्तं भवति,  
तथा दास्या पुच्छा स्वरपरिवर्त्तं कृत ।

“केशेषु गृहीता वसन्तसेना” इति शकारवचन सनाकर्णांतिक्रिष्टो विटस्त्वामिवानु  
शीचम्वार, एवेति ।—एषा—अन्धकारविलीनाऽपि शकारेण गृह्यमाना वसन्तसेना,  
त वटस, —जीवनस्य, दपात—बह्वङ्गारात, कुलपुत्रस्य—सत्कुलप्रभूतस्य चारुदत्तस्य,  
कुसुमाब्जे—पुष्पसमृद्धिसम्पन्नेषु, पुष्पभूषितेषु इति यावत्, केशेषु—कुललेषु, केशाव  
भूषितेभ्यः [ एष एवच्छेदे सप्तमी ] कर्षिता असि, शकारिणेति शेष, दीवन्दर्पेण  
रदि लसन्नानुपेत्य पुरुषविशेष चारुदत्तमादितुमेव नाकरिष्य, तदा पथि शकारेण  
तदेव एषा नामविषयदिति भाव । एतच्च हत्तम् ॥ ४० ॥

षिट । कथं, स्वरपरिवर्तः कृतः ? अहो ! चित्रम् ।  
अथवा किमत्र चित्रम् ?—

इयं रङ्गप्रवेशेन, कलानां चोपशिक्षया ।

वञ्चनापरिहृतत्वेन, स्वरनैपुण्यमाश्रिता ॥ ४२ ॥

[ प्रविश्य विदूषक ] ह्री ह्री भोः । पटोसमन्दमारुदेण  
पसुवन्धोवणीदस्स विअ छागलस्स हिअअं फुरफुराअदि (फ)  
पदीवो । [ उपसृत्य रदनिकां दृष्ट्वा ] भो रदणिण । \*

शकार. । भावे । भावे । मणुण्णे मणुण्णे । †

विदू. जुत्तं णेदं, सरिसं णेदं, जं अज्जचारुदत्तस्स दलिह-  
दाए सम्पद परपुरिसा गेहं पविशन्ति । ‡

रद. अज्ज मित्तेअ । पेक्ख मे परिह्वं । §

विदू. किं तव परिह्वो ? आदु अम्हाण । ¶

\* आश्चर्यम् । भो । प्रदीपमन्दमारुतेन पश्यन्धोपनीतमेव छागलस्य उदय  
फुरफुरायते प्रदीप । भो रदनिके ।

† भाव । भाव । मनुष्यो मनुष्य ।

‡ युक्तं नेद, सदृशं नेद, यत् आश्चर्यचारुदत्तस्य दरिद्रतया सामान्य परपूरया गेहं  
प्रविशन्ति ।

§ आश्चर्यं मैत्रेय । प्रेक्षस्व मे परिभवम् ।

¶ किं तव परिभवः ? अथवा अस्माकम् ?

प्रथम वसन्तसेनाया स्वरपरिवर्तसम्भवत्वमागच्छा पुनस्तदव समशयमानाया  
इयमिति ।—इय—वसन्तसेना, रङ्गप्रवेशेन—रङ्ग, —नायिकाया, ( "रङ्ग-  
स्यामृत्युद्भूतो" इति हिमवन्तः ) तव प्रवेशेन—तदधिकारप्राप्तिरित्यर्थः, कलानां—  
वृत्त्यङ्गीतादिकानाम्, उपशिक्षया—अभ्यासेन, वञ्चनापरिहृतत्वेन—प्रतापवशमात्रेण  
च, स्वरनैपुण्य—स्वरविकृतिकरणपाटवम्, आश्रिता—प्राप्ता, विहितम् । अतः  
इत्यम् ॥ ४२ ॥

रद । शं तुम्हाणं ज्जेव्व । \*

विद् । किं एसो बलक्कारो ? †

रद । अध इ । ‡

विद् । सच्च ? §

रद । सच्च । ¶

विद् । [ सक्तीध दण्डकाठसुयम् ] मा दाव । भो । सके गेहे कुकुरोवि दाव चण्डी भोदि, कि उण अहं बम्हणो । ता एदिणा अन्हारिसजणभाअधेअकुडिलेण दण्डकट्टेण दुट्टस्स विअ सुक्खाणवेणअस्स मत्थअ दे पहारेहिं कुट्टइस्सं । \*\* (ब)

विट । महाव्राह्मण ! (भ) मर्षय, मर्षय ।

विद् । [ विट दृष्ट ] ए एत्थ एसो अवरज्झदि । [ शकारं दृष्ट ] एमो क्खु एत्थ अवरज्झदि । अरे रे राज्ञसालअ । सट्ठाणअ । (म) दुज्जण । दुम्भणुस्स । जुत्त णेद ; जइ वि णाम तत्तभवं अल्लचारुदत्तो दल्लिहो संवुत्तो, ता कि तस्स गुणेहि ए

\* ननु । दुष्काकमेव ।

† किमेव बलात्कार ?

‡ अध किम् ।

§ सत्यम् ?

¶ सत्यम् ।

॥ मा तावत । भो । स्वके गेहे कुकुरोऽपि तावत चण्डी भवति, किं पुनरहं दृष्ट्वा । तत एतेनास्मादृग्जनभागधेयकुटिलेन दण्डकाठेन दुट्टयेव शृक्खवेणुकस्य मत्स्यं ते प्रहारे कुट्टयिष्यामि ।

++ नाम एषोऽपराधति । एष खलु अत्र अपराधति । अरे रे राज्ञसालक । मत्स्यान् । इ-न । दुम्भण । युक्तं नेटम् । यद्यपि नाम तदभवान् आर्येचारुदत्तो

( २ ) दइट्टिपानि—चूट्टिपानि । अत्र सम्प्रेयो नाम विमर्शतत्त्वम्—“सम्प्रेयो रीतिभाषणम्” इति लक्षणम् ।

( ३ ) महाव्राह्मण इति परिशालेति । अधस्तादत्र इत्यर्थः, महाच्छब्दस्य । दण्डकाठेति हिन्दुवद्वत् । यथा—“इहे तैले तदा कान्ने वैरे ज्योतिषिणे” इति ।

\* । सक्तीध इति उक्तं रदं न न



अलङ्घिता उज्ज्वली ? जेण तस्स गेह पविमिअ परिअणस्स  
ईरिसो उवमहो (य) करीअदि । ५५—

मा दुग्गदोत्ति परिहवी णत्थि कअन्तस्स दुग्गदो णाम ।

चारित्तेण विहीणो अहो विअ दुग्गदो होइ ॥ ४३ ॥

विट । [ सवैलज्जम ] महान्नाह्मण । मर्षय, मर्षय । अन्यजन-  
शङ्कया खलु इदमनुष्ठितं, न दर्पात् । पश्य,—

सकामाऽन्विष्यतेऽस्माभिः—

विट् । किं इअ ? ५५

विट् । श्रान्त पाप—

दरिद्रं सहत्, तत् किं तस्य गुणैर्नालङ्घ्यता उज्जयिनी ? येन तस्य गृहं प्रतिपद्य  
परिजनस्य ईदृश उपसर्गं क्रियते ।—

, \* मा दुर्गत इति परिभवो नास्ति कृतान्तस्य दुर्गतो नाम ।

चारित्र्येण विहीन आद्याऽपि च दुर्गता भवति ॥

+ किमियम् ?

( य ) उपसर्गं,—परिभव, अवमाननेति यावत् ।

काचित् स्वाधीनयौवना ।

सा नष्टा, शङ्कया तस्याः प्राप्तेय शीलवञ्चना ॥ ४४ ॥

सर्वथा इदमनुनयसर्वेस्व गृह्यताम् । [ इति खड्गमुत्सृज्य कृताञ्जलि पादयो पतति ] ।

विदू । सम्पुरित ! उद्वेहि, उद्वेहि । अत्राणन्तेण मय तुमं  
उवाचचे सम्पद उण जाणन्ता अणुणेमि । \* (र)

विट । ननु । भवानेव अत्र अनुनेयः । तदुत्तिष्ठामि सम-  
यतः । (ल)

विदू । भणादु भवं । †

विट । यदि इम वृत्तान्तम् आर्य्यचारुदत्तस्य नाख्यास्यसि ।

विदू । ए कथं इत्थम् । ‡

\* सम्पूरुप । उत्तिष्ठ, उत्तिष्ठ । अज्ञानता मया त्वमुपालक्ष्य, साम्प्रत पुनर्ज्ञानं  
अनुनयामि ।

† भणतु भवान् ।

‡ न कथयिष्यामि ।

वसन्तसेनाशङ्करा रदनिकाया अवमर्द्दात् विदूषकेण तिरस्कृतो विट स्वदोष-  
शान्तिमूलकत्वेन परिहरति, सकामेति ।—सकामा—कामव्यवसायिनीति यावत्,  
स्वाधीनयौवना—स्वेच्छासाधितस्वयौवनव्यवहारा, न तु भक्त्याधीना इति यावत्,  
काचित्—रमणी [“सकामा” “स्वाधीनयौवना” इति पदद्वयेन सा वेद्येति निश्चयते,  
अतस्तस्या साधारण्यात् धारण न दोषावहमिति बोध्यम्] अस्माभि रन्विष्यते,—  
अदुरन्ध्रोयते ता—अस्माभिरन्विष्यमाणा रमणीत्यर्थ, नष्टा—अदर्शन गता, पला-  
मिनेत्यर्थ तस्या शङ्कया—भ्रमेण इति यावत्, इय—रदनिकोपमर्दनजनिता, शील-  
वञ्चना—शीलवत्—सदाचारवत्, वञ्चना—ध्वस्तव्या प्रतारणा, प्राप्ता, अस्माभिरिति  
इदम् । पद्यावन्त इत्थम् । ४४ ।

विट । एष ते प्रणयो विप्र । गिरमा धार्यते मया ।

गुणशस्त्रैर्वयं येन शस्त्रवन्तोऽपि निर्जिता ॥ ४५ ॥

शकार । [सास्यम्] किं निमित्तं उण भावे । एदग्ग  
दुट्ठवडुअग्ग, बिणअञ्जलिं कदुअ, पाएशु निवडिदे ? \*

विट । भीतोऽस्मि ।

शकार । कश्च तुमं भीदे ? †

विट । तस्य चारुदत्तस्य गुणेभ्यः ।

शकार । के विअ तग्ग गुणाः ? जग्ग गेहं पविशिअ अशि-  
दब्बं पि णत्थि । ‡

विट । मा मैवम्,—

सोऽस्माद्विधानां प्रणयैः कृशीकृतो

न तेन कथित् विभवैर्विमानितः ।

\* किं निमित्तं पुनर्भाव । एतस्य दुष्टवटुकस्य विनयाञ्जलिं कृत्वा पादयो  
निर्पतितः ? ।

† कस्मात् त्वभीतः ?

‡ के इव तस्य गुणाः ? यस्य गृहं प्रविश्य अशितयमपि नास्ति ।

विटेनानुरुद्धो विदूषकः तत्कृतमपराधं प्रभवेन कथयिष्यतीत्याकर्ण्य तद्गुणान्तरं  
विट तमेवाभिनन्दयन्नाह, एष इति ।—हे विप्र । मया ते—तन, एष,—तया  
क्रियताम् इत्यर्थः, प्रणयः,—प्रोतिनिवसना उद्यानायानुमतिः, गिरमा—प्रणमा  
नेयम्, धार्यते—गृह्यते, येन—हेतुना, शस्त्रवन्,—शस्त्रधारिण अपि यय गुण  
शस्त्रे,—मौदाव्यादिगुणरूपशस्त्रविशेषैः, चारुदत्त इति ज्ञेयः, निर्जिता,—परा  
भूता । अत्र गुणशस्त्रैरिति रूपकमलङ्कारः । पद्यावच्छेदः ॥ ४५ ॥

निदाघकालेष्विव सोदको क्रदो

वृणां स तृष्णामपनीय शुष्कवान् ॥ ४६ ॥

शकार । [ सासर्षम् ] के शे गर्भदाशीए पुत्ते ? \* (व)

शूले विक्रान्ते ? पण्डवे शेदकेदू ?

पुत्ते लाधाए ? लावणे ? इन्द्रपुत्ते ? ।

\* क स गर्भदास्या पुत्र ?

+ शूरो विक्रान्त ? पाण्डव श्वेतकेतु ?

पुत्तो राधाया ? रावण ? इन्द्रपुत्र ? ।

“अनुपसर्गात् फुल्लचीवकशोक्ताघा,” ( पारा५५ पा० ) इति निपातनात् अकार ] विभवे,—सम्पद्भिः, न विमानित,—न अवनत, धनदानेन सर्वे एव याचका सन्तोषिता इत्यर्थः, स,—चारुदत्त, निदाघकालेषु—ग्रीष्मसमयेषु, ( प्रतिनिदाघम् इति दृष्टवचनात् ) सोदक,—उदकपूर्णं, क्रद इव—अगाधजल-जलाशय इव, वृणां—धनलोलुपानां, पक्षे—पिपासूनां मानवानां, तृष्णा—धनाभिलाषं, पक्षे—उदक्याम्, अपनीय—दूरीकृत्य, शुष्कवान्—धनाभावरूप, जलाभावरूपश्च शेष प्राप्तः । [ “शुष्कवान्” इति गुपधातो निष्ठास्य “शुष् क” ( पारा५१ पा० ) इति क ] । अथ उपमाऽनुदाहारः । वक्ष्यविल हसन् ॥ ४६ ॥

( व ) सासर्षे—सकोधम् । गर्भदास्या,—चिर वन्दीभूताया स्त्रिया, पुत्र । चारुदत्त प्रति सावजीकिरियम् ।

आहो कुन्तीए तेण लामेण जाटे ?

अश्वत्थामे ? धम्मपुत्ते ? जडाज ? ॥ ४७ ॥

विट । मूर्ख ! आर्य्यचारुदत्त. खलु अमी,—

दीनानां कल्पवृक्षः, स्वगुणफलनतः, सज्जनानां कुटुम्बो,

आदर्शः शिक्षितानां, सुचरितनिकषः, शीलवेल्लाममुद्रः ।

सत्कर्त्ता, नावमन्ता, पुरुषगुणनिधिर्दक्षिणोदारमत्त्वो

ह्येकः श्लाघ्यः स जीवत्यधिकगुणतया, चोच्छ्रमन्तीव चान्ये ॥४८॥

तदितो गच्छामः ।

आहो कुन्त्या तेन रामेण जात ?

अश्वत्थामा ? धम्मपुत्त ? जटायु ? ॥

कणैस्य राधया प्रतिपालिततया तस्या पुत्रत्वेन प्रसिद्धिर्गति बोध्यम् ), रावण,—  
लङ्काधिपतिर्वा ? इन्द्रपुत्र,—जयन्त, बालिनामक वानरराजो वा ? [ “इन्द्रदत्ते”  
इति पाठान्तरे,—“इन्द्रदत्त ” इति सं ], आहो—अथवा, तेन—प्रसिद्धेन, रामेण  
—दशरथात्मजेनेत्यर्थ, कुन्त्यां—पृथायां, जात,—उत्पन्नो वेत्यर्थ ? ( रामेण जात  
इति विरुद्धभाषितम् ), अश्वत्थामा—तन्नामक प्रसिद्धवीरो वा ? धम्मपुत्त,—  
युधिष्ठिरो वा ? जटायु,—तन्नामा प्रबलपराक्रान्त पक्षिपिशेपो वा ? यत्रयमेतत्  
कश्चित् स्यात्, तदा तत्रात्र व्यवहार शोभतेति भावः । श्रीकौण्डिन्यवैद्यदशरथेण  
सन्निवृत्तः,—“वाणाश्चन्द्रिन्ना वैद्यदेवी समी यौ” इति भनन्तात् ॥ ४९ ॥

शकार । अगेह्लिअ वसन्तशेणिअं ? ३

विट । नष्टा (श) वसन्तसेना ।

शकार । कधं विअ ? १

विट । अन्धस्य दृष्टिरिव, पुष्टिरिवातुरस्य,

मूर्खस्य बुद्धिरिव, सिद्धिरिवालस्य ।

स्वल्पस्मृतेर्व्यसनिनः परमेव विद्या,

त्वा प्राप्य सा रतिरिवारिजने प्रनष्टा ॥ ४६ ॥

\* अगृहीत्वा वसन्तसेनाम् ?

† कथमिव ?

मित्यर्थ, ये गुणा,—दयादाक्षिणादय, तेषां निधि,—आलय, तथा दक्षिण—सरलम्, उदार—महत्, सत्त्व—स्वभाव यस्य तादृश, सारल्यौदाय्येविमण्डित-प्रकृतिरिति यावत्, स,—चारुदत्त, एक,—केवल, हि—निश्चितम्, अधिक-गुणतया—सवातिशायिगुणशालित्वेनेत्यर्थ, श्लाघ्य,—प्रशंसार्हं. सन्, जीवति—जीवनप्रयोजनवान् भवति अन्ये—अपरे, तद्विभ्रा इत्यर्थ, जना इति शेष, उष्टुमन्तीव—जीवन्तीव, भस्वादिवत् आसप्रश्नासवन्ती इया जीवन धारयन्तीत्यर्थ । [ अत्र महत्तयाचरितस्य प्रभुताकृतया उदात्तालङ्कार, स च रूपकेणानु-प्राणित ] । सङ्गरा दृष्टम् ॥ ४८ ॥

( श ) नष्टा—प्रदर्शनं गता ।

शकार । अगेल्लिअ वसन्तशेणिअं ण गमिअं । \*

विट । एतदपि न श्रुतं त्वया ?—

आलाने गृह्यते हस्ती, वाजी वल्गासु गृह्यते ।

हृदये गृह्यते नारी, यदिदं नास्ति गम्यताम् ॥५०॥

शकार । यदि गच्छसि, गच्छ तुमं । हरी ण गमिअं । †

विट । एवं, गच्छामि । [ इति निष्क्रान्त ] ।

शकार । गडे क्खु भावे अभाव । [ विदूषकमुद्दिश्य ] अले

काकपदशीशमत्यका (प) दृष्टवडुआ । उवविश, उवविश । ‡

\* अगृहीत्वा वसन्तसेनां न गमिष्यामि ।

† यदि गच्छसि, गच्छ त्वम्, अहं न गमिष्यामि ।

‡ गतं खलु भावोऽभावम् । अरे काकपदशीशमत्यकं दृष्टवटुक । उपविश उपविश ।

मेघभृताया वसन्तसेनाया असृष्टि-आतुरपुण्याग्नेर्कोपमानदग्नात् सार्लोपमाऽत  
द्वार । वसन्ततिलक वचनम् ॥ ४९ ॥

वसन्तसेनाया यद्वणमाधनाभाववत् तत्र पुनस्तद्गृहणाभिप्रायं निष्फल इत्याह,  
आलाने इति ।—हस्ती—करी, आलाने—वसन्तसमये, गृह्यते—निरुध्यते, वाजी  
अथ, वल्गासु—मुखरगमिषु, गृह्यते, नारी—रमणा, हृदये—हृदि, गम्यते, यद्  
—यदि, इदं—रमणीजनधारणीञ्चितं हृदयमित्यर्थः, [ यदिदं नास्ति गम्यताम्,  
“यदीदम्” इति पाठे तु स्पष्ट एवायं ] नास्ति—न विद्यते, तदा गम्यतां न गतां,  
तद्गृहणाशया निष्फलत्वात् इतः प्रप्यानमेव साम्प्रतमिति भावः । अथ आलानादी  
हृन्वादिद्वणमिव हृदये नारीयन्त्रणमिति विद्वान्निश्चयाय पद्यमाना । निन्दयता  
ऽलद्वार । पद्यावक्तव्यम् ॥ ५० ॥

विद् । उववेसिदा ज्जेव्व अरुहे । \*

शकार । केण १ ११

विद् । कअन्तेण । ३ (स)

शकार । उट्ठेहि उट्ठेहि । §

विद् । उट्ठिस्सामो । १

शकार । कदा १ \*१

विद् । जदा पुणो वि देव्व अणुजलं भविस्सदि । ११

शकार । अले । लोद, लोद । ३३

विद् । रोदाविदा ज्जेव्व अरुहे । §§

शकार । केण १ ११

विद् । दुग्गदीए । \*\*\*

शकार । अले । हश, हश । १११

विद् । हसिस्सामो । ३३३

शकार । कदा १ §§§

विद् । पुणो वि ऋद्धीए अज्जचारुदत्तस्स । ११११ (ह)

\* उपवेशिता एव वयम् ।

† केन १

‡ कृतान्तेन ।

§ उत्तिष्ठ उत्तिष्ठ ।

॥ उत्थास्याम ।

\*\* कदा १

†† यदा पुनरपि देवमनुकुलं भविष्यति ।

‡‡ अरे । रुदिदि, रुदिदि ।

§§ रोदिता एव वयम् ।

\*\*\* केन १

\*\*\*\* दुर्गत्या ।

††† अरे । एस, एस ।

‡‡‡ हसिष्याम ।

§§§ कदा १

\*\*\*\* पुनरपि ऋद्ध्या आर्यचारुदत्तस्य ।

ॐ नमोऽस्तुते शकारवचनत्वेन न दोषावहमिति । व्याख्यामिमां सन्धिक्रयेण स्यात्  
कनके वदन्त्येव सदासीना एव ।

( स ) कृतान्तेन—दैवेन इत्यर्थः ।

( १ ) एतेन एतद्विषयस्यैव प्रकृतं नाम ज्ञानावस्था दर्शिता,—

\* एतद्विषयस्यैव प्रकृतं कनक इति लक्षणात् ।



शकार । अले, ले दुष्टवडुआ ! भणेशि मम वअणेण त  
 दलिहचालुदत्तकं ;—एषा शशवस्त्रा, शहिलस्त्रा, गवणाडअ-  
 दंशणुद्धिदा, शुत्तधालिब्ब, वशन्तसेणा गाम गणिआटालिआ  
 कामदेवाअदणुज्जाणादो पहुटि तुम अणुलत्ता, अमहेहि  
 बलक्कालाणुणीअमाणा, तुह गेह प्रविष्टा । ता जइ मम हत्थे  
 शअं जेब्ब पट्ठाविअ एणं शमप्येशि, तदो अधिअलणे बवहाल  
 विणा, लहुं णिज्जादमाणाह (क) तव मण अणुवडा पीदो  
 हुविशशदि । आदु अणिज्जादमाणाह, आमलणन्तिके वेले  
 हुविशशदि । अवि अ, पेक्ख, पेक्ख,—

कक्कालुका गोच्छडलित्तवेगटा,

शाके अ शुक्खे तल्लिटे हु मणे ।

० अरे रे दुष्टवडुक । भणियमि मम वचनेन तं दृष्टिचारुदत्तकम्, —एषा  
 ससुवर्णा सहिरण्या नवनाटकदर्शनोत्थिता सूत्रधारिव वसन्तसेना नाम गणिता  
 टारिका कामदेवायतनीयानात् प्रभृति तामनुरक्ता, अस्माभिर्यत्नात्कारानुनीय  
 माना तव गेह प्रविष्टा । तद् यदि मम हस्ते स्वयमेव प्रस्थाप्य एता ममपयंसि, ततो  
 ऽधिकरणे व्यवहार विना लघु निश्चातयमानस्य तव मयाऽनुभवा प्रीतिभविष्यति,  
 अथवा अनिर्यातयमानस्य आमरणालक [“मलणालिके” इति पाठान्तर “मरणालि-  
 कम्” इति स] वैर सविष्यति । अपि च प्रेम्ण, प्रेम्ण,—

ककारुको गोमयलिपवत्त,

शाकश्च शुक्ल, तल्लित्त्वं सामस ।

भत्ते अ हेमन्तिअलत्तिशिङ्गे,

लौणे अ वेले ण हु होदि पूदी \* ॥ ५१ ॥

श्रीत्यञ्चं भणेशि. लहुअ भणेशि, तथा भणेशि, जधा  
हगे अत्तण केलिकाए पाशादवालागकवोदवालिआए उव-  
विट्ठे शुणामि । असुधा, (ख) जदि ण भणेशि, ता कवाल-  
तलपविट्ठ कवित्यगुडिअ विअ मत्थअ दे मडमडाइअं । †

भक्तश्च हैमनिक-रावि-सिद्ध,

लोनायाच्च वेलाया न खलु भवति पूति ॥

\* स्मृतिश्च भविष्यति लघुक भविष्यति, तथा भविष्यति, यथाऽहमास्मीत्यायां  
ईडिताया प्रासादवाला-कपोत-पालिकायास्तुपविट्ठं शृणोमि, अन्यथा यदि न  
भणामि तदा कपाटतलपविट्ठ कवित्यगुलिकनिव मलक ते नडमडायिष्ये ।

विद् । भणिसं । \*

शकार । [ अपवाय्य ] चेडे । गडे शच्चकं ज्जेव्व भावे १ १

चेट । अध इ । ‡

शकार । ता शिग्घ अवक्कमम्ह । §

चेट । ता गेह्हुदु भट्टके असिं । ¶

शकार । तव ज्जेव्व हत्ये चिट्ठदु । \*\*

चेट । एणे भट्टालके, गेह्हुदु ण भट्टके असि । १११ (ग)

शकार । [ विपरोत गृहीता ]—

णिब्बक्कल मूलकपेणिवण,

खुधेण धेत्तूण अ कीशशुत्तं ।

कुक्खेहि कुक्कीहि अ वुक्कअन्ते,

जधा शिआले, शलणं पलामि ‡‡ ॥ ५२ ॥

[ परिक्रम्य निष्काली ] ।

\* भणियामि ।

† चेट । गत मलमेव भा । ?

‡ अय किम् ।

§ तत् शीघ्रमपक्रमात् ।

¶ तत् गृह्णात् भट्टारकाऽसिम् ।

\*\* तवैव हत्ये तिष्ठत् ।

†† एष भट्टारक, गृह्णात्वेन भट्टारकोऽसिम् ।

‡‡ निर्वन्कल मूलकपेणिवणं न्कमेन धृत्वा च कीयमुत्तम् ।

कुक्कुरे कुक्कुरीभिय वुक्कमानो यथा गगाम शरणं प्रयामि ॥

विद्। भोदि रदणिण । ए क्वु दे अअं अवमाणो तत्त-  
भवदो चारुदत्तस्स णिवेदइदव्वो । दोगच्चपीडिअस्स मस्से  
दिउणदरा पीडा हुविस्सदि । \*

रदनिका । अज्ज मित्तेअ । रदणिआ क्वु अहं सच्चद-  
सुहो । † (घ)

विद्। एव्व सेदं । ‡

चार । [ वननसेनानुद्दिश्य ] रदनिके । मारुताभिलाषी प्रदोष-  
समयशीतात्तो रोहसेनः ततः प्रवेश्यतामभ्यन्तरमयम्, अनेन  
प्रावारकेण ( ङ ) क्वादयेनम् । [ इति प्रावारकं प्रयच्छति ] ।

\* भो रदनिके । न खलु ते अग्रम् अपमानसुखभवतश्चारुदत्तस्य निवेदयितव्यं,  
दौर्गत्यपीडितस्य मत्से दिगुणतरा पीडा भविष्यति ।

† आर्यं मैत्रेय । रदनिका खल्वहं मयतमुखो ।

‡ एवमिदम् ।

शुभि, कुकुराभि — शुर्नं भियं दुक्कमान्, — अन्नगम्यमान, अन्नश्रज्जायमानो वा,  
[ दुष्टनेतिज्ज्ञात् कम्मदि ज्ञानवत्प्रत्यय । “कुकुरै कुकुराभि” इत्यनेन विदूषक-  
रदनिके आदिष्टेते । “कुक्केहि कुक्कीहि” इत्यत्र कुन्दोऽदुरीधात अनुत्तराभाव ]  
शरालो दद्या—अमुक्क इव शरण—गृहं, ( “शरणं गृहरक्षित्वो” इत्यमर )  
प्रदासि—गच्छासि । अत एकस्मिन्नेव वाक्ये उपनान्मतेन शरालेन उपमेयभूतस्य  
शरणस्य चर्चयमानादनुकथनात् उपमा नामालङ्कारः सा च दद्याद्व्योत्यापितेति  
श्रुतेः । उपजाति ह्यनू । ५२ ॥

वस । [स्वगतम्] कथं परिअणीत्ति म अवगच्छदि ॥  
 [पावारक गृहीत्वा समाग्राय च स्वगतं ससृहम्] अम्हहे । जादीकुसुम-  
 वासिदो पावारओ, अणुदासौणं(च) से जोब्बण पडिभासेदि ।\*  
 [अपवारितकेन (छ) प्रावृणोति] ।

चारु । ननु रदनिके । रोहसेन गृहीत्वाऽभ्यन्तरं प्रविश ।

वस । [स्वगतम्] मन्दभाइणी क्खु अहं तुम्हे अब्भन्त-  
 रस्स । † (ज)

चारु । ननु रदनिके ! प्रतिवचनमपि नास्ति ? कष्टम् ।—

यदा तु भाग्यक्षयपीडितां दृशा

नरः कृतान्तोर्पाहिता प्रपद्यते ।

तदाऽस्य मित्राण्यपि यान्त्यमित्रतां,

चिरानुरक्तोऽपि धिरज्यते जनः ॥ ५३ ॥

\* कथं परिजन इति सामवगच्छति ॥ आश्चर्यम् । जातीकुसुमवामितं मा ॥  
 रक, अनुदासीनम् अस्य यौवनं प्रतिभासते ।

† मन्दभागिनी खलु अहं तवाभ्यन्तरस्य ।

(च) अनुदासीन—भोगदृशायामविमुखं, यौवनकालोपभोग्यनिष्ठासामग्री  
 सेवनात् उपभोगे सदृशमित्यर्थः ।

(छ) अपवारितकेन—अपवारिताख्यनाट्यविशेषेण,—“—तद्गोदपवारितम् ।  
 रक्ष्यन्तु यदन्यस्य पराहत्य प्रकाशते ॥” इति लक्षणात् ।

(ज) मन्दभागिनी—अभागिनी, अयोग्यति यावत्, वेमान्नात् प्रतिभात ।  
 अभ्यन्तरस्य—अभ्यन्तरगमनस्य इत्यर्थः ।

विद् । [ उपसृत्य रदनिकां निर्दिश्य ] भोः । इयं सा रदणिआ । ५०

चार । इयं सा रदनिका ; इयमपरा का ?—

अविज्ञातावसक्तेन दूषिता मम वाससा ?

वस । [ स्वगतम् ] ण भूसिदा । ५१

चार । ह्लादिता शरदम्ब्रेण चन्द्रलेखेव दृश्यते ? ॥ ५४ ॥

अथवा, न युक्त परकलतदर्शनम् ।

विद् । भोः । अलं परकलतदंसणसङ्गाए । एसा वसन्त-  
सेणा कामदेवाअदनुज्जाणादो पट्टुदि भवन्तमणुलत्ता । ६

चार । अये । इय वसन्तसेना ॥ [ स्वगतम् ]—

यया मे जनितः कामः क्षीणे विभवविस्तरे ।

क्रोधः कुपुरुषस्येव स्वगात्रेष्वेव सीदति ॥ ५५ ॥

\* भो । इय सा रदनिका ।

+ ननु भूषिता ।

‡ भो । अल परकलतदर्शनशङ्कया, एसा वसन्तसेना कामदेवायतनोद्यानान्  
प्रभृति त्वामनुरक्ता ।

विरज्यते—विरक्ती भवति । [ “रन्ज राने” इति दैवादिकस्य धातौर्लट् ] । अव  
नष्टभाट्टष्टस्य जनस्य सिवाण्यपि शतवो भवन्ति, अनुरक्ती जनोऽपि अवाधो भवति  
इत्यप्रसूतात् विषयात् चिरानुगता रदनिकाऽपि मयि विरक्ता इति प्रसूतार्थं प्रतीयते,  
इत्यप्रसूतप्रशसाऽलङ्कारः । वशस्थविल हस्तम् ॥ ५३ ॥

रदनिकाबुद्ध्या दत्तप्रावारकयारुदत्त सम्प्रति स्वापराधं प्लापयन्नाह, अवि-  
ज्ञातेति ।—अविज्ञातायाम्—अविदिताया, मयेति शेषः, अवसक्तेन—योजितेन,  
एसा,—अवसक्तम्—अवसङ्गम्, [ भावे निहा ] ससर्गे इत्ययं, अविज्ञातम् अवसक्त  
इत्य, अविज्ञातं यथा तथा अवसक्तसासक्तमिति वा, [ तेन द्वितीयपक्षेऽपि भावे  
निहा ] मम वाससा—उत्तरीयवस्त्रेण, दूषिता—अपवित्रोक्ता, परपुरुषवस्त्र  
रक्षणादिति भावः, “इयमपरा का ?” ( इति गद्यरूपेण अन्वयः ) दिव शरदम्ब्रेण  
—शरदीय-म्ब्रेण ह्लादिता—ह्लाता, चन्द्रलेखिव—शङ्खलेख, दृश्यते ? उपमा-  
लङ्कारः । पद्यावष्ट हस्तम् । ५६ ।

विदुषां कृतपद्मितरमणा वसन्तसेनेति परिचयः प्राप्त्यारुदत्तं प्लापयन्नाह,  
२५१ —विदुषां कृतपद्मितरमणा वसन्तसेनेति परिचयः प्राप्त्यारुदत्तं प्लापयन्नाह,

विदू। भां वअस्स । एसो क्खु राअमालो भणादि । ‡

चारु। किम् ?

विदू। एसा ससुवणा, सहिलस्सा, गवणाडअटंसणुद्धिदा सुत्तधालिब्ब वसन्तसेणा गाम गणिआटालिआ कामदेवा-  
अदणुज्जाणादो पहुदि तुमं अणुलत्ता, अम्हेहि बलक्कालाण-  
णीअमाणा तुह गेह पबिद्धा । †

वस। [स्वगतम्] बलक्काराणुणीअमाणेत्ति जं मञ्ज ।  
अलद्धिदस्सिह एदेहिं अक्खरेहिं । ‡ (भ)

विदू। ता जइ मम हत्थे सअं ज्जेब्ब पट्टाविअ एण मम-  
प्पेमि, तदो अधिअलणे बवहालं विणा लहुं णिज्जाटमाणाह  
तत्र मए अणुवहा पीढी हुविस्सदि । अणुधा, आमलणन्तिके  
वेले हुविस्सदि । §

चारु। [सावजम्] अजोऽसौ । [स्वगतम्] अयं कथं देव-  
तीपस्थानयोग्या युवतिरियम् । तेन खलु तस्या विलायाम् (त्र) —

० भी वयस्य । एष खलु राजग्यामी भणति ।

† एषा ससुवर्णेत्यादि । ५८ पृष्ठायां शकारात्कौ अनुवादादिकं दृश्यम् ।

‡ बलात्कारानुनीयमाना इति यत् सत्यम्, अलङ्घ्यताऽस्या परितो नरे ।

§ तद् यदि मम हस्ते स्वयमेव प्रस्थाप्य एतां समपयमात्यादि ५८ पृष्ठे शकारात्  
अनुवादस्य शेषांशो दृश्यताम् ।

प्रविश गृहमिति प्रतीयमाना

न चलति भाग्यकृता दशामवेक्ष्य ।

पुरुषपरिचयेन च प्रगल्भं

न वदति यद्यपि भाषते बह्वनि ॥५६॥

[ प्रकाशम् ] भवति वसन्तसेने । अनेन अविज्ञानात् अपरि-  
ज्ञातपरिजनीपचारेण ( ट ) अपराद्धोऽस्मि । शिरसा भवती-  
मनुनयामि ।

वस । एदिणा अण्चिदभूमिआरोहणेण ( ठ ) अवरज्जा  
अज्ज सीसेण पणमिअ, पसादेमि । ॐ

ॐ एतेनानुचितभूमिकारोहणेन अपराडा आये जीर्णेण प्रणम्य प्रसादयामि ।

प्रवेशनाज्ञासमये इत्यर्थः । अत्र पदोच्चयो नाम नाट्यलक्षणं प्रदर्शितम् । “सच्चयो-  
ऽर्थांनुच्यो य पदानां स पदोच्चयः” इति ।

रोहसेनस्य गृहप्रवेशानुज्ञाकाले सज्जातामस्या दशमुपवर्णयन्नाह, प्रविशेति ।—  
गृह—भवनं, प्रविश—आगच्छेत्यर्थः, रोहसेन गृहीत्विति शेषः, इति प्रतीयमाना—  
अदृश्यमाना, अपि भाग्यकृता—दुर्दैवजनितां, दशां—मम दुरवस्थामित्यर्थः, अवेक्ष्य  
—दृष्ट्वा, न चलति—न अभ्यन्तरं गतवतीत्यर्थः, [ अत्र वर्त्तमानसामीप्ये अतीते लट् ]  
तथा यद्यपि—यदि च, बह्वनि—अनल्पानि, भाषते—वक्ति, तथाऽपि पुरुषपरि-  
चयेन—पुरुषसंज्ञेण, पसा समक्षमित्यर्थः, प्रगल्भ—घट यथा तथा, न वदति—न  
भाषते । पुष्पिताया हस्तम्,—“अयुजि नयुगरिफतो यकारो युजि च नजौ जरगाश्च  
पुष्पिताया” इति लक्षणात् ॥ ५६ ॥



विद्। भी। दुवेवि तुम्हे सुहं पणमिअ, कलमकेदारा  
असोसं सीसेण सीस समाअदा। अह पि इमिणा करह-  
जाणुसरिसेण, सीसेण दुवेवि तुम्हे पसाटेमि। \* (उ)  
[ इति उत्तिष्ठति ]।

चारु। भवतु, तिष्ठतु प्रणयः। (ठ)

वस। [ स्वगतम् ] चतुरो महुरो अ अग्रं उवणामो न  
जुत्तं अज्ज ईदिसेण इध आअदाए मए पडिबमिदु। भोदु,  
एब्बं दाव भणिस्स। [ प्रकाशम् । ] अज्ज। जइ एब्ब अह अज्जम्मा  
अणुगेब्भा, ता इच्छे अहं इम अलङ्कारअं अज्जस्स गेहे णिगित्त  
विदु, अलङ्कारस्स णिमित्तं एटे पावा अणुसरन्ति। † (ण)

\* भी। हावपि युवां सुख प्रणय कलमकेदारी अनाज्ज शोपण शोप  
समागतौ, अहमपि अमुना करभजानु-सदृशेन शीघ्रेण हावपि युवां प्रमान्यामि।

† चतुरो मधुरशायमुपन्यास। न युक्तम् अथ बृहद्वेन इह आगतया मया  
प्रतिषस्तुम्। भवतु, एव तावत् भणिष्यामि। आद्य। यद्येवमज्ञमाद्यस्य अनुगत्या,  
तदिच्छाम्यहम् इममलङ्कारकम् आद्यस्य गृहे निनेतुम्, अलङ्कारस्य निमित्तम् एत  
पापा अनुसरन्ति।

(उ) कलमकेदारी इत्यनन्तरम् इवेति पदम् आह्वय, क १ म,— तावि, विगप,  
शालिरिति यावत्, केदार,—चेवम्, ताविवेत्यय, ( “शालय कदमायाय” इति  
“केदार चेवमय तु” इति चामर ) पाकावस्थायां भूमा। ग्राममागम इति  
इत्यर्थः। करभ,—करिणिगु, उदृशिगुवा, तस्य जानु—सदृशं रूपं यत्, तसदृशेन—वस्तुव्येन। [ “पसाटेमि” इत्यनन्तरम् “उत्तिष्ठति” पदं क पाठ  
पुनः कान्तरे दृश्यते, तत्र “उत्तिष्ठतम इति” इति न। पाठोऽयं समः अत्र न भवति ]।

चारु । अयोग्यमिदं न्यासस्य (त) गृहम् ।

वस । अज्ज । अलीअ (य) पुरुसेसु णासा णिक्खि-  
अन्ति, ए उण गेहेसु । २

चारु । सैत्रेय । गृह्यतामयमलङ्कारः ।

वस । अणुगगहिदन्हि । १ [ इत्यलङ्कारमर्पयति ] ।

विदू । [ गृहीत्वा ] सोत्थि भोदिए । ३ (द)

चारु । धिक्खूखे । न्यासः खलु अयम् ।

विदू । [ अपवाच्य ] जइ एव्व, ता चोरेहिं अवहरी-  
अदु । ४ (घ)

चारु । अचिरेणैव कालेन—” ।

विदू । एसो से अम्हाण विस्सासो ? ५ (न)

\* आद्य । अलोक, पुरुषेषु न्यासा निक्षिप्यन्ते, न पुनर्गेहेषु ।

+ अनुगृहीतास्मि ।

‡ सति भवत्यै ।

४ यद्येव तदा चोरैरपञ्जयताम् ।

५ एषोऽस्या अस्माकं विन्यासः ।

चार । “—निर्यातयिष्ये । (प)

वस । अज्ज । इच्छे अहं, इमिणा अज्जेण अणुगच्छिअन्तो  
स्सकं गेहं गन्तुं । \*

चार । मैत्रेय । अनुगच्छ तत्रभवतीम् ।

विद् । तुमं ज्जेव्व एद कलहंसगामिणीं अणुगच्छन्तो  
राअहंसो विअ सोहसि । अह उण वस्सणो, जहि तहि जणेहि  
चउप्पहोवणीदो उवहारो कुकुरेहिं विअ, खज्जमाणो (फ)  
विपज्जिस्सं । †

चार । एवं भवतु, स्वयमेवानुगच्छामि तत्रभवतीम् ।  
तद्राजमार्गविश्वासयोग्याः (व) प्रज्वाल्यन्ता प्रदीपिका ।

विद् । वड्ढमाणअ । पज्जालेहि पटीविआओ । ‡

चेट । [ जनान्तिकम् ] अले । तल्लेण विणा पट्टिविआओ  
पज्जालीअन्ति ॥ §

\* भाष्य । इच्छाम्यहम्, अनेनार्थेण अनुगम्यमाना स्म क गेहं गन्तुम् ।

† त्वमेव एता कलहसगामिनोऽनुगच्छन् राजहंस इव शोभस, अहं पुन  
ब्राह्मण यव तव जनेयतृपथोपनोत उपहारं कुकुरेव खज्जमाना विपज्ज ।

‡ वड्ढमाणक । प्रज्वाल्य प्रदीपिका ।

§ अरे । तैलिन विना प्रदीपिका प्रज्वाल्यन्ते ?

विदू। [ जनान्तिकम् । ] भो । ताओ क्वु अम्हाण पदीवि-  
आओ, अवमाणिद णिदण-कासुआ विअ गणिआ, णिस्सिणे-  
हाओ (भ) दाणिं सवुत्ता । \*

चार। मैत्रेय ! भवतु । कृतं प्रदीपिकाभिः । (म) पश्य,—  
उदयति हि शशाङ्कः कामिनौगण्डपाण्डु-  
र्यहगणपरिवारो राजमार्गप्रदीपः ।  
तिमिरनिकरमध्ये रश्मयो यस्य गौराः  
सुतजल इव पङ्के, क्षीरधाराः पतन्ति ॥ ५७ ॥

\* भो । ता खन्वम्माक प्रदीपिका अवमानित-निर्जनकासुका इव गणिका  
निस्सेहा इटानी सवत्ता ।

( भ ) मिस्सेहा,—अतैना, पवे—अननुरागिण्य । ( “स्नेह स्यात् पुंसि  
तैलादिरसद्वये च सौहृदे” इति नेटिनी ) ।

( म ) भवतु इति उपसहारोक्ति , प्रदीपिकाभिः,—प्रदीपै, कृत—पर्याप्त,  
त्यदमिति यावत् । ( “युगपय्याप्तयो कृतम्” इत्यमर ) ।

टीपय्य सहाभावकृत प्रज्वालनायोग्यत्वं वसन्तसेनामविजिज्ञापयिष्याददत्तः  
सम्प्रति प्राकृतिकमुधाकरकिरणैरेव तत्कोय्यसम्पादनमाह, उदयतीति ।—कामिन्या,  
—रसगन्ध, गण, —रूपोल, तद्वत् पाण्डु,—गौरकान्ति, समुज्ज्वल इत्यर्थ, यह  
गणपरिवार,—यहगणा,—यहसमूहा परिवारा,—सहचारिण्य इत्यर्थ, यस्य स,  
“राजानो रविर्गौतम” इत्युक्ते तदधिपतित्वान् यहाणा गणैः परित्त इत्यर्थ, राज

[ ताभ्यामनुगम्यमान कतिचित् पदानि गत्वा सानुरागम् ] भवति वसन्त-  
सेने ! इदं भवत्या गृह, प्रविशतु भवती ।

वस । [ सानुरागमवलोकयन्ती निष्क्रान्ता ] ।

चारु । वयस्य ! गता वसन्तसेना । तदेहि, गेहमेव  
गच्छाव',—

राजमार्गो हि शून्योऽय रक्षिणः सञ्चरन्ति च ।

वञ्चना परिहर्त्तव्या बहुदोषा हि शर्वरी ॥ ५८ ॥

[ परिक्रम्य ] इदञ्च सुवर्णभाण्ड रक्षितव्यं त्वया रात्रौ,  
वर्द्धमानकेनापि दिवा ।

पतन्ति—पतित्वा अश्वकारान् नाशयन्तीति यावत्, यथा क्षीरभाराप्रपतनेन चार्द्रं  
पद्मस्य भिदुरत्वं, तथा चन्द्ररश्मिसम्बन्धेन तिमिरनिकरस्य विनश्यत्वं प्रतीयते इति  
भावः, अथवा मृतानि—चरितानि, जलानि यस्मात् तादृशे, “कर्मणोऽकर्मिता  
क्रिया” इति वचनात् अकर्मकत्वं, वर्त्तमानकाले निष्ठाप्रत्यायात् भावनिष्पन्नम्  
शब्दात् अश्व-आदित्वादपि वा अश्वस्याविणि, चार्द्रं पद्मे इत्यर्थः, तत्र सकलपद्मस्य  
कानिमाऽऽधिक्यं दुग्धसत्त्वञ्च सम्भाव्यते, अन्यथा युक्तपदे कानिमाप्यताया दूष्य  
शोषणस्यापि सम्भवेन तिमिरमध्यपातिरग्निसाम्यं सुदं न भवति । एतच्च उप  
मेयमृततमसं प्रशाद्वकिरणसम्पत्कंभावेनैव विनश्यदवस्थानमवगम्यते, तथा मृति  
प्रदीपिकाज्वालनप्रयासोऽन्यथासिद्ध इति भावः । उपमाऽन्यथा । इत्यमर  
मात्रिनी ॥ ५७ ॥

विदू । जघा भवं आणवेदि । \*

[ इति निष्क्रान्ती ] ।

इति मृच्छकटिके अलङ्कारन्यासी (य) नाम प्रथमोऽङ्कः ।

\* यथा भवान् पाशापयति ।

(य) अलङ्कारन्यास,—अलङ्काराणां वसन्तसेनाया भूषणानां न्यासः,—  
निक्षेप यवेति ।

इत्यपेक्षास्त्राटवीसद्वरपद्मानन-पण्डितकुलपतिना वि, ए, उपाधिधारिणा  
श्रीमञ्जीवानन्दविद्यासागरभट्टाचार्येण विरचिताया, तदात्मनाभ्या  
पण्डितश्रीमदायबीधविद्याभूषण-पण्डितश्रीमन्नित्यबीधविद्यारवाभ्या  
प्रतिरुक्तायाममलाख्यायां मृच्छकटिकव्याख्याया

प्रथमोऽङ्कः ॥ १ ॥

## द्वितीयोऽङ्कः ।



चेटी । [ प्रविश्य ] अत्ताए अज्जआसआसं सन्देसेण पेमि-  
दम्हि । ता जाव पबिसिअ अज्जआसआस गच्छामि ।  
परिकम्यावलोक्य च ] एमा अज्जआ हिअएण किपि आनिहन्ती  
चिठ्ठदि । ता जाव उपसप्पामि । \*

[ ततः प्रविशति आसनस्या सीत्कण्ठा (क) वसन्तसेना मदनिक्ता च ] ।

वस । हज्जे ! तदो तदो ? † (ख)

चेटी । अज्जए । ण किंपि मन्तेमि । किं तदो तदो ? ‡

वस । कि मए भणिद ? §

चेटी । तदो तदो त्ति । ¶

वस । [ समुत्थितम् ] आ ॥ एब्ब । \*\* (ग)

---

\* माया आध्यात्मकाय मन्देरेण प्रेषिताऽस्मि । तत् यावत् प्रीत्य आया  
सकाशं गच्छामि । एषा आया, हृदयेन किमप्यानिखन्ती तिष्ठति । ततः यावत्  
उपसर्पामि ।

† चेष्टि । ततस्त ?

‡ आर्ये ! न किमपि मन्तव्यमि । किं ततस्त ?

§ कि मया भणितम् ?

¶ ततस्त इति ।

\*\* आस ॥ ए । म ।

[ उपसृत्य प्रथमा चेटी ] । अज्जए । अत्ता आदिसदि, ह्मादा भविअ (घ) देवदाणं पूअं णिव्वत्तेहि त्ति । २

वस । हज्जे । विस्सवेहि अत्तं, अज्ज ण ह्मादस्सं, ता वन्तणो ज्जेव्व पूअ णिव्वत्तेदु त्ति । १

चेटी । ज अज्जआ आणवेदि । ‡ [ इति निष्क्रान्ता ] ।

नद । अज्जए । सिणेहो पुच्छदि, ण पुरोभाइदा, (ङ) ता क्खिसेद १ §

वस । मदणिए । केरिसि मं पेक्खसि १ ॥

नद । अज्जआए सुख्हिअअत्तणेण जाणामि, हिअअगदं कपि अज्जआ अहिलमदि त्ति । ३६

३७ । सुद्ध तुए जाणिद । परहिअअगहणपण्डिआ मद-  
णिआ क्खु तुम । १११ (च)



मद । पित्र मे पित्रं । की क्वु गाम अज्ज अत्तभोटीए  
अणुगहिदो मइसवे तरुणजणो ; (क) ता कधेदु अज्जप्पा, किं  
राजा, राजवत्तहो वा सेवीअदि ? \*

वस । हज्जे । रमिदुमिच्छामि, ण सेविदुं । † (ज)

मद । विज्जाविसेसालङ्घिदो किं कीवि वस्सणो जुप्पा  
कामीअदि ? ‡

\* प्रिय मे प्रिय, क खलु नाम अद्य अवभवत्या अनुगृहीतो महीयते तरुण  
जन ? तत कथयतु आर्या, किं राजा, राजवत्तभी वा सेव्यते ?

† चेष्टि । रमयितुमिच्छामि, न सेवितुम् ।

‡ विद्याविगपालङ्घत किं कीऽपि ब्राह्मणो युवा काम्यत ?

सर्व्वमेव तद्दर्शनपथम् आयाति, इति मत्वेव परदृश्यत्वादि मदनिकारिण्ययणन  
मदनिकेति नाम सार्थकता, तथा स्त्रीलिङ्गेन स्त्रीजनप्रदयभावशामयता च गायत ।

(क) अनुगृहीत,—अनुग्रहं प्रापित, [ अत्र भाविनि भतवदपचारात् भावि  
न्यप्यनुग्रहे अतीतवद्वावहार ] अवभवत्या—मानय्या, आत्ययेति शेषः, महीयते,—  
महान् उत्सव,—आनन्दस्वरूप तस्मिन्, इति कथ्यमाणः, अथवा महान् उत्सवो  
यस्यादिति बहुव्रीहि, तस्मिन्नित्यर्थः । केचित् तु,—“मःसवे” इत्यस्य “मभुक्ता”  
इति सङ्घातयन्ति । तत्र वसन्तीत्येव अथवा मनोरमोक्तये निजनिर्माणे इत्यर्थः ।  
[ “पित्र मे पित्र कामी क्वु नाम एमी भयव, अणुगहिदो मइसवे तरुणजणो  
इति पाठान्तरं,—“प्रिय मे प्रिय काम, खलु नामैव भगवान्, अनुगृहीतो मया  
सर्व्वमनरुणजनस्य” इति संस्कृतम् ] ।

वस । पूअणीओ मे वम्हणो जणो । २ (भ)

सद । किं । अणेअणअराहिगमणजणिदविहववित्तारो  
वाणिअजुआ वा कामीअदि १ ॥

वस । हज्जे । उवारुडमिणेहपि (ज) पणइजण परिच्चइअ,  
देसंतरगमणेण वाणिअजणो महन्त विओअजं दुक्ख उप्पा-  
देदि । ३

सद । अज्जए । ए राआ, ए राअवत्तहो, ए वम्हणो, ए  
वाणिअजणो, ता को दाणि सो भट्टिदारिआए कामीअदि १ §

वस । हज्जे । तुम मए सह कामदेवाअदणुज्जाण गदा  
आमि १ ॥

सद । अज्जए ! गदम्हि । ४३

वस । तह वि मं उदासीणा (ठ) विअ पुच्छमि १ ॥॥

\* पूजनीयो मे ब्राह्मणजन ।

+ किम् अनेकनगराभिगमनजनितविभवविमारो वाणिज्युवा वा काय्यते १

‡ चेति । उपाकटस्त्रेहमपि मण्यिजन परित्यज्य देशान्तरगमनेन वाणिजजनो  
महद विद्योगं दुःखमुत्पादयति ।

§ पाठ्ये । न राजा, न राजवत्सभ, न ब्राह्मण, न वाणिजजन, तत् क इदानीं  
स भट्टदारिकया काय्यते १

॥ चेति । त्व मया सह कामदेवायत्नीयान गता कामी १

॥ पाठ्ये । गताऽस्मि ।

॥ तदाऽपि माम उदासीनेव इच्छमि १

मद । जाणिदं, किं सो ज्जेब्ब ? जेण अज्जआ सरणापटा  
अब्भुववणा । \* (ठ)

वस । किंणामहेओ क्वु सो ? †

मद । सो क्वु सेट्ठिचत्तरे (ड) पडिबसदि । ‡

वस । अइ णामं से पुच्छिदामि । §

मद । सो क्वु अज्जए ! सुगहीदणामहेओ (ढ) अज्जचारु  
दत्तो णाम । ¶

वस । [ सहर्षम् ] साहु मदणिए । साहु, सुहु, तुए  
जाणिदं । \*\*

मद । [ स्वगतम् ] एब्ब दाव । [ प्रकाशम् ] अज्जए दलिहो  
क्वु मो सुणीअदि । ††

वस । अटो ज्जेब्ब कामीअदि, दलिहपुग्गिममङ्गत्तामणा का,  
गणिआ लोए अवअणीआ (ण) भोदि । ‡‡

\* ज्ञातम्, किं स एव, येनाया शरणागतता अभ्युपपन्ना ?

† किन्नामधेय खनु स ?

‡ स खलु यत्तिनत्तर प्रतिमर्ति ।

§ अयि । नामास्य पृटासि ।

¶ स खलु आर्ये । सुगहीतनामधेय आयचारुदत्तो नाम ।

\*\* साधु मदतिके । साधु, सुहु त्वया ज्ञातम् ।

†† एव तावत् । आर्ये । दण्डि खलु स श्रूयते ?

‡‡ अत एव कायते, दण्डिपुरुषमद्भुतमना खलु गणिका मोह अवगन्ते ।।

भवति ।

मद । अज्जए । किं हीणकुसुमं सहआरपादवं महुअरीओ  
उण सेवन्ति ? \* (त)

वस । अदोज्जेब्ब ताओ महुअरीओ बुच्चन्ति । † (थ)

मद । अज्जए । जइ सो मणीसिदो, ता कीस दाणिं सहसा  
ण अहिसारीअदि ? ‡ (द)

वस । हज्जे । सहसा अहिसारीअन्तो पच्चुअआरदुब्बल-  
दाए मा दाव जणो दुल्लहदंसणो पुणो हुबिस्सदि । §

\* आर्ये । किं हीनकुसुम सहकारपादप मधुकथं पुन सेवन्ते ?

† अत एव ता मधुकथं उच्यन्ते ।

‡ आर्ये । यदि स मनोषित, तत् कस्मात् इदानीं सहसा नाभिसार्यते ?

§ चेष्टि । सहसा अभिसार्यमाण प्रच्युपकारदुर्ज्वलतया सा तावत् जनी  
दुर्लभदर्शनं पुनर्भविष्यति ।

( त ) मधु—मकरन्द, कुच्चन्ति—सर्ज्यत सञ्चित्य निष्पादयन्तीति मधुकथं,  
—ममथ, हीनकुसुम—व्यपगतपुष्प, पुष्पहीनमित्यर्थः, सहकारपादप—चूत-  
तरु सेवन्ते—प्राश्रयन्तीत्यर्थः । सञ्चितपुष्परसस्यैव मधुरूपेण परिणमनात्,  
पुष्पाभाव कथं तासां पुन तादृशी प्रवृत्तिरिति भावः । यद्वा,—मधु कुर्वन्ति—सेवन्ते  
इति मधुकथं, सततमधुसेवनान्मतेत्यर्थः, मत्ता हि कृतज्ञता गुणपरतन्त्रतादिकं  
न विचारयन्ति, अतः मधुकराणां सुमत्ततया कुसुमशून्यसहकारपादपपरित्यागे न  
वापि वचनोपेत्यभिप्रायः । पुन इति वाक्यालङ्कारः । प्रार्थितवस्तुमज्ञावे हि तद्वन्त-  
नांकां सेवन्ते इति सामान्ये प्रसूते पुष्पाभावे मधुकराणां सहकारानाश्रयणरूपी  
विशेषोऽभिप्राय इति अप्रसूतप्रशंसाऽलङ्कारोऽयं विभाव्यः ।

सद । किं अटीज्जेव्व सो अलङ्कारसो तस्म हल्लो  
णिकिवत्तो ? \*

वस । हज्जे । सुट्, दे जाणिदं । †

[ नेपथ्ये ] अले भट्टा । दग्गसुवण्णस्य ( ध ) लुडु जूदकक  
पपलीणु पपलीणु, ता गेल्ल गेल्ल, चिट्ट चिट्ट, दूलात्  
पट्टिदोस्ति । ‡

[ प्रविश्य अपटीचेपेण सम्भ्राल सवाहक ] । ( न ) कट्टे एगे जूदअल-

\* किम् अत एव सोऽलङ्कारस्य हलो निमित्तः ?

† चेष्टि । सुट् त्वया ज्ञातम् ।

‡ अरे भट्टारक । दग्गसुवर्णस्य रुपौ द्यूतकर प्रपन्नायित प्रपन्नायित, तद्  
गृहाण गृहाण, तिष्ठ तिष्ठ, दूरात् प्रदृष्टोऽसि ।

लक्षणे,—“अभिसारयते कालं या सनाथवशवदा । रायं ताऽभिसारयोगा शिर  
रक्ताऽभिसारिका ॥” इत्युक्ते ।

( ध ) द्यूतक्रीडां वर्णयिष्यन्नाह, नेपथ्ये इति ।—एव साधुर सभिक ( पुन  
सभाऽयच्च ) द्यूतकरसवाहकनामानौ धी द्यूतकरी । तत्र पराजित संवाच ० पण  
सदत्त्वा पलायमानसवगस्य साधुरस्तमनुमत्वात् द्यूतकरनामत्वात्, अत्र इति । —पर  
इति नोचसस्वीधने । भट्टारक इति द्यूतकरस्यामलणम् । दग्गसुवण्णस्य —रत्नानां  
सुवर्णानां—अर्थातिरिक्तिकपरिमितानां स्वर्णानां, समाहार समूहण, तस्य,  
[ सम्यक्सविवक्षया निर्गमिन्नाथे पठानि त्रीण्य ] दग्गसुवण्णस्य—पराजितस्य पराजितस्य,  
कृते इति शेषः । [ अथ “चिट्ट चिट्ट” इति पाठः प्रामादिकः । पट्टिदोस्ति  
“पट्टिदोस्ति” इति पाठः सङ्गच्छत, “प्रदृष्टोऽसि” इति सङ्गतम् । ]

भावे, हीमाणहे ॥ नववन्धनमुक्ती विश्व गदहो हा । ताडिदोम्हि  
अङ्गलाअमुक्काए शक्तीए घडुक्कओ विश्व घादिदोम्हि । १ (प) —

लेखअवावडहिअअं शहिअं दुहुण भक्ति पब्भट्टे ।

एहि मग्गणिवडिदे, वा णु क्खु शलण पपज्जे ? १\* ॥ १ ॥

ता जाव एदे शहिअजूदिअला अस्सदो म अस्सेशन्ति;

\* कष्ट एष द्यूतकरभाव, आश्चर्य ॥ नववन्धनमुक्त इव गर्दभी हा । ताडि  
तोऽस्मि, अङ्गराजमुक्तया शक्त्या घटोत्कच इव घातितोऽस्मि । —

+ लेखकव्याप्तहृदय समिक दृष्टा भटिति प्रसष्ट ।

इदानीं मार्गेनिपतित क नु खलु शरण प्रपद्ये ? ॥

( प ) कष्टे एण इत्यादि । — एष, — अनुभूयमान । द्यूतकरभाव, — द्यूत  
करत्वम् । कष्ट, — क्लेशजनक, नववन्धनमुक्त, — अचिरमेव बन्धनच्युत । गर्दभ  
इव — रासभ इव । ताडितोऽस्मि — अनुधावितोऽस्मि, प्रहृतोऽस्मीति वा, पथीभूत-  
दशसुवर्णशोधनाग्रमिति भावः । अङ्गराजमुक्तया — अङ्गराजेन — कर्णेन, मुक्तया —  
निक्षिप्त्वा, शक्त्या — सूयदत्तेन कुन्ताख्यास्त्रविजयेण, पत्ते — शक्त्या — शक्तिरूपेण  
दत्तेन इत्यर्थः । घटोत्कच, — हिडिम्बागर्भजातभीमसेनसुत, इव । [ इति उपमानानाम्  
अलङ्कारः ] घातितोऽस्मि — मारितोऽस्मि । पुरा भारतदुडे हिडिम्बागर्भजातभीम  
सेनसेनय घटोत्कच यदा महाभारतकृतवान्, तदा कर्णेन एकस्त्रीनाम्ना अत्र्य  
इत्यादिनातत इति भारतीयो कथाऽन्तानुसन्धेया ।

ताव इदो विष्णुडीवेहिं पादेहि एदं शुसुटेउल पविगिभ,  
देवीहुविशं। \* (फ) [ बहुविध नाय्य कला तथा म्यित ]।

[ तत प्रविगति मायुरी द्यूतकरय ]। (ब)

मायु। अले भट्टा। दगसुवसुस लुहु जूटकर पपलीणु  
पपलीणु, गेल्ल गेल्ल, चिठ्ठ चिठ्ठ, दूलात् पट्टोसि। †

द्यूत। जइ व्वजशि पाटालं इन्द शरण च सम्पदं जामि।

सहिअं वज्जिअ एक, रुहो वि ण रक्खिदु तरइ ॥२॥

\* तत यावत् एतौ समिकद्यूतकरो अन्यतो मामन्विष्यत, तावत् इतो विप्रतो  
पाभ्यां पादाभ्यामेतत् अन्य देवकुल प्रविश्य देवीभविष्यामि।

† अरे भट्टारक। दगमुवणस्य रुडो द्यूतकर प्रपलायित प्रपलायित, गणान्  
गृहाण, तिष्ठ तिष्ठ, दूरात् पट्टोसि।

‡ यदि व्रजमि पातालम्, इन्द्र शरणं च मागतं यामि।

समिकं वज्जित्वा एक रुद्रोऽपि न रन्ति तरति ॥

(फ) विप्रतोपाभ्या—विपरीताभ्याम्। [“विष्णुडीवेहिं” इत्यतः “विपरीताभ्याम्”  
इति पाठान्तरे,—“विपरीताभ्याम्” इति संस्कृतम्] पादाभ्यां—भरणभ्याम्।  
देवकुल—देवगृह, देवानयनियय, [“व्रज म्याद गोकुल गात्रम्” इत्यादौ  
गाकुलमित्यत्र, महाभाष्ये च यथा,—“कुम्भकारकुलं गत्वा कथिदाष्ट,— { १ } गान,  
जज्ञनाहरिष्ये इति, तथा वैराकरणकुलं गत्वा न कथिदाष्ट,— { २ } गान,  
प्रगोत्थे” इत्यादौ च कुलशब्दस्य गृहायत्व दृष्टम्]। देवीभविष्यामि—प्रदत्ता ।,  
—प्रतिमादप, सम्पद्यमानो भविष्यामि, देवप्रतिमास्य धृत्वा स्वात्मानं ।  
[ अदेवो देवी भविष्यामि इति देवीभविष्यामि इति त्रुट्त्वात् ]।

(ब) मायुर,—तन्नामा सुभरु, द्यूतसभा, यत्र इत्यर्थः ।  
तन्नामकं सवाहकस्य विज्ञेता अपरं द्यूतकरं ।

माधु । कहिं कहि सुसहिअविप्रलम्भआ ।

पलासि ले १ भअपलिवेविदङ्गआ ॥

पदे पदे समविषमं खलन्तआ

कुलं, जसं, अदिकसणं कलेन्तआ \* ॥ ३ ॥

पूत । [ पद वीच्य ] एसो व्वजदि, इअ पण्ढा पदवी । †(भ)

माधु । [ आलीक्य सवितर्कम् ] अले । विप्पदीवु पादु,  
पडिमाशुसु देउलु, (म) [ विचिन्त्य ] धुत्तु जूदकरु विप्पदीवेहिं  
पादेहि देउलं पविटो । ‡

\* कुव कुव सुसभिकविप्रलम्भक । पलायसे १ रे । भयपरिवेपिताङ्कक । ।

पदे पदे समविषम खलन् कुल यश अतिक्रण कुर्वन् ॥

† एष व्रजति इय प्रणटा पदवी ।

‡ अरे । विप्रतीपो पादो, प्रतिमायुय देवकुल, धूर्त्तो द्यूतकरी विप्रतीपाभ्यां  
पादाभ्यां देवकुल प्रविष्ट ।

न तरति—न समर्थो भवतीत्यर्थ । [ धातुनामनेकार्थत्वात् तृधातुरत्र समर्थार्थकी  
योग्य ] । अत आर्या वन्द ॥ २ ॥

माधुरीऽपि व्यासक्तमनसमात्मान प्रताप्य पलायमान सवाङ्क भोषयमाण पाद,  
घटि इति ।—सुसभिकस्य—सुरसुखव्यवहारिण सभिकस्य सन्त्यर्थ, विप्रलम्भक ।—  
प्रतारक । तथा भयपरिवेपिताङ्कक ।—भीतिकम्पितशरीर । अस्मद्भयेनातिविह्वल  
इति यावत्, पदे पदे—प्रतिपादत्वेपमित्यर्थ, समविषम—कचित् समान कचित्  
असमं खलन्—पादखलन प्राप्नुवन्नित्यर्थ, त्वमिति शेष, कुल—स्वीय वंश,  
यश,—वीर्यस्य, अतिक्रणम्—अतिमलिन, कुर्वन्—विदधत्, पलायसे—पलाय्य  
गन्तुमात्स्य अवाप्यकरे वृक्षमर्थादाहाने, अकीर्त्तेशावशम्भावादिति भाव ।  
८५ २ सिरा १५ —“जमो सजो गिति रुचिरा चतुर्दहै” इति लक्षणात् । ३ ॥

(भ) इय प्रणटा पदवी—इय पदवी—पादचिह्न, प्रणटा—विपरीता इति भाव ।

(क) देवकुल—विपरीतो । देवकुल—देवगृहम् । प्रतिमायुय—देव

१८ ८१ १८ ८१ देवकुल प्रतिविहीनता नात मानवसंसारसंस्काराणां इति



यूत । ता अणुमरेन्त । ‡

मायु । एव्व भोदु । †

[ उभौ देवकुलप्रवेश निरूपयत , दृश अन्योऽन्य मन्नाय (म) ] ।

यूत । कधं कट्टमयी पडिमा ‡

मायु । अले । गहु गहु, शैलपडिमा । [ इति बहुविध ज्ञानयत सन्नाय च ] । एव्व भोदु, एहि, जूट किलेम्ह । § [ बहुविध गृतं क्रीडयत ] ।

सवा । [यूतेच्छाविकारसंवरण बहुविध कृत्वा स्वगतम्] । अले ।—

कत्ताशद्दे गिस्साणअण्ण हल्लइ हडकं मण्णण्ण ।

ढक्काशद्देव्व गण्डाधिवण्ण पब्बभट्टलज्जण्ण ण ॥ ४ ॥

\* ततोऽनुसराव । † एव भवतु । ‡ कथं कट्टमयी प्रतिमा ।

§ अरे । न खलु, न खलु, शैलप्रतिमा । एव भवतु, एहि, द्युतनं क्रीडात ।

॥ अरे ।—कत्ताशब्दी निनाणकस्य हरति हृदय मनुष्यस्य ।

ढक्काशब्द इव नराधिपस्य प्रभट्टराज्यस्य ॥

( य ) सन्नाय—सदृशेन बोधयित्वा, धूर्तसंवाहक एव प्रतिमाद्वयेण आत्मानं गोपयन् तिष्ठतीति सङ्केत कृत्वा इत्यर्थः ।

इदानीं द्युतक्रीडां प्रवृत्तुं संवाहकं तामिव प्रशमनाय, कर्तेति ।—कत्ताशब्दः,—कत्ता—द्युतक्रीडा, [ कुप्रवृत्त्ययककट्टधातोः कृप्प्रत्ययेन निष्पन्नात् रुडित्वात् नाना भाग कृप्प्रत्यय, तत स्तोत्रम् ] यदा,—यदा द्युतक्रीडा भवति, सा कत्ता, “कान्” इति भाषा, तस्या शब्दः,—ध्वनिविशेषः, निनाणकस्य—नाणकरुद्धितम्, निन्दनमयी वावत्, अणक,—कुम्भित, ( “ कुपुत्रकुम्भितावय सितमन्नायका मता ” इत्यमरः ) न अणक,—नाणक, शोभन ( नपसकञ्चमभिधानात् ) सद्गतिर्निर्दिष्ट निनाणक

जाणामि ण कीलिशं, सुमेलुशिहलपडणशसिहं जूदं ।

तह वि हु कीडलमहुले कत्ताशद्दे मणं हलदि \* ॥ ५ ॥

यूत । मम पाठे, मम पाठे । १ (र)

माघु । ण हु, मम पाठे, मम पाठे । ‡

सवा । [ अन्यत सहसीपस्य ] णं मम पाठे । §

यूत । लडे गोहे । १ (ल)

माघु । [ गृहीत्वा । ] अले लुत्तदण्डा । ( व ) गहीदोसि,

पअच्छ त दससुवस । ॥

\* जाणामि न कीडिष्यामि, सुमेरुशिखरपतनसन्निभ यूतम् ।

तथाऽपि खलु कीकिलमधुर कत्ताशब्दो मनो हरति ॥

† मम पाठे, मम पाठे ।

‡ न खलु, मम पाठे मम पाठे ।

§ ननु । मम पाठे ।

॥ लब्ध पुरुष ।

॥ ५ ॥ ॥ रे लमदण्डक । गृहीतोऽसि, प्रयच्छ तद् दशसुवर्णम् ।

पुरत यूतक्रीडामालीक्यातिप्रलुब्ध सवाहक यूतक्रीडाया अहितकारित्वम्  
अत्याकर्षकत्वञ्चाह, जाणामि इति ।—सुमेरी,—तदाख्यपर्वतस्य, शिखरात्—अत्युच्च-  
शङ्कात्, पतनेन—पातेन, सन्निभ—सदृश, तत्पतनवत् अतिभयङ्करमित्यर्थं, तथाऽपि  
यूतक्रीडाया अतिभयङ्करपरिणामत्वेऽपि, कीकिलमधुर,—कीकिल इव—कीकिल  
रव इवेत्यर्थ, मधुर,—मनोहारी, [ अथ कीकिलपदेन लक्षण्या कीकिलरवी  
साधन ] कत्ताशब्द —यूतक्रीडासाधनद्रव्यस्य ध्वनि, खलु—निश्चित, मन,—  
‘मनो हरति’—आकर्षति, यूतक्रीडाया शीघ्रनीचपरिणाममनुचिन्त्यन् मया शतश  
प्रसज्यते, यत पुनर्यूत न क्रीडिष्यामीति, तदपि श्रुतिमुखकर पाशकादिरव यवप  
‘हरमाशङ्क्येव दण्डात् तर्क्येव प्रवर्णयतीत्यहो अचिन्नीयमाहात्म्य यूतस्येति भाव ।  
इत्यादि विप्लवा हसन् । ५ ।

सवा । अज्ज दइशं । \*

मायु । अहुणा पअच्छ । †

सवा । दइशं, पशाटं कलेहि । ‡

मायु । अले । ग सपट पअच्छ । §

सवा । शिलु पडदि । ¶ (ग)

[ इति भूमौ पतति । उभौ बहुविधं ताडयत ] ।

मायु । एसु तुम हु जूदअरमण्डलोण वडोमि । \*\*

सवा । [ उल्लय सविपादम् ] कध जूदअरमण्डलोण वडोमि ?  
हो । एसे अरुहाण जूदअलाण अलङ्घणोअगमण, (प) ता कुटा  
दइशं ? ††

मायु । अले । गयु (स) कुलु कुलु । ‡‡

सवा । एव्व कलेमि । [ द्यूतकरमुपगम्य ] अत्त ते देमि,  
अहं मे मुच्चदु । §§

यूत । एव्व भोदु । ¶¶

\* अयं दास्यामि ।

† अपुना प्रसक्तः ।

‡ दास्यामि, प्रसादं कुरु ।

§ अर । ननु सान्प्रतं प्रयच्छ ।

¶ इति पतति ।

\*\* एष तु त्वं द्यूतकरमण्डल्या वडोमि ।

†† कथं द्यूतकरमण्डल्या वडोमि ? कटम् । एषो, एषा कृतास्त्यागान्

अलङ्घनोपसन् । तद्वान् कृता दास्यामि ।

‡‡ अर । त्वं अत्रैव क्रियताम् ।

§§ एतं करं । अहं तुल्यं ददामि, अहं मे मुच्यते ।

¶¶ एवमेव भवेत् ।

मवा । [ अभिक्नुपगम्य ] अहश्च गम्यु कलेमि, अहं पि  
मे अज्जो मुच्चु । २

माधु । को दोसु. एव्व भोदु । १

मवा । [ प्रकाशन् ] अज्ज ! अहे तुए मुक्के १ ३

माधु । मुक्के । १

मवा । [ दूतकर प्रति ] अहे तुए वि मुक्के १ १

माधु । मुक्के । २

मवा । सम्पटं गमिस्स । १११ (ह)

माधु । पअच्छ त दशसुवस्स . कहिं गच्छमि १ ३३

मवा । पेक्खध पेक्खध भट्ठालआ ! हा ! सम्पद ज्जेव  
एक्काअ अहे गम्यु कडे, अवलाह अहे मुक्के, तहवि म अवल (क)  
गम्यद ज्जेव मगदि ॥ १११

माधु । [ गहीत्वा ] धुत्तु । मायुरु अह णिउणु, एत्य ण अहं  
धुत्तिज्जामि, ता पअच्छ त लुसदण्डआ । सव्व सुवस्स सम्पट । १११

मवा । कुटो दण्डं १ २२

माथु । पिदरं विक्रिणिअ पअच्छ । \*

संवा । कुटो मे पिदा ? †

माथु । मादरं विक्रिणिअ, पअच्छ । ‡

संवा । कुटो मे मादा ? §

माथु । अप्पाणं विक्रिणिअ पअच्छ । ¶

संवा । कलेध पशाद । गेध म लाजमगं । \*\*

माथु । पसरु । †† (ख)

संवा । एव्वं भादु । [ परिक्रामात् ] अज्जा । किणिध म  
इमस्स गहिअस्स हत्यादा दगहि शुवमकहि ? [ दृष्ट्वा आकाशं ] (ग)  
कि भणाध ? कि कनइस्सणि त्ति ? गहे दे कम्मकले हणिण्णं ।  
कधं । अदइअ पडिवअण गदे । भादु एव्व, इम अण भण  
इस्स । [ पुनस्तदेव पठति ] कध । एगे वि म अन्धाणलण  
गदे ॥ आः । अज्जचालुदत्तस्स विहवे विहडिदे एगे अह  
वट्ठासि मदभाण । ‡‡ (घ)

\* पितरं विक्रीय प्रयच्छ ।

† कुटी मे पिता ?

‡ मातरं विक्रीय प्रयच्छ । § कुटी मे माता ? ¶ आप्पाणं विक्रीय प्रयच्छ ।

\*\* कुरुत प्रसाद, नयत मां राजमार्गम् ।

†† प्रसर ।

‡‡ एव भवतु । आया । क्रीणीव माम् अहं मांमकथं अजात दगंम  
मुवण्णं ? किं भणत ? कि करिण्णमोत ? गेध न कम्मकले अणिण्णं  
कथम् । अदत्त्वा प्रतिवचनं गत । भवत्वेवम, इमम् अण भणिण्णं । कथम्  
एवोऽपि मामवधोरयित्वा गत ॥ आ । अज्जचालुदत्तस्स विहवे विहडिदे एगे अह  
वट्ठासि मदभाण ।

साधु । ए देदि । †

सवा । कुदो ददृश १ १' [ इति पतति । साधुर कर्षति ] ।

सवा । अज्जा । पलित्ताअध, पलित्ताअध । ‡

[ तत पविशति दर्दुरक ] ।

ददुं । भोः । द्यूत हि नाम पुरुषस्य असिंहासनं राज्यम्,—

न गणयति पराभव कुतश्चित्

हरति ददाति च नित्यमर्थजातम् ।

नृपतिरिव निकाममायदर्शी

विभवता समुपास्यते जनेन ॥ ६ ॥

अपिच,—

द्रव्यं लब्ध द्यूतेनैव, दारा मित द्यूतेनैव ।

दत्तं भुक्त द्यूतेनैव, सर्वं नष्ट द्यूतेनैव ॥ ७ ॥

\* ननु देहि ।

† कुतो दास्यामि ?

‡ आर्या । परिषायध्व परिवायध्वम् ।

गवस्थाऽऽपन्नं, मन्दभाग्यं,—भाग्यहीनं सन्नित्यर्थः । वहे—जीवामि । [ “वहामि” इत्यतः ‘वहामि’ इति पाठान्तरे,—“वहे” इति सङ्कृतम् इति प्राप्नोमीत्यर्थः ] ।

द्यूतस्याविलम्बीयमारात्म्यमुपवर्णयन् श्लोके राज्यतुल्यत्वमेव उभयसाधारणध्वम्-  
इदं ननु समुपवर्णयमानं आह, नेति ।—कुतश्चित्—कस्मादपि, पराभव—पराजयः, न  
गणयति—न तत्र प्रति, नित्यं—सततम्, अर्थजातम्—अर्थसम्पन्नम्, हरति—वर्धयति,  
ददाति—दधति च, निकाम—सम्यक्, अत्यन्तमित्यर्थः, ददा तदा, आदर्शी—  
साक्षात्, अस्मादस्माद इत्यर्थः नृपतिरिव—राजैव, विभवता—सम्पत्तिशालिना  
वैभवं संपादयन्—सयते, द्यूतमिति शेषः एव सङ्गः । अथ धनमन्यन्नृपतिना  
द्यूतं—‘ननु द्यूतं धनं वास्तविकं वा नान्तरात् ननु च इदं शब्दोदात्तमिति  
शङ्कोरः ।’ इत्यत आह—‘द्यूतं = ननु द्यूतमिति शङ्कोरः ननु’

अपिच,—

तेताहृतसर्वस्वः, पावरपतनाच्च शोषित शरीर ।

नर्दित-दर्शितमार्गः, कटेन विनिपातितो यामि ॥ ८ ॥

[ अग्रतोऽवलोक्य ] अयमस्माकं पूर्वसभिको मायुर इत एवाभि  
वर्त्तते । भवतु, अपक्रामितुं न शक्यते, तदवगुहयामि  
आत्मानम् । (६) [ बहुविध नाय्य कृत्वा स्थित । उत्तरोय निरीत्य ]—

णामेनावप, [ दारशब्दस्य निर्यक्तवचनत्वमेव, “आपी दारा वपा मिहता इत्या  
द्युक्ते ] मितञ्च—वन्धुय, लब्ध, दूतेन एव, सर्वे—सकल धनादिकमिलाप, एक—  
विवरित, भुक्तम्—उपभुक्त, तथा दूतेनैव सर्वं मष्टय—हारितञ्च । अत निरु-  
न्माना इति —“मी मी गो गो विदन्माला” इति लक्षणात् ॥ ७ ॥

अथ पट सूत्रदग्धिता गतो

ह्यथ पटस्त्रिदशतैरलङ्कृतः ।

अथ पटः प्रावरितुं न शक्यते

ह्यथ पट सवृत एव शोभते ॥ ६ ॥

अथवा किमय तपस्वी करिष्यति १ (च)

पुत्तनभिकामाधुगाहोत् उत्तरीयेष्टात्मानमाच्छादयितुकाम तदतीव जीर्णमालीक्य  
आह्वयमिति ।—अथ—परिदृश्यमान इत्यर्थः, पट,—उत्तरीय, सूत्रदग्धिता—  
प्रायेण सूत्रहीनतामित्यर्थः [ दग्धिशब्दस्य धनहीने शक्तत्वेऽपि लक्षणयाऽव अभव  
वस्त्रादयोऽप्येकत्वेन सूत्राभाववत्तादीषु इति बोध्यम् ] गत,—प्राप्त, जालवत् अल्पतन्तु-  
निम्नित्वादिति भावः अथ पट, त्रिदशतै,—बहुभिस्त्रिदशैः [ शतादिशब्दानामेक  
वचनान्वयिण्यस्यत्वेऽपि शतादीनामनेकत्वस्य विवक्षितत्वे बहुवचनस्यापि अनुशिष्टत्वा-  
दयं त्रिदशैः बहुशतत्वस्य विवक्षितत्वात् बहुत्व बोध्यम्, यदा शतशब्दाऽव एकशब्दोक्तः ]



यो हि,—

पाटेनैकेन गगने द्वितीयेन च भूतले ।

तिष्ठाम्युल्लसितस्तावद् यावत् तिष्ठति भास्कर ॥ १० ॥

माधु । दापय दापय ।

सवा । कुटो दृश्य १ । \* [ मायुर कथति ] ।

ददुं । अये । किमेतदयतः १ [ आकाशे ] किं भवानाह १

अय द्यूतकरः सर्भिकेन खलोक्रियते, ( छ ) न कश्चिन्मोचयति १

ननु अय ददुर्गे मोचयति । [ उपसृण्व ] अन्तरमन्तरम् ( ज )

[ दृश ] अये । कथं मायुरो धूर्तः ॥ अयमपि तपस्वी संवाहक, - -

यः स्तब्ध दिवसान्तमानतशिरा नास्ते समुल्लसित

यम्योद्धर्पणलोष्टकैरपि सदा पृष्ठे न जातः क्रिण ।

\* कुनी दाम्यानि १



भवतु, माधुरं तावत् सान्त्वयामि । [ उपगम ] माधुर ।  
अभिवादये ।

माधु । प्रत्यभिवादये ।

दृष्टं । किमेतत् ?

माधु । अत्र दशसुवर्षं धालेति ।

दृष्टं । ननु । कथ्यवर्त्तमेतत् । ( भ्र )

माधु । [ दृष्टुं रम्यं कनकतल्लङ्घनीकृतं पटमाकण ] भट्टा । पश्यत  
पश्यत, जल्लरपटप्पावुदो अत्रं पुलिसो दशसुवर्णं कल्लान  
भण्णादि । †

दृष्टं । अरे मूर्ख । नन्वहं दश सुवर्णान् कटकरणेन ( ज )  
प्रयच्छामि । तत् किं यस्यास्ति धनं, स किं क्रोडे कृत्वा दश  
यति ? अरे ।—

दुर्वर्त्तोऽसि विनष्टोऽसि दशस्वर्णस्य कारणात् ।

पञ्चेन्द्रियसमायुक्तो नरो व्यापाद्यते त्वया ॥ १२ ॥

\* अत्र दशसुवर्णकं धारयति ।

† भट्टारका । पश्यत पश्यत, जल्लरपटप्पावुदोऽत्रं पुलिसो दशसुवर्णं कल्लान ।

भणति ।

माधु । भट्टा । तुए दशसुवस्सु कल्लवत्तु, मए एसु विहवु । १

ददु । यद्येव, अयता तर्हि, अन्यान् तावत् दश सुवर्णान् अस्यैव प्रयच्छ, अयमपि द्यूत शीलयतु ।

माधु । तत् किं भोटु ? १

ददु । यदि जेष्यति, तदा दास्यति ।

माधु । अहं ए जिएणादि ? ३

ददु । तदा न दास्यति ।

माधु । अहं ए जुत्त जप्पिटु । एवं अक्खन्तो तुम पअच्छ ; धुत्तआ । अहं पि णाम मायुर धुत्तु, जूद मित्था आद-  
मआमि. अस्सन्स वि अहं ए विभेमि । धुत्ता । खण्डिअवुत्ती (ट)  
मि तुम । §

\* भट्टारक । तव दशसुवर्णं कल्यवर्त्तं, मम एष विभवः ।

† तत् किं भवतु ?

‡ अद्य न जयति ।

§ अद्य न युक्तं जप्नितुम् । एवमाचक्षते प्रयच्छ धूर्त्तक । अहमपि नाम माधुरी धूर्त्त, द्यूतं मित्था आदशयामि, अन्यथापि अहं न विभेमि । धूर्त्त । खण्डितव्यमस्मि त्वम् ।

ददुं । अरे । कः खण्डितवृत्तः ?

मायु । तुम क्व खण्डितवृत्तः । ३

ददुं । पिता ते खण्डितवृत्तः । [ सबाहकस्यापक्रमित् संज्ञां ददाति । ]

मायु । गोसाविआपुत्रः । न एव जिव जूट तुम मावद ॥

ददुं । मया एवं व्यूतमासेवितम् ।

मायु । अले संवाहया । पञ्च तं दगसुवणम् । ॥

सवा । अज्ज ! दइशं, दाव दइशं § [ मायुर कथति । ]

ददुं । मूर्ख ! परोक्षे खलीकर्तुं (ठ) शक्यते, न समागतं खलीकर्तुम् ।

[ मायुर सबाहकमाकृत्य घोषायां मुष्टिप्रहारं ददाति । सबाहकः संशोणितं भ्रूल्य ]

नाटयन् भ्रमी पतति । ददुरक उपसृत्य अन्तरयति । मायुरो ८ ॥

ताडयति । ददुरो विप्रसोप ताडयति ] । (९)

मायु । अले अले दुष्ट किमालिआपुत्रः । फलमि पाति  
हमि । ॥

ददुं । अरे मूर्ख ! अहं त्वया मार्गगत एव ताडितः, गो-  
यदि राजकुले ताडयिष्यमि, तदा द्रव्यमि ।

मायु । एसु पकिवम् । ॥

ददुं । कथं दृश्यसि ?

माधु । [ प्रसाद्यं चक्षुषी ] एवमेव पेक्विस्सं । \*

[ ददुंरो माधुरस्य चक्षुषी पांशुना पूरयित्वा संवाहकस्य अपक्रमितुं सञ्ज्ञां ददाति ।

माधुरोऽक्षिणीं निगृह्य भूमौ पतति । संवाहकोऽपक्रामति ] ।

ददुं । [ स्वगतम् ] प्रधानसभिकी माधुरो मया विरोधितः, तन्नात्र युज्यते स्यातुम् । कथितञ्च मम प्रियवयस्येन शर्विल्लकेन यथा किल आर्य्यकनामा गोपालदारक' (ठ) सिन्हादेशेन समादिष्टो राजा भविष्यतीति, सर्व्वश्च अस्मद्विधो जनः तमनुसरति, तदहमपि तत्समीपमेव गच्छामि । [ इति निष्क्रान्तः ] ।

सबा । [ सवासं परिक्रम्य दृष्ट्वा ] एषो कश्शवि अणपावुद-  
पक्वदुयाल्लके (ण) गुहे, ता एतं पविशिश्श । [ प्रवेशं रूपयित्वा  
वसन्तमेवाम्नीक्य ] अल्ले । शल्लणागटेहि । †

वस । अभश्श शल्लणागदस्स । हल्ले । ढक्केहि ( त ) पक्व-  
दुआरश्श । ‡

\* एवमेव प्रेक्ष्ये ।

† एतत् कस्यापि अनपाहतपक्षहारकं गेहं, तदत्र प्रविशामि । आर्य्ये ।  
जरदागतीऽक्षि ।

‡ अभयं जरदागतस्य । चेष्टि । पिपेहि पक्षहारकम् ।

- ददुं । अरे । क. खण्डितवृत्तः ?  
 माथु । तुम कवु खण्डितवृत्ता । \*  
 ददुं । पिता ते खण्डितवृत्तः । [ सवाहकस्यापक्रमितुं मञ्चा दद्याति ] ।  
 माथु । गोसावित्रापुत्ता । गण्ण्व ज्जेव जूट तुण्ण सैवद ११'  
 ददुं । मया एव द्यूतमासेवितम् ।  
 माथु । अले संवाहआ । पअच्छ तं दणसुवण्ण । ‡  
 सवा । अज्ज । दइण्ण, दाव दइण्ण § [ माथुर कपति ] ।  
 ददुं । मूर्ख ! परोक्षे खलीकत्तुं (ठ) शक्यते, न ममागत.  
 खलीकत्तुम् ।

[ माथुर सवाहकमाकृत्य घोषायां मुष्टिप्रहारं ददाति । सवाहक मञ्चोत्तरे मूकः ।  
 नाटयन् भूमौ पतति । ददुरक उपसृत्य अन्तरयति । माथुरो ददुरं  
 ताडयति । ददुरो विप्रतीपं ताडयति ] । (ड)

माथु । अले अले दुट्ट किस्सालिआपुत्तअ । फलपि पावि  
 हसि । ¶

ददुं । अरे मूर्ख ! अहं त्वया मार्गगत एव ताडितः, श्वो  
 यदि राजकुले ताडयिष्यमि, तदा द्रक्ष्यमि ।

माथु । एसु पेक्खिस्स । \*\*

\* त्वं खलु खण्डितवृत्तः ।

† वेण्यापुत्रः । ननु एवमेव द्यूतं त्वया सेवितम् ?

‡ अरे सवाहक । प्रयच्छ तत्त दणसुवर्णम् ।

§ आर्यः । दास्यामि, तावन् दास्यामि ।

¶ अरे अरे दुष्ट पुत्रलोपवकः । फलमपि प्राप्तामि ।

\*\* एव प्रत्यक्षः ।

ददुं । कथं द्रक्ष्यसि ?

नाथ । [ प्रमाद्य चक्षुषी ] एवमेव पेक्विस्सं । \*

[ ददुरी नाथुरस्य चक्षुषी पायना पूरयित्वा सवाहकस्य अपक्रामितुं सञ्ज्ञा ददाति ।

मातुरोऽक्षिणी निगृह्य भनौ पतति । सवाहकोऽपक्रामति ] ।

ददुं । [ स्मरन्तम् ] प्रधानसभिकी माधुरी मया विरोधितः, तन्नात्र युज्यते स्यातुम् । कथितञ्च मम प्रियवयस्येन शर्विलकेन यथा किल आर्य्यकनामा गोपालदारकः (ठ) सिन्हादेशेन ममादिष्टो राजा भविष्यतीति, सर्व्वञ्च अस्मद्विधी जनः तमनुसरति, तदहमपि तत्समीपमेव गच्छामि । [ इति निष्क्रान्तः ] ।

मया । [ मयाम् परिक्रम्य दृष्ट्वा ] एषो कश्चावि अणपावुद-  
पक्वदुयालके (ण) गुहे, ता एतत् पविशिञ्ज । [ प्रवेशं दपयित्वा  
हमन्मनामालीङ्ग ] अल्ले । शलणागदन्ति । †

हम । अभय शलणागदन्तम् । हल्ले । ढक्केहि ( त ) पक्व-  
दभारन्तम् । ‡

\* एवमेव प्रेक्ष्ये ।

† एतत् कस्यापि अणपाहतपक्षहारकं गेहं, तदत्र पविशामि । आर्य्ये ।  
शरदारगोऽक्षि ।

‡ अभय शरदारगदन्तम् । चेति । सिद्धेहि पक्षहारकम् ।



चेटी । [ तथा कृत्वा परिक्रम्य च ] अज्जे । किद । ॥

वस । किं ? ॥

चेटी । जं तुण कधिदं । ॥

वस । कुटो दे भयं ? ॥

सवा । अज्जे । धणिकादो । ॥

वस । हस्से । सम्पदं अपावणु (य) पक्खदुआरम् । ॥

सवा । [ आश्चर्यम् ] कधं । धणिकादो तुलितं (ट) शे भय-

कालणं ॥ शुद्धं क्व एव्व वुच्चदि, ॥—

जे अत्तवल जाणिअ भाल तुलितं वहेइ माणुम्मे ।

ताह खल्लण ग जायदि, ग अ कन्तालगटो विवज्जदि ॥ १३ ॥

० आर्थे । कृतम् । † किम् ? ‡ यत् तया कथितम् ।

§ कुतस्ते भयम् ? ॥ आर्थे । धनिकात् ।

०० चेटी । साम्प्रतम् अपावणु पक्षधारकम् ।

† कथं । धनिकात् तुलितम् अस्या भयकारणम् ॥ मृदु खल एवमुच्यते, —

‡ य आत्मघ्नं ज्ञात्वा भारं तुलितं वहति मन्यते ।

तस्य खलनं न जायते, न च कालारगतो विपश्यते ॥

( य ) अपावणु, — शृङ्खलादिना दृढतरं कृत्स्नं इत्यर्थः, यद्वा, — निराश्रयं कुरु, उदाटय इत्यर्थः ।

( ट ) धनिकात् — धनवत्पुरुषात्, उत्तमगणाद्वा । अस्या, — रसगणा । मन्-  
सेनया इत्यर्थः । भयकारणं — भौतिहेतुः । तुलितं — तुल्यं, समंति गतं, धनिकं  
यथा मे भयहेतुः, तथा अस्या अपीत्यर्थः ।

एत्य लक्खिदम्हि । \* ( ध )

साधु । [ अविणी प्रसन्न्य द्यूतकर प्रति ] अले । देहि देहि । †

द्यूत । भट्टा । जावदेव अम्हे ददुरेण कलहायिदा, (न)

तावदेव सी गोहो अवक्कन्तो । ‡

साधु । तस्स जूदकलस्स मुट्ठिप्पहालेण णाशिका भग्गा

आमि ; ता एहि, रुद्धिरपहं अणुसरम्ह । § (प) [ अनुसरत ] ।

\* अत्र लक्षितोऽपि ।

+ परे । देहि देहि ।

‡ भर्त । जावदेव वय ददुरेण कलहायिता , तावदेव स पुरुषोऽपक्रान्त ।

§ तस्य द्यूतकरस्य मुट्ठिप्रहारेण नासिका भग्गा आसीत् , तत् एहि, रुद्धिर-  
पधमम्सराव ।

लक्षादीक्षितस्य व्याख्या न साध्वी, “अत इदं तौ लक् च” इति सूत्रेण सी परे  
अकारान्तादन्तरे विहितयो इकारेकारयो पचे लोपविधानेन गडशब्दस्य अकारान्त  
स्यैव सिद्धत्वात् ] न विपद्यते—न विपदमाप्नोति च । अत्र “य आत्मबलम्” इति महा  
जमवाक्यं “अहं लक्षित” इति वक्ष्यमाणेनान्वेति, अपरैर्निर्दर्शनतयेति श्रेय ।  
इदं शक्तिमनुसृत्य द्यूतक्रीडायां मम प्रवृत्तिरुचिता, परम अविच्छेद्यकारितयैव  
सर्वातादृशी लान्तनेति भाव । अत आत्मबलं ज्ञात्वा उपयुक्तं भारं वहतो मनुष्यस्य  
विपन्नाप्राणभावस्य पादप्रवृत्त्यात् आत्मबलमज्ञात्वा द्यूत क्रीडत सदाहकस्य तादृश-  
निष्पत्त्यात्माकविपन्नाभिदप प्रवृत्त पदार्थो वैधर्म्येण प्रतीयते, इत्यप्रवृत्तप्रशसांस्त  
हार । आर्या तत्तम् ॥ १० ॥

यूत । भट्टा ! वसन्तसेनागेह पविटो सो । \*

मायु । भूटाइं सुवणाइ । † (फ)

यूत । लाअउलं गदुअ णिवेदेह । ‡

मायु । एस धुत्तो इदो णिकमिअ अणत्त गमिस्सदि,  
ता उअरोधेगौव (व) गेहेह । § [ इत्येकान्ते स्थितौ ] ।

वस । [ मदनिकाया सखा ददाति ] । (भ)

मद । कुदो अज्जो ? को वा अज्जो ? कस्स वा अज्जो ?  
किं वा वित्ति अज्जो उवज्जीअदि ? कुदो वा भअं ? ¶

सखा । शुणादु अज्जआ, —अज्जए । पाडलिउत्ते मे जम्मभूमि,  
गहवइदालके हगे, सबाहअण्ण वित्ति उवज्जीआमि । \*\* (म)

\* भर्त्ता । वसन्तसेनागेहं पविष्टः स ।

† भूतानि सुवणानि ।

‡ राजकुलं गत्वा निवेदयाव ।

§ एष धूर्त्त इतो निष्क्रम्य अन्यत्र गमिष्यति, तस्मादुपरोधेनैव गृह्यते ।

¶ कुत आद्य ? को वा आद्य ? कस्य वा आद्य ? कां वा हातम् आद्यं  
उपजीवति ? कुतो वा भयम् ?

\*\* यथोक्तं आर्यां, —आर्यैः । पाटलिपुत्रं मे जन्मभूमि, गृहपतिभारको, हं,  
संबाहकस्य वित्तम् उपजीवामि ।

मुण्याघातन, ममति शय । अत्र एतन् परिमर्षो नाम प्रतिमुखमभेदः प्रदर्शितः,  
यथा,—“इदं नटानुसरणं परिमर्षं कथ्यते” इति दर्पणवैजयन्तम् ।

( फ ) भूतानि—अतीतकालिकानोव गतानि, एतस्य, अपरस्य गृहं प्रतिष्ठानम्  
इदानीं मम सुवर्णप्राप्ताया विफलैव इति भावः । केचित्तु,—भूतानि—मृतातानि  
प्राप्तानीत्यर्थः, वसन्तसेनायाः शरणागतवत्सलत्वात् शरणागतदयधनं तं । अत्र  
परिगोच्यमिति भावः, इत्येव व्याचक्षते ।

( व ) उपरोधेन—निरोधेन, वलात् पयानमवकृत् इत्यादि ।

( भ ) वसन्तसेना सखा ददाति—अथ नामादिकं मम वृत्ति, इति मन्त्रः  
कटाक्षमश्रुतेन सापद्यति इत्यर्थः ।

वम । सुउमारा क्व कना शिचिदा अज्जेण ॥ ३ (य)

वम । अज्जए । कलेत्ति शिक्खिदा, आजीविआ दाणि  
भवुत्ता । ॥ (र)

वेटो । अदिगिब्विस्स अज्जेण पडिवअण दिसं । तदो  
तदो १ ॥ (ल)

मम । तदो अज्जए । एसे णिजगेहे आहिण्डकाण  
सुहादो गुणिअ अपुब्बदेगदगणकुदूहलेण इह आगटे ।  
इह वि मण पविशिम उज्जइणि एक्के अज्जे शुशुग्गिदे, जे  
तान्तिगे पिअदग्गणे, पिअवाटी, दइअ ण कित्तेदि, अवकिट  
विग्गमलेदि, किं बहुणा उत्तेण १ दक्षिणदाए पल्लकेलअ विअ  
पत्ताणअ अवगच्छदि, (व) शलगागदवच्छले अ । §

चेटी । को दाणि अज्जआए मणोरहन्तरस्स (ग) गुणाइ चोरिअ उज्जइणि अलङ्करोदि ? \*

वस । साहु हज्जे ! साहु, मए वि एब्ब ज्जेव हिअएण मन्तिदं । †

चेटी । अज्ज । तदो तदो ? ‡

सवा । अज्जए । शे टाणि अणुक्कोशकिटेहिं पदाणेहि—”§(प)

वस । कि उबरदविहवो सवुत्तो ? ¶ (स)

\* क इदानीम् आख्याया मनोरथान्तरस्य गुणान् चोरयित्वा सज्जयिमीमलङ्करोति ।

† साधु, चेटी । साधु, मयाऽपि एवमेव हृदयेन मन्तितम् ।

‡ आर्य्य । ततस्ततः ?

§ आर्य्य । स इदानीम् अनुक्कोशकृतैः प्रदानैः—

¶ किम् उपरतविभवः सञ्ज ?

दीनां वेश्य । दत्त्वा न कीर्तयति—अधिभ्यः प्रार्थितादप्यधिकं भनं दत्त्वाऽपि स्वकीयदानगौण्यतां न व्यापयति । [ “ददश्च” इत्यत्र “ददश्च” इति पाठान्तरं,—“ददितम्” इति संस्कृतम् । तत्र ददितं—प्रियम्, आत्मगौरवरूपमिति भावः, एतच्च न दत्तस्य महानुभवत्वं प्रकटितम्, महात्मानो हि अनुश्रितवऽपि गौरवजननं भूतहितैषिणि कार्ये विकल्पनमात्महननतुल्यं मन्यमाना इतरजनयत् न तत्र शयं प्रकाशयितुमिच्छन्ति ] दक्षिणतया—स्वभावमुलभदक्षिण्येन । परकीयमित्य—परप्रयोजनसाधनैकोद्देश्यकमिव इत्यर्थः । [ केचित्तु,—“फलकैलश्च” इत्यत्र “फलकैलश्च” इति पाठान्तरं परिकल्प्य “दक्षिणदाण” इति च पठन्त पठित्वा “दक्षिणदाणां फलकते—फलदाय इत्यर्थः, इव आत्मानमवगच्छति, महाशयसामर्थ्यक्रान्तिभूतमात्रं सफलं जानातीत्यर्थः” इति व्याचक्षते, ] ।

( ग ) मनोरथान्तरस्य—अभिलाषविशेषस्य, आरुदम्भेऽप्य ।

( प ) अनुक्कोशकृतैः—अनुक्कोशः,—टोका, (कृपा दशा नक्षत्राणां नामानि) इति इत्यमरः ) तेन कृतानि तैः, प्रदानैः,—नेत्रेभ्यो भनयितव्ये ।

( स ) उपरतविभवः—नटधनः, सञ्जः,—आमः, स इति पृथक् कृतान्य ।

सुवा । अणाचक्खिदे ज्जेव कधं अज्जआए विखादं ? †

वस । किं एत्थ जाणीअदि ॥ दुल्लहा गुणा विहवा अ,  
अपेएसु तडाएसु बहुदर उदअ भोदि । १\* (ह)

चेटी । अज्ज । किणामधेओ क्खु सो ? ‡

सुवा । अज्जे । के दाणि तश्श (क) भूदलमिअंकश्श णामं  
ण आणादि ॥ ओ क्खु गेह्वित्तले पडिवशदि, शलाहणिज्ज-  
णामधेए अज्जचालुदत्ते णाम । §

वस । [ सहपनासनादवतीत्य ] अज्जस्स अत्तणकेरकं एद गेहं ।  
हज्जे । देहि से आसण, तालवेण्ठअ गेह्ण, परिस्समो अज्जस्स(ख)  
वाधेदि । ¶

चेटी । [ तदा करोति ] ।

संवा । [स्वगतम्] कध । अज्जचालुदत्तस्स णामसङ्कीर्त्तणेण  
 ईदिशे मे आदत्ते ॥ [प्रकाशम्] शाहु, अज्जचालुदत्ता । शाहु, पुह-  
 वीए तुम एक्के जीवसि, शेशे उण जणे शशदि । (ग) [इति पाटयो  
 निंपत्य] भोदु अज्जए । भोदु, आशणे णिगीददु अज्जआ । \*

वस । [आसने समुपविश्य] अज्ज ! कुदी सो धणिओ १ † (घ)

संवा । शक्कालधणे क्व, शज्जणे, काह ण होइ चलाचले धणे ।

जे पूइदुं पि आणादि, शे पूआविशेशपि आणादि ॥ १४ ॥

\* कथम् । आर्यचारुदत्तस्य नामसङ्कीर्त्तनेन ईदृशी मे आदरः । साधु आर्य-  
 चारुदत्तः । साधु, पृथिव्या त्वमेकी जीवसि, शेष पुनर्जनं यस्मिन् । भवतु आर्यो ।  
 भवतु, आसने निषीदतु आर्या ।

† आर्य । कुतः स धनिकः १

‡ स कारधनं खलु सज्जनं, कस्य न भवति चलाचलं धनम् ।

यः पुत्रयितुमपि जानाति, स पूजाविशेषमपि जानाति ॥

(ग) जीवसि—जीवितकार्यं करोषि । अस्मिन्—एषा प्राणिनाति भावः ।

(घ) वसन्तसेनादृष्टं प्रविष्टं सवाहकं स्वहस्तान्ते वदुमुपक्रान्तं, सम्यगिति  
 वसन्तसेना चारुदत्तं विशेषतो ज्ञातुकामा कथं स एव पृथिव्या जीवति, अना पुन-  
 र्दस्मिन् इति वृत्तिः, कुत इति—कुतः,—कस्मात् कारणात्, स धनिकः,—  
 चारुदत्तः, पृथिव्याम् एक एव जीवतीत्याशयः ।

वृत्त । तदो तदो १ ५

स्वा । तदो तेण अज्जेण शवित्तो पल्लिचालके किदोम्हि ;  
चालित्तावगेशे अ तस्मि जूदोवजीवि मिह शवुत्ते । तदो भाअ-  
धेअविशमदाए (ड) दशशुवस्सअं जूदे हालिदं । ७

नाटु । उच्छाटिदोम्हि, सुसिदोम्हि । ॥ (च)

स्वा । एदे दे सहिअजूदिअला मं अणुशन्धअन्ति । शम्पदं  
शुणिअ अज्जआ पमाण । ९

वृत्त । मदणिए । वासपादवविमणुलदाए पक्खिणो इदो  
तदो वि आहिण्डन्ति । हज्जे । ता गच्छ एदाण सहिअजूदि-  
अराणं अअ अज्जो ज्जेव पडिवादेदि त्ति, (छ) इमं हत्याभरणअं  
तुम देहि । ९ [ इति हमात्र कटकमाह्वय चेष्टा प्रपञ्चति ] ।



चेटी । [ गृहीत्वा ] जं अज्जआ आणवेदि । \* [ इति निष्क्रान्ता ] ।

माधु । उच्छादिदोम्हि, सुसिदोम्हि । †

चेटी । [ प्रविश्य वीक्ष्य च ] जधा एदे उडं पेक्खन्ति, टीहं  
णीससन्ति, विसूरअन्ति अ, अहिलवन्ति (ज) अ दुआर-  
णिहिद-लोअणा, तधा तक्केमि, एदे दे सहिअजूटिअरा हुज्जि-  
स्सन्ति । [ उपगम्य ] अज्ज ! वन्दामि । ‡

माधु । सुहं तुए होदु । §

चेटी । अज्ज ! कदमो तुम्हाणं सहिओ ? ¶

माधु । कस्स तुमं तणमज्जे । अहरेण रद-दट्टदुब्बिणीदेण ।

जप्पसि मम्मणवअणं, आलोअन्ती कडक्केण ? ॥ १५ ॥

\* यत् आया आशापयति ।

+ उच्छादिदोम्हि, सुसिदोम्हि ।

‡ यथा एतौ ऊर्ध्वं प्रेक्षते, दीर्घे निश्चसित, खियेत च, अभिलपतय दार-  
निहितलीडनौ, तथा तर्कयामि, एतौ तौ अभिकयूतकौ भविष्यत । आण । वन्द ।

§ सुखं तव भवतु ।

¶ आय । कतरी युवयो अभिक ?

\*\*

कस्य त्वं तनुमध्ये । अधरेण रतदट्टदुर्विनीतेन ।

जप्पसि मनोहरवचनप, आलोकयन्ती कटाक्षेण ? ॥

पयात्प्रकटोक्तनेन अभिकमाधुरयो आगतगोष्ठनिरीनणेन पतिणा भयमभारान्ति ।  
भाव , यथा,—वासपादपस्य—आवासत्रयस्य, त्रिमदुस्त्वया—विष्टदुस्त्वया, अग्रे  
रधिकते सति, स्वकीयकुलायादिसर्वतया इत्यर्थः, तस्मिन्नादिना अदृश्यं मनस्तादा,  
पक्षिणीऽपि—तिथ्यगुणैश्चोऽप्येतं भावः, इत्यन्तः,—चतुर्दिगु, आदृष्टं लो—लोक-  
रन्ति, भ्रमन्तीत्यर्थः, वासपदपात्तव्यतामिति भावः, यथा तत्र तत्र पतिरप्यपि

णत्थि मम विहवो, अस्सत्त व्वज । २

चेटी । जइ ईदिसाइ ण मन्तेसि, ता ण होसि जूदिअरी ।

अत्थि कीवि तुम्हाण धारओ १ १ (भ)

माधु । अत्थि, दशसुवस्स धालेदि, कि तस्स १ ३

चेटी । तस्स कारणादो अज्जआ इमं हत्थाभरणं पडि-  
वादेदि, ण हि ण हि, सो ज्जेव पडिवादेदि । § (ज)

\* नाम्न नम विभव, अन्यद व्रज ।

† यदि ईदृशानि ननु सन्त्यसि, तदा न भवसि द्यूतकर । अस्ति कीदृपि  
युष्माक धारक १

‡ अग्नि, दशसुवर्णं धारयति, कि तस्य १

§ तस्य कारणात् आध्या इदं हत्थाभरणं प्रतिपादयति, न हि न हि, स एव  
प्रतिपादयति ।

माह कस्य इति ।—अयि तदुमध्ये ।—कशीदरि । रते—सुरते, दष्ट,—खण्डित,  
अस एव त्रिनात,—दुर्दर्शन, तेन अधरेण—निखीलेन, उपलब्धिता, कटाक्षेण—  
दक्षदृष्टनेन, आलोकयन्ती—पश्यन्ती सती, मनोहरवचन—मिष्टवाक्य, जल्पसि—  
वृत्तयसि त्व—भवती, [ “तुम” इत्यत “तुह” इति पाठो न सम्यक्, “तु आसि”  
इति तद्धेय अस्मि परतो युष्मद स्थाने तु चकारात् तुम च इत्येव विधानात् ] कस्य—  
मन्स, प्रिया, इति ईद । अस दोषसम्बन्धेन गुणस्यापि दोषादिततया वाङ्निश्चयी  
अपरमस्यकाव्यकत्वेन दुर्विनीताधरविशिष्टाया मधुरभाष्यद दिष्टमिति विरोधान्  
हार । हस्तरत्त आध्या नाम । १५ ।

माथु । [ सहर्षं गृहीत्वा ] अले ! भणेशि त कुलपुत्र, भूदो सो तुए गन्थु । (ठ) आअच्छ, पुणो जूदं रमअ । ‡

[ इति निष्कासी ] ।

चेटी । [ वसन्तसेनासुपसृत्य ] अज्जए । पडितुहा गदा सहिअ-जूदिअरा । †

वस । ता गच्छदु अज्ज । वन्धुअण समस्सामिदु । ‡

सवा । अज्जए । जइ एब्ब, ता इअं कला पलिअणहत्थगदा कलीअदु । § (ठ)

वस । अज्ज । जस्स कारणादो इअं कला सिकखीअदि, सो ज्जेव अज्जेण सुस्सूसिदपुरुब्बो (ड) सुस्सूमिदब्बो । ¶

स्वा । [ स्वगतम् ] अज्जआए गिउण पच्चादिहोमिह । ( ढ )

\* अरे । भणमि तं कुलपुत्रं, भूत स तव गण्ड । आगच्छ, पुनर्युतं रमन्त ।

† आर्य्ये । परितुष्टो गतौ सभिकयुतकरो ।

‡ तद्गच्छतु आर्य्ये । वन्धुजन समाश्रासयितुम् ।

§ आर्य्ये । यद्येव, तदिय कला परिजनहस्तगता क्रियताम् ।

¶ आर्य्ये । यस्य कारणात् इयं कला शिष्यते, स एव आर्य्येण युशूपितपूर्वः युशूपितस्य ।

( ट ) कुलपुत्रं—कुलीनं, सत्कुलीत्यन्नमित्यर्थ, ( संवाहक-स्तुत्ययमिदम् ) गण्ड,—पणीकृतनिग्रम, भूत,—नित्यम् ।

( ठ ) एव—सौ वन्धुजन समाश्रासयितुमनुमत्यसे इत्यर्थ । तत्—तदा, इय कला—अङ्गमर्दनरूपा, परिजनहस्तगता—परिजनस्य—पौष्यजनस्य, भवत्यभिचारि काया इति यावत्, हस्तगता—आयसीभूता, शिनिता इति यावत्, क्रियताम्—विधीयताम्, तस्या अनुमत्यते चेत्, अह भवद्भेदे किप्रकाल जित्वा भवत्या मैत्रिका जगान् एतामङ्गमर्दनविद्यां शिष्यन्ति स्वस्थानं गमिष्यामि इति भावः ।

( ड ) यस्य—चारुदत्तस्य, कारणात्—हेतो, य चारुदत्त मैत्रितुमित्यर्थ । युशूपितपूर्वः,—पूर्वं युशूपित ।

( ढ ) निपुण—चातुर्येण मुदित यथा तथा, प्रत्यादिप, —निराकृत ।

कथं पञ्चवक्त्रलिङ्गं ? [ प्रकाशम् ] अज्जए । अहं एदिगा जूट-  
अन्नावमाणेण शक्यमणके (ण) हुविण्ण । ता शवाहके जूटि-  
अले शक्यमणके शवुत्तेत्ति शुमलिदव्वाइ अज्जआए एदाइ  
अक्खलाइ । ‡

वस । अज्ज । अल साहसेण । †

सुवा । अज्जए । कले णिच्चए । ‡ [ इति परिक्रम्य ]—

जूदेण तं कदं मे, जं वीहत्थं जणंशं शव्वंशं ।

एण्हि पाअडशीशे णलिन्दमग्गेण विहरिण्णं § ॥ १६ ॥

[ नेपथ्ये कलकलम् ] ।

सुवा । [ आकण्ठम् ] अले किस्सेदं ? [ आकाशे ] किं भण्णाधं ?

\* आर्येण निपुणं प्रत्यादिष्टोऽस्मि । कथं प्रत्युपकरिष्ये ? आर्ये । अहं-  
मतेन द्यूतकरापमानेन शाक्यवर्मणको भविष्यामि, तत् सवाहको द्यूतकर शाक्य-  
वर्मणक इति व्यक्तं चानि आर्येण एतानि अक्षराणि ।

† आर्ये । अल साहसेन ।

‡ आर्ये । कृतो निश्चयः ।

§ द्यूतेन तत् कृतं मम यत् विहस्य जनस्य सर्वस्य ।

इदानीं प्रकटशीर्षो नरेन्द्रमार्गेण विहरिष्यामि ॥

( ण ) शाक्यवर्मणक, —बौद्धपरिव्राजकः ।

स्वयं निर्वेदकारणं प्रकटयति, द्यूतेनेति । —सर्वस्य —सकलस्य, जनस्य —लोकस्य,  
समस्तमिति शेषः, यत् विहस्य —व्याकुलं, व्याकुलीकरणमित्यर्थः, अवमाननमिति  
यावत्, ( “विहस्य-व्याकुली समी” इत्यमरः ) तत् —अवमाननम् इत्यर्थः, मम —  
स्वस्य द्यूतेन —द्यूतक्रीडायां, कृतम् —अनुष्ठितम्, अत इति अध्याहार्यम्, इदानीम्  
—अधुना, प्रकटशीर्षं, —मुख्यतश्चिरात् सन् इत्यर्थः, बौद्धवर्मणको भूत्वा इति यावत्,  
नरेन्द्रमार्गेण —राजपथेन, विहरिष्यामि —पर्यटिष्यामि । [ अथ “नरेन्द्रमार्गे न”  
इति पदच्छेदेन पाठकल्पने पराहं व्यायमर्थः, —इदानीं प्रकटशीर्षं, —अनावृतमस्तकं  
उद्दिष्ट्य, नरेन्द्रमार्गे —राजवल्ग्वनि, सर्वममघमिति यावत्, न विहरिष्यामि,  
द्यूतकरकृतापमानेन मनैतावान् निर्वेदं समज्जनि, यत् लोकसमस्तं समेदं दग्धमुखं  
कथमपि दर्शितुं नेच्छामीति भावः ] । आर्यां हसन्नेति बोध्यम् ॥ १६ ॥

एशे कबु वशन्तशेणाए खुण्टमोडके णाम दुट्टहत्थी विहत्तेदि  
त्ति ? अहो । अज्जआए गन्धगज्जं (त) पेक्खिअ गदुअ ।  
अहवा किं मम एदिणा ? जधाववशिदं अणुचिद्धिअ । ३

[ इति निष्क्रान्त ] ।

[ तत प्रविशति अपटीचेपेण प्रहृष्टो विकटोज्ज्वलवेश कर्णपूरक ] ।

कर्ण । कहिं, कहिं अज्जआ ? १

चेटी । दुम्माणुस्स । कि ते उब्बेअ-कारणं ? जं अग्गदोवद्धिद  
अज्जआ न पेक्खसि ? ३

कर्ण । [ दृष्ट्वा ] अज्जए । वन्दामि । §

वस । कस्सज्जरअ । परितुट्ठसुहो लक्खीअसि । ता किंणेदं ? १

कर्ण । [ सविस्मयम् ] अज्जए । वच्चिदासि, जाए अज्ज कस्स-  
ज्जरअस्स परक्कमो ण दिट्ठो । ३\*

वस । कस्सज्जरअ । किं कि ? १

कर्ण । सुणादु अज्जआ, जो सो अज्जआए खुण्टमोडओ  
णाम दुट्टहत्थो, सो आलाणत्थम्भ भञ्जिअ, महामत्तं वावा-

\* अरे । किंन्विदम् ? कि भणत ? एष खलु वसन्तसेनाया खुण्टमोडको  
णाम दुट्टहत्थी विहरतीति ? अहो । आयाया गन्धगजं प्रोक्ष्ये गत्वा । अथवा  
कि मम एतेन ? यथाव्यवसितम् अनुष्ठामि ।

† कुत्र, कुत्र आर्या ?

‡ दुर्मनुष्य । कि ते उद्देगकारणम् ? यत् अयतोऽवस्थिताम् आर्या न प्रेक्षसे ?

§ आर्ये । वन्दे ।

॥ कर्णपूरक । परितुष्टसुखी लक्ष्यसे, तत किंन्विदम् ?

३\* आर्ये । वञ्चिताऽसि, यया अयं कर्णपूरकस्य पराक्रमो न दृष्टः ।

†† कर्णपूरक । कि किम् ?

‡‡ शृणीतु आर्या, यः स आर्याया खुण्टमोडकी नाम दुट्टहत्थी, स

( त ) खुण्टमोडक, —तत्रामा इत्यथ, लम्बभञ्जक इत्यर्थो वा । गन्धगज —

गन्धप्रधानो गजः गन्धगजस्त, मत्तहस्तिनमित्यथ ।

दिश्र, महन्त सङ्गोहं करन्तो, राश्रमग ओदिश्रो । तदो एत्य-  
न्तरे उगुष्ट (घ) जणेण ॥१॥—

अवणेध वालअजण, तुरिदं आरुहध वुक्खपासाद ।

कि ण हु पेक्खध पुरदो ? दुट्ठो हत्थी इट्ठो एट्ठि ॥१॥

अवि अ. १—

विचलइ णेउरजुअलं, छिज्जन्ति अ मेहला मणिखइआ ।

वलआ अ सुन्दरदरा, रअणकुरजालपडिवडा ॥ १८ ॥

आलानमभ भङ्गा, महानाव व्यापाय, महान्त सङ्गोभ कुर्वन् राजमार्गमवतीर्ण ।  
तत अत्रान्तरे उट्ट जनेन,—

\* अपनपत वालकजन, तरितमारीहत वचप्रासादम् ।

कि न खलु प्रेक्ष्य पुरतो दुष्टो हस्ती इत एति ? ॥

+ अपि च,—

‡ विचलति नूपुरयुगल, छिद्यन्ते च मेखला मणिखचिता ।

वलयाश्च सुन्दरतरा रवाङ्गुरजालप्रतिवद्धा ॥

( घ ) आलानमभ—गजाना वत्सनाथं मभविशेषम्, ( “आलान वत्समभे”  
इत्यमर ) महानाव—हस्तिपकराजम् । ( “महानाव समृद्धे चामात्ये हस्तिपका-  
धिपे” इति मेदिनी ) उट्टम्—उच्चैः कथितम् ।

अनेनाहुट्ठमित्युक्तं तत् किमुहुट्ठमित्याह, अवणेधेति ।—वालकजन—शिशुजनम्,  
अपनपत—अपनारपत, राजमार्गादिति शेष, तरित—शीघ्र, वचप्रासाद—वचाश्र,  
यहोवरिभागश्च, [ वचश्च प्रासादश्च इति “जातिरप्राणिनाम्” ( २।४।६ पा० ) अप्राणि-  
जातिवाचकत्वात् समाहारत्वेनैकवचनम्, “अन्त सन्ना भवन्त्येते मुखदु खसमन्विता ”  
इति मनुवचनेन वक्षाणा प्राणित्वेऽपि प्राणिशब्दस्य वहि सन्निभे व्यवहारात् अत्रा-  
प्राणित्वमेव वक्ष्यते इति सिद्धं समाहारत्वादिकवचनम्, यद्वा,—वक्ष्येण सहित  
प्रासाद इति समास ] यद्वा,—प्रासादपटेन सादृश्यमूलकलक्षणया अयभागे  
लक्ष्यते, तेन वक्ष्यभागमित्यर्थ, आगेहत—उद्धत, कुत एवमित्याह, किमिति  
—दुष्ट,—नदमत्त, हस्ती—करी, इत,—अस्यां दिशि, एति—आगच्छति,  
इति पुरत—अदत्त, कि न खलु प्रेक्ष्य—पश्यत ? अचिरमेव न करिष्य चित्  
सङ्गोभ इत्यमर महदन्ति साधयिष्यतीति भावः । आर्यां वचमिदम् ॥ १७ ॥

विचलइ इति ।—नूपुरयुगल—पादकटकयुग्मं विचलति—भ्रन्मनायते, हसि

तदो तेण दुट्टहत्थिणा कलचलणरदणेहि फुल्लणलिणिं  
विअ णअरि उज्जङ्गणिं अवगाहमाणेण समासादिदो परि-  
व्वाजओ, त च परिभट्टदण्डकुण्डआभाअणं रीअरंहिं ( द )  
सिचिअ, दन्तंतरे विवत्त पाक्खअ, पुणोवि उरुवुट्ट जणेण,—  
हा । परिव्वाजओ बाबादीअदि त्ति । \*

वस । [ ससम्भ्रमम् ] अहो पमादो । अहो पमादो । †

कण । अल सम्भ्रमेण, सुणादु दाव अज्जआ । तदो  
विच्छिन्नविसण्णुनसिङ्गलाकलावअ दन्ततरपरिगृहितं परि-  
व्वाजअ उव्वहन्त त पेक्खअ, कस्सऊरण मए, ण हि ण हि,  
अज्जआए अस्सपिण्डावपुट्ठेण दासेण—वासचलणेण जूट्ठेल्लअ

\* ततस्तेन दुट्टहत्तिना करचरणरदनै फुल्लनलिनीमिव नगरीमुज्जयिनीमवगाह  
मानेन समासादित परिव्राजक, तच्च पारभट्टदण्डकुण्डकाभाजन शीकरे कृत्वा,  
दन्तान्तरे चित्त प्रेत्य, पुनरप्युद्धृतं जनेन,—हा । परिव्राजकी व्यापाद्यते इति ।

† अहो प्रमाद । अहो प्रमाद । ।

‡ अल सम्भ्रमेण, श्रणोतु तावदाय्यां । ततो विच्छिन्न-विसण्णुनसिङ्गलाकलापक  
दन्तान्तरपरिगृहीत परिव्राजकम् उव्वहन्त त प्रेत्य, कर्णपूरकण मया, न हि न हि,

भयात् पलायनानाना रथ्यसञ्चारिणीनां नागीणामिति शेषः, सण्णखजिता,—रज  
निवहा, सखला,—रसनाय, क्षियन्ते—क्षिन्नानि भवान्, वदादुरजालप्रतिवेदा,  
—चुद्रमणिसमूहविभूषिता इत्ययं, सुन्दरतरा,—अतिरमणीया, वलया,—करा  
भरणविशेषाय, क्षियन्ते—भग्यन्तीत्ययं, यदा,—मत्ततावशान् द्रुततरं गमनमा  
हसितो वणननिदम् । तत्रापि धनिगृह करिणामपि ताट्टगलदारादिधारणप्राप्त  
रुक्ता एव अर्थो वाच्यः । अत्रापि आख्या वृतम् । परमव प्रथमा गतोपान्तप्रथम  
इकारस्य कृत्वाऽनुराधात् दोषत्वं दोषान्तनणोश्च्येन वा समाधानं बाध्यम् । १८०

( द ) परिव्राजक,—बौद्धश्रमणकवेगो पथट्ठक, स्वार्थक इति ।  
परिभट्टदण्डकुण्डकाभाजन—भयान् इकात् प्रभुतदण्डकसमाल ( "अन्तर्गतं  
कुण्ड" इति धनवन्तः ) । शीकरे,—हासकरिणिवनजलकरे ।

उगुसिअ उगुसिअ, तुरिदं आवणादो लोहदण्ड गेहिअ  
आआरिदो (ध) सो दुट्ठहत्थी । ‡

वस । तदो तदो १ \*

— कर्ण ।—

आहणिकुण सरोसं तं हत्थि विंभसैलमिहराभ ।

मोआविओ मए सो दन्तंतरसंठिओ परिव्वाजओ १ ॥१८॥

आश्याया अन्नपिण्डीपपुटेन दासेन—वामचलनेन द्यूतखेलकम् उदुष्य उदुष्य, तुरित  
नापणात् लोहदण्ड गृहीत्वा आकारित स दुट्ठहत्थी ।

\* ततस्तत १

+ आहत्य सरोष त हस्तिनं विन्ध्यशैलशिखराभम् ।

मोचिती मया स दन्तान्तरसंस्थित परिव्वाजक ॥

( ध ) तत इति ।—विच्छिन्ना—विगर्षेण छिन्ना, अत एव विसङ्गुला—इतस्त  
खडिता, अङ्गुला एव कलापक,—भूषण यस्य तादृश, [“कलापो भूषणे वर्हे”  
इत्यमरः । तत स्वार्थे क ] । न हीति ।—अव कर्णपूरकेण मया इति स्वनाम्न स्वय  
निर्देशेन गर्वे प्रकटय्य स्वामिन्या पुर विनयप्रकटनार्थमेव “न हि न हि” इत्युक्तम् ।  
अन्नपिण्डीपपुटेन—अन्नराशिपालितेन, वामचलनेन—वक्त्रगत्या, [ “वामचलणेण”  
इत्यस्य “वामचरणेन” इति संस्कृत केचिन् पठन्ति ] द्यूतखेलक—मवाहकम् । उदुष्य  
उदय—असङ्कत द्यूतखेलकोऽयं मवाहक परिव्वाजकोऽभूत, सोऽयमिदानीं मत्तगजेन  
व्यापयने इति कथयित्वा इत्यर्थः, [ केपाक्षिन्मते “उगुसिअ उगुसिअ” इति  
प्राकृतस्य “उदुष्य उदुष्य” इति संस्कृतम् ] आपणात्—क्रयविक्रयस्थानात् । आका-  
रित,—स्यङ्गं आहृत, ( “हृतिराकारणाद्वातम्” इत्यमरः ) ।

आहणिकुण इति ।—मया—कर्णपूरकेण, विन्ध्यशैलशिखराभ—विन्ध्याचल  
अङ्गुल्युगम्, [ एनेन इत्यङ्गता मूच्यते ] तं—पूर्वोक्त मदनस, हस्तिन—करिण, सरोष  
—सक्रोधं यदा तथा, आहत्य—प्रहृत्य, दन्तान्तरसंस्थित,—दशनद्वयमध्यवर्ती, स,  
—अमरकवेष्टी, परिव्वाजक,—पथटक, मवाहक इत्याशयः, मोचित,—मुक्तिं  
प्रापित, [ “यदा तीक्ष्णपुत्रेन रुयोगादेरगौरवम्” इत्यादिवाचनेन “परिव्वाजको”  
इत्यत्र तीक्ष्णपुत्रोच्चारणात् “व्वाजको” शब्दे परेऽपि परेरिकारस्य ङत्वत्व बोध्यम् ] ।  
आश्याहत्तान्तीत गीतिवत्तमिदम्,—“आश्या प्रयमाईमम यस्या पराहनीरित  
गीति” इति लक्षणात् ॥ १८ ॥



वस । सुष्ठु दे किदं, तदो तदो ? \*

कर्ण । तदो अज्जए । साहु रे कख्खरअ । साहु त्ति, एत्तिअमेत्तं भणन्ती, विममभरक्कन्ता विअ णावा, एकदो पल्हत्था सअत्ता उज्जइणी आसि । तदो अज्जए । एकेण सुखाइं आहरणट्ठाणाइ पराममिअ उद्धं पेक्खिअ दीह गीम-  
सिअ (न) अअ पावारओ मम उवरि क्वित्तो । †

वस । कख्खरअ ! जानीहि दाव कि एसो जादीकुसुम-  
वासिदो पावारओ ख वेत्ति ? ‡

कर्ण । अज्जए । मदगन्धेण सुष्ठु तं गन्धं ण जानामि । §

वस । णाम पि दाव पेक्ख । ¶

कर्ण । इम णामं अज्जआ एव्व बाएदु । \*\* [ इति प्रावारक  
सुपनयति ] ।

वस । अज्जचारुदत्तस्स । †† [ इति वाचयित्वा सम्पन्नं गृह्यती  
प्रावणोति ] । (प)

\* सुष्ठु त्वया कृत, ततस्तत ?

† तत आर्य्ये । साधु रे कर्णपूरक । साधु, इत्येतावन्मात्रं भणन्ती विमम-  
भराकान्ता इव नौ एकत पथ्यन्ता सकला उज्जयिनी आसीत् । तत आर्य्ये ।  
एकेन गूणानि अभरणम्यानानि परामृश्य ऊर्ध्वं प्रेत्य दीर्घं निश्चयं अथ प्रावारकी  
समीपं चित्र ।

‡ कर्णपूरक । जानीहि तावत् किम् एव जातीकुसुमवासित प्रावारकी  
न वा ? इति ।

§ आर्य्ये । मदगन्धेन सुष्ठु तं गन्धं न जानामि । ¶ नामापि तावत् प्रेक्ष्य ।

\*\* इदं नाम आर्य्ये एव वाचयत् ।

†† आर्य्य-चारुदत्तस्य ।

( न ) एकेन—केनचित्, चारुदत्तेनेति भावः, त्रयं प्रेत्य दीर्घं निश्चयं च  
दाग्निद्वारेण अनुरूपपारितोषिकदाने अचमत्वादिति भावः ।

( प ) “दक्ष किमपि कालेन धृत्वाऽग्निं मृहुरीचने” इत्यादिवचनात् अत्र काल-  
व्यवस्थानुसङ्गम् अनुरक्ताया अनुरागप्रकटनार्थम् ।

चेटी । कसुऊरअ । सोहइ अज्जआए पावारओ । \*

कणं । आं, सोहइ अज्जआए पावारओ ॥ †

वस । कसुऊरअ । इदं दे पारितोमिअ । ‡ [ इति आभरणं प्रयच्छति ] । (फ)

कणं । [ शिरसा गृहीत्वा प्रणम्य च ] । सम्पदं सुहु, सोहइ अज्ज-  
आए पावारओ । § (व)

वस । कसुऊरअ । एदाए वेलाए कहिं अज्जचारुदत्तो ? ¶

कण । एदेण ज्जेव मग्गेण पवुत्तां (भ) गन्तुं गेह । \*\*

वस । हज्जे । उवरिदण अलिन्दअं (म) आरुहिअ,  
अज्जचारुदत्त पेक्खेह । ††

[ इति निष्क्रान्ता सर्वे ] ।

इति मच्छकटिके द्यूतकरसवाहकी नाम द्वितीयोऽङ्कः ।

\* कणंपूरक । शोभते आर्याया प्रावारक ।

† आं, शोभते आर्याया प्रावारक ।

‡ कणंपूरक । इदं ते पारितोषिकम् ।

§ साम्प्रतं सुहु शोभते आर्याया प्रावारक ।

¶ कणंपूरक । एतस्या वेलायां कुत्र आर्यचारुदत्त ?

\*\* एतेनैव मार्गेण ग्रहणी गन्तुं गेहम् ।

†† चेटी । उपरितनम् अलिन्दकमारुह्य आर्यचारुदत्तं प्रेक्षामहे ।

(फ) अत्र सङ्गृही नाम गर्भाङ्गं प्रदर्शितम्, तल्लक्षणं यथा,—“सङ्गृह-  
पुम । सामदानाद्यसम्पन्न —” इति ।

(व) अत्र पुण्य नाम प्रतिमुखसन्धेरङ्गं प्रदर्शितम्,—“पुण्यं विष्णुध्वजन-  
मतम्” इति लक्षणात् ।

(भ) ग्रहणं,—आरब्धवान् [ अकर्मकत्वात् कर्त्तरि आरम्भे च निष्ठा ] ।

(म) हज्जे—चेटीसम्बोधनाग्रसञ्चयम्, ( “हज्जे हज्जं हलाहानं नीत्वा चेटीं  
सखीं प्रति” इत्यमरः ) । अलिन्दकम्—“आलिशा” इति “वारान्दा” इति वा स्त्रोत-  
स्थानम् । [ “प्रवाएप्रवालान्दा वहिहारप्रकीर्त्त” इत्यमरीक्या अलिन्दशब्दो यदपि

वहिर्द्वारपाशस्थं प्रकीर्तं बोधयति, तथाऽपि तथाविधार्थकस्यानिन्दस्य आरोहणा-  
मर्हत्वात्, उपरितन इति विशेषणसामर्थ्याच्च उपरिगृहद्वारसमुत्प्लवितस्यानविशेष,  
“आलिशा, वारान्दा” वा इत्यर्थः सङ्गतः ]। “स्थिता दृष्टिपथे गन्तुं मित्रे पश्यति  
दूरतः” इति अनुरक्तनायिकालक्षणमत्र समर्थितम्।

इत्यग्रेपशास्त्राटकीसञ्चरणपञ्चानन-पण्डितकुलपतिना वि, ए, उपाधिवारिणा

श्रीमज्जीवानन्दविद्यासागरभट्टाचार्येण विरचितायां, तदात्मजाभ्यां

पण्डितश्रीमदायुषीषविद्याभूषण-पण्डितश्रीमन्नित्यश्रीषविद्यारत्नाभ्यां

प्रतिसूक्तायाममलाख्यायां मृच्छकटिकव्याख्यायां

द्वितीयोऽङ्कः ॥ २ ॥

## तृतीयोऽङ्कः ।

[ ततः प्रविशति चेट ] ।

चेट ।—

शुजणे क्खु भिच्चाणुकम्पके शामिए णिद्धणके वि शोहदे ।  
पिशुणे उण दब्बगब्बिदे दुक्कले क्खु पलिणामदारुणे ॥ १ ॥

\* सुजनं खलु भृत्यानुकम्पकं स्वामीर्निर्जनकोऽपि शोभते ।

पिशुनं पुनर्द्रव्यगर्वितो दुष्करं खलु परिणामदारुणं ॥

शामिसङ्घवहारपरितुष्टेऽप्यधनस्यापि तस्य गुणमनुकीर्तयन्नाह, शुजणे इति ।  
—यः स्वामी—प्रभुः, सुजनः,—सम्मान्यः, तथा भृत्यानुकम्पकः,—स्वनीयोगाक्ष्मी-  
ष्वपि भृत्येषु दयावान्, स यदि निर्जनकः,—दरिद्रः, भवेत्, तदाऽपि, खलु—  
निश्चितः, शोभते—राजते, भृत्यानामिति शेषः । पुनः,—किन्तु, द्रव्यगर्वितः,—  
धनगर्वितः, पिशुनः,—खलः, दुर्जन इत्यर्थः, ( “पिशुनो खलसूचकौ” इत्यमरः )  
खलु—यतः, परिणामदारुणः,—परिणामे—यत्रतः सेवनेऽपि श्रेष्ठे, दारुणः,—भयङ्करः,  
अतः दुष्करः,—दुःसाध्यः, दुःसेव्य इत्यर्थः । अवापग्राहे चेटेन शकारं प्रति कटाक्षं कृतं  
इति ध्येयम् । [ “भृत्यानुकम्पकः ” इत्यत्र “कुभृत्यपालकः ” इति पाठान्तरे,—  
कुभृत्यानाम्—अक्षमभृत्यानामपि, पालक इत्यर्थः ], मादृशेष्वपि भृत्येष्वनुकम्पावान्  
सत्प्रभुराव्यचारदत्तो निर्जनोऽपि सुजन एव इति भावः । [ “शामिए” इत्यत्र  
“शमिए” इति पाठो युज्यते वैतालीयवृत्तानुसंधानं, तल्लक्षणं यथा,—“षड्  
विषमेऽष्टौ समे कलानाश्च समे स्युर्नो निरन्तरा । न समाव पराश्रिता कला वैता-  
लोपेऽन्ते रलो गुरुः ॥ ” इति लक्षणात् । अत्र सत्प्रभुः भृत्यानुकम्पकः आर्यचारुदत्तः  
निर्जनोऽपि शोभते इति विशेषे प्रस्तुते तादृशसामान्यप्रस्तुतसमिहितमित्यप्रस्तुत-  
प्रशंसाऽलङ्कारः । अथमेव श्लोकः पुनःकाले रूपान्तरेण दृश्यते, यथा,—“शुभणे ह  
कुभिक्षालेण धणहीणे अपहं वि शोहदि । पिशुणे उण दब्बगब्बिदे ण अ लच्छी-  
दिद्वारलब्बिते ॥ ” सुजनं खलु कुभृत्यपालकः धनहीनोऽप्रभुरपि शोभते । पिशुनः  
पुनर्द्रव्यगर्वितो न च लज्जोविभवावलम्बितः ॥ ” इति सङ्गतम् ॥ १ ॥

अविभ्र, — शशपलक-बलदे ण शक्ति बालिदुं

अस्य-कलत्त पशत्ते ण शक्ति बालिदु ।

जूद-पशत्त मणुशे ण शक्ति बालिदु

जे वि शहाविअदोशे ण शक्ति बालिदु ॥ २ ॥

का वि वेला अज्जचारुदत्तस्य गन्धञ्च शुण्णिदु गदग्ग, अदि-  
कमदि अदलअणी, अज्जवि ण आअच्छदि । ता जाव  
वाहिल-दुआल शालाए गदुअ शुविग्ग । † ( क ) [ इति तथा  
करोति ] ।

\* अपि च, — गस्य-लम्पट-बलीवर्द्धं न शक्यो वारयितुम्

अन्य-कलत्रप्रसक्तो न शक्यो वारयितुम् ।

यूतप्रसक्तो मनुष्यो न शक्यो वारयितुम्

योऽपि स्वाभाविकदोषो न शक्यो वारयितुम् ॥

† कापि वेला आर्यं चारुदत्तस्य गन्धञ्च श्रोतुं गतस्य, अतिक्रामति अङ्गरजनी,  
अद्यापि नागच्छति । तत् यावत् वहिर्द्वारशालायां गत्वा स्वस्वामि ।

ईदृग्दुरवस्थस्यापि चारुदत्तस्य कलाऽनुशीलनदानशील्यदावत्यामक्तिर्दीपावप-  
त्याह, शशेति । — गस्यलम्पट, — गस्यभोजनलीलुप, [ लम्पटशब्दस्य परमा  
लीलुपार्थशक्तत्वेऽपि अत्र सामान्यतः लीलुपमावार्थो लक्षणया बोध्यः ] बलीवर्द्ध, —  
अनङ्गानित्यर्थः, अन्यकलत्रप्रसक्त, — परस्त्रीलम्पट, [ “अस्यपशत्तकलमे” इति पाठा-  
न्तरे “अन्यप्रसक्तकलत्रम्” इति संस्कृतम् । तत्र शक्तिशब्दस्य कौञ्चलिद्रव्यं, तथा पर-  
पुरुषासक्तमणीत्यर्थं बोध्यः । ] तथा यूतप्रसक्त, — यूतकौटोन्नत, मनुष्य, — जन,  
एते यथा वारयितुं — तेभ्यो दोषेभ्यः प्रत्यावर्त्तयितुमित्यर्थः, न शक्या, तथा — योऽपि  
स्वाभाविक, — प्रकृतिसिद्ध, दोष, — दूषणं, [ दाहत्वादेर्गुणस्यापि “मन्त्रमत्यन्तगदितम्”  
न्यायबलाद्दोषत्वबोध्यम् ] सोऽपि वारयितुं न शक्यः । अत्र स्वाभाविक, — स्वाभाव-  
सिद्ध, दोषो यस्य स तथाभूतो जनः, वारयितुं न शक्यः इति कथनेन दारिद्र्यात्  
ईदृग्ग्रां शोचनीयदशायां दाहत्वादिकं दोषं, तत्र मे प्रभुर्न त्यजति इति ज्ञान-  
व्यवृत्तेः । इह गस्यलम्पटबलीवर्द्धादेर्वारणाशक्यत्वात्तद्विधानेन स्वाभाविकदोषस्य वारणा-  
शक्यत्वात्तद्विधानात् सामान्यात् चारुदत्तस्यातिरिक्तदाहत्वादिदोषस्वाभावित्वेन  
वारणाशक्यः, इति प्रस्तुतविशेषप्रतीत्येन, इत्यप्रस्तुतप्रमाद्विधानात् समुचितं ॥ २ ॥  
( क ) कापि — निर्देष्टुमशक्या, अविकल्प्यं, वेला — समयः, अत्र न इति

[ ततः प्रविशति चारुदत्तो विदूषकश्च । ]

चारु । अहो । अहो ॥ साधु रेभिलेन गीतम् । वीणा हि  
नाम असमुद्रोत्थित रत्नम् । (ख) कुतः,—

उत्कण्ठितस्य हृदयानुगुणा वयस्या,

सङ्केतके चिरयति प्रवरो विनोदः ।

संस्थापना प्रियतमा विरहातुराणां,

रक्तस्य रागपरिवृद्धिकरः प्रमोदः ॥ ३ ॥

जेष, गान्धर्वे—गान्धर्वदेवताक, गीतादिकमित्यर्थः । किमधिकेन, अर्द्धरजनौ—  
अर्द्धपरिमिता रावि । अतिक्रानति,—अतिगच्छति । स्वप्नामि—निद्रास्यामि ।

(ख) असमुद्रोत्थित—सागरादनुत्पन्नम् । अतः निरपङ्गवे विषये वीणायां  
रत्नवत् तादात्म्येनारोगात् रूपकमन्वङ्कारः, तच्च असमुद्रोत्थितमिति विशेषणेन  
अधिकं वैशिष्ट्यमारोहतीति अधिकारुढवैशिष्ट्यरूपमिति ध्येयम् ।

अगणितगुणवत्तया कथित वीणाया रत्नत्वमेव समर्थयमान आह, उत्कण्ठित  
स्येति ।—उत्कण्ठा—प्रबलविरहवेदना,—“रागे त्वलम्बविषये वेदना महती तु या ।  
सशेषणौ तु गात्राणां तामुत्कण्ठां विदुर्बुधा ॥” इत्युक्तलक्षणेति यावत्, सञ्ज ता  
अस्य, [ तारकादिवात् इतच् ] तथाभूतस्य उत्कण्ठितस्य—प्राप्तप्रबलविरहवेदनस्य  
जनस्य, हृदयानुगुणा—मनःसन्तानकरो, वयस्या—सखीस्वरूपा, ( “आलि सखी  
वयस्या च” इत्यमरः ), सङ्केतयति यः स सङ्केतकः, तस्मिन् सङ्केतके—कृतसङ्केते,  
निजने विहारार्थं दत्तेऽङ्गिते इति यावत्, प्रणयिनि जने इति शेषः, चिरयति—  
बिलम्बमाने सति, प्रवरः,—महान्, विनोदः,—चित्ताशान्तिप्रशमनोपायः, ( एत-  
दुपलक्षणं, नायिकायामपि कृतसङ्केताया बिलम्बमानाया प्रियतमस्यापि इयमेव वीणा  
विनोदनोपायः इति बोध्यम् ) विरहातुराणां—प्रियविच्छेदव्याकुलानां जनानां,  
प्रियतमा—मनोऽनुकूला, संस्थापना—सान्त्वनीयाय, यथा,—“प्रियतमाविरहातु-  
राणाम्” इति एकपदं, प्रियाविशोर्गार्त्तानामित्यर्थः, संस्थापना—स्थैर्यविधायिनी  
त्यर्थः, विरहिणो हि आलम्ब्यदशन वीणावादनादिभिः चित्तं विनोदयन्तीति  
प्रसिद्धिः, तथा च,—“सादृश्यप्रतिकृतिदर्शने प्रियाया” इत्यादि “उत्सङ्गे वा  
मल्लिनवसने सोम्य । निचिप्य वीणाम्” इत्यादि च, तथा रक्तस्य—अनुरागिणः,  
प्रियतमाऽऽसक्तस्येयम्, रागवृद्धिकरः,—अनुरागवर्धनः, प्रमोदः,—उत्सवः, आनन्द-  
दायिनीत्यर्थः । सर्वत्र बोधेति योज्यम् । अतः निरपङ्गुतविषये एकस्यामेव वीणाया

विद् । भोः । एहि, गेह गच्छेत् । \*

षाठ । अहो ! सुष्ठु भावरिभिलेन (ग) गीतम् ।

विद् । मम दाव दुवेहि ज्जेब्ब हस्स जाअदि, इत्थिआण  
सकदं पठन्तीए, मणुस्सेण अ काअलीं गाअन्तेण । इत्थिआ दाव  
सकदं पठन्तो, दिस्सणवगस्सा विअ गिट्ठी अहिअ सुसुआअदि ।  
मणुस्सोवि काअलीं गाअन्तो, सुक्खसुमणोदामवेट्ठितो ( घ )  
वुड्डपुरोहिदो विअ मन्त जवन्तो, टिट्ठ मे ण रोअदि । †

\* भो । एहि, गेह गच्छाव ।

† मम तावत् दायामेव दास्य जायते, स्त्रिया सकृत पठन्त्या, मनुष्येण च  
काकत्त्रो गायता । स्त्री तावत् सकृत पठन्तो दत्तनवनाया इव गृष्टि अभिकं  
सूमाद् करोति, मनुष्योऽपि काकत्त्रो गायन् युक्तसुमनीदानवेष्टितो वृद्धपुरोहित  
इव मन्त्र जपन् दृढ मे न रोचते ।

वयस्यादीनामनेकेषाम् उपनानानामभेदनागोपात् सालादप्य निरङ्ग रूपकमलङ्कार ।  
न च एकस्या एव बोध्याया वयस्यादिरूपेण अनेकधा उच्यताम् त्रियम्भेदभिन्नो  
ऽयमुल्लेख एवास्तु इति वाच्यम्, तत्र “प्रिय इति गोपबभूवि” इत्यादौ एकस्मिन्नेन  
भगवति पारोप्याणां प्रियत्वादीनां वास्तवतया उल्लेखालङ्कारमङ्गति, इह तु  
बोध्यायानारोपितानां वयस्यादीनामवास्तवत्वात् नोल्लेखप्रसक्तिः, अपि तु सालादप्य-  
रूपकस्यैव उल्लेखरूपकयोः पारोप्यमाणवस्तुवास्तवत्वावास्तवभेदभिन्नत्वस्यैव आल-  
ङ्कारिकव्यवहृतत्वादिति सुधिया स्वधिया विचार्यम् । अत्र वसन्ततिलकं वयम्,—  
“जेय वसन्ततिलकं तभजा जगौ ग” इति लक्षणात् ॥ २ ॥

( ग ) भावरिभिलेन—भाव—विद्वान्, मञ्जोतविद्याविशारद इत्यर्थः, स चासौ  
रेभिलयेति भावरिभिलेन तेन, ( “भावो विद्वानद्यावुक” इत्यमरः ) भावः । इति  
विदूषकस्य आमन्त्रणपदमिति केचित् ।

( घ ) काकत्त्रो—अम्फुटमधुरध्वनिः, ( “कावली तु कले मधुरध्वने” इत्य-  
मरः ) । दत्ता—परिपता, नवा—प्रत्यया, नाया—नम इत्यनाया, नामिका—  
रञ्जुमिलय, यत्ना तादृशी, गृष्टि,—सङ्ग्रहता गौ, ( “गृष्टिरेकगौ” इत्यमरः ) युक्ताया—तनु गम्य-  
क्तानिहीनानामित्यर्थः, सुननम्—पुण्यम्, ( “सुन-  
नम्, वेष्टितः,—भूषितः । ( एतेन जपन् दायांकाव दायिता उच्यते । )

चारु । वयस्य । सुष्ठु खलु अद्य गीत भावरेभिलेन । न  
च भवान् परितुष्टः ?—

रक्तञ्च नाम मधुरञ्च समं स्फुटञ्च  
भावान्वितञ्च ललितञ्च मनीहरञ्च ।  
किं वा प्रशस्तवचनैर्बहुभिर्मदुक्तै  
अन्तर्हिता यदि भवेद् वानर्तति मन्ये ॥ ४ ॥

अपिच —

त तस्य स्वरसङ्ग्रहम मृदुगिर श्लिष्टञ्च तन्नीस्वन  
वर्णानामपि मूर्च्छनान्तरगत तार विरामे मृदुम् ।

मधुरगीतमाधुरीविमोहितशरदत्त तत्र स्वीयमभिमतमभिव्यनक्ति, रक्तमिति  
—नाम—सम्भावनाया, रक्त—रागवर्धन, तत्तद्वागसमन्वितमिति वाऽय, मधुर—  
मनीरम, माधुर्यगुणमृथिष्ठमित्यर्थ, सम—पौष्पापय्यवैपरीत्यरहित, स्फुट—सुव्यक्त,  
भावाविन—सदृशप्रियाय, रत्यादिभावविशिष्ट वा, ललित—सुन्दर, ( “ललित विषु  
सुन्दरम्” इत्यमर ) लालित्याख्यगुणसमन्वितमिति यावत्, तथा मनीहर—मनीरमश्च,  
[ सर्वेषामेव विग्रहणानां प्राधान्यद्योतनार्थं सर्वेषामेवान्ते चकार प्रयुक्त ] गीतमिति  
न गच्छेत्तद सञ्चय योज्यम्, मदुक्त,—मया कथ्यते, बहुभि,—अनेकै, प्रशस्त  
वचनै —“रक्तञ्च नाम मधुरञ्च” इत्यादिप्रशंसावादै, किं वा ?—न किमपि प्रयो  
जनमित्यर्थ, वन्तिता—रमणी, यदि—सम्भावनायाम्, अन्तर्हिता—रेभिलवेशिना  
च्छन्ना, भवेत् इति मन्ये—सम्भावयामीत्यर्थ । व्यक्तिविशेषणत्वेन अन्तर्हितेति  
स्वीत्वम्, रेभिलव्यक्तिर्यदि अन्तर्हिता—प्रच्छन्ना, भवेत्—प्रच्छन्ना सती यदि गाये-  
दिति यावत्, तदा वनिर्तेति मन्ये—योषिदेव गायति इति सम्भावयामि इति वा  
अन्वयः । सङ्गीतस्य रक्तत्वादगुणवस्त्वेन काचित् योषा एव प्रच्छन्ना सती गायति,  
न पुनान् इत्यह तर्कयामीत्यर्थ । अतः प्रकृते रेभिले वनितासदृशसुकण्ठत्वादगुण-  
वस्त्वात् वनितात्वसम्भावनात् उत्प्रेषाऽलङ्कारः । वसन्ततिलक इत्यम् ॥ ४ ॥

सङ्गीतज्ञतमानस गायकगुणमनुकौतंथन्नपि अपरितप्त पुन तदेव वर्णयन्नाह,  
तमिति ।—गीतसमये—सङ्गीतसत्ताकाले, विरतेऽपि—अवसितेऽपि, तस्म—रेभिलस्य,  
त—सुगुणव्यमित्यर्थ, स्वरसङ्ग्रह—स्वराणां—निषादादीना, च—सम्यक्, क्रम,—  
आरोहावरोहद्वय, तं मृदुगिर,—कीमलवचनानि, यथा,—“मृदुगिर” इति



हेलासंयमितं पुनश्च ललितं रागद्विरुच्चारितं

यत्सत्यं विरतेऽपि गीतसमये गच्छामि शृण्वन्निव ॥ ५ ॥

विद् । भो वयस्स ! आवणन्तर-रक्षा-विभाएसु सुहं कुकुरा  
वि सुत्ता, ता गेहं गच्छेह । [ अयतोऽवलीका ] वयस्स । पेक्ख,  
पेक्ख, (ड) एसो वि अन्धआरस्स विअ अन्नआसं देत्तो, अन्त  
रिक्ख-पासादादो ओदरदि भअवं चन्दो । \*

चारु । सम्यगाह भवान्,—

असौ हि दत्त्वा तिमिरावकाशमस्तं व्रजत्युन्नतकोटिरिन्दु ।

जलावगाढस्य वनद्विपस्य तीक्ष्ण विषाणायमिवावशिष्टम् ॥ ६ ॥

\* भो वयस्य । आपणान्तररक्ष्याविभागेषु सुहं कुकुरा अपि सुप्ता, तत् गच्छ  
गच्छाव । वयस्य । पश्य पश्य, एषोऽपि अन्धकारस्येव अवकाश ददन् अन्तरीक्ष  
पासादात् अवतरति भगवान् चन्द्र ।

“तस्य” इत्यस्य विशेषण, कोमलमधुरकण्ठध्वजस्य रेभिलस्यस्य, श्रुष्ट—गीतान्तर  
सम्मिलितम्, एकचेनाकण्ठमानमित्यर्थ, वणाना—गीताचराणां, मूर्च्छना—निरगतं—  
मूर्च्छना—वराहोद्धारोद्धारक्रमभेद,—“क्रमात् स्वराणां समानां भारीकृत्यावलीकरणम् ।  
सा मूर्च्छेत्युच्यते यामस्या एतां सप्त सप्त च ॥” इति ‘स्वर मूर्च्छिता यत् रागतां  
प्रतिपद्यते । मूर्च्छनामिति तां प्राहुः कवयो याममभवाम् ॥” इति चोक्तं, तन्नाम  
गत—तन्मध्यस्थितमित्यर्थ, तारम्—उच्चैः, तथा विराम—समापने, अवसाने  
इत्यर्थ, मृदु—कोमल, मृत्तमित्यर्थ, हेलया—अवलीकया, उपमित—निमित्तम्,  
आरौहावराहादौ निग्रमेन सस्थापितमित्यर्थ, पुनश्च—पुनरपि, ललित—सुन्दर,  
लालित्यगुणविशिष्टमिति यावत्, तर्लाम्बन—वाणध्वनि, तथा रागद्विरुच्चारितं—  
रागेषु—वराहोद्धारप्रतिपद्य, द्विरुच्चारित—द्विरुक्त, गीतमिति शब्द, शृण्वन्निव—शृण्वन्  
यन्निव, गच्छामि—यामीति यत् तत् सत्यमित्यर्थ । तदानीं पुनरुत्तराणां  
रसस्वेऽपि श्रुतिगोचरत्वमभावान्न उपेक्षाऽलङ्कार । शार्दूलकिंनरस्य वचनम् ।  
यथा,—“मृच्छाद्विपसि स मयी मृततगा शार्दूलकिंनरस्य वचनम्” इति ॥ ५ ॥

( ड ) “दृष्टं पेक्ख” इति सूत्रेण पश्यतः पेक्खादेशः ।

विदूषककथित चन्द्राक्षरमनमेव वर्णयन्नाह, अस्मा मति,—अस्मा—द्वयम्  
दृश्यमान, उन्नतकोटि,—उन्नता कोटि,—अदभाग यत् ५, ५—००

विदू। भो । एद अम्हाण गेहं, वडुमाणअ । वडुमाणअ ।  
उगघाटेहि दुआरअ । \*

चेट । अज्जमित्तेआह शलशज्जोए (च) शुणीअदि, आगटे  
अज्जचालुदत्ते, ता जाव दुआलअं शे उगघाटेमि । [ तथा कृत्वा ]  
अज्ज । वन्दामि, मित्तेअ ! तुमं पि वन्दामि । एत्थ वित्थिस्से  
आशणे णिशीदन्तु अज्जा । † [ उभौ नाट्येन प्रविश्य उपविशतः ] ।

विदू। वडुमाणअ । रअणिअ सहावेहि पादाइ धोइदुं । ‡  
चार । [ सानुकम्पन् ] अलं सुप्तजन प्रबोधयितुम् ! ( छ )

चेट । अज्ज मित्तेअ । अह पाणिअं गेहे, तुम पादाइ  
धोवेहि । § ( ज )

\* भो । इदम् अस्माकं गेहम् । बह्वर्मानक । बह्वर्मानक । उद्घाटय द्वारम् ।

† आर्यैर्नैवेद्यस्य स्वरसमीपं द्रव्यते, आगत आर्यचारुदत्तः, तत्तु यावत् द्वार-  
मस्य उद्घाटयामि । आर्यः । वन्दे । नैवेद्यः । त्वामपि वन्दे । अत्र वित्थीर्णे आसने  
निषीदन्तु आर्यौ ।

‡ बह्वर्मानक । रदनिकामाकारस्य पादौ धावयितुम् ।

§ आर्यैर्नैवेद्यः । अह पाणीयं गृह्णामि, त्वं पादौ धावय ।

उद्घाटय-उद्घाटय-जलनग्रन्थ, वनद्विपस्य-वनद्विपस्य, [ “वनद्विपस्य” इत्यनेन  
विशेषस्य सादृश्यं सूचितम् ] अवशिष्टम्-अवशिष्टमृत, कलानभ्यन्तरगतमित्यर्थः,  
तीक्ष्ण-सूक्ष्मित्यर्थः, विषाणाय-दन्ताणामिव, ( “विषाणं स्यात् पशुशङ्केभटनयोः”  
इत्यन्तरः ) तिमिरावकाश-तिमिरं, -अन्वकारिभ्यः, अवकाशम्-अन्तरम्,  
आगमनावसरमिति यावत्, दत्ता-वित्तार्थः, अस्मत्-अदर्शनम्, अस्माच्चलमित्यर्थः,  
प्रवृत्ति-प्रवृत्तिः । अत्र उद्घाटयविषाणजलनग्रवमगजेन अर्हन्मितिनिशाकरस्य  
अवैधस्यसात्यकदनादुपमाऽलङ्कारः ॥ ६ ॥

( च ) स्वरसमीपं, -कण्ठरवसमभिव्यक्तिः ।

( छ ) सुप्तजनो न प्रबोधनीय इत्यर्थः, [ प्रबोधयितुमित्यत्र “प्रबोध्य” इति माधु-  
“एव त्वन्ते-” ( ३४१० पा० ) इति काविविशानेन निषेधाद्यकालशब्दयोगे तुमुन्-  
प्रत्ययस्य अनुगासनाभावान् ] ।

( ज ) धाव-प्रचालय । [ कल्पनादकल्पं दुरादिगदीयस्य धृ-धातोः,

विद्। [सक्रीधम्] भो वयस्स ! एमो दाणिं दासीए पुत्तो  
भविअ पाणिअ गेल्लेदि, म उण वम्हणं पाटाइ धोवावेदि । (॥॥  
आर। वयस्य मैत्रेय । त्वमुटकं गृहाण, वर्द्धमानकः पादौ  
प्रक्षालयतु ।

चेट। अज्ज मित्तेअ । देहि उदकम् । \* [ विदूषकस्तथा करोति ।  
षेठश्चावृत्तस्य पादौ प्रक्षाल्य अपसरति ( अ ) ] ।

आर। दीयता ब्राह्मणस्य पादोदकम् ।

विद्। कि मम पादोदकं, भूमीए ज्जेव मण ताडिद-  
गह्हेण विअ पुणोवि लोठिदब्ब । ‡ ( ट )

चेट। अज्ज मित्तेअ । वम्हणे कव तुमं । §

विद्। जधा सर्व्वणागणं मज्जे ङुण्डुहो, तधा मज्जवम्ह-  
णाणं मज्जे अह वम्हणो । ¶

\* भो वयस्य । एष इदानीं दास्या पुत्री भूत्वा पानीयं गृह्णाति, सो पुत्रप्राप्तेन  
पादौ धावयति ।

† आर्य्यमैत्रेय । देहि उदकम् ।

‡ कि मम पादोदकं ? भूम्यान्नेन मया ताडितं गर्दभेनेन पुनरपि लोठितं यथा ।

§ आर्य्यमैत्रेय । ब्राह्मणं खलु त्वम ।

¶ यथा सर्व्वनागानां मध्ये ङुण्डुभ, तथा सर्व्वप्राज्ञानां मध्ये अहं प्राज्ञः ।

स्वार्थणिजस्तस्य वा शोधनायधावधातो रूपमिदं, धातूनामनेकार्थत्वादथनापत्तौ ।  
बीध्यम् ] ।

( ॥ ) धावयति—पादप्रक्षालनं कारयति, [ अथ हेतुमति णिवि प्रयोजितस्य  
धावधातो रूपं कल्पयित्वा प्रयोजितं वाक्यमिदम्, एवञ्च “मास” इति प्रतीतेः  
कर्मता तु धावधातो शोधनपूर्व्विकायां गतो वर्द्धमानत्वं प्रकल्प्य कर्त्तव्यं सन्नाहं  
इति दिक् ] ।

चेष्ट । अज्जमित्तेअ । तथा वि धोइश्श । [ तथा क्रमा ]  
अज्ज मित्तेअ । एदं त शुवस्समण्डअ, मम दिवा, तुह लत्ति अ,  
ता गेह्ल । \* [ इति दत्त्वा निष्क्रान्त ] ।

विद् । [ गृहीत्वा ] अज्ज वि एदं चिट्ठदि ॥ किं एत्थ उज्जङ्ग-  
णीए चोरोवि णत्थि, जो एद दासीए पुत्त (ठ) णिहाचोर ण  
अवहरदि ? भा वअस्स । अढभन्तरचतुस्सालअ पवेसअमि  
ण । †

चारु । अल चतु शालमिम प्रवेश्य,

प्रकाशनारीधृत एष यस्मात् ।

तस्मात् स्वयं धारय विप्र । तावत्

यावन्न तस्याः खलु भो । समर्प्यते ॥ ७ ॥

[ निद्रा नाटयन्, “त तस्य स्वरसङ्गमम्” इति पुन पठति ] ।

\* आद्येनैवेय । तथाऽपि धाविष्यामि । आद्येनैवेय । एतत् तत् सुवर्णभाण्ड  
मम दिवा, तव रात्रौ च, तद् गृहाण ।

† अद्यापि एतत् तिष्ठति ? किमत्र उज्जगित्या चोरोऽपि नास्ति ? य एतद्दास्याः  
पुत्रं निद्राचौर नापहरति ? भो वयस्य । अभ्यन्तरचतु शालक प्रवेशयामि एतत् ।

( ठ ) दास्या पुत्रम् इति अत्यग्रहयत्वस्यापनापमिदं विषयम् ।

विदूषककृत चतु शालप्रवेशनप्रकाश प्रतिरूपनाट्य, अलमिति ।—इमम्—अल-  
ङ्कारसमूहमित्यर्थ, चतु शाल—चतस्र शाला, —गृहाणि यत्र तम्, अथवा चतसृषु  
दिक्षु शाला यस्य त, बहुगृहपूर्णं भवनमित्यर्थ, प्रवेश्य—प्राप्य, अल—गृहाभ्यन्तरे  
न प्रवेशयितव्यमित्यर्थ, [ “अलखल्लो प्रतिषेधयो प्राचां का” ( ३४।१८ पा० ) इति  
अजगच्छयोगे काप्रत्यय, ततो ल्यप् ] यस्म त्—यत, एष,—अलङ्कारसमूह, प्रकाश  
नारीधृत,—प्रकाशनाय्या—वेष्टया, वसन्तसेनयेति यावत्, धृत—अङ्गेषु निधा-  
पित, भो विप्र । तस्मात्—तत् कारणात्, तावत्—तत्कालपर्यन्त, स्वयं धारय—  
स्वमकाने स्थापय, त्वमेतमिति शेष, यावत्—यत्कालपर्यन्त, तस्या,—वेष्टयाया,  
वसन्तसेनाया हस्ते इत्याशय, न खलु समर्प्यते—दीयते । [ “यावत्पुत्रानिपात्यो  
मट्” । ३३४ पा० ] इति भविष्यदर्शे लट् । उपेन्द्रवज्रेन्द्रवज्यो इन्द्रवशायाश्च  
सङ्गे दृष्टात् केशसिद्धनेन उपजातिर्हंसम्, ते हि—“वसन्तरीदीरितलज्जभाजौ पादौ -

विदुः । अत्रिणिहाअदि भवं ? \*

चारु । अथ किम् ।—

इयं हि निद्रा नयनावलम्बिनी ललाटदेशादुपसर्पतीव माम् ।  
अट्टश्यरूपा चपला जरेव या मनुष्यसत्त्व परिभूय वर्धते ॥ ८ ॥

विदुः । ता सुवेत्ता । † [ नाट्येन स्वपित ] ।

[ ततः प्रविशति शर्विलकः ] ।

शर्विलकः । कृत्वा शरीरपरिणाहसुखप्रवेशं

शिक्षावलेन च, बलेन च, कर्ममार्गम् ।

गच्छामि भूमिपरिसर्पणघृष्टपार्श्वं

निर्मुच्यमान इव जोर्णतनुर्भुजङ्ग ॥ ९ ॥

\* अपि निद्राति भवान् ?

† तत् स्वपित ।

यदीयावत्प्रजातयस्ता” इति लक्षणे—“अनन्तरोदीरित”-पदव्याख्याने इन्द्रवज्रोपेन्द्र  
वज्रो परं विष्टुङ्गयतिजगतीप्रभृतीनि यावन्ति सूत्राणि उक्तानि तादन्त्येव  
दाह्याणि, इति कथयन्ति, तदेतत् सुविचिन्तितमस्माभिः अस्मत्कृतायां पित्रलम्ब  
व्याख्यायाम् ॥ ७ ॥

अचिन्त्यसमागमया निद्रया समभिभूतशरुदक्ष तन्माहाराय वर्णयन्नाह, इयं  
निति ।—इयम्—अनुभूयमाना, निद्रा—स्वप्न, ललाटदेशात्—भालम्यललात्, नय  
नावलम्बिनी—नेवाग्रिता सती, माम् उपसर्पतीव—मज्जते इव इत्यर्थः, चपला—  
अचिरस्थायिनी, अट्टश्यरूपा—अन्तर्हितस्वरूपा, या—निद्रा, जरा—वादकमिव,  
मनुष्यसत्त्व—मानवबल, परिभूय—तिरस्कृत्य, वर्धते । अथ तादृशविशेषणविशिष्ट  
जरायां निद्रया अवैधर्म्यसाम्यकथनादुपमाऽलङ्कारः, तथा ललाटदेशादुपसर्पणाकृतं  
भूताया अपि निद्राया उपसर्पणकर्तृत्वेन उत्प्रेक्षितत्वात् पुष्पार्थं उत्प्रेक्षा । अशक्यत्वेन  
हस्तः,—“वदन्ति वशस्यविनं जतो जरो” इति लक्षणात् ॥ ८ ॥

चौथ्यकम्पनिपुण शर्विलकः सम्प्रति स्वकीय कर्तव्यं वर्णयन्नाह, कथंति ।—  
शिक्षावलेन—ज्ञानसामर्थ्येन, अनुशीलनशक्त्यर्थः, बलेन—शार ३३३ ५, ३३३  
परिणाहस्य—विशालवपुषः, [“परिणाहो विशालता” इत्यमरः । “अन्तर्हित-  
भावो द्रव्यवत् प्रकाशने” इति त्यागिते अवपरिणादशब्दो तद्विपर्ययः । अल-  
—अनायासेन, प्रवेशः,—अन्तर्गमनं, यत्र तत् तदविधः, कथंति,—३-३५५,

[ नमोऽवलीक्य सङ्घर्षम् ] अये । कथमस्तमुपगच्छति स भगवान्  
मृगाङ्कः ॥ तथाहि,—

नृपतिपुरुषशङ्कितप्रचार परगृहदूषणनिश्चितैकवीरम् ।  
घनतिमिरनिर्द्वन्द्वसर्वभावा रजनिरिय जननीव सङ्गृणीति ॥ १० ॥

हृत्तवाटिकापरिसरे सन्धिं कृत्वा प्रविष्टोऽस्मि मध्यमक,  
तत् यावत् इदानीं चतु शालकमपि दूषयामि । (ड) भो ।—

माने—पदान्, मन्त्रिभित्त्वं, कृत्वा—विधाय भूमिपरिसर्पणघृष्टपार्श्वं,—भस्मे,—  
शुद्धीकृतान् भस्मै—शुद्ध्या वा यत् परिसर्पण—सन्ध्यभ्यन्तरेण गृहमध्यप्रवेशं, तेन  
घृष्टो—प्रातःपत्रणो, पार्श्वो—कक्षाधामागौ, यस्य तदाभूतं सन्, अत एव निमुच्य  
मानं,—कञ्चुकात् हीयमानं, स्वयमेव परित्यक्तनिष्क्रान्त इत्यर्थः, [ कर्मकर्त्तरि  
शानच् ] जीर्णो—जर्जरभूता, तनु,—शरीरं, यस्य तादृशं, भुजङ्ग,—सर्प इव,  
गन्धाम्नि—विषरामि । अत्र घृष्टपार्श्वशब्दलक्ष्यं त्यक्तनिष्क्रान्तभुजङ्गेन अवैधम्य-  
साध्यकथनादुपमासङ्गः । वसन्ततिलकं कृतं ॥ ८ ॥

अमुपगतं शशलाङ्कनमालीक्य परितुष्टमानसं शब्दिलकं तदानीन्तनी  
रजनोऽति वणयन्नाह, नृपतीति—घनतिमिरेण—गाढान्धकारेण, निरुद्धा,—  
आच्छन्ना, सर्वे—सकला, भावा,—पदाद्या यस्यां सा, इयं—वर्त्तमाना, रजनि,  
—रात्रि, जननीव—नानेव, नृपतिपुरुषै,—राजपुरुषै, नगररक्षिभिरित्यर्थः,  
शङ्कित,—तक्रित, प्रचार,—गमनं यस्य त, तथा परगृहेषु—अन्यभवनेषु, यत्  
दूष्य—सर्वत्रहरणादिरूपं, मन्त्रिच्छेदनरूपी वा दोषः, तव निश्चित,—विधाया  
निर्णीतं, एक,—पदान्, प्रसिद्ध इत्यर्थः, वीर,—शूर, त, मामिति शेषः,  
सङ्गृणीति—गोपायति । यदा जननी नीतिगन्धम् अतिदुष्टतनपि सुतं यत्रात वस्वा-  
दिना सहणीति, तथा तमिस्राऽपि तमसाऽजस्रं चोत्तनयं सहणीति इति विशदोऽयम् ।  
अत्र तादृशविशेषलक्षितिरजन्या जननीसाधन्यकथनादुपमासङ्गः । पुष्पिताया  
इति, सहस्रं यदा,—“अयुजि नयुनरेफती यकारो युजि तु नजी जग्गाय  
पुष्पितारा” इति ॥ १० ॥



तत् कस्मिन् उद्देशे (ठ) सन्धिसुत्पादयामि ?—

देश. को नु जलावसेकशिथिलो यस्मिन् न शब्दो भवेत् ?

भित्तीनाञ्च न दर्शनान्तरगतः सन्धिः करालो भवेत् ? ।

चारक्षीणतया च लोष्टकक्षश जीर्णं क्व हर्म्यं भवेत् ?

कस्मिन् स्त्रीजनदर्शनञ्च न भवेत् स्यादर्धसिद्धिश्च मे ? ॥१२॥

[ भित्तिं परामश्य ( ण ) ] नित्यादित्यदर्शनोदकसेचनेन दूषितेय भूमिं चारक्षीणा, मूषिकोत्करश्चेह ; हन्त । सिद्धोऽयमर्थः ॥ प्रथममेतत् स्कन्दपुत्राणां सिद्धिलक्षणम् । अत्र कर्मप्रारम्भे कीदृशमिदानीं सन्धिसुत्पादयामि ? इह खलु भगवता कनक-शक्तिना चतुर्विध सन्धुपायो दर्शितः, तद्यथा,—पक्षेष्टकानाम्

वचनापरिभवस्यापि एकवाक्यान्तर्गततया समावेशात् दीपको नाम अलङ्कार, तथा छतौघपादाघस्य सनाक्प्रयत्नस्य समघन चतुघपादार्धेन द्रौणिरूपपुरुषधौरयादुचितं त्वं समघनात् कारणेन काव्यसमर्धनरूपोऽर्धान्तरन्यासश्चेत्यनयो परस्परनिरपेक्षा सृष्टिः । शार्दूलविक्रीडित छन्दः ॥ ११ ॥

( ढ ) उद्देशे—ध्याने इत्यर्थः ।

सन्धिकत्तनम्याननिरूपणं कुत्र सङ्गतम् ? इति विचारयन्नाह, देश इति ।—को देशः,—किं स्थानं, जलावसेकशिथिलः,—जलानां—साललानाम्, अवसक्तेन—चिरसेचनेन, शिथिलः,—पादप्रायः, अकठिन इत्यर्थः, यस्मिन्—यत्र स्थाने, सन्धिकत्तने कृत इति शेषः, शब्दः,—गृहस्यप्रबोधको ध्वनि इत्यर्थः, न भवेत्—न स्यात्, यस्मिन् भित्तीनां—कुद्यानां, करालः,—प्रशस्तः, सन्धिः,—सुरङ्गा, दर्शनान्तरगतः,—दृष्टिगोचरः, रत्तिणामिति शेषः, न भवेत्, क्वच—कुत्र प्रदर्शे च, हर्म्यम्—अशालिका, इष्टकगृहमित्यर्थः, चारक्षीणतया—ऊपत्वात् क्षयप्राप्ततया, लाण—जरादक्ष, तदा लाटर्कः,—इष्टकादिखण्डैः, कृश—क्षीणम्, अत्येष्टकाचितमित्यर्थः, भवेत्, तथा कस्मिन्—कुत्र प्रदर्शः, स्त्रीजनदर्शनं—रमणीजनसाक्षात्कारः, न भवेत्, प्रथमं स्त्रीजनसाक्षात्कारो हि तत्कारणां स्वकाव्यसिद्धेरन्तरायतया चौराण्यन्तरेष्वित्येन तद्दर्शनं स्वकाव्यध्वंसकरमिति भावः, मे—मम, अघसिद्धिश्च—काव्यराफलयश्च, अत्रप्रतिपत्तिरिति यावत्, स्यात्—भवेत् । शार्दूलविक्रीडित छन्दः ॥ १२ ॥

( ए ) परामस्य—हस्तेन स्पर्शित्यर्थः ।



आकर्षणम्, आमेष्टकानां छेदनं, पिण्डमयानां सेचनं, काष्ठ-  
मयानां पाटनमिति । (त) तदत्र पक्वेष्टके इष्टकाकर्षणम् ;

तत्र,—पद्मव्याकोश, भास्करं, बालचन्द्र,

वापी, विस्तोर्णं, स्वस्तिक, पूर्णकुम्भम् ।

तत् कस्मिन् देशे दर्शयाम्यात्मशिल्पम् ?

दृष्ट्वा श्वो य यद्विस्मय यान्ति पौराः ॥ १३ ॥

तदत्र पक्वेष्टके पूर्णकुम्भ एव शोभते । तमुत्पादयामि,—

( त ) नित्यादित्यदर्शनोदकसेचनेन—सततातपजलमस्यर्केण, ( नित्यं मृग्य-  
किरण-सलिलसम्बन्धेन हि इष्टकाकाष्ठादिकं सारहीनं जायते ) दूषिता—असारी  
कृता, शिथिलीभूता इत्यर्थः । मूपिकै,—उन्दुरै, उत्कीर्यते—खन्यते, इति मूपिको  
त्कर—मूपिकोद्धृतमृत्तिकाराशि इत्यर्थः । हन्त इति हर्षयितकमव्ययम् । एतत्  
—पूर्वोक्तं, प्रथमं—प्रधानं, सिद्धिलक्षणं—काव्यसिद्धिमुचकचिह्नमित्यर्थः । स्कन्त  
पुत्राणां—हात्तिकेयमुत्तानां, चौराणामिति यावत्, चौरा हि कार्तिकेयमुता,  
तत्रणोत्तचोद्येगास्त्रोपजीविनश्च भवन्तीति प्रसिद्धिः, कनकशक्तिना—स्कन्तेनेत्यर्थः ।  
आमेष्टकानाम्—आमानाम्—अपक्वानाम्, इष्टकानां—मृत्खण्डविशेषाणाम् । पाटन-  
—छेदनमित्यर्थः ।

चौरदर्शनप्रीतसप्तविधसन्धीनामन्यतमं विधातुं तेषां स्वरूपं दर्शयन्नाह, पद्म  
व्याकोशमिति ।—तत्—तस्मात्, कस्मिन् देशे—कुत्र स्थले, आत्मशिल्पम्—निज  
कौशलं, सप्तविधान्यतमकारुत्वमित्यर्थः, दर्शयामि ?—प्रकाशयामि ? यद्—यस्मात्,  
पौरा,—पुरवासिनः, य—शिल्पः, दृष्ट्वा—अवलोक्य, य,—परदिनं, विस्मयम्—  
आश्चर्यं, यान्ति—ग्राप्नुवन्ति । सप्तविधमाह, पश्येति ।—पद्मव्याकोश—पद्मवत् व्याकोश-  
—अफुल्लं, प्रफुल्लितकमलमदृष्टमित्यर्थः, ( “प्रफुल्लोत्फुल्लमस्फुल्लव्याकोशाकारमप्यहं”  
इत्यमरः ) भास्करं—सूर्यमण्डलाकृतिः, बालचन्द्र—नवोदितचन्द्राकारः, वापी—  
द्विधातुव्यः, विस्तोर्णं—प्रशस्तं, स्वस्तिकं—पितृतन्त्रानभिहितविकीर्णानिमांश-  
निकटस्थभेदः, तत्स्वरूपं, ( “स्वस्तिकं मङ्गलद्वये चतुष्कण्डमुदरी” इति सादणः )  
पूर्णकुम्भ—पुणकुम्भाकारम् । “इष्टकाभित्तौ मन्त्रारवणं पद्मं तस्योपायम् । स-  
मभयः” इति चौरदर्शनव्यप्रमाणेन सन्धेः सप्तविधसप्तविधं नामादिभिरुक्तं  
इति पृथक् पृथक् नामद्वयाद्रीकारं कृतं, नो चेत् सप्तविधसप्तविधं नामादिभिरुक्तं । यद्  
वैश्वदेवो वचः,—“वाणादेन्द्रिन्द्रा देवदेवी मन्त्रे यः इति लक्षणम् । १३ ।

अन्यासु भित्तिषु मया निर्दिष्टा पाटितासु

चारुतासु विषमासु च कल्पनासु ।

दृष्ट्वा प्रभातसमये प्रतिवेशिवर्गे

दोषाच्च मे वदति कर्मणि कौशलञ्च ॥ १४ ॥

नमो वरदाय कुमारकार्तिकेयाय, नमः कनकशक्तये  
ब्रह्मण्याय देवाय देवव्रताय, नमो भास्करनन्दिने, नमो योगा-  
चार्याय, यस्याहं प्रथमं शिष्यः । तेन च परितुष्टेन योग-  
रचना (घ) मे दत्ता,—

सन्निर्माणे स्वनैपुण्यप्रख्यापनमुखेन भाविलीकालीचमाह, अन्यास्त्विति ।—  
निर्दिष्टा—राशौ, अन्यासु—अपरासु, चारुतासु—ऊर्ध्वरूपासु भित्तिषु—बुद्धेषु,  
तथा विषमासु—दाह्यासु, कल्पनासु—चौरधारणकौशलेषु, मया पाटितासु—  
अन्तेनासु सतीषु प्रभातसमये—प्रातः काले, प्रतिवेशिवर्गः,—तत्पक्षीस्थो जनसमूहः,  
दृष्ट्वा—पालीक्य, तत्पाटनकर्म, सन्नि वा इति शेषः, मे—मम, दोषान्—दूषणानि,  
चोयकृतापराधानिति यावत्, तथा कर्मणि—सन्निर्माणकार्ये, कौशलं—  
मैतृपुण्यं, वदति—कथयिष्यति इत्यर्थः । [ अत्र “वर्तमानसामीप्ये वर्तमानवद्वा”  
(१११११ पा०) इति भविष्यत्सामीप्ये लट् ] । अत्र प्रस्तुतयो दोषकौशलयो  
कथनक्रियायाम् एकधर्माभिसम्बन्धकथनात् तुल्ययोगिता नाम अलङ्कारः । वरुन्त-  
वित्तरु इन्द्र, तल्लक्षणादिकन्तु उक्तं प्राक् ॥ १४ ॥

अनया हि समालम्ब्य न मा द्रव्यन्ति रज्जिणः ।

शस्त्रञ्च पतित गात्रे रुज नोत्पादयिष्यति ॥ १५ ॥

[ तथा करोति ] । धिक् कष्टं । प्रमाणसूत्रं (द) मे विस्मृतम् ॥

[ विचिन्त्य ] आं, इदं यज्जोपवीत प्रमाणसूत्रं भविष्यति ॥

यज्जोपवीतं हि नाम ब्राह्मणस्य महदुपकरणद्रव्य, विशेषतो-  
ऽस्मद्विधस्य । (घ) कुत,—

एतेन मापयति भित्तिषु कर्ममार्गम्

एतेन मोचयति भूषणसम्प्रयोगान् ।

उद्धाटनं भवति यन्त्रदृढे कपाटे

दष्टस्य कीटभुजगैः परिवेष्टनञ्च ॥ १६ ॥

गुरुसंकाशात् प्राप्ताया योगरचनाया प्रभाव वर्णयन्नाह, अनया ।—अनया—  
योगाचार्यप्रदत्तया योगरचनया, समालम्ब्य—युक्तम्, आलम्बितमित्यर्थ, मां रज्जिण —  
रज्जुका राजपुरुषा, हि—निश्चितं, न द्रव्यन्ति—प्रेक्ष्यन्ते, तथा गात्रे—तत्र रूपात्  
शेष, पतित—क्षिप्त, शस्त्रञ्च—आयुधञ्च, रुज—पीडा, न उत्पादयिष्यति—  
जनयिष्यति । । पद्यावक्तं वृत्तम् ॥ १५ ॥

( द ) प्रमाणसूत्र—सन्निवृत्तानप्रमाणरज्जु ।

( घ ) महत्—प्रधानभुतम् । उपकरणद्रव्य—जीविकामाधनीभूत पदार्थ,  
ब्राह्मणान्तावदनेनैव साधनेन सर्ववर्णेषु प्राधान्यं लभन्ते, किमधिर्वन, रुजो जीविका  
मप्यनेनैवोपाज्जन्तीति सर्वसाधनेषु अस्यैव श्रेष्ठत्वमित्याशयः । शिष्टमत्र,—प्रधान  
रूपेणेत्यर्थः । अस्मद्विधस्य—अस्मत्कृष्टस्य चौर्ध्यादिदुर्नीतसक्तस्य जनयेत्यर्थः, स  
केवलं वयं साधारणब्राह्मणवत् यज्जोपवीतादुपकारं लभामहे, अपि तु वल्गुमात्र  
कर्ममार्गमापनादिरूप, तथा चौर्ध्यादिकानि गृहस्वामिभिर्भूतायेन अनेनैव ब्राह्मण  
व्यापनादात्मरक्षा रूपश्चेति भावः ।

सापयित्वा कर्म समारभे । [ तथा कृत्वाऽवलोक्य च ] एक-  
लोष्टावशेषोऽयं सन्धिः । धिक् कष्टम् । अहिना दष्टोऽस्मि ॥

[ यज्ञोपवीतेनाहुली इहा विप्रवेग नाटयति । तत चिकित्सा कृत्वा ] स्वस्थोऽस्मि ।

[ पुन कर्म कृत्वा दृष्ट्वा च ] अये । ज्वलति प्रदीपः ॥ तथाहि,—

शिखा प्रदीपस्य सुवर्णपिञ्जरा

महीतले सन्धिसुखेन निर्गता ।

विभाति पर्यन्ततमसमाहता

सुवर्णरेखेव कपे निवेशिता ॥ १७ ॥

[ पुन कर्म कृत्वा ] । समाप्तोऽयं सन्धिः । भवतु प्रविशामि,—

अथवा न तावत् प्रविशामि, प्रतिपुरुष निवेशयामि । ( न )

[ तथा कृत्वा ] अये । न कश्चित् ॥ नमः कार्तिकेयाय । [ प्रविश्य

—उन्मीचन, भवति [ “उद्घाटक ” इत्यपपाठ, विशेषणपदस्य करणकारकेण  
चन्द्राभावात् क्रमभङ्गदोषाच्च ] तथा कीटै,—चुद्रकौवविशेषै, भुजगै,—विप-  
क्षेय दष्टय—प्रातदशनस्य सत, परिवेष्टन—परित वस्त्रनसाधनञ्च, भवति इति  
शेष । वननतिशुक्ल वस्त्रम् ॥ १६ ॥

सन्धिः प्रविर्निर्गत प्रदीपालोक वर्णयन्नाह, शिखिति ।—पर्यन्ततम समाहता—  
पर्यन्तेषु—प्रातप्रदेशेषु, दीपशिखीज्ञासितभक्त चतुष्पात्रेषु इत्यर्थ, सञ्चारि यत तम,  
—निमिरपटल, तेन समाहता—परिवेष्टिता, सुवर्णवत् पिञ्जरा—पिङ्गलवर्णा,  
प्रदीपस्य शिखा—पञ्च, सन्धिसुखेन—सन्धिविवरेणेत्यर्थ, महीतले—क्षितितले,  
निर्गता—निष्क्रान्ता सतीत्यर्थ, कपे—सुवर्णपरीचाप्रन्तरे, निकषपाषाणे इति यावत्,  
( कषपाप्रन्तरस्य कषपाप्रन्तरेण तन साम्य बोध्यम्, “शाणस्तु निकष कप ” इत्यमर )  
निवेशिता—अपिता, सुवर्णस्य—कनकस्य, रेखेव—लेखेव, विभाति—शोभते ।  
अथ तिमिरोपमदृग्भूततन्पतितालीकरेखाया निकषपाषाणगतकनकरेखया अर्धैर्धन्य-  
साम्यरूपनादनाऽन्वङ्कार । वक्ष्यविल हस्तम् ॥ १७ ॥

( न ) प्रतिपुरुष—हृदादिनिमित्ता पुरुषप्रतिकृति, ( गृहस्थानां निद्राजाग-  
रदादवस्थानानां चैवैवैव निद्राते इति प्रसिद्धि ) निवेशयामि—प्रेषयामि,  
प्रेषयामि—प्रेषयामि—प्रेषयामि—प्रेषयामि—प्रेषयामि—प्रेषयामि—प्रेषयामि—प्रेषयामि—  
यहा—प्रतिपुरुष—पुरुष पुरुष प्रतीत्यर्थ, निवेशयामि—मन-  
स्यवस्थानि, कश्चि कश्चि पुरुषे न वेति चिन्त्यामीत्यर्थ ।

इतस्ततो दृष्टा च ] अये पुरुषद्वय सुप्तम् ॥ भवतु, आत्मरक्षार्थं हारम्  
उद्धाटयामि । कथं जीर्णत्वाद् गृहस्य विरोति (प) कपाटं, तत्  
तावत् सलिलमन्वेषयामि । कं नु खलु सलिलं भविष्यति ?  
[ इतस्ततो दृष्टा सलिलं गृहीत्वा सन्धिस्यलेषु विपन् सगडम् ] मा तावत्,  
भूमौ पतत् शब्दमुत्पादयेत् । भवतु एव (फ) तावत् । [ पृष्ठेन  
प्रतीक्ष्य ( व ) कपाटमुद्घाट्य ] भवतु एव तावत्, इदानीं परीक्षे,—किं  
लक्ष्यसुप्तम्, उत परमार्थसुप्तमिदं द्वयम् ? (भ) [ वामयित्रा ( म )  
परीक्ष्य च ] अये । परमार्थसुप्तेनानेन (य) भवितव्यम् । तथाहि,—

निश्वासोऽस्य न शङ्कितः सुविशदः स्वप्नान्तरं वर्तते  
दृष्टिर्गाढनिमीलिता न विकला नाभ्यन्तरे चञ्चला ।

गात्रं सूक्ष्मशरीरसन्धिशिथिलं शय्याप्रमाणाधिकं

दीपञ्चापि न मर्षयेदभिमुखं स्यान्नक्षत्रसुप्तं यदि ॥ १८ ॥

( प ) कथं—सम्भावनायां । विरोति—शब्दायते ।

( फ ) एव—यथा भूमौ पतत् शब्दं न कुर्यात् तथेत्यर्थः ।

( व ) पृष्ठेन—पश्चाद्भागेन । प्रतीक्ष्य—प्रत्यात्र्य, पृष्ठतः लीकसमागमम् अपश्य  
इत्यर्थः ।

( भ ) लक्ष्यसुप्तं—याज्ञसुप्तम् । परमार्थसुप्तं—यथायनिद्रितम् ।

( म ) वामयित्रा—विकृताकारप्रदर्शनेन भोषयित्वा ।

( य ) अनेन—मन्त्रोच्चाविषयेण पुरुषद्वयेनेत्यर्थः ।

पुरुषद्वयस्य परमार्थसुप्ततामेव युक्त्या समर्थयितुं परमार्थसुप्तिप्रमाणानि दत्तं ब्राह्म,  
निश्वास इति ।—अस्य सुप्तपुरुषद्वयस्य, निश्वास—नामासम्भूतिविनिर्मुक्त प्राणनायुः, न  
शङ्कितः,—न शङ्कास्थान, जागरितत्वेनेति भावः, यतः सुविशदः,—मुनिमन्त्र,  
सरल इत्यर्थः, सन् स्वप्नान्तरं—निद्राऽवकाशं व्याप्य, वर्तते [ “स्वप्नान्तरम्” इति  
“तन्व्यान्तरम्” इति पाठान्तरे—तन्व्यं—समानम्, अविषममित्यर्थः, अन्तरम्—अन्त-  
रालं व्यवधानमिति यावत्, यतः तद्वयथा स्माभ्यधा इत्यर्थः, कपटनिद्रायां दास्य  
प्रधानं शरीरवृत्तिममप्य न्यूनाविकृता प्रसिद्धेति तदभावात् नैवं कपटनिद्रायां दास्य  
गाढनिमीलिता—मुष्टदृष्टेण मुद्रिता, दृष्टिः,—चक्षुः, विकला—असमाना  
निमीलिता न, यतः अभ्यन्तरे—निर्वान्, [ “नाभ्यन्तरे” इत्येव “नाभ्यन्तरम्” इति ]

[ समन्तादवलोक्य ] अये । कथं सृष्टङ्गं ? अयं दर्दुर', अयं पणव., इयमपि वीणा, एते वशा, अमी पुस्तका, कथं नाट्या-  
चार्यस्य गृहमिदम् ? अथवा, भवनप्रत्ययात् प्रविष्टोऽस्मि,  
तत् किं परमार्थदरिद्रोऽयम् ? उत राजभयाच्चौरभयात् वा  
भूमिष्ठं द्रव्यं धारयति ? तन्ममापि नाम शर्विलकस्य  
भूमिष्ठं द्रव्यम् ॥ (र) भवतु, बीजं प्रक्षिपामि । [ तथा कृत्वा ]  
निक्षिप्तं बीजं न क्वचित् स्फारीभवति । अये । ( ल ) परमार्थ-  
दरिद्रोऽयम् । भवतु, गच्छामि ।

[ अयमेवात्र ] न चञ्चला—न स्फुरिता, कृत्स्ननिद्रायामभ्यन्तरे तारकास्फुरणात्, इह  
च तदभावात् नेत्रं कपटनिद्रेति भावः, गात्र—शरीरं, सप्तशरीरसन्धिप्रविष्ट-  
शिथिलावयवसन्धितया पतितं, तथा शय्याप्रमाणाधिक—शय्यायां यत् प्रमाण-  
परिमाणं, तस्मात् अधिकम्—अतिरिक्तञ्च, कृत्स्ननिद्रायां शरीरस्य शय्यावयवेषु तैरस-  
म्भवादिह च तस्मान् नेत्रं कपटनिद्रेति भावः, किञ्चित् चार्थं, यदि—चेत्,  
लक्ष्यं न—कपटनिद्रितं, स्यात्—भवेत् एतत् पुरुषइयमिति शेषः, तदा अभिरुख-  
—समुत्पत्तिन, दीपम्—आलोकमित्यर्थः, न संप्रयेत—न सहेतुः । अत्र प्रसुप्तपुरुष-  
इयस्य अकृत्स्नग्लिष्टाया निद्रायां यथावद्व्ययनप्रसङ्गात् सुभावोक्तिरलङ्कारः ।  
शार्दूलविकीर्णितं हस्तम् ॥ १८ ॥

( र ) अये इति विष्णवे विषादे वा । सृष्टङ्गं,—वाद्ययन्त्रविशेषः । तल्लक्षणं  
यथा—“अक्षणा नडवदनी नख्ये चैव प्रदुर्भवेत् । सृष्टिकानिष्कितश्चैव सृष्टङ्गं  
परिर्कर्मितः ॥” इति दर्दुर,—वाद्ययन्त्रभेदः । पणव,—पटङ्गभेदा वाद्ययन्त्र-  
विशेषः । कथमेति जिज्ञासायाम् । नाट्याचार्यं,—नाट्यस्य—लक्षणया तौख्य-  
तिकस्येत्यर्थः, आचार्यं,—शिक्षागुरुः, तस्य । भवनप्रत्ययात्—गृहार्हादतिविभूति-  
विश्वासात् गृहस्यास्य दारिद्र्यादस्वरमालोक्य मयैतादृशम्, यदतत् धनिगृहमिति,  
तदा च यदिदम् वनाऽस्मिन्ति भावः । ममिदं—ममितलान्छातम । धारयति—  
स्थानित्वेनाधिकीकृतम् । ममापि नाम शर्विलकस्य भूमिष्ठं द्रव्यं—भूमिष्ठं द्रव्यं अपि  
एतत् नमः अस्माकं नेति भावः ।

( ल ) राज—राजनिहितधनस्य सदसत्ताप्रापकमित्यर्थः । स्फारीभवति—  
विस्फारमापयति, निष्क्रान्तवन्ति सति भवन्ति समन्तवर्ति । निक्षिप्ते तस्य बहुलौभावः

विदू। [उत्स्वप्रायते] भो वयस्स । सन्धी विअ दिज्जदि,  
चोरं विअ पेक्खामि, (व) ता गेल्लदु भव एदं सुवण्णभण्डअ । \*

शर्विं। किं नु खलु अयमिह मा प्रविष्ट ज्ञात्वा दरिद्रो-  
ऽस्मीति उपहसति ? (श) तत् किं व्यापादयामि ? उत लघुत्वात्  
उत्स्वप्रायते ? [दृष्ट्वा] अये । जर्जरस्नानशाटीनिबद्ध दीपप्रभया  
उद्दीपित सत्यमेवैतदलङ्करणभाण्डम् । भवतु, गृह्णामि । अथवा,  
न युक्तं तुल्यावस्थ कुलपुत्रजन (प) षोडयितुम्, तन्नच्छामि ।

विदू। भो वयस्स । साविदो सि गोब्रह्मणकामाए, जइ  
एदं सुवण्णभण्डअ ण गेल्लसि । † (स)

शर्विं। अनतिक्रमणीया भगवती गोकाम्या ब्राह्मणकाम्या  
च । तद् गृह्णामि । अथवा, ज्वनति प्रदीप, अस्ति  
च, मया प्रदीपनिर्वापणार्थमाग्नेयः कीटो धार्यते, त तावत्

\* भो वयस्य । सन्धिरिव दृश्यते, चौरमिव पश्यामि, तत् गृह्णातु भवान् इदं  
सुवर्णभाण्डम् ।

† भो वयस्य । शापितोऽसि गोब्राह्मणकाम्यया, यदि एतत् सुवर्णभाण्डं न  
गृह्णसि ।

स्यादिति चौरशान्त्रप्रसिद्धिः । अथ तदभादद्वयानात् तत्तर्तीऽस्याप्यन्यत्वे निमित्तम्,  
अये इति ।—अये अथ विषादयितकमव्ययम् ।

( व ) अत्र “दृश्यते” इति कस्माच्चोपक्रमे “पश्यामि” इति कर्तृव्यप्रयोगात्  
भग्नप्रक्रमतादीषोऽवधेयः ।

( श ) उपहसति—उपहास करोति, मिथ्यासुवर्णभाण्डकथाकथनमिति यय ।

( प ) जर्जरस्नानशाटीनिबद्ध—जीर्णस्नानीयवस्त्रावृतम् । उद्दीपितम्—ज्व-  
लितम् । तुल्यावस्थ—समानदृश्यावस्थम्, आत्मान इति शेषः, दर्शयामि इति । तन्न-  
पुत्रजन—सत्कुलोत्पन्नपुरुषम् ।

प्रवेशयामि, तस्याय देशकालः । एष मुक्तो मया कीटो यात्वा  
एव अस्य दीपस्य उपरि मण्डलैर्विचित्रैर्विचरति, एष पञ्च-  
हयानिलेन निर्वापितो भद्रपीठेन । धिक्कृतमन्धकारम् ; अथवा,  
मयाऽपि अस्मद्ब्राह्मणकुले धिक्कृतमन्धकारम् । अहं हि चतुर्वेद-  
विदोऽप्रतिग्राहकस्य पुत्र । शर्विलको नाम ब्राह्मणो गणिका-  
मदनिकार्यमकार्यमनुतिष्ठामि । इदानीं करोमि ब्राह्मणस्य  
प्रणयम् । (ह) [ इति जिघृक्षति ] ।

विद् । भो वयस्य । सीदलो दे अगहह्यो । \*

शर्वि । धिक् प्रमादः । सलिलसम्पर्कात् शीतलो मेऽग्र-  
हस्तः । भवतु, कक्षयोर्हस्तौ प्रक्षिपामि । [ नाट्येन सव्यहस्तमुणोक्तस्य  
गृह्णाति ] ।

विद् । गहिद १ १†

शर्वि । अनतिक्रमणोऽयं ब्राह्मणप्रणयः, तद् गृहीतम् ।

विद् । दाणो विक्किणिदपत्ता विअ वाणिओ, अह सुहं  
सुविस्स । ‡

शर्वि । महाब्राह्मण ! स्वपिहि वर्षशतम् । कष्टम् । एवं मद-

\* भो वयस्य । शीतलसे अग्रहस्त ।

† गृहीतम् ?

‡ इदानीं विक्रीतपत्न्य इव वणिक् अह सुखं स्वप्नयामि ।

(ह) भगवतौ—प्रभूतशक्तिसम्पन्ना । गोकाम्या—गवामभिलाष । ब्राह्मण  
काम्या—ब्राह्मणानां कान्ता च । अनतिक्रमणीया—अतिक्रमितुनशक्या, पाप  
भिदेति भावः । अथवा—पदान्तरे, नाय गृहपयोग्य काल इत्यर्थः । कुत ?  
इत्याह, ज्वलतीति ।—प्रज्वलितो वर्तते इत्यर्थः, तथा च दीपालोके अन्यस्य दर्शनं  
सम्भव इति भावः । आद्येय,—अग्निषु परीक्षित, अग्निसंयोगेऽप्यविनाशीत्यर्थः । देश  
काल,—उक्तोचनोचितस्थान समयश्च । मण्डलैः,—मण्डलाकारगतिविधिपैरित्यर्थः ।  
[ “मण्डलैः” इत्यस्य “मण्डलैः” इति पाठान्तरम् ] । भद्रपीठेन—तदाख्येन कीटेन  
इत्यर्थः । अप्रतिग्राहकस्य—कुत्रापि प्रत्येकमनुभवतः । ब्राह्मणस्य—अलङ्कारभाण्डं  
दातुमिच्छतो विजस्र विदूषक इत्यर्थः । प्रणयम्—अभ्यवना, करोमि—सम्पादयामि ।



निका-गणिकार्यं ब्राह्मणकुलं तमसि पातितम्, अथवा, आत्मा  
पातितः,—

धिगस्तु खलु दारिद्र्यमनिर्वेदितपौरुषम् ।

यदेतद्गर्हितं कर्म निन्दामि च करोमि च ॥ १६ ॥

तत्तावत् मदनिकाया निष्क्रीयणार्थं ( क ) वसन्तसेनागृहं  
गच्छामि । [ परिक्रम्यावलीक्य च ] अये । पटशब्द इव । मा  
नाम रक्षिणः ॥ भवतु, स्तम्भो भूत्वा तिष्ठामि । अथवा—  
ममापि नाम शर्विलकस्य रक्षिणः ॥ योऽहम्,—

मार्जारः क्रमणे, मृगः प्रसरणे, श्येनो ग्रहालुञ्चने,

सुसासुसमनुष्यवीर्यतुलने श्वा, सर्पणे पन्नगः ।

एतादृशदुष्कृतिनिदानतया दारिद्र्यमेव निन्दन्नाह, धिगिति ।—अनिर्वेदितम्—  
अक्रियम्, अगणितमित्यर्थ, पौरुष—पुरुषकार यस्य तादृश, [“अनिर्वेदितपौरुषम्”  
इत्यत्र “अनिर्वेदितपौरुषम्” इति पाठे,—निर्वेद,—प्रकरणमित्यर्थ, तन्मात्र  
अनिर्वेद, अनिर्वेदितम्—अनिश्चितम्, अगणितमित्यर्थ ] दारिद्र्य—निर्धनता,  
धिक् । अस्तु—वस्तुता, खलु—नियये, यत्—यस्मात्, अहं दारिद्र्य इति शब्द,  
एतत्—क्रियमाण परस्वापहरणरूपमित्यर्थ, गर्हितं—निन्दितं, पापजनकमित्यर्थ,  
कर्म—वीर्यं, निन्दामि च—अपवादामि च, करोमि च—सम्पादयामि च । पश्चा  
वक्तव्यम् ॥ १६ ॥

( क ) निष्क्रीयणार्थ—दाम्नात् मोचनार्थमित्यर्थ ।

माया रूपशरीरवेशरचने, वाग् देशभाषान्तरे,

दीपो रात्रिषु, सङ्कटेषु डुडुमो, वाजी स्थले, नौर्जले ॥२०॥

अपि च,—

भुजग इव गतौ, गिरिः स्थिरत्वे, पतंगपते' परिमर्पणे च तुल्य' ।

शश इव भुवनावलोकनेऽह, वृक इव च ग्रहणे, बले च सिद्ध' ॥२१॥

असुप्तस्य—जागरितस्य च, मनुष्यस्य—मानवस्य, यत वीर्यं—पराक्रम, तस्य तुलने  
—इयत्ताऽवधारये, वा—कुङ्कुर, कुङ्कुर इव सुप्तस्यासुप्तस्य वा जनस्य चमता  
निधेतुमर्हामीति भावः, सपणे—द्रुतवक्रगमने, पद्मग—सर्प, पद्मगवत द्रुत वक्रञ्च  
गन्तु समर्थ इति भावः, रूपस्य—मितत्रणादिवर्णस्य शरीरस्य—आवृते, वेशस्य—  
परिच्छेदस्य च, रचने—सम्पादने, नाया—चातुर्थ्यमयी विद्या, ऐन्द्रजालिकवत  
अरेषविध रूपादिक कर्तुं शक्नोमीत्यर्थः, देशभाषान्तरे—देशभाषाविशेषे, नाना-  
देशीयभाषाकथने इत्यर्थः, वाक्—सरस्वती, सध्या एव भाषा विज्ञानासीति भावः,  
रात्रिषु—रजनीषु, दीपः—आलोक इत्यर्थः, दीपो यथा सञ्चित अन्धकारे सर्वं  
पश्यति अहमपि तदा इति भावः, सङ्कटेषु—दुर्गमेषु स्थलेषु, डुडुमः—तदास्य  
प्रतिविम्बिषु, ( अश्वत्थ इति केचित्, वृक इत्यपरे ), स्थले—भूमौ, स्थलसञ्चारे  
इत्यर्थः वाजी—वृद्ध, अश्ववत द्रुतगमने दूराध्वगमने वा अनवसन्न इति भावः,  
तदा जले—सञ्जलप्रदर्शने नौ,—तरणी, तरणी यथा निरन्तर वले चरन्वते,  
अहमपि तदा ज्ञीत समर्थ इति भावः । अथ एकास्मिन् शब्दलुके ताटारम्येन  
मात्काराद्यागोपात् मात्कारपक्षम् । न चात्र उल्लेख एवास्तु, एकस्य शब्दलोकस्य  
मात्काराद्यनेकविधतेर्नीलान्नादिना वाच्यम्, उल्लेखे “अथ इति गापवधूभिः” इत्यादौ  
भगवति प्रियत्वादेवान्वत्त्वात्, इह तु शब्दलुके मात्कारत्वाद्वैवाक्यत्वादित्याल  
ङ्कारिकपरिग्रहीत पद्या । शार्दूलविक्रीडित वृत्तम् ॥ २० ॥

पुनश्च देव व्यञ्जयितुमाह, भुजग इति ।—अह गतौ—गतिविशेषे, भुजगः,—  
मप इव, स्थिरत्वे—स्थैर्यं अवैमुष्ये इति यावत्, गिरिः,—पर्वत इव, पारसङ्गे—  
संग्रह—रुने, सहसा लल्लसुदृष्टिं रुम्ने इति यावत् पतंगपतः,—गरुडस्य, तुल्य —  
सदृशः, भुवनावलोकने—भुवनस्य—जगतः अवनलोकने—दर्शने, सतुर्दिग्दर्शने इति  
यावत् शशः—सर्गावधि इव गरुड—हठात् आक्रमणे, वृकः,—वृहादयः,  
कुङ्कुराव तस्याक्रमेदे इति यावत् इव, ( “घ,घ” इति वङ्गभाषा, “काकस्त्रीहास्यो  
इह” इत्यन्तः ) तदा इति—अत्र, सिद्ध—सिद्ध इव । अथ एकस्य उप

२८। [प्रविश्य] हृद्वी। हृद्वी। बाहिर दुआर मालाए  
पसुत्तो बड्डमाणओ, सोवि एत्थ ण दीसइ। भोदु, अज्ज-  
मित्तेअ' सदावेमि। ॥ [इति परिक्रामति]।

शर्वि। [रदनिकां हनुमिच्छति, निरुध्य च पश्चात्] कथं स्त्री ?  
भवतु, गच्छामि। [इति निष्क्रान्त]।

२९। [गत्वा सवासम्] हृद्वी। हृद्वी। अम्हाणं गेहे सन्धि  
कप्पिअ चोरो णिक्कमति ॥ (ख) भोदु, मित्तेअ गदुअ पवोधेमि।  
[विदूषकमुपगम्य] अज्ज मित्तेअ ! उट्ठेहि, उट्ठेहि, अम्हाण  
गेहे सन्धि कप्पिअ चोरो णिक्कन्तो। ॥

विदू। [उत्थाय] आः दासीए धोए। किं भणामि ? चोरं  
कप्पिअ सन्धी णिक्कन्तो ? ॥ (ग)

२९। हृदास ! अल परिहासेण, किं ण पेक्कमि एद ? ॥  
विदू। आ, दासीए धोए। किं भणामि ? दुदिअ धिअ

\* हा धिक्। हा धिक्। वहिर्द्वारशालायां प्रसुप्तो वड्डमानकः, सोप्यत न  
दृश्यते। भवतु, आद्यसंवेद्यम् आह्वयामि।

+ हा धिक्। हा धिक्। अम्हाक गृहे सन्धि कल्पित्वा चोरो निष्क्रामति।  
भवतु, संवेद्य गत्वा प्रवाधयामि। आद्य संवेद्य। उत्तिष्ठ उत्तिष्ठ, अम्हाक गेहे सन्धि  
कल्पित्वा चोरो निष्क्रान्तः।

‡ आ दास्या पुत्रिके। किं भणसि ? चोरं कल्पित्वा समीक्षन्क्रान्तः ?

§ हताशः। अल परिहासेन, किं न प्रेक्षसे एतत् ?

सौम्यभूतस्य शर्विलकस्य विषयविशेषेण भुजगगिरि-पतंगपद्यादिभिः प्रसिद्धरमानि  
चास्यकथनात् मालीपमाडलद्वारः। पुण्यिताया वचनम् ॥ २९ ॥

(ख) निष्क्रामति—पलायते।

(ग) हृदात् सुनीलितस्य भयविह्वलस्य विदूषकस्य समीक्षन्क्रान्तः ॥ २९ ॥  
विषयेयं बोध्यं। [“चोरं कल्पितम्” इत्यादौ “चोरो कल्पितो, सन्धि” इत्यादि  
इति पाठान्तरम्, “चोरं कल्पितं, सन्धिनिष्क्रान्तं” इति ॥ २९ ॥]

दुश्चारश्च उग्राडिदंति । भो बभ्रस् चारुदत्त ! उद्वेहि, उद्वेहि.

अम्हाण गेहे सन्धिं दद्वअ चोरो णिकन्तो । \*

चारु । भवतु, भो । अल परिहासेन ।

विद् । भो । ए परिहासो, पेक्खदु भव । †

चारु । कस्मिन् उद्देशे ?

विद् । भोः । एसो । ‡

चारु । [ विनीत्य ] अहो । दर्शनीयोऽयं सन्धिः,—

उपरितलनिपातितेष्टकोऽय,

शिरसि तनुर्विपुलश्च मध्यदेशे ।

असदृशजनसम्प्रयोगभीरो-

हृदयमिव स्फुटित महागृहस्य ॥ २२ ॥

कथमस्मिन्नपि कर्मणि कुशलता ?

\* आ, दास्या पुत्रिके । किं भणसि ? द्वितीयमिव द्वारम् उद्घाटय  
निति । भो वयस्य चारुदत्त । उत्तिष्ठ उत्तिष्ठ, अस्माकं गेहे सन्धिं दत्त्वा चोरो  
निष्क्रान्तः ।

† भो । न परिहासः, प्रेक्षता भवान् ।

‡ भो । एष ।

सन्धेदृशनीयत्वमेव वर्णयद्वाह, उपरितलेति ।—अयं—दृग्गमान, सन्धिरिति  
ईष, उपरितलात्—ऊडात्, निपातिता—अचिप्य अपसारिता, [ उपरि—ऊर्ध्व-  
भागात् तलात्—अधीभागाच्च, इति केचित् । “उपरितल” इत्यत्र “उपरितन”  
इति रूपपाठ, पाणिन्यादिषु “साय चिरम्—” ( ४।१।२३ पा० ) इत्याद्यनुशासनेन  
कालवाचकाऽप्येभ्य एव व्युत्पत्यविधानात्, अकालवाचिन उपरिशब्दात् व्युत्-  
पत्यस्य असाधुत्वात्, तत्र उपरितनान्त—उपरिभवात् प्रदेशादित्यत्र ] इदं कथं यस्मै  
तादृशं शिरसि—उपरिभागे, तनु,—अल्पपरिसर, मध्यदेश—मध्यस्थले, विपुल,  
—विशालम्, अत एव असदृशजनसम्प्रयोगभीरो,—अयोग्यजनप्रवेशशङ्कितस्य,  
महागृहस्य—महत् हलस्य स्फुटित—विदीर्णं, हृदयमिव—वक्षस्थलमिव, दृश्यते  
इति ईष । अथ प्रकृते अचेतने हृदये कृतस्य सन्धेः विदीर्णवत् स्थलसुभावनान्  
उल्लेखालङ्कारः । उपेतानां हस्तम् ॥ २२ ॥

विद्। भो वयस्य । अत्र सन्धो दुवेहिं ज्जेव दिसो भवे,  
आगतुएण, सिक्खिदुकामेण (घ) वा ; अस्सधा इध उज्जइणीए  
को अम्हाणं घरविहव ण जाणादि ? ३६

चारु। वैदेश्येन कृतो भवेन्मम गृहे व्यापारमभ्यस्यता

नासौ वेदितवान् धनैर्विरहित विश्वसुप्त जनम् ।

दृष्ट्वा प्राङ्महतीं निवासरचनामस्माकमाशान्वित

मन्धिच्छेदनखिन्न एव सुचिरं, पश्चान्निराशी गतः॥२३॥

\* भो वयस्य । एष सन्धिर्द्धामासिव दत्तो भवेत्, आगतुकेन शिञ्चितकामेन वा,  
अन्यथा अवोज्जयित्वा कोऽस्माक गृहविभव न जानाति ?

( घ ) द्दामासिव कृतमित्युक्तं, कौ तौ द्वौ ? इत्याह, आगतुएण इति ।—आग  
तुकेन—नवागतेनेत्यथ, शिञ्चितकामेन—शिञ्चार्यना, अन्यत्पदेनेति यावत्, [शिञ्चित  
कामी यस्य इति विग्रहे स्थिते “सुम्पेदवश्यम कृत्ये तुम् काममनमोरपि” इति  
वचनात् कामशब्दे परे तुम्प्रत्ययस्य मकारलोपः ] । अत निर्जनगृहकृतमभित  
हेतुना सन्धेरागतुकशिञ्चितकामाऽन्यतरकृतत्वानुमानात् अनुमानालङ्कारः,—“अनु  
मानतु विच्छित्त्वा ज्ञान साध्यस्य साधनात्” इति लक्षणात् ।

विदूषकीर्तिमेव समथयमान आह, वैदेश्येनेति ।—देश्येन—देशिकतया  
गृहस्य विभवहीनताम् अजानता इति यावत्, दृष्टान्तरवासशीलन वा, प्रत्या  
इत्ययाहार्यं, व्यापार—मन्धिच्छेदरूपा चौयश्चित्तम्, अभ्यस्यता—शित्तमागेन,  
जनेन इति शेष, मम गृहे—मङ्गवने, कृतः,—निर्मित, भवतः, मन्धिराति शेष ।  
तव हेतुमाह,—असौ—तस्कर, धनैः,—विभवैः, विरहित—निर्जन, नि नमिति  
यावत्, अत एव विश्वसुप्त—नि गृहनिद्रित, जनं—पुरुष, मासिति यावत्, न  
वेदितवान्—ज्ञातवान्, [ अत्र स्वार्थे णिच् ] । तथापि हेतुमाह,—अस्माक सन्धो—  
विपुला, प्रशस्तीव्रतामित्यथ, अभिभेदिनीमिति यावत्, निवासरचना—वातावरण,  
दृष्ट्वा—अवलोक्य, प्राक्—गृहप्रवेशात् पूर्वम्, आशान्वित,—आगच्छ, १७४

ततः सुहृद्वा किमसौ कथयिष्यति तपस्वी,—सार्यवाह-  
सुतस्य गृहं प्रविश्य न किञ्चिन्मया समामादितमिति ?

विदू। भो । कथं तं ज्ञेयं चोरहृदत्र अणुमोचमि ? तेन  
चिन्तिदं महन्त एतं गेहं इदो रश्मिभण्डत्र सुवस्त्रभण्डत्र  
वा निष्काम इत्थामि । [ कृत्रिममिमादमात्मगतम् ] कथं तं सुवस्त्र-  
भण्डत्र ? [ पुनरनुसृत्य प्रकाशम् ] भो वदस्व । तुमं सर्वकालं  
भणसि मुक्ता मित्तेत्रश्चो, अपण्डितो मित्तेत्रश्चो त्ति । सुहृद,  
मए किदं, तं सुवस्त्रभण्डत्र भवदो हत्ये समप्यन्तेन,  
अस्त्रा दासोऽपुत्तेन अवहिदं भवे । ॥

चारु। अलं परिहासेन ।

विदू। भो । जइ नाम अहं सुखो, तां किं परिहासस्स  
विदेशालं न जानामि ? ॥

चारु। कस्या विलायाम् ?

विदू। भो । जदा तुमं मए भण्णितोसि, सीदन्तो दे अग-  
हत्यो । ॥

चारु। कदाचिदेवमपि स्यात् । [ सञ्चतो नक्षत्रं सहर्षम् ] वयस्य !  
दिव्या ते प्रियं निवेदयामि ।

विदू। किं न अवहिदं ? ॥

चारु। हतम् ।



३३। अहं कषु अवलविस्स,—केण दिस्सं ? केण गहिदं ?  
को वा सक्खि ? त्ति । ३

चारु । अहमिदानीमनृतमभिधास्ये ?—

भैल्लेणाप्यर्जयिष्यामि पुनर्न्यासप्रतिक्रियाम् ।

अनृत नाभिधास्यामि चारितभ्रशकारणम् ॥ २६ ॥

रद । ता जाव अज्जा धूदाए (ड) गदुअ णिवेदेमि । १

[ इति निष्क्रान्ता ]

[ प्रविशति चैषा सह चारुदत्तवधू ] ।

वधू । [ ससम्भ्रनम् ] अइ । सच्च, अवरिक्खदसरीरो अज्ज-  
उत्तो अज्जमित्तेएण सह ? ३

चैटी । भट्टिणि । सच्च, किन्तु जो सो वेस्साजणकेरको अलं-  
कारओ, सो अवहिदो । §

वधू । [ मोह नाटयति ] ।

चैटी । समत्तसदु अज्जा धूदा । १

\* अहं खलु अपलपिष्यामि,—केन दत्तम् ? केन गृहीतम् ? को वा साक्षी ?  
इति ।

+ ततः यावत् आर्याधृतायै गत्वा निवेदयामि ।

‡ अत्रि । सत्यम्, अपरिच्छिन्नशरीर आर्येषुव आर्यसैवेयेण सह ?

§ भट्टिनि । ( स्वामिनि । ) सत्यं, किन्तु यः स वेस्साजनस्यालङ्कारः सोऽपहृतः ।

॥ समाश्रितु आर्या धृता ।

इत्यनर ) तन्नेति शेष इदं ली—समुत्ति, मन चारिव—सञ्चरिवताम्, अपि किं—  
रुद, दृष्टि—दोषनापदितं निन्दनीयं कृतमित्यर्थः । पद्यावक्क हत्तम् ॥ २५ ॥

रद सहस्रे अद्विताभिधानसम्भवमित्याह, भैल्लेणेति ।—भैल्लेण—भिचया  
एदि का कदा अदोपायस्तेति भावः न्यासस्य—सम्प्रविष्टे रचितधनस्य, प्रतिक्रिया  
—परिच्छेदः तदवितर्कनिति यावत्, अजयिष्यामि—आहरिष्यामि, परन्तु चारिव-  
सदकारण—नदत्तकुत्तिहेतुः अद्वितम्—असत्यं, न अभिधास्यामि—वक्ष्यामि ।

एव वद हत्तम् । २६ ।

( ड ) इति च रदत्तस्य पद्या नाम ।



बधू । [ समाश्रय ] हञ्जे । किं भणामि ? अवरिक्त्वट-  
शरीरो अज्जउत्तो त्ति । वरं दाणिं सो मरीरिण परिक्वटो,  
ण उण चारित्तेण । सपट उज्जङ्गीण जणो एज्ज मन्त  
इस्सट्ठि, दलिहटाए अज्जउत्तेण ज्जेव ईदिसं अकज्जं अणु-  
चिट्ठिट्ठित्ति । [ ऊहंमवलीक निश्रय च ] भअव कअन्त । पोकार-  
वत्तपडिद जलविन्दुचञ्चलेहिं कौलमि दलिहपुरिमभाअधे  
एहिं ॥ इअ च मे एक्का माटुघरलडा रअणावली चिट्ठिट्ठि,  
एद पि अटिमोण्डोरटाए ( च ) अज्जउत्तो ण गल्लिस्सट्ठि ।  
हञ्जे । अज्जमत्तेअ दाव महावहि । \*

चेटो । ज अज्जा धूटा आणवेटि । [ विदूषकमुपगम ] अज्ज  
मित्तेअ । धूटा टे महावेटि । †

विदू । कहिं मा ? ‡

चेटो । एसा चिट्ठिट्ठि, उवसप्प । §

विदू । [ उपसृत्य ] सोत्थि भोटीए । ¶

बधू । अज्ज । वन्तामि । अज्ज । पुरत्थिआमुहो(क्क) हाहि ।

\* चेटि । किं भणामि ? अपारजतशरीर आश्रयत्वं इति । शरीरं जलानां स  
शरीरिण परिक्वटो, न पुनश्चारित्तेण । साम्प्रतमुज्जङ्गित्वा जन एव कलङ्कितः, एतत्  
तथा आश्रयपदेणैव ईदृशमकाशम अनुवर्तितमिति । भगवन् कृतान् । पुनरप्युपवर्तित  
जलविन्दुचञ्चले कौलमि दलिहपुरिमभाअधे ॥ इत्येवमेव एका स्तराणां  
रक्षावली तिष्ठति, एतामपि अतिमोण्डोरतया आश्रयतो न रक्ष्यता ।  
आश्रयेनैवेयं तावत् शङ्कायम् ( आश्रय ) ।

विद् । एसो भोदि । पुरत्थिआसुहो संवुत्तोहि । \*

वधू । अज्ज । पडिच्छ (ज) इम । †

विद् । किस्सेट । ‡

वधू । अहं क्खु रअणसद्धिं उववमिदा आस ; तहिं  
जधाविहवाणुसारेण वम्हणो पडिग्गाहिदव्वो, सो अ ण पडि-  
ग्गाहिदो, ता तस्स किदे पडिच्छ इम रअणमालिअ । § (भ)

विद् । [ गृहीत्वा ] सोत्थि, गमिस्स , पिअवअस्सस्स णिवे-  
देमि । ¶

वधू । अज्ज मित्तेअ । मा क्खु म लज्जावेहि । \*\* (ज)

[ इति निष्क्रान्ता ] ।

विद् । [ सविष्मयन् ] अहो । से महानुभावदा ॥ ††

\* एष भवति । पुरमात्सुहं सहस्रोऽस्मि ।

+ आर्य्य । प्रतीच्छ इमान् ।

‡ किन्विदम् ?

§ अहं खलु रवपठीमुपोषिता आसम् । तव यथाविभवानुसारेण ब्राह्मण प्रति-  
ग्राहयितव्यं, न च न प्रतिग्राहितं, ततस्तस्य कृते प्रतीच्छ इमा रत्नमालिकाम् ।

¶ स्वामि, गच्छामि, प्रियवयस्यस्य निवेदयामि ।

\*\* आर्य्य मैत्रेय । मा खलु मा लज्जापय ।

†† अहो । अस्या महानुभावता ।

( ज ) प्रतीच्छ—गृह्णाण इत्यर्थः ।

( भ ) रवपठी—पट्टीविशेष, रवपट्टिकाभिधं व्रतनित्यं, यत्र रवदानं  
विहितमिति यावत् [ पट्टीमिति अत्यन्तसूक्ष्मेति द्वितीया ] उपोषिता—कृतोपावासा,  
[ उपवसते कृत्वा क्लृप्ता सम्प्रसारणम् ] । तव—रवपठीव्रते इत्यर्थः । प्रतिग्राहयि-  
तव्यं—दानग्रहणं कारयितव्यं इत्यर्थः । न,—ब्राह्मण । तव्यं—ब्राह्मणस्य । कृते—  
भित्तिक । प्रतीच्छ—गृह्णाण, तं गृहीत्वा अपरार्थं विप्राय देहीति भावः । [ “सो  
अ ण पडिग्गाहिदो” इत्यत्र “सो अरपडिग्गाहिदो” इति पाठान्तरम् ] ।

( ज ) “म लज्जावेहि” इत्यत्र “त लज्जावेहि” इति पाठान्तरं—त—चारुदत्त,  
इत्यत्रास्ति दाहकः ।

चारु । अये । चिरयति मैत्रेयः ॥ मा नाम वैक्लव्यादकार्यं(ट)  
कुर्यात् ? मैत्रेय । मैत्रेय ।

विद् । [ उपसृत्य ] एमोमिह, गेल्ल एदं । \* [ रत्नावली दर्शयति ] ।

चारु । किमेतत् ?

विद् । भो । ज दे सरिसदारसङ्गहस्य फल । †

चारु । कथम् । ब्राह्मणी मामनुकम्पते ॥ कष्टम् । इदानी-  
मस्मि दरिद्रः,—

आत्मभाग्य-क्षतद्रव्यः स्त्रीद्रव्येणानुकम्पितः ।

अर्थतः पुरुषो नारी, या नारी सार्थतः पुमान् ॥ २७ ॥

अथवा,—नाहं दरिद्रः । यस्य मम,—

विभवानुगता भार्या, सुखदुःखसुहृद् भवान् ।

सत्यञ्च न परिभ्रष्ट यद्दरिद्रेषु दुर्लभम् ॥ २८ ॥

\* एयोऽस्मि गृहाण एताम् ।

† भो । यत्ते सदृशदारसङ्गहस्य फलम् ।

सैत्रेय । गच्छ रत्नावलीमादाय वसन्तसेनाया' सक्वाण,  
वक्तव्या च सा महचनात्, यत् खलु अस्माभि सुवर्णभाग्ड-  
मात्मायमिति कृत्वा विश्रब्धात् द्यूते हारित, तस्य कृते गृह्य-  
तामिय रत्नावली इति ।

विदू । सा दात्र अक्खाइदस्स अभुत्तस्स अप्पमुल्लस्स चोरेहि  
अवहिदस्स कारणादो चदुस्ससुहसारभूदा रअणावली दीअदि ।\*

चारु । वयस्य । सा मेवम्,—

यं समालम्ब्य विश्वास न्यासोऽस्मासु तथा कृत' ।

तस्यैतन्महतो मूल्य प्रत्ययस्यैव दीयते ॥ २६ ॥

\* ना तावत् अक्खादितस्य अभुत्तस्य अप्पमूल्यस्य चौरैरपहृतस्य कारणात् चतु  
रनुदसारमता रत्नावली दीयते ।

विभक्, तदा तदनुगामिनोति यावत्, न कदाऽपि केनापि विमनायते इति भावः,  
भवान्—त्व, सुखे—सम्पदीत्यत्र, दुःखे—विपदि च, सुहृद्—अनुमत सखा, त्व  
यादृक् अवस्थाऽनुगुण, मनःपत्नी अपि तादृशीति नदीयावस्थाऽनुरूपयोरनयो उभयो  
योगसौहव समौभाग्यादेव सम्पन्नमिति नैतन्मे दैन्यलक्षणमिति भावः । तत्र हेतु-  
साह, सत्यमिति ।—यत् सत्यम्—कृत वचन व्यवहारो वा, दरिद्रेषु—दुर्गतेषु,  
दुर्लभ—दुष्प्राप, दरिद्र सत्यवादी भवितुं नार्हतीति भावः, तत् च, न परिमृष्ट—न  
स्वन्वितमित्यर्थः । पद्यावक्तुं हतम् ॥ २८ ॥

सुदृढाङ्गारचिपूरकतया सहामूल्यरत्नावलीदानमनुचितमिति विदूषकवचन  
खलुग्राह, प्रमिति ।—य विश्वास—प्रत्यय, समालम्ब्य—आश्रित्य, तथा—वसन्त-  
सेनाया, अस्मानु—तादृशदरिद्रे इत्यर्थः, न्यासः—अलङ्कारस्थापनमित्यर्थः, कृतः—  
विहित एतत्—इदं रत्नावलीरूप वस्तु, तस्य—तादृशस्य, महत्,—उदारम्,  
प्रत्ययस्यैव—विश्वामस्यैव, [ अन्ययोग्यवच्छेदकोऽयम् एवकारः, तेन “प्रत्ययस्यैव न  
तु न्यासीन्तात्काररहस्यम् ” इत्यलङ्कारः, अतश्च “एवैवानिमीगि” इति (वा०)  
मवयव न परस्परैकादेशः किन्तु निमीगिवादिरेव ] मूल्य—मूल्यवरूप, दीयते—  
प्रदद्यत, न्यासः प्रत्ययस्यैव विश्वामस्य अन्यव्ययेन तदर्थमेतदर्थमिति भावः ।  
पद्यावक्तुं हतम् । २६ ॥

तद् वयस्य । अस्मच्छरीरस्पष्टिकया शापितोऽसि, ( ठ )  
नैनामग्राहयित्वा अत्रागन्तव्यम् । वर्द्धमानक ।—

एनाभिरिटिकाभिः सन्धिः क्रियता सुसंहतः शीघ्रम् ।

परिवादबहुलदोषान्न यस्य रक्षा परिहरामि ॥ ३० ॥

वयस्य मैत्रेय । भवताप्यक्षपणशौण्डीर्यमभिधातव्यम् । ( ड )

विद् । भो । दलिही किं अकिविणं मन्तेटि ? :

चारु । अदरिद्रोऽस्मि सखे । यस्य मम—[ “विभवान्गता  
मार्या” इत्यादि पुन पठति ] तद्वच्छतु भवान्, अहमपि कृतशौचः  
सन्ध्यामुपासे । [ इति निष्क्रान्ता सर्वे ] ।

इति सन्धिच्छेदी नाम तृतीयोऽङ्ग समाप्त ।

\* भो । दरिद्र किम् अक्षपणं मन्तयति ?

( ठ ) अस्मच्छरीरस्पष्टिकया—सदीयशरीरस्पशेन, शापित, —शपथ कारित,  
सत्यच्युतिनिराशाय गावसस्पशेन शपथकरणं लोकप्रसिद्धमेव ।

सन्धिपूरणाय वर्द्धमानकमादिशति, एताभिरिति ।—एताभिः,—सन्धिपूण्यानां  
दाहृटाभिः, इटिकाभिः,—पक्षसृखण्डैः, शीघ्र—मत्वर, सन्धि,—सुरक्षा, मम  
कृत,—वड, क्रियता—विधीयतां, परिवादबहुलदोषान्,—परिवाद—लोक  
निन्दायाम्, अस्य गृहे चौर प्रविष्ट इत्येवदोषायां, य वक्ष्यते,—सहान्, दोष,—  
दूषण, तस्मात्, यस्य—सखे, रक्षा—रक्षण, स्वरूपेणावस्थापनमिति यावत्, न  
परिहरामि—नोपेक्षे, सन्धिम् अपुरिता रचितं न शक्नोमीत्यर्थः । [ न यथा ]  
इत्येव “वृत्त्य” इति पल्लकालरहितपाठः ] । आर्या वसम् ॥ ३० ॥

( ड ) अक्षपणशौण्डीर्यं—क्षपण—कारण्य, दीनता वा, सद्रिद्र, शौण्डीर्यम्—  
शौदार्यं यस्मिन् तद् यथा तथेति क्रियाविशेषणम् ।

इत्येवमात्माटवीसचरणपञ्चानन-पण्डितकुलपतिना वि, ए, उपाधिधारिणा

श्रीमन्महानन्दविरासागरभट्टाचार्येण विरचिताया, तद्वत्तत्त्व

पण्डितयोनिदागवीवविद्यामण्य पण्डितश्रीमन्निखिल पवित्राचार्याणां

प्रतिरुक्ताश्रमसन्नाय्यानां सृच्छकटिके भाष्ये

तृतीयोऽङ्ग ५३३

## चतुर्थोऽङ्कः ।

—०००००—

[ ततः प्रविशति चेटो ] ।

चेटो । आणत्तम्हि अत्ताए, अज्जआए सआम गन्तुं । एसा अज्जआ चित्तफलअ णिसस्स दिट्ठी (क) मदणिए सह किपि मन्तअन्तो चिट्ठदि । ता जाव उवसप्पामि । \* [इति परिक्रामति] ।

[ ततः प्रविशति यथानिर्दिष्टा वसन्तसेना मदनिका च ] ।

वस । हज्जे मदणिए । अबि सुसदिसी इय चित्ताकिदी अज्जचारुदत्तस्स ? †

मद । सुसदिसी । ‡

वस । कध तुम जाणासि ? §

मद । जेण अज्जआए सुसिणिद्धा दिट्ठी अणुलगा । ¶

वस । हज्जे । कि वेसवासदाक्खिण्णेण (ख) मदणिए ! एव्व

भणासि ? \*\*

\* आणत्तास्मि मावा, आर्याया सकाशं गन्तुम् । एषा आर्या चित्तफलक निषण्णदृष्टिमदनिकया सह किमपि मन्तयन्ती तिष्ठति, तद् यावद् उपसर्पामि ।

† चेटि मदनिके । अपि सुसदृशी इय चित्राकृति आख्यचारुदत्तस्य ?

‡ सुसदृशी ।

§ कध त्वं जानासि ?

¶ येन आर्याया सुस्निग्धा दृष्टिरमुलगा ।

\*\* चेटि । कि वेशवासदाक्षिणेन मदनिके । एव भणसि ?

( क ) चित्तफलकनिषण्णदृष्टि, —चित्तफलके—चित्तपटे, आलिख्ये इत्यथ, निषण्णा—संयुक्ता, सम्पृक्तमपिर्तेति यावत्, दृष्टि, —चक्षु यया यस्या वा सा तथोक्ता ।

( ख ) वेशवासदाक्षिणेन, —वेश—वेश्याजननिलये, ( “वेशो वेश्याजनाग्र्य” इत्यन्तर ) वास —वसति, तेन पुन दाक्षिण्य—नैपुण्य, चातुर्थ्यमिति यावत्, पर-च्छराश्रयिता वा, ( “ददिण्णु परच्छन्दानुवत्तिनि । दवेऽपसस्ये सरले” इति ऐनचन्द्र ) नेन ।

मद । अज्जए । कि जो ज्जेव जणो वेसे पडिबमदि, सो ज्जेव अलीअदक्खिणो (ग) भोदि १ ॥

वस । हज्जे । णाणापुरिसमङ्गेण वेस्साजणो अलीअदक्खिणो भोदि । ५

मद । जटो टाव अज्जआए दिट्ठो इध अभिरमदि, हिअअच, तस्स कारण कि पुच्छीअदि १ ॥ (घ)

वस । हज्जे । सहीअणादो उवहमणोअदां रक्खामि । § (ङ)

मद । अज्जए । एव्व णेदं, सहीअणचित्ताणुवत्ती अवलाअणो भोदि । १॥

चेटो । [ उपसृत्य ] अज्जए । अत्ता आणवेदि, गहिटाजगुण्ठण पक्खदुआरण मज्ज पवहण , (च) ता गच्छेत्ति । २०५

\* आर्थे । कि य एव जनी वेग प्रतिवसति, स एव अलीअदक्षिणो भवति ।

+ चेटि । नानापुरुषसङ्गेन वेग्याजनीऽलोकदक्षिणो भवति ।

‡ यतस्तावत् आश्याया दृष्टिरिह अभिरमते, इदमत्र, तस्य कारण कि पुच्छान् १

§ चेटि । सर्वोचनादुपहसनीयतां रक्षामि ।

॥ आर्थे । एव नेद, सर्वोचनचित्तानुवर्त्ती अवलाजनी भवति ।

२०५ आर्थे । माता आनापयति, गृहीतावगुण्ठन पञ्चदार मच्च प्रवृत्त, तदन्वति ।

वस । हज्जे । किं अज्जचारुदत्तो म एदस्सदि ? ५

चेटी । अज्जए । जेण पवहणेण सह सुवणदससाहस्सिओ(क)

अलङ्कारओ अणुप्पेसिदो । १\*

वस । को उण सो ? ‡

चेटी । एसो ज्जेव राअस्सालो सठाणओ । §

वस । [ सक्रोधम् ] अबेहि, मा पुणो एव्व भणिस्ससि । १॥

चेटी । पसीददु पसोददु अज्जआ, सन्देसेण ( ज ) म्हि

पेसिदा । १॥

वस । अह सन्देसस्स (भ) ज्जेव कुप्पामि । १॥

चेटी । ता किति अत्ता विस्सविस्सं ? ‡‡

\* चेटी । किम् आद्य चारुदत्तो मा नेष्यति ?

+ आद्ये । येन प्रवहणेन सह सुवर्णदशसाहस्रिकोऽलङ्कार अनुप्रेषितः ।

‡ क पुन स ?

§ एष एव राजश्याल सस्थानकः ।

॥ अबेहि मा पुनरेव भणिष्यसि ।

॥ पसीदतु प्रसोदतु आद्या सन्देशनाम्नि प्रेषिता ।

†† अह सन्देशमेव कुप्पामि ।

‡‡ तत्किमिति मातर विज्ञापयिष्यामि ?

वहनयोग्यरघविषय, शिविकादिवा, स एव कर्णरघ इति नाम्ना प्रसिद्ध,  
( 'कर्णरघ प्रवहण हयनञ्च सम वयन्' इत्यमर ) ।

( छ ) येन—जनेन इत्यर्थ, [ येनेति कर्त्तरि वृत्तीया ] । सुवर्णदशसाहस्रिक,  
—अर्थातिरक्तिकानित स्वर्ण सुवर्ण, "मोहर" इति भाषा, तस्य दशसहस्र सुवर्णदश-  
सहस्र तेन लब्ध सुवर्णदशसाहस्रिक, दशसहस्रसुवर्णरूपमूल्यलभ्य इत्यर्थ,  
[ सुवर्णदशसाहस्रिका इति पाठे,—"सुवर्णशतसाहस्रिक" इति सङ्कतम् ] ।

( ज ) सन्देशेन—देश्य विना वाचिकादेशिन्येव, ( 'सन्देशवाग् वाचिक स्मात्'  
इत्यमर ) ।

( \* ) सन्देशस्य—वाचिकादेशस्य, [ सन्देशस्य इति सम्बन्धविवक्षया चतुर्थ्या प्राप्-  
त्याः पर्यायात्, सन्देशाय इत्यत्र ] ।



वस । एव विस्मविटब्बा, जइ म जोअतो इच्छमि, ता  
एव्वं ण पुणो अहं अत्ताए आणविटब्बा । \*

चेटी । जधा दे रोअदि । † [ इति निष्क्रान्ता ] ।

शर्विलक । [ प्रविश्य ] ।—

दत्त्वा निशाया वचनीयदोष निद्राञ्च जित्वा नृपतश्च रक्ष्यान् ।

स एष सूर्योदयमन्दरश्मिः क्षपाक्षयाच्चन्द्र इवाम्नि जात ॥१॥

आप च,—य. कश्चित् त्वरितगतिनिरीक्षते मा

सम्भ्रान्त, द्रुतमुपसर्पति स्थित वा ।

\* एव विज्ञापयितव्या, यदि सो जोवन्तीमिच्छमि, तत एव म पुनर— माता  
आज्ञापयितव्या ।

† यथा ते रोचते ।

चारुदत्तगृहे चौथीं कृत्वा निशावसाने सगदमानस शञ्जिलक. स्वदीप्त्यगमाह,  
दत्त्वेति ।—निशाया,—रक्ष्या, [ सख्यसविचनया यदौ ] वचनीयदोष—निशा  
अन्यकरोति अपवादरूप दूषण, [ “वचनीय ” इति भावे अनोयर् ] दत्त्वा—निशाया  
निशां दूषयित्वेत्यर्थ, [ “निशाया ” इत्यत्र “निशायास्” इति पाठान्तरम् ] जित्वा ।—  
स्वाप, तथा नृपते,—राज्ञ, रक्ष्यान्—रक्षकपुरुषान्, [ रक्ष्यान्त्यत्र रक्ष्यते इति  
यत्प्रत्ययस्य अननुश्लिष्टतया कर्माण्येव यत्प्रत्यय, तत राजरक्षणोपपत्त्यभावात्  
तात्पर्यतः नगररक्षणं पुरुषा एव वा जन्ते, तेषामेव नृपतिसि नगररक्षणाभावात्  
रक्षणीयत्वादिति कथमपि प्रयोगस्यास्य साधुत्व सम्प्रतीतिम् ] न । अत न कार ।  
प्रत्येकप्राधान्यद्योतक ) जित्वा—अभिभूय, तयो अवशांभती भूत्वा इत्यर्थ, स एष,  
अहमिति शेष, क्षपाक्षयात्—रात्रयवसानात्, सूर्योदयम—दिवाकरप्रकाशान्, सप्त,  
—प्रभारहिता, रश्मय, —किरणा इत्यत्र तादृश, चन्द्र,—निशाकर, इति ज्ञात, —  
सहच, अस्मि—भवामि । चौराणां रात्रावेव प्रभात, दिवस मु भवामासीत् ।  
अत दिवाप्रभातगन्धशञ्जिलकस्य दिवाकरकरनिष्पन्ननिशाकरणं सूर्योदय इति ज्ञातम् ।  
इत्युक्तम् । इन्द्रवज्रोपेन्द्रवज्रारूपजाति वज्रम् ॥ १ ॥

त सर्वं तुल्यति दूषितोऽन्तरात्मा

स्वैर्दोषैर्भवति हि शङ्कितो मनुष्यः ॥ २ ॥

मया खलु मदनिकायाः कृते साहसमनुष्ठितम् (ज),—

परिजनकथासक्त कश्चिन्नरः समुपेक्षितः

क्वचिदपि गृह नारीनाथ निरीक्ष्य विवर्जितम् ।

नरपतिवत्ते पार्श्वीयाते स्थित गृहदारुवत्,

व्यवसितशतैरेवप्रायैर्निशा दिवसीकृता ॥ ३ ॥

[ इति परिक्रामति ] ।

अथवा, श्रित—अचिदवस्थित, सा द्रुत—गौघ्नम्, उपसर्पति—सत्प्रतिधिसागच्छतीत्यर्थः, दूषित,—सापराधः, चौथ्यादिदुष्कार्यकरणात् शङ्कित इति यावत्, अन्तरात्मा—अन्तरकरण, सन्नेति शेषः त—सन्निरीक्षकादिरूप, सर्व—सकल जन, तुल्यति—परीक्षति, तत्करोऽहम् इति किमयं ज्ञातवानिति सन्नेति इति यावत्, हि—तथा हि, मनुष्य,—जनः, स्वै,—निजैः, दोषैः,—अपराधैः, शङ्कित,—शङ्का स्थानमित्यर्थः, अन्यस्वेति शेषः, भवति । अथ समीपागतपुरुषादिसन्दर्शनेन सञ्जातायाः शङ्कितकम्पनायाः चतुष्पादार्थेन समर्थनात् सामान्येन विशेषसमर्थनरूपोऽयमस्यान्तरात्माऽलङ्कारः । प्रहर्षिणी हसन्,—“व्याशाभिर्जनजरा प्रहर्षिणीयम्” इति लक्षणात् ॥ २ ॥

( ज ) कृते—निमित्त, मदनिकालाभाशमिति यावत् । साहस—हठकारित्वः, [ सहसा कृतमिति लक्षणा आवर्देविकायत्नेन चौथ्यस्य साहसपदेन लभः ] ,

साहसमनुष्ठितमित्युक्तं, तच्च कौटुम्भिकमिति विद्वद्ब्रह्म, परिजनेति ।—क्वचिदपि—कुदचित् प्रदेशे परिजनेन—परिवारेण, सह कथा—आलापः, तत्र आसक्त,—निषेधः, कथित्—कोऽपि, नर,—पुरुषः, समुपेक्षित,—परित्यक्तः, तादृशं नरं दृष्ट्वा मन्यमानेन स्वकायमनुष्ठितमिति यावत्, क्वचिच्च गृह—भवनं, नारीनाथ—स्त्रीनाथसहायः, निरीक्ष्य—दृष्ट्वा, विवर्जित—परित्यक्तः, तद्वनस्य अवलान्नरचितत्वेन तत्र प्रवेशस्य चौरशान्तिनिषिद्धत्वादिति भावः, [ “विवर्जितम्” इत्यत्र “विवर्जितम्” इति पाठान्तरम् तत्र,—विवर्जित—प्रत्याक्षमित्यर्थः ] तदा क्वचिच्च नरपतिवत्—रतिवत्, राजपुरुष इत्यत्र, पाश्चात्याते—समीपवर्तिनि कति, गृहदारुवत्—नरपतिवत्, तुल्यं यथा स्थानं तद्येव, स्थितम्—अवस्थितम्, गृहपतिवत् इति गृहपरिजनेन सततहसनेन प्रादुर्भावापह्लादिविरहितस्यापुर्व

वस । हृत्ते । इम दाव चित्तफलञ्च मम सप्रणोण ठाविष  
तालवेण्टञ्च गेल्लिञ्च लहु (ट) आञ्च ।

मद । जं अज्जआ आणवेदि । † [ इति फलक मदाना  
निष्क्रान्ता ] ।

शर्वि । इद वमन्तमेनाया गृह, तद् यावत् प्रविशामि ।  
[ प्रविश्य ] क्व नु मया मदनिका दृष्टव्या ?

[ तत प्रविशति तालवल्हसा मदनिका ] ।

शर्वि । [ दृष्ट्वा ] अये । इय मदनिका,—

मदनमपि गुणैर्विशिष्यती

रतिरिव मूर्त्तिमती विभाति येषम् ।

\* चटि । इम तावत् चित्तफलक मम सप्रणोण स्थापयत्वा तालवल्हसा मदाना  
लघु आगच्छ ।

+ यदाया आग्रापयति ।

तिष्ठति, अहमपि तथैव नियतं स्थित इति भावः, यथा,—मदानागतं—मदाना  
लम्बककाष्ठमयस्तम्भेन तुल्यनित्यं, स्तम्भो हि यथा एकस्मिन्नेव स्थाने नियतं मदाना,  
अहमपि तथैव तिष्ठामीति भावः, एवंप्रकारं,—दृष्टशब्देन, व्यासतर्कः, न  
शतत्यापारं, [ व्यवसितानां शतानां, व्यवसितशतानां, तैः, शतादिशब्देन यत् एक  
शतादिसङ्ख्यामात्रबोधः, तथैव एकवचनान्तत्वनियमादत्र च बहुवचनमद्रष्टव्यं । तत्र तत्र  
शतशब्दस्यापि बहुवचनान्तत्वमिति बोध्यम् ] निशा—रात्रिः, दिवसश्च ता—आनाम  
दिवसं कृता, तम समाच्छन्नायां निशाशमपि दिवसवनं निशदमानं । तत्र  
निति भावः, [ इह दिवसशब्दात् अभवत्तद्वि चिप्रत्ययः ] मानं यत् मानं  
हरिणी वृत्तः,—“नमसरमला ग पड्वेदेहदेहाराणी कृता” इति ।

( ट ) चित्तफलकम्—आलिख्य, चित्तपटमिति तावत् । न—मानं । ताल  
स्यात् तथेव, [ आगच्छेति क्रियायां विग्रहणमित्यम् ] ।

मम हृदयमनङ्गवर्जितम्

भृशमिव चन्दनशीतल करोति ॥ ४ ॥

सदनिके ।

नद । [ दृष्टा ] अम्हो । कथं सञ्चलितो ॥ सञ्चलितः ।

साअट दे ? कहि तुम ? ॥

शवि । कथयिष्यामि । [ इति सानरागमन्योऽन्य पश्यत ] ।

वस । चिरअदि मदणिआ, ता कहि णु क्वु सा ? [ गवा-  
चकेण दृष्टा ] कथं । एसा केणा वि पुरिसकेण सह मन्तअन्ती  
चिट्ठि ॥ जधा अदिसिणिडाए णिच्चलदिट्ठीए आपिवन्ती विअ  
एद निज्जाअदि, तथा तक्केमि, एसो सो जणो एद इच्छदि  
अभुजिस्सं (ठ) कादु, ता रमदु रमदु, मा कस्सावि पीदिच्छेदो  
भोदु, ण क्वु सहाविस्सं । ॥

\* अहो । कथं सञ्चलितः ॥ सञ्चलितः । स्वागतं ते ? कुत्र त्वम् ?

+ चिरयति सदनिका, तत् कुत्र नु खलु सा ? कथम् । एषा केनापि पुरुषकेण  
सह मन्तयन्ती तिष्ठति ॥ यथा अतिस्निग्धया नियलहृष्या आपिवन्तीव एतं निध्या-  
यति तत्रा तर्कयन्ति, एष स जन एनामिच्छति अभुजिष्या कर्तुम्, तत् रमता  
रमता सा कदापि पीतिच्छेदी भवतु, न खलु शब्दादिष्वे ( आकारयिष्यामि ) ।

शोभते 'इय सदनिका' इति गद्यस्यवाक्येन कर्तृपदेन अन्वया वीध्य, या इयम्—  
एषा सदनिकेच्छ, अनङ्गवर्जितम्—नित्य कामानलसन्तप्त, मम—सञ्चलितस्य,  
हृदयम्—मनस्य अङ्गं भृशम्—अत्यर्थं, चन्दनेन—मलयजानुलेपनेनेत्यर्थं, यथा  
शीतल—शीतस्पर्शं सुस्निग्धमिति यावत्, भवति, तथा इव करोति—विधत्ते । अत्र  
पृष्ठादे सदनिकाया मन्तिमद्वित्वासम्भवेऽपि तत्सम्भावनात्, तथा परार्हे अचन्दन  
इति तल्लेपि पदार्थे तत्सम्भावनादुपेक्षावद्यम् । पृथिताया वृत्तम् ॥ ४ ॥

( ठ ) एषा—सदनिका । केनापि—केनापरिचितेन केनचिदित्यर्थः । मन्त-  
यन्ती—मन्तमानावन्ती । दधा—प्रकाशय । आपिवन्ती—पशुषा पान कुर्वन्ती  
रन्तमाना, कदन्तीति यावत् [ अत्र इव इव पदेत्तादात्म्यं ] निधायति—पेकाद्विप  
निरीकृत, ( निरन्तरं निधान दर्शनालोकनेत्यस्य इत्यमरः ) । अभुजिष्यान्—

वस । हञ्जे । इम दाव चित्तफलञ्च मम सत्रणीण् ठाविञ्च  
तालवेण्टञ्च गेल्लिञ्च लहु (ट) आञ्च । \*

मद । ज अञ्जञ्चा आणवेदि । † [ इति फलक गृहीत्वा  
निष्क्रान्ता ] ।

शर्वि । इद वसन्ततेनाया गृह, तद् यावत् प्रविगामि ।  
[ प्रविश्य ] क नु मया मदनिका द्रष्टव्या ?

[ तत प्रविशति तालवन्तहस्ता मदनिका ] ।

शर्वि । [ दृष्ट्वा ] अये । इय मदनिका,—

मदनमपि गुणैर्विशेषयन्ती

रतिरिव मूर्तिमती विभाति यैद्यम् ।

\* चटि । इमं तावत् चित्तफलक मम शत्रुनाय स्थापायत्वा तालवन्त गृहीत्वा  
लघु आञ्च ।

† यदाय्या आज्ञापयति ।

तिष्ठति, अहमपि तथैव निश्चल स्थित इति भावः, यथा,—गृहदारूतत—गृहाव-  
लम्बककाष्ठमयस्तम्भेन तुल्यमित्यर्थः, सन्धो हि यथा एकस्मिन्नेव स्थाने निश्चल रुष्ठति,  
अहमपि तथैव तिष्ठामीति भावः, एवं प्राये,—ईदृशबहुलैः, व्यवसितशर्तैः,—वस्तु-  
शतस्यापारैः, [ व्यवसितानां शतानि, व्यवसितशतानि, तैः, शतादिशब्देन यत्र एक-  
शतादिसङ्ख्यामात्रबोधः, तत्रैव एकवचनान्तत्वनियमादत्र च बहुशतसङ्ख्यायाः अवचितत्वेन  
शतशब्दस्यापि बहुवचनान्तत्वमिति बोध्यम् ] निशा—रात्रिः, दिवसीकता—आदयस  
दिवस कृता, तस समाच्छन्नाया निशायांमपि दिवसवत् निद्राभावेन व्यवहृत  
मिति भावः, [ इह दिवसशब्दात् अभूततद्भावे चिप्रत्ययः ] मयात शेष सर्व्व ।  
हरिणी वृत्त,—“नसमरसला ग षड्वेदैर्हयैर्हारी मता” इति लक्षणं त ॥ ३ ॥

( ट ) चित्तफलकम्—आलेख्य, चित्रपटमिति यावत् । लघु—मत्वर यथा  
स्यात् तथेत्यर्थः, [ आञ्चेति क्रियाया विशेषणमिदम् ] ।

स्वानिलक्षितां मदनिकां पुरतोऽवलोक्य विमुग्धहृदयः शास्त्रलक तद्रूपवर्णनपर-  
सर स्वहृद्देशभावं व्यनक्ति, मदनमिति ।—गुणैः—चित्तोन्मादनादिभिः अनन्तमात्रा-  
रणगुणविशेषैः, मदनमपि—कन्दर्पमपि, का कथा अन्येषामन्यपि यथा, नि यन्ती  
—जयन्ती, मूर्तिमती—देहधारिणी, रति,—कामवधूत्वर, विभाति—प्रकाशयति

मम हृदयमनङ्गवक्त्रितम

भृशमिव चन्दनशीतल करोति ॥ ४ ॥

मदनिके ।

नद । [ वृद्धा ] अम्भो । कध सव्विलओ ॥ सव्विलओ ।

साअद दे ? कहि तुम ? ॥

शनि । कथयिष्यामि । [ इति सानरागमन्योऽन्य पश्यत ] ।

वस । चिरअदि मदणिआ, ता कहि गु खु सा ? [ गवा-  
चकेण वृद्धा ] कध । एसा केण वि पुरिसकेण सह मन्तअन्ती  
चिह्नि ॥ जधा अटिसिणिहाए निच्चलदिट्ठीए आपिवन्ती विअ  
एद निज्जाअदि, तथा तक्केमि, एसो सो जणो एद इच्छदि  
अभुजिस्स (ठ) कादु, ता रमदु रमदु, सा कस्सावि पीदिच्छेदो  
भोदु, ए खु सहाविस्स । ॥

॥ ५ ॥ कध शन्विलक ॥ शन्विलक । स्वागत ते ? कुव त्वम् ?

+ चिन्त्यति मदनिका, तत् कुव तु खलु सा ? कथम् । एषा केनापि पुरुषकेण  
सह मन्तवन्ती तिष्ठति ॥ यथा अतिस्निग्धया निश्चलदृष्ट्या आपिवन्तीव एत निध्या  
यति, तथा तर्कयानि एष स जन एनामिच्छति अभुजिष्या कर्तुम्, तत् रमता  
रमता ना कथापि प्रीतिच्छेदी भवतु, न खलु शब्दाग्रिष्ये ( आकारयिष्यामि ) ।

शोभते 'इय मदनिका' इति गद्यस्यवाक्येन कर्तृपदेन अन्वयो बोध्यः, या इयम्—  
एषा मदनिकैरुच्यते, अनङ्गवक्त्रितम्—नित्य कामानलसन्तप्त, मम—शन्विलकस्य,  
हृदयम्—दल स्तल भृशम्—अत्यर्थं, चन्दनेन—मलयजानुलेपनेनेत्यर्थः, यथा  
शीतलम्—शीतस्पर्शं सुस्निग्धमिति यावत्, भवति, तथा इव करोति—विधत्ते । अत्र  
पृष्ठादे मदनिकाया मृत्तिमदतित्वाम्भवेऽपि तत्सम्भावनात्, तथा परार्हे अचन्दन  
शीतलेऽपि अदृष्टे तत्त्वसम्भावनादुपेक्षा इत्यम् । पृथिताया वक्तुम् ॥ ४ ॥

( ठ ) एषा—मदनिका । केनापि—जनापरिचितेन केनचिदित्यर्थः । मन्त  
वन्ती—'मन्तवन्तान्मन्त' । दधा—दध्यात् । आपिवन्ती—चतुषा पान कुर्वन्ती  
रम्यमाना इत्येवमिति दातव्यं [ इव इव इव चट्टेसा जन् ] निधायति—पिकादेष  
निर्गलन, ( 'निर्गलन् निष्ठान् दर्शनान् लोकनिर्गलन' इत्यनर ) । अभुजिष्यान्—

मद । सव्विलअ ! कधेहि । \*

शर्वि । [ साशङ् दिशीऽवलीकयति ] ।

मद । सव्विलअ । किस्सेदं ? समको विअ लक्खीअमि ? †

शर्वि । वच्चेत्वां किञ्चिद्दहस्यं, तद् विविक्तमिटम् ?

मद । अधङ् । ‡

वस । कधं परमरहस्यं ! ता ण सुणिस्स । §

शर्वि । मदनिके । कि वमन्तसेना मोच्यति त्वां निष्कूयेण ?

वस । कधं मम सव्वन्धिणी कथा ॥ ता सुणिस्स इमिणा गवक्खेण ओवारिदशरीरा । ¶

मद [ सव्विलअ । भणिटा मए अज्जआ, तदो भणादि, जइ मम सच्छन्दो, तदा विणा अत्थ सव्व परिजण अमुजिस्स करइस्स । अध साव्विलअ । कुदो टे एत्तिओ विहवो,—जेण म अज्जआसआसादो मोआइस्समि ? \*\*

शर्वि । दारिद्रेणाभिभूतेन त्वत्स्नेहानुगतेन च ।

अद्य रात्रौ मया भीरु । त्वदर्थं साहस कृतम् ॥ ५ ॥

\* शर्विलक । कथय ।

† शर्विलक । किन्दिदं ? मशङ् इव लक्ष्मि ?

‡ अथ किम् ।

§ कष्ट परमरहस्यम् । तत न शोष्यामि ।

¶ कथ । मम सव्वन्धिनी कथा ॥ तत् शोष्यामि अनेन गवाक्षेण अपवारित शरीरा ।

\*\* शर्विलक । भणिता मया आर्या, तदा भणति, यदि मम स्वच्छन्द, तदा विना अयं सर्वं परिजन्म अमुजिस्स करिष्यामि । अथ शर्विलक । कुतस्ते एतावान् विभव ? येन मामाख्यासकाशान् मोर्चायिष्यमि ?

अकिङ्कर्षी, स्वाधीनामित्यर्थ, ( “भुजिष्या किङ्करी मता” इति कीप ), यदा,—स्वेतरिण केनापि अनुपगम्यया, आत्मकलतवत् स्वाधीनामित्यर्थ ।

निर्जन्मस्य ते सहसा कस्मात् सन्निप्रायोपयोग्यथागम सत्रा इति पृष्ठ मन्मसा घनागमकारण निर्दिष्टाद्, दारिद्रेणेति ।—भीरु—हे भयभीते अश्वलि । ( भय-शीलताया रमणौजन्यस्वभावत्वेन शर्विलकहतसाहस्यवशे भयावगन्भावान्निवसान-

वस । पसस्या से आकिदौ, साहसकमदाए उण उव्वेअ-  
णिआ । ॐ

नद । सव्विलअ । इत्थीआकल्लवत्तस्स (ड) कारणेण उहअ  
पि ससए विणिकित्तं ? १

शवि । किं, किम् ?

नद । सरौर, चारित्त अ । ॐ

शवि । अपण्डिते । साहसे (ठ) श्री. प्रतिवसति ।

नद । सव्विलअ । अखण्डिदचारित्तो मि, ता ण हु दे मम  
कारणादो साहस करन्तेण अच्चतविरुद्ध आचरिद । § (ण)

शवि ।—नो मुष्णाम्यवला विभूषणवती फुल्लामिवाह लतां,  
विप्रसन्न न हरामि काञ्चनमथो यज्ञार्थमभ्युद्धृतम् । १

० प्रसन्नस्याकृति, साहसकमतया पुनरुद्देजिनका ।

१ शविलक । स्त्रीकल्यवर्त्तस्य कारणेन सम्यगपि सजये विनिक्षिप्तम् ?

२ शरीर, चारिदच ।

३ शविलक । अखण्डितचारित्वोऽसि, तत न खलु त्वया समे कारणात् साहस  
कुर्वता अयमविरुद्धमाचरितम् ।

नदम्) । नदी दारिद्रेण—प्रसन्नदैर्घ्येन [ अभिभूतेनेत्यस्य कर्तृपदम् ] अभिभूतेन  
—निज्जितेन, च—तथा, त्वस्मिहादुर्गतेन—त्वदीयप्रत्ययसमासत्वेन सता इत्ययं, अयं  
रादौ—रज्ज्वा तदर्थे—तव निमित्तं, त्वामधिकर्तुमिति यावत्, [ अदृशब्दस्य असंज्ञ-  
कान्वाक्य मर्यादा ] साहस—सहसा—दृष्टेन, कृत साहसम्, अथवा,—सहसा—  
अविचिन्त्य इत्यद कृत साहस, चौद्धरपमिति यावत्, “सहसा क्रियते यत्तु तत  
साहसमिहोच्यते” इति वचनात्, कृतम्—अनुष्ठितम् । [ “अयं” इत्यत “अद”  
इति पठ्यते ] । पद्यावत् इत्यम् । ५ ॥



धातृप्रसङ्गतं हरामि न तथा बालं धनार्थी क्वचित्,  
कार्य्यकार्य्यविचारिणी मम मतिश्चौर्य्येऽपि नित्यं स्थिता ॥ ६ ॥  
तद्विज्ञाप्यता वसन्तसेना,—

“अयं तव शरीरस्य प्रमाणादिव निर्मितः ।

अप्रकाशो ह्यलङ्कारो मत्स्नेहाढ्यतामिति” ॥ ७ ॥

पयःप्राह, नो इति ।—अहं फुल्लं—विकशितपुष्पा, लता—वल्लीमिव, विभूषणवती—  
परिहृतालङ्काराम्, अवलं—नारी, नो सुणामि—चोरयामि, तद्वायात सुषणानि  
न हरामीत्यर्थः, [ नो इति निषेधार्थकमोकारालम्ब्ययपदम्, “अभावे नञ्च नो  
नाऽपि” इत्यमरः ] विप्रस्व—ब्राह्मणधन, काञ्चन—स्वर्णम्, अथी—तथा, यज्ञार्थ—  
यज्ञनिमित्तम्, अभ्युद्धृतम्—आहत, वस्तु इति शेषः, विप्रस्वमिति, यज्ञार्थमभ्युद्धृत  
मिति च काञ्चनविशेषण वा, तत्र विप्रस्व—विप्रस्वामिकमित्यर्थः, विप्रस्वामिक-  
काञ्चनापहरणे महापातकश्रुते, तथा च विष्णु,—“ब्रह्महत्या, सुरापान, ब्राह्मण  
सुवर्णहरण, गुरुदाराभिमग्न, सयोग्यं तै सह इति महापातकानि” इति । न  
हरामि—न चोरयामि, तथा धनार्थी—अर्थलिप्सु सन्, क्वचित्—कदापि, धावता,  
—उपमातु, उत्सङ्गत—क्रोडस्थ, बालं—शिशु, न हरामि—तद्वायात अलङ्कार  
जातम् अपहर्तुमिति भावः, तथा हि,—मम मति,—बुद्धि, चौर्य्येऽपि—चौरकर्म  
स्थिति, कार्याकार्य्यविचारिणी—कर्तव्याकर्तव्यविचारवती सती, नित्यं—सतत,  
स्थिता, असत्कार्य्यमपि चौर्य्यं सया पादमपात, स्थानमप्यान, योग्यमयोग्यं वेति  
अविविच्य न कदाचित् कृतमिति भावः । अत्र अन्तिमपादायम् पुत्र्यपादवत्वात्काथान  
प्रति हेतुतया निर्देशात् काव्यलिङ्गमलङ्कार, तदुक्तं द्रष्टव्यम्,—“हृतीवाकापदायत्वं  
काव्यलिङ्गं निगद्यते” इति । शार्दूलविकीर्णितं वचनम् ॥ ६ ॥

किं विज्ञापनीयमित्याह, अयमिति ।—तव—वसन्तसेनाया इत्याशयः, शरीरस्य  
—देहस्य, प्रमाणादिव—प्रमाणादिव, प्रमाणात् स्नेहोक्तिर्वेति यावत्, [ त्वन्मते  
पञ्चमी ] यथा गिथिल कटमाध्यपरिधानो वा न भवेत्, तथैव इति तावत्  
निर्मितः,—घटितः, अयं—परिदृश्यमानः, अप्रकाशः,—अनन्तित प्रकाशो यस्य  
तथोक्तः, अप्रकाशनीय इत्यर्थः, [ “अप्रकाशः” इत्यत्र “अप्रकाशम्” इति भाष्यः  
कृतचारुदत्ताख्यव्यवृत्तपाठान्तरेऽपि,—अलङ्कारविशेषणं बोध्यम्, लोकमना  
प्रकाशनीय इत्यर्थः ] अलङ्कारः,—अपणः, मत्स्नेहात—मयि—मदनिकाशने-  
खेदात्—अदुरागात्, धार्य्यता—गृह्यताम्, परन्तु शब्दित्वेन मम ( मदनिका

नद। सव्विलअ। अप्पकासो अलकारओ, अअ अ जणो  
त्ति दुवेवि ण जुज्जदि, ता उवणेहि, दाव पेक्खामि एद अल-  
कारअ। ॐ (त)

शविं । इदमलङ्कारम् । [ इति साशङ्क समर्पयति ] ।

नद । [ निरुप्य ] । दिष्टपुरुषो विअ अअ अलंकारओ ॥  
ता भणेहि कूदो दे एसो १ १

शविं । मदनिके । किं तव अनेन ? गृह्यताम् ।

मृद । [सरोषम्] जइ मे पञ्चअं ण गच्छसि, ता किणिसित्तं  
म णिक्किणसि (घ) १ ॐ

शविं । अयि । प्रभाते मया श्रुतं श्रेष्ठिचत्वरे, यथा—सार्ध-  
वाहस्य चारुदत्तस्य इति । [ वसन्तसेना मदनिका च मूर्च्छां नाटयत ] ।

शविं । मदनिके । समाश्वसिहि ; किमिदानीं त्वम्,—

२ शविलक । अप्रकाशीलङ्कार, अथञ्च जन, इति द्वयमपि न युज्यते, तत्  
उपन्य तावत् पञ्चाभि एतन् पलङ्कारम् ।

+ दृष्टपूर्वं इषावमलङ्कारः ॥ तद् भण, कुतने एष ?

‡ यदि ते प्रत्यय न गच्छन्ति, ततः किं निमित्तं सा निष्क्रीयानि ?

निष्कम्पेन चरन्पित इति न प्रकाशयतां, तथात्वे च राजा दण्डनीया भविष्याम  
इति शब्दिलकाशयः । अत्र शरीरप्रमाणानिर्दिष्टेऽपि तत्त्वसम्भावनात् उत्प्रेक्षाऽल-  
ङ्कारः । पद्यावकु हस्तम् । ७ ॥

(त) अथ चन,—वसन्तेनामरूप, पतिवतुग रुपाजीवा इत्यर्थः,  
तादृशोऽयं चन क० चौदसे महोत्तोऽप्रमलहारश्च क० इति इयमपि न युज्यत  
इत्याह एतस्यावेद्यात्वेन तद्भुतालङ्कारस्य अप्रकाश्यत्वसम्भावनाविरहादिति भावः,  
अथा—अनकलेना स्फुरितद्रव्य कदापि न गृह्येतादिति भावः, शब्दिल्लक्षणेन  
स्फुरिताया मन्दनिष्क्रान्तिकार्या सप्त प्रदक् अयमस्तुङ्गार इति वसन्तेनया कटाऽपि  
न तादृश इति सम्भावितुमपि न शक्यते इति हृद्यम् ।

१२) निष्क राशि—मुद्रायाः किराणि, निष्क दत्ता सामर्थ्याकरोषति

इह सर्वस्वफलिनः कुलपुत्रमहाद्रुमाः ।

निष्फलत्वमलं यान्ति वेश्याविहगमक्षिताः ॥ १० ॥

अयञ्च सुरतज्वालः कामाग्निं प्रणयेन्धनः ।

नराणां यत्र ह्यन्ते यौवनानि धनानि च ॥ ११ ॥

वस । [ सम्मितम् ] अहो । से अत्यागो आवेशो । \* (न)

\* अहो । अय अस्याने आवेश ।

मदनिकाश्ववहार स्नानकुल विविच्य अस्या वेश्यात्वमेव एव नोच्यवहारहेतु  
रिति निश्चिण शर्विलक इत आरभ्य कतिपयै श्लोकै वेश्याजनदीपानाह, इहेति ।  
—इह—संसारे, सर्वे—सकल, स्व—धनमेव, फल—प्रसव इति सर्वस्वफल, तदस्ति  
एषामिति सर्वस्वफलान, —प्रचुरधनरूपफलवन्त, [ अत्र बहुव्रीहिणा अर्थसङ्गतावपि  
“न कम्पधारयान्मत्वर्थीयो बहुव्रीहियेदशप्रतिपत्तिकर ” इति न्यायेन कम्पधारयात्  
मत्वर्थीयेन्प्रत्ययस्य असाधुत्वेऽपि “कण्यसर्पवान् वृन्मौक ” इत्यादिबत एतद्वचनस्य  
प्रायिकत्वेन साधुत्वमवगन्तव्यम्, केचित् तु “सर्वधनी” इत्यादिवत् इत्यन्त बहुव्रीहि  
वदन्ति इति सुधीभिर्विभाज्यम् ] कुलपुत्रा, —कुलोना, एव महान्त, —येष्टा,  
द्रुमा, —वृक्षा, वेश्या, —गणिका, एव विहगा, —पक्षिण, ते भाजत, —  
खादिता, सन्त, अलम्—अत्यर्थे, निष्फलत्वं—फलहीनत्व इत्यात्वञ्च, यान्ति—  
प्राप्नुवन्ति, हतसर्वस्वा भवन्तीति यावत् । अत्र धनकुलपुत्रादिरूपे निरपङ्गतविषये  
रूपितानां फलद्रुमादौनामभेदेनारीपात् रूपकमलङ्कार । पद्यावकं वृत्तम् ॥ १० ॥

अप्रमिति । —किञ्चेति चाश; अय—अनुभूयमान, सुरतमेव ज्वाला—शिखा  
यस्य स, तथा प्रणय, —अनुराग, एव इत्यन—काष्ठ यस्य तादृश, ( “काष्ठ  
दार्विन्धनम्” इत्यमर ) कामाग्नि, —काम, —सुरताभिलाष, एव आय, —वह्नि,  
[ “कामोऽग्नि ” इति पाठान्तरन्तु न ह्यय, ‘रावणावग्रहस्तान्म’ इत्यत्र “कण्यमेघ ”  
इतिवत् समस्तपाठस्यैव औचित्यात् ] ज्वलति वेश्याजनशरीरे इति पदद्वयमध्या-  
हार्यम्, यत्र—ज्ञानाग्नौ इत्यथ, नराणा—मानवानां, कामातुराणामिति यावत्,  
यौवनानि—तारुणानि, धनानि—विभवाश्च, ह्यन्ते—आहुतय इव प्राक्ष्यन्ते  
इत्यथ । अत्र यौवनधनानामाहुत्यसम्भवात् ह्यन्ते इव इत्युत्प्रेक्षितैव वाक्यावयान्ते  
उत्प्रेक्षाऽलङ्कार, पृथ्वाहं तु निरपङ्गवविषये सुरतादौ ज्वालादस्तादात्म्येनानयात्  
रूपकम् इत्यनयो परस्परनिरपेक्षा संसृष्टि । पद्यावकं वृत्तम् ॥ ११ ॥

( न ) अस्य—गञ्जिनकस्य, अस्याने—प्रयोग्य स्थाने, आवेश, —चिन्तादेशः,

शर्दि । सर्वथा,—

अपण्डितास्ते पुरुषा मता मे,

ये स्त्रीषु च श्रीषु च विश्वसन्ति ।

श्रियो हि कुर्वन्ति तथैव नाय्यो

भुजङ्गकन्यापरिसर्पणानि ॥ १२ ॥

स्त्रीषु न रागः कार्यो रक्तं पुरुष स्त्रियः परिभवन्ति ।

रक्तैव हि रन्तव्या, विरक्तभावा तु हातव्या ॥ १३ ॥

चारुदत्तमानञ्जणमात्रेण सदनिष्ठाया आवेगसम्प्राप्तादिदर्शनात् मामुपेत्य तत्रेयम्  
अनुरक्तेति विश्वासादस्याय चित्तोद्देग सममूल एवेति भावः, यद्वा,—स्थाने इति  
योग्यार्थकमन्य, ( “युक्ते हे साम्प्रत स्थाने” इत्यमरः ) तथा च—आवेगः,—चित्त-  
सम्भ्रमः, अस्थाने—अयोग्यः, अनुचित इत्यर्थः । [ “आवेष्टो” इति प्राकृतस्य  
“आवेष्ट” इति संस्कृतकल्पने आवेष्टः,—गर्वः, क्रीडी वाऽपि ] ।

कन्याञ्चित् कानिन्या रिरसो नायकस्य अपरेण कामघाते शक्तस्य कोपः,  
असमग्रस्य तु विषाद इति दर्शनात् क्रुद्धः शर्विलक वेश्यामात्रं विनित्य इदानीं  
स्त्रीमात्रं लिन्दति, अपण्डिता इति ।—ये पुरुषाः,—जनाः स्त्रीषु च—नारीषु च,  
अनग्रकरीति भावः, च—तथा, श्रीषु—लक्ष्मीषु, चञ्चल भविति भावः, [ चकार-  
हय प्रयेकतावाच्ययौतनायम् ] विश्वसन्ति—प्रत्यय यान्ति, ते—तादृशाः पुरुषाः,  
अपण्डिता,—अनभिज्ञाः, मूखा इति यावत्, इति मे—समः, [ कृत्तरि षष्ठी ] मताः,  
—वीर्यता, सम्प्रता इत्यर्थः, तान् अनभिज्ञान् मन्दे ज्ञातं यावत्, हि—यतः,  
दिग्,—सम्प्रदः, तथैव—तद्वदेव, नाय्यः,—रम्यः, भुजङ्गकन्यानां—भुजङ्गीनाम्  
इत्यर्थः, इव परिसर्पणानि—परितः वक्रगमनानि, द्रुतगमनानि वा, यद्वा,—  
परिसर्पणानि—आवरणानि, ता हि दृष्टा प्रीतिपरमपि निघ्नान्ति इति भावः,  
कुर्वन्ति—विदधति, हे एव ते अतिवक्त्रे अपलम्बभावे चेति भावः । अत्र पूर्वार्द्धगत  
शास्त्रार्थं प्रति परार्द्धगतवाक्यादस्य हेतुतया, कारणेन काव्यसमर्थनदोषान्तर-  
भावे, एवम् अप्रस्तुतानां शास्त्रा प्रस्तुतानां नारीणाञ्च भुजङ्गकन्यासदृशपरि-  
सरपरिचरित्वसदृशसम्बन्धादपकालहारः, तथा भुजङ्गकन्यापरिसर्पणानीत्यत्र  
समसः चेति एतेषां परस्परसङ्गतिभावेन सङ्गः । उपेत्यवसेन्द्रवज्रयो सम्प्ले-  
नाटपत्नानिदमनिदम । १६ ।

सुष्ठु खलु इदमुच्यते,—

एता हसन्ति च रुदन्ति च वित्तहेतोः

विश्वासयन्ति पुरुष न तु विश्वमन्ति ।

तस्मान्नरेण कुलशीलममन्वितेन,

वेष्ट्याः श्मशानसुमना इव वर्जनीयाः ॥ १४ ॥

राग,—प्रणय, न काव्य,—न विधेय, ( यत ) स्त्रिय,—रमण्य, रक्तम्—अनु-  
रागिण, पुरुष—जनं. परिभवन्ति—भवजानन्ति, हि—तथा हि, रक्ता—अनुरागिणी,  
पञ्च रत्नव्या—रमणाद्या, विरक्तभावा—अनुरागिणी तु हातव्या—त्यक्तव्या । अत्र  
रक्तैव इत्यत्र अन्ययोगव्यवच्छेदाशयेन एवकारिणैव अनुरक्ताव्यवच्छेदसम्भवे पुन  
“विरक्तभावा तु हातव्या” इति कथनात् पुनरुक्तत्वदीप, स च “सुरक्ता हि रत्नव्या”  
इति पाठपरिवर्त्तनेन समाधेय । इह प्रथमपादाद्यं हेतोर्हितौघपादगतवाक्याथतया  
काव्यलिङ्गमलङ्कार । आख्यां वृत्तम् ॥ १३ ॥

स्त्रीमात्रं विनिन्द्य पुन स्त्रीविशेषा वेष्ट्यां निन्दति, एता इति ।—एता,—  
वारणार्थं, वित्तहेतोः,—वित्तस्य हेतोः,—धनकारणात्, [ “षष्ठौ हेतुप्रयोगे”  
( २।३।२६ पा० ) इति षष्ठौ ] पुरुषम्—अनुरागिण जनमित्यर्थ, प्रतीति शेष,  
हसन्ति, रुदन्ति—क्रन्दन्ति, विश्वासयन्ति च—प्रत्याययन्ति च, तु—किन्तु, न  
विश्वमन्ति—प्रतिग्रन्ति, स्वयमिति भावः, तस्मात्—तत कारणात्, कुलशीलमम-  
न्वितेन—सहस्रसत्त्वभावविशिष्टेन, कुलोनेन सुशीलेन च इत्यर्थ, नरेण—जनेन,  
वेष्ट्या,—धारवनिता, श्मशानसुमना,—श्मशाने—शवदाहक्षेत्रे, उत्पन्ना या  
सुमना,—कुसुम, ( “स्त्रिय सुमनस पुष्प प्रसून कुसुम सुमम्” इत्यमर ) सा  
इव, [ सुमन शब्दस्य “अप्सर सुमनोवत्त्वजादेवा” इत्यनुशासनेन “आप सुमनसा वपा  
अप्सर सिकता समा । एता स्त्रिया बहुत्वे स्युरेकत्वऽपि मता कश्चित् ॥” इति  
कारिकया च बहुत्वस्य वैकल्पिकत्वात् च्युतसंस्कृतिदोषाभावेऽपि “ज्योत्स्ना इव मिता  
कीर्त्ति” इत्यादिभ्यत् उपमानोपमेप्रयोगवचनभेदान्न भग्नप्रकमतादीप दुष्परिहाय्य  
पठेति बोध्यम् ] यद्वा—सुमना,—मालतीपुष्पाणि, ( “सुमना मालती जाति”  
इत्यमर ) ता इव ( भस्मिन् पक्षे आदलमालतीपुष्पवाचकबहुवचनान्तसुमनाशब्द  
प्रयोगात् नाक्तुपभग्नप्रकमतादीपसम्भावनाऽपीति सर्वमवदातम् ) वजनोया—हातव्या  
इत्यर्थ, यथा देवाक्षनायासप्रयोज्यतया श्मशानस्यकुसुमानि सर्वे परिहोयन्ते,  
अथा मृत्त्वानयनिदानतया नयनमग्रेहारा अपि धारवनिता नूनं परिहरणीया इति

अपि च,—

समुद्रवीचीव चलस्वभावा सन्ध्याऽम्बलेखिव मुहूर्तरागाः ।

स्त्रियो हृतार्थाः पुरुष निरर्थं निष्पीडितालक्तकवत् त्यजन्ति ॥ १५ ॥

स्त्रियो नाम चपलाः,—

अन्यं मनुष्य हृदयेन कृत्वा, अन्यं ततो दृष्टिभिराह्वयन्ति ।

अन्यत्र मुञ्चन्ति मदप्रसेकमन्य शरीरेण च कामयन्ते ॥ १६ ॥

भाव । अत्र वेष्टाद्वय एकत्र कर्तुं हामरोदनाद्यनेकक्रियासम्बन्धेन दोषकाऽलङ्कारः, शेषार्हे च वेष्टानां स्मृशानकुसुमैः सह वञ्जनीयत्वेन अवैधर्म्यसाम्यकथनात् उपमाऽलङ्कार इत्यनङ्गी सृष्टिः । वसन्ततिलक इत्तम् ॥ १४ ॥

पुनरपि तासां दुःखद्वार-वर्णनं, समुद्रेति—समुद्रवीचीव—सागरतरङ्ग इव, चलस्वभावा—चञ्चलप्रकृतयः, अतिचर्पला इत्यर्थः, तथा सन्ध्याऽम्बलेखिव—सन्ध्याया—सायकाले यदम्बम्—अलग्नमनोन्मुखसूक्ष्मकिरणरञ्जितां मेघ इति यावत्, तस्य लेखिव—रेखिव, मुहूर्तम्—प्रत्यन्तकालः, रागः,—अनुरागः, पक्षे—रक्तिमा, यासां ता स्त्रियः,—रमण्यः, वेष्टा इत्यर्थः, हृतः,—आहृतः, पुरुषात् गृहीत इति यावत्, अथ,—वनं याभिः तथाभूता सन्त्यः, निरर्थं—निर्जन्तः, पुरुष—जनः, निष्पीडित—निहूतरागः, यदलक्तक—लासापवः, तद्वत् त्यजन्ति—विस्तृजन्ति । अत्र स्त्रीणां चञ्चलस्वभावत्वे समुद्रवीच्या, मुहूर्तरागत्वे च सान्ध्यम्बलेखया अवैधर्म्यसाम्यकथनात् उपमाऽलङ्कारः, स च रागशब्दस्य श्रुत्यनुप्राणितः । प्रथमार्हे उपमानोपमेययोः भिन्नवचनतया भग्नप्रकृतत्वादोषः । इन्द्रध्वजोपेन्द्रवज्रयोः उपजाति इत्तम् ॥ १५ ॥

सूक्त (प) खलु कस्यापि,—

न पर्वताये नलिनी प्ररोहति,

न गर्दभा वाजिधुर वहन्ति ।

यवा. प्रकौर्णा न भवन्ति शालय ,

न वेशजाताः शुचयस्तथाऽङ्गना. ॥ १७ ॥

आः । दुरात्मन् चारुदत्तहतक । अय न भवसि । [ इति कतिचित् पदानि गच्छति ] ।

इत्यथ , प्रसेक—मुखात् प्रचेप, मुञ्चन्ति—कुर्वन्तीत्यथ , तथा अन्यच्च—अपरञ्च, तत इति पूर्वेष्वन्यथ, तद्भिन्न पुरुष, शरीरेण—देहेन, कामयन्ते—वाञ्छन्ति, सखाङ्गे नालिङ्गन्ते इत्यथ , अत्र पादचतुष्टयेऽपि एकस्यैव अन्यशब्दस्य प्रयोगात् अनवीकृतत्वं दीप्यते । एवमेकस्यैव स्त्रीरूपकर्तृपदस्य आह्वानमाचनकामनारूपक्रियाभिरन्वयान् दीपकमलङ्कारः । इन्द्रवज्रा वृत्तम् ॥ १६ ॥

( प ) सूक्त—शीभन कथितम् ।

वाराङ्गनाना निरतिशयनीचतां प्रकटयितुं शिष्टाक्तिसुदाहरति, नेति ।—नलिनी—पद्मिनी, पर्वताये—गिरिशिखरे, न प्ररोहति—जायते, गर्दभा,—रासभा, वाजिधुरम्—अश्ववाह्य भाग, [ समासविधेरनित्यत्वात् “ऋक्पूरञ्चु—” ( प्रा४।७४ पा० ) इति सूत्रेण अप्रत्ययभावात् ] न वहन्ति—पृष्ठे न गृह्णन्तीत्यथ , प्रकौर्णा,—प्रक्षिप्ता , उता इत्यथ , यवा,—खनामत्स्याता, शूकधान्यभेदा , शालय,—तन्नामप्रसिद्धानि धान्यानीत्यथ , न भवन्ति—जायन्ते, तथा वेशजाता,—वेश्याजनान्यथे उक्त्या इत्यथ , अङ्गना,—रमणीय , वेश्या इत्यर्थ , न शुचय,—पवित्रा , भवन्तीति शेष , पर्वताञ्चशिखरे कमलोत्पत्तिवत्, रासभस्य अश्ववाह्यवहनवत्, भूमावुत्तानां यवानां शालित्वप्राप्तिवत् वाराङ्गनाना साधुत्वसत्यन्तमसम्भवीति भावः । अत्र द्वितीयोपादेयगतकर्तृपदानां बहुवचनप्रक्रमे प्रथमपादे नलिनीति—एकवचनान्तकर्तृपदनिर्देशात् भयप्रक्रमता, तथा वेश्याविलम्बते द्वितीयपादे नूनाचरत्वेन हतवृत्तता, तथा वाजिधुरमित्यत्र समासान्ताप्रत्ययस्यानुशिष्टत्वेऽपि तदभावात् श्रुतस्फुटता दीप्यते, समासान्तविधेरनित्यत्वेन तृतीयस्तु कथमपि समाधातुं शक्यते , एव वेशाङ्गनाशुचित्वाभाव समानधर्माणां पर्वताये नलिनीप्ररोहाभावादिपदाधानां साम्यस्य प्रणिधानगम्यत्वेन दृष्टान्तालङ्कारः । वेश्याविल वृत्तम् ॥ १७ ॥

नद । [ अञ्जले गृह्यत्वा ] अइ असवडभासअ ! असभाव-  
णीए (फ) कुप्पसि ? \*

श्वि । कयमसम्भावनीय नाम ?

नद । एसो क्खु अलङ्कारओ अज्जआकेरओ । †

श्वि । तत किम् ?

नद । स च तस्स अज्जस्स हत्थे विणिक्खत्तो । ‡

श्वि । किमर्थम् ?

नद । [ कथं ] एव्व विअ । § (ब)

श्वि । [ सवैलत्त्यन् ] (भ) भोः । कष्टम्,—

क्वायार्थं ग्रीष्मसन्तप्तो यामेवाह समाश्रितः ।

अज्ञानता मया सैव पत्रैः शाखा वियोजिता ॥ १८ ॥

\* अयि असम्बन्धभाषक । असम्भावनीये कुप्पसि ?

† एष खलु अलङ्कार आख्यांसम्बन्धी ।

‡ स च तस्य आयेत्यहमे विनिश्चितः ।

§ एवमितिव ।

( फ ) असम्बन्धभाषक ।—असङ्गतप्रलापिन् । असम्भावनीये—सम्भावनाया  
अशोभे [ एव कुपयती प्रशोभे चतुर्थोऽङ्कात् विवक्षिता सतमी ] ।

( ब ) एवमितिविति ।—वसन्तसेना चाहदत्ते वड्डातुरागा, स च निर्हन्, अत  
निर्हन्वाहदत्तस्य बहुधननिष्ठा समीगोपकरणसम्भारसङ्ग्रहासामर्थ्यात् अलङ्कारीय  
वसन्तसेना तस्मिन्नेति नामन्याजेन रक्षित इति रहस्यात् ।

( भ ) सवैलत्त्यं—सख्यत्वं, एव निर्हन्त्य परानुगृहीतस्य गृहे मया चोरित-  
मिति लज्जाहेतुः ।



वम । कधं । एमोवि सन्तप्पटि ज्जेव ॥ ता अजाणन्तेण  
एदिणा णव्व अणुचिद्धिद । \*

शर्वि । मदनिके । किमिदानीं युक्तम् ?

मद । एत्थ तुमं ज्जेव पण्डित्थो । †

शर्वि । नैवम् । पश्य,—

स्त्रियो हि नाम खल्वेता निमर्गादेव पण्डिता ।

पुरुषाणान्तु पाण्डित्य शास्त्रैरेवोपदिश्यते ॥ १८ ॥

मद । मव्विलअ । जइ मम वअण सुणीअटि, ता तस्स  
ज्जव महाणुभावस्स पडिणिज्जादेहि । ‡ (म)

\* कथमेवोऽपि सन्तप्यत एव ॥ तत् अज्ञानता एतन् एवमनुष्ठितम् ।

† अथ त्वमेव पाण्डित ।

‡ शविलक । यदि मम वचन शृणोषि, तदा तस्यैव महाऽनुभावस्य प्रति-  
निर्यातय ।

सन्तपस्य शर्विलकस्य मदनिकालाभायमाश्रिताया वसन्तसेनाया न्यासीभूतालङ्काराप-  
हरणरूपप्रस्तुतावगतिरपस्तुतप्रशमा नामालङ्कार । पथ्यावक्तव्यम् ॥ १८ ॥

उपस्थितसमस्याया मदनिकाया एव उपायनिर्धारकत्वं व्यवस्थापयितुं स्त्रीबुद्धे-  
र्निसर्गमूर्च्छतामाह, स्त्रिय इति ।—एता स्त्रिय, —रमण्य, निमर्गात—स्वभावात्,  
एव पण्डिता,—विदुष्य, निपुणा इत्यर्थ, नाम—सम्भावनायां पण्डिता इति सम्भा-  
वयामीत्यर्थ, पुरुषाणान्तु—पुमान्तु, पाण्डित्य—नैपुण्य, शास्त्रै,—शास्त्रदर्शनैरेव,  
न तु स्वत इत्यर्थ, इति उपदिश्यते—कथ्यते, विद्वद्भिरिति शेष, शास्त्रज्ञानेनैव  
पुरुषेषु आहार्यं पाण्डित्यं जायते, रमणीषु तु तन्निमर्गादेव सम्पद्यत इति, अतः  
प्रतिभाशालिनी त्वमेव अथ उपायनिर्धारयिषीति भावः । पथ्यावक्तव्यम् ॥ १८ ॥

( म ) मम वचन शृणाधि—मामेव प्रमाणत्वेन गणयामि इत्यर्थ । महानुभावस्य  
—[ अनुगतो भाव इति अनुभाव न त्वनपुव्वाद्भवत घञ् । “श्रिर्नाभुर्वोऽनुपसंगे”  
( शशर४ पा० ) इति तन्निषेधात् ] महान् अनुभाव प्रभाव यस्य तस्य, महानुपसंग  
वा, चारुदत्तस्येति आशयः, अथ सम्प्रदाने चोर्द्धाप्रार्तां सन्तुष्टविवक्षया पश्या,  
महानुभावाद्येत्यर्थ । प्रतिनिर्यातय—प्रत्यर्पय, इतः प्रत्यागत्य त्वमपीयं गत्वा तन्मे  
देहि इत्यर्थ । “मम वचन शृणोषि” इत्यनेन स्वात्मे यौक्तिकत्वं व्यज्यते । “तामस्मि

श्वि । मदनिके । यदि अमी राजकुले मा कथयति ?

नद । ए चन्द्रादो आदवो होदि । \* (य)

वस । साहु, मदर्णिए । साहु । †

श्वि । मदनिके ।—

न खलु मम विषाद. साहसेऽस्मिन् भयं वा,  
कथयसि हि किमर्थं तस्य साधोर्गुणास्त्वम् ? ।

जनयति मम वेद कुत्सित कर्म लज्जा,

नृपतिरिह शठानां मादृशां किं नु कुर्यात् ? ॥ २० ॥

तथाऽपि नीतिविरुद्धमेतत्, अन्य (र) उपायस्त्विन्यताम् ।

\* न चन्द्रादातपो भवति ।

† साधु मदनिके । साधु ।

वस्मि विदुषान् इतिवत् सदुक्त तवातीव श्रेयोजनकम्, अतः त्वया मनोपदेशानुरूपम् अवश्यमेव करणीयम् इति मदनिकाया अभिप्रायः ।

( २ ) चन्द्राद यदा पातपस्यान्तम्भव, तदा चारुदत्तात् राजकुले अभियोग-सम्भावनाया अभिप्रायः, इति चन्द्रादातपात्तम्भवरूपादप्रस्तुतात् चारुदत्तस्य राजकुले अभियोगभावरूपप्रस्तुताद्यावन्नैरप्रस्तुतप्रश्नाऽलङ्कारः ।

राजभग्नतः लज्जाविषादादितो वा न तवाग्रनुपदेश समारुचिकरः, अपि तु नीतिविरहितचाट्वेवाह नीतिः ।—अस्मिन्—उपस्थिते, साहसे—बलकृतकार्ये, चौद्यरूपे इति यावत्, [ सहसा बलेन कृतमिति साहसम् —“सहसा क्रियते यत्तु तत् साहसमिहोच्यते । अपकाश प्रकाश वा सहो बलमिहोच्यते ॥” इति वचनात् ] मम विषाद —खेदः, कथमिदमकार्यं कृतमित्यनुताप इत्यर्थः, वा—अथवा, मय—मति शान्तदण्डादिति शेषः न खलु—नैव अस्मीति शेषः, त साधो,—मत् सम्भवं तस्मै—चारुदत्तस्य गुणान्—दयादादिगुणान् इत्यर्थः, किमर्थं—कि-  
नित्येन कथं—किं—वदंति, हि—अवधारणे, वा—अथवा, इदम्—मया अचरितं कथितं—निन्दितं कथं—कार्यं, चौद्यरूपमिति यावत्, मम लज्जा—  
इति वचनं—विषये तु—नो । इह—अग्रे दृष्टं,—गणा, शठानां—  
दुष्टानां न इह—ननुदृष्टं न, किं कुर्यात्—किं कर्तुं शक्नुयात्, न किमपी-  
महं न विनो हम् —“ननुमदुपदेशं न विनो भवितुं शक्तेः” इति लक्षणात् ( २० )

न तदादि—तत्र लज्जाभयदमकेति इत्यर्थः । एतत्—सर्वं तदा साह-

मद । सो अअं अवरो उवाओ । \*

वस । को क्खु अवरो उवाओ हुविस्सदि ? †

मद । तस्स ज्जेव अज्जस्स केरओ भविअ एद अलंकारअं  
अज्जआए उवणेहि । ‡

शर्वि । एवं कृते किं भवति ?

मद । तुम दाव अचोरो, सो वि अज्जो अरिणो, अज्जआए  
अ सकं अलंकारअ उवगद (ल) भोटि । §

शर्वि । ननु अतिसाहसमेतत् ।

मद । अइ । उवणेहि, अस्सधा अदिसाहसं । ¶

वस । साहु । मदणिए । साहु । अभुजिस्सए विअ मन्तिदं । ††

शर्वि ।—मयाऽऽप्ता महती बुद्धिर्भवतोमनुगच्छता ।

निशाया नष्टचन्द्राया दुर्लभो मार्गदर्शकः ॥ २१ ॥

\* सोऽयमपर उपाय ।

† क खलु अपर उपायो भविष्यति ?

‡ तस्यैव आर्यस्य सन्त्वन्धीभूत्वा इममलङ्कारमार्यायै उपनय ।

§ त्व तावदचौर, सोऽपि आर्योऽनृण, आर्यथा च स्वक अलङ्कार उपगती  
भवति ।

¶ अयि ! उपनय, अन्यथा अतिसाहसम् ।

†† साधु मदनिके । साधु, अभुजिष्येति मन्तितम् ।

दत्ताय अस्य अलङ्कारस्य प्रत्यर्पणमित्यर्थ । अन्य,—अपर, चारुदत्ताय प्रत्यर्पणमिति  
इति यावत् ।

( ल ) उपगतः,—प्राप्त ।

मदनिकया पुन प्रदर्शितस्य उपायस्य सारवत्तां स्वीकुर्वाणः शत्रिलक तामिव  
प्रशसन्नाह, मयेति ।—मया—शर्विलकेनेत्यर्थ, भवती—त्वाम्, अनुगच्छता—अनु  
सरता सता, महती—उत्कृष्टा, बुद्धि,—ज्ञानम्, उपदेश इति यावत्, आप्ता—  
लब्धा, तथा हि,—नष्टचन्द्रायाम्—अस्तमितनिशानाथायाम्, अन्यकारसमाप्तं प्रा-  
प्यमित्यर्थ, निशायां—रजनीं, मार्गदर्शक,—सत्यप्रदर्शक, [ “मार्गदर्शक”  
इत्येव “नामदर्शक” इति पाठान्तरम् ] दुर्लभ,—दुष्प्राप । किन्तु किंकर्षण-

मद । तेण हि तुम इमस्सि कामदेव-गेहे सुहुत्तअं चिठ्ठ,  
जाव अज्जआए तुह आगमणं णिवेदेमि । \*

शर्वि । एव भवतु ।

मद । [ वसन्तसेनाम् उपसृत्य ] अज्जए । एसो क्वु चारुदत्तस्स  
सआसादो बम्हणो आअदो । †

वस । हज्जे । तस्स केरअ त्ति कधं तुमं जाणासि ? ‡

मद । अज्जए । अत्तकेरअं पि ण जाणामि ? §

वस । [ स्वगत सशिर कम्प विहस्य ] जुज्जदि । [ प्रकाशम् ]

पविसदु । ¶

मद । ज अज्जआ आणवेदि । [ उपगम्य ] पविसदु सव्वि-  
लओ । \*\*

शर्वि । [ उपसृत्य सवैलक्ष्यम् ] । स्वस्ति भवत्ये ।

वस । अज्ज बन्दामि, उवविसदु अज्जो । ††

शर्वि । सार्यवाहस्त्वा विज्ञापयति, जर्जरत्वात् गृहस्य  
दूरस्थमिदं भाण्डम्, तद्गृह्यताम् । [ इति मदनिकाया समर्थं प्रस्थितः ] ।

वस । अज्ज । ममावि दाव पडिसदेस तहि अज्जो णेदु । ‡‡

\* तेन हि त्वमस्मिन् कामदेवगेहे सुहृत्तक तिष्ठ, यावदार्यायै तवागमनं निवेदयामि ।

† आर्ये । एष खलु चारुदत्तस्य सकाशात् ब्राह्मण आगतः ।

‡ चेष्टि । तस्य सम्बन्धीति कथं त्वं जानासि ?

§ आर्ये । आत्मसम्बन्धिनमपि न जानामि ?

¶ युच्यते । प्रविशतु ।

‡‡ यदायां आज्ञापयति । प्रविशतु शर्विलकः ।

†† आर्य । वन्दे । उपविशतु आर्य ।

‡‡ आर्य । कदापि तावत् प्रतिमन्त्रेण तव आर्यो नयतु ।

विगतस्य सम भवती एव नार्द्रादङ्गिका मुग्धमति वैधर्म्येण प्रतीयते, इति वाक्यादयो  
सागम्य प्रणिधानस्यत्वात् वैधर्म्येण दृष्टान्तालङ्कारः । यथावच्छेदकम् । २१ ।

शर्वि । [ स्वगतम् ] कस्तत्र यास्यति ? [ प्रकाशम् ] क' प्रति-  
सन्देशः ?

वस । पडिच्छदु (व) अज्जो मदणिअं । ‡

शर्वि । भवति । न खलु अवगच्छामि ।

वस । अह अवगच्छामि । †

शर्वि । कथमिव ?

वस । अह अज्जचारुदत्तेण भणिदा, जो इम अलंकारअं  
समप्पइस्सदि, तस्स तुए मदणिआ दाढव्वा । ता सो ज्जेव एद  
दे देदि त्ति ; एव्व अज्जेण अवगच्छिदव्व । ‡

शर्वि । [ स्वगतम् ] अये ! विज्ञातोऽहमनया ! [ प्रकाशम् ]

साधु । आर्य्य चारुदत्त । साधु,—

गुणेष्वेव हि कर्त्तव्यः प्रयत्न' पुरुषैः सदा ।

गुणयुक्तो दरिद्रोऽपि नेश्वरैरगुणैः समः ॥ २२ ॥

\* प्रतीच्छतु आर्य्यो मदनिकाम् ।

† अहम् अवगच्छामि ।

‡ अहमार्य्यचारुदत्तेन भणिता, य इममलङ्कार समर्पयिष्यति, तस्य त्वया  
मदनिका दातव्या । तन् स एव एतां ते ददातीति एवमार्य्येण अवगन्तव्यम् ।

( व ) प्रतीच्छतु—गृह्णातु ।

स्वाभिमतानुरूप स्वत एवाय्यचारुदत्तेन व्यवस्थापितमिति शृण्वन् आनन्दाप्रत-  
हृदय शर्जिलक तस्य गुणवत्तां ख्यापयन्नाह, गुणेष्वेवेति ।—पुरुषैः, —लोकैः, गुणेषु  
—औदार्यादिषु, एव सदा—नित्य, प्रयत्न, —प्रयास, गुणवान् भवितुं प्रकृष्टोद्यम  
इत्यर्थ, हि—निश्चयेन, कर्त्तव्य, —विधातव्य, गुणयुक्त, —गुणवान्, दरिद्रोऽपि—  
धनहीनोऽपि, अगुणैः, —गुणहीनैः, ईश्वरैः, —धनिभिः, समः, —तुल्य न, भवतीति  
शेषः, धनिभ्यो हि गुणवान् श्रेष्ठ इति भावः । अत्र कारणेन काव्यसमयनद्वयो  
ऽथान्तरन्यामोऽलङ्कारः, न चात्र काव्यलिङ्गमेवान् इति वाच्यं, पृथ्वीकाथ प्रति  
परवाक्याशयानिषादकृतया अत्र काव्यलिङ्गस्य अविषयत्वात् निषादकहनुतास्यम्  
एव तस्य विषयात् ॥ २२ ॥

अपि च,—

गुणेषु यतः पुरुषेण कार्य्यी न किञ्चिदप्राप्यतमं गुणानाम् ।

गुणप्रकर्षादुद्धुपेन शम्भोरलङ्घ्यमुल्लङ्घितमुत्तमाङ्गम् ॥ २३ ॥

वस । को एष्य प्रवहणिओ ? † (श)

चेट । [ सप्रवहणं प्रविश्य ] अज्जए । सज्जं प्रवहणं । †

वस । हञ्जे मअणिए । सुदिट्ठं मं करेहि, दिस्सासि, आरुह  
प्रवहणं, सुमरेसि मं । ‡ (ष)

मद । [ रुदती ] परिच्चत्तम्हि अज्जआए । § ( स )

[ इति पाठयो पतति ] ।

\* कोऽत्र प्रवहणिक ?

+ आर्ये । सज्जं प्रवहणम् ।

‡ चेष्टि मदनिके । सुदृष्टां मां कुरु, दत्ताऽसि, आरोह प्रवहणं, स्मरसि माम् ।

§ परित्यक्ताऽस्मि आर्य्यया ।

उक्तामेवास्यगुणवत्तां पुनरपि विशेषयन्नाह, गुणेष्विति ।—पुरुषेण—जनेन, गुणेषु—दयादाक्षिण्यादिषु, यव,—उद्यम, कार्य्य,—विधातव्य, किञ्चिदपि—किमपि, हस्तु—पदार्थ, गुणानां—दयादाक्षिण्यादिरूपाणामित्यर्थः, अप्राप्यतमम्—अतिदुष्प्राप्यतमं, अस्मीति शेष, तथा हि,—उद्धुपेन—तारापतिना, चन्द्रेण इत्यर्थः, ( “नचवस्यस्य मं तारा तारकाऽप्युद्धु वा म्विशाम्” इत्यमर ) गुणप्रकर्षात्—गुणातिशयात्, अलङ्घ्य—लघितुमशक्य, केनापि न लङ्घितपूर्वमित्यर्थः, [ “अलङ्घ्यमुल्लङ्घितम्” इत्यत्र “अलङ्घितं लङ्घितम्” इति पाठान्तरेऽपि स एवार्थः ] शम्भो,—हरस्य, उत्तमाङ्ग—शिरः, ( “उत्तमाङ्गं शिरः शीर्षम्” इत्यमर ) उल्लङ्घित—समाक्रान्तम् । अथ गुण-प्रकर्षात् चन्द्रकर्तृकहरशिरोलङ्घनरूपेण विशेषेण गुणशालिनं पुरुषस्य सकलकाय-समत्वरूपसामान्यस्य समग्रतात् विशेषेण सामान्यसमर्धनरूपोऽर्थात्तरन्त्यास । उपेन्द्र इत्यादि ॥ २३ ॥

( श ) प्रवहणिक,—कर्णैरिष्टचालक, सारिदमित्यर्थः, शिविकावाहीत्यर्थो वा ।

( ष ) सुदृष्टां मां कुरु—मयि सत्यं कुरुमदृष्टिं निपातय, तव पुनर्दर्शनस्य दुर्लभत्वात्, यतोऽहं वेद्या तव पुनः ग्राह्यं प्रमावस्तुमिति भावः । दत्ताऽसि—दत्तः, हविषिना परहस्यं गन्ताऽस्मीत्यर्थः । [ “सुमरेसि” इत्यत्र “सुमरेहि” इति पाठे करिस्सि” इति लङ्घितम्, एतदेव साधु नन्दे, एवम उच्यते ] ।

( स ) “परिच्चत्तम्हि” इत्यत्र “परिचुत्तम्हि” इति पाठान्तरे “परिचुत्ताऽस्मि”

वस । सम्पदं तुम ज्ञेय वन्दनीया मवुत्ता । (ह) ता गच्छ,  
आरुह प्रवहणं, सुमरसि म । \*

शर्वि । स्वस्ति भवत्यै । मदनिके ।—

सुदृष्टः क्रियतामेष शिरसा वन्द्यता जनः ।

यत्र ते दुर्लभ प्राप्तं बधूशब्दावगुण्ठनम् ॥ २४ ॥

[ इति मदनिकया सह प्रवहणमारुह गन्तुं प्रवृत्त ( क ) ] ।

[ नेपथ्ये ] कः कोऽत्र भोः । राष्ट्रियः समाज्ञापयति,—एष

\* साम्प्रत तमेव वन्दनीया सहृत्ता, तद्गच्छ, आरोह प्रवहणं, स्मरसि माम् ।

इति संस्कृतम् । अस्मिन् पक्षे “अञ्जनाए” इत्यस्य “आयाया” इति पञ्चम्यन्त कल्पनीयम् ।

( ह ) सुजिष्यात्वमपहाय ब्राह्मणगामितया ब्राह्मणकलत्रपदवाच्यत्वात् मदनिकाया वन्दनीयत्वम्, वसन्तसेनायाम्पु एकनाथकलेऽपि वेण्यापदवाच्यत्वान्न तथेति समुदिताशयः ।

वसन्तसेनाप्रसादात् प्राप्ताभीष्टं तस्यै कृतवेदित्वं विज्ञापयितुं मदनिकामादिशब्दाह, सुदृष्ट इति ।—एष,—दृश्यमानः, जनः,—वसन्तसेनारूपः, सुदृष्टः,—शुभावलोकितः, क्रियता—विधीयता, तथा शिरसा—मस्तकेन, शिरोनमनपूर्वकमित्यर्थः, वन्द्यता—सूयताम्, सविनयमभिवाद्यतामिति यावत्, यत्र—जने, अनुकम्पमाने मति इति शेषः, [ हेतावाधारविवक्षयैव वाऽव सम्प्रती ] ते—तत्र [ कर्तुं श्रेयस्त्वविवक्षया पश्यौ ] दुर्लभम्—अप्राप्य, वेण्याभुजिष्यात्वादिति भावः, बधूशब्दावगुण्ठनम्—बधूशब्दः,—बधूशब्दवाच्यत्वरूपम् एव अवगुण्ठनम्—आवरणं, यद्वा,—बधूशब्दावगुण्ठनम्—बधूशब्देन सह अवगुण्ठनं, बधूशब्दम्, अवगुण्ठनश्चेत्यर्थः, बधूनामेव हि परपुरुषानवलोकनीयत्वात् इति भावः, प्राप्त—लभ्यम्, त्वं पूर्वं वेशवासित्वात् साधारण्यौ आसीत्, इदानीं मया परिणीता एकपत्नीव्रता अभूरिति भावः । [ “यवैतं बधूशब्दावगुण्ठने” इति पाठस्तु साधुतर इति केचित्, तत्र बधूशब्दश्च अवगुण्ठनञ्च इति इदं ] । अत्र पूष्पाङ्गतवाक्यात् प्रति पराङ्गतवाक्यायस्य हेतुतया काव्यलिङ्गमलङ्कारः, तथा उपदृशनं नाम नाट्यालङ्कारश्च, यथा दर्पणे,—“शिखा स्फाटुपदशनम्” इति । पथ्यावक्त्रं वृत्तम् ॥ २४ ॥

( क ) प्रवृत्तः,—आरुहवान्, [ अथ प्रवृत्तेरादिकम्पणि निष्ठा ] ।

खलु आर्य्यको गोपालदारको राजा भविष्यतीति सिद्धादेश-  
प्रत्ययपरित्रस्तेन पालकेन राज्ञा घोषादानीय घोरे वन्धनागारे  
वद्धः, ततः स्त्रेषु स्त्रेषु स्थानेषु अप्रमत्तैर्भवद्भिर्भवितव्यम् । (ख)

शर्वि । [ आकर्ण ] कथम् । राज्ञा पालकेन प्रियसुहृदार्थ्यको  
मे वद्धः । कलत्रवाञ्छास्मि सवृत्तः । आः कष्टम् । अथवा, (ग) —

हयमिदमतोव लोके प्रिय नराणां सुहृच्च वनिता च ।

सम्प्रति तु सुन्दरीणां शतादपि सुहृद् विशिष्टतमः ॥ २५ ॥

भवतु, अवतरामि । [ इत्यवतरति ] ।

(ख) राष्ट्रिय, — राष्ट्रपाल, नगररक्षायां नियुक्त राजपुरुष इत्यर्थः ।  
गोपालदारक, — गोपसूत । सिद्धादेशेति । — सिद्धानां — सिद्धपुरुषाणां, य आदेशः,  
— आज्ञावाक्, तस्मिन् य प्रत्ययः, — विश्वासः, तस्मात् परिवस्तु, — भीतः, तेन ।  
घोषात् — आभीरपक्ष्या, [ “घोष आभीरपक्षी स्यात्” इत्यमरः । “घोषात्” इत्यत्र  
“गोष्ठात्” इति पाठान्तरः, गोष्ठात् — गोचारणस्थानात्, “गोष्ठ गोस्थानकम्”  
इत्यमरः ] । घोरे — भयङ्करे, वद्धः, — निक्षिप्तः, [ “वद्ध” इत्यत्र “क्षिप्त” इति  
पुनःकान्तरसम्प्रति पठ ] स्त्रेषु स्त्रेषु — स्त्रैस्वाधिकृतैर्विचर्य्य । अप्रमत्तैः, — अवहितैः ।

(ग) कलत्रवान् — कृतदारः, यतोऽहनिदानीं कलत्ररूपसहायवानस्मि, ततः  
सुहृद्भिरपि न मे तादृक् विषाद इति भावः । सुहृद्भिरपि दाराणाम् अयाच्यत्वात्  
पुनरपि पदान्तरमाश्रयति, — अथवेति ।

सुहृत्कलत्रयोरुभयोरेव प्रियतमत्वेऽपि, कलत्रात् सुहृदेवाधिकं प्रियतम इत्याहुः,  
इदमिति । — नराणां — मनुष्याणां, सुहृद् — मित्रश्च, वनिता च — रमणी च, (प्रियत्वे  
उभयोरेव प्राधान्यद्योतनार्थं चकारइत्यम्) इदम् — उक्तदपः, हयः, लोके — जगति,  
अतोऽव प्रिय — प्रीतिकरः, तु — किन्तु, सम्प्रति — इदानीं, सकलवताऽवस्थायामित्यर्थः,  
सुहृद् एवाहं विपत्तिरुनये इत्यर्थो वा, सुहृत् — मित्रः, सुन्दरीणां — सौन्दर्य्यसम्पन्नानां  
नारीणामित्यर्थः (अपरिहायत्वप्राप्त्यर्थं रमणीयं सुन्दरीति पदं प्रयुक्तम्) शता  
दपः — इतस्तद्व्याप्ता अपील्य । विशिष्टतमः, — अधिकप्रिय इत्यर्थः । इदंशवस्थाया  
स्वभावात् मित्रसाहाय्यत्वेन अवश्यकर्तव्यमिति भावः । अथ आश्रयो नाम नात्याल  
दारः यदा — यदा यदा वत् कायहेतुराश्रय उच्यते” इति । आख्या  
इत्यम् । २५ ।



मद । [ सास्त्रमञ्जलिं वक्ष्य ] एब्बं णेदं ; तापरं (घ) णेदु मं  
अज्जउत्तो समीवं गुरुअणाणं । \*

शर्वि । साधु, प्रिये । साधु ; अस्मच्चित्तसदृशमभिहितम् ।  
[ चेष्टमुद्दिश्य ] भद्र । जानीषे रेभिलस्य सार्थवाहस्य उदव-  
सितम् ? (ङ)

चेष्ट । अधइ । †

शर्वि । तत्र प्रापय (च) प्रियाम् ।

चेष्ट । जं अज्जो आणवेदि । ‡

मद । जधा अज्जउत्तो भणादि । अप्पमत्तेण दाव अज्ज-  
उत्तेण होदब्बं । § [ इति निष्क्रान्ता ] ।

शर्वि । अहमिदानीम्,—

ज्ञातीन्, विटान्, स्वभुजविक्रमलब्धवर्णान्  
राजापमानकुपितांश्च नरेन्द्रभृत्यान् ।

\* एव नेदम्, तत्पर नयतु माम् आर्य्यपुत्र समीप गुरुजनानाम् ।

† अथ किम् ।

‡ यदाये आज्ञापयति ।

§ यथा आर्य्यपुत्रो भणति, अप्रमत्तेन तावदार्य्यपुत्रेण भवितव्यम् ।

( घ ) तत्पर—श्रीपुत्रम्, ( आर्य्योऽयं शब्द ) ।

( ङ ) उदवसितम्—आवासं, गृहमित्यर्थ, (“गृहमेहीदवसितम्” इत्यमर ) ।

( च ) प्रापय—नय, “गुरुजनसकाशम्” इति कर्मपदमूहम् ।

श्रुतमुद्धवन्धनवृत्त शर्विलक सम्प्रति सुहृन्मोक्षोपाय निर्धारयन्नाह, ज्ञातीनिति ।

—उदयनस्य राज्ञ, —वत्सराजस्य वृपते, यौगन्धरायण, —तदाख्य प्रधानामात्य

इव, सुहृद, —मित्रस्य आर्य्यकस्येत्यर्थ, परिमोक्षणाय—कारामोक्षनार्थ, ज्ञातीन्

—स्वगोवजान्, विटान्—पूर्वोक्तलक्षणान् धूतान्, तथा स्वभुजविक्रमेण—निज-

बाहुशलेन, लब्धवर्णान्—प्राप्तयशस, ( “वर्णो विजातिशुकादियशोगुणकथाम् च”

इति मेदिनी ) अथवा, —स्वभुजविक्रमेण—स्वबाहुविक्रमप्रकाशेन, लब्धवर्णान्—

विचक्षणान्, ( “लब्धवर्णो विचक्षण” इत्यमर ) तथा राजापमानकुपितान्—राज्ञ,

—पालकस्य, अपमानेन—अवज्ञया, राजकर्तृतावज्ञा इत्यर्थ, कुपितान्,—मनसि

उत्तेजयामि सुहृदः परिमोक्षणाय

योगन्वरायण इवोदयनस्य राज्ञः ॥ २६ ॥

अपि च.—

प्रियसुहृदमकारणे गृहीत

रिपुभिरसाधुभिराहितात्मशङ्कैः ।

सरभसमभिपत्य मोक्षयामि

स्थितमिव राहुमुखे शशाङ्कविश्वम् ॥ २७ ॥

[ इति निष्क्रान्तः ] ।

चेष्टी । [ प्रविश्य ] अज्जए । दिट्ठिआ वड्डसि , अज्जचारुदत्तस्स  
सआसादो वरुणो आअदा । ५

५ अर्थः । दिष्ट्या वड्डसे, आद्यचारुदत्तस्य सकाशान् ब्राह्मण आगत ।

जातक्रोवानित्यर्थः, नरेन्द्रभयान्—राजपुरुषान्, उत्तेजयामि—तत्तत्कारणं प्रदर्शयं  
तेषां अन्तः कोपमुद्योपयामि, तान् भेदयामि इति यावत् । पुरा किल उदयनी नाम  
वक्रराज उज्जयिनीपतिना राज्ञा चन्द्रसेनेन कुतश्चित् कारणात् काराया निक्षिप्तः ।  
अद्य तस्मिन्निव योगन्वरायण स्वपुत्रिकौशलेन तस्य राज्ञः प्रकृतिकोपमुत्थाप्य स्वामिनः  
ततो मोक्षयामास इति पौराणिकीकथाऽचानुसन्धेया । अत्र योगन्वरायण-शब्दिल्लक्ष्यो  
राजः आशंक्योऽथ परस्परमवैषम्यमात्मक्यनात् उपमाऽलङ्कारः । वसन्ततिलक  
हस्तम् । २६ ॥

पुनरपि उपाशान्तरमुद्गावयन्नाह, प्रियेति ।—अकारणे—कारणाभावे सत्यपि,  
विना हेतुम् इत्यर्थः, ( केवलविशेषपुरादेः—नेति मन्यन् ), आहिता—स्थापिता,  
आकृति—रुक्मिन् गङ्गा—भयम्, वै, तै, असाधुभिः,—दुःशीलैः, रिपुभिः,—  
शत्रुभिः गृहीत—धनम्, अवहृदमित्यर्थः अत एव राहुमुखे—राहुकवले इत्यर्थः,  
शशाङ्कविश्वम्—इन्द्रनन्दनैव, स्थितः, प्रियसुहृदम्—आर्थिकः, सरभस—सर्वेण यथा  
मतं तथा ( “सर्वसो वरुहस्यो” इति कौटिल्य ) अभिपत्य—गत्वा, रक्षित्वं  
आकृतिरूपं न स्यात्—मुक्तद्वयं करोमीत्यर्थः । अत्र राहुमुखप्रविष्टचन्द्रमण्डल  
न हनेन राज्ञः राहुमुखपरिवर्तनमात्मक्यनात् उपमाऽलङ्कारः ।  
इति वा हस्तम्—“दुजि नदुरिक्को दकारो, दुजि तु नजो जराय  
इति” इति लक्षणात् । २७ ।

वस । अहो । रमणीयदा अज्ज दिवसस्स । ता हज्जे ।  
सादरं बन्धुलेण (क) समं पवेसेहि णं । ५

चेटी । जं अज्जआ आणवेदि । † [ इति निष्क्रान्ता विदूषकवन्धु-  
लाभ्या सह पुनः प्रविशति ] ।

विदू । हो, ही, भोः । तवच्चरणकिलेसविणिज्जिदेण  
रक्खस राआ रावणो पुप्फकेण विमाणेण गच्छटि, अहं  
उण बम्हणो अकिदतवच्चरणकिलेसो वि णअरणारीजणेण (ज)  
गच्छामि । ‡

चेटी । पेक्खदु अज्जो अम्हकेरक गेहदुआरं । §

विदू । [ अवलोक्य सविस्मयम् ] अहो । सलिलमित्तमज्जिद-  
किटहरिदोवलेबणस्स, विविह सुअधिकुसुमोवहार चित्तलिद-

\* अहो । रमणीयता अद्य दिवसस्य । तत् चेटी । सादर बन्धुलेन सम  
प्रवेशयेनेम् ।

† यदार्या आज्ञापयति ।

‡ आश्चर्यं भो । तपश्चरणक्लेशविनिर्जितेन राक्षसराजो रावण पुष्पकेण  
विमानेन गच्छति, अहं पुनर्ब्राह्मणोऽकृततपश्चरणक्लेशोऽपि नगरनारीजनेन गच्छामि ।

§ प्रेक्षतामार्थोऽस्मदीय गेहद्वारम् ।

॥ अहो । सलिलसिक्तमार्जित-कृत-हरितीपलेनस्य, विविधसुगन्धि कुसुमोप-

( क ) अत्र “अज्ज” इत्यत्र “अस्स” इति पाठे “अस्य” इति संस्कृतम्, अत्रमेव  
पाठं साधयान् । बन्धुलेन—“परगृहललिता पराव्रजुष्टा” इति वक्ष्यमाणजननण  
पुरुत्रिगणेषु, ( एतदङ्गताष्टाविंशतिश्लोकादिहिष्टेन ) ।

। ( ज ) तपश्चरणक्लेशविनिर्जितेन—तपश्चरणेन—तपोऽनुष्ठानेन, यः क्लेशः—  
कष्टः, तेन विनिर्जितम्—अधिकृतं, तेन, तपसा लब्धेनेत्यर्थः । पुष्पकेण—पुष्पका-  
ख्येन, विमानेन—स्थिमयानेन, आकाशगमनसाधनेन पुष्पकाल्लखनेत्यर्थः, (“याम  
यानं विमानोऽस्त्री” इत्यमरः ) । नगरनारीजनेन—नगरनारी—माधारणनागरिक-  
भोग्या स्त्रो, वक्ष्या इत्यर्थः, सा एव जनः तेन । अत्र उपमानोभूतात् रावणान् उप-  
मेयोभूतस्य आत्मन उक्कटवक्तव्यतात् यतिरेकालङ्कारी मोडस्य, तत्रनर्णं दपणे,—

यतिरेकः—” इति ।

भूमिभास्त्रस्य, गगनतलालीकनकौतूहलदूरीत्रमित-शीर्षस्य, दीलाय  
नानावलम्बितैरावण हस्तभसायित मल्लिकादामगुणालङ्कृतस्य, समुच्छिददन्तिदन्ततोरणावभासिदस्स, महारजनीव-  
रात्र-सोहिणा पवणवलंदोलणा-ललन्तचञ्चलगहत्येण, “इदो  
एहि” त्ति वाहरन्तेण बिअ म सोहगपडाआणिवहेणोवसोहि-  
दस्स, तोरणधरणत्यंभवेदिआणिकित्त समुल्लसन्तहरिद चूद-  
पल्लव ललाम-फटिअ-मङ्गल कलसाभिरामोहअपास्सस्स, महा-  
सुरवक्खत्यलदुग्धेज्जवज्जणिरन्तरपडिवडकणअकवाडस्स, दुग्धद-  
जणमणोरहाआसकरस्स, वसन्तसेणाभवनदुआरस्स सस्सिरी-  
अदा ? जं सच्च, मज्झत्यस्स वि जणस्स बलादिट्ठिं आआ-  
रेदि । १ (भ)

रारचित भूमिभागस्य, गगनतलालीकनकौतूहलदूरीत्रमित-शीर्षस्य, दीलाय  
नानावलम्बितैरावण हस्तभसायित मल्लिकादामगुणालङ्कृतस्य, समुच्छिददन्तिदन्त  
तोरणावभासितस्य, महारजनीपरागशीभिना पवनवलान्दोलना-ललञ्चललगहत्येन,  
“इत एहि” इति व्याहरतेव सा, सौभाग्यपताका-निवहेनोपशीभितस्य, तोरण-  
धरणसम्भवेदिकामिवित्त समुल्लसद्वरितचूतपल्लव ललाम-फटिक मङ्गलकलसाभिरामो  
भयपार्श्वस्य, महामुरवक्खत्यल-दुग्धेज्जवज्ज-निरन्तरप्रतिवड-कनक कपाटस्य, दुर्गत  
लनमनीरहाआसकरस्य, वसन्तसेनाभवनद्वारस्य सश्रीकता, यत् सत्य, मध्यस्थस्यापि  
जनस्य बलाद दृष्टिमाकारयति ।

( भ ) सलिलेयादि ।—सलिलेन—जलेन, निक्तम्—आर्द्रकृतं, मार्जितं—  
मार्जनीभिः परिकृतम्, अनन्तर, कृत—विहित, हरितोपलेपन—गोमयोपलेप-  
नस्य तादृशस्य, विविधैः, —नानाप्रकारैः, सुगन्धिभिः, —सुरभिभिः, कुसुमोपहारैः,  
—पुष्परचनाभिः, चित्तित्त—नञ्जित, भूमिभाग यस्य तादृशस्य [ “भूमिभा-  
गास्स इति पाठे भूमिभागस्य” इति संस्कृतम् ], गगनतलस्य—आकाशस्य,  
कालीकनाय—दशनाय इवेत्युक्तेना, यत् कौतूहलस्य—आश्चर्य, तेन, इव यथा  
तथा चरन्ति—उल्लिख्य इति—श्रीभाग यस्य तदौहस्य, दीलायमान,—  
रत्नमयस्य अत्र एव अवनन्ति,—अवलम्बित, ऐरावतहस्तभसायित,—  
ऐरावतहस्तभसायित, यत् इति दानद्वारा—नृपिकापुत्रनाला, तेन अलङ्कृतस्य

चेटी । एदु एदु अज्जो । इमं पढमं पओइं पविसदु अज्जो ।\*

विदू । [ प्रविश्यावलीक्य च ] ह्री, ह्री, भोः । इधो वि पढमे  
पओइं ससिसङ्गमुणालसच्छाहाओ, विणिहिद-चुसमुट्टिपाण्डु-  
राओ, विविहरअणपडिवडकञ्चणसोवाणसोहिदाओ, पासोद-  
पन्तिओ, ओलम्बिदमुत्तादामेहि फटिअवादाअणमुहचन्देहि

\* एतु एतु, इमं प्रथम प्रकीर्त प्रविशतु आर्यम् ।

+ आर्यं भो । इहापि प्रथमे प्रकीर्ते शशिगङ्गमुणालसच्छाया, विनिहितचूर्ण  
सुट्टिपाण्डरा., विविधरत्नप्रतिषङ्गकाञ्चनसीपानशोभिता प्रासादपङ्क्तय, अवलम्बित  
—शोभितस्य । समुच्चिनन—समुन्नतन, दन्तिदन्ततारणेन—हस्तिदन्तनिमित्त-  
वह्निशारेण, अवभासितस्य—विराजितस्य । महारजन—कुसुमपुष्प, स्वर्ण वा,  
( “महारजनं कुसुमे स्वर्णे” इति हेमचन्द्र ) तस्य, उपरत्यते अनेनेति उपराग,—  
वर्ण, तेन शोभिना, [ “महारज्योत्स्नासोहिता” इति प्राकृतस्य “महारज्यो-  
त्स्नाशोभिना” इति संस्कृत केचित् पठन्ति ] पवनशलेन—वातवेगेन, या आन्दो-  
लना—इतस्ततः सञ्चालन, तथा ललन्—कम्पमान, चञ्चल य अग्रहस्त,—हस्ताय  
तेन । व्याहरतेष्व—वदतेष्व, सौभाग्याय—सुमङ्गलाय, य पताकाना—ध्वजाना,  
निवह,—समूह, तेन उपशोभितस्य—विराजितस्य, तीरणधरणा—वह्निहारा  
बलम्बनाय, ( “तीरणोऽस्त्री वह्निहारम्” इत्यमर ) ये क्षमा,—स्थूणा, तेषां  
वेदिका,—तलस्थवृद्धप्रदेशा इत्यर्थ, तासु निचिन्ता,—स्थापिता, समुन्नतान्,—  
दीप्यमाना, हरिता,—पलाशवर्णा, हरिद्वर्णा इत्यर्थ, ( “पालाशो हरितो हरित”  
इत्यमर ) ये चूतपत्रा—आसपत्रा, ते ललामा,—भूषणानि येषां, ते तथोक्ता,  
स्फटिका,—स्फटिकनिर्मिता ये मङ्गलकलसा,—माङ्गलिकपूर्णकुम्भा, ते अभिरामं  
—रमणीयम्, उभयपार्श्वे यस्य तथाभूतस्य, महासुरस्य—हिरण्यकशिपो, वन-  
स्थलम्—उरोदेश इव, दुर्भेद्य—भेत्तुमशक्य, वज्रेण—ह्रीरकनिर्मितकीलविशेषेण,  
निरन्तर—निर्विच्छेदं यथा तथा, प्रतिवह—प्रोथित, कनककपाट—स्वर्णमय रत्न,  
( “कपाटमरर तुल्ये” इत्यमर ) यच्च तथोक्तस्य, तथा दुर्गताना—दरिद्राणां जनानां—  
मानवानां, मनोरथस्य—अभिलाषस्य, य आशस,—परिश्रम, तं करोतीति तस्य ।  
सशोकता—सौन्दर्यम् । मध्यस्थस्य—उदासीनस्य, विषयनिष्ठस्येति यावत् । आका-  
रयति—प्राकटयति, आकर्षतीति यावत्, वसन्तमेनाया तीरणशरस्य एतादृशो रम-  
णीयता, या निम्नहाणां विषयोपरतानामपि दृष्टि बलपूर्वकम् आकर्षतीति भावः ।

णिज्जाअन्ती विअ उज्जइणि । सोत्तिओ विअ सुहोवविट्ठो  
णिहाअदि दोवारिओ । सदहिणा कलमीदणेण पलोडिदा  
ण भक्खन्ति वायसा बलिं सुधासवस्सदाए । (ज) आदिसदु  
भोदी । १

चेटी । एदु एदु अज्जो । इमं दुदिअं पओठं पविसदु  
अज्जो । ३

विट्ठ । [ प्रविश्यावलोक्य च ] ह्री, ह्री, भोः । इधो वि दुदिए  
पओठे पज्जन्तोवणीदजवसवुसकवलसुपुट्ठा तैल्लव्वभङ्गिदविसाणा  
वड्ढा पवहणवड्ढा । अअ अस्सदरो अवमाणिदो विअ कुलोणो  
दीहं णीससदि सेरिहो । इदो अ अवणीदजुज्झस्स मल्लस्स

सुहादानभि स्फटिकवातायन सुखचन्द्रेर्निधायनीव उज्जयिनीम् । योविय इव  
सुखोपविष्टो निद्राति दौवारिक । सदभा कलमीदनेन प्रलोभिता न भचयन्ति  
वायसा बलि सुधासवर्यतया । आदिशतु भवती ।

१ एतु एतु आद्य । इत द्वितीय प्रकीर्त प्रविशतु आद्य ।

३ आद्यं भो । इहापि द्वितीये प्रकीर्ते पयन्तीपनीन यवस वुप कवल  
सुपुट्ठा, तैल्लव्वभविषाणा वड्ढा प्रवहणवलीवदा । अयमन्यतरोऽवमानित

( ज ) इतीत्यादि ।—इति, —चन्द्र, इहम्—तन्नामप्रसिद्धशुभद्रव्यम्,  
नल्लम्—विस्म, च समाना, छाया—कान्ति यासा ता, [ “समानम्—”  
( ६।१८४ पा० ) इति सूत्रे समानस्येति योगविभागेन सूत्रादिश । “छाया सूर्यप्रिया  
कान्ति प्रतिबिम्बमनातपे” इत्यमर ] विनिहिता,—अर्पिता, लिप्ता इत्यर्थः, ये  
चूर्णमुच्य —सुष्टिपरिनिता चूर्णा, तै पाण्डुरा,—शुभवर्णा । निधायन्ति  
इव—निरील्ले इव, [ निपुचकस्स आदितेदर्शनायकत्वात् ] । योविय,—छान्दस,  
वेदनिष्ठ ब्राह्मण इत्यर्थः । सदभा—दधिभुक्तेन । कलम्प—धान्यविशेषः, यत्  
कोदन्तम्—कलम्प [ “कलमीदने” इत्यत्र “कलमीदने” इति पाठे,—“कल  
न दने” इति मल्लम् तेन । इति —निवेदितम्, तम् । सुधासवर्यतया—  
चूर्णनान्वयतया । इह इत्यन्वयतयासायाव बलिपु वायसाना चूर्णमनां कान्ति  
व वन्दयन् ।

विअ महीअदि गीवा मेसस्स । इदो इदो अवराणं अस्साणं  
केसकप्पणा करौअदि । अअं अवरो पाडच्चरो विअ टिटवडो  
मन्दुराए साहामिओ । (ट) [ अन्यतोऽवलोक्य च ] इदो अ कूरच्चुअ-  
तेल्लमिस्सं पिण्डं हत्थी पडिच्छावीअदि मेल्लपुरिसेहिं । (ठ)  
आदिसदु भोदी । §

इष कुलीनो दीर्घं निश्चिति सैरिभ । इतथ अपनौतयुद्धस्य मल्लस्येव मर्यते ग्रीवा  
मेपस्य । इत इतोऽपरिपाम् अश्वानां केशकल्पना क्रियते । अयमपर पाटच्चर  
इव दृढवडो मन्दुराया शाखास्य । इतथ कूरच्युततैलमिथ पिण्ड इमां प्रति  
यास्यते मावपुरुषे । आदिशतु भवती ।

( ट ) पथ्यन्तेत्यादि ।—पथ्यन्तेषु—प्रान्तसीमासु, उपनौतानि—पुञ्जीकृतानि,  
थानि यवसानि—दणानि, तथा वुषाणि—धान्यत्वच, ( “यवस दणमर्जुनम्” इति  
“कडङ्गरो वुष क्खीवे धान्यत्वचि पुमास्तुष ” इति चामर ) तपां कवलै,—यासं,  
मुपुष्ठा,—मुखेन वड्ढिता, स्थूलदेहा इत्यथ, तैलिन—स्नेहपदार्थेन, अभ्यक्तानि—  
लितानि, विषाणानि—शृङ्गाणि येषां ते, प्रवहणस्य—रथविर्गपस्य, ( चालनार्थं )  
बलीवद्दां,—पुङ्गवविर्गपा । अन्यतर,—द्वयोर्मध्ये एक, कुलीन,—सत्कुलीत्यत्र  
पुरुष, पचे,—कौ—पृथिव्या, लीन,—निषण इत्यथ । सैरिभ,—महिष । निश्च  
सिति—निश्चासत्याग्निं दुःखं प्रकाशयति, गवा यददर्शनात् दृश्यंयवेति भावः ।  
केशकल्पना—केशानां—शीवावर्तिनां लोम्हा, कल्पना—रचना, सज्जना इत्यथ,  
( “कल्पना सज्जना समे” इत्यमर ) । पाटच्चर,—तस्कर, ( “प्रतिस्पडिपगास्कादि  
पाटच्चरमलिस्तुचा ” इत्यमर ) । मन्दुरायां—अश्वशालायां, ( “वाजिशाला तु  
मन्दुरा” इत्यमर ) । शाखास्य,—वानर । ( अश्वशालायां वानरावस्थितौ अश्वानां  
रोगनाशो भवतीति अश्वशालोक्ते ) ।

( ठ ) कूरच्युततैलमिथ—कूरात्—द्रव्यविशेषात्, च्युत—निष्कृत, यत् तैल—  
स्नेहपदार्थ, तेन मिथ—युक्तं, पिण्डम्—अन्न, कूरो भक्तम् इति हलायुध तस्माच्च्युत  
—च्यवनयोग्य यत् तैल तन्मिथ पिण्डम्, अधिकतैलमिश्रितभक्तपिण्डमित्यथ इति  
कस्यचिद्वाव्यानम्, लज्जादौचित्यस्तु तैलशब्दोऽथ घृतपरत्वेन मन्यते । [ “कूरचुअ”  
इत्येव “कूरत्थिअ” इति पाठान्तरे,—“कूरास्थिज” इति “कुलत्थन” इति वा  
संस्कृतम् ] मावपुरुषे,—महामावपुरुषे, हस्तिपक्षाधिपैरित्यथ, मादशब्दात्  
महामाववाक्का, ( “महामाव समुद्धे चामाल्ये हस्तिपक्षाधिपे” इति मेदिनी ) ।

चेटी । एदु एदु अज्जो । इम तइअ पओइं पविसदु  
अज्जो । ३५

विद् । [ प्रविश्य दृष्ट्वा च ] । ह्री, ह्री, भोः । इधो वि तइए  
पओइे इमाइं दाव कुलउत्त जणोववेसण-णिमित्तं विरचिटाइ  
आसणाइं । अइवाचिदो पासअपीठे चिइइ पोत्यओ । एसो  
अ मणिसअ-सारिआ सहिदो पासअपोठो । इमे अ अवरे  
मअणसन्धिविगह चदुरा विविह-वस्मिआविलित्त-चित्तफल-  
अगहत्या (ड) इदो तदो परिब्भमंति गणिआ बुडुबिडा अ ।  
आदिसदु भोदी । १

चेटी । एदु एदु अज्जो । इम चउइं पओइं पविसदु  
अज्जो । ३६

\* एतु एतु आय्य । इम ततोय प्रकोष्ठ प्रविशतु आय्य ।

+ आय्यं भो । इहापि ततोये प्रकोष्ठे इमानि तावत् कुलपुवज्जनोपवेशन-  
निमित्तं विरचितानि आसनानि । अइवाचित पाशकपीठे तिष्ठति पुस्तकम् । एतच्च  
मणिसयसारिकासहित पाशकपीठम् । इमे च अपरे मदनसन्धि-विगह चतुरा विविध-  
वर्णिका विलित-चित्तफलकाग्रहणा इत्युक्तं परिभ्रमन्ति गणिका इहविटाय ।  
आदिशतु भवती ।

‡ एतु एतु आय्य । इम चतुर्थे प्रकोष्ठ प्रविशतु आय्यं ।

( ड ) अहंत्यादि ।—अइवाचितम्—अइपठितम् । पाशकपीठे—पाशकपीठ  
वत् विचिते आसनाविशेषे । पुस्तक—ग्रन्थ, कामशास्त्रस्येति अथतः प्राप्तम् । मणि-  
सयसारिकासहित—मणिनिर्मितपाशककोटोपयोगिगुटिकायुक्त, [ “एसो अ मणि  
सय इत्यत्र साहोएसणिसय” इति पाठान्तरं,—“स्वाधीनमणिसय” इति  
रुद्धतम् । अस्मिन् पदे,—स्वाधीन—स्वतन्त्रम्, अकस्मिमिति यावत् ] पाशक  
पीठ—पाशकम्—क्रीडाविशेषसाधनम्, पीठम्—आसनं, स्थानमित्यत्र । मदन्त्य  
—कामस्य । सन्धि—सन्धेय, विगह,—कलहय, तयो चतुरा,—निपुणा ।  
विविधान्,—नानाप्रकाराभिः, वस्त्राणि—वस्त्रं, विलित्त,—विप्रेर निद्र  
सिन्धुनिद्रावत् इत वि=कलकम्—कलकान्तरं, तत् अग्रहणे—हन्त्यादिद्वारा  
रक्तं वा तदग्रहणम् ।



विद् । [ प्रविश्यावलोक्य च ] । ह्री, ह्री, भोः । इधो वि चउठे  
पओठे जुवदिकर-ताडिदा जलधरा विअ गम्भीरं गदन्ति  
सुदङ्गा, ह्रीणपुस्साओ विअ गअणादो तारआओ णिवडंति  
कंसतालआ, महुअर-बिरुअ-महुरं वज्जदि वंसो । इअ अवरा  
ईसाप्पणअ-कुविद-कामिणी विअ अंकारोविदा कररुह परा-  
मरिसेण सारिज्जदि वीणा । इमाओ अवराओ कुसुम-रस-  
मत्ताओ विअ महुअरिओ अदिमहुर पगीदाओ गणिआ-  
दारिआओ णच्चीअन्ति, णट्ठअं पठीअन्ति, ससिंगारओ ओव-  
ग्गिदा । गवक्खेसु वादं गेह्णन्ति सलिलगगरीओ । (ठ) आदि-  
सदु भोदी । \*

\* आश्चर्यं भो । इहापि चतुर्थे प्रकीर्ते युवतिकरताडिता जलधरा इव गम्भीरं  
नदन्ति सुदङ्गा , ह्रीणपुस्सा इव गगनात् तारका निपतन्ति कांस्यताला , मधुकर-  
विरुतमधुरं वाद्यते वश । इयमपरा ईर्ष्याप्रणय-कुपितकामिनीव अङ्गारोपिता कर  
रुहपरामर्शेन सार्यते वीणा । इमा अपराय कुसुमरसमसा इव मधुकर्ष्याऽस्तिमधुरं  
प्रगीता गणिका-दारिका नृत्यन्ते , नाट्य पाठयन्ते समङ्गारा अपवलिता । गवाक्षेषु  
वात गृह्णन्ति सलिलगर्ग्यं । आदिशतु भवती ।

( ठ ) युवतिकरताडिता,—तरुणौकराडिता । सुदङ्गा,—वाद्यमेदा ।  
ह्रीणपुस्सा,—उपमुक्तमुक्ततपरिपाका । कांस्यताला,—कांस्यनिश्चितवाद्यमेदा,  
“करताल” इति प्रसिद्धा , ( न च तालशब्देनैव कांस्यवाद्ययन्त्रभेदबोधनात् पुनः  
कांस्यपदप्रयोगे व्यर्थ इति वाच्य, अवणकुण्डलादिशब्दवत् विशेषार्थप्रतिपत्तेरावश्यक-  
त्वात् , तेन चात्र तादृशवाद्यभेदस्य कास्यातिरिक्तधात्वनिश्चितत्वरूपविशेषबोध इति न  
कश्चित् विरोध ) मर्त्या हि उपचितपुस्खवलेन स्वर्लोक्तमुपेता गगने ताराकारेण  
प्रतिभासन्ते, भोगात् ह्रीणे पुख्ये पुनर्भुवि निपतन्तीति प्रसिद्धिः , तथा च, तादृशा  
तारका यथा अन्तरान्तरा पतन्ति, तथा अन्येष्वपि वाद्यध्वनिषु सक्तु यथाकालं  
मन्तरान्तरा कांस्यताला अपि पतन्ति शब्दमुत्पादयन्तीति समुदिताय । मधुकरविरुत-  
मधुर—मधुकराणाम्—अलिनां, विरुतमिव—भङ्गारवत्, मधुर—सुमिष्ट, श्रुतिमुष्ट  
कर यथा स्यात् तथेत्यर्थः । अङ्गारोपिता—क्रोडनिहिता । कररुहपरामर्शेन—  
अनुनिसम्पर्शेन । सार्यते—संस्क्रियते, वाद्यते इति यावत् । कुसुमरसमसा,—

चेटी । एदु एदु अज्जो । इमं पञ्चमं पञ्चोष्ठ पविसदु अज्जो ।  
विदू । [ प्रविश्य दृष्टा च ] ह्री, ह्री, भोः । इधो वि पञ्चमे  
पञ्चोष्ठे अत्र दलिदजन-लोहृप्पादनअरो आहरइ उवचिदो  
हिगुतेल्लगन्धो । विविह-सुरहि-धूमुगरेहि णिच्च सन्ताविज्ज-  
माणं णोससदि विअ महाणस दुआरमुहेहिं । अधिअ उसुमा-  
वेदि म साहिज्जमाण बहुविह भक्ख भोअण-गधो । अअ अवरो  
पडच्चर विअ हदपहदलपोट्ठिं धोअदि रूपिदारओ । बहुविहा-  
हारविआर उवसाहेदि सूवआरो । वज्झन्ति मोदआ, पच्चति  
अ पूवआ । (ण) [ आत्मगतम् ] अवि दाणिं इह बड्डिअ भुज्जसु

\* एतु एतु आय्य । इम पञ्चम प्रकोष्ठ प्रविशतु आर्य्य ।

+ आय्ये, भो । इहापि पञ्चमे प्रकोष्ठे अय दरिद्रजनलोभोत्पादनकर  
आहरत्युपचितो हिङ्गुसैलगन्ध । विविधसुरभिधूमोद्गारै नित्य सन्तप्यमान निश्चितोव  
महानस द्वारमुखै । अधिकसुलुकयति सा साध्यमान बहुविध भक्ष्यभोजनगन्ध ।  
अयमपर पटञ्चरमिव हतपशुदरपेशि धावति रूपिदारक । बहुविधाहारविकार  
सुपसाधयति सुपकार । वध्यन्ते मोदका, पच्यन्ते च पूषका । अपि इदानीमिह

सुमनोमकरन्दपानोद्भान्ता । अतिमधुर—अतिगन्धश्रुतिमुखावहन् । प्रगीता,—  
प्रकर्षेण गानपरा इत्यर्थ । गणिकादारिका,—वेष्ट्याकुमार्य्ये । नच्यन्ते—नृत्य  
काव्यन्ते, नाट्याचार्य्यैरिति शेष, एव पाठ्यन्ते इत्येवापि बोध्यम् । नाट्यो—नाट्य-  
शान्दम् । समझारा —आदिरसरसिका, नाट्यरसविगपवेदिन्य इति यावत्,  
[ “सझार सुरते नाट्योसि च गजमण्डपे” इति मेदिनी । नाट्यरसस्य लक्षणमप्युद्ध-  
रितम् अमरटीकाकृता भरतेन प्रधा,—“पुन म्रिया म्रिया पुसि म्रयोग प्रति या  
स्ये । न सझार इति ख्याती रतिक्रीडादिकारणम् ॥” इति, यथा—समझारा,  
—वज्जन्तविविधारिण्य ‘सझार पुचिहज्जन्त’ इत्यन्तर । ] अपवन्तिता,—रति-  
विषयता । नृपसकम्पनीहरइविचिदविजिष्टा इति यावत् । सुलिलगर्भ्य्ये,—  
ललण्ये - विविधा सुदुक्का इति यावत् ( “हुंजी” इति भाषा ) रवाक्षिपु—  
हस्त प्रक्षेप । एत रवन्ति—नक्षत्रं निरन्तरान्तरा गीतमन्त्रदानाद रवाक्षिपु नक्ष-  
पित स्व गीतमन्त्रोदरसम्प्रेषण स्वयं जल गीतमन्त्रंति यावत् ।

( ८ इति हि —दरिद्रजन —दरिद्रजन —, दीनोत्पादनकर,—

त्ति पादोदग्र ( त ) लङ्गिस्सं ? [ अयतोऽवलोक्य च ] इदो  
गन्धर्वसुरगणेहिं विअ विविहालङ्कारसोहिटेहि गणिआ-  
जणेहि बन्धुलेहिं अ ज सच्च संगीअटि ( थ ) एदं गेहं । भो ।  
के तुम्हे बन्धुला णाम ? ॥

वर्द्धित भुङ्क्ष इति पादोदक लप्से ? इह गन्धर्वसुरगणैरिव विविहालङ्कारशोभितै  
गणिकाजनै बन्धुलैश्च यत् सत्य स्वर्गायने इदं गेहम् । भो । के दृश्य बन्धुला नाम ?

लालसोद्दीपक , सततमुमुक्षाऽननसन्तप्ता दरिद्रा एव सुमधुरसौरभाग्राणन नूनमेव  
लोभपरवशा, भवन्तीति भाव । आहरति—आ—समन्तात्, हरति—वहति, उद-  
गच्छतीत्यर्थः । उपचित ,—वर्द्धित । महानस—पाकस्थान, रन्ध्रनगाला इत्यर्थः,  
( “रसत्रयान्तु पाकस्थानमहानसे” इत्यमर ) चुञ्जी वा । विविधसुरभिधूमोद्धारै,—  
नानाप्रकारसुगन्धधूमोद्धारणै, अस्मिन् च निश्चसनीत्येवमेव हेतुर्वाच्यः । उत्सुकयति—  
सदृशं करातीत्यर्थः, [ “उत्सुकयते” इत्यपपाठ ] । सञ्चमानानां—पच्यमानानां,  
बहुविधानाम्—अनेकप्रकाराणां, भक्ष्याणां—चक्ष्याणां, भोजनानां—खाद्यानां,  
व्यञ्जनादीनामिति यावत् [ भुज्यते अनेनेति व्युत्पत्त्या करणल्युटा निष्पन्न अयं भोजन  
शब्द व्यञ्जनादिवचन इति न भक्ष्यपदेन पौनःपुन्यमिति बाध्यम् ] गन्ध,—आमोद ।  
पटञ्चर—जीर्णवस्त्र, ( “पटञ्चर जीर्णवस्त्रम्” इत्यमर ) । हतपशूदरपेशि—हरानां—  
भोजनार्थं मारितानां, पशूनां—जन्तूनां, ह्यागादीनामिति यावत्, उदरपेशिम्—  
उदरस्थदोषाकृतिकोमलनसविशेषम् । धावति—प्रचानयति । रूपिदारक,—रूपं—  
पशु, ( “रूपं स्वभावे सौन्दर्ये नामगे पशुशब्दो” इति मदिनी ) तदुपगमात् रूपो—  
वैयसिक, मांस वक्रयोत्यर्थः, तय दारक,—वालक, मांसिकतनय इत्यर्थः, अथवा  
—रूपिण—प्राणिन, पशुसमूहमिति यावत्, दारयति—विदारयति, क्षिण्णीति  
यावत्, पशुव्रातक इत्यर्थः, यडा,—रूपी—रूपवान्, सुन्दर इत्यर्थः, दारक,—  
वालक । बहुविधानाम्—अनेकप्रकाराणाम्, आहाराणां—भक्षणीयानां, विकार,  
—विविधं करण, विविधानि आहाय्यवस्तूनि इत्यर्थः । उपसधयति—सम्पादयति ।  
सूपकार,—राचक । सादका,—मिष्टान्नविशेषा, “मीना” इति भाषा । पुपका,  
—पिटकानि ।

( त ) वर्द्धित—वर्द्धयुक्त, यथेष्टमित्यर्थः, व्यञ्जनादिनानाविधोपकरणोपचितम्  
इति यावत् । पादोदक—पादप्रचालनार्थं जलम् ।

( थ ) स्वर्गायते—स्वर्गवत् आचरति ।

बन्धुला । वयं खलु,—

परगृहललिता, परान्नपुष्टाः,

परपुरुषैर्जनिता. पराङ्गनासु ।

परधननिरता गुणेष्ववाच्या

गजकलभा इव बन्धुला ललामः ॥ २८ ॥

विदू । आदिमदु भोदी । ॥

चेटी । एदु एदु अज्जो । इमं क्खं पओइ पविसदु अज्जो । ॥

विदू । [ प्रविश्यावलोक्य च ] ह्री, ह्री, भो. । इधो वि क्खे  
पओइ अमु दाव सुवस्सरअण्णाण कम्मतोरणाइ गीलरअण-  
विणिक्खित्ताइ इन्दाउहट्ठाण विअ दरिसअन्ति, वेदुरिअ-  
मोत्तिअपवालअ पुप्फराअ इन्दगील-कक्केतरअ पउमराअ-मर-

० आदिशतु भवती ।

+ एतु एतु आर्य्य । इमं पठ प्रकीष्टं प्रविशतु आर्य्य ।

† आर्य्य, भो । इहापि पठे प्रकीष्टे अस्मिन् तावत् सुवर्णरत्नानां कर्म-  
तोरणानि नीलरत्नविनिर्मितानि इन्द्राद्यधम्यानमिव दर्शयन्ति, वेदुर्य्य मौक्तिक-

के दूयमिति । जज्ञामिता बन्धुला स्वेषा स्वरूपं प्रकटयन् आहुः, परगृहनात ।—  
परगृह—परस्वान्तिकमवस, ललितम्—दंष्ट्रितं येषां ते, परावसथवासनिरता इत्यर्थः,  
पराङ्गनासु—परेषां—इत्येषां, अन्नेन—भक्ष्यद्रव्येणेत्यत्र, पुष्टा,—प्रतिपालिता,  
पराङ्गमाजिन इति यावत्, तथा पराङ्गनासु—परकीयासु स्त्रीषु, परपुरुषैः,—परै-  
रित्यर्थः, जनिता,—उत्पादिता, परधननिरता,—पराधीनजीविनः, तथा गुणेषु—  
दागदालाद्यदिषु, अवस्था,—अवचनीया वागगोचरगुणा इत्यर्थः, निर्गुणा इति  
यावत् बन्धुला,—उक्तवत्तया असतोपुत्ता, वयमिति गद्यस्थेनावयः, गजकलभा,  
—हस्तिगण्डका इव, ललामः,—विहरान्, गजकलभा यथा राजमन्दिरं अलम्बन्त्य  
विहरन्ति तथा वयमपि अत्र सुवनं निठान इति भावः । [ लब्धातोऽशौगादिकत्वात्  
ललाम इति पदं विहितम् । बन्धुल्लु “लङ्घित्वा” इत्यस्य भौवादिकस्य लङ्घातो  
१. २. ३. ४. ५. ६. ७. ८. ९. १०. ११. १२. १३. १४. १५. १६. १७. १८. १९. २०. २१. २२. २३. २४. २५. २६. २७. २८. २९. ३०. ३१. ३२. ३३. ३४. ३५. ३६. ३७. ३८. ३९. ४०. ४१. ४२. ४३. ४४. ४५. ४६. ४७. ४८. ४९. ५०. ५१. ५२. ५३. ५४. ५५. ५६. ५७. ५८. ५९. ६०. ६१. ६२. ६३. ६४. ६५. ६६. ६७. ६८. ६९. ७०. ७१. ७२. ७३. ७४. ७५. ७६. ७७. ७८. ७९. ८०. ८१. ८२. ८३. ८४. ८५. ८६. ८७. ८८. ८९. ९०. ९१. ९२. ९३. ९४. ९५. ९६. ९७. ९८. ९९. १००. १०१. १०२. १०३. १०४. १०५. १०६. १०७. १०८. १०९. ११०. १११. ११२. ११३. ११४. ११५. ११६. ११७. ११८. ११९. १२०. १२१. १२२. १२३. १२४. १२५. १२६. १२७. १२८. १२९. १३०. १३१. १३२. १३३. १३४. १३५. १३६. १३७. १३८. १३९. १४०. १४१. १४२. १४३. १४४. १४५. १४६. १४७. १४८. १४९. १५०. १५१. १५२. १५३. १५४. १५५. १५६. १५७. १५८. १५९. १६०. १६१. १६२. १६३. १६४. १६५. १६६. १६७. १६८. १६९. १७०. १७१. १७२. १७३. १७४. १७५. १७६. १७७. १७८. १७९. १८०. १८१. १८२. १८३. १८४. १८५. १८६. १८७. १८८. १८९. १९०. १९१. १९२. १९३. १९४. १९५. १९६. १९७. १९८. १९९. २००. २०१. २०२. २०३. २०४. २०५. २०६. २०७. २०८. २०९. २१०. २११. २१२. २१३. २१४. २१५. २१६. २१७. २१८. २१९. २२०. २२१. २२२. २२३. २२४. २२५. २२६. २२७. २२८. २२९. २३०. २३१. २३२. २३३. २३४. २३५. २३६. २३७. २३८. २३९. २४०. २४१. २४२. २४३. २४४. २४५. २४६. २४७. २४८. २४९. २५०. २५१. २५२. २५३. २५४. २५५. २५६. २५७. २५८. २५९. २६०. २६१. २६२. २६३. २६४. २६५. २६६. २६७. २६८. २६९. २७०. २७१. २७२. २७३. २७४. २७५. २७६. २७७. २७८. २७९. २८०. २८१. २८२. २८३. २८४. २८५. २८६. २८७. २८८. २८९. २९०. २९१. २९२. २९३. २९४. २९५. २९६. २९७. २९८. २९९. ३००. ३०१. ३०२. ३०३. ३०४. ३०५. ३०६. ३०७. ३०८. ३०९. ३१०. ३११. ३१२. ३१३. ३१४. ३१५. ३१६. ३१७. ३१८. ३१९. ३२०. ३२१. ३२२. ३२३. ३२४. ३२५. ३२६. ३२७. ३२८. ३२९. ३३०. ३३१. ३३२. ३३३. ३३४. ३३५. ३३६. ३३७. ३३८. ३३९. ३४०. ३४१. ३४२. ३४३. ३४४. ३४५. ३४६. ३४७. ३४८. ३४९. ३५०. ३५१. ३५२. ३५३. ३५४. ३५५. ३५६. ३५७. ३५८. ३५९. ३६०. ३६१. ३६२. ३६३. ३६४. ३६५. ३६६. ३६७. ३६८. ३६९. ३७०. ३७१. ३७२. ३७३. ३७४. ३७५. ३७६. ३७७. ३७८. ३७९. ३८०. ३८१. ३८२. ३८३. ३८४. ३८५. ३८६. ३८७. ३८८. ३८९. ३९०. ३९१. ३९२. ३९३. ३९४. ३९५. ३९६. ३९७. ३९८. ३९९. ४००. ४०१. ४०२. ४०३. ४०४. ४०५. ४०६. ४०७. ४०८. ४०९. ४१०. ४११. ४१२. ४१३. ४१४. ४१५. ४१६. ४१७. ४१८. ४१९. ४२०. ४२१. ४२२. ४२३. ४२४. ४२५. ४२६. ४२७. ४२८. ४२९. ४३०. ४३१. ४३२. ४३३. ४३४. ४३५. ४३६. ४३७. ४३८. ४३९. ४४०. ४४१. ४४२. ४४३. ४४४. ४४५. ४४६. ४४७. ४४८. ४४९. ४५०. ४५१. ४५२. ४५३. ४५४. ४५५. ४५६. ४५७. ४५८. ४५९. ४६०. ४६१. ४६२. ४६३. ४६४. ४६५. ४६६. ४६७. ४६८. ४६९. ४७०. ४७१. ४७२. ४७३. ४७४. ४७५. ४७६. ४७७. ४७८. ४७९. ४८०. ४८१. ४८२. ४८३. ४८४. ४८५. ४८६. ४८७. ४८८. ४८९. ४९०. ४९१. ४९२. ४९३. ४९४. ४९५. ४९६. ४९७. ४९८. ४९९. ५००. ५०१. ५०२. ५०३. ५०४. ५०५. ५०६. ५०७. ५०८. ५०९. ५१०. ५११. ५१२. ५१३. ५१४. ५१५. ५१६. ५१७. ५१८. ५१९. ५२०. ५२१. ५२२. ५२३. ५२४. ५२५. ५२६. ५२७. ५२८. ५२९. ५३०. ५३१. ५३२. ५३३. ५३४. ५३५. ५३६. ५३७. ५३८. ५३९. ५४०. ५४१. ५४२. ५४३. ५४४. ५४५. ५४६. ५४७. ५४८. ५४९. ५५०. ५५१. ५५२. ५५३. ५५४. ५५५. ५५६. ५५७. ५५८. ५५९. ५६०. ५६१. ५६२. ५६३. ५६४. ५६५. ५६६. ५६७. ५६८. ५६९. ५७०. ५७१. ५७२. ५७३. ५७४. ५७५. ५७६. ५७७. ५७८. ५७९. ५८०. ५८१. ५८२. ५८३. ५८४. ५८५. ५८६. ५८७. ५८८. ५८९. ५९०. ५९१. ५९२. ५९३. ५९४. ५९५. ५९६. ५९७. ५९८. ५९९. ६००. ६०१. ६०२. ६०३. ६०४. ६०५. ६०६. ६०७. ६०८. ६०९. ६१०. ६११. ६१२. ६१३. ६१४. ६१५. ६१६. ६१७. ६१८. ६१९. ६२०. ६२१. ६२२. ६२३. ६२४. ६२५. ६२६. ६२७. ६२८. ६२९. ६३०. ६३१. ६३२. ६३३. ६३४. ६३५. ६३६. ६३७. ६३८. ६३९. ६४०. ६४१. ६४२. ६४३. ६४४. ६४५. ६४६. ६४७. ६४८. ६४९. ६५०. ६५१. ६५२. ६५३. ६५४. ६५५. ६५६. ६५७. ६५८. ६५९. ६६०. ६६१. ६६२. ६६३. ६६४. ६६५. ६६६. ६६७. ६६८. ६६९. ६७०. ६७१. ६७२. ६७३. ६७४. ६७५. ६७६. ६७७. ६७८. ६७९. ६८०. ६८१. ६८२. ६८३. ६८४. ६८५. ६८६. ६८७. ६८८. ६८९. ६९०. ६९१. ६९२. ६९३. ६९४. ६९५. ६९६. ६९७. ६९८. ६९९. ७००. ७०१. ७०२. ७०३. ७०४. ७०५. ७०६. ७०७. ७०८. ७०९. ७१०. ७११. ७१२. ७१३. ७१४. ७१५. ७१६. ७१७. ७१८. ७१९. ७२०. ७२१. ७२२. ७२३. ७२४. ७२५. ७२६. ७२७. ७२८. ७२९. ७३०. ७३१. ७३२. ७३३. ७३४. ७३५. ७३६. ७३७. ७३८. ७३९. ७४०. ७४१. ७४२. ७४३. ७४४. ७४५. ७४६. ७४७. ७४८. ७४९. ७५०. ७५१. ७५२. ७५३. ७५४. ७५५. ७५६. ७५७. ७५८. ७५९. ७६०. ७६१. ७६२. ७६३. ७६४. ७६५. ७६६. ७६७. ७६८. ७६९. ७७०. ७७१. ७७२. ७७३. ७७४. ७७५. ७७६. ७७७. ७७८. ७७९. ७८०. ७८१. ७८२. ७८३. ७८४. ७८५. ७८६. ७८७. ७८८. ७८९. ७९०. ७९१. ७९२. ७९३. ७९४. ७९५. ७९६. ७९७. ७९८. ७९९. ८००. ८०१. ८०२. ८०३. ८०४. ८०५. ८०६. ८०७. ८०८. ८०९. ८१०. ८११. ८१२. ८१३. ८१४. ८१५. ८१६. ८१७. ८१८. ८१९. ८२०. ८२१. ८२२. ८२३. ८२४. ८२५. ८२६. ८२७. ८२८. ८२९. ८३०. ८३१. ८३२. ८३३. ८३४. ८३५. ८३६. ८३७. ८३८. ८३९. ८४०. ८४१. ८४२. ८४३. ८४४. ८४५. ८४६. ८४७. ८४८. ८४९. ८५०. ८५१. ८५२. ८५३. ८५४. ८५५. ८५६. ८५७. ८५८. ८५९. ८६०. ८६१. ८६२. ८६३. ८६४. ८६५. ८६६. ८६७. ८६८. ८६९. ८७०. ८७१. ८७२. ८७३. ८७४. ८७५. ८७६. ८७७. ८७८. ८७९. ८८०. ८८१. ८८२. ८८३. ८८४. ८८५. ८८६. ८८७. ८८८. ८८९. ८९०. ८९१. ८९२. ८९३. ८९४. ८९५. ८९६. ८९७. ८९८. ८९९. ९००. ९०१. ९०२. ९०३. ९०४. ९०५. ९०६. ९०७. ९०८. ९०९. ९१०. ९११. ९१२. ९१३. ९१४. ९१५. ९१६. ९१७. ९१८. ९१९. ९२०. ९२१. ९२२. ९२३. ९२४. ९२५. ९२६. ९२७. ९२८. ९२९. ९३०. ९३१. ९३२. ९३३. ९३४. ९३५. ९३६. ९३७. ९३८. ९३९. ९४०. ९४१. ९४२. ९४३. ९४४. ९४५. ९४६. ९४७. ९४८. ९४९. ९५०. ९५१. ९५२. ९५३. ९५४. ९५५. ९५६. ९५७. ९५८. ९५९. ९६०. ९६१. ९६२. ९६३. ९६४. ९६५. ९६६. ९६७. ९६८. ९६९. ९७०. ९७१. ९७२. ९७३. ९७४. ९७५. ९७६. ९७७. ९७८. ९७९. ९८०. ९८१. ९८२. ९८३. ९८४. ९८५. ९८६. ९८७. ९८८. ९८९. ९९०. ९९१. ९९२. ९९३. ९९४. ९९५. ९९६. ९९७. ९९८. ९९९. १०००. ] दुष्टिनादा हतम् ॥ २८ ॥

गञ्ज-पहुदिआइं रञ्जणविसेसाइ अणोस विचारिन्ति सिप्पिणो,  
 वज्झन्ति जादरूवेहिं माणिकाइ, घडिज्जन्ति सुवस्सालङ्कारा  
 रत्तसुत्तेण, गत्थीअन्ति मोत्तिआभरणाइं, घसीअन्ति धीर  
 वेदुरिआइं, छेदीअन्ति सङ्गआ, साण्णिज्जन्ति पवालआ, सुक्ख-  
 विअन्ति ओलबिदकुड्डुमपत्थरा, सालीअदि सल्लज्जअ, विसे-  
 सेण विस्सदि चदणरमो, संजोईअन्ति गन्धजुत्तीओ, दौअदि  
 गणिआ कामुकाण सकप्पूर ताम्बूल, अवलोईअदि सकडक्खअ,  
 पअइदि हासो, पिवीअदि अ अणवरअ ससिक्कार मदरा ।  
 इमे चेडा, इमा चेडिआओ, इमे अवर अवधीरिद पुत्तदार-  
 वित्ता मणुस्सा करआ-सहिद-पीदमदिरेहि गणिआ-जणेहिं  
 जे मुक्का ते पिअन्ति । (द) आदिसदु भोदी । ‡

प्रवालक पुष्परागेन्द्रनील कर्कतरक पद्मराग मरकतप्रभृतीन् रत्नविशेषान् अन्यो-  
 ऽन्यं विचारयन्ति शिल्पिन, वध्यन्ते जातरूपैर्माणिक्यानि, घट्यन्ते सुवर्णालङ्कारा  
 रत्नसूत्रेण, यध्यन्ते मौक्तिकाभरणानि, घट्यन्ते धीर वैदूर्याणि, क्लियन्ते शङ्खा,  
 शाण्ड्यन्ते प्रवालकाः, शीयन्ते अवलीपितकुड्डुमप्रस्तरा, सार्यन्ते कस्तुरिका विशेषेण  
 घट्यन्ते चन्दनरसः, सधीन्यन्ते गन्धयुक्तयः, दीयन्ते गणिका कामुकर्षा सकप्पूर  
 ताम्बूलम्, अवलोक्यन्ते सकटाक्ष, प्रवर्तन्ते हासः, पीयन्ते च अनवरतं समीक्षार  
 मदिरा । इमे चेडाः, इमायेटिकाः, इमे अपरे अवधीरितपुवदारवित्ता मनुष्या  
 वारका-सहित पीत मदिरैर्गणिकाजनैर्ये मुक्ता ते पिबन्ति । आदिशतं भवती ।

( द ) कश्चेति ।—कस्मतोरणानि—कस्म—शिल्पाक्रिया, रचनाविशेष इति  
 यावत्, तस्य तोरणानि—तदयनिमित्तवह्निद्वारप्रदेशविशेषा इत्यर्थः । नीलरत्नैः,—  
 नीलवर्णतण्डुलविशेषैः, इन्द्रनीलैरित्यर्थः, विनिक्षिप्तानि—निखचितानि, अवभामितानि  
 सन्तोयथ । इन्द्रायुधस्थान—शक्रधनुष अवकाशप्रभिसिद्ध । दर्शयन्ति—प्रकटयन्ति,  
 आमानमिति शेषः, यथा,—सुवर्णरत्नानां कस्मतोरणानि—सुवर्णरत्नविशेषाचिंतयत  
 प्रकाशस्य बहिर्द्वारविशेषाः, नीलरत्नेषु—इन्द्रनीलवर्णतण्डुलप्रदेशेषु, विनिक्षिप्तानि—  
 विच्छुरितानि, प्रतिविम्बितानि सन्तीत्यर्थः, इन्द्रायुधस्थान—इन्द्रायुधस्थान—शक्रचापस्थ,  
 स्थान—सादृश्यः, ( “स्थान सादृश्येऽवकाशे” इति मेदिनी ) अथवा,—स्थान—स्थिति,  
 “रुदभिहितभावी द्रव्यवत् प्रकाशते” इति न्यायेन अवस्थितमिन्द्रायुधमिदं यः, तदित्

चेटी । एदु एदु अज्जी । इमं सत्तम पओठं पविसदु  
अज्जी । ॥

विदू । [ प्रविश्यावलीक्य च ] ह्री, ह्री, भोः । इधो वि सत्तमे  
पओठे सुसिलिह-विहंगवाडी-सुहणिससाइं, असोसुसुम्बण-  
पराइं सुहं अणुभवन्ति पारावद-मिडुणाइं । दहिभत्त-पूरिदो-  
दरो वम्हणो विअ सुत्तं पढदि पंजरसुओ । इअं अबरा सामि-

\* एतु एतु भाष्ये । इमं सप्तमं प्रकीर्तयति प्रविशतु भाष्य ।

+ भाष्ये, भो । इहापि सप्तमे प्रकीर्ते सुष्टिद्विविहङ्गवाटीमुखनिषस्थानि अन्यो-  
ऽन्यचुम्बनपराणि सुखमनुभवन्ति पारावतमिथुनानि । दधिभक्तपूरितोदरो ब्राह्मण  
दशयन्ति, आत्मानमिति शेषः । [ “वैदुरिअ” इत्यथ “वैरुलिअ” इति पाठेऽपि,—  
“वैदूथे” इति सङ्कतम् ] । कर्केतरक—मणिविशेषः । शिल्पिन,—शिल्पकाराः ।  
जातरूपे,—खण्डे, ( “धानीकर जातरूप महारजतकाखने” इत्यमरः ) । घण्टे—  
घण्टे, [ पिञ्जलघटधातो कर्मणि रूपम् ] । शाखन्ते—शाखे घृण्यन्ते इत्यर्थः ।  
अवलिपितम्—इतस्ततो सचितं, कुडुम येषु तथाविधाः । प्रस्तरा,—पाषाणा,  
प्रस्तर,—कुडुमाधारश्चर्मपुट, इत्याहुः प्राचीनाः । यहा,—“भोलविद” इति  
प्राकृतस्य “अवतारित” “आद्र” इति वा सङ्कतम्, तव अवतारितानाम्—आधा-  
रान् बहिष्कृतानां, कुडुमानां प्रस्तरा, आद्रां,—सिका, कुडुमप्रस्तरा इति  
वाऽयम् । [ “भोलविद” इत्यतः “भोलविद” इति “अविद” इति च पाठान्तरम् ] ।  
सायने—परिष्कारिते । [ “सालीअदि” इत्यतः “सामीअदि” इति पाठान्तरे—  
“आर्द्धीकिथने” इति केष्विन् व्याचष्टुः ] । अवधीरितानि—अगणितानि, पुवा,—  
मुवा, दारा,—स्त्रियः, वित्तानि च—धनानि च यै तादृशाः, पुवकलवधनमाया  
वज्रिता इत्यर्थः । करकेति ।—करकटा—वर्षोपलेन, वर्षोपलसदृशसामान्यतुपरिण  
इति यावत्, ( “वरफ” इति भाषा ) सहिता—मिश्रिता, पोता—पानेन गलाध-  
रता च मदिरा—मद्यं यै तादृशैः, [ “करफासहिदपीद” इत्यतः “आसवकरफा  
पीद” इति पाठान्तरे “आसवकरफापीत” इति सङ्कतम्, तव आसवकरके—  
मद्यपानसाधविशेषे, ( “करफ नारिकेलफलास्त्रि” इति राजनिघण्टुः ) आपीता—  
सम्पूर्णता इत्यर्थः ], वेग्याऽऽसक्तत्वात् पवीपुवादिक विस्तृत्य सततवैशवासात्  
निवृत्त्येन तादृशं करि पुरषा न्यन्तराभावतया तदैव श्रिता मन्त्रादिका  
पीतादृशे निवृत्तानि तादृशं पिबन्तीति भावः ।

संमाण्णालडपसरा विअ घरढामी अधिअं कुरकुराअदि  
मदणमारिआ । अणेअफलरमास्साद-पतुट्ठकण्ठा कुम्भढामी  
विअ कूअदि परपुट्ठा । आलस्विदा नागदन्तेसु पञ्जरपरम्पराओ,  
जोधीअति लावआ, आलवीअन्ति पञ्जरकविञ्जला, पेसीअन्ति  
पञ्जरकबोदा । इदो तदो विविहमणिचित्तनिदो विअ अअं  
सहरिमं गच्चन्तो रविकिरणमन्तत्त पक्खक्खेवेहि विधुवेदि  
विअ पासाद घरमोरो । (ध) [ अन्यतोऽवलोक्य ] इदो पिण्डीकिटा

इव मूक्त पठति पञ्जरशुक । इयमपरा स्वामिसम्मानना-लज्जप्रसरा इव गृह  
ढामी अधिक कुरकुरायते मदनसारिका । अनेक फलरमास्वादप्रतुष्टकण्ठा कुम्भ-  
ढामीव कूजति परपुट्ठा । आलस्विता नागदन्तेषु पञ्जरपरम्परा । योध्यन्ते लावका ।  
आलप्यन्ते पञ्जरकपिञ्जला । प्रेष्यन्ते पञ्जर-कपोता । इतस्ततो विविधमणिचिवित  
इवायं सहर्षं नृत्यन रविकिरणमन्तत्त पक्षोत्क्षेपैर्विधुवतीव प्रासाद गृहसमूह ।

( ध ) सुझिष्टेत्यादि ।—सुझिष्टा—सुघटिता, या विहङ्गवाटी—पक्षिशाला,  
कपोतपालिका इति यावत्, तस्यां सुखेन—अक्लेशेन, निषण्णानि—उपविष्टानि,  
स्थितानि इत्यर्थः, अन्योऽन्यचुस्वनपराणि—परम्परचुस्वनासक्तानि । पारावत-  
मिथुनानि—कपोतयुगलानि, दधिभक्तपूरितोदर,—दध्ना—दुग्धविकारभेदेन,  
भक्तन—अन्नेन च पूरित—परिपूर्णम्, उदर—शठर यस्य तथोक्त । मूक्तं—वेदीक्त-  
मन्त्रविशेष, सुवचनञ्च । स्वासीति ।—स्वामिन,—पत्यु, सम्माननया—आदरेण,  
लज्ज,—अधिगत, प्रसर,—प्रभाव यया, ताटशी । कुरकुरायते—कुरकुरेति  
अव्यक्त शब्दायते, अन्यत्र,—सुखरायते । मदनसारिका—“मयना” इति प्रख्याता ।  
अनेकेति ।—अनेकेषा—बहुविधानां, फलाना—रमालादीनां, रमास्वादेन,—रस  
यहणेनेत्यथ, प्रतुष्ट,—परितप्त, कण्ठ,—कण्ठदेशी यस्या तथोक्ता । कुम्भढामी  
—कुट्टिनी, ( “कुम्भदासो तु कुट्टिनी” इति शब्दरत्नावली ) । परपुट्ठा—परभृता,  
कीकिला इत्यर्थः, ( “वनप्रिय परभृत कीकिल पिक इत्यपि” इत्यमरः ) । नाग  
दन्तेषु—गृहान्निर्गतकाष्ठखण्डविशेषेषु, गृहभित्तिप्रीथितकाष्ठकौलेषु इति यावत्,  
( ‘नागदन्तो हिपरदे गृहान्निर्गतदारुणि’ इति मेदिनी ) । पञ्जरपरम्परा,—  
पक्षिवस्त्रसंसाधनयन्त्रविशेषसमूहा, “पिंजरा” इति वङ्गभाषा । लावका,—वक्त्र  
पक्षिण । पञ्जरकपिञ्जला,—पञ्जरावरुडा गौरतत्तिरय पक्षिण । प्रेष्यन्ते—प्रेष्यन्त,  
युशयमिति भावः । विधुवतीव—कम्पयतीव, वीजयतीव इत्यर्थः, पत्ते,—अविधु

विअ चन्द्रपादा पदगदि सिक्खन्ता विअ कामिणीणं पच्छादो  
परिब्रमन्ति राजहंसमिहुणा । एदे अवरं बुद्धमहत्तका  
विअ इदो तदो सच्चरन्ति घरसारसा । ही, ही, भोः ।  
पसारणअ किद गणिआए णाणापक्खिसमूहेहिं । (न) ज  
सच्च क्खु णन्दणवण विअ मे गणिआवरं पडिभासदि । आदि-  
सदु भोदो । १

चटो । एदु एदु अज्जो । इमं अट्टमं पओढं पविसदु  
अज्जो । ३

विदू । [ प्रविश्यावलोक्य च ] भोदि । को एसो पट्टपावारअ-  
पाउदो अधिअदर अच्चवुद्ध पुणरुत्तालङ्कार-लंकिदो अंग-  
भगेहि परिकवलन्तो (प) इदो तदो परिब्रमन्ति ? १

इत पिण्डोक्तता इव चन्द्रपादा पदगति शिखनाणानीव कामिनीना पथात् परि-  
ब्रमन्ति राजहंसमिहुनानि । एते अपरे बृहन्महत्तरा इव इतस्ततः सच्चरन्ति गृह-  
सारसा । आश्चर्यं, भो । प्रसारणं कृतं गणिकाया नानापक्षिसमूहैः । यत्  
सत्यं खलु, नन्दनवननिव मे गणिकागृह प्रतिभासते । आदिशतु भवती ।

† एतु एतु आये । इममट्टमं प्रकोष्ठं प्रविशन्त्याह ।

§ भवति । क एष पट्टपावारकप्राप्तोऽधिकतरमत्यहुतपुनरुत्तालङ्कारालङ्कृत  
अट्टमं परिखलन्तिस्ततः परिब्रमन्ति ?

विधु करोति इति विधुशब्दात् क्विप्, ततो नामधातुत्वात् लटि शपि गुणाभावात्  
विधुवति, पुञ्यस्यचन्द्रकाया विस्तारात् विधुमय करोति इति यावत्, “सलिलमय  
शशी हि रविकिरणसम्पातात् उज्ज्वलीभवति” इति ज्योतिषोक्तं । गृहमयूर,—  
पालितजिह्वा इत्यर्थः ।

( न ) इत पिण्डोक्तता चन्द्रपादा इव राजहंसमिहुनानि कामिनीना पदगति  
शिखनाणानीव पथात् परिब्रमन्तीति अन्वयः । पिण्डोक्तता इव—राशीकृता इव ।  
चन्द्रपादा,—चन्द्रकिरणा । बृहन्महत्तरा,—वृत्तिवृद्धा, गन्तव्यमन्यादिति भावः ।  
प्रसारण—विस्तारं व्याप्नोति यावत् परिब्रमन्तीति व्याप्नोति यावत् ।

( प ) पट्टपावारक—कैटोपरीयवस्त्रम् । प्राकृतं,—वेष्टितगात्र इत्यर्थः ।  
परात ।—एतदुक्तं—एतदुक्तं पुनरुक्तं,—अधिकाधिकं, अलङ्कारं,—मृदुलं,



चेटी । अज्ज । एसो अज्जआए भादा भोटि । \*

विदू । केत्तिअं तवच्चरणं कदुअ वसन्तसेणाए भादा भोटि ? अधवा मा दाव, जदि वि एसो उज्जलो सिणिडो अ सुअन्धो अ, तहवि मसाणवीधीए जादो बिअ चम्पअरुक्खो अणहिगमणौओ लोअस्स । ( फ ) [ अन्यतोऽवलोक्य ] भोटि । एसा उण का फुल्लपावारअ-पाउदा, उवाणहजुअलणिक्वित्त-तैल-चिक्कणेहिं पादेहिं ( ब ) उच्चासणे उवविष्टा चिद्धटि ? †

चेटी । अज्ज । एसा क्वु अम्हाणं अज्जआए अत्तिआ । ‡

\* आर्थ । एष आर्याया भाता भवति ।

† कियत्तपथरण कृत्वा वसन्तसेनाया भाता भवति ? अथवा मा तावत्, यद्यपि एष उज्जल स्निग्धश्च सुगन्धश्च, तथाऽपि गमनानवीया जात इव चम्पकवृक्ष अनभिगमनीयो लोकस्य । भवति । एषा पुन का पुष्पप्रावारकप्राहता उपानदयुगल निक्षिप्त-तैलचिक्कणाभ्यां पादाभ्यामुच्चासने उपविष्टा तिष्ठति ?

‡ आर्थ । एषा खलु अस्माकम् आर्याया अत्ता (माता) ।

अलङ्कृत, — शोभित । अङ्गभङ्गै, — अङ्गानां — देहानां, भङ्गै, — चालनाविशेषै । परिखलन् — हिल्लोलयन्, दीलयन्निति यावत् ।

( फ ) केत्तिअ इति । — कियत् — किम्परिमितम् । तपथरण — तपस्यामित्यर्थ । वसन्तसेनाया, — एतावदैश्वर्यशालिन्या रमण्या इत्यर्थ । [ अथ “शिखरिणि क नु नाम कियच्चिर किमभिधानमसावकरोत्तप ? । सुमुखि येन तवाधरपाटल दशति विस्वफलं शकशावक ॥” इत्यादिसाहित्यदर्पणीदाहरणवत् अत्र विदूषकप्रौढीकृतिसिद्धेन वस्तुना “वसन्तसेनाया भातल पुण्यातिशयलभ्यम्” इति वस्तु ध्वन्यते इति सूचीभिर्विभाज्यम् ] । एतादृग्विभववत्सेऽपि अस्या गणिकालेनातिशयापवित्रतया तत् सम्पर्कं न कथमपि स्पृष्टणीय इति पक्षान्तरमाह, अथवेति । — गमनानवीया — गमनानगतपथे । अनभिगमनीय, — अस्पृश्य इत्यर्थ, वेष्टाजातत्वादिति भावः ।

( ब ) पुष्पप्रावारकप्राहता — पुष्पैः प्रावारकैश्च, यथा, — सूक्ष्मवचिव्रितपुष्पवत् प्रावारकै, “पुष्पपट” इति प्रसिद्धै, प्राहता — आच्छादिता । उपानदयुगल — पादद्वये, निक्षिप्ताभ्यां, — स्थापिताभ्यां, तैलचिक्कणाभ्यां — तैलनिषेवनेन मसृणाभ्याम्, पादाभ्यां — चरणाभ्याम्, [ पादाभ्यामिति विशेषणं तृतीयम् ] ।

विद् । अभी । से अपविषडाङ्गीए पोष्टवित्तारो ॥ ता  
किं एदं पवेसिअ महादेव विअ दुआरसोहा इध घरे  
णिमिदा १ \* ( भ )

बेटो । हदास । मा एव्व उवहस अम्हाण अत्तिअ । एसा  
क्खु चाउत्थिएण (म) पीडीअदि । †

विद् । [ सपरिहासम् ] भअवं चाउत्थिए ! एदिणा उव-  
आरेण म पि वम्हणं आलोएहि । ‡ ( य )

\* अहो । अस्या अपविषडाकिन्या उदरविस्तार ॥ तत्किमेता प्रवेश्य महादेव  
निव हारगोभा इह गृहे निर्मिता १

† हताश । मैवमुपहसाध्याक मातरम् । एषा खलु चातुर्धिकेन पीड्यते ।

‡ भगवन् चातुर्धिक । एतेनीपचारेण मामपि ब्राह्मणमालोक्य ।

( भ ) अहो—विस्मयजनक, “उदरविस्तार” इत्यनेनान्वति । [ “अपविष  
डाङ्गीए” इत्यत्र “करदृडाङ्गीए” इति पाठान्तरेऽपि, “अपविषडाकिन्या ” इति  
संस्कृतम् । तत्र करदृशब्द महाराष्ट्रदेशभाषायाम् अपविषमस्यभोजिद्विवचन,  
तद्वत् अपविषाया डाकिन्या इत्यर्थः ] । उदरविस्तार,—कुचे परिसर । महा  
देवनिव—स्यूताकारशिवनिव, स्यूलीदगम् इति भावः, ( वसन्तसेनाया मातु  
स्यूत्यात्कर्मधाधनाघमेतदुपमानं ज्ञातव्यं, महादेवस्य स्यूत्य, विशेषतः स्यूलीदरत्वञ्च  
लोकविश्रुतमेव ) । एता—दृश्यमानां, वसन्तसेनामातरमित्यर्थः, निर्मिता—कृता ।  
महादेवनिव एतामादौ गृहमध्ये स्थाप्य पश्यत गृहस्यास्य ईदृशानि सुशोभनानि  
द्वाराणि निर्मितानि किम् ? अन्यथा एवविधस्यविस्तारद्वारेण द्वारप्रमाणाधिक  
स्यूतदेहाया अस्या गृहप्रवेश अशक्यसम्भव एव स्यात् इति भावः ।

( म ) हताश ।—हतभाग्य । इत्यर्थः । सपहस—परिहासं कुरु, [ “उवहस”  
इत्यत्र “उवसिह” इति पाठान्तरे,—“उपसिप” इति संस्कृतम्, अवजानीहि इति  
चापः ] चातुर्धिकेन—एतच्चतुर्दिक्सीदेन त्वरोगविशेषेण इत्यर्थः, यदृक् निदाने,  
“—चतुर्द्वेष्टि चतुर्द्वेष्ट” तथा “—अस्मिन्मन्त्रेण पुनः । कुप्याच्चातुर्द्वेष्टं घोरमन्त्रं  
रोगहरणम् ।” इति “चातुर्द्वेष्ट” इत्यति प्रभावः इतिविधं त्वर । कदापि वैदिक  
पूर्वे शिरसोऽन्नमन्त्रम् ।” इति च ।

( य ) भगवन्—ऐदम् दिव्यं विनितिसम्यगेत्यर्थः,—“ऐदमेव समस्तं बोधेन

चेटो । हदाम । मरिम्ससि । \*

विदू । [ मपरिहामम् ] दासीए धीए । वरं इदिमो सूणपीण-  
जठरो (र) सुदो ज्जेव । †—

सोहुसुरासवमत्तिआ एआवत्थं गदा हि अत्तिआ ।

जइ मरइ एत्थ अत्तिआ भोदि सिआल महम्म-जत्तिआ ‡॥२८॥

\* हताश । मरिष्यसि ।

† दास्या, पुत्रि । वरम् ईदृशं शूनपीनजठरो मृत एव ।

‡ शोषसुराऽऽसवमत्ता एतामवस्थां गता हि जाता ।

यदि स्त्रियत भव माता भवति शृगालसदृशयावा ॥

यशसं श्रियं । ज्ञानवैराग्ययोश्चैव पन्था भग इति श्रुत ॥” इत्युक्ते । तत्प्रभावेणैव  
अस्या एवम् ऐश्वर्यप्राप्ते चातुर्थिकस्य भगवत्तया आत्मत्वमिति बोध्यम् । उपचारेण  
—स्वाश्रयेणेत्यर्थः । मासपि आलोक्य—मद्यपि शुभदृष्टिं पातयेत्यर्थः ।

। ( र ) ईदृशं,—वसन्तसेनामाहसदृश इत्यर्थः । शूनेति ।—शून—वृद्धिं प्राप्तं,  
पीनं—स्थूलं, जठरम्—उदरं यस्य तादृशं, [ “शूनम्” इति श्रुधातो, “पीनम्”  
इति च प्यायधातो निष्ठाप्रत्ययेन निष्पन्नम् ] जन इति शेषः, वर—मनाक्प्रियः,  
( “देवादृष्टं वरं श्रेष्ठे त्रिषु क्लीवे मनाक्प्रिये” इत्यमरः ) ।

अस्या जीवनापेक्षया मरणमेव मनाक्प्रियमिति पूर्वोक्तिमेव युक्त्या समर्थयमान  
आह, शोषसुरेति ।—शोषसुराऽऽसवै,—तत्तन्नामप्रसिद्धै द्विविधमद्ये इत्यर्थः, मत्ता—  
प्राप्तमदा, सततैतत्पानरता इत्यर्थः, उक्तानां द्विविधानामुक्तं आसवानां लक्षणां नृत्तानि  
भावप्रकाशः, तव शोषा लक्षणं गुणाय यथा,—“इच्छीं पक्के रमै सिद्धं शोषं  
पक्करस्य स । आमैकैरेव यं शोषं स च शीतरसं श्रुतं ॥ शोषं पक्करस्य येन  
स्वराग्निबलवर्णकृतं । वातपित्तकरो हृद्यः स्नेहनी रोचनी हरिर्त् ॥ विषममेदं  
शीघ्रांशं शोफीदरकफामयान् । तस्मादल्पगुणं शीतरसं सुनिखनं श्रुतं ॥” एवं  
सुराया लक्षणं गुणाय यथा,—“शालिपर्णिकपिष्टादिकृतं मद्यं सुरा श्रुता । मरा  
गुर्वी बलमल्पपुष्टिमेदं कफप्रदा ॥ यादृशी शोथगुण्योर्गोदृशीमूढकृच्छ्रनुत् ॥” तथा  
आसवस्य लक्षणं गुणाय यथा,—“यदपक्वापधान्मुस्यां सिद्धं मद्यं स आसवः । आसवस्य  
गुणा ज्ञेया बीजद्रव्यगुणैः समा ॥” इति । माता—गर्भधारिणी, वसन्तसेनाया इति  
शेषः, [ स्वप्नादोचितं मातृशब्दस्य पुनरुक्तिभिः । द्वितीयपादे “मत्तिआ” इत्येव  
“मत्तिआ” इति पाठं कृत्वा “मत्तिवृद्धा” इति व्याख्या ] एताम्—दृष्टुमीम,

भोदि । किं तुम्हाण जाणवत्ताइं वहन्ति ? \* (ल)

चेटी । अज्ज । ण हि ण हि । †

विद् । किं वा एत्थ पुच्छीअदि ? तुम्हाण क्व पेम्मणिम्मल-  
जले मअणसमुद्दे त्यण्णिअस्वजहणा ज्जेव जाणवत्ताइं मण-  
हरणाइ । एव्व वसतसेणाए बहुवुत्तन्त, अट्ठपओट्ठं भवण  
पेक्खिअ ज सच्च जाणामि, एकत्थ विअ तिबिट्ठअ दिट्ठ, पससिदुं  
णत्थि मे वाआ विहवो । किं दाव, गणिआघरो ? अहवा  
कुवेरभवणपरिच्छेदो त्ति ? (व) कहि तुम्हाण अज्जआ ? ‡

\* भवति । किं युष्माकं यानपावाणि वहन्ति ?

† आद्य । न हि न हि ।

‡ किं वा अत्र पृच्छते ? युष्माकं खलु प्रेमनिर्मलजले सदनसमुद्रे सन-  
मितस्वप्नान्येव यानपावाणि मनोहराणि । एव वसन्तसीनाया बहुवृत्तान्तम्,  
अट्ठपकोष्ठं भवनं प्रेत्य, यत् सत्यं जानामि, एकस्थानिव विपिटपं दृष्ट, प्रशंसितुं नास्मि  
मे वाग्विभव । किं तावत्, गणिकागृहम् ? अथवा कुवेरभवनपरिच्छेदः ? इति ।  
कुत युष्माकमाया ?

अवस्था—दशा, यन्त्रपीनचादिदूषानियर्थं, गता—प्राप्ता सती, अव—अस्मिन्  
काले यदि चित्रने—जीवनं त्यजति, ( यदिशब्दयोगात् “यदायथोरूपसङ्ग्रहानम्”  
( वा० ) इति लिङ् एव प्रसक्ते ‘चित्रने’ इत्येव “चित्रेत्” इत्येव साधु ) तदा  
प्रगल्भसहस्राणां—बहुसहस्रगोमायूनामित्यर्थः, यात्रा—उत्सवः, ( “यात्रा तु यापने-  
ऽपि स्याद् गमनोत्सवयोः स्त्रियाम्” इति मेदिनी । यात्रा—पर्याप्तिका, सौहृद-  
निति यावत्, इति प्राचीनानां व्याख्या ) भवति—जायते, ( अत्रापि भवेदित्येव साधु  
इति बाणम् ), इयमेव सा चित्रेत् चेत् ईदृशानलदेहम् आसाद्य प्रगल्भानां सहस्रो  
प्रतिभवेदिति भावः । अत्र प्रगल्भसहस्रमहीकृत् प्रति प्रदमाहृतवाक्यादस्य हेतु-  
तया कालान्तरमलङ्कारः । आद्यां हस्तम् ॥ २८ ॥

चेटी । अज्ज । एसा रुक्खवाडिआए चिट्ठदि, ता पविसदु  
अज्जो । \*

विदू । [ प्रविश्य दृष्ट्वा च ] ह्री, ह्री, भोः । अम्भो । रुक्खवाडि  
आए सस्सिरीअटा ॥ अच्छरीदि-कुसुमा जत्थ रोविटा अणेअ-  
पादवा, णिरन्तर-पादवतल णिम्मिदा जुवदिजणजहणप्पमाणा  
पट्टदोला, सुवस्सजूधिआ सेहालिआ-मालई-मल्लिआ णोमालिआ-  
कुरवआ अदिमोत्तअप्पहुदिकुसुमेहि सअ णिवडिदेहिं  
जं सच्चं, लहुकरेदि विअ णन्दणवणस्स (श) सस्सिरीअट ।

\* भाष्ये । एषा वृक्षवाटिकायां तिष्ठति, ततः प्रविशतु भाष्य ।

+ भाष्ये, भो । अहो । वृक्षवाटिकायाः सशोकता ॥ अच्छरीतिकुसुमा यत्र  
रोपिता अनेकपादपा, निरन्तरपादपतलनिम्बिता युवतिजनजघनप्रमाणा पट्टदोला,  
सुवर्णयूषिका-शेफालिका मालती मल्लिका-नवमल्लिका कुरुवकातिमुक्तक-प्रभृतिकुसुमे

स्वयमेव एतादृशातुलविभक्तसाधन वाणिज्यविशेष दर्शयितुं प्रशस्तैवानवकाशमाह,  
किमिति ।—अय—एतस्मिन्, अतुलैश्वर्यविषये इत्यर्थः । युष्माक—भवतीमा, वेश-  
वासनिरतानामित्यर्थः, [ स्तनेत्यादिना अन्वयः ] प्रेमनिम्बलजलि—प्रेम—प्रणय एव,  
निम्बलम्—अतिस्वच्छम्, अतिपवित्रमिति यावत्, जल—सलिलं यत्र तादृशं,  
मदनसमुद्रे—कामसागरे, स्तननितम्बजघनान्येव—स्तनौ—पयोधरौ, नितम्ब,—  
स्त्रीकटिपश्चाद्भाग, जघन—स्त्रीकटिपुरीभाग, एताद्वेनेत्यर्थः, (“पञ्चात्रितम्ब स्त्रीवद्या  
क्लीवे तु जघनं पुर” इत्यमरः) । तथा च,—वाणिज्यं यथा पीतं दिमाधनेन दुस्तरं  
सागरमुत्तीर्य विविधपण्येन धनान्यज्जयन्ति, तथा युयमपि स्तननितम्बजघनादिमाधनेन  
कामसागरमुत्तीर्य यौवनपण्येन कामिभ्यो धनान्यज्जयथेति युष्माकमव गृह्णविभव  
इति भावः । अयं निरपङ्गतविषये मदनार्दी समुद्राद तादात्म्येनारोपात्त रूपकमल-  
ङ्कारः, तच्च मदनार्दी समुद्रादाराप प्रेमादौ जलादारोपे कारणमिति परम्परित  
रूपम् । [ “मणहरणाइ” इत्यत्र “मच्छाहरणाइ” इति पाठान्तरं, “मक्ष्याहर-  
णानि” इति संस्कृतम् ] । एकस्य—पञ्चाभूतमित्यर्थः, विपिष्टं—सर्गलोकः ।  
कुवेरभवनपरिच्छेद,—कुवेरस्य—धनपतेर्वचः, भवनपरिच्छेदः,—रहस्यं, रहस्यं  
मिदमिति निश्चयः वा ।

(श) वृक्षवाटिकायाः,—गणिकावयस्यादिभिः सार्धमुपसेव्यस्य गृहमभीपश्यत्य

[ अन्यतोऽवनोक्त्य ] इदो अ उदअन्तसूरसमप्यहेहि कमलरत्नोप-  
लेहि सभाअदि विअ (ष) दोहिआ । १

अवि अ,—

एसो असोअवुच्छो णवणिग्गदकुसुमपल्लवो भादि ।

सुभडो व्व समरमज्जे घण-लोहिद पङ्क-चच्चिको ॥ ३० ॥

भोदु, ता कहि तुम्हाण अज्जआ ? §

स्वय निपतितैश्च सत्य, लघूकरोतीव मन्दनवनस्य सश्रीकताम् । इतश्च उदयत्मुख्य-  
समप्रभे कमलरत्नोत्पले सभ्यायने इव दीर्घिका ।

‡ अपि च,—एषोऽशोकहृत्तो नवनिर्गतकुसुमपल्लवो भाति ।

सुभट इव समरमध्ये घनलोहितपङ्कचाक्षिक ॥

§ भवतु, तत् कुत्र युष्माकमाख्या ?

उपवनस्येभ्य, सश्रीकता—रमणीयत्वम् । अर्च्छेत्यादि ।—अच्छा—निम्बला,  
मनोहरेति यावन्, रोति,—दलानां विन्यासप्रकार, नीलपीतादिवर्णानां विन्यास-  
परिपाटो वा येषां तादृशानि कुसुमानि—पुष्पाणि येषां तथोक्ता । [ “अच्छरीटि  
कुसुमा जय राशिदा अनेअपादशा” इत्येव “अच्छरीअकुसुमपत्तारारोविदाणेअ-  
पादशा” इति पल्लवान्तरसम्मतपाठे “आयय्यकुसुमप्रस्तारारोपितानेकपादपा ” इति  
संस्कृतम् । प्रस्तार,—विस्तार इत्यर्थः ] । निरन्तरेति ।—निरन्तरा,—घनमन्नि-  
विष्टा, ये पादपा,—शाखिन तेषां तले—अधोदृष्टे, निम्बिता—रचिता [ एतेन  
पादपानां घनमन्निविष्टतया तत्तलस्यदीलायां प्रक्षायप्रदेशवत्तत्त्व सूचितम् ] । युवति-  
जनमग्नप्रमाणा—तत्तुल्यजननितम्बपरिनिता, [ एतेन दोलायन्त्रस्थामनस्य सुविस्मृतत्वं  
सूचितम् ] पद्दोला—कौपेयमुखावलम्बित-उद्यानक्रीडामाधनदोलनयन्त्रमित्यर्थः ।  
सूक्ष्मदृष्टिका—सुवर्णवर्णा दृष्टिका अतिमुत्तुक्क,—माधवीलता । लघूकरोतीव—  
खूर्खीकरोतीव, [ इत्युक्ते ] । मन्दनवनस्य—स्वर्गस्थमन्दनकाननस्याप्येत्यर्थः ।

चेटी । अज्ज । ओणमेहि दिट्ठिं, पेक्ख अज्जअ । \*

विदू । [ दृष्ट्वा उपसृत्य च ] सोल्यि भोदीए १ †

वस । अये । मैतेयः ॥ [ उल्याय ] स्वागतम् ? इदमासनम्,  
अत्रोपविश्यताम् । ( स )

विदू । उवविसदु भोदी । ‡ [ उभावुपविशतः ] ।

वस । अपि कुशल सार्धवाहपुत्तस्य ?

विदू । भोदि । कुशल । §

वस । आर्य्य मैतेय । अपोदानीम्,—

गुणप्रबाल विनयप्रशास्त्र विश्वम्भमूल महनीयपुष्पम् ।

त साधुवृत्तं स्वगुणैः फलाढ्यं सुहृद्विहङ्गाः सुखमाश्रयन्ति ॥३१॥

\* आर्य्य । अवनमय दृष्टि, पश्य आर्याम् ।

† सक्ति भवत्ये ?

‡ उपविशतु भवती ।

§ भवति । कुशलम् ?

नववह्निगता, कुसुमपल्लवा,—पुष्पपत्राणि, यस्य तथोक्त, अत एव समरमध्ये—  
रणान्तरे, घनलीहितपङ्कचाचिंक—घनै,—सान्द्रै, लीहितै,—रक्तै, एव पङ्के,—  
कर्दमै, कर्दमवद्गाढैरित्यथ, चर्चा—अङ्गरागशीभा, तां वेद, तथा युक्त इत्यथ,  
[ “क्रतूक्यादिसूत्रान्ताङ्क” ( ४ । २ । ६ पा० ) इति ठक् । अथ “चक्षिकी” इत्यस्य  
“चाक्चक्य” इति संस्कृत भवेत्, तदा सुष्ठु स्यात् । तत्र घनेन—घनीभूतेन, रक्त  
पङ्केन, चाक्चक्य—सौन्दर्यं यस्य तादृश. इत्यथ ] सुभट्,—सुग्रीडा इव, एष,—  
सम्मुखवर्ती, अशोकवृक्ष,—अशोकपादप, भाति—शीभते । अत रक्ताक्तग्रीव  
पुरुषेण लीहितकुसुमसमन्विताशकपादपस्य अवैधर्म्यसाम्यकथनादुपमा नामालङ्कारः ।  
आर्यां वृत्तम् ॥ ३० ॥

( स ) “अये । मैतेय ” इत्यादिवाक्य वसन्तसेनाया वैदग्ध्ययोजनाय रुक्मतभाषया  
नियत, तदाह भरत,—“काव्यतथोक्तमादीनां कार्या भाषाविषयस्य । योपलब्धो-  
चालवेत्याकृतवाचस्परा तथा । वैदग्ध्यार्थे प्रदातव्यं संस्कृतचालरान्तरा ॥” इति ।

य एव वसुम्भत्या, विभववन्तमाश्रयन्ति, त एव क्षीणे विभवे तस्मिन्नेति  
प्रसिद्धिः, सम्प्रति क्षीणधनं चारुदत्तमुद्वह्वान् इदानीमपि सेवते किम् ? इति अशाम-  
मानाऽऽह, गुणप्रबालमिति ।—मुहृद्,—मित्राणि एव, विहङ्गा,—पक्षिण, गुप्ता,  
—दयादादिष्णदय एव, प्रबाला,—पल्लवा, यस्य तथोक्त, विनय,—नमसा एव,

विद् । [स्वगतम्] सुहृ उवलक्खिद दुट्ठविलासिणीए । (ह)

[प्रकाशम्] अधइं (क) । \*

वस । अये । किमागमनप्रयोजनम् ?

विद् । सुणादु भोदी,—तत्तभव चारुदत्तो सीसे अञ्जलिं कदुअ भोदि विस्सवेदि—” । †

वस । [अञ्जलि वशा] किमाज्ञापयति ?

विद् । “—मए तं सुवस्सभण्डअ विस्सम्भादो अत्तणकेरकेत्ति कदुअ जूदे हारिद, सो अ सहिओ राअवात्थहारी (ख) ए जाणिअदि, कहि गदी ति” । ‡

\* सुहृ उपलक्षित दुष्टविलासिण्या । अथकिम् ।

† श्रुत्वा भवती,—तवभवान् चारुदत्त शीर्षे अञ्जलिं कृत्वा भवतीं विज्ञापयति—” ।

‡ “—मया तत् सुवर्णभाण्डं विस्सम्भादात्कीर्तयित्वा कृत्वा द्यूते हारित, स च समिकी राजवात्ताहारी न प्रायते, कुत्र गत इति” ।

प्रशान्ता—प्रकटा शाखा यस्य तादृश, विश्वम्,—आश्रम एव, मूलं यस्य तथाक्तं, महनीयपुष्प—महनीय—पूजनोद्य, पूजनोद्यचरित्रमेव इति यावत्, पुष्प—कुसुम यस्य तादृश, तथा स्वगुणै,—विशिष्टाननगुणै, [अभेदं दत्तोया] फलादयम्—उत्पृष्ट-गुणफलयुक्तमित्यर्थ, त—चारुदत्तरूप, साधुवृत्त—सज्जनपादप, सुख—मानन्द यथा तथेत्यर्थ, आश्रयन्ति ?—आश्रित्य वसन्ति किम् ? इत्यर्थ । अत्र निरपङ्गुतविषये चारुदत्तादौ वृत्तादन्तादात्येनावगात् रूपकमलङ्कार, तच्च, चारुदत्ते वृत्तारोप गणादपु प्रवाजादारोपे कारणमिति परम्परितरूप बोध्यम् । उपजातिवृत्तम् ॥ ३१ ॥

( १ ) उपलक्षितम्—अनुभूतम्, अधिकांश एव सुहृदा तमिदानौनधन-प्रत्वा विज्ञप्ता इति यत्र उपलक्षितं तत्रास्य बुद्धिप्रतिभा सम्यक् परिष्कृता इत्यत्र आत्मीयं बोध्यं सङ्गच्छते इति भावः ।



चेटी । अज्जए । दिट्ठिआ वड्ढसे, अज्जो जूटिअरो सवुत्तो ।\* (ग)  
 वस । [स्वगतम्] कध । चोरिण अवहिट पि सोण्डार-  
 दाए (घ) जूदे डारिदं ति भणादि ॥ अदो ज्जेव कामीअदि ।†  
 विट्ठ । ता तस्स कारणादो गेह्लदु भोदी इम रअणावलिं ।‡  
 वस । [आत्मगतम्] कि दसेमि त अलङ्कारअ ? [विचिन्त्य]  
 अववा ण दाव । §

विट्ठ । कि दाव, ण गेह्लदि भोदी एदं रअणावलि ? ॥

वस । [विहस्य (ङ) सखोमुख पय्यन्ती] मित्तेअ । कध ण गेह्लिस्सं

\* आर्थ्यं । दिष्ट्वा वड्ढसे, आर्थ्यो द्यूतकर सहस्र ।

† कथ । चोरिणापहतमपि शौण्डीरतया द्यूत हारितमिति भणति ॥ अत एव  
 कास्यते ।

‡ तत् तस्य कारणात् गृह्णातु भवती इमां रवावलीम् ।

§ कि दर्शयामि तमलङ्कारम् ? अथवा न तावत् ।

॥ कि तावत्, न गृह्णाति भवती इमां रवावलीम् ?

मेतावदिअस्स, यत् त्वया न्यासीकृतमपि वस्तु आत्मोद्यत्वेन मन्यमान द्यूते पण्यतया  
 कल्पितवानिति भावः । राजवात्ताहारो—राजवात्तावह, राजवात्तामादाय स  
 कुत्र गत इति न ज्ञायते इत्यर्थः । [ एतेन तदलङ्कारस्य सहसा पुनः प्राप्तायाः न  
 सम्भाव्यते इति सूच्यते । लज्जादीक्षितस्तु,—“राजवात्ताहारो” इत्यस्य “राजवात्त्य  
 आरो” इति पाठमङ्गोक्त्य “राजावश्यकारी” इति अनूद्य च, राज्ञ अवश्यम्—  
 अवश्यकृत्य, करातीति व्याचष्ट्यो । “राजापावकारो” इति कथित् ] “राजवात्ता  
 हरै,” इति साधु संस्कृतम् ।

( ग ) द्यूतकरादयो नष्टचरित्रा एव वेश्यानां नायका भवन्ति, चारुदत्तस्य द्यूत-  
 करत्वे वेश्याऽऽसक्तिरवश्यभाविनीति चेष्ट्या आनन्दकारणम्, अत एव “दिष्ट्वा वड्ढसे”  
 इत्युक्तम् । तदेव वृद्धिकारणं दर्शयन्ती आह, अज्जो इति ।—द्यूतकर,—द्यूतामक्त ।

( घ ) शौण्डीरतया—अत्यौदार्येण इत्यर्थः ।

( ङ ) विहस्य—मध्यम हास्य कृत्वत्यर्थः,—“आकुञ्चितकपोलाच्च सम्यन निम्बन  
 तथा । प्रस्तावोत्थं सानुरागमाहुर्विहसितं बुधा ॥” इत्युक्तलक्षणं नात्युच्चं नातिनीचं,  
 हास्य कृत्वेति यावत्, (“मयम स्याद्विहसितम्” इत्यमरः) । चोरिणापहतमपि अलङ्कार

रञ्जनावलिं ? [ इति गृहीत्वा पार्श्वे स्थापयति । स्वगतम् ] कथं ।  
भोगकुसुमादी वि सहआरपादवादो मअरन्दविन्दओ णिव-  
डन्ति ? (च) [ प्रकाशम् ] अज्ज । विस्सवेहि तं जूदिअरं मम  
वअणेण अज्जचारुदत्त, अहं वि पदोसे अज्ज पेक्खिदुं आअ-  
च्छामि त्ति । \* (छ)

विद् । [ स्वगतम् ] कि अस्स तहिं गदुअ गेह्लिस्सदि ? (ज)  
[ प्रकाशम् ] भोदि । भणामि,—[ स्वगतम् ] “णिअत्तीअदु इमादो  
गणिआपसङ्गादो” त्ति । † (झ) [ इति निष्क्रान्तः ] ।

\* सैवेय । कथं न गृहीष्यामि रत्नावलीम् ? कथं । हीनकुसुमादपि सहकार-  
पादपात् मकरन्दविन्दो निपतन्ति ? आर्य्य । विज्ञापय त यूतकर मम वचनेन  
आर्य्यचारुदत्तम्, अहमपि प्रदीपे आर्य्यं प्रेक्षितुमागच्छामीति ।

† किमन्यत् तव गत्वा गृहीष्यति ? भवति । भणामि,—“निवर्त्ततामस्मात्  
गणिकाप्रसङ्गात्” इति ।

यद्य यूतापहृतत्वेन प्रकाशयति, तस्य आमूल हत्तान्तस्तु अस्माभिः पूर्वमेव विज्ञात-  
इति हान्यकारणमत्र उभेयम् ।

(च) हीनकुसुमात्—पुष्पविरहितादपि, [ एतेन पादपस्य मकरन्दसत्तासम्भव-  
मुच्यते । तथा च कुसुमयूतसहकारपादपात् मकरन्दपातकपात सामान्यादप्रस्तुतात्  
निहतचारुदत्तादेतद्रत्नावल्यागमरूपविशेषप्रस्तुतस्य प्रतीतेरप्रस्तुतप्रशसाऽलङ्कारः ] ।

(छ) “यूतकरम्” इति अस्या सोप्रासवचनम् । प्रदीपे हि चन्द्रोदयो  
भवति, तस्य दृष्टा मत्ता भवन्ति चकीर्य्ये, अहमपि प्रदीपे तन्मुखचन्द्रं दृष्ट्वा तथा  
भविष्यामीति एतद्व्याख्यातुं ध्वन्यते इति निपुणैर्विचारणीयम् ।

(ज) वैद्यागानयश्चित्तान् विदुषकः, हार लब्ध्वा इयं पुनरपि किञ्चिद्वक्ष्यति तत्  
रूपं गन्तुमिच्छतीति चिन्तयति, किमन्ददिति ।—रत्नावलीभिन्नमपरं किञ्चिदित्यर्थः ।

(झ) गणिकाप्रसङ्गात्—वैद्यासंज्ञात्, वसन्तसैन्या, प्रदीपे आत्मनः चारु-  
दत्तमनीषमन्त्रसंवादं विज्ञापयितुमादित् विदुषकः केवलं “भणामि” इत्युक्तवान्,  
किन्तु किं भणामि इति तु प्रकाशं नोक्तवानिति वसन्तसैन्या तद्वक्तव्यमेव वदिष्यति  
इत्यङ्गत्वेन, विदुषकस्तु स्वगतोद्देशा भवामीत्यस्य कल्पपदत्वेन निवर्त्ततामित्यादिवाक्य-  
रूपेणान्विति कवेवचनविन्यासकौशलं सुखं भविष्यम् ।

वस । हञ्जे । गेह्ण एद अलकारअं ; चारुदत्त अहिरमिदु  
गच्छम्ह । \*

चेटी । अज्जए । पेक्ख पेक्ख, उस्समदि अकालदुद्दिन । † (ज)

वस । उदयन्तु नाम मेघाः, भवतु निशा, वर्षमविरत पततु ।

गणयामि नैव सर्वं दयिताऽभिसुखेन हृदयेन ॥ ३२ ॥

हञ्जे । हार गेह्ण लहुं आअच्छ । ‡ [ इति निष्क्रान्ता सर्वे ] ।

इति मदनिकाशञ्जिलकी नाम चतुर्थोऽङ्कः ॥ ४ ॥

\* चेटी । गृहाणेतमलङ्कारम् , चारुदत्तमभिरन्तु गच्छाम ।

† आर्ये । पश्य पश्य, उत्तमति अकालदुर्दिनम् ।

‡ चेटी । हारं गृहीत्वा लघु आगच्छ ।

( ज ) अकाले—असमये, दुर्दिन—मेघादय , “मेघाच्छ्रेऽङ्गि दुर्दिनम्” इति  
अमरीकिसत्त्वेऽप्यत्र लक्षणया दुर्दिनानामिष्टीभूतमेघोदय एव बोध्यते । अथ “पौषादि  
चतुरो मासान् प्रोक्ता वृष्टिरकालजा” इति स्मृत्युक्ताकालवया बोध्या , तथा च “इदं  
दुर्दिने तव बहिर्गमन म युक्तिसिद्धम्” इति चेष्ट्या आशयः ।

अविज्ञातहृदये । किं मामिदानीं दर्शयसि जलदोदयविभौषिकाम् ? सम्प्रति  
तत्प्रणयसमाकृतहृदयाया मम अभिसारप्रतिरोधाय किमपि नालमित्याह, उदय  
त्विति ।—मेघाः,—जलदा , उदयन्तु—उद्गच्छन्तु, नाम इति स्त्रीकारे, ( “नाम  
कीपेऽभ्युपगमे विधये वारणेऽपि च । सभाव्यकुत्साप्राकाशविकल्पेऽपि च दृश्यते ॥”  
इति मेदिनी ) निशा—अन्धकारमयी रात्रिरित्यथ , भवतु—अस्तु, अविरत—निर-  
न्तरं, वर्षं—वृष्टिः, पततु—वरतु, अहं दयिताभिसुखेन—प्रियाभिसुखगमनीयुर्केन,  
हृदयेन—चेतसा, एतत् सर्वं—मेघोदयादिष्वपि, नैव गणयामि—लक्षयामि । एतेषाम्  
एकैकस्यैव गमनविघातकत्वेऽपि युगपत् सर्वोदयेऽपि नाहमिदानीं कथमपि प्यातु  
शक्यामि इति भावः । आर्या वृत्तम् ॥ ३२ ॥

इत्यप्यशस्त्राटवीसञ्चरणपञ्चानन-पण्डितकुलपतिना वि, ए, उपाधिधारिणा

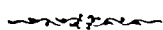
श्रीमञ्जीवानन्दविद्यासागरभट्टाचार्येण विरचितायां, तदात्मजाभ्यां

पण्डितश्रीमदाशुबीधविद्याभूषण-पण्डितश्रीमन्नित्यबीधविद्यारत्नाभ्यां

प्रतिसंस्कृतायाममलाख्यायां मृच्छकटिकव्याख्यायां

चतुर्थोऽङ्कः ॥ ४ ॥

## पञ्चमोऽङ्कः ।



[ ततः प्रविशति आसनस्य सीत्कण्ठशरदत्तः ] ।

चारु । [ ऊर्ध्वमवलोक्य ] उन्नमति अकालदुर्दिनम् । यदेतत्—

आलोकितं गृहशिखण्डभिरुत्कलापैः

हसैयियासुभिरपाकृतमुन्मनस्कैः ।

आकालिकं सपदि दुर्दिनमन्तरीचम्

उत्कण्ठितस्य हृदयञ्च समं कण्वि ॥ १ ॥

पूर्वप्रस्तुतमकालदुर्दिनमेव तत्तल्लक्षणेस्त्रेखपुरं सरं षड्भिः श्लोकैरुपवर्णयन्नाह,  
आलोकितमिति ।—उत्कलापैः,—ऊर्ध्वप्रसारितवर्हे, प्रकृतिसिद्धानन्दसमुद्भवादिति  
भावः, ( मेघोदये हि कलापिनः परमानन्देनोत्कलापा भवन्तीति कविसमयप्रसिद्धिः,  
“मेघध्वानेषु नृत्यं भवति च शिखिनाम्” इति दर्पणकहचनात् ) गृहशिखण्डभिरुत्कलापैः,—  
गृहपालितमयूरैः आलोकितं—सस्पर्शं दृष्टं, तथा यियासुभिः,—यातु—मेघदर्शनात्  
गन्तुमिच्छुभिः, मानसं सरं इति शेषः, ( “जलधरसमये मानसं यान्ति हसाः”  
इति कविसमयप्रसिद्धिप्रस्तावे दर्पणकहचनात् ) अत एव उन्मनस्कैः,—मानसगमनाय  
अत्येकाग्रतया अन्यमनस्कैरित्यर्थः, हसैः,—मरालैः, अपाकृतं—निराकृतम्, अनभि-  
मन्दितमिति यावत्, इदानीन्तनमेघोदयस्य आकालिकत्वादिति भावः, [ “अपाकृतम्  
—अपकारकनिवृत्तं सत्त्वा स्थितम्” इति लङ्गादीदित्याग्न्यायनम् ] आकालिकम्—  
असमयोग्यं दुर्दिनम्—दुः—दुष्टम्, वर्षणालोकाभावादिसा अप्रीतिकरं, दिनं यस्मात्  
ततः संधि इत्यर्थः ( दुर्दिनशब्देनातः सन्देहया मेघ एव बोध्यः ) सपदि—भटिति,  
अतस्तिष्ठतेत्यर्थः, अन्तरीचम्—आकाशम्, उत्कण्ठितस्य—प्रियविरहीत्कल्मिकाकुल-  
विषयः जननं हृदयम्—एकं करणञ्च समं—दुग्धपत्रं, कण्वि—आहरोति, पक्षिः,—  
विषयान्तरात् वसन्तीकरोतीत्यर्थः । अतः सममिति महाप्रतापयक्षोपपदबोधकञ्च-  
द्वयान्तरं अन्तरीच-उत्कण्ठितहृदयदीप्तिवरोधकियदास्तव्यात् सहोत्तरमन्तरं,—  
“महाप्रतापव्यादेकं धृतं महाप्रतापं हृदयं । सा सहोत्तरमन्तरातिशयोक्तिर्यदा  
भवति ।” इति दर्पणमे, तन्मूलं भूता अतिशयोक्तिश्चातः दृष्टिदर्शनस्य हृदयरोधस्य  
रामकं न भूतनाह्नितत्वात् दर्शयति । उक्तं तिलकं इति । १ ।

अपि च,—

मेघो जलार्द्रमहिषोदर-भृङ्गनीलो

विद्युत्प्रभारचित-पीत-पटोत्तरीयः ।

आभाति संहतबलाक-गृहीतशङ्खः,

ख केशवोऽपर इवाक्रमितुं प्रवृत्तः ॥ २ ॥

तदेव प्रकारान्तरेण वर्णयन्नाह, मेघ इति ।—जलार्द्रमहिषस्य—जले अवस्थानात्  
सिक्तदेहस्य महिषस्य इत्यर्थः, उदर—कुक्षि, ( महिषस्य सहजग्यामत्वेऽपि सद्यो  
जलीकृतावस्थायां ग्यामत्वातिशयः, तत्रापि उदरस्य ग्यामताया विंशयो बोध्यः ) तथा  
भृङ्गश्च—समरश्च, तद्वत् नीलः,—ग्यामः, विद्युत्प्रभया—तडिडिकाशेन, रचित—  
कल्पितः, चिवितमित्यर्थः, पीतपट इव—पीतवसनमिव, उत्तरीयम्—ऊर्ध्वदेह-  
प्राप्यवसनमित्यर्थः, यस्य तादृशः, यद्वा,—विद्युत्प्रभा एव रचित—चित्रितः, पीत—  
गौराभश्च, पट—परिधेयवस्त्रम्, उत्तरीयश्च यस्य तादृशः, तथा सहतः,—पुञ्जीभूतः,  
सलग्न इत्यर्थः, स्वगात्रे इति भावः, बलाकः,—वक्र एव, [ बलाकशब्द पुलिङ्गो-  
ऽपि दृश्यते, स एवात्र प्रयुक्तः, बल—कम्पनम्, अकृति—गच्छति, बलेन—शक्त्या,  
अकृति—ऊर्ध्वं गच्छति, इति वा ल्युत्पत्त्या बल + अक-अच् इति पवर्गीयवकारादि-  
बलाकशब्दः निष्पद्यते । “बल सवरणे” इति भौवादिकान् दन्त्यवकारादिवलधातो  
आकन् प्रत्ययेन च बलाक इति पदं भवितुमर्हताति बोध्यम् । गृहीतशङ्खः,—हस्त  
धृतपाशजर्ज्वरं यस्य तथ भूतः, मेघः,—जलदः, अपरः,—अन्यः, प्रसिद्धातिरिक्त  
इत्यर्थः, केशव इव—वामनरूपधारी नारायण इव, खम्—आकाशम्, आक्रमितुम्—  
आच्छादयितुम्, अन्यत्र,—पादविच्छेपेण अधिकर्षुमित्यर्थः, प्रवृत्तः,—उद्युक्तः सन्,  
आभाति—विराजतः । पुरा किल वामनरूपो हरिः बलियज्ञे त्रिपादमितां भूमिं  
भिक्षित्वा एकेन पदा आकाशमाचक्रामति पौराणिकी वासाऽवानुसन्धेया । अथ  
प्रसिद्धातिरिक्तकेशवस्याभेदेन मेघे उत्कटक्रीडाकमशयादुत्तेजालङ्कारः, एवं प्रथमे  
पादे तादृशमहिषोदरभृङ्गाभ्यां मेघस्य अवैधर्मसाम्यकथनात् उपमा, द्वितीये च  
विद्युत्प्रभाया विषयः तादात्म्येनारोपितस्य पीतासरीयस्य केशवसाम्यरूपवृत्तार्थोप-  
योगित्वात् परिणामालङ्कारः, तृतीये च निरपह्नवविषये बलाके शङ्खस्य अभेदेनारी-  
पात् रूपकम् इत्येतयामलङ्काराणां परस्परसापेक्षतया सन्दर्भः । वसन्तिलक  
इत्यम् ॥ २ ॥

किञ्च,—

केशवगात्रश्यामः कुटिल-बलाकावली रचितशङ्कः ।

विद्युद्गुण-कौशियश्चक्रधर इवोन्नतो मेघः ॥ ३ ॥

एता निषिक्त रजतद्रव-सन्निकाशा

धारा जवेन पतिता जलदोदरेभ्यः ।

विद्युत्प्रदीपशिखया जणनष्टदृष्टा-

श्छिन्ना इवास्वरपटस्य दशाः पतन्ति ॥ ४ ॥

उक्तनिवाद्यनाथ्या पुनः प्रकारान्तरेणाह, केशवेति ।—केशवगात्रवत्—श्रीकृष्णाङ्ग-  
मिव श्याम —नील, कुटिला—वक्रगमनशीला, या बलाकावली—वक्रपङ्क्ति,  
ता एव ( शुभतादिति भावः ) रचितः,—धृतः, शङ्कः येन तथीकृतः, तथा विद्युदेव—  
तडिदेव गुणः,—तत्पु, विद्युद्गुणः, स एव कौशियः—चीनवस्त्र यस्य स तथीकृतः,  
( “कौशियः क्षिमिकोशीलम्” इत्यमरः ) मेघः,—जलधरः, चक्रधर इव—कृष्ण इव,  
उन्नतः,—उदितः । अतिगाढनीलोच्चलाकृतिः शुभवक्त्राजिविराजितः विद्युद्विलासः  
रुचिरो जलधरः, श्यामलमुन्दराकृतिः करधृतशङ्कः पीतवसनः देवकीनन्दन इवाभा-  
तीति सरलाद्यैः । तथा चाव तादृशविशेषणविशिष्टमेघस्य तादृशविशेषणोपेतचक्र-  
धरेण अवैधर्म्यसाम्यकधनात् उपमाऽलङ्कारः, सा च निरपङ्कृतविषये बलाकादौ  
गृहादेनादात्म्येन अर्थावसानाद्रूपकेणानुपाश्रितति बोध्यम् । आर्या हतमिदम् ॥ ३ ॥

पुनरपि भग्नान्तरेण तदेव दुर्द्धिनमुपवर्णयन्नाह, एता इति ।—निषिक्ता,—  
सरिता ये रजतद्रवाः,—द्रवोभूतरजतानीत्यर्थः, तेषां सन्निकाशाः,—सदृश्याः,  
[ “निभसद्गाङ्गीकाशप्रतीकाशोपमादयः । तुल्याद्याः—” इत्यमरप्रमाणात् “इक-  
काश” इति वाचिकेन दीर्घस्य वैकल्पिकत्वात् जम्बादिदीर्घादि वा नीतिनाकाशशब्द-  
सदृशादयः वाचकः ] जलदोदरेभ्यः,—मेघजडरेभ्यः, मेघाभ्यन्तरादित्यर्थः, पतिताः,  
—पतिताः, एताः,—परिदृश्यमानाः, धाराः,—जलधाराः, विद्युदेव—तडिदेव,  
प्रदीपशिखा—दीपवत्यानां तदा चरेण—मुहूर्तकालेन, तथा,—ध्वान्ताच्छन्नतया  
अदृश्यमाना हृष्टा—पद्मात् विद्युत्प्रदीपशिखया दृष्टिविषये प्राप्तादित्यर्थः, अस्वर-  
पटस्य,—अकाशपटवस्तस्य दशाः,—प्रान्तभागाः, मुद्राणीत्यर्थः, ( दशानां शुभ-  
वर्तने—नखनान्तरेण च धारणादहम् बोध्यम् ) छिन्नाः,—उक्तव्याख्यानात् तुटिता  
न चरेण—उदितः, पतन्ति—सरणीत्यर्थः । अत्र प्रकृते जलधारपाते दृक्भूतमान-  
तः देवता न च अहम् छिन्नास्वरपटदशापातत्वेन सुभावनात् उन्नेष्टाऽलङ्कारः, सा च

संसक्तैरिव चक्रवाकमिथुनैर्हंसैः प्रडीनैरिव  
 व्याविष्टैरिव मोनचक्रमकरैर्हस्यैरिव प्रोच्छ्रितैः ।  
 तैस्तैराकृतिविस्तरैरनुगतैर्मघैः समभ्यन्नतैः  
 पत्रच्छेद्यमिवेह भाति गगन विश्लेषितैर्वायुना ॥ ५ ॥  
 एतत्तद्वृतराष्ट्रचक्र-सदृशं मेघान्धकार नभः,  
 हृष्टो गर्जति चातिदर्पितबलो दुर्योधनो वा शिखी ।

अनपङ्कतविषयेऽश्वरादौ पटादेस्तादात्म्यनारीपात् रूपकेणानुप्राणिता, एवम् अश्वर  
 प्रटस्येत्यत्र “भुजङ्गकुण्डली” इत्यादिबन्धु अश्वरशब्दस्य आपातत वस्तुतया पुनरुक्तवत्  
 आभासमानत्वात् पुनरुक्तवदाभासीऽलङ्कार, इत्येवा परस्परमङ्गाङ्गित्वेन सादृश्यम् ।  
 वसन्ततिलक वृत्तम् ॥ ४ ॥

तदेवाकालदुर्द्धिन भङ्गान्तरेण वर्णयन्नाह, संसक्तैरिति ।—संसक्तैः,—परस्पर-  
 मिलितैः, चक्रवाकमिथुनैः,—कोकयुगलैरिव, प्रडीनैः,—उडडीयमानैः, हंसैः,—  
 मरालैरिव, व्याविष्टैः,—समुद्रमन्यनादुत्पतितैः, परितो भान्तैरिति वा, मीनाना—  
 मत्स्याना, चक्रैः,—समूहे, तथा मकरैः,—खनामग्न्यातजलजन्तुविशेषे इव,  
 प्रोच्छ्रितैः,—समुन्नतैः, हस्यैः,—प्रासादैरिव, तै तैः,—तत्तद्विगवस्थितैरित्यत्र,  
 आकृतिभिः,—आकारभेदेन, विस्तरैः,—बहुलैः, वायुना—वातेन, विश्लेषितैः,—  
 विभेद गमितैः, इतस्तथागतैरित्यर्थः, [ “विश्लेषितैः ” इत्यत्र “विश्लेषितम्” इति  
 पाठान्तरे गगनविशेषण बोध्यम् ] वायुवशात् विभिन्नाकारतया बहुविधैरिति यावत्,  
 अनुगतैः,—युक्तैः, समभ्यन्नतैः,—अत्युच्छ्रितैः, मेघैः,—जलदैः, करणीभूतैरित्यत्र,  
 इह—एतद्वृत्तदेशोर्हदेशावच्छिन्न, गगनम्—आकाशतलं, पत्रच्छेद्यम्—आलेख्यमिव,  
 भाति—विराजते, गगन चित्रमिव रमणीयं शोभते इत्यत्र । [ लज्जादीजितम्  
 “पत्रच्छेद्यपदम् आलेख्यापरपर्यायस्य चित्रपदायस्य वाचकं वृद्धम्” इत्याह ] । अत्र  
 वायुवेगविच्छिन्ने प्रकृते मेघे तत्तद्विगवणविशिष्टानां परेषां चक्रवाकमिथुनादीनां  
 उत्कटकोटिकमशयात् उत्प्रेक्षाऽलङ्कार । शार्दूलविक्रीडित वृत्तम् ॥ ५ ॥

सादृश्ये काले यादृश स्वभाव समुत्पद्यते, स एव इदानीमपि आत इति दर्शय  
 न्नाह, एतदिति ।—एतत्—दृश्यमान, मेघान्धकार—मेघैः,—जलदैः, अभकार,—  
 भ्रान्त, यस्मिन् तत्, मेघावततया प्रगाढतम समाच्छन्नमित्यत्र, नभः,—आकाश,  
 तस्य—प्रसिद्धस्य, ( तच्छब्दोऽत्र प्रसिद्धार्थं प्रयुक्तः, तस्मादेव चात्र यच्छब्दस्य

अक्षयूतजितो युधिष्ठिर इवाध्वानं गतः कीकिलः,

हृसाः सम्प्रति पाण्डवा इव वनादज्ञातचर्यां गताः ॥६॥

नापेदा, यदुक्तं दर्पपहृष्टि विवनाद्यपादै,—“तच्छब्दस्य प्रकान्तप्रसिद्धानुभूताश्रिते  
दच्छब्दस्य आर्पणमेव” इति ) धृतराष्ट्रवक्तव्य—धृतराष्ट्रसैन्यस्य, ( “चक्र कीकं पुमान्  
हौष व्रजे सैन्यरघाङ्गयो” इति मेदिनी ) सङ्ग्रह, वर्तते इति ऋष, [ सादृश्यस्य  
तयोरेककारकारित्वेन तत्कारित्वस्य सैन्यस्य रघवक्राद्युत्तिष्ठन्धूमिपटलै, नमस्य  
सान्द्रनक्षत्रनिकरै चन्द्रार्कनखलाञ्छादकतयेति शीघ्रम्, “धृतराष्ट्रवक्तव्यम्”  
इति पाठे तु,—प्रगाढनेष्टेन आच्छादनात् चन्द्रमूर्त्यैः शून्यतया प्रगाढान्धकार नभः,  
धृतराष्ट्रस्य अन्ततया चक्षुर्द्वयविहीनेन तद्वक्त्रेण सङ्ग्रहमित्यर्थः ] तथा शिखी—सयूर,  
अतिदर्पितवत्,—अतिदर्पितम्—अतिशयगर्वित, वत्—सैन्य यस्य तादृश, गर्वित-  
सैन्यसमभिप्रायत इत्यर्थः, पक्षे,—अतिदर्पिते—नेत्रसन्दर्शनजानन्देनात्यन्तगर्वाभि-  
त्यज्जक वत्—इदम्, आकृतिरित्यर्थः यस्य स, ( “वत् गन्धर्वा रूपा स्यान्नि स्यौल्य-  
सैन्यी” इति मेदिनी ) दुर्धर्षणो वा—दुर्धर्षण इव, ( “वा न्याद विकल्पोपमयो-  
विषादोऽपि सुसुहृद्” इति विश्व ) हट,—आनन्दितं च, गर्वति—श्लाघते,  
पक्षे—स्वर्गैरुपमुह्येति, ( दर्पितवत्त्ववत् शिखीने नेत्रदर्शनेन, दुर्धर्षणस्य च



[ विचिन्त्य ] चिर खलु कालो मैत्रेयस्य वसन्तमेनाया  
सकाश गतस्य, नाद्यापि आगच्छति ।

विदू। [ प्रविश्य ] अहो ! गणिआए लोभो अदक्खिणटा  
अ ; जदो ण कधा वि किटा अणआए, अणाअरेण ज्जेव अभ-  
णिअ किं पि एब्ब ज्जेव गहिदा रअणावली । एत्तिआए  
ऋद्धीए ण तए अह भणिटी,—“अज्ज मित्तेअ । वीसमीअदु,  
मल्लकेण पाणोअ पि पिबिअ गच्छीअदु” त्ति । ता मा दाव,  
दासीए धोआए गणिआए सुहं पि पेक्खिस्स । (क) [ सनिर्वेदम् ]

\* अहो । गणिकाया लोभ अदक्षिणता च, यतो न कथाऽपि कृता अनया,  
अनादरेणैव अभणित्वा किमपि एवमेव गृहीता रत्नावली । एतावत्या ऋद्धा  
न तथा अहं भणित,—“आय्य मैत्रेय । विश्रम्यता, मल्लकेन पानीयमपि पीत्वा  
गम्यताम्” इति । तत् मा तावत्, दास्या पुत्र्या गणिकाया सुखमपि द्रव्यामि ।  
यान्ति हसा ” इति कविसमयप्रसिद्धे , अन्यत्,—अज्ञाने—परैरविदिते स्थाने,  
विराटराज्ये इत्यथ , चर्या—कृश्वेगेनाज्ञातवास [ “अज्ञातचर्याम्” इत्यत्र “परि  
चर्यां परिसर्यां-सृगया-ऽटाद्यानामुपमङ्गयानम्” ( वा० ) इति सूत्रे परैरविवक्षात  
चरधातो क्वप्प्रत्यये रूप सिद्धम् । “अज्ञातचर्यम्” इति पाठान्तरे तु—“गदमदचर-  
यमशानुपसर्गे” ( ३।१।१०० पा० ) इति यप्रत्यय ] गता,—प्राप्ता । अत्र हसादीना  
पाण्डवादिभिरवैधर्म्यमायकथनादुपमाऽलङ्कार । शार्दूलविक्रीडित वचनम् ॥ ६ ॥

( क ) अदक्षिणता—अनुदारता, [ “अणआए” इति प्राकृतस्य “अनया”  
इति वा संस्कृतम् , नास्ति नय,—नोति, यस्या तथोक्ता, अनोतिचया इत्यथ ।  
“अण्णा” इति पाठान्तरे,—“अनया” इति संस्कृत साधुतया न सद्गच्छत, अन्या इत्यत्र  
सङ्गतम् , किन्तु अय पाठ न तथा समीरम प्रतिभातीति बोध्यम् , तथात्र अन्या—  
चारुदत्तस्य कुमलम् विना अपरा, कथं हारित सुवर्णभाण्डमित्यादिरूपा इत्यथ ]  
किमपि अभणित्वा—“केन साकं हारित सुवर्णभाण्डम् ? कदा वा ? कथं चैतत् प्रति  
दानम् ?” इति अकथयित्वा इत्यथ , यदा, यद्गत, तद्गत, तन्न किम् ? अन्यमुक्त्या तस्य  
कृते बहुमुक्त्यामिमां न ग्रहीष्यामि इत्यादिकं किमपि अनुक्ता इत्यथ । ऋद्धा—सम्पत्त्या,  
[ विशेषणे तृतीया ] । मल्लकेन—मल्ल एव मल्लकं तेन, पावत्रिपदेण इत्यथ ,  
[ “मल्ल पावे कपोले च” इति मेदिनी । “मल्लकेण” इत्यत्र “मल्लकेण” इति

सुदु क्वु वुच्चदि, अकन्दसमुत्थिता पउमिणी, अवचओ वाणिओ,  
अचोरो सुवस्सआरो, अकलहो गामसमागमो, अलुडा गणिआ  
त्ति दुक्कर एदे सभावोअन्ति । (ख) ता पिअवअस्सं गदुअ  
इमादो गणिआपसगादो णिवत्तावेमि । [ परिक्रम्य दृष्टा च ] कथ ।  
पिअवअस्सो रुक्खवाडिआए उवविट्ठो चिट्ठदि, ता जाव उव-  
सप्पामि । [ उपसृत्य ] सोत्थि भवदे, (ग) बड्डु भवं । \*

चारु । [ विलोक्य ] अये । सुहन्मे मैत्रेय. प्राप्तः । वयस्य ।

स्वागतम् ? आस्यताम् ।

विद् । उवविट्ठोहि । †

चारु । वयस्य । कथय तत् कार्यम् ।

विद् । त क्वु कज्ज विणट्ठ । ‡

चारु । किं तथा न गृहीता रत्नावली ?

सुष्ठु खलु उच्यते, अकन्दसमुत्थिता पद्मिनी, अवचकी वाणिक्, अचौर सुवर्ष  
कार, अकलहो ग्रामसमागम, अलुड्या गणिकेति दुष्करमेते सम्भाव्यन्ते । तत्  
प्रियवयस्य गत्वा अस्मात् गणिकाप्रसङ्गात् निवर्तयामि । कथ । प्रियवयस्यो ह्यह  
वाटिकायामुपविष्टमिच्छति, तत्र यावदुपस्रपामि । स्वप्नि भवते, बहता भवान् ।

† उपविष्टोऽस्मि ।

‡ तत् खलु कार्ये विनष्टम् ।

पाटान्तरे,—“गन्धर्वेण” इति मङ्गलम् । गन्धर्वेण—चपकेण, पान्पात्रेणेत्यर्थः ।  
“पाणीअ पि पिषिअ गच्छीअदु त्ति इत्यत्र “पाणीअ पि पिषीअदु” इति पाटान्तर,  
“पानीयमपि पीयताम्” इति मङ्गलम् ।

(ख) अकन्दसमुत्थिता—कन्द —मूलविशेष (भुङ्गीति भाषा) तस्मात्  
समुत्थिता—विना कन्द समुत्पन्ना । पउमिणी इति “उ पउतत्तीसमिपु”  
इति सूत्रेण पञ्चमस्य स्वरस्य द्वितीय स्वरस्य च उकारः । दामसमागम,  
—ग्राम लोकासमागम इत्यत्र । दुक्कर सम्भाव्यते—सम्भावना दुष्करा, नैव सम्भाव्यता  
इत्यत्र ।

विदू। कुदो अरुहाणं एत्तिअ भाअधेअ ? गव गल्लिण  
कोमल अञ्जलि मत्थए कदुअ पडिच्छिआ । \* (घ)

चारु। तत् कि ब्रवीषि विनष्टमिति ?

विदू। भोः । कध ण विणट्ठ ? ज अभुत्तस्स अपीदस्स  
चोरेहि अबहिदस्स अप्पमुल्लस्स सुवस्सभडअस्स कारणादो  
चटुस्समुद्दसारभूदा रअणमाला (ङ) हारिदा । †

चारु। वयस्य । मा मैवम्,—

यं समालम्ब्य विश्वासं न्यासोऽस्मासु तथा कृत ।

तस्यैतन्महतो मूल्य प्रत्ययस्यैव दीयते ॥ ७ ॥

विदू। भो वअस्स । एदं पि मे दुदिअ सन्ताव कारणं, जं  
सहीअण दिस्स सस्साए पडन्तोवारिदं मुह कदुअ अह उव

\* कुतोऽस्माकमेतावङ्गागधेयम् ? नवनलिनकोमलमञ्जलि मल्लके कृत्वा प्रतीष्टा ।

† भो । कथं न विनष्टम् ? यत् अभुक्तस्य अपीतस्य चोरेरपहृतस्य अप्यमूल्यस्य  
सुवर्णभाग्यस्य कारणात् चतुःसमुद्रसारभृता रत्नमाला हारिता ।

‡ भो वयस्य । एतदपि मे द्वितीय सन्तापकारणं, यत् सखीजनदत्तमञ्जया

( घ ) भागधेय—भाग्य, येन सा न रक्षीष्यतीति भावः । प्रतीष्टा—प्रति  
गृहीता ।

( ङ ) चतुःसमुद्रसारभृता—चतुर्थं समुद्रेषु—सागरेषु, य सार,—श्रेष्ठाण,  
तद्भृता—तत्स्वरूपा, सागरान्तर्वर्तिरत्नानां सर्वप्रधानरत्नस्वरूपेभ्यः [ “रत्नमाला”  
इत्यत्र “रत्नगणवली” इति पाठान्तरं, “रत्नावली” इति रक्षतम् ] ।

अल्पस्य हतीर्बहुवर्ति स्वीकृत्य तथा न युक्तमार्चयितुमित्यस्य विदूषकवाक्यस्य  
प्रत्युत्तरमाह, यमिति । —तया—रमण्या, वसन्तसेनया इत्याशयः, य वयस—  
प्रत्ययः, समालम्ब्य—समाश्रित्य, अस्मासु—मादण्डेषु, न्यासः,—भलद्वारनिर्देशः,  
कृतः,—विहितः, महतः,—अमितमूल्यस्येभ्यः, तस्य प्रत्ययस्य—विश्वासमयैव, एतत्  
—रत्नावलीरूपं वस्तु, मूल्य—निष्कृतं, दीयते—प्रत्यप्यतः, नैतदपहृतसुवर्णभाग्यस्य  
मूल्यम्, अपि तु अभूमूल्यस्य विश्वासस्येति नात्र न्यूनाधिक्यवचनं कथं न शीतं भावः ।  
पय्यादकं ० तम् ॥ ७ ॥

हसिदो । ता अहं बह्मणो भविअ दाणि भवन्तं सीसेण पडिअ  
विस्सवेमि,—णिबत्तीअदु अप्पा इमादो बहुपच्चवाआदो गणिआ-  
पसगादो । गणिआ णाम पादुअन्तरप्पविट्ठा विअ लेट्ठा  
दुक्खेण उण गिराकरोअदि । अविअ,—भो वअस्स । गणिआ,  
हस्यो, काअत्यओ, भिक्खु, चाटो, रासहो अ, जहि एदे णिव-  
सन्ति, तहि दुट्ठा वि ण जाअति । ॥ (च)

पटान्तापवारितं सुखं कृत्वा अहमुपहसितः । तदहं ब्राह्मणी भूत्वा इदानीं भवन्तं  
शीर्षेण पतित्वा विज्ञापयामि,—निवर्त्यतामात्मा अस्मात् बहुप्रत्यवायात् गणिका-  
प्रसङ्गात् । गणिका नाम पादुकान्तरप्रविष्टा इव लेट्टुका दुःखेन पुनर्निराक्रियते ।  
अपि च, भो वयस्य । गणिका, हस्ती, कायस्थ, भिक्षु, चाट, रासभय, यत्र  
एते निवसन्ति तत्र दुष्टा अपि न यान्ति ।

( च ) सन्तापकारण—मनस्तापहतु । किं तदित्याह, यदिति ।—सखीजन  
दत्तसज्जया—सखीजनाय—स्ववयस्यायै चेत्यर्थः इत्यर्थः, दत्ता—कृता इति यावत्,  
सज्जा—सज्जेत यथा तद्योक्त्या, तथा वसन्तसेनयेति शेषः, ( “सज्जा स्याच्चेतना नाम  
हन्ताद्यैश्यायमूचना’ इत्यमरः ) । पटान्तापवारितम्—अच्छलाच्छादितम् । तत—  
तस्मात् तत्कृतीपहासजन्यावमाननादित्यर्थः । ब्राह्मणी भूत्वा—ब्राह्मणवर्गं चत्पन्न  
सज्जयित्वा । भवन्तं शीर्षेण पतित्वा—गिरसा तत्र पादयोः पतित्वा इत्यर्थः, तत्र  
चरणपरि मलकं सज्जयित्वा इति यावत् । बहुप्रत्यवायात्—पापभूयिष्ठात्, विघ्न-  
बहुलाद्या, गणिकाप्रसङ्गात्—वेद्यासम्पर्कात् । पादुकान्तरप्रविष्टा—चरणपाराङ्गती  
पामदन्तवाचनी । लेट्टुका—दृढलोष्ट, “कौकर” इति वदन्भाषा । [“लोष्टानि लेट्ठव  
पसि” इत्यमरः अतः लेट्टुशब्दात् लुट्ठार्थे क । स्वीयमविवक्षितम् ] निराक्रियते—  
अपराध्यत, गालकाप्रत्ययनायासेन न निराकृतुं शक्यत इति भावः । चाट,—

चार। वयस्य । अलमिदानीं सर्व्वं परिवादमुक्ता । अव-  
स्थया एव अस्मि निवारितः । (क) पश्य,—

वेगं करोति तुरगस्त्वारतं प्रयातं,

प्राणव्ययान्न चरणास्तु तथा वहन्ति ।

सर्व्वत्र यान्ति पुरुषस्य चलाः स्वभावाः,

खिन्नास्ततो हृदयमेव पुनर्विशन्ति ॥ ८ ॥

—“दृष्टा ” इति दुपधातो भावे क्तप्रत्ययेन निष्पन्न, टीया इत्यथ, न जायन्ते ? अपि  
तु जायन्ते एव इत्येवमर्थे काक्का समर्थयते । तद्धि गजनिमीलिकैव भावे क्तप्रत्ययान्तस्य  
नपुसकताया, अपरिह्यार्थत्वात् ] ।

( क ) परिवाद—निन्दाम् । उक्ता अल—कि, निन्दावादी निष्पृथीजन इत्यथ,  
[ “सर्व्वं परिवादम्” इत्यत्र “सर्व्वं परिवादम्” इति पाठ समीचीनतया प्रतिभाति,  
तत्र सर्व्वेषां परिवादम् इति व्यास करणीय ] [ “अलखन्तो प्रतिपेक्षयो प्राचां क्का”  
(३।४।१८ पा०) इति अलंघीगे क्ताप्रत्यय ] । अवस्थयैव—वर्त्तमानया मदीयदृष्टंशयैव ।  
निवारित,—प्रतिषिद्ध, अस्मात् गणिकाप्रसङ्गादिति शेष, गणिकाप्रसङ्गस्य निन्दा-  
वादप्रचारेण तवाय गणिकाप्रसङ्गात् मन्मनीनिवर्त्तनप्रयासो निष्पृथीजन एव, यत  
इदानीमहमीदृग्दुरवस्थ सञ्जात, यन्मामेव विभवहीनमालोक्य धनगृधु कापि  
गणिका नाश्रयिष्यतीति भाव ।

उक्तमेवार्थं दृष्टान्तप्रदर्शनेन समर्थयमान आह, वेगमिति ।—तुरग,—अश्व,  
त्वरित—शीघ्र, प्रयातु,—गन्तु, वेग—जव, द्रुतपदक्षेपमित्यथ, करोति—विधत्त,  
तु—किन्तु, चरणा,—पादा, तदीया इति शेष, प्राणव्ययात्—प्राणनाशमाशङ्गा,  
[ इति ल्यबलापे पञ्चमी ] अथवा,—प्राणव्ययात्—बलचरात्, दृञ्चलतया इत्यथ,  
अधिकसमयपर्य्यटनेन इति भाव, तथा—त्व रतमित्यथ, न वहन्ति—न धावन्ति,  
तथा हि, पुरुषस्य—जनस्य, दरिद्रस्येति भाव, चला,—चञ्चला, स्वभावा,—  
प्रकृतय, सर्व्वत्र—सर्व्वेव विपक्षेषु, साध्येषु असाध्येषु चेत्यथ, यान्ति—धावन्ति,  
तत खिन्ना,—खिद प्राप्ता मन्त, तत्तत्काय्याचमतयेति भाव, पुन,—भूय, इत्य  
मेव—स्वावामभूतमन्त करणमेवैत्यथ, विशन्ति—लभ्य गच्छन्ति, कल्पनाभावमारता  
दिति भाव । ( अत्रानुरूप श्लोको यथा,—“उत्ताय हृदि लोयन्ते दरिद्राणां मनो  
रथा । वानवैधव्यदग्धाना कुलस्त्रीणां कुचाविव ॥” इति ) । अत्र “मम स्वभाव

अपि च, वयस्य ।—

यम्यार्थास्तस्य सा कान्ता, धनहार्यो ह्यसौ जन ।

[स्वगतम्] न, गुणहार्यो ह्यसौ जन । [प्रकाशम्]—

वयमर्थे परित्यक्ता, ननु त्यक्तैव सा मया ॥ ८ ॥

विद् । [अधीऽवलोक्य स्वगतम्] जघा एसो उड पेक्खिअ दीहं  
णिससदि, तथा तर्कोम, मए विणिवारिअन्तस्स अधिअदर  
वड्ढिदा से उक्कण्ठा, ता सुड्, क्खु एव्व वुच्चदि, “कामो वामो”(ज)  
त्ति । [प्रकाशम्] भो वअस्स । भणिद अ ताए,—“भणेहि चारु-

\* यथा एष ऊर्ध्वं प्रेत्य दीर्घं निश्चसिति, तथा तर्कयामि, मया निवायेमाणस्य  
अधिकतरं दृष्ट्वा अन्त्योत्कण्ठा, ततः सुष्ठु खलु एवमुच्यते, “कामो वाम” इति । भो

वसन्तसेनागतोऽपि अर्थाभावेन द्रुतितः सन् ततः प्रतिनिवृत्तः” इति विशेषे प्रस्तुते  
तादृशसामान्यस्याप्रस्तुतस्याभिहितत्वात् इषाहं अप्रस्तुतप्रशसाऽलङ्कारः, स च  
सुतरं चलितुमभिलषन्नपि तुरगं असामर्थ्यात् प्रभवतीति समानधर्मस्य वस्तुन प्रति  
विस्तृतात् पूर्वाद्गतदृष्टान्तालङ्कारेण सङ्कीर्णं । वसन्ततिलकं वृत्तम् ॥ ८ ॥

मद्गुणैकपक्षपातिनो वसन्तसेना विभवपरिहीनमपि मां कथमपि न परि  
त्यज्यतीति मनसा सम्यक् ज्ञानमपि विद्रूपकमन्यदा बोधयन्नाह, यथेति ।—यस्य—  
जनस्य, अथा —धनानि, सन्तीति शेषः, सा—वसन्तसेना तस्य—धनवती जनस्य,  
कान्ता—पतिः हि—यतः असौ जनः—वसन्तसेनाय, धनहार्यः,—धनेन  
हाराय —वशं वेद्यावादिति भावः । \* इति धनहार्यवदवाया पूर्वोक्ते परिहार  
वक्ष्यन् । प्रकाशनिवृत्तौ सुखरं नैवेद्यं अन्तर्ह्यस्मिन् वदेम इति विचिन्त्य,  
स्वगतस्यैव विवहारादनेन, इति विद्विष्टिभाष्यम् । हि—निश्चितम्, असौ जनः

दत्त, अल्ल पओसे मए एत्थ आअन्तब्ब”त्ति, ता तक्केमि, रअणा-  
वलीए अपरितुट्ठा अवर मग्गिदु आअमिस्सदि (भ) त्ति । \*

चारु । वयस्य । आगच्छतु, परितुष्टा यास्यति ।

चेट । [ प्रविश्य ] अवधे (ज) माणहे, च—

जधा जधा वग्गदि अम्भखण्डे, तधा तधा तिम्यदि पुट्टचम्मे ।

जधा जधा लगति शीटवाटे, तधा तधा वेवदि मे हलक्केः ॥ १० ॥

[ पृष्ठस्य ] ।—वंशं वाए शतत्किह, शुशह,

वीणं वाए शततन्तिं णदन्ति ।

गीअं गाए गहहग्गणुलूअ

की मे गाणे तुम्बलू णालटे वा ? § ॥ ११ ॥

वयस्य । भणितञ्च तथा,—“भण चारुदत्तम्, अद्य प्रदीपे मया अवागन्तव्यम्” इति ।

तत् तर्कयामि, रत्नावल्या अपरितुष्टा अपर मार्गयितुम् आगमिष्यतीति ।

† अपेत मानवा ।—

‡ यथा यथा वर्पति अम्भखण्ड, तथा तथा तिम्यति पुट्टचम्मे ।

यथा यथा लगति शीतवातस्तथा तथा वेपते मे हृदयम् ॥

§ वंश वादयामि सप्तच्छिद्रं शुशह, वीणां वादयामि सप्ततन्तीं नदन्तीम् ।

गीतं गायामि गर्दभस्यानुरूपं, कीं मे गाने तुम्बलूनादौ वा ? ॥

( भ ) अपर—रत्नावलीभिन्नमन्यत् किञ्चिदित्यर्थः । मार्गयितुं—याचितुम् ।  
[ “आअमिस्सदि” इत्यत्र “आअच्छदि” इति पाठान्तरम्, “आगच्छति” इति संस्कृतम् ] ।

( ज ) अपेत—अपगच्छत । [ “अवेध” इति प्राकृतस्य “अवेत” इति संस्कृतम्,  
“अवगच्छत” इत्यर्थः प्राचीनसम्मतः ] ।

हृदिजलसिक्तकायो वेपमानयेष्ट अन्यानवहितान् कुञ्चन् स्वामवस्थां वर्णयन्नाह,  
अधेति ।—अम्भखण्ड—मेघशकल, यथा यथा वर्पति—वर्षणं करोति, पुट्टचम्मे—  
पश्चाद्भाग इत्यर्थः, तथा तथा तिम्यति—आर्द्रीभवति, एव शीतवातः—शीतलो वायुः,  
यथा यथा लगति—गात्रं स्पर्शति इत्यर्थः, तथा तथा मे—मम, हृदयम्—अन्तः  
करणम्, [ अत्र हृदयपद सर्वशरीरपोषकं बोध्यम् ] वेपते—कम्पत । स्पष्टं १३  
वृत्तम् ॥ १० ॥

इदानीं स्वस्य गीतकलापारदर्शितामाह, वंशमिति ।—सप्तच्छिद्रं—सप्तधरं वादकं

आणत्तम्हि अज्जआए वसन्तशेणाए, “कुम्भीलआ । गच्छ  
तुम, मम आगमणं अज्जचारुदत्तश्श णिवेदेहि” त्ति । ता जाव  
अज्जचारुदत्तश्श गेहं गच्छामि । [ परिक्रम्य प्रविष्टकेन दृष्ट्वा ] एशे  
चारुदत्ते रुक्खवाडिआए चिट्ठदि , एशे वि शे दुट्ठवडुके । ता  
जाव उवशप्पेमि । कधं । ढक्किदे दुवाले रुक्खवाडिआए ॥  
भोदु, एदश्श दुट्ठवडुअश्श शस्स देमि । (ट) \* [ इति लोष्टगटिकाः  
चिपति ] ।

विद् । अए । को दाणि एसो पाआरवेट्ठिदं (ठ) विअ  
कप्पत्थ म लोष्टकेहिं ताडेदि ? †

चारु । आराम प्रासाद-वेदिकाया (ड) क्रीडङ्गिः पारावतैः  
पातित भवेत् ।

\* आश्रमाऽस्मि आर्यया वसन्तसेनया,—“कुम्भीलक । गच्छ त्वं, समागमन-  
माय्यचारुदत्तस्य निवेदय” इति । तदयावत् आर्य्यचारुदत्तस्य गेहं गच्छामि । एष  
चारुदत्तो हस्तवाटिकाया तिष्ठति , एषोऽपि स दुष्टवटुक । तदयावदुपसर्पामि ।  
कथम् । आश्रमादित हार हस्तवाटिकाया ॥ भवतु, एतस्य दुष्टवटुकस्य सज्जां ददामि ।

† अथ । क इदानीमेष प्राकारवेष्टितमिव कपिल्य मा लोष्टकैस्ताडयति ?



विद् । दासीए पुत्त दुट्टपारावत्त । चिट्ठ, चिट्ठ, जाव एट्ठिणा  
दण्डकट्ठेण सुपक्कं विअ चूअफल इमादो पामादादो भूमीए  
पाडइस्स । ‡ [ इति दण्डकाष्ठमुद्यम्य धावति ] ।

चारु । [ यज्ञीपवीने आरूढ्य ] । वयस्य । उपविश, किमनेन ?  
तिष्ठतु दयितासहितस्तपस्वी (ठ) पारावतः ।

चेट । कथं पारावदं पेक्खदि, मं ग पेक्खदि ? भोदु, अव-  
राए लोट्टगुडिआए पुणो वि ताडइस्स । † [ तथा करोति ] ।

विद् । [ दिशोऽवलोक्य ] कथं कुम्भीलओ ॥ ता जाव उव-  
सप्पामि । [ उपसृत्य द्वारमुद्वाह्य च ] अरे कुम्भीलअ । पविश,  
साअदं दे ‡ ‡

चेट । [ प्रविश्य ] अज्ज । वन्दामि । §

विद् । अरे । कहि तुमं ईदिसे दुट्ठिणे अन्यआरे आअदो १॥

चेट । अले । एशा शा । ††

विद् । का एशा का ? †††

चेट । एशा शा । ‡‡

• दास्या पुत्त दुष्टपारावत । तिष्ठ, तिष्ठ, यावदेतेन दण्डकाष्ठेन सुपक्विव  
चूतफलम् अस्मात् प्रामादात् भूमौ पातयिष्यामि ।

† कथम् । पारावत पश्यति, मां न पश्यति ? भवतु, अपरया लोट्टगुटिकाया  
पुनरपि ताडयिष्यामि ।

‡ कथं कुम्भीलक ॥ तत् यावदुपसपामि । अरे कुम्भीलक । प्रविश, स्वागतं त ?

§ आद्य । वन्दे ।

१ अरे । कुत्र त्वमोट्टगुटि दुट्ठिने अन्यकारि आगत ?

†† अरे । एषा सा ।

††† का एषा का ?

‡‡ एषा सा ।

उपवनम्" इत्यमर ) य प्रामाद, —वृद्धदशालिका, तत्र या वेदिका—प्रामादा-  
निन्ते रचितवृद्धप्रदेशविशेष, तस्याम् ।

(ठ) दयितासहित, —प्रियतमोपेत, सम्बन्धक इति यावत् । तपस्या—  
वराक, अनभिज्ञतया निर्दोष इत्यर्थः ।

विद् । किं दाणिं दासीए पुत्ता । दुब्बिक्खकाले बुद्धरङ्गो  
विअ (ण) उद्धकं सासाअसि, एसा सा सा त्ति ? \*

चेट । अले । तुम पि दाणिं इन्दमहं कामुको विअ (त)  
सुद्धु किं काकाअसि, का का त्ति ? †

विद् । ता कहिहि । ‡

चेट । [ स्वनतम् ] भोदु, एव्व भणिस्स । [ प्रकाशम् ] अले !  
पह दे दड्ढं । §

विद् । अहं दे सुण्ढे गोड दड्ढं । ¶

चेट । अले । जाणाहि दाव तेण हि, कस्सिं काले चूआ  
मोलेन्ति ? \*\* (ग्र)

विद् । अरे दासीए पुत्ता । गिम्हे । ††

\* किमिदानीं दास्या पुत्र । दुर्भिक्षकाले हृदय इव लङ्घ्यं चासायसे, एषा  
सा नेति ?

† अरे । त्वमपि इदानीन्निन्दमखकामुक इव सुद्धु किं काकाअसे, का नेति ?

‡ तव कथय । § भवतु, एव भणिष्यामि । अरे । प्रअ ते दास्यामि ।

¶ अहं ते सम्यक् पाद दास्यामि ।

\*\* अरे । जानीहि तावत् तेन हि कस्मिन् काले चूता मुकुलयन्ति ?

†† अरे दास्या पुत्र । दौघे ।

चेट । [ सहासम् ] अले । ण हि, ण हि । \*

विदू । [ स्वगतम् ] किं दाणिं एत्थ कहिस्सं ? [ विचिन्त्य ] भोदु,  
चारुदत्तं गदुअ पुच्छिस्सं । [ प्रकाशम् ] अरे । मुहुत्तअं चिट्ठ ।  
[ चारुदत्तमुपसृत्य ] भो वअस्स । पुच्छिस्स दाव, कस्सि काले चूआ  
मोलेन्ति ? †

चारु । मूर्ख । वसन्ते ।

विदू । [ चेष्टमुपगम्य ] मुक्ख । वसन्ते । ‡

चेट । दुट्ठिअं दे पल्ल ददस्स । शुशमिज्जाणं गामाणं का  
लक्खअं कलेदि ? §

विदू । अरे रच्छा । ¶

चेट । [ सहासम् ] अले ! ण हि ण हि । \*\*

विदू । भोदु, ससए पडिदम्हि । [ विचिन्त्य ] भोदु, चारुदत्तं  
पुणो वि पुच्छिस्स । †† [ पुनर्निवृत्य चारुदत्त तथैव उदाहरति ] ।

चारु । वयस्य । सेना ।

विदू । [ चेष्टमुपगम्य ] अरे । दासिए पुत्ता । सेणा । ‡‡

चेट । अले । दुवे वि एकस्सि कदुअ शिग्घ भणाहि । §§

विदू । सेणावसन्ते । ¶¶

\* अरे । न हि, न हि ।

† किमिदानीमत्र कथयिष्यामि ? भवतु, चारुदत्त गत्वा प्रत्यामि । अरे ।  
मुहूर्तक तिष्ठ । भो वयस्य । प्रत्यामि तावत्, कस्मिन् काले चूआ मुकुलयन्ति ?

‡ मूर्ख । वसन्ते ।

§ द्वितीय ते प्रश्न दास्यामि । सुसम्यङ्गानां ग्रामाणां का रक्षा करोति ?

¶ अरे । रथ्या ।

०० अरे । न हि, न हि ।

†† भवतु, सशये पतितीक्ष्मि । भवतु, चारुदत्त पुनरपि प्रत्यामि ।

‡‡ अरे । दास्या पुत्त । सेना ।

§§ अरे । हे अपि एकस्मिन् कृत्वा शीघ्र भण ।

¶¶ सेनावसन्ते ।

- चेट । ए पलिवत्तिअ भणाहि । ॥
- विट् । [ कायेन परिवृत्य ] सेणावसन्ते । ॥
- चेट । अले सुक्खवडुअ । पदाइं पलिवत्तावेहि । ॥
- विट् । [ पादौ परिवर्त्य ] सेणावसन्ते । §
- चेट । अले सुक्ख । अक्खलपदाइं पलिवत्तावेहि । ॥
- विट् । [ विधित्य ] वसन्तसेणा । ॥
- चेट । एसा शा आअदा । ॥
- विट् । ता जाव चारुदत्तस्स णिवेदेमि । [ उपसृत्य ] भो  
चारुदत्त । धणिओ दे आअदो । ॥
- चारु । कुतोऽस्मत्कुले धनिकः ?
- विट् । जइ कुले णत्थि, ता दुवारे अत्थि । एसा वसन्तसेणा  
आअदा । §§
- चारु । वयस्य । कि मा प्रतारयसि ?
- विट् । जइ मे वअणे ए पत्तिआअसि, ता एद कुम्भीलअं  
पुच्छ । अरे दासोए पुत्ता कुम्भीलअ । उवमप्प । ॥
- चेट । [ उपसृत्य ] अज्ज । वन्दासि । ॥
- चारु । भद्र । स्वागत ? कथय, सत्य प्राप्ता वसन्तसेना ?

चेट । एषा शा आअटा वशन्तशिणा । \*

चारु । [ सहर्षम् ] भद्र । न कदाचित् प्रियवचनं निष्फलीकृतमया, तद्गृह्यतां पारितोषिकम् । [ इत्युत्तरोव प्रयच्छति ] ।

चेट । [ गृहीत्वा प्रणम्य सपरितोषम् ] जाव अज्जआए णिवेदेमि ।†  
[ इति निष्क्रान्त ] ।

विद्रु । भो । अवि जाणासि, किं णिमित्त ईदिसे दुट्ठिणे आअदेत्ति ? ‡

चारु । वयस्य । न सम्यगवधारयामि ।

विद्रु । मए जाणिद, अप्पसुत्ता रअणावली, बहुमुत्त सुवण्ण-भण्डअ, त्ति ण परितुट्ठा, अवर मग्गिदु आअटा । §

चारु । [ स्वगतम् ] परितुष्टा यास्यति ।

[ ततः प्रविशति उज्ज्वलाभिसारिकावेशिणः सीत्कण्ठा वसन्तसेना,  
कृतधारिणी विटश्च ] ।

विट । [ वसन्तसेनामुद्दिश्य ] ।—

अपञ्चा श्रीरेषा, प्रहरणमनङ्गस्य ललित,

कुलस्त्रीणां शोको, मदनवरवृत्तस्य कुसुमम् ।

सलील गच्छन्ती, रतिसमयलज्जाप्रणयिनी,

रतिचेत्रे रङ्गे प्रियपथिकसार्थैरनुगता ॥ १२ ॥

\* एषा शा आगता वसन्तसेना । † यावदाद्या निवेदयामि ।

‡ भा । अपि जानामि, किं निमित्तम् ईदृशे दुर्दिने आगतेति ?

§ मया ज्ञातम्, अन्यमूल्या रत्नावली, बहुमूल्य सुवर्णभाण्डम्, इति न परितुष्टा, अपर मार्गप्रितम् आगता ।

अभिसाराद्ये प्रचलन्त्या वसन्तसेनायाः सौन्दर्योत्कृष्टं वर्णयति, अपघ्नेति ।—रति-समये—सुरतारम्भकाले, या लज्जा—वया, कुलस्त्रीणामित्याशयः, तस्याः प्रणयिनी—महचरी, रणिका भत्वाऽपि कुलस्त्रीवत् एकानुरक्तत्वात् अप्रगल्भा इत्यर्थः, यया,—रतिसमये या लज्जा, तस्याम् अप्रणयिनी—निर्लज्जा इत्यर्थः, सुरतकाले कुलस्त्रीवत् वेगशया सहजनत्वाया अभिव्यवदिति भावः, प्रियपथिकसार्थं,—एवमर्थकम्,

वसन्तसेने । पश्य पश्य,—

गर्जन्ति शैलशिखरेषु विलम्बिविम्बा

मेघा वियुक्तवनिताहृदयानुकाराः ।

येषा रवेण सहसोत्पतितैर्मयूरैः

खं वीज्यते मणिमयैरिव तालवृन्तैः ॥ १३ ॥

अनुगता—समभिव्याहृता, रङ्गे—रागवर्द्धिनि, रतिचेवे—सङ्केतभूमौ, मलीन—  
मविलस, गच्छन्ती—व्रजन्ती, एषा—वसन्तसेना, अपञ्चा—पञ्चरङ्गिता, कमलासने  
अनुपविष्टा इत्यर्थः, श्री,—लक्ष्मी, अनङ्गम्—कामम्, खलित—सुन्दर, प्रहरणम्  
—एव कुलस्त्रीणां—गृहवधूनां, शोक,—शोकस्यानमित्यर्थः, अस्या दर्शने तासा-  
नात्मनि हेयताबुद्भावभासादिति, वसन्तसेना दृष्टा स्वपतीना तदासक्तिशङ्कया आत्मनि  
अनुरागज्ञासम्भावनादिति, इन्दुग्रमणीयाकृतिरपि वेद्यात्वमापन्ना इत्यर्थः । दौभाग्य-  
मिति वा भावः, तथा सदनवरद्वयम्—कामरूपयेष्टपादपम्, कुसुम—पुष्पम् ।  
एव विषय निरपङ्गुय वसन्तसेनायां श्रीप्रभृतीना तादात्म्येनागोपात रूपकमलङ्कारः,  
तच्च प्रथमपादाद्धे द्विय अपदेति विग्रहणस्याधिक्यं निवेष्टेन विग्रहाद्यस्य बीधा  
दधिकारद्वैशिष्ट्यरूपम् । न त्वत्तातिशयोक्तिः, तस्या उपमेयावाच्यत्वस्य एव  
स्वीकारात् एवमेव प्रकृतार्थोपयोगिनो प्रहरणशोकयोर्वसन्तसेनारूपविषयस्य तादा-  
त्म्येनागोपात परिणामः, तथा प्रहरणमगदहेतुभूताया वसन्तसेनाया प्रहरणशोक  
त्वेनाभिधानादभिधाहेतुत्वं इति अभिधाहेतुपरिणामयो मन्त्रेष्टमङ्कुरः । शिखरिणी

अपि च,—

पङ्कलिन्नमुग्धाः पिबन्ति सलिलं धाराहता दर्दुराः,

कण्ठ मुञ्चति वह्निं समदनो नीपः प्रदीपायते ।

सन्यासः कुलदूषणैरिव जनैर्मघैर्वृतश्चन्द्रमा

विद्यन्नीचकुलोद्भूतैव युवतिर्नैकत्र सन्तिष्ठते ॥ १४ ॥

उपमेयत्वकल्पनात्, तथा त्रियुक्तवनिताहृदयरूपप्रसिद्धोपमेयस्य उपमानत्वकल्पनात् प्रतीपाव्योऽलङ्कारः, तदुक्तं दर्पणकृता,—“प्रसिद्धस्योपमानस्योपमेयत्वप्रकल्पनम् । निष्फलत्वाभिधानं वा प्रतीपमिति कथ्यते ॥” इति तदनयोः सृष्टिः । वसन्ततिलक वृत्तम् ॥ १३ ॥

तदेव दुर्द्धिन् विगदभावेन वर्णयितुं तदानीन्तनीं प्राकृतिकीमवस्थां वर्णयन्नाह, पङ्क्तिः ।—दर्दुरा,—मेका, (“दर्दुरो मेकमेघयो” इति हेमचन्द्रः) धाराभि,—वृष्टिशीकरवाहिवाहै, हता,—ताडिता, तथा पङ्केन—कर्दमेन, किन्न—लिप्त, पङ्कलमित्यथ, मुख—वदन, येपा तथोक्ता सन्तः, सलिल—जल, पिबन्ति, समदन,—सकाम, वह्निं सभागमकामनावानिति यावत्, सानन्द इत्यथो वा, (किञ्चित् तु समदन,—मदनवृत्तसहित इति नीपस्य विशेषणमिति व्याचक्षते) वह्निं,—मयूर, कण्ठ—कण्ठध्वनि, मुञ्चति—मुक्तकण्ठो भूत्वा मतारं केकारं करोतीति यावत्, (“कण्ठो गले सन्निधाने ध्वनौ मदनपादपे” इति मेदिनी), नीप,—कदम्ब, प्रदीपायते—प्रदीप इव आचरति, जलधरकालसम्पर्केण प्रफुल्लतादिति भावः, मेघैः,—जलधरैः, कुलदूषणैः,—वशकलदूषणैः, जनैः,—लोकैः, सन्यासः,—व्रतिधम्मसाकल्यपरिहार इत्येत्यथ, चन्द्रमा,—चन्द्र, वृत,—आच्छादित, [ “वृत” इत्येव “वृत्त” इति पाठे,—अप्रसारित इत्यर्थः ] कुलकुलदूषिता जनयथा वशमय्यादामुत्तुङ्गयन् अत्यन्तविषयासक्तं स्ववर्णाचारतमपि कुलकृमागतं सदाचारं विलीपयति, तथा अप्रमपि मेघं स्वप्रसारं मय्यापयितुं कुलधर्मनिधौ चन्द्रमसमावर्णाति इति सरलाय, तथा त्रियुत्—सौदामनी, नीचकुलाद्भूता—यथ कुलजा, युवतिरिव—तरुणीव, अकुलीना नारीव इत्यर्थः, एकत्र—एकस्मिन् स्थाने, न सन्तिष्ठते—न वर्तते, [ सन्तिष्ठते इति मध्यमात् तिष्ठते “समवपयिष्ये” (१३.२२ पा०) इत्यात्मनेपदम् ] “सन्तिष्ठते” इत्येव “विश्रामति” इति पाठोऽपि स एव भावः । अत्र मय्यानां जने तथा चन्द्रमसं मय्यामेन माय्यकेशनामनाऽलङ्कारः । शादूलविकीडित वृत्तम् ॥ १४ ॥

वस । भाव । सुहु ते भणितम् । - एषा हि,—

मूढे ! निरन्तर-पयोधरया मयैव

कान्तं सहाभिरमते यदि किं तवात्र ? ।

मा गर्जितैरिति सुहुर्विनिवारयन्ती

मार्गं रुणद्धि कुपितेव निशा सपत्नी ॥ १५ ॥

विट । भवतु एवं तावत्, उपालभ्यता तावद्वियम् । (ट)

वस । भाव । किमनया स्त्रीस्वभाव-दुर्विदग्धया उपा-  
लब्धया ? (ध) पश्यतु भावः,—

\* भाव । सुहु ते भणितम् ।

विटिन कथितं स्वानुकूलं मन्यमाना वसन्तसेना सर्वं तत्कथितञ्च समर्थयमाना  
आह मूढे इति ।—निशा—रात्रि, कुपिता—क्रुद्धा, सपत्नी—एकस्वामिका  
इव, इति—एवप्रकारैः, गर्जितैः,—सन्तैः, सुहु,—वारं वारं, मा—वसन्तसेना  
मित्यर्थः, विनिवारयन्ती—निवेधयन्ती मती, मार्गं—पथान्, रुणद्धि—आहणीति ।  
गर्जितप्रकारनाह, मूढे इति ।—रे मूढे ।—विमुग्धहृदये । ( मूढे इति निशानुदिश्य  
वसन्तसेनाया साक्षेपं सम्बोधनम् ) निरन्तरपयोधरया—निविडनद्याऽऽवतया, पत्ने,  
—निविडकुचपुग्ना च, मा—निशा एव, सह—साह, कान्तं,—प्रियं, यदि—  
चेत् अनिरमते—क्रीडति कथं—कस्मिन् विषये, तव—वसन्तसेनाया इत्यर्थः, किम् ?



मेघा वर्षन्तु गर्जन्तु मुञ्चन्त्वग्निमेव वा ।

गणयन्ति न शीतोष्णं रमणाभिमुखाः स्त्रियः ॥ १६ ॥

विट् । वसन्तसेने । पश्य पश्य । अयमपरः,—

पवनचपलवेगः स्थूलधाराशरीवः

स्तनितपटहनादः स्पष्टविद्युत्पताकः ।

हरति करसमूहं खे शशाङ्कस्य मेघो

नृप इव पुरमध्ये मन्दवीर्यस्य शत्रोः ॥ १७ ॥

तथा, उपालम्बया—तिरस्कृतया, अस्माभिरिति शब्दः, अनया—निशया, किम्, एतया किं करिष्यते ? न किमपि कर्तुं शक्यते इति भावः । सपत्नीसौभाग्यमाशङ्क्य नारीसुलभ-  
हिसाकनुपितान्त-करणाया अस्या, मदभीष्टितप्रतिरोधने न किमपि सामर्थ्यमिति भावः । [ अत्र “उपालम्बया” इति पाठान्तरं समीचीनतया प्रतिभाति, तदर्थम्,—  
स्वभावतो हिसापरनारीसुलभेन एवविधितिरस्कारेण न किमपि प्रयोजनमित्यर्थः ] ।

निशया किञ्चिदनिष्टसाधने अक्षमत्वोक्तिम्, उपालम्ब्य निष्पृच्छोजनत्वं समर्थयितुं वाऽऽह, मेघा इति ।—मेघा,—पयोधरा, वर्षन्तु—जल पातयन्तु, गर्जन्तु—नदन्तु, वा—अथवा, अग्नि—वज्र, मुञ्चन्तु—निक्षिपन्तु, मम गमनप्रतिरोधं यथेष्टमाचरन्तु इत्यर्थः, [ वर्षन्तु इत्यादौ अधोष्टे लोट् ] किन्तु रमणाभिमुखा,—कान्ताश्रित्य, स्त्रियः,—नार्यः, (“स्त्रियः” इत्युपलक्षणं, तेन पुरुषा अपि इति बोध्यम् ) शीतोष्ण—  
शिशिरजाड्य, शीतसन्ताप, वर्षणक्षेशब्ध इत्यर्थः, ( “शीतोष्णम्” इत्युपलक्षणं, तेन वर्षणमपि इति बोध्यम् ) न गणयन्ति—प्रतिवत्सकत्वेन न मन्वन्ते इत्यर्थः । अत्र प्रथमाहं मेघानां वर्षणाद्यनेकक्रियासम्बन्धाद् दीपकालङ्कारः, परार्थे तु अहं रमणाभिमुखी सती शीतोष्णं न गणयामीति विशेषे प्रस्तुते तादृशमात्मन्याभिहितत्वादप्रस्तुतप्रशंसाऽलङ्कारः, इत्यनयो ससृष्टिः । पद्यावक्तं वक्तम् ॥ १६ ॥

वसन्तसेनोक्तं मेघोपद्रवं विटोऽपि समर्थयमान आह, पवनेति ।—पवनेन—  
वायुना, चपल,—चञ्चल, वेग,—जवो यस्य स, अन्यत्र,—पवन इव चपलवेगः,  
—दुर्निवारवीर्यं इत्यर्थः, स्थूलधारा—स्थूला—पटा च असौ धारा—वर्षणप्रवाहः,  
शरीव,—बाणसमूह इव यस्य स, अन्यत्र,—स्थूलधारा इव शरीवो यस्य तादृशः,  
अविरलशरवर्षाव्यर्थः, स्तनित—मेघगर्जितं, पटहनादः,—रणवाद्यविशेषश्च इव यस्य स, अन्यत्र,—स्तनितमिव पटहनादो यस्य तादृशः, मेघगर्जनानुकारिरणवाद्यसंज्ञक इत्यर्थः, तथा स्पष्टा—सुव्यक्ता, विद्युत्—चपला, पताका—ध्वज इव यस्य स

वस । एव्व खेदं, ता कधं एसो अबरो ? \* (न) —

एतैरेव यदा गजेन्द्र मलिनैराधात लम्बोदरैः

गर्जद्भिः सतडिच्चलाक-शवलैर्मघैः सशल्य मनः ।

\* एव न्निद, तत् कथमेवोऽपर ?

अन्यव — स्पष्टविद्युदिव पताका यस्य तथाभूत, विद्युदविकाशवत् वायुवेगेन चपलोज्ज्वलपताकी इत्यर्थ, मेघ, — जलद सन्दवीर्यस्य — हतबलस्य, पराजितस्येति यावत्, शबो, — अराते, परीमघे — नगराभ्यन्तरे, नृप इव — विजेता राजैव, खे — आकाशे, जगद्धस्य — चन्द्रस्य, करममूह — किरणजालम्, अन्यव, — राजकीयममुं द्याय, हरति — अपहरति, आवणोति इति यावत्, अन्यव, — गृह्णातीत्यर्थ । अत्र नेघस्य नृपस्य च करममूहहरणे मास्यकघनादुपमाऽलङ्कारः, पूर्वार्द्धे च स्थूलधारादौ शरीरागारेपणात् रूपकम् एतरीरङ्गाङ्गित्वात् सादृश्यम् । मालिनी हन्त, — “ननमशययुतेय मालिनी भोगिलोकै” इति लक्षणात् ॥ १७ ॥

( न ) एवमिति । — भवता इदं यदुक्तं, तत् एव नु — मत्प्रेमेव इत्यर्थः । तत् इति मत्प्रेमसम्यग्, तत्प्रेमार्थं, तत् — तव मेघे, एष, — उपरि परिदृश्यमान, अपर, — मेघादन्य, वक्तु इति शेष, कथम् ? अस्तु तावत् मेघानाम् एवविधदु ख दाशकक्षम्, एष हताश वक्तु किमर्थं प्राहट् प्राहट् इति उक्तेव उड्डयने ? इत्यर्थः ।

मेघोदयस्य उद्दीपनत्वात् आरुदन्तविरहेणोत्कण्ठिता वसन्तसेना विटोक्तमेघोप द्रवमनुमन्यमाना अपरमपि मेघोपद्रवप्रकारं वर्णयति, एतैरिति । —

मेघा वर्षन्तु गर्जन्तु मुञ्चन्त्वगनिमेव वा ।

गणयन्ति न शीतोष्ण रमणाभिमुखाः स्त्रियः ॥ १६ ॥

विटः । वसन्तसेने । पश्य पश्य । अयमपरः,—

पवनचपलवेगः स्थूलधाराशरीघः

स्तनितपटहनादः स्पष्टविद्युत्पताकः ।

हरति करसमूहं खे शशाङ्कस्य मेघो

नृप इव पुरमध्ये मन्दवीर्यस्य शत्रोः ॥ १७ ॥

तथा, उपालम्भया—तिरस्कृतया, अस्माभिरिति शेषः, अनया—निगता, किम्, एतया किं करिष्यते? न किमपि कर्तुं शक्यते इति भावः । सपत्नीसौभाग्यमाशङ्क्य नारीमुलभं हिसाकलुषितात्, करणाया अस्या मदभीषितप्रतिरोधने न किमपि सामर्थ्यमिति भावः । [ अत्र “उपालम्भया” इति पाठान्तरं समीचीनतया प्रतिभाति, तदर्थम्,—स्वभावतो हिसापरनारीमुलभेन एवविधतिरस्कारेण न किमपि प्रयोजनमित्यर्थः ] ।

निगता किञ्चिदनिष्टसाधने अक्षमत्वोक्तिम्, उपालम्भस्य निष्प्रयोजनत्वं समर्थयितुं वाऽऽह, मेघा इति ।—मेघा,—पयोधरा, वर्षन्तु—जलं पातयन्तु, गर्जन्तु—नदन्तु, वा—अथवा, अगनि—वज्रं, मुञ्चन्तु—निक्षिपन्तु, समं गमनप्रतिरोधं यथेष्टमाचरन्तु इत्यर्थः, [ वर्षन्तु इत्यादौ अधोष्टे लोट् ] किन्तु रमणाभिमुखा,—कालाधिक्यं, स्त्रियः,—नार्यः, (“स्त्रियः” इत्युपलक्षणं, तेन पुरुषा अपि इति बोध्यम् ) शीतोष्ण—शिशिरजाड्यं, यौगसन्तापं, वर्षणक्षेत्रं इत्यर्थः, ( “शीतोष्णम्” इत्युपलक्षणं, तेन वर्षणमपि इति बोध्यम् ) न गणयन्ति—प्रतिवस्त्रकलेन न मन्यन्ते इत्यर्थः । अत्र प्रथमाहं मेघानां वर्षणाद्यनेकक्रियासम्बन्धाद् दीपकालङ्कारः, परादे तु अहं रमणाभिमुखी सती शीतोष्णं न गणयामीति विशेषे प्रसूते तादृशसामान्यस्याभिहितत्वाद्प्रसूतप्रशसाऽलङ्कारः, इत्यनयो मसृष्टिः । पय्यावक्तुं १६ ॥

वसन्तसेनोक्तं मेघोपद्रव विटोऽपि समर्थयमान आह, पवनेति ।—पवनेन—वायुना, चपलः,—चञ्चलः, वेगः,—जवी यस्य सः, अन्यत्वं,—पवन इव चपलवेगः,—दर्निवारवीर्यं इत्यर्थः, स्थूलधारा—स्थूला—पुष्टा च असौ धारा—वर्षणप्रवाहः, शरीघः,—बाणसमूह इव यस्य सः, अन्यत्वं,—स्थूलधारा इव शरीर्यो यस्य तादृशः, अविरलशरवर्षा इत्यर्थः, स्तनितं—मेघगञ्जितं, पटहनादः,—रणवाद्यविशेष इव गणसः, अन्यत्वं,—स्तनितमिव पटहनादौ यस्य तादृशः, मेघगञ्जनानुकारिणवाद्यसद्वत् इत्यर्थः, तथा स्पष्टा—सूक्ष्मता, विद्युत्—चपला, पताका—ध्वज इव यस्य सः,

वम । एव खेदं, ता कथं एमो अवरो ? \* (न) —

एतैरेव यदा गजेन्द्र मलिनैराध्यात लम्बोदरैः

गर्जद्भि मतडिहलाक-श्वल्लैर्मघैः मशल्य मन ।

\* एव न्निट तत् कथमेषोऽपर ?

अन्व — स्पष्टविद्युदिव पताका यस्य तद्याभूत, विद्युद्विकाशवत् बाजुवेगेन  
चपलोज्ज्वलपताकी इत्यर्थं, सैव — जलट नन्दवीथ्यस्य — हतफलस्य, पराजितस्येति  
यावत्, शब्दो, — अगते परीनष्टे — नगराभ्यन्तरे दृष्ट इव — विजेता राजिव, स्त्रि-  
आकाशे ज्वाह्वस्य — चन्द्रस्य करमसूत्र — किरणजालस्य, अन्वय, — राजकीयसमु-  
दाय हरति — अपहरति, आवर्ण्येति इति यावत्, अन्वय, — गृह्णातीत्यर्थं । अत्र  
नेवम दृष्टम् च करमसूत्रस्ये मास्यकपनादुपनाऽनुडार, पूर्वाह्ने च स्थूलधारादौ  
जगैषाद्यानेपदान् रूपकम् एतयोरेवाहित्वात् साङ्ख्यम् । मालिनी वक्ष —  
“नन्मद्यप्रयुतेषु मालिनी भोगिनीकैः” इति लल्लगात् ॥ १७ ॥

( न ) एवमिति । — भवता इदं यद्वक्तुं तत् एव तु — मयमेव इत्यर्थं । तत  
इति मन्मथसन्मथ, तत्वेत्यर्थं, तत — तव मेवे एव, — उपरि परिदृश्यमान अपर,  
— सैवाद्यम् वक्ष इति द्विष कथम् ? अन् तावत् सैवानाम् एवविधदुःख  
द्वारकचम एव हताश वक्तुं किमपि प्राश्टुं प्राश्टु इति उक्तेव उद्धृत्यते ? इत्यर्थः ।

सैवोदग्रस्य उद्दीपनत्वात् चारुदत्तविरहेणोत्कण्ठिता वसन्तसेना विद्योक्तसैवोप

तत् किं ? प्रोषितभर्तृवध्यपटहो हा हा हताशो वकः

प्रावृट्प्रावृडिति ब्रवीति शठधीः चार क्षते प्रक्षिपन् ॥१८॥

विट् । वसन्तसेने । एवमेतत् । इदमपर पश्य,—

तृतीया] मन,—चित्त, विरहिणीनामिति शेष, सुश्लक्ष्ण—विरहीत्कण्ठारूपश्लक्ष्णविह्व, प्रथमतो जातमिति शेष, तत् इति पञ्चम्यन्तमन्वय, तस्माद्धेतोरित्यथकम्, मनस श्लक्ष्णविह्ववादिति तदर्थ, हाहेति खेदमूचकमन्वय, प्रोषिता,—विदेश गता, भर्तार,—पतय यासां ता, विरहिण्य इत्यर्थ, [अथ पुत्रज्ञावशित्य । न च प्रोषितभर्तृ इत्येव बहुव्रीहत्वात् “नयुतय” ( ५।४।१५६ पा० ) इति सूत्रेण नित्यस्य कपो दुर्वारत्वमिति वाच्य, पूर्वपदे कम्पधारय कृत्वा तत्सम्बन्धिनीनां स्त्रीणां वध्यपटह इति मन्वयमपदलोपिसमासाद्ययणेन समासाल्लविधेरनित्यत्वाद्वा कथञ्चित्समाधानात्, यथा,—प्रोषिता,—प्रवास गता, प्राणसमप्रणयिनीसमागमोत्सुका इत्यर्थ, ये भर्तार,—अचिरकृतदारा पुरुषा तेषामिति विग्रहे नास्ति पुत्रज्ञावानुपपत्तिर्गोऽपीति ] ता एव वक्ष्या,—वधाहं, विरहिणीनां मेघदर्शनं मरणाधिकदुःखप्रदत्वात् इति भाव, तत्पटह,—तासां वधसमये वाद्यमान वाद्यभेदस्वरूप, वध्यपटहवदभवावच्छ- शष्टकारीत्यर्थ, शठा—धूर्ता, वञ्चनघतुरा इत्यर्थ, धी,—बुद्धिर्यस्य स, तथा हता—नष्टा, आशा—दृष्ट्या, मत्स्यादिधारणाभिलाष इति यावत्, यस्य तादृश, योषी सलिलसङ्घात् अनायासेनैव मत्स्यादिस्वीकारे समर्थ आसीत्, इदानीन् प्रभूतजलवशादपि साधने असमर्थत्वात् इति भाव, वक,—बलाका, क्षते—व्रणे, चार—लक्षण, प्रक्षिपन्—विन्यस्यन्, चारप्रक्षेपवद्वेगं जनयन्नित्यर्थ, प्रावृट् प्रावृट्—वपां वपा, इति ब्रवीति—कथयति किम् ? वक्तव्यं प्रावृट् प्रावृडिति कथनं तादृशश्लक्ष्णचतमनस चारस्वरूपमिति भाव । अथ गजेंद्रमणिनेत्युपमा, मतर्पिद बलाकाशब्दे इत्येव नवमेवस्य सहजस्यास्य परिहारेण शवनवप्रतिपादनं तद्वत् । न च चिक्वरूपमश्लेष शवनमेवस्य श्यामवस्याश्चतुर्वर्णात् स्वगुणयोगेनास्तीति वाच्य, चिक्वरूपस्यातिरिक्तचवादिना मते तस्य सुवचत्वात् । वध्यपटह इति रूपकं, नारं क्षतं प्रक्षिपन् इति निदर्शना, उद्विग्रेऽपि मनसि तद्वेगजनकस्यापारा क्षतं नारप्रत्यय इति गम्यविश्वप्रतिबिम्बरावपश्यवमानात्, तस्मादत्रैषा निरपेक्षतामेव मन्वान् मृच्छटि । शार्दूलविक्रीडितवृत्तम् ॥ १८ ॥

बलाका-पाण्डुरोष्णीषं विद्युदुत्क्षिप्तचामरम् ।

मत्त वारण-सारूप्य कर्तुकाममिवाश्वरम् ॥ १६ ॥

वस । भाव । पेक्ख पेक्ख, \*—

एतैरार्द्र-तमालपत्र-मलिनैरापीतसूर्य नभो

वल्मीकाः शरताडिता इव गजाः सीदन्ति धाराहताः ।

\* भाव । पञ्च पश्य ।

वसन्तसमया कथित बलाकाऽऽविर्भाव श्रुत्वा विट सजलदाकाशस्य बलाकादिना  
सञ्जनितानिशीमाविशेष वर्णयति, बलाकेति ।—अश्वरम्—आकाश, बलाका—वक्त्र  
परकिरेव, पाण्डुर—श्वेतम्, उष्णीष—किरीट यस्य तत् तदा, ( “उष्णीष शिरोवेष्ट-  
किरीटयो ” इत्यमर ) बलाकाऽऽपीष्णीषपरिहितमित्यर्थं, विद्युदेव—तडिदेव,  
उत्क्षिप्त,—ऊर्ध्वोत्थित, चामर,—बालव्यजन यत् तदाभूत, चामराणां शुभ्रत्वेऽपि  
निरन्तरान्दीलनेन एकवानवस्थितवान् शुक्लभास्वरविद्युत्कायं बोध्यम्, अत एव मत्त-  
वारणसारूप्य—मत्तस्य—मदोन्मत्तस्य, वारणस्य—गजेन्द्रस्य, सारूप्य—समानरूपता,  
कर्तुकाममिव—प्राप्ताद्यमिवैत्यर्थ, वर्तते इति शेष । उष्णीषचामरादिशीभितमत्त-  
गजेन्द्रवत् अश्वर शोभने इति समुदिताय । अथ बलाकायामुष्णीषत्वस्य विद्युति  
चामरत्वस्य तादात्म्याध्यवसानादुपकालद्वारं, स च तदुत्थापितस्य मत्तगजेन्द्रसारूप्यस्य  
विकीर्णत्वसम्भावनायां जायमानोत्प्रेक्षाऽलङ्कारेण नदीयते । पथ्यावक्तव्यं ॥ १६ ॥

विद्युत् काञ्चनदीपिकेव रचिता प्रासादसञ्चारिणी  
ज्योत्स्ना दुर्बलभर्तृकेव वनिता प्रोत्सार्य मेघैर्हता ॥ २० ॥

विट । वसन्तसेने । पश्य पश्य,—

एते हि विद्युद्गुण-वद् कक्षा

गजा इवान्याऽन्यमभिद्रवन्त ।

शक्राजया वारिधरा. सधाराः

गां रूप्यरज्ज्वेव समुद्धरन्ति ॥ २१ ॥

निशा वा इति निर्णेतुमशक्यत्वात् तथाविधवर्णनं न दुष्टमिति सुधीभिर्ववेच्यम् )  
धाराभिः,—दृष्टिप्रवाहैः, हता,—ताडिता, वन्योका,—कौटविशेषकृतसृष्टिका  
स्तूपा, ( “चङ्गद्विपि” इति वङ्गभाषा ) शरताडिता,—गराहता, गजा इव—  
दन्तिन इव, सोदन्ति—अवसादं गच्छन्ति, शरासारविद्धा गजा यथा पलाय्य अदर्शनं  
गच्छन्ति, तथा वन्योका अपि जलवेगेन विशीर्य विलीयन्ते इत्यर्थः, विद्युत्—  
तडितः, प्रासादसञ्चारिणी—समुद्रतटस्थोपरितलविचरणशीला, काञ्चनदीपिकेव—  
सुवर्णवर्तिकायैव, रचिता—कल्पिता, विद्युत् पिङ्गलवर्णत्वात् औज्यव्यात् सुवर्ण-  
वर्तिकायाम्यथैव, तथा दुर्बल,—निर्वाह्य, पराक्रमहीन इत्यर्थः, भर्तृका—  
कालं यस्यास्तादृशा, वनिता—स्तोत्रा, ज्योत्स्ना—कौमुदी, मेघैः,—अभैः, प्रोत्सार्य  
—बलात् आकृष्य, हता—नीता, अदर्शनं गता इत्यर्थः, निसेजाभर्तृका सुन्दरा  
यथा प्रबलैः लम्पटैरपराज्यमाणा अदृश्या क्रियन्ते, ज्योत्स्नाऽपि प्रभृतमेव तथा  
अपहृता इति भावः । अत्र वन्योकाविद्युज्ज्योत्स्नानां गज-काञ्चनदीपिका वानतार्दाभ  
साम्यकथनादुपमाऽलङ्कारः । ( अस्यानुरूपं श्लोको यथा,—“चन्द्राको के गतो  
तमाभिरभितो यन्तां दिशा द्राघिमा, धारा दाघतरो पतन्ति किमुतात्तिष्ठन्ति पृथ्वा  
तलात् । अङ्गा निङ्गवनात् कृशाऽपि च निशा द्राघाप्रसो दृग्गते, सन्ने युक्तमनम  
केवलमहो । हृषाय वषागम ॥” इति ) । शार्दूलान्वकोटितवृत्तम् ॥ २० ॥

प्रकारान्तरिणं मेघोदयवर्णयति विट, एते इति ।—वन्योऽन्य—परस्परम्, अभि-  
द्रवन्त,—आक्रामन्त, युध्यमाना इति यावत्, गजा इव—दृष्टिनिद्रव, विद्युदिव—  
तडितव, गुण,—तन्तु तैः, ( विद्युता गुणत्वं लम्बमानतया निगदमास्यान् वीर्यम् )  
बद्धा—संयमिता, कक्षा—मध्यवस्त्रं येषां तथामृता, ( “कक्षा मन्त्रमयवस्त्रम्” इति  
काव्य ) एते—उपरि सञ्चरन्त इत्यर्थः, सधाराः,—दृष्टिप्रवाहमहता, वारिधरा,—

अपि च पश्य,—

महावाताध्मातैर्महिषकुल नीलैर्जलधरैः

चलैर्विद्युत्पल्लैर्जलधिभिरिवान्त प्रचलितैः ।

इयं गन्धोद्दामा नवहरित-शष्पाङ्कुरवती

धरा धारापातैर्मणिमयशरैर्भिद्यत इव ॥ २० ॥

कलदा, शक्य—इन्द्रस्य, आज्ञया—आदेशेन, रूपरञ्जा इव—रजतगुणेन इव,  
गा—इष्टो, ( “—गौरदक्ती दृशि । स्वर्गे दिशि पशौ रश्मौ वज्रे भूमाविषौ गिरि”  
इति स्मचन्द्र ) समुदरानि—समुद्रापवन्ति, यथा लोके किमपि भारवद्वस्तु ऊर्ध्वं  
नेतृकाम उन्नीयमानदृश्यभारेण अथ पतनशङ्कानिवारणार्थं मध्यदिशि रज्जु बद्धा तत्-  
कश्चिदाकरोति, ततश्च एव सुरचितेन तेन रज्ज्वन्तरेण बद्धैव तद् वस्तु ऊर्ध्वं नयति,  
तथा अथ पतनशङ्कया विद्युद्गुणवद्वक्तव्यं मेघा वारिधारारूपरञ्जा सुरचिता पृथिवी  
यैव ऊर्ध्वं नयन्तीत्यर्थः । धाराणां रूपरञ्जुन गुरुतया अविरलपतनात् दीर्घतया  
चेति श्रेयम् । अथ संधाराणां वारिधाराणां सान्द्ररूपवत्त्वेन, क्षणितवत्तया गर्जित  
ध्वनेन च परस्पराक्रमवता गजानां प्रसिद्धमादृश्यप्रतीतिरूपमा, तेषाञ्च सुदीर्घं  
तरधारापतनस्य इन्द्राज्ञया रजतरञ्जा पृथिवीमनुवृण्वन्तेन सम्भावनादुन्नेषा, अनयी-  
निकादयस्तेन च सादृश्यम् । इन्द्रोपिन्द्रवत्त्वयो समेलनादुपजातिर्हन्तम् ॥ २१ ॥



यस । भाव । एसो अबरो :-

एहोहीति शिखण्डिनां पटुतरं केकाभिराक्रन्दितः

प्रोड्डीयेव बलाकया सरभस सोत्काण्डमालिङ्गितः ।

हंसैरुज्जितपङ्कजैरतितरां सोद्वेगमुदीक्षितः

कुर्वन्नञ्जनमेचका इव दिशो मेघः समुज्जृम्भते ॥ २३ ॥

विट । एवमेतत् । तथाहि, पश्य—

\* भाव । एषोऽपर ।

अपरमपि मेघोदयप्रकारं वर्णयति वसन्तसेना, एहोति ।—शिखण्डिनां—  
मयूराणां, केकाभि, —वाभि, ( “केका वाणी मयूरस्य” इत्यमर ) एहि एहि—  
आगच्छ आगच्छ, ( “एहि एहि” इति दिवंचन वीष्मागम्, आदरातिशयप्रकटनार्थं  
बोध्यम् ) इति पटुतरम्—उच्चैस्तर यथा तथा, आक्रन्दित, —( अथ इवगजोऽप्या  
हार्थं ) वायव्यवुद्धा आहत इव इत्यर्थं, ( “आक्रन्द क्रन्दने हाने मिवदारुण  
युद्धो” इति मेदिनी । जलदीप्यस्य मयूराणां रूपजनकत्वात् तव वायव्यवुद्धा  
आह्वानं बोध्यम् ) बलाकया—वकपङ्क्त्या, वकस्त्रिया वा, सरभस—सर्वेग, सहर्ष  
वा, प्रोड्डीय—नभसि उड्याय, सोत्काण्ड—समुत्सुक यथा तथा, मालिङ्गित इव—  
आश्लिष्ट इव, ( मेघोदयस्य वलाकाया गर्भोत्पत्तिहेतुत्वात् आनन्दजनकतया  
तदालिङ्गनमुत्प्रेक्षितम् । मेघोदये वलाकाया गर्भोत्पत्तिरुक्ता कर्णोदये, यथा,—  
“गर्भं वलाका दधतेऽम्बुयोगात् नाके निषङ्गावलय समन्तात्” इति । “गर्भाधानक्षण  
परिचयाद्भूनमावृद्धमाला सेविष्यन्ते नयनमुभयं मे भवन्तं वलाका ” इति मयूरेणापि )  
तथा उज्जितपङ्कजै, —परित्यक्तकमलै, हमा कमलवने विचरन्ति, येषाम् च मानसं  
गच्छन्तीति कविसमयप्रसिद्धि, हंसै, —मानसौकीभि, अतितराम्—अतिगहन,  
सोद्वेग—सोत्काण्ड यथा तथा, उदीक्षित, —मानसगमनाय ऊरु निरीक्षित, कर्ण, —  
बलाहक, दिश, —दिक्चक्रम्, अञ्जनमेचका, —कञ्जलवन मन्दिना, कर्ण इव  
समुज्जृम्भते—विकाशते, उद्वन्द्यति इत्यर्थः । [ “जृम्भा विकाशजृम्भणौ” इति  
मेदिनी । अथ “समुत्तिष्ठते” इति पाठान्तरम् ] । अथ मेघस्य वलाकालिङ्गनत्वं,  
मयूराक्रन्दितत्वेन सम्भावनात्, तथा दिशो मेचका कर्णत्वेन च गजमादयोरप्युक्तत्वं  
इत्यभिप्रेत्यो परस्परनैरपेक्षेण सन्धिते समुद्रि । शाकुन्तलिकादि ३३३ । ३३३

निष्पन्दीकृत-पद्मषण्ड नयन नष्टक्षपावासर

विद्युद्भि क्षणनष्टदृष्टतिमिर प्रच्छादिताशामुखम् ।

निश्चेष्ट स्वपितीव सम्प्रति पयोधारा-गृहान्तर्गतं

स्फीताम्बोधर-धाम-नैकजलद-च्छत्रापिधानं जगत् ॥२४॥

मेघाच्छत्रतया जगतमात्कालिकीमवस्था वर्णयन्नाह विट, निष्पन्दीति ।—  
सम्प्रति—इदानीं, निष्पन्दीकृतानि—मेघाच्छत्रतया सूर्योदयाभावेन पद्मानां विकाशा  
भावात् निद्राऽऽवैश्वशनेनैव अस्पन्दीकृतानि, परित्याजितसाहजिकचाहल्यानीत्यर्थः,  
( रविकिरणसम्पत्तात् पद्मविकाशस्य प्रसिद्धे ) पद्मषण्डान्येव—पद्मसमूहा एव,  
( “चन्द्रादिकदम्बे पण्डमस्त्रिग्राम” इत्यमरः ) नयनानि—चक्षूषि येन तत्, निमीलित-  
पद्मनयनमिति यावत्, नष्टो—अदर्शनं प्राप्तौ मेघावृततया स्वक्षपत नानुभूतौ इत्यर्थः,  
क्षपावासरी—राश्याहनी यस्य तादृशं, नानुमितराविन्दिवमित्यर्थः, इयं निशा दिवा  
इति विनिर्दिष्टमक्षम सदैव निद्रावशं गतमित्याशयः, विद्युद्भि,—तडिद्भि, तडिद्-  
विकाशनेत्यर्थः, क्षण—निमित्तक्रियायां चतुर्ध्वभागपरिमितकालविशेष व्याप्य, नष्टम्—  
अपमृतं, दृष्ट—पश्चात् विद्युतामभावे व्यक्तीभूततया लज्जीभूतं, तिमिरम्—अश-  
ङ्कारं यत् तदाभूतं, [ “क्षणमष्टदृष्टतिमिरम् “इत्यथ “क्षणदृष्टसृष्टतिमिरम्” इति  
पाठान्तरे,—क्षण—क्षणकालं व्याप्य, दृष्ट—लक्षितं, सृष्टु—प्रकृतं, निविडमित्यर्थः,  
रश्मिभेद्यमिति यावत् तिमिरम्—अशङ्कारं, आलोकाभाववत् यत् तत्, विद्युद्  
विकाशानन्तरं क्षणकालं गताशङ्काराच्छत्रम् इत्यर्थः, आलोकोद्भासितप्रदेशात्  
आलोकापसररे कृते दद्यात् क्षणकालं पश्येत् गताशङ्कारोऽनुभूयते, तद्वत्  
गताशङ्काराच्छत्रमिति भावः ] प्रच्छादितानि—आवृतानि, मेघपटनैरिति ईदृशं,  
आशामुखानि—दिशः मुखानि च यत् तदाभूतं, अत एव तिमिरपटलावृतदृष्टिमात्रम्

वम । भाव ! एव्वं खेदं । ता पेक्ख पेक्ख, —

गता नाशं तारा उपकृतममाधाविव जने  
वियुक्ताः कान्तेन स्त्रिय इव न राजन्ति ककुभः ।  
प्रकामान्तस्तप्त त्रिदशपति शस्त्रस्य शिखिना  
द्रवीभूत मन्ये पतति जलरूपेण गगनम् ॥ २५ ॥

\* भाव । एव नु इदं, तत पय्य पय्य —

वत् शिरस उपरि अवस्थानात् मयीकृततया निम्नपाशचतुष्टयत्वेन च कृत्यत्वोत्प्रेक्षा,  
जगत—भुवन, निथेष्ट—निष्क्रिय सत्, स्वपितीव—निद्रातीव्रव्युत्प्रेक्षाऽलङ्कार ।  
लीको यथा अतिदुर्दिने गृहान्त एव स्थित्वा तूलगर्भप्रच्छदपटेन सुखादिसुखावयव-  
माच्छाद्य निथेष्ट स्वपिति, जगदपि एतादृशदुर्दिने तथा इति भाव । अत्र स्फीताभी-  
धरादिवर्णेषण निकेतनान्तर्गतस्य प्रसृतस्य चीपरि कृवधारणरूपविशेषाप्रकाशनाथ-  
मुपन्यस्तमत एतदपसिद्धमिति तु नाशङ्कनीय, नवजलधराणा हि स्वभावग्यामगुण-  
योगात् घनसन्निविष्टतया निप्रतमेवाऽदृशावस्थानात् आतपताकारगर्वाकारितत्वे  
दृश्यते इति प्रकृतमेव वस्तु अनुरूप एतदेव व्यक्तीकर्तुमुपमेयधने जलद कृत्वाराप  
कृत इति रूपक सुचकमेवेति विग्रीवैर्ध्वम् । शार्दूलविक्रीडित वृत्तम् ॥ २४ ॥

विष्टीक्षिमनुमन्यमाना वसन्तसेना अपरमपि तात्कालिक प्राकृतिकदृश्यमुप-  
वर्णयति, गतेति ।—तारा—नक्षत्र, ( जातित्वादेकवचनम् ), अमाधौ—एत, जने  
—लीके, उपकृत—कृतीपकार इव, नाशम्—अदशन, गता—प्राप्ता, अमाधुजनध-  
कृतीपकार न केवल विफल भवति, प्रत्युत तेषा पुन अमाधुनाचरणनाशत  
सन् कृतानामुपकृतीनामस्वीकारात् अन्तर्हित भवति, उपकारकस्य कसपि  
प्रत्युपकार न दगयति, तथा उद्धताऽपि तारा मेवाव्रततया सञ्चयेव विनीनता गता  
न निशाया शोभादिरूप कसपि उपकार कर्तुमभिलषतीत्यर्थ, ककुभ, —दिग्ग,  
वनरूपा इत्यर्थ, ( “दिशन् ककुभ काष्ठा आशाय हरितय ता” इत्यमर )  
कान्तेन—पत्न्या [ मय्येति ध्वनि ] वियुक्ता,—विरहिता, विरहिता इत्यर्थ,  
स्त्रिय इव—वनिता इव, न राजन्ति—न शोभन्ते, कान्तविरहिता स्त्रिय इव, एता-  
विरहिता दिशा न शोभन्ते इति भाव, प्रोपतभभूकाना हि कुनस्मोकासदसन्ताप-  
निषेधात् साङ्गलिकेतरालकृतीना परिहारदशनात्, तथा गगन—नभोस्फुल्ल, एता-  
त्रिदशपतिशस्त्र—इन्द्रायुधस्य, वचन इत्यर्थ, शिखिना—अप्राप्ता, प्रकामान्तस्तप्त,—

अपि च पश्य,—

उन्नमति नमति वर्षति गर्जति मेघः करोति तिमिरौघम् ।

प्रथमश्चरित्व पुरुष करोति रूपाख्यनेकानि ॥ २६ ॥

प्रकाश—सत्यं यथा तथा, अन, —अभ्यन्तरे, तप्तम्—उष्णतपयोगात् विद्रावितम्  
अत एव द्रवीभूत—तरलीभूत सत्, जलरूपेण—सलिनाकारेण, पतति—सवतीत्यर्थः,  
इति सत्ये—सम्भावयामीत्यर्थः । यथा किञ्चित् घनीभूत वस्तु कठोराग्निसन्तापेन  
द्रवीभूत सत् पतति, तद्वत् वज्राग्नितप्त गगन द्रवीभूत सत् जलरूपेण पततीति  
निवृत्ताऽऽ । अत्र पूर्वार्द्धे उपमा पराङ्ग मोक्षस्य गगनस्य द्रवीभूतत्वासम्भवात्  
अत्र प्रकृत्युपमेयस्य गगनस्य उपमानभूतजलात्मकत्वसम्भवनया इदं जलमेव  
किमित्वाकारकोत्कटैककोटिकसममुदयादुत्प्रेक्ष्य, सा च सत्ये शब्दप्रयोगाद् व्यज्यते,  
यदुक्तं दण्डिना,—“सत्ये शब्दे ध्रुव प्राप्ति नूनमित्येवमादयः । उत्प्रेक्षाव्यञ्जका शब्दा  
इव शब्दोऽपि तादृशः ॥” इति उपमेयोपमेयो सुदूरः । श्रीकेशिन् उपमेयोपमानयो  
तारोपकारयो लिङ्गवचनभेदस्य दर्शनात् दीपयमेप्रमुपमेति तु नाशङ्कनीयः, “हीनाधि  
कव वचनलिङ्गभेदा विषयः । असादृश्यं सम्भवी च दीपा मतीपमागता ॥” इति  
भाष्येकारिकाऽनुसारेण एतेषाम् उपमादूतत्वेऽपि उपमेयोपमानगतहीनाधिक्यत्वा-  
दीनां नागार्थभेदस्य मुख्यस्य सामान्यधर्मस्य उभयवाधाधितत्वेन सामाजिकानां  
सामान्य भेदस्य हीनात् नोपमायाघातकटोपावकाशः, यदुक्तं तथैव—“न लिङ्गवचने  
भिन्नं न हीनाधिक्योऽपि वा । उपमादूतत्वात् यदीदृशो न धीमताम् ॥” इति  
रुद्रभिविभाचनम् । शिवरिपे हस्तम् ॥ २५ ॥

विट । एवमेतत्,—

वियुद्भिर्ज्वलतीव, संविहसतीवोच्चैर्बलाकाशतै-  
र्माहिन्द्रेण विवलातीव धनुषा धाराशराङ्गारिणा ।

विस्फटाग्नि-निस्त्रनेन रसतीवाधूर्णतीवानिलै-  
र्नीलैः सान्द्रमिवाहिभिर्जलधरैर्धपायतोवाम्बरम् ॥ २७ ॥

एकस्य संघघोत्रमनाद्यनेकक्रियासम्बन्ध द्वीपकालङ्कार, परार्द्धं च उपमा, इत्यनया परस्परसापेक्षत्वाद्भाङ्गित्वेन सङ्गर । आध्या वृत्तम् ॥ २६ ॥

वसन्तसेनया गगनस्यमेघस्य अनेकरूपतत्प्रदर्शनात् विटोऽपि तदन्ति समश्रुति युक्त्या आकाशस्य नानाऽवस्था "प्रदर्शयति, वियुद्भिर्इति ।—अम्बरम्—आकाश, वियुद्भिः,—वणप्रभाभिः, ज्वलतीव—उद्गमने इव, बलाकाशतैः,—उड्डोयमानवक-समूहे, ( कणभूतैः ) उच्च,—अत्यधे यथा तथा, दीर्घकाल व्याप्य इति यावत्, सविहसतीव—मन्यमहास्य ' करोताव, ( "मन्यम स्यात् विहसितम्" इत्यमर । ह्यसत्ये धवलतथापवर्णन कविसमप्रसिद्धे, वक्राणां युञ्जतया च ह्यममास्य शोभ्य, यदुक्त दर्पणे,—“यशसि धवलता वण्यते ह्यसकोर्त्यो ” इति) धाराशराङ्गारिणा—धारा,—जनधारा एव, शरा,—बाणा, तान् उद्गारति—उड्डमति यत, तन, आसारूपपरवर्धेणा इत्यथ, माहिन्द्रेण धनुषा—इन्द्रचापन, धनु प्रदर्शनेनेति यावत्, विवलातीव—स्वप्रतगति प्रदर्शयतीव, युद्धायमाह्वयन इव इत्यथ, विपलनीकभात शय, विस्फटाग्नि निस्त्रनेन—प्रकटध्वजरेण, रसतीव—उच्चैर् नार्द करोतीव, वज्रनिर्घातिभ्याजित सिहनाद करोतीव इत्यथ, आनिलैः,—वाते, आधूर्णतीव,—मण्डलाकारेण भ्रमतीव, घृणमानभ्रष्टावातच्छलन युद्धकालकर्म लभनस्य प्रदर्शय तीवेत्यथ, तथा अहिभिरिव—अणुसर्पैरिव, नीलैः,—ग्यामवर्ण, जनधरैः,—सेव, सान्द्र—गाढ प्रया तथा, धूपातीव—धूपधूम कुल भवतीव, आश्रयस्य विमलतात् धूपधूमाच्छन्नमात्मान करोतीवेत्यथ, मेघस्य अन्तर्गता इत्येतत् सञ्चारान्तरता कुटिलविमपणशीलन सपण, सास्य गन्धत, तथा धूमो त मर्नि—महस्येति वाच तन गगनस्य धूपाकुलत्वं अवगन्तव्यम् । अतः प्रकृतानामभ्य-परमशोभाविधायिनाम् वियुद्भिर्ज्वलितवलाकाशत माहन्तशराभरिवकायाद नामप्रकृतैः ध्वजजनसविहसनावजृम्भणादाभ तादात्म्याज्यामात्कटिकेकीटकमयमन्त्राणां मवा, तथैतकानामवादानां क्रियागतानामानुधानादुदाह्या क्रियाभूतता, तस्यै-

वस ।—

जलधर । निर्लज्जस्व यन्मा दयितस्य वेश्म गच्छन्तीम् ।

स्तनितेन भीषयित्वा धाराहस्तैः परामृशसि ॥ २८ ॥

भो शक्र ।—

किं ते ह्यहं पूर्व्वरतिप्रसक्ता यत् त्वं नटस्यश्चुट-सिङ्गनादौ । ? ।

न युक्तमेतत् प्रियकार्ङ्क्षितायाः मार्गं निरोद्धुममवर्षपातैः ॥ २९ ॥

यानां बहुधीष्वेखादिभ्यः सान्नाहृषा वेदितव्या, इत्येतासां सजातीयानामन्याऽन्यसापेक्षं  
तत्रा मय्येव सजातीयसङ्गरं वेदितव्यं । शार्दूलविक्रीडितं वृत्तम् ॥ २७ ॥

दयितमभिसरन्ती वसन्तसेना इत्य धाराक्षरपरामृशनादिना गमनविघ्नमुत्पादयन्त  
जलधरमुपालभन्त, जलधरेति ।—हे जलधर ।—पयोवाह । त्वं गिलज्ज, —निम्नप,  
यस्य—प्रस्मात् दयितस्य—प्रियस्य, वेश्म—निकेतन, ( "वेश्म मय्यं निकेतनम्" इत्य-  
मर ) गच्छन्ती—चलन्ती, सा, स्तनितेन—गजितेन, भीषयित्वा—घामयित्वा,  
धाराहस्तैः,—जलसम्पातदपकरैः, परामृशसि—मृशसि, परम्वीगावे करार्पणं तथा  
अभिसारिकायाः कालमभापगमनप्रतिरोधाद्यैः भीतिप्रदशनमित्युभयमेव निर्लज्जस्यैव  
हठकामुकस्य काव्यमित्यर्थः । अतः समेन कार्येण प्रसूते जलधरं अस्मत्सहठकामुक-  
व्यवहारसमाराधात् समासाक्तिरालङ्कारः । आद्या वृत्तम् ॥ २८ ॥

अपि च,—

यद्वदहल्याहेतोर्मृषा वदसि शक्र । गौतमोऽस्मीति ।

तद्वन्ममापि दुःखं निरवेक्ष्य निवार्यतां जलद ॥ ३० ॥

प्रियेण प्रणयिना, चारुदत्तेनेति यावत्, काङ्क्षिताया,—अभिर्भाषिताया, यदा,—  
एतन्प्रियकाङ्क्षिताया,—एतेन—समीपवर्त्तिगृहस्थितनेत्यथ, (तदुक्तम्,—‘इदमस्तु,  
सन्निकृष्टं समीपतरवर्त्तिं चैतदो रूपम् । अदसस्तु विप्रकृष्टं तदिति परोक्षे विजानी  
यात् ॥’ इति ) प्रियेण—चारुदत्तेन, काङ्क्षिता—प्राथिता तस्या, एव,—समीप  
वर्त्तिगृहस्थित इत्यथ, प्रिय काङ्क्षित,—रन्तुमभोषित इत्यथ, यदा तस्या इति वा,  
[“एतन्प्रिय” इत्यत्र प्रियविशेषणेन एतत्पदेन एव सूच्यते यत्,—“एष चारुदत्त एव मे  
प्रिय, न त्व, न वाऽपर, कश्चित्” इति ] सम मार्ग—पन्थानं, वर्षपातै,—धारा  
सम्पातै, निरीडु—प्रतिबद्ध, न युक्तं—नोचितम्, एतत्—इदं, विवेचय इति शेष,  
प्रियमभिसरन्त्या मानुष्या मे मार्गरीधस्तया जलदाधिपतिना देवराजेन न कर्त्तव्य,  
प्रत्युत मेघवाहनेन भवता महीयसा मङ्गमनप्रत्यूहबलाहकवर्षणानामपसारणमेव कसु-  
मुचितमित्यभिप्राय । यतोऽहं ते पूर्व रतिप्रसक्ता नासम् इति प्रथमाहं प्रतिपाद्य  
वस्तुन, “अतो मे मार्गरीधो न कर्त्तव्य” इति पराहं प्रतिपादय्य हतुतथोपन्नामात्  
काव्यलिङ्गालङ्कार । इन्द्रवज्रोपेन्द्रवज्रयो सम्मेलनादुपजाति वृत्तम् ॥ २९ ॥

एव तिरस्कृत शक्र यदि रोषावेशात् मेघादिमवाहनानि विंशत्यतो विनियोग्य  
पुन गमनप्रतिरोधमाचरति, इति आशय प्रियामङ्गमाभिभाषापुरणे मन पीडाभिज्ञ  
शक्र पूर्ववृत्तान्त स्मरयन्ती पुनरनुनयति, यदिति ।—हे शक्र ।—इन्द्र । अहं गता—  
गौतमपत्नी, तस्या हतो,—तां समीकृतमित्यथ, यद्वत्—यथा, गौतम अस्मात्—  
कामसन्तापनिवारणार्थं गौतमरूप धृत्वा अहं गौतम इति, मृषा—मिथ्या, वदसि—  
मृषावदनमकरो इत्यथ, [ वदमीत्यत्र “वर्त्तमानसमीप्ये वर्त्तमानवदा” ( ३।३।१३१  
पा० ) इति सूत्रे वृत्तिकृता वर्त्तमानसमीप्ये भूते भविष्यति च वा लट् इत्युत्, भूत  
कालिकस्यापि वस्तुन वर्त्तमानसमीप्यद्योतनाय लट्प्रयोग सुधाभिदिननो ]  
यदा,—भूताग्रामपि मृषाभाषणक्रियायामुत्तरितत् कानिकत्वेन श्रुतत्वात् काल  
सामान्ये लट्प्रयोग । पुरा किल इन्द्र शिष्यो भूत्वा क्रियन्त काल गौतमानमे  
स्थित । एकदा स्नानाय गते गुरौ गौतमे, समी गौतमरूपमाप्याय निरमया अहं या  
मुपययौ । तथा तु निशाग्रे पति प्रप्यित जानत्या, कन्मिति गृह, गौतम, अस्मि,  
त्वत्कथीगनालमदा पुन प्रयावत्, इत्युक्ता ता कामसमान एव दृष्यामाहेति देवा

अपि च,—

गर्ज वा वर्षे वा शक्र । मुञ्च वा शतशोऽशनिम् ।

न शक्या हि स्त्रियो रीडु प्रस्थिता दयित प्रति ॥ ३१ ॥

यदि गर्जति वारिधरो गर्जतु तन्नाम निष्ठुराः पुरुषाः ।

अयि विद्युत् । प्रमदाना त्वमपि च दुःखं न जानासि ? ॥ ३२ ॥

पिको वात्ताऽवान्मन्त्रेण ] समापि दुःख—प्रियसम्भोगलान्साजनितमिति भावः, तद्वत्—तथा, भवदनुपममेवैव इति निरवेच्य—नि श्रेयसं विचार्य, जलद,—नेत्र, भवदनुचर इत्यत्र, निवाच्यता—निषिध्यताम्, एतस्य मे प्रियसदनगमने प्रयुक्तकरत्वादित्याशयः । [“निरवेच्य” इत्यत्र “निरपेक्ष” इति सम्बोधनान्तपाठान्तरे—हे निरपेक्ष !—उदासीन !, परं खानभिज्ञ ! इत्यर्थः, समापि दुःखं भवद्वत्, जानीहोति श्रेयः । तदा किं कृतवन्मियाह,—निवाच्यतामिति ] । आया हृत्तमिदम् ॥ ३० ॥

एवमनिशमनुनीयापि पुनः सदीपामत्यधिका कान्ताऽभिसमागमवासना निरस्तु भवतीत्यादितामां विघ्नशतानामपि शक्तिनामोत्पत्त्योच्य तव तव स्वीयाम् उपेक्षा प्रदशयति, गर्जति ।—हे शक्र !—सुरपते ! तव गर्ज—मनितं कुरु, वा—अथवा, वध—वारिधरणं कुरु वा—किंवा, शतशः—शतशतवारान्, अशनि—वज्र, मुञ्च—मिच्छिष्य, यत् ते अभीष्टं, तव कुरु इति भावः, ( किन्तु ) दयित—कान्तं प्रति, कान्त-मभिसन्तुमित्यर्थः, प्रस्थिता,—चलिता, स्त्रिय,—कामिन्यः, रीडु—निवारितः, न शक्या हि—नैव तद्वापरादेता निषेद्ध शक्या इति भावः, त्वदेति श्रेयः । अत्र प्रथमार्द्धे शक्यं गच्छन्वधराशनिविमोचनरूपानेकक्रियासम्बन्धान् दीपकम्, परार्द्धे तु, दयिताऽभिसारेण भवता कथमपि निवारितुं न शक्या इति विनिये वक्तव्ये, कान्तादित्यस्य नाम्ना कथमपि न निवार्यते इत्यभावमुक्तिं सामान्यस्याभिधानात् वैधर्म्येण सामान्यं विधायकमन्तर्यामिणस्तु सामान्यं इत्यर्थो परमेश्वरकृतेन च कथं न शक्यं सत्यं सत्यं । पञ्चाङ्कः ॥ ३१ ॥



विट । भवति । अलमलमुपालम्भेन, उपकारिणी तवेयम्,—

ऐरावतोरसि चलेव सुवर्णरज्जुः

शैलस्य मूर्द्धि निहितेव सिता पताका ।

आखण्डलस्य भवनोदरदीपिकेय-

माख्याति ते प्रियतमस्य हि मन्निवेगम् ॥ ३३ ॥

—निदृशा, नाम—स्वीकारे, पुरुषाणां नैष्ठुष्यात् स्त्रीजनदत्तममृजममुद्राटने समपि क  
कातश्चमस्तीति स्वीकरोतीति भावः, अग्रिं विद्युत् ।—अग्रिं मौदामनि । कामिनी  
गिरोमणे इत्यर्थः, प्रमदानाम्—अवलानां, दुःख—प्रियविरहजनकेशमिति भावः,  
त्वमपि—चम् अवना मलयपीति भावः, न जानामि?—नानुभवमि? इत्यर्थः ।  
पुरुषाणां विजातीयानां रमणीच्छदत्तदुःखस्य बोधनेऽसामर्थ्यं प्रमितं, रमण्य एव  
रमणीच्छदयवेदनान्नाने पटोयस्य मजातीयत्वात्, अतः निर्भीषकाश्रितत्वं ज्ञातव्यं  
मनितमाहायिकं सम्पाद्य तत्र क्षणेन प्रकाशः, क्षणेन न विनाशो नीलितः, अपि तु  
मम पथिप्रदर्शनार्थं मततमेव तत्र दीपवत् सुगीभननयनतर्पणप्रकाशी युक्त इति भावः ।  
आख्या वक्तुम् ॥ ३२ ॥

वसन्तमेताकृतमस्याथ विद्युत्पालम्भेन समाकण्यावोपकृतामूलकं तदिति प्रत्यभि  
ज्ञात् तत् प्रतिषेद्धं प्रत्युत विद्युत् तस्या उपकारित्वं स्नातन्वाणं प्रतिपादयति ॥ ३२ ॥  
ऐरावतोरसंति ।—ऐरावतस्य—अवनातदस्य, उरसि—वक्षसि, अपिता इति ग्रन्थः,  
चला—अगावसञ्चालनादिना चवला, सुवर्णरज्जुविव—द्विरङ्गमयवस्त्रमभापनत्वात् ॥ ३३ ॥  
स्थिता इति शेषः, शैलस्य—निधनतुषारावृतस्य तृहिनाचलस्य, यथा,—मुद्रामनाया  
स्फटिकमयपर्वतस्य, ( तदैकदेशं ज्ञातत्वात् मौदामस्याः पदस्य यत्पताका इति भावः )  
मत्र तस्या सायं सुमङ्गलत्वे इति वीर्यम् ) मूर्द्धि—गिरि, निहिते—आवृता,  
सिता—शुभा, पताकेव—वातविधुतवत् इव, आखण्डलस्य—इत्यर्थः, भवनोदर

वस । भाव । एव तं ज्ञेय एदं गेहम् । ॥

विट । सकलकलाऽभिज्ञाया न किञ्चिदिह तवोपदेष्टव्यम्  
अस्ति, तथाऽपि स्नेहः प्रलापयति ; अतः (प) प्रविश्य कोपो-  
ऽत्यन्तं न कर्तव्यः,—

यदि कुप्यसि नास्ति रतिः, कोपेन विनाऽथवा कुतः कामः ।

कुप्य च कोपय च त्वं प्रसीद च त्वं प्रसादय च कान्तम् ॥३४॥

० भाव । एव तदेव एतद्देहम् ।

उपमानमन्तयो स्वर्णरञ्जितपताकयोः सादात्म्याध्यासादुत्कटैककोटिकरुण्यसमु-  
दयात् उत्प्रेवाडयनद्वाङ्मभावेन सजातीयतया सङ्गीर्यते, परार्हे तु विद्युद्रूप विषय  
सञ्चैव निगूढ आखण्डलभवनोदरदीपिकास्वरूपत्वेन तदभिधानात् निश्चयात्मिकाया  
प्रतीतेरुदयादभेदाध्यवसानरूपातिशयोक्तिः पूर्वोक्ताभ्यामुत्प्रेक्षाभ्यां सापेक्षतया  
संस्थिते सङ्गीर्यते । वसन्ततिलक वृक्षम् ॥ ३३ ॥

( प ) सकलेति ।—सकलासु कलासु—चतु षष्टिनृत्यगीतादिविद्यासु, अभि-  
ज्ञाया,—विशेषज्ञानवत्या । प्रलापयति—मुखरयति, सा वक्तुमिति शेषः । अत्र—  
चारुदत्त—हे इत्यर्थः ।

सलैकदेशशी घूर्णो विट स्वाभिज्ञत्वं प्रतिपादयितुं चारुदत्तसकाशे वसन्त-  
सिनाश कर्त्तव्यमुपदिशति, यदीति ।—यदि कुप्यसि—केवलमेव क्रोध करोषि,  
कदा रति —अनुरागः, सम्भोगो वा, नास्ति—न भवति, सततकोपेन न रतिमुखसम्भव  
इत्यर्थः, अतो नातिक्रोधं त्वया करणीय इति भावः । कामोद्दीपनायंभीषत् प्रणय-  
क्षीप कृत्य एव इत्यभिप्रेत्याह, कोपेनेति ।—अथवा—किंवा, कोपेन विना—  
प्रत्यक्षोपादत्ते कामो न—रतिर्न, कदाचित् प्रदर्शित ईषत् कोप कान्तस्य  
रत्नप्रकाशप्रतिहताया, समुदीयमाने हि विरहे, निरुद्धे परिवाहे जलपूर इव,  
कामहृदये भवतीति भावः,—“न विना विप्रलम्बेन सम्भोगं पुष्टिमनुते” इति दर्पय  
सुखवसानात्, तं कुप्य—कदाचित् स्वयं क्रुद्धा भव, कोपय च—कदाचित् आत्मानं  
प्रति क्रोधस्तत्पादय कान्तमेति ईष, प्रसीद—कदाचित् प्रसन्ना भव, कान्ताजु  
रागदिकं हरेति भावः, प्रसादय—प्रसन्नतामुत्पादय, पुष्पनालिङ्गन्दानादिना  
कान्तमेति ईष । अत्रात्राभेदानामर्थं नीतिहिनः, तद्वत्तत्पुष्पं हत्तरवाकरं यथा,—  
“यथा”प्रसन्नदलीपं यदि कदापि लल्लं भवेदुभयो । दलदो हतयतिशोभां ता  
मिति नीतिहिनः सुन्दरी ।” इति । ३४ ॥

भवतु एव तावत् । भोः । भोः ! निवेद्यताम् आर्य-  
चारुदत्ताय,—

एषा फुल्ल कटम्ब नोप सुरभी काले घनोद्भामिते  
कान्तम्यालयमागता समदना हृष्टा जलाद्रालिका ।  
विद्युद्धारिद-गर्जितै सचकिता त्वद्दर्शनाकाङ्क्षिणी  
पाटौ नृपुरलग्नकर्दमधरौ प्रचालयन्ती स्थिता ॥ ३५ ॥

आरु । [ आकण ] वयस्य । ज्ञायता किमेतदिति ।

विदू । ज भव आणवेदि । [ वसन्तसेनामुपगण मादरम् ] सौम्य  
भोटीए १ ५

५ गद भवानापायति । आसि भवत्ये १

वस । अज्ज ! वन्दामि । साअदं अज्जस्स ? [ विट प्रति ]  
भाव । एसा छत्तधारिआ भावस्स ज्जेव भोदु । \*

विट । [ स्वगतम् ] अनेन उपायेन निपुण प्रेषितोऽस्मि ।  
[ प्रकाशम् ] एव भवतु । भवति वसन्तसेने ।—

साटोप कूट-कपटानृत जन्मभूमेः

शाव्यात्मकस्य रतिकेलि कृतालयस्य ।

वेश्याऽऽपणस्य सुरतोत्सव संग्रहस्य

दाक्षिण्य पण्यसुख निष्कृत्यसिद्धिरस्तु ॥ ३६ ॥

[ इति निष्क्रान्त ] ।

\* आद्य । वन्दे । स्वागतमाद्यस्य ० भाव । एसा छवधारिका भावस्यैव भवतु ।

इदानीं गमनकाले विट वसन्तसेनाया आगमनसाफल्यम् आशांते, साटोपेति ।  
—साटोप—सदम्भ, यत् कूट—माया, कपट—छलम्, अनृत—मिथ्या च, तस्य  
जन्मभूमे, —आकरस्य, उत्पत्तिस्थानस्येत्यर्थः, मूर्त्तिमद्भव्यादिकभूमेरित्यर्थः, शाव्यं—  
शठता, चातुरीति यावत्, तदेव आत्मा—स्वभाव यस्य तादृशस्य, शठतापूर्णस्येत्यर्थः,  
रतिकेलिना—सुरतक्रीडया, कृत, —रचित इत्यर्थः, आलय, —आस्यद् यस्मिन् तस्य,  
रतिक्रीडाश्रयस्येत्यर्थः, यहा, रतिकेलये—निधुवनक्रीडायां, कृत, —विहित, य,  
आलय, —निकेतन तथाभूतस्य, तथा सुरतोत्सवस्य—शृङ्गारानन्दस्य, सङ्ग्रह, —  
सम्यक् ग्रहणम्, आत्माद इत्यर्थः, यस्मिन् तथाभूतस्य, सुरतजनितानन्दसन्तानसाधकस्य  
इत्यर्थः, वेश्याऽऽपणस्य—वेश्यारूपस्य आपणस्य—विपण्ये, पण्यवीथिकाया इत्यर्थः,  
क्रयविक्रयस्थानस्य इति यावत्, दाक्षिणेन—परस्परस्य औदार्येण, न तु अथविनि  
यागेन इति भावः, पण्यस्य—विक्रीयस्य, स्वयौवनरूपस्य इति भावः, सुखनिष्कृत्य,—  
सुखमेव—आयाम् विनैवेत्यर्थः, निष्कृत्य,—विनिमयः, अक्षेपेनैव यौवनपण्याविक्रय  
इत्यर्थः, तस्य सिद्धिः,—साफल्यम्, अस्तु—भवतु, स्वध्यासामान्य दाक्षिण्य प्रकटय्य  
चारुदत्ततो निरतिशय सभोगसुखमनुभूयतामित्यर्थः, अन्यथा अकिञ्चनतया ततमे  
सुखं नैव भविष्यतीति विटस्याभिप्रायः, यहा, दाक्षिणेन—सारत्वेन, अकपट-  
मित्यर्थः, पण्यस्य—विक्रीयीभूतस्य क्रेयीभूतस्य चेत्यर्थः, सुखस्य—भवदाश्रयस्य सुरत  
सुखस्य, भवन्निर्वाहितस्य निधुवनानन्दसन्दोहस्य चेत्यर्थः, य निष्कृत्य,—विनिमयः,  
परस्परसुखादानप्रदानमित्यर्थः, तस्य, सिद्धिः,—साफल्यं चरिदता दुषधोरिति यावत्,

वस । अज्ज मित्तेअ । काहि तुम्हाण जूदिअरो १ ॥ (फ)  
 विदू । [स्वगतम्] ही, ही, भो । जूदिअरो । त्ति भणन्तीए  
 अलङ्घिटी पिअवअस्सो । [प्रकाशम्] भोदि । एसो क्व, सुक्ख-  
 रुक्खवाडिआए । ॥

वस । अज्ज । का तुम्हाण सुक्खरुक्खवाडिआ बुज्जदि १ ॥

विदू । भोदि । जहि ण खाईअदि, ण पीईअदि । §

वस । [स्मितं करोति] ।

१ - पाठ्य मेवम् । कृत युष्माकं लूतकर १

१ - पाठ्यम् भी । लूतकर इति भणत्या अलङ्घत प्रियवयस्य । भवति । एष  
 खलु शरद्वधवाटिकायाम् ।

२ - पाठ्य । का युष्माकं शरद्वधवाटिका उत्तरे १

१ भवति । यत्र न खाद्यते न पीयते ।

विदू । ता पविसदु भोदी । \*

वस । [ जनान्तिकम् ] एत्थ पविसिअ कि मए भणिदब्बं ? †

चेटी । “जूदिअर । अवि सुहो दे पदोसो ?” त्ति । ‡

वस । अवि पारइस्स ? §

चेटी । अवसरो ल्हेव पारइस्सदि । ¶ (ब)

विदू । पविसदु भोदी । \*\*

वस । [ प्रविश्योपसृत्य च पुष्पैस्ताडयन्ती ] अइ जूदिअर । अवि सुहो दे पदोसो ? †† (भ)

चारु । [ अवलोक्य ] अये । वसन्तमेना प्राप्ता ॥ [ सहर्षमुत्थाय ] अयि प्रिये ।—

सदा प्रदोषो मम याति जायत',

सदा च मे निखसतो गता निशा ।

\* तत् प्रविशतु भवती ।

† अत्र प्रविश्य कि मया भणितव्यम् ?

‡ “यूतकर । अपि सुखसे प्रदोष ?” इति ।

§ अपि पारयिष्यामि ?

¶ अवसर एव पारयिष्यति ।

\*\* प्रविशतु भवती ।

†† अयि यूतकर । अपि सुखसे प्रदोष ?

( व ) पारयिष्यति—त्वां वक्तु समर्था कारयिष्यतीत्यर्थः, सामयिकवाग्विन्यास नैपुण्यादिनेति शेषः ।

( भ ) अइ जूदिअर । इति ।—अयमेवावाशयः,—सन्ध्यासमये एव यूतकरे घृतकीडायाः सततमनुष्ठेयमानत्वदर्शनात्, आत्मीयमिति कृत्वा सुवर्णमाण्डं यूते अपहारितवत् ते सुखेन प्रदोषं अत्येति मन्ये इति बाह्योऽयं, गर्भिताश्च नृणां निश्चयं विरहतापानलदग्धीभूताया मे अयमेव जलदागमकालप्रदोषं मदीयं दुःखसम्भार-मर्तावर्जं प्रति, यतोऽहं स्वयमेव प्रायश्चिन्तना अप्राप्तिताऽपि भवद्देहमागता, भवान् तु निर्विकारचेता इव सुस्थं तिष्ठति, मन्ये, तर्हि सुखकरं ते अयं प्रदोषं समुद्रित इति ।

“यूतकर अपि सुखसे प्रदोष ?” इति उपरिहासव्याजोक्तिसाकर्षणं, प्रदोषकालं हि भवता सुखकरं सादृशाद्याभिसारिकाया निवृत्तदुःखापन्नं इति गमितं वनन-सेनाऽऽश्रयनवदुःखावसरे एव अनुत्पन्नं दातुं, जलदीपप्रदीपकालस्य न प्राक्

वस । अज्ज मित्तेअ । काहिं तुम्हाणं जूदिअरो ? (फ)  
 विद् । [ स्वगतम् ] ह्री, ह्री, भो ! जूदिअरो । त्ति भणन्तीए  
 अलङ्घिदो पिअवअस्सो । [ प्रकाशम् ] भोदि । एसो क्खु सुक्ख-  
 रुक्खवाडिआए । †

वस । अज्ज । का तुम्हाण सुक्खरुक्खवाडिआ बुच्चदि ? ‡

विद् । भोदि । जहि ण खार्इअदि, ण पौइअदि । §

वस । [ स्मित कराति ] ।

८ आथ मैवय । कुव युष्माकं द्यूतकर ?

† आथयं भो । द्यूतकर इति भणन्त्या अलङ्घत प्रियवयस्य । भवति । पय  
 खलु यत्स्वच्छवाटिकायाम् ।

‡ आथ । का युष्माकं सुक्खरुक्खवाटिका उच्यते ?

§ भवति । यच्च न खान्ति, न पीयन्ति ।

अम्—भवतु, इत्याशान्ते सादृशी जन इति तात्पर्यम् । लज्जादीनितम्,—“वग्ना-  
 ऽऽपणस्य—वैश्यान्ववहारस्य, दाक्षिण्येन—कामतन्त्रनैपुण्येन, यत् पण मुदा—कपक्रीत  
 सुख, वैश्यासम्प्रीणादिसुखं पणमुखं भण्यते, तदृषा निष्क्रयस्य मिदिरम् । दानेन  
 नायकस्य चारुदत्तस्याकिञ्चनतया दाक्षिण्यान्त्रयनिष्क्रयविरुद्धं दानेन समित  
 सम्भागमुखमिदरेव निष्क्रयमिदिरूपत्वादिति परमाण्व, यदा,—दानेन—दानेन  
 नायकसद्वृत्तस्य कामतन्त्रनैपुण्यं, पणमुखं च एतत्प्रत्यक्षं निष्क्रयमिदिरूपं,  
 अथवा,—दाक्षिण्यपणमुखनिष्क्रयाणां मिदिरूपं । इत्यात्मनः प्र क सम्पन्नात्  
 निष्क्रये मूल्यं, पण व्यवहारि स्तुतौ च इति धातु ” इति व्याख्यानं वसन्तलालक  
 वृत्तम् ॥ २६ ॥

विद् । ता पविसदु भोदी । \*

वस । [ जनान्तिकम् ] एत्थ पविसिअ कि मए भणिदब्बं ? †

चेटी । “जूदिअर । अबि सुहो दे पदोसो ?” त्ति । ‡

वस । अबि पारइस्स ? §

चेटी । अवसरो ज्जेव पारइस्सदि । ॥ (ब)

विद् । पविसदु भोदी । \*\*

वस । [ प्रविश्योपस्य च पुष्पैस्ताडयन्ती ] अइ जूदिअर । अबि सुहो दे पदोसो ? †† (भ)

चारु । [ अवलोक्य ] अये । वसन्तमेना प्राप्ता ॥ [ सहर्षमुत्थाय ] अयि प्रिये ।—

सदा प्रदोषो मम याति जाग्रतः,

सदा च मे निश्चसतो गता निशा ।

\* तत् प्रविशतु भवती ।

† अथ प्रविश्य कि मया भणितव्यम् ?

‡ “द्यूतकर । अपि सुखस्ते प्रदोष ?” इति ।

§ अपि पारयिष्यामि ?

॥ अवसर एव पारयिष्यति ।

\*\* प्रविशतु भवती ।

†† अयि द्यूतकर । अपि सुखस्ते प्रदोष ?

( ब ) पारयिष्यति—त्वां वक्तु समर्था कारयिष्यतीत्यर्थः, सामयिकवाग्विव्यास नैपुण्यादिनेति शेषः ।

( भ ) अइ जूदिअर । इति ।—अयमेवावाशयः,—सन्ध्यासमये एव द्यूतकरे द्यूतक्रीडायाः सततमनुष्ठेयमानत्वदर्शनात्, आत्मीयमिति कृत्वा सुवर्णभाण्डं द्यूते अपहारितवत् ते सुखेन प्रदोषं अत्येति मन्ये इति बाह्योऽर्थः, गर्भिताद्यस्तु नियतविरहतापानलदग्धीभृताया मे अयमेव जलदागमकालप्रदोषं मदीयं दुःखसम्भारमतीव वर्जयति यतोऽहं स्वयमेव प्राथयमाना अप्रार्थिताऽपि भवद्देहमागता, भवान् तु निर्विकारचेता इव सुस्थ तिष्ठति, मन्ये, तर्हि सुखकरं ते अयं प्रदोषः समुद्रित इति ।

“द्यूतकर अपि सुखस्ते प्रदोष ?” इति सपरिहासव्याजीकृतिमाकर्ण्य, प्रदोषकालं भवता सुखकरं मादृशाद्याभिसारिकाणां नियतदुःखदायकं इति गमितं वनन्तं ततोऽऽशयमवबुध्यमानरे एव अतुरूपमुत्तरं दातुं, जलदीपप्रदोषकालस्य न प्राक्



त्वया समेतस्य विशाललोचने ।

ममाद्य शोकान्तकर प्रदीपक. ॥ ३७ ॥

तत् स्वागतं भवत्यै ? इदमासनम्, अत्रोपविश्यताम् ।

विदुः । इदं आसनां, उवविमदु भोदौ । \*

[ वसन्तसेना आसीना, तत सर्वे उपविशन्ति ] ।

चारु । वयस्य । पश्य पश्य,—

वर्षोटकमुद्गिरता श्रवणान्तविलम्बिना कटम्बेन ।

एक स्तनोऽभिपिक्तो नृपसुत इव यौवराज्यस्य ॥ ३८ ॥

\* इदमासनम् उपविशतु भरती ।

शोकान्तकरत्वमासीत्, इदानीन्तु भवत्समागमेनैव शोकान्तकररूपत्वेना, सो परिणत इत्येवमुपवर्णयति, सदाति ।—सदा—नमः, जायत एव—अनिद्रिरस्य एव मम प्रदीप,—रजनौमुख, रात्रि प्रथमांश इति यावत्, याति—गच्छति, न कदापि ५. १५ एव जागस्मि, किन्तु कृत्स्नासीव निशाम् इत्याह, सदा चेति ।—म—मम, निशा—रात्रिरपि, कृच्छेति भावः, सदा—सततमव, निश्चयत,—दीघादीर्घतरा याम् लभतः, सुतगामनिद्रित एव, गता—अतीता, जायतु निश्चयस्य सम्पूरा निशाम् अतिवाह यामीत्यर्थः, हे विशाललोचने ।—आयतनेने । अत्र—वतमानदिवसे, त्वया—भवत्या, समेतस्य—मिलितस्य, मम प्रदीपक,—सन्ध्यासमयः, शोकान्तकर,—दुःखनाशक इत्यर्थः, भवेदिति शेषः । अत्र “सदा” इति पदस्य पद्याग्रान्तरमात्रं ज्ञेयं, भङ्गोपराश्रितिसङ्ख्या एकैव भङ्गा पुनरुपादानदर्शनादन्तरीक त्वरपदीप उच्यते । वक्ष्यविल हसम् ॥ ३७ ॥

तद्वयस्य । क्षिन्ने वाससी वसन्तसेनायाः अन्ये प्रधान-  
वाससी (म) समुपनीयेतामिति ।

विदू । ज भव आणवेदि । \*

चेटी । अज्ज मित्तेअ । चिट्ठ तुम, अह ज्जेव अज्जअ  
सुसूमइस्स । † (य) [ तथा करोति ] ।

विदू । [ अपवारितकेन (र) ] भी वअस्स । पुच्छामि दाव तत्थ-  
भोटिं किं पि ‡

चारु । एवं क्रियताम् ।

विदू । [ प्रकाशम् ] अध किं णिमित्तं उण ईदिसे पणट्ठचन्दा-  
लोए दुट्ठिण अधआरे आअदा भोदी † §

चेटी । अज्जए । उज्जुओ (ल) वम्हणो । ¶

वम । णं णिउणोत्ति भणाहि । \*\* (व)

\* यद् भवानाज्ञापयति । † आद्य मेवेद्य । तिष्ठ त्वम्, अहमेवाद्या युशूषयिष्यामि ।

‡ भी वयस्य । पुच्छामि तावत् तवभवतौ किमपि ?

§ अथ किं निमित्तं पुनरौदृशं प्रनटचन्द्रालोके दुर्दिनाम्बुकारे आगता भवती ?

¶ आर्ये । उज्जुकी ब्राह्मण ।

\*\* ननु निपुण इति भण ।

पुष्पान्तरस्य प्रतान वसन्तसेनाया चारुदत्तदशनायनलुत्कण्ठा व्यज्यते ] । अवीपमा-  
ऽलङ्कार स्फुट एव । आर्या हत्तम् ॥ ३८ ॥

( म ) क्षिन्ने—जलाद्रे, वाससी—पश्चिम्यम् उत्तरीयस्येत्यर्थ । प्रधानवाससी—  
सत्कृष्टवसनद्वयमित्यर्थ ।

चेटी । एसा कबु अज्जआ एब्ब पुच्छिदु आअटा, केत्तिअ ताए रअणावलीए सुत्तं ? त्ति । ॥

विदू । [ जनान्तिकम् ] भो । भणिट मए, जधा अप्पसुत्ता रअणावली, बहुमुत्त सुवसभण्डअ, ण परितुट्ठा, अवर मणिदु आअटा । ॥

चेटी । सा कबु अज्जआए अत्तणकेरकेत्ति भणिअ जूटे हारिटा । सो अ सहिओ राअवात्थहारो ण आणीअदि, कहि गदो त्ति । ॥

विदू । भोदि । मन्तिद ज्जेव मन्तीअदि । § (ग)

चेटी । जाव सो अणेसीअदि, ताव एट ज्जेव गेह सुयग-भण्डअ । ¶ (घ) [ इति दर्शयति ] ।

\* एषा खलु आद्या एव प्रष्टुमागता, किंयत् तस्या रत्नायल्या मूल्यम् ? इति ।

† भो । भणितं मया, यथा अन्यमूल्या रत्नावली, तत्रमूल्यं सुयगभाण्डम्, न परितुष्टा, अपर मार्गस्थितमागता ।

‡ सा खलु आद्यया आत्म्यायैव भणित्वा गृतं हारिता, स च सभिन्नं राज-वात्ताहारो न ज्ञायते, कुत्र गत इति ।

§ भवति । मन्तितमेव मन्त्रात् ।

¶ यावत् सोऽन्विष्यत, तावदिदमेव गृहाण सुयगभाण्डं कम् ।

विद् । [ विचारयति ] ।

चेटी । अदिसेतं अज्जी णिज्झाअदि ? (स) ता कि दिट्ठ-  
पुरुब्बो दे ? ५

विद् । भोदि । सिप्पकुसलदाए ओवन्धेदि (ह) दिट्ठिं । १

चेटी । अज्ज । वच्चिदोसि दिट्ठीए ? (क) त ज्जेव एदं सुवस्स-

भण्डअ । ३

विद् । [ सहषंन् ] भो वअस्स । त ज्जेव एदं सुवस्सभण्डअ,

जं अम्हाण गेहे चोरेहि अवहिदं । §

चारु । वयस्य ।—

योऽस्माभिश्चिन्तितो व्याजः कर्तुं न्यासप्रतिक्रियाम् ।

स एव प्रस्तुतोऽस्माकं किन्तु सत्यं विडम्बना ॥ ३८ ॥

\* अतिमावसाध्यो निध्यायति ? ततः किं दृष्टपूर्वं ते ?

† भवति । शिल्पकुशलतया अववध्नाति दृष्टिम् ।

‡ आर्य्ये । वच्चितोऽसि दृष्ट्या ? तदेवेदं सुवर्णभाण्डकम् ।

§ भो वयस्य । तदेवेदं सुवर्णभाण्डकं, यदस्माकं गेहे चौरैरपहतम् ।

( स ) निध्यायति—चिन्तयति, विचारयतीत्यर्थः, निरीक्षते इति यावत् ।

( ह ) अववध्नाति—रुणद्धि, शिल्पसौष्ठवदर्शनात् ततः दृष्टिं सहसा नेतुं न शक्नोतीत्यभिप्रायः ।

( क ) वच्चितोऽसि दृष्ट्या ?—दृष्ट्या—दर्शनशक्त्या, वच्चितोऽसि ?—प्रतारितो-  
ऽसि ? दृष्टिहीनं अस्वो भवसि किम् ? इत्यर्थः, यदि ते दृशनीयं न दृष्टं, तदा किं  
वचुश ? इति वचुश्चानपि भवान् वचुर्देव प्रतार्यते इति वा तात्पर्यम् ।

विद् । भी वयस्स । मच्च मवामि वम्हसेण । ५ (ग)

चारु । प्रिय नः प्रियम् । (ग)

विद् । [ जनान्तिकम् ] भोः । पुच्छामि ण, कुदो ण्द समासा-  
दितं ति । १\*

चारु । को दोषः ?

विद् । [ चेष्टा कर्णे ] एब्ब विअ । ‡

चेटी । [ विदूषकस्य कर्णे ] एब्बं विअ । §

चारु । किमिदं कथ्यते, किं वयं वाह्या' ? (घ)

\* भो वयस्य । सत्य शपे ब्राह्मणेन ।

† भो । पृच्छामि नन, कुत इदं समासादितमिति ?

‡ एवमिव ।

§ एवामन ।

आरब्धः, अन्यविधं व्याजं प्रकटोक्तं इत्यर्थः, वसन्तमेतन्नेति शप, अस्मद्व्याजं  
प्रकटोक्तं कृत्वा लभन्मनुमृतमननेति भावः, सत्यं विडम्बना एव—प्रतारणेन, प्रता-  
रणरूपेण परिणतं इत्यर्थः, प्रागस्मदाचरितकामस्य वसन्तमनया विज्ञातमिति  
स्वोपासमान्यवैदग्ध्यप्रदर्शनायसम्मानं वक्ष्यितुमेव पुनः कापद्यान्तरं प्रकृतमनयति  
भावः । अतः अस्मदनुमृतस्य सुवर्णभाण्डविनिमयेन रत्नावल्यपणं व्याजस्य, सत्यं दूर-  
दृष्टातिशयात् न केवलमभौटामस्यैव कल्पं, प्रकृतं कल्पोपाटनात् न तादृशतया  
करत्वात् विडम्बनारूपत्वेन परिणमनमिति आरब्धस्य वैकल्यादनश्चासदशनात् इत्या-  
रब्धवैकल्यादनस्यैव वदपविपत्त्यादौ । पद्यावक्तुं इतम ॥ २२ ॥

विद् । [ चारुदत्तस्य कर्णे ] एवं विभ्र । \*

चारु । भद्रे । सत्यं, तदेवेदं सुवर्णभाण्डम् ?

चेटी । अज्ज । अधि । †

चारु । भद्रे । न कदाचित् प्रियनिवेदनं निष्फलीकृतं (ङ)

मया : तद्गृह्यतां पारितोषिकमिदमङ्गुलीयकम् । [ इत्यङ्गुलीयकं  
हस्तमवलोक्य सज्जी नाटयति ] ।

वच । [ आत्मगतम् ] अदी ज्जेव (च) कामीअसि । ‡

चारु । [ जनान्तिकम् ] भाः । कष्टम् ।—

धनैर्वियुक्तस्य नरस्य लोके किं जीवितेनादित एव तावत् ? ।

यस्य प्रतीकारनिरर्थकत्वात् कोपप्रसादा विफलौभवन्ति ॥४०॥

\* एवञ्चिव ।

† आद्ये । अधिकम् ।

‡ अत एव काम्यसे ।

( ङ ) प्रियनिवेदनं—प्रीतिवात्तांविश्रापनं, निष्फलीकृतं—विफलौकृतं, प्रिय  
वातादयदजनिरानन्दम् एकाकी एव कदापि प्राक् नानुभूतवानहमित्यर्थः, अतः  
इदानीं तद्विवेदयितारमपि पारितोषिकादिभिरानन्दयामि इति भावः, दूता एवम्  
आशयते, यत्र एष एतत्प्रियनिवेदने हने एतस्मात् किञ्चित् पारितोषिकं लक्षयामहे  
इति तदपानौ तु तेषां मनेभ्यो दर्शनात् स्वानन्दस्यापि वैफल्यशङ्का इति भावः ।

( च ) अतः,—अस्मान्, भवत एवविषयगुणसहोपेतत्वादित्यर्थः, “गुणानुरक्ता  
रदिका—” इत्यादि शब्दकारोक्तेः ।

प्रियादेदिकायाः प्रीतिः प्रवर्धयितुं स्वाङ्गुलीयकदिक्षुना चारुदत्तस्य हृषातिरिक्तात्  
सुदरिद्रतामप्यालोच्यैव अङ्गुल्यमुत्तोलिता, ततस्तु अङ्गुलीयकगुण्या विलोका-  
ङ्गुली स्वाध्वस्तयैव सर्वमेव वैभवं नटामिति विभाष्य, दातुमशक्यत्वात् कदाचित्  
निष्ठावेगप्रसरत्वात्वातिनिदानं दासिद्रं मन्यमानं सर्वदुःखैकमूलमप्रतिकाय्यं च  
रुदित्येव मूलवदति, धनैरिति ।—लोके—जगति, धनैः,—धनैः, वियुक्तस्य—  
विहीनस्य, दरिद्रस्येति नरस्य—जनस्य, आदित एव—प्रथमत एव, जन्मत एव  
इति यावत्, जीवितेन—रातैः, किं तावत् ?—न किमपि फलमित्यर्थः, उत्पत्ति  
रतेत्येव सुदृढस्य दरिद्रं जलकुहं इव विलीनतां न गत इति भावः । यस्य—  
यस्यैव जनस्य कोपप्रसादा—क्रोधानुरागा, प्रतीकारनिरर्थकत्वात्—प्रती-  
कारे—प्रतीकारे, निरर्थकत्वात्—निर्विषयकत्वात्, प्रतीकारकरादमत्वादित्यर्थः,

अपि च,—

पक्षविकलश्च पक्षो, शुष्कश्च तरु', मरश्च जलहीनम् ।

मर्पथोद्धृतदंष्ट्रस्तुल्य लोके दरिद्रश्च ॥ ४१ ॥

अपि च,—

शून्यैर्गृहैः खलु समा पुरुषा दरिद्राः

कूपैश्च तोयरहितैस्तर्कभिश्च शीर्णैः ।

यत् दृष्टपूर्वजन-सङ्गम विस्मृतानाम्

एव भवन्ति विफला. परितोषकालाः ॥ ४२ ॥

कीपे प्रतिकर्तुं, प्रमादे चोपकर्तुं मममयचादिति यावत्, विफलीभवन्ति—विफला  
जायन्ते, यो हि जन्मनैव दरिद्रो भवति, तस्याजगन्मेष वरमिति भावः । अतः  
प्राक्, प्रितनिवेदिकायाश्चेत्या पारितोषिकदानाममथश्च दरिद्रस्य मम अजनमभय  
वरमाप्नोदिति प्रप्तुने विधेये अभिधीयमाने तादृशसामान्यस्याऽप्रप्तुतमाधारणदरिद्र  
रूपवन्तुनोऽभिहितत्वात्प्रप्तुतप्रशमाऽलङ्कार, पराडुवाकागतस्य कोपप्रमानावफला  
भवनरूपकार्यस्य हेतुतया पूर्वादेश्यवाक्योपन्यासात् वाकागतकार्यानिद्राऽलङ्कार,  
इत्यनयो परस्परमापेक्षतया मथ्यते सद्वर । इन्द्रोपेन्द्रवज्रयो मन्मथानात्पत्न्याति  
हसम् ॥ ४० ॥

तद्वैव भूयसा विशदयति, पक्षेति ।—लोके—जगति, पक्षविकल—पक्षविकल,  
पक्षी—विहग, शुष्क,—पातवर्णयित, तरु,—वन, जलहीन—मार्तण्डशून्य,  
मर,—जलाशयम्, उद्धृतदष्ट,—विषटलविहीन, मर्प,—मृग, दरिद्र—  
निर्जनश्च, एतत् सञ्जेमिति शेष, तुल्यम्—स्वामिन्मयितसापादितुल्यमपि  
समानम्, हया जीवन्ति एते इति भावः । अथ उपमेयमतः दरिद्रस्य उपमानरत्नानां  
पक्षिप्रभृतौना तुल्यत्वरूपप्रतीपमानवैचर्यमाध्यावरसात् उपमा, लङ्कार, स तर्क  
स्यैवोपमेयस्य मुष्कटमाध्यावरवोधनात् तादृश उपोपमानस्य स्वभावप्रधानात् स पारय,  
तुल्यप्रदीपादानाद्येयमार्थो अवगन्तव्यः । आद्या वनम् । ४१ ।

विदू । भो । अल अदिमेत्तं सन्तप्पिदेण । [ प्रकाश सपरिहासम् ]  
भोदि । समप्पीअदु मम केरिआ ह्माणसाडिआ । ॥ (छ)

वस । अज्ज चारुदत्त । जुत्त णेद, इमाए रअणाबलीए इमं  
जणं तुलइदु । १\* (ज)

चारु । [ सविलचक्षितम् (झ) ] वसन्तसेने । पश्य पश्य,—

\* भो । अलमतिमाव सन्तापितन । भवति । समर्थता मम क्रीता स्नान-  
शाटिका ।

+ आद्य चारुदत्त । युक्तं नेदम्, अनया रत्नावल्या इमं जन तुलयितुम् ।

विष्णुना ॥—उततान वोयदारिद्राविस्मरणवतां जनानां, दरिद्राणामिति भावः, परि-  
तोषकाला, —सन्तोषमनसा, पारितोषिकदानोचितकाला इति यावत्, एव—सम  
यथा विफला, तद्वदिद्य, विफला,—पारितोषिकदानासमर्थतया निष्फला,  
भवन्ति—जायन्ते इत्यर्थः, प्रकटानन्दकालेऽपि पारितोषिकदानोचितद्रव्याद्यभावात्  
कालानां विफलत्वमिति भावः । अवीपमेप्रभृतस्यैकस्यैव दरिद्रपुरुषस्य बहुभिरवीप-  
मानभूतेः अन्यगृहादिभिः अवैधस्य सास्यावबोधान्, तुल्यपदोपादानाच्चैव आर्थीय-  
मुपमाऽवगत्या, एकस्यैवोपमेयस्य बहुपमानदर्शनात् मालारूपेयमित्यवगन्तव्यम् ।  
वसन्ततिलकं हस्तम् ॥ ४२ ॥

( छ ) स्नानशाटिका—स्नानार्थं शाटिका—वस्त्रखण्डविशेषः, गात्रमार्जनीति  
यावत्, स्नानकाले परिधेयघृद्रवस्त्रविशेषो वा । वसन्तसेनान्यस्तमलङ्कारभाण्ड  
विदूषकेण प्राक् जीर्णस्नानशाटिकया निबध्य स्थापितः, शर्विलकात् तथाविधा  
तामधिगतवत्या वसन्तसेना सा छिन्नतया परित्यक्ता, इदानीं तदेव लक्ष्यीकृत्य  
विदूषकस्यैव परिहासोक्तिः अवगन्तव्या ।

( ज ) तुलयितुं—तुल्यवत् लघु कर्तुम् । [ तुलयितुमिति पाठे—परिमापयितुं,  
लक्ष्यान्स्वत्वज्ञानार्थं स्वल्पमूल्यस्य सुवर्णभाण्डस्य विनिमयेन बहुमूल्याया रत्नावल्या  
दानेन परीक्षितुं वा, नष्टस्याल्पमूल्यस्य सुवर्णभाण्डस्य कृते बहुमूल्याया रत्नावल्या  
दानेन वसन्तसेनाया लुब्धत्वसिद्धान्तोदगादिति भावः ] ।



कः अद्यास्यति भूतार्थं सर्व्वी मां तूलयिष्यति ।

शङ्कनीया हि लोकेऽस्मिन्निष्पृतापा दरिद्रता ॥ ४३ ॥

विद् । हज्जे । किं भोर्दोष इध ज्जेव सुविदब्ब (ज) १ \*

षेटो । [ विदम्ब ] अज्जमित्तेअ । अदिमेत्त दाणि उज्जुअं (ट)  
अत्ताणअ दसेमि । †

विद् । भोः वयस्स । एसा क्खु ओसारअन्तो विअ सुहोव्व-  
विट्ठ जण पुणोवि वित्थारि-वारिधाराहि पविट्ठो पज्जम्हो ।‡ (ठ)

चार । सम्यगाह भवान्,—

\* चेष्टि । किं भवत्या इद्वैव स्वप्नस्यम् १

† आद्य मेतेय । अतिमात्रमिदानीम् ऋजुमात्मानं दशयामि ।

‡ भो वयस्य । एष खलु अपसारयन्निव सुखोपविष्ट जनं पुनरपि विस्तारि-  
वारिधाराभिः प्रविष्टः पज्जन् ।

क इति ।—वर्तमाने, डे १४२ प्रस्तावा व्याख्यातोऽयम् ॥ ४३ ॥

( ज ) स्वप्न—निद्रातन्त्रम् ।

( ट ) “उज्जुअ” इत्येव “उज्जअ” इति पाठस्य “उगतम्” इति संस्कृतम्,  
“उदयुक्तम्” इति व्याख्यानञ्च मेनिर प्राचीना । अवेदमाकृतम्,—तथा । ६ इदानीम्  
आद्यर्थो रक्ष मद्रतम् आवलम्बिनेव समागम साधयन् भवानतीव सन्तरी भवामि इति ।  
“ऋजुम्” इति मङ्गलं तु,—अतिमरुतं कान्तकलाञ्जलि-समात्मानं दशयामि, न । ६  
तात्त्विकतया भवान् मरुतः, अस्माकम् आ वलम्बेना अप मरुतः, पितृत्वात् । ६ न  
रजनीं शपथितुं शक्यता, एतद्वि सर्व ज्ञानत्रयं किमप्यज्ञानं प्रवृत्तं न । ६ पुनरपि  
तं चातुश्च मतिं चया आशयः ।

असूहिं भित्त्वा जलदान्तराणि पङ्कान्तराणीव मृणालसूच्यः ।

पतन्ति चन्द्रव्यसनादिमुक्ता दिवोऽश्रुधारा इव वारिधाराः ॥४४॥

अपि च,—

धाराभिरार्थ्यजनचित्त सुनिर्मलाभिः

चण्डाभिरर्जुनशर प्रतिकर्कशाभिः ।

मेघाः स्रवन्ति बलदेव पटप्रकाशः

शक्रस्य मौक्तिकनिधानमिवोद्गिरन्तः ॥ ४५ ॥

विदूषकोक्त समर्थयितु चारुदत्तोऽपि वारिप्रवाह विवर्ण्यति, असूरिति ।—असू,  
—पतन्त्य एता इत्यर्थः, वारिधारा,—वर्षादेकप्रवाहा, मृणालसूच्य,—मृणालानि—  
विसानि, पङ्कादेर्नालस्यपङ्कान्त प्रविष्टसुववत् पदार्था इत्यर्थः, सूच्य इव—सीवनसाधन-  
यन्त्रविशेष इव, सूचिकासदृशविसानि इत्यर्थः, पङ्कान्तराणीव,—कर्दमान्त प्रदेशानिव,  
जलदान्तराणि—जलदानां—मेघानाम्, अन्तराणि—मध्यभागान्, (“अन्तरमव  
काशावधि मध्यात्मसदृशेषु” इति मेदिनी) भित्त्वा—विदीर्य, चन्द्रव्यसनात्—  
चन्द्रस्य—क्षपाकरस्य, व्यसन—विपद्, मेघावरणजनितमिति भावः, तस्मात्  
कारणात्, विसृक्ता,—परित्यक्ता, दिव,—आकाशस्य, अश्रुधारा,—नेत्रोदक-  
प्रवाहा इव, पतान्ति—स्रवन्ति । मेघावततया चन्द्रसादर्शनजनितशोकेन वृष्टिच्छलेन  
दिवः क्रन्दन्तीव इत्यर्थः । पृष्ठाहं सुव्यक्ता उपमा, परार्हं च उपमेयभूतानां वारि  
धाराणाम् उपमानभूताभिरश्रुधाराभिः साई तादात्म्याध्यासोनीत्कटैककोटिकमशयी  
दशादृष्टेऽलङ्कारः स चाव प्रस्तुताप्रस्तुतसाधारणस्त्रीत्वपुस्तमावेण दिवः चन्द्रस्य च  
नायिकानायकव्यवहारसमारोपात् समासोक्त्यलङ्कारेण पूवाहस्थितीपमाऽलङ्कारेण च  
सङ्कीर्णते, परस्परसापेक्षतया तेषां संस्थिते । उपेन्द्रेन्द्रवच्चरी सम्मेलनादुपजाति  
रूपम् ॥ ४४ ॥

एतन्मेघाद्यै पुनः भङ्गलक्षणे आह, धाराभिरिति ।—बलदेवस्य बलरामस्य,  
पट,—बन्ध ‘नीलाश्वरो रौहिरेय’ इत्यमरोक्ते नीलवसनमित्यर्थः, तद्वत् प्रकाशः,  
—आदिभाष आभा इत्यर्थः, मेघा,—जलधरा, आर्थ्यजनानां—साध-  
जनानां चित्तान्तीव—मनासीव, सुनिर्मला,—मालिन्यरहिता, अपडित्वा इत्यर्थः,  
सनादिवचनं निखिलदृष्टविनिर्मुक्ततदेति भावः, ताभिः, अर्जुनशरेण—पादवाग्निन,  
प्रतिकर्कशा—तुल्यकठिना ताभिः प्रति—प्रतिनिधिभूत, अदृष्ट इत्यर्थः, यः कर्क,

प्रिये । पश्य पश्य,--

एतै पिष्ट तमाल-वर्णकनिभैरालिप्तमम्भोधरै-

मसक्तैरुपवीजित सुरभिभिः शीतैः प्रदोषानिलैः ।

एषाऽम्भोट-समागम-प्रणयिनी स्वच्छन्दसभ्यागता

रक्ता कान्तमिवाम्बर प्रियतमा विद्युत् समालिङ्गति ॥४६॥

—काठिन्य, म अस्यासीति व्यत्यत्या अस्यर्थे शप्र-वेन सिद्धम्] अत एव चण्डाभि, —  
उद्याभि, धाराभि, —वृष्टिमस्यातै, शक्त्य—इन्द्रस्य, मौक्तिकनिधान—मौक्तिकानां  
—मुक्ताफलानां, निधान—निधिभूत, जलाधिपतिमा वासवेन मेघेप न्यामोक्तं  
मुक्तागणिविव इत्यर्थ, उद्गिरन्त, —उडमन्त, सवन्ति—चरन्ति । अत धाराऽऽस्य  
विधाना मुनिमलत्वादितुल्यधम्मयोगात्, तथा धाराऽऽज्जुनगराणाञ्च प्रचण्डत्वादि  
साधर्म्यसम्बन्धाच्च धारावलदेवपटानाञ्च शम्भत्वादिसाम्यात्, मयैवामेतेषा परस्पर  
विरुद्धधर्मोक्तिविनिर्मुक्तस्य साम्यस्य प्रतीतिं आयोजनविक्रमिन् मुनिमल्लेति “उप  
मानानां सामान्यवाचिभिः” इति कर्मधारय समासं श्रौपत्यवान्निन इवाद लोप  
उपमाऽलङ्कार, एकस्यैव धारावर्णस्योपमेयस्य वक्ष्यश्रौपमानेन साम्यावबोधनात्  
मालारूपोऽयं वेदितव्यः, चतुर्थे च पादे धाराणाम् उपमानभूतान मौक्तिकनिधानेन  
तादात्म्याध्यामात् उल्कटैरुल्कटिकमण्यममुदवाट्येनाऽलङ्कार, एतस्या परस्पर  
विरुद्धधर्मोक्तिविनिर्मुक्तस्य साम्यस्य प्रतीतिं आयोजनविक्रमिन् मुनिमल्लेति “उप  
मानानां सामान्यवाचिभिः” इति कर्मधारय समासं श्रौपत्यवान्निन इवाद लोप  
उपमाऽलङ्कार, एकस्यैव धारावर्णस्योपमेयस्य वक्ष्यश्रौपमानेन साम्यावबोधनात्  
मालारूपोऽयं वेदितव्यः, चतुर्थे च पादे धाराणाम् उपमानभूतान मौक्तिकनिधानेन  
तादात्म्याध्यामात् उल्कटैरुल्कटिकमण्यममुदवाट्येनाऽलङ्कार, एतस्या परस्पर

विरुद्धधर्मोक्तिविनिर्मुक्तस्य साम्यस्य प्रतीतिं आयोजनविक्रमिन् मुनिमल्लेति “उप  
मानानां सामान्यवाचिभिः” इति कर्मधारय समासं श्रौपत्यवान्निन इवाद लोप  
उपमाऽलङ्कार, एकस्यैव धारावर्णस्योपमेयस्य वक्ष्यश्रौपमानेन साम्यावबोधनात्  
मालारूपोऽयं वेदितव्यः, चतुर्थे च पादे धाराणाम् उपमानभूतान मौक्तिकनिधानेन  
तादात्म्याध्यामात् उल्कटैरुल्कटिकमण्यममुदवाट्येनाऽलङ्कार, एतस्या परस्पर

वस । [ शृङ्गारभाव नाटयन्ती चारुदत्तमालिङ्गति ] ।

चारु । [ स्पर्शं नाटयन् प्रत्यालिङ्ग ]—

भो मेघ । गम्भीरतर नद त्व, तव प्रसादात् स्मरपीडितं मे ।

सस्पर्श-रोमाञ्चित-जातराग कदम्बपुष्पत्वमुपैति गात्रम् ॥ ४७ ॥

पक्षे,—पशुरक्तसूरिकायङ्गरागलिङ्गाङ्ग, तथा ससक्तै,—सततप्रवहद्भिरित्यर्थ, सुरभिभि,—सुगन्धै, शीतै,—शीतलै, प्रदोषानिलै,—सन्ध्यावायुभि, पक्षे,—स्निग्ध सुगन्धयजनानिलै, उपवीजित—ईषत्कृततालहन्तसञ्चालनम्, अस्वरम्,—आकाश, समालिङ्गति—आश्लिष्यति, यथा काचिदनुरक्ता भर्तृविरहिता कामिनी जलदीदय दृष्टा मत्कण्ठ त्वरित कान्तसमीपमागत्य स्वीयगाढानुरागप्रदर्शनार्थं कान्तम् अगुर्वा टिभिरनलेपनादिभिरालिष्य स्वकीयमङ्ग पार्श्वे उपवेशनं कृत्वा सुगन्धिव्यजनानिलै उपवोज्य आलिङ्गति, तथा विद्युदपि जलदीदय दृष्टा कान्तरूपास्वरसकाशमागत्य करोतीत्यर्थ । [ अवाप्रस्तुतस्य विद्युत्कर्तृकास्वरालिङ्गनस्य वर्णनेन, एवमेव त्वमपि सम्भोगदानादिना सामनिश कृतायेति ध्वन्यते । किञ्च इह आलिङ्गनरूपस्य सामान्य-धर्मस्य उभयवावर्तोपे बाधकाभावात् अस्वरकान्तरूपीपमानोपमेयया लिङ्गदैवस्य नोपमादूषकम् इति बोध्यम् । अपि चात्र अस्वरशब्दगत नपसक लिङ्गं नार्थं भासते, येन नपुसकालिङ्गनरूपदोष उन्नेतुं शक्यते, “कलत्रमालिङ्गति रक्तनायक ” इत्यादि वत अवापि प्रतिपाद्यार्थं लिङ्गस्याप्रधानत्वं ज्ञातव्यम् । अन्यञ्चात्र नपुसकालिङ्गन प्रकृतस्य व्यज्ञायस्य चमत्कारातिशयशोचकम्, तथा हि सौदामनी पक्षाभावतया उपभोगाच्चमम् अस्वर कान्तभूतमालिङ्गापि तथा सुखं नाप्नोति, त्वन्तु सामालिङ्गं यथा रतिगुणमनुभवे इति च व्यजते ] । एतेन च अभिप्रायो नाम नाट्यलक्षणं दर्शितम्, यथा—‘अभिप्रायस्तु साहस्यदभृताद्यस्य कल्पना’ इति । अत्र समेनालिङ्गनादिरूप-कार्येण प्रस्तुतायां विद्युति अप्रस्तुतकान्ताव्यवहारसमानीपात् सनासीक्तिरलङ्कार, अपि चारुरे विरुद्धधर्मोक्तिगूढस्य कान्तसाम्यस्याभिधेयैव बोध्यत्वादुपमाऽलङ्कार, इत्यनयो गुणप्रधानभावेन एकाग्रयस्थितत्वात् सङ्गर । शार्दूलविक्रीडित वृत्तम् ॥४६॥

विपलम्भं नेषादीनामुद्दीपनतया प्रतिकूलता, मति सम्भोगे खल्वनकुलतैवेत्याह, भो मेघ । इति ।—हे मेघ ।—जन्धर । त्वं गम्भीरतर—सुगम्भीर, नद—गर्ज, तस्मात् न मे किमपि भय, प्रस्तुतं तव गर्जनमिदानीं मम प्रेयस्यायीर्दीपकत्वात् प्रीतिजनकं मेव इति तात्पर्यम् यतः तव प्रसादात्—अनुगृह्यत, (“प्रसादोऽनुगृह्ये काञ्चगुण-साम्यप्रसक्तिः” इति नेदिनी ) मे—मम, स्मरपीडित—कामानलमलम्, गात्रम्—

विद्। दासीए पुत्त दुद्दिण । अणज्जो टाणि मि तुम, ज  
अत्तभोदि विज्जुआए भाआवेसि । \* (ड)

चारु । वयस्य । न अर्हमि उपालब्धम्,—

वर्षशतमस्तु दुर्दिनमविरतधार शतकृदा स्फुरतु ।

अस्मद्विधदुर्लभया यदहं प्रियया परिष्वक्त ॥ ४८ ॥

\* दास्या पुत्र दुर्दिन । अनाय्य इदानीमस्मि त्व, यत् अवभवर्तो विद्युता  
भाययसि ।

अद्भ, सम्यगेन—सङ्गेन, प्रियतमाया इति शेष रोमाञ्चित—सञ्जातपलकम्, अत  
एव जातराग—जात,—उत्पन्न, यद् इत्यर्थ, राग,—अनराग, सम्भोगे इति  
भाव, यस्य तथाभूत मत्, कदम्बपुष्पलम्—उत्पत्तिशरीरपकुसुमम्, उपैति—  
प्राप्नोति, कदम्बपुष्पमिव उद्भूतकठोरगोमाङ्ग भवति इत्यर्थ, गातस्य कदम्ब  
कुसुमोपमत्वं सुसङ्गच्छते, गवीनकामुकानामभिनवकामिनीसमागमे पलकाद्भमस्य  
दशनात्, नौपकोरकविक्रमन वर्षंतावनुगुणमेव इति भाव । अत्र अन्यधम्म कथं  
मन्य उपैतु ? इति गातस्य कदम्बपुष्पगतपुष्पत्वस्य च उपयजनमसम्भवत् मदा कदम्ब-  
पुष्पधर्ममदृश नौपकुसुमसधम्मगातस्य कठोरपलकाद्भमसमवगमयत्, गातस्य कदम्ब  
पुष्पस्य च विस्वप्रतिविम्बभाव औचर्यति, इत्यसम्भवदम्बमन्वयपरिदशनादलंकार  
एव । इन्द्रोपेन्द्रवज्रयो सम्मेलनादुपजातिर्हसम् ॥ ४७ ॥

( ड ) अनाय्य,—नीच इत्यर्थ । अवभवर्तो—साया, ( “पुणे तनभवानन  
भवान्” इति कोष ) वसन्तमेनाम इति यावत् । भाययसि—भयप्रदगन करणं,  
[ केचित् “भाआवेसि” इत्यस्य “भापयाम” इति मूलतयात्, तदमत्, कथं न हि  
भयोपादकत्वे “भापयते” “भापयते” इति स्वयमेव भवेत्ति । वस्तुतस्तु “भापयते”  
इत्यत्र करणे तृतीया । ततश्च “भियो हेतुभये पुक् ( ६.३.१२ पा० ) ‘भापयते’  
भये” ( १.३.६८ पा० ) इति स्वयमेव अवाप्राप्ति इति ] ।

अपि च, वयस्य ।—

धन्यानि तेषां खलु जीवितानि,  
ये कामिनीनां गृहमागतानाम् ।  
आर्द्राणि मेघोदकशीतलानि  
गात्राणि गात्रेषु परिष्वजन्ति ॥ ४६ ॥

प्रिये वसन्तसेने ।—

स्तम्भेषु प्रचलित-वेदिसञ्चयान्त  
शीर्णत्वात् कथमपि धार्यते वितानम् ।

इति भावः, प्रिया—प्रणयिन्या वसन्तसेनया, परिश्रुता, —स्वयङ्गाहमालिङ्गितः,  
इदानीमतिप्रसन्नदुःखिनः शतक्रदान्मुरणश्च प्रियाभुजनिगडितकण्ठाश्लेषस्य मे सम्मदाय  
एव मुनजनि इति भावः । आख्याहन्तिदम् ॥ ४८ ॥

स्वयमागतया कान्ताया अङ्गसङ्गत स्वोपभुगतैकमूलमित्याह, धन्यानीति ।—  
ये जना इत्ययं गृहमागताना—स्वभवनीपगताना, कान्तिनीना—कान्ताना, संधी-  
दकशोतनानि—वधानलशिशिराणि, अत एव आद्राणि,—सिक्तानि, वषासलिल-  
सिक्तनया मुग्धोत्पलानां च, गात्राणि—प्रङ्गानि, गात्रेषु—स्वशरीरेषु, [ अधिकरण  
शब्दात् स्व इहाद्येषुमुखं व्यज्यते ] परिष्वजन्ति—सम्यापयन्ति, गात्राणि स्वगात्रेषु  
न द्याप्य दृष्टान्निङ्गन्तीत्ययं, [ “परिष्वजन्ते” इति साधु, स्वनृजघातोरात्मनेपदित्वात्,  
केचित्तु “परिष्वजन्ति पाञ्चाली मध्यम पाण्डनन्दनम्” इत्युदाहृतवती “आत्मनेपद,  
सम्यानी परस्मै क्वचिद् भवेत्” इति कारिका सूचयती जौनरस्य सतेन अद्यापि परस्मै  
पदम् इति प्रतिषेधयन्ति । ततश्च ‘परिनिविभ्य स्वनृजान्’ ( पा३.७० पा० ) इति  
पठनम्, “दन्श्च मन्श्च स्वनृजा—” ( ६।१।२५ पा० ) इति उपधात्तोपध ] तेषां—स्वय  
मागतकान्तादिष्टानां जनानां जीवितानि—जीवनानि, धन्यानि—साधकानि, खलु  
—निश्चये । प्रियतमाया अप्रादितालिङ्गनमुखमुग्धोत्पलैः केषाञ्चिदेव सुभगानां खलु  
घटने इति भावः । अथ गृहमागतया वरवरिण्या स्वपद्माह गृहीतकण्ठा वदन्नेवाव  
धन्या इति प्रकृति विनिष्टे वक्त्रे अप्रकृतानां मानान्तानां जनानां सुभगताभि  
धानात् प्रकृतवक्त्रमात्रेणैव अपि च, प्रीतिपुष्पमादरे, स्वजने इत्येवात्मनेपद-  
निमित्तत्वात् तद्वद्गृहमागतया वरवरिण्या वदन्नेवाव धन्या इति प्रकृति विनिष्टे वक्त्रे  
विनिष्टे । इत्युक्त्वा वक्त्रम् । ६६ ।

[illegible]

एषा च स्फुटित-सुधाद्रवानुलेपात्

सक्लिन्ना सलिलभरेण चित्रभित्तिः ॥ ५० ॥

[ ऊर्ध्ववलोक्य ] अये । इन्द्रधनु ॥ प्रिये । पश्य पश्य,—

विद्युज्जिह्वेनेद महेन्द्रचापोच्छ्रितायत-भुजेन ।

जलधरविहङ्ग-हनुना विजृम्भितमिवान्तरीक्षेण ॥ ५१ ॥

निनीपया आह, सन्नेष्विति ।—प्रचलित,—इतस्ततः सञ्चलित, वायुवर्गेनात भाव, वेद्या,—उपवनादिषु विश्रामायम् अन्तरान्तरा स्थापिताया परिष्कृताया वदभुम, सद्ये—समूहे, अल,—निपजितप्रान्तभाग यस्य तादृश, वितानम्—उत्तौच, चन्द्रातप इत्यथ, (“अस्यो वितानमुत्तौच” इत्यमरः) शीघ्रतात—शीघ्रतात, पतना-न्मुखत्वादिति भावः, सन्नेषु—स्यूणासु, कथमपि—अतिक्रमेणेत्यथ, धायते—स्वीयते, सन्ने कथञ्चिद्व वितान विध्रियते इत्यथ, एषा—पूरती दृश्यमाना, नित्राभित्ति,—विचित्ररूपेण निर्मिता, नानावर्णभूषिता वा, भित्ति,—वृक्षाच्च, स्फुटितस्य—कचित् कचित् गलितस्य, सुधाद्रवस्य—द्रवीभूतविलिप्तचूर्णस्य, अनुलेपात्—अल पाहेती, [ “सुधाद्रवानुलेप” इति पाठः साधुतरः ] सलिलभरेण—जलागन, सक्लिन्ना—मयक् क्लेदेनेवार्द्राकृता इत्यथ, विगलितसुधाऽनुलेपे हि कदा मलयजलधारा क्लेदक्लिन्नवत् सलिलस्यमुत्पादयतीति भावः । [ एतन् प्रपन्नवायुवपणाभ्याम् अस्य प्रदेशस्य अवयवानां प्राप्यत्वं सन्नाद्येरितमिदानीम् अप्यन्तरं प्राटयमिति वयान् ] । हतमव प्रदृष्टिणी,—“व्याशाभिमानजग्मा प्रदृष्टिणां” इति लक्षणात् ॥ ५० ॥

तदेहि, अभ्यन्तरमेव प्रविशावः । [ इत्युत्थाय परिक्रामति ] ।

प्रिये । पश्य—

तालीषु तार, विटपेषु मन्द्रं

शिलासु रुचं सलिलेषु चण्डम् ।

विजृम्भितमिव — साङ्गभङ्ग मुख्यादन कृतमिवेत्यर्थः, इदम्—एतत्, पश्य  
पश्येच्चक्ष्व । निशाचरो यथा हस्तद्वयमुखस्य मुख्यादन कृत्वा जिह्वां नि सार्धं  
लगद्भुत्सेतुं धावति, अन्तरीक्षमपि तथा दृश्यते इति निष्कर्षः । सजलमेवे  
प्रतिकल्पिता पवनविधूता सूर्यकिरणा एव विद्यति धनु सदृशा प्रतीयन्ते, तथा  
च मति निशाया तदभावात् कथन् इन्द्रधनु सन्दर्शनं सम्भवति ? इति तु नाशङ्क-  
नीयम्, विद्युता भास्वरविधिवरूपदर्शनात् तस्या चारुदत्तस्य सहेन्द्रचापविषयिकाया,  
सन्नेरुदयात् तद्योपवर्णनमिति विभाच्यम् । अकालदुर्दिनपरत्वेन प्रागुपवर्णितमिदं  
निराशङ्कते चेत्, तदा प्राहड्यतिरिक्ते काले नौपकुसुमविकाशासम्भवात् निरङ्कुशा  
हि कथय, किञ्च,—प्राहड्यवणनाशमेवाङ्गस्यास्य अवतारणा, तथा च नवजलधर  
प्लुटाच्छत्रे गगने, इयं दिवा वा निशा वा इति तत्त्वतः विनिर्णेतुमशक्यतया प्राक्-  
कृतं तारकादीनानुपवर्णनम्, इदानीन्तनञ्च इन्द्रधनुषोऽपि वर्णनं न तादृशं दोषमाव-  
हनीयेव विभाच्यं सुधीभिः प्रकृतिस्यैर्भवितव्यमिति सङ्क्षेपः । अत्र, साम्यात् अतथा-  
भने विद्युद्रूपे वस्तुनि कविप्रौढीकृत्या सहेन्द्रचापपुङ्गेरुदयात् भान्तिमदलङ्कारः, अपि  
चात्र विद्युद्विधिवविलासस्य प्रकृतस्याप्रकृतस्वरूपेण विजृम्भितत्वादिना सम्भावना-  
दृग्मेदाऽलङ्कार एवञ्चोपमेयभने विद्युतादौ उपमानभूतानां केवलानां जिह्वादीनां  
सादात्म्यारोपात् साम्नारूप निरङ्ग रूपकमलङ्कारः, एतेषाञ्चान्योऽन्यसापेक्षतया  
सम्पत्तिं सरर, एवञ्चात् कविनिबद्धवक्तृचारुदत्तप्रौढीकृतिसिद्धेन रूपकालङ्कारेण  
लगद्भुन्तिमेव समुखं व्याददत् करञ्च प्रसारयत् लेलिहन्निहस्य निशाचरस्याप्रकृतस्य  
समं विजृम्भितत्वादिकार्येण व्यवहारसमारोपप्रतीतिं समासोक्त्यालङ्कारं व्यज्यते  
इत्यलङ्कारेणालङ्कारध्वनिः । आद्या हत्तम् । ५१ ॥



मङ्गीतवीणा इव ताड्यमानाः

तालानुसारेण पतन्ति धारा ॥ ५२ ॥

[ इति निष्क्रान्ता मर्गे ] ।

इति अकालदुर्दिनो द्वौ नाम पञ्चमोऽङ्कः ॥ ५ ॥

—सीता, यथा तथा, पतन्ति । अथ उपमाऽलङ्कारः स्फुटः एव । इन्द्रोपेन्द्रपत्नी सम्मेलमादुपजातिवृत्तम् ॥ ५२ ॥

( ६ ) अकालदुर्दिनमित्यत्र अकालशब्दस्य कालमदृशाशक्तत्वं अप्रशस्तकालाशक्तत्वे वा “अत्राक्षयम्” “अकेशी वेद्या” इत्यादिवत् पर्युदासश्चेति नञ् तत्पुरुषसमासोक्तत्वे, प्रकृतवपकाले अकालशब्दप्रयोगकृतानामाशङ्कितदोषाणां भवावसरः, तथा हि प्राञ्च, —“तस्मादृश्यमभावश्च तदन्त्यत्वं तदल्पता । अप्राञ्चस्य विरोधश्च नञ्शब्दात् प्रकीर्त्तिता ॥” इति । अथ कालशब्देन प्राञ्चकाल एव लभ्यते, यथादिवर्णितानुसारात्, एवञ्च प्राञ्चकालोदयाव्यवहितप्राञ्चकाले, गीतायाः प्राञ्च एवावसिताया मर्त्या, यथा, —अप्रशस्ते इदानीं समधिकतया स्वप्रसारमनभिगतं कालवर्षर्त्तौ एव दुर्दिनं मेवाच्छन्नमङ्गं प्राप्तेनावसितमिति शेषः, इति मर्यादामात्रं समागतप्राञ्चवृत्तिं बोद्धव्यम्, तथा च मतिं माहेन्द्रचापानामुदयस्य प्राञ्चस्य मर्यादाविहितं तथा दृग्भावं, न तदपवर्णनमिदानीं विरुध्यते इति बोध्यम् । यदि च गणधरस्य तारकादीनाञ्च प्रदोषाव्यवहितप्राञ्चकाले उदयः असम्भवतीति दातुं विभावना, तदा भाविनः गणधरादेरुदयः सर्वैरावशिष्यते इति कृत्वा वरुणः भावि एव तदा एतत्कालिकत्वेनोपवर्णितमित्यवश्यम्, यदि हि एतदालम्बितं न गीतामाशङ्कितं, तदा ते कविनिवृत्त्यतिप्रौढाकिमिदमेतत् भाविकेतमनेन यथा गीतायाः दृक्भावात् सित्यवदन्तु, तथा च निशाकरतारकादीनामपवर्णनमपि न किञ्चित् गीतायाः भाविं बोध्यम्, अपि च वर्षादेरारम्भे एव न प्रकटव्यादानं विकस्यमानं प्रस्तापितम् ।

## षष्ठोऽङ्कः ।

[ ततः प्रविशति चेटो ] ।

चेटो । कथं । अज्जं वि अज्जंआ ए विवुज्झदि ? भोदु,  
पविसिअ पडिबोधइस्सं । ५ (क) [ इति नाट्येन परिक्रामति ] ।

[ ततः प्रविशति आच्छादितशरीरा प्रसूता वसन्तसेना ] ।

चेटो । [ निरुध्य ] उत्थेदु उत्थेदु अज्जंआ, पभादं संबुत्तं । १

वस । [ प्रतिबुध्य ] कथं । रत्तिं ज्जेव गदा ? पभादं च संबुत्तं ? (ख) ॥

चेटो । अम्हाण एसो पभादो, अज्जंआ ए उण रत्तिं ज्जेव । (ग) ॥

वस । हज्जे । कहि उण तुम्हाण जूदिअरो ? ॥

चेटो । अज्ज ए । वड्ढमाणअ समादिसिअ पुप्फकरण्डअं (घ)

जिस्सुज्जाण गदो अज्जं चारुदत्तो । ॥

\* कथम् ॥ अद्यापि आर्या न विबुध्यत ? भवतु, प्रविश्य प्रतिबोधयिष्यामि ।

† उत्तिष्ठतु उत्तिष्ठतु आर्या, प्रभातं सहस्रम् ।

‡ कथम् । रात्रिरेव गता ॥ प्रभातञ्च सहस्रम् ?

§ अस्माकमेतत् प्रभातम्, आर्याया पुन रात्रिरेव ।

॥ हज्जे । कुतः पुनर्युष्माकं द्यूतकर ?

॥० अर्यो । वड्ढमायकं समादिश्य पुष्पकरण्डकं जौर्णोद्यानं गत आर्यं चारुदत्त ।

( क ) विबुध्यत—जागृति । प्रतिबोधयिष्यामि—जागरयिष्यामि, निद्राभङ्गं करिष्यामीत्यर्थः ।

( ख ) कथमिति ।—निशाजागरणेन निद्राऽऽवेगतुरतया, अभ्यन्तरघृतं शालके सृष्ट्याग्नीकप्रवेशाभावेन अश्वकाराच्छन्नतया वा सहस्रं जागरणात् किमपि कालं वर्तिनी रात्रिरेव प्रभातप्राया जाता इत्यभिप्रायमूलिका वसन्तसेनोक्तिरवगन्तव्या ।

( ग ) अस्माकमिति ।—आर्याया—भवत्या, समस्यैव निशा जागरणेनैव यापिता, इदानीमपि समधिकमवस्रतया सुखकरी रात्रिरेव प्राच्यते, मादृशान् न तथेति चेद्या आशयो दृश्यः ।

वस । किं समादिमिअ ? ६

चेटी । जोएहि रात्तोए पवहण, वसन्तसेना गच्छदु त्ति । ७

वस । हज्जे । कहिं मए गन्तव्व ? ८

चेटी । अज्जए । जहिं चारुदत्तो । §

वस । [ चेटीं परिष्वज्य ] हज्जे । सुट्टु ग गिज्झावटो ( ड )  
रात्तोए, ता अज्ज पञ्चक्ख पेक्खिस्सं । हज्जे । कि पविट्ठा अह  
इह अद्भन्तर-चटुस्सालअ ? ११

चेटी । ग केवल अद्भन्तर-चटुस्सालअ, मव्वजणस्स वि  
हिअअ पविट्ठा । १२

वस । अवि सन्तप्पीयदि चारुदत्तस्स परिअणो ? १३ ( न )

चेटी । सन्तप्पिस्मदि । १४

वस । कटा ? §§

चेटी । जटा अज्जआ गमिस्मदि । १५

वस । तदा मए पढम सन्तप्पिदव्व । ( छ ) [ माननाम ]

\* किं समादिमि ?

+ “रात्रौ रात्रौ प्रवहण, वसन्तसेना गच्छतु” इति ।

‡ हज्जे । कुत्र मया गन्तव्यम् ? § आर्यः । यत्र चारुदत्तः ।

¶ हज्जे । सुट्टु न निज्याती रात्रौ, तदग्नं प्रत्यन प्रीतये । ६३ । १२ प्रीतये

अहमिहाभ्यन्तरचतु शालकम् ।

७ न केवलम् अद्भन्तरचतु शालक, मन्त्रजनना प इदम् प्रापया ।

११ अपि सन्तप्यते चारुदत्तस्य परिजनः ?

हस्ते । गेह्ण एद रअणावलि , मम वहिणिआए अज्जा-धूदाए  
गदुअ समप्पेहि, भणिदब्बं च,—“अहं सिरिचारुदत्तस्स गुण-  
णिज्जिदा दासी, तदा तुम्हाण पि : ता एसा तुहज्जेव कण्ठा-  
हरण होदु रअणावली” । \*

चेटी । अज्जए । कुप्पिस्सदि चारुदत्तो अज्जाए दाव । †

वम । गच्छ, ए कुप्पिस्सदि । ‡

चेटी । [ गृहीत्वा ] जं आणवेदि । §

[ इति निष्क्रम्य पुन प्रविशति ] ।

चेटी । अज्जए । भणादि अज्जा धूदा,—“अज्जउत्तेण तुम्हाणं  
पमादीकिदा, ए जुत्त मम एद गेह्णिदु । अज्जउत्तो ज्जेव मम  
आहरणविसेसो, (ज) त्ति जाणादु भोदी” । ¶

[ तत प्रविशति दारक (झ) गृहीत्वा रदनिका ] ।

रदनिका । एहि वच्छ । सअडिआए (ज) कीलम्ह । \*\*

\* तदा मया प्रथमं सूक्तमव्यक्तम् । हस्ते । गृहाण इमा रत्नावलीं, मम भगिन्यै  
यथाधूतायै गत्वा समर्पय, भणितव्यञ्च,—“अहं श्रीचारुदत्तस्य गुणनिर्जिता दासी,  
तदा युष्माकमपि तद्देष्टा तवैव कण्ठाभरणं भवतु रत्नावली” ।

† आर्यैः । कीपिष्यति चारुदत्त आर्यायै तावत् ।

‡ गच्छ न कीपिष्यति ।

§ यदाज्ञापयति ।

¶ आर्यैः । भणति आर्या धूता,—“आर्यपुत्रेण युष्माकं प्रमादीकृता, न युक्तं  
ममैतन् ग्रहीतुम् । आर्यपुत्र एव ममाभरणविशेषः, इति जानातु भवती” ।

\*\* एहि वक्षः । शकटिकया क्रीडाम् ।

( ज ) प्रमादीकृता—अनुग्रहीकृता, प्रीतिप्रदर्शनार्थं युष्माकं दत्ता इत्यर्थः । न  
यत्न—न चिन्तनम् । एतन् ग्रहीतुं—रत्नावलीस्वीकरणमित्यर्थः । आभरणविशेषः,—  
देवप्रभङ्ग, “नारीणां भूषणं पति” इत्युक्ते ।

( झ ) दारक—शालक ( “दारकी दालकेऽपि स्याद् भेदकेऽप्यभिधेयवत्”  
इति सादृश्ये ) ।

( ज ) शकटिका—चट्टशकटिन । प्रकरणस्यास्य सञ्चकटिकमिति नामधेय  
समादृतिकेनैव हविना सञ्चकटिकाप्रमाणीकरणञ्च, अभितमर्पे प्रकाशयितु-

दार । [सकृत्कृणु] रदणिए । किं मम एदाए मड्डिआ-  
सअडिआए । (ट) तं ज्जेव सोवस्समअडिअ देहि । ॥

रद । [ मनिर्वंद निश्चय ] जाद । कुदो अम्हाण सुवग्गववज्जारो ?  
तादस्स पुणो वि रिद्धोए (ठ) सुवग्गसअडिआए कोलिम्ममि ।  
[ म्मगतम् ] ता जाव विणोदेमि (ड) गं । [ प्रकाशम् ] अज्जप्पा  
बसन्तसेणाए समीव उवसण्णिसं । [ उपसृत्य ] अज्जए । पण  
मामि । †

वस । रटणिण । साअटं दे १ कस्स उण अअं दाअओ १  
अणलद्धिट-सरोरो वि चन्दमुहो आणन्देदि मम हिअअ । ॥

४६। एमो क्व अज्जचारुदत्तस्स पुत्तो रोहसेणो नाम । ५

२. उदन्तिके । किं समैतया मृत्तिकाशकटिकया, तामैव मौनगणशकटिता दाद्वि ।

† लात । कृतीस्माकं सुवर्णयवङ्गर ? तातस्य पुनरपि नन्वा । मृगशकाट  
 कथा क्रीडिष्यमि । तत प्रावद्विनीदयाभ्येनम् । आयाथा वसन्तमनाया । समीपमुप  
 सर्पिष्यामि । आर्ये । प्रणमामि ।

‡ रदतिके । आगत ते ? कथं पुनश्च दारक ? अनलङ्कृतगरीरोऽपि भन्तु  
मुखं ज्ञान्दयति मम हृदयम् ।

§ पय खलु आग्रजाकटस्य पुरी गौहसेनो नाम ।

[illegible]

वस । [ बाह्य प्रसाध्य ] एहि मे पुत्तम् । आलिङ्ग । [ इति अङ्गे  
उपवेश्य ] अणुकिट्ट अणेण पिदुणो रुव । ३

रद । ए केवल रुव, सील पि तक्केमि । एदिणा अज्जचारु-  
दत्तो अत्ताणम् विणोदेदि । ४

वस । अध कि निमित्त एसो रोअदि ? ५

रद । एदिणा पडिवेसिअ गहवइ दारअ-केरिआए ( ६ )  
सुवस्सअडिआए कोलिद, तेण अ सा णीदा, तदो उण त  
मग्गन्तस्स सए इअ मट्ठिआ-सअडिआ कदुअ दिस्सा । तदो  
भण्णादि. “रदणिए । कि सस एटाए मट्ठिआ-सअडिआए, त  
ज्जेव सोदस्सअडिअ देहि” त्ति । ६

वस । हड्डी । हड्डी । अम्ह पि णाम परसम्पत्तीए सन्त-  
प्पटि ? भअव कअन्त । पोक्खरवत्त पडिद-जलविन्दुसरिसेहिं

\* एहि मे पुदक । आलिङ्ग । अनुकृतम् अनेन पितूरुपम् ।

+ न केवल रूप शीलनपि तदयानि । एतेन आर्यचारुदत्त आत्मान  
विनीदयति ।

३ अध कि निमित्तम् एष रोदिति ?

६ एतेन प्रतिवेशिक गृहपति-दारकस्य सुवर्णशकटिकया क्रौडितम्, तेन च सा  
नीता तत पुनस्ता दास्यतीत्यत्र इय सत्तिकाशकटिका कृत्वा दत्ता । ततो भणति,  
“रदनिव । कि नम एतया सत्तिकाशकटिकया, तामेव सुवर्णशकटिका देहि”  
इति ।

\* हा धिक् । हा धिक् । अयमपि नाम परसम्पत्त्या सन्तप्यते, भगवन्

( ६ ) प्रतिवेशिइति ।—प्रतिवेशिक, —गृहामुद्रनिवासौ इत्यर्थ, [ प्रति—  
प्रमानम् गृहसमं पे इत्यर्थ दिशति—तिष्ठतीति व्युत्पत्त्या प्रतिपूर्वकात् विशते-  
वस्त्रे रिति प्रतिवेशीति सिद्धं तत स्वार्थे कनि प्रतिवेशिक इति रूप निष्पन्नम् ]  
न एव गृहपति —गृहस्य तस्य दारक, —दारक तस्य, प्रतिवाप्तिगृहस्य  
इत्येवम् ।

कीलसि तुमं पुरिस-भाअधेएहि । (ण) [ इति मावा ] जाद । मा  
रोद, सोवण-सअडिआए कील्लिस्समि । ॥

दार । रदणिण । का एसा १ \*

वस । पिटुणो दे गुणणिज्झिटा दासी । †

रद । जाद । अज्जआ दे जणणो भोटि । ‡

दार । रदणिण । अलिअ तुम भणासि, जइ अम्हाण  
अज्जआ जणणी, ता कीस अलङ्घिटा १ §

वस । जाद । मुडेण मुडेण अदिकरुणं मन्तेमि । [ नाळीन  
आभरणानि अवताप्य रुदती ] एसा दाणि दे जणणी मवुत्ता । ता  
गेल्ल एद अलङ्कारअ, सोवणसअडिअ घडावेहि । ॥

दार । अवेहि, (त) ण गेल्लिस्स, रोदमि तुम । १\*

कृतान् । पृथक्पथ पतित जलविलुप्त मटये क्रीडमि त पुरुषभागभेगे । आस । मा  
रुदिहि, सोवणंशकटिकया क्रीडिमि ।

\* रदनिके । का एसा ?

† पितृभ्ये गुणनिर्जिता दासी ।

‡ जात । आत्मा ते जननी भवति ।

§ रदनिके । अलाज त भणमि, प्रत्ययाकनाया जननी, तत क्रियामत ता १

\* जात । सुखेन मुक्तिं निकरणं लभामि । एसा इत्यादी ते जननी माता ।

तत गृहाणैतसददार, स रदंशकटिका रदय (कारय) ।

\* अवेहि न रुदामि रोदिमि तम ।

वत् । [ चतुर्दि प्रसृत्य ] जाट । ए रोदिस्सं । गच्छ, कील ।  
[ पलङ्गारै रञ्जकटिका पूरयित्वा ] जाट । कारेहि सोवस्ससअडिअ । \*  
[ इति दारकमादाय निष्क्रान्ता रदनिका ] ।

चेट । [ प्रविश्य प्रवहणाधिरुद्ध ] लदणिए । लदणिए । गिवे-  
देहि अज्जआए वसन्तसेणाए. “ओहालिअ पक्खदुआलए शज्ज  
पवहण (घ) चिट्ठांढ” । †

रद । [ प्रविश्य ] अज्जए । एसी वड्डमाणओ विसावेदि, “पक्ख-  
दुआरए मउज पवहण” त्ति । ‡

वत् । हज्जे । चिट्ठदु सुहुत्तअं, जाव अहं अत्ताणअ पसा-  
धेमि । §

रद । [ निष्क्रान्त्य ] वड्डमाणअ ! चिट्ठ सुहुत्तअ, जाव अज्जआ  
अत्ताणअ पसाधेदि । ¶

चेट । ह्री. ह्री. भोः । मए वि जाणत्थल्लके विशुमल्लिते,  
ता जाव गेह्मिअ आअच्छामि । एटे गण्णालज्जु-कडुआ (ट)

\* जात । न राटिप्पामि, गच्छ, कील । जात । कारय नौवर्णशकटिकान् ।

+ रदनिके । रदनिके । निवेद्य आख्यायै वसन्तसेनायै, “अपवारित पचहारके  
मञ्ज प्रवहण तिष्ठति” ।

‡ आर्ये । एष वड्डमानको विज्ञापयति,—“पचहारि मञ्ज प्रवहणम्” इति ।

§ रज्जे । तिष्ठतु मुहुत्तकं यावत् वड्डमानान् प्रमाधयामि ।

¶ वड्डमानक । तिष्ठ मुहुत्तकं यावदाद्यां आकान् प्रमाधयति ।

॥ ह्री, ह्री भो । मयापि दानान्तरं विकृत तत् यावत् गृहीता बाण

(ट) अपवारितम्—आच्छादित, बन्ध्यागृहीतमित्यर्थः । पचहारके—पच—

पार्श्वे । हारत एव हारं तन्निन् अन् पुरज्जनननीचिते हारि इत्यर्थः, (“खिड्कि”

इ. वड्डनं वा । मञ्ज—सर्ज्यं इति, भवदण्डादौ विगम्य स्थापितमित्यर्थः । प्रवहण  
—पवनम् ।



बद्धा । भोटु, पवहणेण उज्जिव गटागदिं कलिण्ण । \* [ इति निष्क्रान्त चेट ] ।

वम । हज्जे । उवणेहि मे पमाहण, (ध) प्रत्ताणप्र पमाध-  
इम्म । \* [ इति प्रमाधपत्नी स्थिता ] ।

[ प्रविश्य प्रवहणाधिकृतं व्यावरकयेट ( न ) ] । आगतस्मि लाश-  
शालअग्रहाणेण—“धावलआ । पवहण गहिअ पण्ण-  
कलण्डअ जिम्भुज्जाण तुलिद आअच्छेहि”ति । भोटु, तस्मि उज्जिव  
गच्छामि । बद्ध बद्धा । बद्ध । [ परिक्रम्यावलीता च ]  
कध गाम शअलेहि लुडे मग्गे । किं टाणि एत्थ कलदण्ण ?  
[ मायापम ] अले ले । आशलध आशलध । [ आकण्य ] कि  
भणाध ?—“एग्गे कण्ण केलकं पवहणे”ति ? एग्गे लाशशालअ-

प्पामि । एत नामिक्कारुक्कट्टका वलीवदा । भवतु, प्राकृतं गतायाव कार-  
प्पामि ।

१ हज्जे । उपनय मे प्रमादनम्, आत्मानं प्रमादयिष्यामि ।

२ आगतस्मि शालग्रामकभस्त्रयानतः,—‘धावलकः । प्रवहणं गच्छेत् पण-  
करणकं लाशशालान्तरितमागच्छ’ इति । भोटु, तस्मि गच्छामि । बद्ध बद्धो  
बद्ध । बद्धतम । कथं नाम शकटे कथं माग्गे । शालग्रामकभस्त्रयानतः  
अवति । उपमृजत उपमृजत । किं भण्य ?—“एतत्त कं प्रवहणे” इति । एतत्त

शरणाग-केलके पवहणेत्ति ; ता शिग्घ ओशलध । [ अवलीक्य ]  
 कव । एसे अबले शहिय बिअ म पेक्खिअ शहश उज्ज  
 जूदपलाइटे बिअ जूदिअले, आहालिअ अत्ताणअ अस्सदो  
 अबक्कन्ते ? ता को उण एसे ? अधवा कि मम एदिणा ? तुलिटं  
 गमिस्स । अले ले । गामेलुआ । ओशलध ओशलध । कि  
 भणाय ?—“मुहुत्तअं चिट्ठ, चक्कपलिवट्ठि (प) देहि त्ति” ? अले  
 ले । लाअशानअशरणाग-केलके हग्गे शूले, चक्कपलिवट्ठि टट्ठि  
 अधवा एसे एआई तवशी, ता एव्व कलेमि । एट पव-  
 हण अज्जचालुदत्तस्स लुक्खवाडिआए पक्खदुआलए थावेमि ।  
 [ इति प्रवहण सस्याप्य ] एसेहि आअदे । ॐ

[ इति निष्क्रान्त ] ।

घटो । अज्जए । णेमिसदो विअ सुणीअदि, ता आअदो  
 पवहणो । §

राजशालकमन्यान्स्य प्रवहणमिति, तत् शीघ्रमपसरत । कथमपीऽपर सभिक-  
 स्मिन् ना प्रेत्य सहस्रैश्च द्यूतपलायित इव द्यूतकर अपवाय्यान्मानसन्वताऽपक्रान्त ?  
 ततः क पुनरिष ? अधवा कि ममैतन् ? त्वरितं गमिष्यामि । अरे, रे । शय्या ।  
 अपसरत अपसरत । कि भणय ?—“मुहुत्तकं तिष्ठ, चक्रपरिवृत्तं देहीति ?” अरे ।  
 रे । राजशालकमन्यान्स्य अहं शूर, चक्रपरिवृत्तिं दास्यामि ? अधवा, एष  
 एकाकी, तपस्वी, तदव करानि । एतत् प्रवहणम् आय्यचारुदत्तस्य वृक्षवाटिकाया  
 पक्षदारकं स्थापयामि । एषोऽस्मि आगतः ।

§ पाठ्ये । नेत्तिअ इव द्यूत, तदागतं प्रवहणम् ।

( प ) लक्षणेप इति ।—द्यूतकारकं दृष्ट्वा यथा पराजितद्यूतकरा हारितायं  
 दा (संख्यातं पलायते) तथा अयं क पलायनं इत्युक्त्वाऽव गोपालदारकस्यायकस्य  
 कारागृहात् पलायनं सूचेत्, चक्रपरावृत्तनावसरं प्राप्तेवानौ चाक्षदत्तप्रवहणमानी-  
 स्यति इति सूचितम् । अपवाय—इत्यादिनाऽऽह्वयः । एतेनायकस्य पलायनरूप  
 रित्युक्तेऽहम् । चक्रपरिवृत्ति—चक्रस्य परावृत्तनं, घूर्णयित्वा स्वस्थताऽऽपादनम्

वस । हञ्जे । गच्छ, तुवरदि मे हिअअ. ता प्रादेमेहि  
पक्खदुआरअ । २

चेटी । एदु एदु अज्जआ । ५

वस । [ परिक्रम्य ] हञ्जे । बीमस तुम । ॥

चेटी । ज अज्जआ आणवेदि । § [ इति निष्क्रान्ता ] ।

वस । [ टाक्षणालिप्त्यन्त सूचयित्वा प्रादुर्गमभिरुण च ] जि गोदं ।  
फुरदि दहिणं लोअणं ॥ अधवा, चारुदत्तस्स उजीव दमणं  
अणिमित्त पमज्जइस्सदि । १

प्यावरक । [ प्रतिगम्य ] ओशालिदा मण शअडा, ता जाव  
गच्छामि । [ इति नाट्येन अधिकृत्य चालयित्वा, स्वगतम् ] भान्तिक्क पा  
हणे १ अधवा, चक्कपनिवट्टिआण पलिण्णन्तण्ण भान्तिक्क पनहणे  
पडिभागेदि । भोदु, गमिण्ण । जाध गीणा । (फ) जाध । २३

नेपथ्य । अरे रे दोवारिआ । अप्पमत्ता मएम् मणम्  
गुम्महाणसु होध । एसा अज्ज गावान्तादाराआ गुत्तिअ भत्तिअ,

गुत्तिवालञ्च वावादिञ्च, वन्धन भेदिञ्च, परिद्वभट्टो ( व )  
अवक्कमदि । ता गेह्वध गेह्वध । १११

[ प्रविच्य अपट्टीक्षेपेण सम्भ्रान्त एकचरणलघुनिगडोऽवगुञ्जित (भ) आर्य्यक  
पश्चिन्नानति ] ।

चेष्ट । [ स्वगतम् ] महन्ते एञ्जलीए शम्भने (म) उप्पस्से । ता  
तुलिद तुलिद गमिस्स । २ [ इति निष्क्रान्त ] ।

आर्य्यक ।—

हित्वाह नरपतिवन्धनापदेश-

व्यापत्तिव्यसनमहार्णव महान्तम् ।

नोपालदारको गुत्ति भङ्गा, गुप्तिपालक व्यापाय, वन्धन भित्ति, परिद्वभट्टोऽप-  
श्चिन्नानति । तत् गृहीत गृहीत ।

\* महान् नगस्या सम्भ्रान्त उप्पन्न , तत् त्वरित त्वरित गमिष्यामि ।

( ६ ) गुञ्जस्थानेषु—गुञ्जस्थान—इयो वयाणा पञ्चाना वा यानाणा नध्य  
धार्मिकसन्धननकपुरुषनेहक बहुगविपुरुषसङ्कुल तन्मगद्युपद्रवनिवारणीपायसुतस्थान  
तत्र, प्रधानगुञ्जाविठितराक्षेणा स्वस्वस्थानेषु इत्यत्र, ( “याना” वा “पुलिश”  
इति प्रस्थानेषु ) इति भाव , उदुक्त मनुना,—‘इयोञ्जयाणा पञ्चाना नध्य गुञ्जमधि-  
हितम् । तथा गान्धतानाञ्च कुय्याद्राद्रन् नङ्गुहन् ॥’ इति । यत्र—नगरपाल-  
निगमित वन्धनगदिता रक्षणीयतया निष्वाचितेषु स्वकीयेषु स्थानेषु स्वीपरत्त्यप्रदेशेषु  
इति पु निश्चय । नोपालदारक —नोपस्य नन्दन, आर्य्यक इत्याशय । गुप्त—दुग,  
वन्धनागार वा । गुत्तिपालक—जागगराञ्चम् । परिद्वट,—वन्धनगृहात् वधि  
नैव पश्चिन्नानति इत्यर्थः ।

( ७ ) अपट्टीक्षेपे—पट्टपरिद्वन्धननरैरेव, सम्भ्रान्त,—सम्भ्रान्तगद्युह,  
नैव निष्क्रान्त इत्यर्थः । अवगुञ्जित —व्याप्यादितदेह ।

( ८ ) सम्भ्रान्त,—नगर रक्षान विपत्त्यातङ्गदया इतन्त भयादिकनित वेग,  
सम्भ्रान्त इत्यर्थः । उप्पन्न इत्यत्र ( “उप्पन्नो रवेगमङ्गुलौ” इत्यमर ) ।

यदावन्धन आर्य्यक स्मृत्तवन्धन विन्यासि, द्विच्येति ।—इह महान्त—समाप्त  
निश्चय, [ “महान्त” इत्यत्र “महान्त” इति पुनश्चात्तरयन्त पाठ ] नरपत,—  
१२, १३ इत्यत्र—जागगराञ्चम् तदेव अपदेश,—इह, तेन वा व्यापत्ति,—

पादाग्रस्थितनिगडैकपागकर्षी

प्रभ्रष्टो गज इव बन्धनात् भ्रमामि ॥ १ ॥

भो । अहं खलु सिद्धादेन जनित-परित्यागेन राज्ञा पाल-  
केन घोषाटानीय विशमने गूढागारे बन्धनेन ( य ) बद्ध ।  
तस्माच्च प्रियसुहृत् शर्विलकप्रसादेन बन्धनात् परिभ्रष्टोऽस्मि ।  
[ अयूणि विसृज्य ]—

भाग्यानि मे यदि तदा मम कोऽपराधः ?

यद्वन्धनाग इव स्यामितीदृशं तेन ।

देवो च सिद्धिर्गपि लभ्यते न शक्या

गम्यो नृपो बलवता सह को विरोधः १ ॥ २ ॥

तत कुत्र गच्छामि सन्दर्भाय. ? [ विनीक ] इदं कस्यापि  
साधो. अनाहतपञ्चहार ( २ ) गेहम् ।—

इदं गृहं भिन्नमदत्तदण्डो विशीर्णसन्धिश्च महाकपाटः ।

ध्रुवं कुटुम्बी व्यसनाभिभूता दशा प्रपन्नो मम तुल्यभाग्य. ॥ ३ ॥

तद्वत् तावत् प्रविश्य तिष्ठामि,—

[ नेपथ्ये ] जाध गोष्ठा । जाध । \*

\* यात गाधौ । दातस ।

[ वन्दनाग इत्युपपत्त्या आद्येकस्य दुर्हसनीयत्वमजेतव्यत्वञ्च व्यन्यते ], दैवी—दैवा  
घोना भाग्यायत्ता इति यावत् सिद्धिरपि—राज्यप्राप्तिरपि, लङ्घयितुम्—अति-  
क्रामयितुं न शक्या—न शक्या केनापि इति शेषः, अतः नृप,—राजा, गम्य,—  
गत्वा सन्नेद आश्रयणीय इत्ययं राज्यमुखसन्निगम्य नै अवश्यस्थावित्ते विरोधिना  
अपि राज्ञा किमपि कर्तुं न शक्यते ततः किमहसिनाययामैत्याशङ्क्यायामाह,  
वल्लवनेति । —वल्लवता—प्रवृत्तेन सह, विरोध—विवादः, कां १—न कर्तव्य इति  
भावः । ( प्राचीनास्तु—नृप गम्य,—सर्वेषां सैन्यो हि राजा इत्यर्थः, अतो वल्लवता  
सह विरोधः न करुण्य एव व्यावर्ज्यते । ) पूर्वार्हे वन्दनागसाम्योक्ते उपपादलङ्कारः,  
अपि च, परार्हेगत “गम्य नृप” इति विधायकस्य वल्लवविरोधः न करणीय इति  
सामान्यार्थेन लोपपत्तीकरणेन सामान्येन विशेषसमयनरूपीष्वान्वयान्तरालङ्कारः,  
इत्यनयो परस्परनिरपेक्षतया कस्यामात् सन्दृष्टिः । वसन्ततिलकं हस्तम् ॥ २ ॥

( २ ) अनाहतपञ्चहारम्—उद्घाटितपञ्चहारम् ।

आयक । [ आकणं ] अये । प्रवहणमित एवाभिवर्त्तते ॥—

भवेद्गोष्ठीयान न च विषमशीलैरधिगत.

वधूसंयान वा, तदभिगमनोपस्थितमिदम् ।

वर्द्धिर्नैतव्य वा प्रवरजनयोग्य विधिवगात्

विविक्तत्वाच्छून्यं मम खलु भवेद्देवविहितम् ॥ ४ ॥

वर्द्धमानक छेट । [ प्रवहणेन सह प्रविश्य ] ह्रीमाणाहे । आणीदे

“आध गोष्ठा । आध” इत्याकण्य प्रवहणागमनं निश्चित्य तत्र सक्तोपपत्त्यायनं सम्भवति न वा ? इति विचारयति, भवेदिति ।—इदं—प्रवहणमिति शेष, विषम शील, —दुष्टरिते, आधगतम्—आधागत, गोष्ठीयान—गोष्ठी—समाज, सभा इत्यर्थ, पृथक्स्थानमिति यावत्, ( “समज्या पार्ष्वद्वोरो मभाममितिममत्” इत्यमर ) तत्र गमनार्थं यान—वाहन, न भवेत्—न स्यात्, तस्या, —वयो इत्याशय, तत्र—नाह्या वा, अनिगमनाय—नयनाय, उपस्थितम्—आगत, वधूसंयान वा—पटागतत्वात् वधुवहनयोग्य यानमित्यर्थ, न भवेदिति शेष, तथा विधिवगात्—कायवगात्, यदा,—विधिवगात्—देववगात्, मम भाग्यवगादित्यर्थ ( “विधिवधाने देव न” इति छोट ) शून्य—केनापि अनधिष्ठितमित्यन्वय, वर्द्धिर्नैतव्य—वाजापटम प्राप्य शीघ्र, प्रवरजनानां—यष्टजनानां, योग्य—वधुनोपयुक्त वा, भटजनानां आगतमित्यर्थ, न भवेत् इति अत्रापि योजनायाम्, विविक्तत्वात्—विपरिवर्तनमपारम्भयोग्येति यावत्, मम, वदनादयं मतः शेष, यदा,—विविक्तत्वात् पृथक्त्वात्, पृथक्जनानां योग्यत्वादित्यर्थ, ( “विविक्तै पृथक्जनैः”

मए जाणत्यलके । लदणिए । णिवेदेहि अज्जआए वशन्त-  
शेणाए, अवस्थिदे शज्जे पवहणे, अहिलुहिअ पुणफकतण्डअं  
जिसुज्जाअ गच्छदु अज्जआ । \*

आय्यक । [ आकण्ठं ] गणिकाप्रवहणमिदं, वहिर्यानञ्च,  
भवन्तु, अधिरोहामि । [ इति सैरमुपसंपत्ति ] ( व )

चेट । [ श्रुत्वा ] । कथं येउल्लशहे । ता आअदा क्व  
अज्जआ । अज्जए । इमे णशकडुआ वइल्ला, ता पिठ्ठो  
ज्जेव ( व ) आलुहदु अज्जआ । †

आय्यक । [ तथा करोति ] ।

चेट । पादुप्फालचालिदाण येउल्लाणं वीशन्तो शहे ;  
भलक्कन्ते ( श ) अ पवहणे, तथा तक्केमि, शम्पद अज्जआए  
आनूटाए होदब्बं ; ता गच्छामि । जाध, गोणा ! जाध । ‡  
[ इति परिक्रानति ] ।

\* आशयम् । जानीत मया यानास्तरणम् । रदनिके । निवेदय आर्यायै  
वसन्तसेनायै, अवस्थित सञ्च प्रवहणम्, अधिरुद्ध पुष्पकरण्डक जीर्णोद्यान गच्छतु  
आर्या ।

† कथं नृपराज्यं । तदागता खल आर्या । आर्ये । इमौ नासिकारञ्जुकटुकौ  
इलोहर्दौ, तत पठत एव आरोहन्तु आर्या ।

‡ पादास्फालनचालितानां नृपराणां विशालं शब्दः, भाराक्रान्तस्य प्रवहणम्,  
तथा तल्लयामि, साम्प्रतमायया आण्डया भवितव्यम्, तद् गच्छामि । यात,  
गो ! यातम् ।

( व ) वरियान—वरि, —वास्तप्रदेशे, नेतव्य यान—शकटम् । सैर—मन्द  
मन्दस्तिब्ध ।

( व ) रुध्निति । —आय्यकपादा—निहितशब्दस्य शब्दं नृपराज्यमिदं  
साकारं यं विलसितं कथं नृपराज्यं इत्यादिना । तत—तस्मात्, पठत एव—पश्चाद्  
तिष्ठेत् ।

( इ ) पादास्फालनचालितानां—पादयो —चरदयो आस्फालनेन—आस्फ-  
रतिरिपेत्, [ “पादास्फालनचालितानाम्” इत्यादिवादे स एव शब्दः ] चालितानां—



बीरक । [ प्रविश्य ] अरे रे । अरे । जअ जअमाण-चन्दणअ  
मङ्गल-फुल्लभट्ट-प्पसुहा । ३—

किं अच्छध बोसडा ? जो सो गोवालदारओ रुडो ।

भेत्तूण सम वच्चइ गरवइहिअअ वन्धण प्र १ ॥ ५ ॥

अले । पुरत्थिमे पटोलीदुआरे चिट्ठ तुम, तुम पि पाच्छिमे,  
तुम पि दक्खिणे, तुम पि उत्तरे । जो वि एसो पाआर  
खण्डो, (घ) एदं अहिस्सहिअ चन्दणेण सम गटुअ अबलाएमि ।  
एहि, चन्दणअ । एहि इदो दाव । ॥

\* अरे रे । अरे । जय जयमान चन्दनक माल पणनद-प्रसूता ।—

† किं स्य निश्रमा ? य स गोपालदारको रुड ।

भिरया सम व्रजति नरपतिद्वय वलनय ॥

‡ अरे । पुरस्तात् पत्नीनीपारं तित्ता, त्वमपि परिस्र, तस्मात् दर्शय, त्वमपि  
उत्तर । योऽपि एष प्राकारखण्ड, एतस्मिन्नुच्चा चन्दनन सम गता यान्तीकयाम ।  
एहि चन्दनक । एहि इतन्नावद ।

[ प्रविश्य सम्भ्रान्त चन्दनक ] अरे रे ! वीर्य-विसह्य भीमङ्ग-  
दण्डकाल-दण्डसूर प्यमुहा । ५—

आअच्छध बीसत्या, तुरिअं जत्तेह लहु करिज्जाह ।  
लच्छी जेण ण रसो पहवइ गोत्तन्तरं गन्तुं १ ॥ ६ ॥

अवि अ,—

उज्जाणेषु सहासु अ मग्गे णअरीअ आवणे घीसे ।  
त तं जोहह तुरिअ, सङ्गा वा जाअए जत्थ ३ ॥ ७ ॥

० अरे रे । वीरक विशल्य भीमाङ्गद दण्डकाल दण्डसूरप्रमुहा ।—

† आगच्छत विश्वस्तास्तरित यतध्व लघु कुरुत ।

लघोर्वेत न राज्ञ प्रभवति गोत्तान्तरं गन्तुम् ॥

‡ अपि च,—उद्यानेषु सभासु च मार्गे नगर्यामापणे घीषे ।

त तमन्वेषयत त्वरित, शङ्गा वा जायते यत्र ॥

वीरकाङ्क्षत चन्दनकोऽपि प्रविश्य अधीनरक्षिणाम् अप्रमत्ततया सावद्वितावस्थान-  
मादिगति, आगच्छतति ।—भो विश्वस्ता ।—विश्वासिपुरुषा । त्वरितं—शीघ्रम्,  
आगच्छ—आयात, लघु—नूणं, यतध्व—चेष्टध्व, वन्दियह्णायमिति भाव ।  
[ “जत्तेइ” इति प्राकृतञ्च “यावाम्” इति संस्कृतं कृत्वा, यावा—गमनम् इति प्राचीन  
सम्प्रदायात् ] येन—यादृगुपायेन, राज्ञ,—रूपस्य, लच्छी,—राज्यीरिभ्यः,  
गोत्तान्तरं—कुलान्तरम्, अन्यकुलमित्यर्थ, ( “गोत्र ना च कुलऽप्येव” इति कीप )  
गन्तुं—यातु, न प्रभवति—समर्था न भवतीत्यर्थ, तथा लघु—शीघ्र, कुरुत—  
विधत्, सर्वे गोत्तान्तराश्रयणीकुला राजश्रियमवलम्ब्य कर्तुं चेष्टध्वमिति भाव ।  
राघाञ्छन्द ॥ ६ ॥

एतेष्वप्युक्तं यस्यान निदिगति, उद्यानेष्विति ।—उद्यानेषु—प्राकृतिषु, साधारण-  
नागरिकाणां विचारापयोगिषु राजकीयकृतिनकालनेषु इत्यर्थ, ( “पुमानाक्रीड उद्यान  
राज्य साधारण वनम्” इत्यमर ) सभासु—समितिषु, मार्गे—पथि, नगर्या—पुर-  
गण्य, ‘टाडन्ड’ नामिदं ददात इति न्वेप नगरीशब्दात् डे स्थाने अकारादेश  
‘ददरो’ इति निषेधम्, अताऽत्र गणभद्राभावाद्यालक्षणीय बोध्य । “एष-  
राज” इति पाठे तु न तथा इति ध्वेयम् ] । आपटे—हृदये, अविक्रयशालाया  
या, देव—गोपदह्या, ( “घोष आभीरपटो रान्” इत्यमर ) वा—अथवा, दव—

ने ने वीरअ । कि किं दरिसेमि, भणामि, दाव बोसइ ।  
 भैत्तूण अ वन्धणअ की मो गोवालढारअं हरइ १ ॥ ८ ॥  
 कम्स दृमो दिणअगो १ कम्स चउत्यो अ बट्टण चन्टो १  
 त्ठो अ भग्गवगहो १ भूमिसुओ पच्चमो कम्स १ ॥ ९ ॥

\* ने ने वीरक । कि कि दर्शयमि, भणमि तावदावयभम् ।  
 भित्ता च वन्धनक क म गोपालदारक हरति १ ॥  
 † कस्याष्टमी दिनकर १ कस्य चतुर्थ वसने चन्द १ ।  
 षष्ठय भार्गवगण १ भूमिभूत पञ्चम कस्य १ ॥

यस्मिन् यस्मिन् स्थाने, शदा—तस्य अवस्थितमश्व, जायते—उत्पद्यते, तं स,  
 ममे प्रदृशमिति शेष, लङ्गित—शीघ्रम्, अल्पयत—अनुसन्धानं कुरुत । गाथा  
 च्छन्द ॥ ७ ॥

मण कस्य जन्मच्छो जीवो ? गन्धर्भो तद्देव सूरसुत्रो ?  
जीवन्ते चन्दणए, को सो गोपालदारक हरि ? ॥ १० ॥

९ भण कस्य जन्मच्छो जीव ? नवनक्षत्रैव सूरसुत ? ।

जीवति चन्दनके क स गोपालदारक हरति ? ॥

भवेति ।—जीव —इहस्यति । कस्य—किन्नामधेयस्य, जनस्येति शेष , जन्म  
पठ —जन्मराशित पठराशिस्थित इत्यत्र , भण—कथय तदिति शेष , सूरसुत,—  
रवितनय , ग्रन्थेश इत्यत्र , तदैव नवन —तदैव जन्मराशित नवनराशिस्थित  
इत्यत्र । चन्दनके नयि जीवति—विद्यमाने सतीत्यर्थ , य , जन इति शेष ,  
गोपालदारक हरति, स,—प्रतिपादयित्वा नित्यं , स्निग्धनस्याप्यगणितत्वादित्या-  
शय . क ?—किन्नामधेय . नून तस्य रज्यादय अटमायरिटराशिस्था , तादृशाना  
रज्यादीना घोरतरापक्षकत्वेन शान्तदृष्टत्वादिति भाव ।

तथा च लक्ष्मण अटमसूत्रफल सरण , यदाऽऽह ज्योतिषे वादरायण,—

“हुतवहभयनारयन्त्रज सौख्यसुय  
धनहरणमघाकिभागेवश्यालामम् ।  
नरणमघ पतङ्ग न्याननाश सुरिल्य  
दणति निघनमस्यो नेवरोगश्च चन्द्र ॥

लक्ष्मणशत्रुघ्नफल कुत्तिरीग यदाह स एव,—

सूक्षा शान्तविधीषिकानपि धिय मूढा करोत्यङ्गिरा  
घोरा दुःखपरम्परा दिनकर कुल्यामय चन्द्रना ।  
सौम्यो रोगविनाशमिच्छति वृषा रागस्य भागेवो  
भीम इन्द्रमय शत्रुदेवने सौरिय विषस्यम् ॥

लक्ष्मण पटङ्गफल नरण दुवतिजनित वैरश्च यदा,—

स्थिता पठे राशौ दिनकरनहीजाकतमदा  
दुधरन्ध्रैव प्रसुरधनधानानि ददति ।  
रुन्दि इतूय मनसि च विषाद सुगुर  
मन्त्राश्च कुप द दुवतिजनितवैरश्च परमम् ॥

वीरक । भट (स) चन्दणत्रा । \*—

अवहरद्द कोवि तुरिअ चन्दणत्र । सवामि तुज्ज हिअएण ।

जह् अद्दुइट-दिनअरे गोवालअ-दारओ खुडिदो ॥ ११ ॥

० हे भट चन्दनक ।—

† अपहरति कोऽपि त्वरित चन्दनक । शपे तव हृदयेन ।

यथा अर्द्धदिनकरे गोपालक-दारक खण्डित ॥

दौर्भाग्य विदधाति चन्द्रतनय प्राप्ति परा भागव

कुर्यात् पञ्चमराशिगोचरगती जीवो नृणा निर्वृतिम् ॥

अन्त्येन षष्ठगुरुकलं शत्रुवृद्धिर्मनोदुःखञ्च, यथा,—“स्थिता पष्ठे राशी दिन-  
कर—” इत्यादि ।

जन्मतो नवमशनेय्यफलमथनाश, यथा,—

धर्मस्थाने दिनकरस्ततो नाशमथस्य कुश्यात्

रोग सौम्यो धरणिजनयो भागवथाशलाभम् ।

वास सोमो जनयति नृणां शोकविद्वेषमर्कं

स्थान मान पशुमुतयुतश्चापि जीव प्रकामम ॥”

अष्टमसूत्रे मरण, चतुर्थेचन्द्रे कृत्तिगौडा, षष्ठगुरो मरण युवतिजनैर्वरञ्च, पञ्चमकुञ्जे  
उदये, षष्ठजीवे शत्रुवृद्धिर्मन पीडा च, तथा नवमशनेय्य अथनाश इति बोध्यम् ।  
अथ आश्विभेदान्तर्गत गोत्यास्य वृत्तम् ॥ १० ॥

(स) भट ।—वीर । (“भट स्यात् पुंसि वीरे च विगप पामरस्य च” इति  
मदिनी) ।

वीरक स्वकीयामवसानता प्रतिपादयितुं शपथपुत्रकम आश्रयकम्, पलायनकालं  
विशेष्यति, अपहरति इति । हे चन्दनक । कोऽपि—अज्ञातपुरुष इत्यर्थ, त्वरित—  
शीघ्रम्, अन्यत्रगतेनैव इति यावत्, अपहरति—अचूचुरदित्यर्थ, [ वर्तमानमासीद्य  
स्तत्र भट अविद्यति च प्रपद्यते ]

चेट । [ नेपथ्ये ] जाध, गोणा । जाध । ५६ (ह)

चन्द । [ दृष्टा ] अरे रे । पेक्ख, पेक्ख, १—

ओहारिओ पवहणो वच्चइ मज्जेण राअमग्गस्स ।

एद दाव विआरह कस्स, कहि पवसिओ पवहणो त्ति ॥१२॥

वीरक । [ अवलोक्य ] अरे पवहणवाहआ । मा दाव एद

० यात गावौ । यातम् ।

† अरे रे । पञ्च, पञ्च,—

‡ अपवारित प्रवहण व्रजति मध्येन राजसार्गस्य ।

एतत्तावद् विचारय, कस्य कुय प्रेषित प्रवहणमिति ।

[ भेदनायकात् चौरादिकात् खीडयते रूपम् ] । निशाया पलायनसम्भव इति मत्वा  
यद्य क्लृप्तमेव निशा तस्य रक्षणकार्ये नियुक्ता आसीत्, तदा स तत्रैव स्थित,  
निशाग्रेषु ज्ञात्वा इदानीं तत्पलायनसम्भववित विविच्य यदा वयं किञ्चित् विश्रान्ति  
प्राप्ता, तदा असम्पूर्णसूर्योदये अहर्मुखे एव स पलायित इत्यहं श्रमय कृत्वा वदामि  
इति वीरकस्याशयः । आध्या वचनम् ॥ ११ ॥

( ६ ) “अवहरति कोऽपि” इत्यहयनन्तरं “यात गावौ यातम्” इत्युक्तिदर्शनात्,  
इदानीं नायकस्य कारागृहात् पलायनं विदित्वाऽपि रक्षिणा निरपराधस्य तस्य  
तदुच्चारकस्य च निषाधं पलायनमनुमोदितं मुक्तिश्च तयोर्निर्वाधा एवेति वीजाश्रयप्रति  
पादनात् काव्यदत्ताश्रितवचसं सातिशयकृत्वाच द्वितीयं पताकास्थानमिदं वेदि  
रब्धम् ।

पवहणं वाहेहि ; कस्स केरकं एदं पवहणं ? (क) की वा इध  
आरुढो ? कहिं वा वच्चइ ? \*

चेट । एगे क्खु पवहणे अज्जचालुटत्ताहकेल्लके, इध  
अज्जआ वसन्तसेणा आलूढा पुप्फकरण्डअं जिस्सुज्जाण  
कीलिदु (ख) चालुटत्तश्श गीअदि । †

वीरक । [ चन्दनकमुपसृत्य ] एसो पवहणवाहओ भण्णादि,  
“अज्जचारुदत्तस्स पवहण, वसन्तसेणा आलूढा, पुप्फकरण्डअ  
जिस्सुज्जाण गीअदि” त्ति । ‡

चन्द । ता गच्छदु । §

वीरक । अणवलोइदो ज्जेव ? ¶ (ग)

चन्द । अधइ । \*\*

वीरक । कस्स पच्चएण ? †† (घ)

\* अरे प्रवहणवाहक । मा तावदसत् प्रवहण वाहय, कस्य कृत एतत्  
प्रवहणम् ? की वा इहाहट ? कुत्र वा व्रजति ?

† एतत् खलु प्रवहणम् आय्यचारुदत्तस्य, इहाय्या वसन्तसेना चारटा, पुष्प  
करण्डक कोणीयान क्राडितु चारुदत्तस्य नीयते ।

‡ एष प्रवहणवाहकी भणति, “आय्यचारुदत्तस्य प्रवहण, वसन्तसेना चारटा,  
पुष्पकरण्डक कोणीयान नीयते” इति ।

§ तद्वच्छतु । \* अनवलोकित एव ? \*\* अथकिम ? †† कस्य प्रवहण ?

( क ) वाहय—पुस्त प्राप्तम्, चालुट इत्यम् । कस्य भावः—कारु पवहणाय  
तथा एतत् प्रवहण नीयते, इति वृच्छते, कृत इति विभक्त्यावयवकान् प्रयत्नम् ।

( ख ) क्राडितु—रन्तु, [ चारुदत्तस्य इति सम्बन्धेना, कोणीयानात्तन्मेव  
सम्बन्धेन ] । नीयते—प्राप्यते, वसन्तसेनेत्यम्, अस्मात् इति रूपम् ।

( ग ) अनवलोकित एव अदृष्ट एव, अस्मात् भावः भावः, न कृत इत्यम्  
इति शेषः ।

चन्द । अज्जचारुदत्तस्स । ३

वीरक । को अज्जचारुदत्तो ? का वा वसन्तशेणा ? जेण  
अणवलोद्धट वच्चइ ? १

चन्द । अरे । अज्जचारुदत्त ए जाणासि ? ए वा वसन्त-  
शेणिअं ? जइ अज्जचारुदत्तं वसन्तशेणिअ वा ए जाणासि ;  
ता गअणे जीह्वासहिद चन्द पि तुम ए जाणासि ॥—

को त गुणारविन्द सीलमिअइ जणो ए जाणादि ।

आवस्स-दुक्ख-सीक्ख, चउ-साअरसारअं रअणं ? § ॥ १३ ॥

c आद्यचारुदत्तस्य ।

† क आद्यचारुदत्त ? का वा वसन्तसेना ? येनानवस्थीकितव्रजति ?

‡ चरे । आद्यचारुदत्त न जानासि ? न वा वसन्तसेनाम् ? यदि आद्यचारुदत्तं,  
वसन्तसेना वा न जानासि, तदा गगने जीह्वासहितं चन्द्रमपि त्वं न जानासि ।—

§ कस गुणारविन्दं सीलमगाइ जणो न जानाति ।

आपन्नदु खमीच्च चतु सागरसारक रवम् ? ॥

सर्वेन्नमसिद्वयं सहीयस विज्ञानैकमने चारुदत्तस्य गुणं विप्रणीति, क इति ।  
—उपेयु—दशदाक्षिणादिषु, अरविन्दम् इव,—कमलनिव, दयादाक्षिणादिजनित-  
यश्चोरमेण मुगन्धिकमलनिव सर्वलोकमणीहरणम् इत्यर्थ, अथवा—गुणा अर-  
विन्द जीव यत् तम्, अरविन्दसदृशननोहरगुणशालिनमित्यर्थ, श्रीलि—सुचरिते,  
गगाइ—चन्द्र इव त, निमलपूतदृग्विवत्वेन जनाह्लादकतया चेति भाव,  
आपन्नान्—विपन्नान् दुःखान्—क्षेत्रम्, नीद,—सुतिर्यथा तम्, आर्तमन्त्र-  
शालासदृश, चतु सागरसारक रज—चतुष्टय सागराणां सारक—सारभूत, रव—  
निचलन्त चतुर सागरान् विविच्य लज्जं महानृत्ययत् वस्तु, तद्वत् इत्यर्थ, त  
आरदत्तमेवापि, क,—को जन, न जानाति —न वेत्ति ? अपि तु सर्वे एव त  
जानातेत्यर्थ, आपन्नानोपपन्नयोरनेदारे पात् नाह्लादपदैकलसैव उपपादयति इह  
१२३३३३३३३ । आप १८८ । १२ ।



दो ज्जेव पूअणीआ इह णअरीए तिलअभृटा अ ।

अज्जा वसन्तसेणा, धम्मणिही चारुदत्तो अ \* ॥ १४ ॥

वीरक । अरे । चन्दणआ । †—

जाणामि चारुदत्तं, वसन्तशेण अ सुट्ठु जाणामि ।

पत्ते अ राजकज्जे, पितर पि अह ण जाणामि ‡ ॥ १५ ॥

आयक । [ स्वगतम् ] अय मे पूर्व्ववैरी, अय मे पूर्व्वबन्धु , (ड)

यतः,—

\* हावेव पूजनीयो इह नगय्या तिलकभृतौ च ।

आय्या वसन्तसेना धम्मनिधिशारुदत्तश्च ॥

† अरे चन्दनक ।—

‡ जानामि चारुदत्त, वसन्तसेनाञ्च सुट्ठु जानामि ।

प्राप्तं च राजकार्यं, पितरमपि अहं न जानामि ॥

दो ज्जेव इति ।—आय्या—उदारस्वभावा इत्यर्थ, वसन्तसेना, धम्मनिधि,—  
धर्म एव निधि,—महामूल्य रत्न यस्य तथाभूत, धर्मैकवन इत्यर्थ, चारु-  
दत्तश्च, हाँ एव—उभौ एव, नान्य इत्यर्थ, पूजनीयो—अर्हणीयो, प्रशस्यो इत्यर्थ,  
इह—अस्या, नगय्या—पत्तने, उज्जयिन्यामित्यर्थ, तिलकभृतौ—ललाटादिषु धार्यो,  
स्वनामय्यातौ—चन्दनादिकृतविशेदकस्वरूपौ, नगय्या गिरीभरणभृतौ, प्रधानौ वा  
इत्यर्थ, ( “तिलकोद्गरीणा स्त्रियानु विगणके” इति मदिनी )  
त्रांकोऽयमार्याभिदयोर्हन्त्याव्यागीत्यभिग्रहेण रचित । तयो एवमेव यथा,—  
“आय्याशकलदितये विपरीते पुनरिहोद्गीति ” इति “आय्याप्राग्दत्तमप्यावकगुर  
ताटक् पराङ्माय्यागीति ” इति च ॥ १४ ॥

एककार्यनियोगेऽपि नानयोस्तुल्यशीलता ।

विवाहे च चितायाञ्च यथा हुतभुजोर्द्वयोः ॥ १६ ॥

चन्द । तुमं तत्तिलो ( च ) सेणावर्द्ध रस्यो पञ्चद्वदो, एदे  
धारिदा मए वइत्ता. अवलोएहि । २

बीरक । तुम पि रस्यो पञ्चद्वदो बलवर्द्ध, ( छ ) ता तुमं ज्जेव  
अवलोएहि । ३

\* त्व तन्निल सेनापति राज प्रत्यायत, एतौ धारितौ मया बलीवर्द्ध,  
अवलीकय ।

+ त्वनपि राज प्रत्ययिती बलपति, तत त्वमपि अवलीकय ।

एव आसीत् यत इह जन्मनि सहजशत्रुवत् नपि निष्कृप दृश्यते इति भावः, अथ  
—चन्दनक इति भावः, से—मनः, पूर्व्वेदन्तु,—पूर्व्वेस्मिन् जन्मनि, सिव—सहज-  
सहृदासीत्, यतोऽयं न किमप्युपकृतोऽपि नयि दयाद्वेददय सञ्जात इति भावः ।

तुल्यकार्यत्वेऽपि बीरकचन्दनकयोः स्वस्य शत्रुमित्रत्वे संस्थापयितुं स दृष्टान्त इति  
विहस्यति, एवेति ।—विवाह—पाण्ड्यद्वयकर्मणि, चितायाञ्च—प्रेतदहनचुल्लयाञ्च,  
प्रितयो इति ङिप द्वयो हुतभुजो यथा,—अग्नित्वेन एकत्वेऽपि कार्यभेदेन  
द्विविधयो अन्तो इवेत्यर्थः, अनयो—बीरक-चन्दनकयो इत्यर्थः, एकस्मिन्  
कार्ये—रत्नरूपे अभिन्ने कर्मणि नियोगेऽपि—आदेगेऽपि, नियोजनेऽपीत्यर्थः,  
\* तुल्यशीलता—समाना प्रकृतिर्नेत्यर्थः, विवाहाग्रियंथा ससारस्त्रित्यर्थं चिताग्रि  
यंथा ससारव्यसाधं प्रवर्तते, तथा एतयोरपि एकं समं रत्नायन् अपरस्य नाशार्थं  
प्रवृत्तं भवतीत्यर्थः । अत्रैककिन्नेव वाक्ये उपमानोपमेयभूतयो हुतभुग्रक्षिपुरुषयो  
विरुद्धमनैकियन्वसाव्यस्य प्रतीत उपमाऽलङ्कारः, न चाव दीपकमाशङ्कनीयः,  
तस्य प्रस्तुताप्रस्तुतविषयकत्वात् प्रवृत्ते च चिताविवाहयोरुभयोरिव अप्रस्तुतत्वात्,  
तथा च विभिन्नकार्यकारित्वादेवानयो अग्रिद्वयसाव्यनाम प्रदर्शितमिति वीज्यम् ।  
एपादए हम् । १६ ।

चन्द । मए अबलोइद, तुए अबलोइद भोटि । ॐ

वैरक । जं तुए अबलोइद, तं रम्मा पालएण अबलोइद । ५

चन्द । अरे । उस्सामेहि धुर । ६

चेट । [ तथा करोति ] ।

आय्यक । [ स्वगतम् ] अपि रत्तिणो मामवलोकयन्ति ?

अशस्तश्चास्मि मन्दभाग्यः ॥ अथवा,—

भीमस्यानुकरिष्यामि, बाहु. शस्त्र भविष्यति ।

वर व्यायच्छती सृत्यर्न गृहीतस्य बन्धने ॥ १७ ॥

अथवा साहसस्य तावदनवसरः ( ज ) ।

\* मयाऽवलोकितं त्वयाऽवलोकितं भवति ।

† यत् त्वयाऽवलोकितं, तत् राज्ञा पालकेनावलोकितम् ।

‡ अरे । उन्नामय धुरम् ।

रत्तिभिः स्वावरोधमाशङ्कमान आय्यक तदानीन्तनकक्षस्य निरूपयति, भीम-  
स्येति ।—भीमस्य—इकोदरस्य, कम्प इति शेष, भीमव्यवहारमित्यर्थ, अनुकरिष्यामि  
—भीमवद्व्यवहारं दर्शयिष्यामि इत्यर्थ, भीमो यथा विना शस्त्रं करचरण्यादिभिः  
प्रहृत्य युद्धं कृतवान्, अहमपि एतान् तथा प्रहृत्य आत्मानं रजिष्यामीति भावः,  
बाहु,—भुज, मन इति शेष, शस्त्र—प्रहरण, भविष्यति—सम्पत्त्यते, बाहुभ्यामव  
शस्त्रकृत्य सम्पादयिष्यामीत्यर्थ, व्यायच्छत,—युगमानस्य, शस्त्राभावे व्यापतविशाल-  
करचरणादिभिरपि प्रहारं कुर्वन्त इत्यर्थ, [ “व्यायच्छत,—परपरिभनं कुर्वन्त”  
इति प्राचामभिप्रायः ] सृत्य,—निधन, वर—मनाक् प्रिय, बन्धने—कारागारं,  
गृहीतस्य—निक्षिप्तस्य, सृत्य न, वरमात इति । “इतो वा प्राप्स्यसि स्वर्गम्”  
इति “सङ्ग्रामं निहता शरा वचीवाण्यत्यागता” इति च स्मरणात्, तु यं सत्तम  
स्वर्गभाक्त्वेन देवत्वनाभ्युते युद्धमेव वरं, न तु विना युद्धमात्मसमर्पणमिति भावः ।  
पथावक्तव्यं ॥ १७ ॥

( ज ) अथानि अतिमाहमप्रदर्शनं तावदनवसर इति निमित्तं इत्यादौ दृष्टे  
यमस्यापि नेटमावकत्वं विचिन्त्याह, अद्वैति ।—माहमन्—यन्प्रदर्शनम्,  
अविमृष्टकारिताया वा, तावन्—पुनः, अनवसर,—अनवकाशः, अस्मत्पुत्रेभ्यः,  
एते खलु वदन्, अहं पुनः एकाकी, नाहमप्यत्रैव एव सत्यं एकाकी मः प्रदर्शनम्

चन्द । [ नाय्येन पत्रहणमारुह्य अवलोकयति ] ।

पाथेक । शरणागतोऽस्मि ।

चन्द । [ सल्लतनाय्य ] अभयं (भ) शरणागतस्य ।

पाथेक ।—

त्यजति किल त जयञ्चोर्जहति च मित्राणि वन्धुवर्गश्च ।

भवति च सटोपहास्यो य खलु शरणागत त्यजति ॥ १८ ॥

चन्द । कथं । अज्जओ गोवालटारओ । सेण-वित्तासिटो  
विअ पत्तरहो साउणिअन्न ( ज ) हत्थे णिवडिदो ? [ विधिन्य ] ।  
एसो अणवराधो, नरणाअटो, अज्जचारुटत्तस्स पवहणं आरूढो,

० कथम् । आर्यन्तो गोपालशरक ॥ श्रेणविवासित इव पत्ररथ शाकुनिकस्य  
हस्ते निपतित । रक्षोऽनपराधः, शरणागतः, आर्यचारुटत्तस्य प्रवहणमारुहः,

सद्यस्य कारा नेष्यति, एकं बहन् आत्मजनपणादन्यत् किमपि कर्तुं न शक्नोमि,  
अतः विरुद्धमिदानीं साहसप्रदर्शनस्य फलं भविष्यति, अतः उपायान्तरं चिन्तनीयमिति  
भावः ।

( भ ) अभय—भयाभावः अस्तु इति शेषः, न भेत्यनिति भावः ।

शरणागतरक्षणवशमर्थव्यनिति प्रतिपादयितुं शरणागतपरित्यागं दीधमाह,  
एवमेति ।—यः, जन इति शेषः, शरणागतः—आश्रयादिनः, खलु त्यजति—  
एवमेति नाशय ददातीत्यर्थः, जयञ्चो—विजयलक्ष्मी, त—शरणागतत्वानिन्, त्यजति  
—उज्जति किल—निश्चितः, मित्राणि—गृह्यद्, वन्धुवर्गश्च—जातिभूमूहश्च, जहति  
—उज्जति तदा मदा—सज्जेता, उपहास्य—उपहसनीयः, सम्यैर्निन्दनीय इत्यर्थः,  
भवति च । शरणागतपरित्यागं सर्वदैवः अधपतनाय इति भावः । आर्या  
हृदयः । १८ ।

पाण्यदस्म मे अज्जमब्बिलअस्स मित्तं ; अणुदो राअणिओओ,  
ता कि टाणि एत्थ जुत्त अणुचिद्धिदुं ? अधवा, ज भोदु तं  
भोदु, पढम ज्जेव ( ट ) अभअं टिस्स । \*

भौदाभअप्पटाण दत्तस्स परोवआररमिअस्स ।

जइ होइ होउ णासो, तहवि अ लोए गुणो ज्जेव ॥१८॥

[ सभयमवतीर्थं ] दिट्ठो अज्जो—” [ इत्युक्ते ] ण, अज्जआ  
वसन्तसेणा । तदो एसा भणादि,—“जुत्तं गेदं, सरिसं गेदं,  
जं अहं अज्जचारुदत्त अहिंसारिदु गच्छन्ती राअमग्गे परि-  
भूटा” ( ट ) । †

प्राण्यदस्य मे आय्यशर्विलकस्य मित्तम् , अन्यतो राजनि गीग , तत किमिदानीनव  
युक्तमनुष्ठानम् ? अथवा यद्वत्तु तद्वत्तु, प्रथममेवाभय दत्तम् ।

† भीताभयप्रदानं ददत परापकाररमित्तम् ।

यदि भवति भवतु नाशस्तथापि च लोके गुण एव ॥

‡ दृष्ट आर्ये,—” न, आर्या वसन्तसेना । तत एषा भणादि,—“युक्तं नेदं, सरिण  
नेदं, यदहमाश्चचारुदत्तमभिमर्तुं गच्छन्ती राजमार्गे परिभूता” ।

( ट ) अनुष्ठानम्—वाचरित्, कर्तुमित्यर्थ । प्रथमम्—शरणप्राप्तं नाशणे एव  
इत्यर्थः ।

वीरक । चन्द्रणाम्ना । एतत् मह ससञ्चो ( उ ) समुत्पन्नो । ५

चन्द । कथं दे संसञ्चो ? १

वीरक ।—

सम्भ्रम-घर्घर-कण्ठो तुमं पि जादोसि, जं तुए भणितं ।

दिष्टो मए क्खु अज्जो. पुणो बि अज्जा वसन्तसेणेति ॥ २० ॥

एतत् मे अप्पञ्चञ्चो । §

चन्द । अरे । को अप्पञ्चञ्चो तुह ? वञ्च दक्खिणत्ता अब्बत्त-

\* चन्दमक । अत्र मे सञ्चय समुत्पन्न ।

† कथं ते सञ्चय ?

‡ सम्भ्रम घर्घर कण्ठस्वनपि जातोऽसि यत्त्वया भणितम् ।

दृष्टो मया खलु आर्य्य पुनरप्यार्या वसन्तसेनेति ॥

§ अत्र मे अप्रत्यय ।

( उ ) अत्र—तत्र वाक्य इत्यर्थः । सञ्चय,—वसन्तसेना न वेति सन्देहः

राजविश्वलेन चन्दनकेन सम्यक् परीक्ष्य “नाशमायंक, अपि तु वसन्तसेना” इत्युक्तेऽपि वीरक स्वस्य सञ्चयकारणनाह, सम्भृति ।—त्वमपि—भवानपि. [ अत्र अपिकारिण शकटपालको दहमानक समुच्चयते, तेनापि अचिरमेव आकाशक-राजपुरुषकृतप्रज्ञेन अतिभीतिविह्वलेन तथैव प्रयुक्तत्वादिति बोध्यम् ] सम्भ्रमेण—अलौकिकाव्यप्रयोगजनितोद्देगम्, घर्घर,—अव्यक्तशब्दविशेषवान्, कण्ठ,—कण्ठस्वर यस्य तथाभूतः, [ अत्र कण्ठपदेन निरदृष्टचक्षणा कण्ठस्वरी लक्ष्यते ] जातोऽसि—प्रतीयमान भवसीत्यर्थः, त्वया—भवता, यत—वाक्यमित्यर्थः, भणित—कथित, तदपि \* सुष्ठुतया विद्यासास्त्रदम् इति नेप । किं तदित्याह, दृष्ट इति ।—मया—चन्दनकेन, खलु—निश्चितम्, आर्य्य,—कथितं पुरुष इति भावः, दृष्ट,—अवलोकितः, पुनरपि—पार्या दृष्ट इति कथनानन्तरमेव इत्यर्थः, आर्य्या वसन्तसेना, दृष्टा इति नेप, यदि सत्यमेव वसन्तसेना दृष्टा, तदा कथं त्वं सम्भ्रमघर्घरकण्ठ जातः, कथं वा प्राक् त्वया दृष्ट आर्य्य इत्युक्तम् ? अतो मे सञ्चयः, सत्यवादिनः नेव कदाऽपि दृष्टार्थोक्तौ कणावरोधो दाग्वैधोभादयः भवतीति भावः, आर्य्यकदर्शनमप्रकाशयत अत्यन्तस्य स्तीर्षा एव वीरक “आर्या वसन्तसेना” इत्यादि कपोलमेवेत्यबोधः इति दितव्यम् । गीति ६८८ ॥ २० ॥

भासिणा, खस, खत्तिखडो, खडटो, विलअ, कणाट, कण-  
प्पावरणअ, दविड, चोल, चीण, वव्वर, खेर, खान, मुख, महु-  
घाटपहुदीणं मिलिच्छजादीण अणेअटेसभामाभिस्सा जहेटं  
मन्तआमो ; दिट्ठो दिट्ठा वा, अज्जो अज्जआ वा । ॥ ( ढ )

। वीरक । अं अहं पि पलोएमि ; राअअस्सा एसा ; अहं  
रस्सो पञ्चइदो । \*

चन्ट । ता किं अहं अप्पञ्चइदो संवुत्तो ? ॥

वीरक । ग, सामि-णिओओ । ‡

चन्ट । [ स्वगतम् ] अज्ज गोवालदारओ अज्जचालुदत्तस्स  
प्रवहण अहिरुहिअ अबक्कमदि, त्ति जइ कहिज्जटि, तदो  
अज्जचालुदत्तो रस्सा सासिज्जइ, ता को एत्थ उवाओ ?

॥ अरं । कोऽप्रत्ययस्तव ? वयं दाक्षिणात्या अव्यक्तभाषिण, खस खत्तिकडो  
कडटो-विल कर्णाट कर्णप्रावरण द्राविड चोल चीन वव्वर खेर खान मुख मधुघातप्रभ  
तौर्णा स्नेच्छजातोनाम् अनेकदेशभाषाभिज्ञा यथेष्ट मन्त्रयाम,—दृष्टी दृष्टा वा,  
आय्य आया वा ।

\* ननु अहमपि प्रलीकयामि, राजाज्ञा एषा, अह राज प्रत्ययित ।

† तत किमहमप्रत्ययित महम ?

‡ ननु । सामिनिर्थाग ।

§ आद्यगापालदारक आद्यचारुदत्तस्य प्रवहणमधिकृष्टा अपक्रामति, ज्ञात यद्वि

( ढ ) खसेत्यादि स्नेच्छीभूता चवज्जातय । यथेष्ट—यथाऽभिज्ञपित, मन्त्रयाम,  
—कथयाम इत्ययम् । किं शब्दविचारिण, मव्वाम् देशभाषासु मन्त्रगाभजतया वयं  
यथेष्ट वक्तुं शक्ताम्, कस्याचित् भाषाया “दृष्ट” इति “दृष्टा” इति क्त्वा “आय”  
इति “आया” इति क्त्वा उच्चार्यते, वयन्तु विविधभाषाविट् दाक्षिणात्यवासकृतया  
सुस्पष्टमभिधानमसमर्थाय इति एकस्या भाषाया कथयितव्याया कदाचित् जिज्ञा  
लायादमविधासि भाषा उदोर्घ्यतेऽस्याभि, लिङ्गमदानयन्तन्दायांति प्राप्तिरित्या  
वाम् ताम् देशभाषाम् दृष्टवते, तत्र किल पुल्लिङ्गे प्रयोज्ये स्त्रीलिङ्गप्रयोग, स्त्रीलिङ्ग  
प्रयोगे पुल्लिङ्गप्रयोग इत्यतः मिथ एव, इति इदानीं प्रोक्तमपमानात्तत्तद्विफल  
निश्चयः अत्रेणुपमकविपर्ययकृत भाषण प्राधिकमेवास्माकम् इति भावः ।

[ विचिन्त्य ] कणाट-कलह-प्यओअं ( ण ) कलेमि । [ प्रकाशम् ]

अरे बीरअ । मए चन्दणकेण पलोइदं, पुणो वि तुमं पलोएसि ?

को तुमं ? §

बीरक । अरे ! तुम वि को ? ¶

चन्द । पूइज्जन्तो माणिज्जन्तो तुमं अप्पणो जादिं ण  
सुमरेसि ? ॥ ( त )

बीरक । [ सक्रीधम् ] अरे । का मह जादो ? ¶

चन्द । को भणउ ? §

बीरक । भणउ । §§

चन्द । अहवा ण भणामि । ¶¶—

जाणन्तो वि हि जादि तुज्झ अ ण भणामि सीलविहवेण ।

चिहउ महच्चिअ मणे, किं हि कइत्येण भग्गेण ? \* ॥ २१ ॥

कप्यते, तत आर्यचारुदत्तो राज्ञा शान्यते, तत कोऽय उपाय ? कणाटकलहप्रयोग  
करोमि । अरे बीरक । मया चन्दनकेन प्रलोकित, पुनरपि त्व प्रलोकयसि ?  
कस्मिन् ?

\* अरे । त्वमपि क ? § पूज्यमानो मान्यमानस्तुमात्मनो जातिं न स्मरसि ?

† अरे । का मम जाति ? ‡ की भणतु ? §§ भणतु ।

¶ अहवा न भणामि ।—

॥ जानन्नपि हि जातिं तव च न भणामि शीलविभवेन ।

चिहत्तु ममैव ममसि, किं हि कपित्थेन भग्गेन ? ॥

( २ ) कणाटकलहप्रयोग—कणाटदेशीयेतरजनोचितविवादानुष्ठानम्, अकारण-  
कलहमिति दास्यते ।

( त ) “ए सुमरेसि ?” इत्यत “इह सुमरेसि,” इति पाठान्तरे—“अनुस्मरसि ?”  
इति मूलतम । राज्ञी विद्वन्मन्त्रतन्त्रिन्, अत एव एतादृक् पूज्यमान मान्यमानश्च सन्  
निष्प्रात वदाचित चिन्तयसि किम् । इत्यर्थः ।

अस्मिन् कणाटदेशे राज्ञा शान्त्यर्थं न साधुजनोचितमिच्छात्, जान-  
न्मिति—तद—मदत्तं जातं,—इह दक्षिणं कुलं तव जन्म इत्यर्थः, तं जानन्—



वीरक । ग भण्ड, भण्ड । ‡

चन्द । [ सजा ( य ) ददाति ] ।

वीरक । अरे । किं खेद ? †

चन्द ।—

सिस्ससिल्लाअल-हत्थो पुरिसाण कुच्च-गण्हिमण्हवणो ।

कत्तरि-वावुटहत्थो, तुम पि सेणावई जाटो ‡ ॥ २२ ॥

‡ ननु । भणतु भणतु ।

† अरे । किं नु इदम् ?

‡ शीर्णशिलातलहल पुरुषाणां कृश्वय्यसम्प्रापन ।

कत्तरीत्यावृतहलसमपि सेनापतिज्ञात ॥

विदन् अपि, शीलविभवेन—सशीलतया, अहेतुकपरकोपदोषानुसन्धाने आत्मन सहत्वज्ञानिर्भवतीति स्वस्य सस्वभावसम्पदमनुष्ठां कर्तुमित्यर्थ, न भणामि—वदामि, लोकसमच प्रकाशयामीत्यर्थ, मम मनसि—चित्ते एव, तिष्ठतु—विराजतु इत्यर्थ, तव अपकृतजातावुत्पन्नत्वात् तत्कथने मम शीलभङ्गापत्तिरिति हृदयम् । “मत्प्रवृत्तात् प्रिय वृत्तात् न दूरात् सत्यमप्रियम्” इत्युक्तेरिति भावः । कथं मनस्येव तिष्ठतु ? इत्यत आह, किमिति ।—कपित्थेन—तदाग्यफलविशेषेण, भक्षेन—खण्डितेन, किम्—फलमित्यर्थ, [ वारणायककिञ्चयोगात् कपित्थेनेत्यत्र तृतीया ], यथा वाञ्छत एव रमणीयस्य कपित्थस्य भक्षणस्याभ्यन्तरे केवलं मित्र्यवीजादिपूर्वोक्तद्वन्द्वद्वयं पश्यतां लोकानां मनसि तद्विषयिका ह्येतत्तद्विदुर्दति, तथा तत्रापि ज्ञात विज्ञेयेण कथने सर्वथा स्वरूपप्रकाशात् त्वयि साधारणजनावशा नियतं मुदय्यतीति भावः, चन्दनकस्यातीव ह्येतत्तद्विदुर्दति, केषाञ्चित् गुणगमत्वात् केषाञ्चित् वीजवृक्षाद्वरमवत्सारपूर्णत्वात् फलैवधमस्य कपित्थस्य, वाञ्छतं कटिमादभ्यन्तरतश्च रसवदन्तं सारात् विन्वमारिकेलादिफलात् व्यवच्छिन्नस्योपादानं वेदितव्यम् । आद्या वचनम् ॥ २१ ॥

( य ) संज्ञा—ज्ञानुचितक्रियाऽभिमत, नापितज्ञातिपूषकमहेतुम इति भावः ।

ज्ञानुचितक्रियाकथनद्वारा ज्ञाति नापयति, शीर्णतः ।—शीर्णशिलातलहल, शीर्ण—भग्न, शिलातलं—प्रस्तर एव, [ भस्मितलं करतलमितिवत् तलमञ्जल्यं स्वभावावबोधकं बोध्यं ] हस्ते—करतले यस्य तादृश, अस्मिन्निगानां प्रत्यगिमा पटखण्ड इत्यर्थ, पुरुषाणां—नराणां, कृश्वय्यसम्प्रापन,—कृषानां—गमयानां, ( “कृश्वय्यो भुवामंजे कटिनमग्नमुकैतव” इति रुद्रिम् ) य दाय, —यस्य न,

वीरक । अरे चन्दणआ । तुम पि माणिज्जन्तो अप्पणो  
केरिक् जादि ण सुमरेसि १ ॥

चन्द । अरे । का मह चन्दणअस्स चन्दबिसुद्धस्स ( ८ )  
जादी १ ॥

वीरक । को भणउ १ ॥

चन्द । भणउ, भणउ । §

वीरक । [ नाखीन सञ्जा ( घ ) ददाति ] ।

\* अरे चन्दनक । त्वमपि मान्यमान आत्मनो जाति म स्मरसि ?

+ अरे । का मन चन्दनकस्य चन्द्रविशुद्धस्य जाति ?

‡ को भणतु ?

§ भणतु भणतु ।

मृष्टदेशकौटिल्यम् इत्यर्थ, यद्वा,—यन्निवन् सवीर्य इत्यर्थ, तस्य संस्थापन—  
समुद्घेदं यस्मात्, [ संपूर्णकस्याधातो नाशार्थेऽपि प्रयोगदर्शनात्, तथा हि अमरः,  
—“परासु प्राप्तपञ्चपरितप्तैतसंस्थिता ” इति ] यद्वा,—संस्थापन—सम्यक्—  
प्रतिभावेन, स्थापनम्—अवस्थापन, समीकरणमित्यर्थ, यस्मात् स, (“सन्निवेशे  
च संस्थानम्” इत्यमरः ) स्मृशुमुग्धनकारी इत्यर्थ, नापित इति यावत् । [“कुच  
गच्छिम उदया इत्यत्र “कुक्कगच्छिसृष्टवणो” इति पाठान्तरे “कुक्षितयन्विमस्यापन ”  
इति मल्लतम् । तत्र कुक्षितस्य—भग्नस्य, यन्त्र,—अस्थिसन्निस्थलस्य, संस्थापन—  
संवाहनकौशलेन यद्यस्यान पुनर्यवस्थापनं यस्मात् स तथोक्त, नापितेन हि एव  
भग्नसन्निव्यवस्थापनं लोकप्रसिद्धमेव । “सृष्टवणो” इत्यत्र आकाराभावश्चान्दको  
पाठः ] । कर्त्तरीव्याप्तहस्त,—कर्त्तार्या—केशादिष्वनसाधनास्त्रविशेषः, कर्त्तरी-  
संस्थापकेशादिकर्त्तनकर्मणि इति यावत्, व्याप्त,—व्यासक्त, नियुक्त इत्यर्थ हस्त  
यत् तादृश, त्वमपि—अत्यावसायिसदृश नापितोऽपि इति भावः, सेनापति,—  
सेनापद जात,—भक्त, राजा सेनापतिपदे नियुक्त इत्यर्थ, एव महाकुलप्रभूत  
अवापि इदानीं राजा सेनापतिपदे हत गवातिशयात् सर्वज्ञेवाकुलीन वैकि ज्ञान  
तु हृदयम् । आस्था हन्तम् । २८ ।

( ८ ) चन्द्रविशुद्ध—चन्दन—सुधाकरकत विशुद्ध—पवित्र, वालिन-  
सिद्धेनेनैकतया संभावनिसिद्धयेत्यर्थः ।

( ९ ) सञ्जा—संस्कारजात्यनुनापञ्च सङ्केतविधिपनिवृत्त्यर्थः ।

चन्द । अरे ! किंसोद ? \*

वीरक । अरे । सुणाहि सुणाहि । †—

जादो तुज्झ बिसुद्धा, मादा भेरो, पिदा बि टे पडहो ।

दुम्मुख । करडअ-भादा, तुमं पि सेणावई जादो ‡ ॥ २३ ॥

चन्द । [ सक्तीधम् ] अह चन्दणओ चम्मारओ ? ता पलोएहि पवहण । §

वीरक । अरे ! पवहणवाहआ । पडिवत्तावेहि पवहण, पलोइस्स । ¶

\* अरे । किं नु इदम् ?

† अरे । शृणु, शृणु ।

‡ जातिस्त्व विद्युद्धा, माता भेरो, पिताऽपि ते पट्ट ।

दुर्मुख । करटक माता, त्वमपि सेनापतिर्जातः ॥

§ अह चन्दनकशम्भकार ? तत् प्रलोकय प्रवहणम् ।

¶ अरे प्रवहणवाहक । परिवर्त्तय प्रवहणं, प्रलोकयिष्यामि ।

चन्दनकस्य अतिनीचकुलोद्भूति प्रकाशयितुं जातिस्त्वभावमुल्लभ क्रियाविशिष्टं वर्णयति, जातिरिति ।—ते—तव, माता—जननी, भेरो—स्वनामप्रसिद्ध वाद्यविशेष, जननीय भेरो ते उत्तरपौषिका इति भावः, पिता—जनक अपि, पट्ट,—टका, पिता यथा जीविकासम्पादनेन प्राप्तपालयति, पट्टोऽपि तथा ते जीविका निःप्राप्तयतीत्यर्थः, दुम्मुख ।—वानरः । अप्रियभाषिन् । इति वा, (“दुम्मुखः कपिभन्नाग-भिदोर्ना मुखरे विपु” इति मेदिनी) करटक, —वाद्यभेदः, एव माता—सर्पद्वारस्य तथाविधः, करटकस्य सङ्घोद्वारवत् सञ्चदा एकस्यानस्यिततया सन्निर्गतोपजीविक इत्यर्थः, अत एव तव—भवतः, जाति, —वशः, विद्युदा—अतिपरिवा इत्यर्थः, [ इयं सौप्रामोक्तिरिति विपरीतलक्षणया जातिरन्यविशुद्धा ध्वनति ] त्वमपि—एवविधं विद्युदकुलोत्पन्नं भव नपि सेनापतिः,—सेनानायक जातः,—गता कृत इत्यर्थः । एतेन वाद्ययन्त्रविशेषाणां परिचयेन अस्य अस्माकंजातोऽयं मातृतमः, अथ ह्यस्यो रजः, विहताकारचटावान् वीरक एवाव आलस्यन्, तथा तस्य विहताकाररुपाङ्गमश्रादिविचेतनमेवावीक्षोपन्, वदनस्मरतादिकमव अनुभावः, अथ ह्यस्या दृश्याव व्यभिचारिण एतैरभियुक्तं सङ्घट्टमवैद्य हामभाव ह्यस्मरकदृष्टानुसृतं, तस्य भोचपावगतत्वेनातिहसितामकम् वेदितव्यम् । माथा इत्य । २३ ॥

चेष्ट । [ तथा करोति ] ।

वीरक । [ नाट्येन प्रवहणमारीदुमिच्छति ] ।

चन्द । [ सहसा केशेषु गृह्णीत्वा पातयति, पादेन ताडयति च ] ।

वीरक । [ सक्रीधमुत्थाय ] अरे । अहं तु ए बीसत्यो रात्रास्मृति  
करन्तो, सहसा केसेसु गेह्लिअ पादेण ताडिदो ? ता सुण रे ।  
अहिअरणमज्जे जइ दे चउरङ्ग ण कप्पावेमि, (न) तदो ण  
होमि वीरओ । \*

चन्द । अरे । राअउल, अहिअरणं वा बच्च, किं तु ए  
मुणअ सरिसेण (प) ? †

वीरक । तथा । [ इति निष्क्रान्त ] ।

चन्द । [ दिशोऽवलोक्य ] गच्छ, रे प्रवहणवाहआ ! गच्छ ।  
जइ को वि पुच्छेदि, तदो भणेसि,—“चन्दणअ वीरणहि अब-

\* अरे । अहं त्वया विश्वलो राजाज्जति कुर्वन्, सहसा केशेषु गृह्णीत्वा पादेन  
ताडित । तत् शृणु रे । अधिकरणमध्ये यदि ते चतुरङ्ग न कल्पयामि, तदा न  
भवामि वीरक ।

† अरे । राजकुलम्, अधिकरणं वा व्रज, किं त्वया युनकसदृशेन ?

‡ गच्छ रे प्रवहणवाहक । गच्छ । यदि कोऽपि पृच्छति, तदा भणियामि,—

( न ) विश्वल,—राजप्रत्ययवान्, राजविश्र्वासैकभूमिरित्यर्थः । राजाज्जति—  
राजादेशम् । कुर्वन्—अनुपालयन्, उपतेराज्ञा पालयितुमेवारभमाण इत्यर्थः,  
अदोशपमाने कर्तुं राज्ञः पालकस्यैवापमानं कृतं भवेदित्याशयः । केशेषु—शिरोरुद्धेषु,  
[ अतः अवच्छेदे सप्तमी, माकल्यञ्च बहुवचनादेव लभ्यते इति सकलकेशावच्छेदेनेत्यर्थो  
लभ्यते ] । अधिकरणमध्ये—विद्यारालये चतुरङ्गं कल्पयामि—अशेषतः ग्राहि  
कारिण्यामीति यावत्, [ “चौरङ्गं कर्तूमा” इति हिन्दी भाषा ] ।

( प ) युनकसदृशम्—कुङ्कुममेव, त्वं हि कुङ्कुमवत् केवलं वीरविकाशमेव  
राजान् सेवते, खल्विद्योगात्समता न ते राजसर्पापि काचित् प्रातपतिरस्तीति कुङ्कु-  
रन्तु इति न प्रोक्तं र भविष्यति इति भावः ।

लोइदं पवहण वच्चइ” । अज्जे वसन्तसेणे । इदं च अहि-  
स्साण ( फ ) दे देमि । ॐ [ इति खड्गं प्रयच्छति ] ।

आयक । [ खड्गं गृहीत्वा सङ्घर्षमात्मगतम् ]—

अये । शस्त्रं मया प्राप्तं, स्पन्दते दक्षिणो भुजः ।

अनुकूलञ्च सकलं, हन्तं सरञ्चितोऽप्यहम् ॥ २४ ॥

चन्द । अज्जए ।—

एत्थं मए विस्सविदा, पच्चइदा, चन्दणं पि सुमरेमि ।

ण भणामि एमं लुहो, णेहस्स रसेण वोस्सामो \* ॥ २५ ॥

“चन्दनक-वोरकाभ्यामवलीकितं प्रवहणं व्रजति” । आर्यो वसन्तसेने । इदञ्च अभि-  
ज्ञानं ते ददामि ।

\* आर्यो ।—अत्र मया विजिता प्रत्ययिता चन्दनमपि स्मरसि ।

न भणामि ण्यं लुहं, स्नेहस्य रसेन वृम ॥

( फ ) आभज्ञान—साक्षोभूतं निदृशनं, परिचायकचिह्नमित्यर्थः ।

पूर्वमभ्यर्हीतास्त्वत्वात् आयक आत्मारक्षणे असमर्थमात्मानं मन्यमान आतोष-  
मिव आसीत्, इदानीं शस्त्रप्राप्ता केनचित् पुनराक्रमणे कृतेऽपि शस्त्रयत्नेन आत्मारक्षणे  
समर्थो भविष्यामि इति विचिन्त्य हर्षं प्रकाशयति, अये इति ।—अयं अयं इति शस्त्र-  
प्राप्तिजनितहृषमूचकमव्ययम्, मया—आयककेणेत्यर्थः, शस्त्र—खड्गपमित्यर्थः, प्राप्त—  
चन्दनकसकाशात् लुहम्, दक्षिण,—मध्येतरे, भुज,—बाहु, स्पन्दत—स्फुरति,  
[ दक्षिणाङ्गस्फुरणफलं यथा मत्स्यपुराणे,—“अद्वदक्षिणभागे तु शूलं प्रस्फुरणं भवति ।  
अथाशूलं तथा वामे पृष्ठस्य हृदयस्य च ॥” इति ] हन्तं यपि हृषमूचकमव्ययम्, अहं  
मपि—अतिविपन्न इति भावः, सरञ्चितं शेषः, सरञ्चितं,—परिव्रातं चन्दनकेनेति  
शेषः, ( अतः ) सकलं—सर्वमेवेत्यर्थः, अनुकूलम्—अविरुद्धं, ज्ञातमिति शेषः, शस्त्रं  
प्राप्तादिदृष्टवानुकूल्येन इदानीं मम अत्राधितगतैरधिकसम्भावना इति भावः । अथ  
एकेनैव शस्त्रेणात्मारक्षणकार्यस्य समाहितौ मयामपि देवात् दक्षिणमुग्रम्यन्तर्गतं  
कारणान्तरस्य समवधानेन प्रोक्तकार्यस्य सुकरत्वं दर्शयन्तः, समाधिनामा, लङ्कारः,  
“समाधिं सुकरं कार्यं देवाइस्त्वन्तरागमात्” इति लङ्गणात् । पद्यावलीं वृत्तम् ॥ २४ ॥

अथ हृगमनानुनतिदानावसरे तस्मिन् निरतिशयमनुगमनविर्दायकं मय्यर्पितं  
विपदि वा सदा लोकीयमानुकूल्यं शरण्यमानं सञ्चितं साहचर्यम् — अथ —

पाद्यकः ।—

चन्दनचन्द्रशीलाढ्यो दैवादयः सुहृन्मम ।

चन्दन भोः । स्मरिष्यामि, सिद्धादेशस्तथा यदि ॥ २६ ॥

चन्द ।—

अभयं तुह देउ हरो विण्णु वम्हा रवी अ चन्दो अ ।

हत्तण सत्त्वक्कं सुम्भ-णिसुम्भे जधा देवी ॥ २७ ॥

च भयं तव ददातु हरो विष्णुब्रह्मा रविय चन्दय ।

इत्वा शक्यपच गुम्भनिगुम्भौ यथा देवी ॥

उपस्थितत्वापारे, मया विज्ञता—कथिता, त्वम इति शेष, किं विज्ञाप्यते ? इत्याह, प्रत्युतिरिति ।—प्रत्युतिता—मञ्जातप्रत्यगा, विज्ञता सती इत्यर्थ, चन्दनमपि—चन्दन मानपि इत्यर्थ, स्मरति—श्रुतिविषयीभूत करोषि इत्यर्थ, मयि विश्वासे कृते न तव काव्यनिर्दिष्टा इत्याशय, एष,—एव विज्ञापक, अहमिति शेष, सुख,—त्वत्त कश्चिन्नाप्तुकाम मन् इत्यर्थ, न भणानि—न कथयामि, खेहस्य—प्रेम्ण, रसेन—अनुरागेण खेहवर्गिनेत्यर्थ, वृत्त,—कथयामि, त्वं वृत्तिर्भूत्वा मा किञ्चित् दाम्यमि इति लोभाकलतया मनः स्मरणं न याचे, त्वा प्रति निरतिशया प्रीतिरेव मामेव वक्तुं सुखरयति इति समुदितार्थः । गाथा क्वन्त ॥ २५ ॥

हस्तक पाद्यक चन्दनकवाक्यस्य प्रत्युत्तरमाह, चन्दन इति ।—चन्द्रस्य—शशिन इव निर्मलमित्यर्थ, यत् शूल—सत्त्वभाव, तेन पाद्यक,—गुह्य, चन्दन—मवा-लचन्द, देवात् —भावावर्गेन, मन—ने, मुह्यत—मिथ, ज्ञात इति शेष, भो,—ह चन्दन । इत्यर्थ, सिद्धादेश —सिद्धपुरुषस्य आज्ञा, यदि—चेत्, तथा—तादृश, राज्यप्राप्तिकल इत्यर्थ, भवेदिति ईष, यद्यहं सत्यं राजा भवामीति भाव, तदा चन्दन—मधुनमिति दावत्, स्मरिष्यामि—त्वत्कृतोपकारस्मरणं करिष्यामीत्यर्थ, भद्रकर्मविविधनहेतुकोपकारक राजामननविद्यायापि कदापि श्रुतिपद्मात् नापनेष्या-तीति हृदयम् । अब चन्द्रशीलाढ्य इति चन्द्रेण शूलस्य निर्मलत्वस्यावैषम्यमाश-यदणान् समानरता उदमा नामालङ्कारः । पद्याङ्कः हस्तम् ॥ २६ ॥

इदानीं रत्नसमये चन्दनक पाद्यकस्य शुभमाश्रयते, अभयमिति ।—देवी—रत्ना दम्भनेदम्भो ददा—रत्नाङ्गी देवाधिराज्यो धातुरी इव इत्यर्थ, हरो,—मिथ, देव,—नागदेव इत्या—रत्नदेवि, यदि—यद्य, चन्दन—मयी च, तव—भवत इत्युपदान—परिकुल, इत्वा—समूह विनाश, अभयम्—अभीतिप्रत्यावक

चेष्ट । [ प्रवहणेन निष्क्रान्त ] ।

चन्द । [ नेपथ्याभिमुखमवलीक्य ] अरे । शिक्रमन्तस्म मे  
पिअवअस्सो मब्बिलओ पिट्ठदो ज्जेव अणुलग्गो गदो । भोदु,  
पधाणदण्डधारओ वीरओ राअ-पच्चअ आगे विरोधिदो, ता  
जाव अह पि पुत्त-भादु पडिवुदो एद ज्जेव अणुगच्छामि । (३)

[ शत निष्क्रान्त ] ।

इति प्रवहणविषय्यी नाम पट्ठीऽङ्क ॥ ६ ॥

ॐ अरे । निष्क्रामतो मम प्रियवयस्य शर्विलक पृष्ठत एवानुलस्रो गत । भवतु,  
प्रधानदण्डधारको वीरको राजप्रत्ययकारको विरोधित, तत यावदहमपि पृथगत-  
परिवृत एतमेवानुगच्छामि ।

समाश्रमनमित्यर्थे, ददातु—प्रयच्छतु । देवी यथा ददाती शुभनिशमौ मिहल  
अभयदानेन देवान् रत्नयाम, तथा हरिहरादयोऽपि तव स्मिन् विनाश्य अभयदानेन  
त्वां रत्नानि इति समुदिताय । अत्र प्रसूताना हरादानामेकामभयदानक्रियाभिममत्स्यात्  
तुल्य गीगिताऽलङ्कारः, अपि चापमानभूतया देव्या सह हरादीनां देवानां रत्न-  
साम्यबोधाय उपमा इत्यनयारम्भादिभावेन सदृशः । आथा कन्द ॥ २७ ॥

( ३ ) निष्क्रामत,—निगच्छत । मम—वल्लभकस्यार्थः । प्रियवयस्य,—  
स्निग्धनिवम्, अहं नृकप्रणयोर्यथ । पृष्ठत एव—पृथादेव, अनुलग्न —ममक्त मन ।  
प्रधानदण्डधारक,—रनिश्रेष्ठ इत्यर्थः । एतमेव—आश्रयकमेव, अनुगच्छामि—  
अनुसरामि ।

इत्यश्वशाम्बाटवीमसुरणपञ्चानन पण्डितकुलपतिना वि, ए, उपाधिधारिणा

शोमञ्जोवानन्दविद्यासागरमहाचार्येण विरचिताया, तदामनाया

पण्डितश्रीनदागृहीधवि गामयण-पण्डितश्रीमद्रत्नवीधविगारवाया

प्रतिरुक्ताशममलाख्याया सृच्छकटिकं यच्छाया

पट्ठीऽङ्क ॥ ६ ॥

## सप्तमोऽङ्कः ।

[ ततः प्रविशति चारुदत्तौ विदूषकश्च ] ।

विदू० । भो ! पेक्ख पेक्ख, पुप्फकरण्डञ्च जिखुज्जाणस्स  
सस्सिरोअदा । ३ (क)

चारु० । वयम्य ! एवमेतत्, तथाहि,—

वणिज इव भान्ति तरवः, पण्णानीव स्थितानि कुसुमानि ।

शुक्लमिव साधयन्तो मधुकरपुरुषाः प्रविचरन्ति ॥ १ ॥

\* भो ! पण्ण पण्ण, पुष्पकरण्डक जीर्णोद्यानस्य सञ्चीकृताम् ।

( क ) सञ्चीकृता—सौन्दर्यं, रमणीयतामित्यर्थः, [ शिष्या सह वर्तमान यत्  
यत् इति बहुव्रीहौ समासालङ्कारप्रत्ययान्तात् भावे तल्लि रूपम् ] ।

सप्तमस्य पुरुषस्य समापनिताया दुर्गतावस्थायामपि सान्त्विकानन्दचये प्रागनु-  
भूतकायकलाया चेत्यदुल्लसन्तितरासु, लल्लासयन्ति च सान्त्विकौ हस्तिम्, अत एव  
शून्यशून्य साधनाहसधना चारुदत्त जीर्णोद्यानतरकुसुमादिषु सम्पदा वणिक्-  
पद्मादिसाधनं सन्दर्शयन्नाह, वणिज इति ।—तरवः,—हृत्वा, वणिज इव—सार्य-  
वाहा इव भान्ति—शीमन्ते, कुसुमानि—पुष्पाणि, पण्णानि—विक्रीयद्रव्याण्येव,  
स्थितानि—विराजितानि, तदा मधुकरा,—भमराः, पुरुषा,—राजनिशुक्ला  
शुक्लादिषु पुरुषविशेषा इव, [ अत्र मधुकरा पुरुषा इवेति विदुर्ह “सपन्नित  
व्याघ्रदिभिः सामान्याप्रयोगे” ( भा० ५६ पा० ) इत्युपनिषत्समासः ] शुक्ल—राज-  
राष्ट्रकरविशेषः (“शुक्लं घटादिदेहे स्याद् वरादयश्चेन्नियाम्” इति मेदिनी )  
साधयन् १६—आदरयन्ता इव, प्रविचरन्ति—इत्येतत् समन्ति । यथा हि येहिन्  
विपरीत विविधवस्त्रधारान् नन्दयन्ति, वरदादिषु पुरुषाश्च तस्य वरमादातु-  
मन्वन्तः विचरन्ति तद्वत् तत्र विवेधानि स्तुसुमानि विनाशय शीमन्ते, मधुकराश्च  
तस्य मकरन्दसंस्पर्शं सन्दृष्टुं सान्त्वन्त्यन्तः सन्दृष्टुन्ते इति तात्पर्यम् । [ एतेन  
एव मकरन्दं विक्रीयन्तः पण्यन्तः पण्यहागताः सन्दृष्टुं पदार्थान् चन्दनं पुष्पा-  
न् इत्येव सुन्दरपदार्थं लभन्ते ] । अतः तद्वत् वणिज इव, कुसुमानां पक्षे  
एव “सदृशस्य” इति क्वचिन्मन्त्रेण सान्त्वयन्तीति इत्युपनिषद्भावे, तदा विचरन्त्य



विद् । भो । इम असकाररमणीयं (ख) सिलाअलं उव-  
विसदु भवं । \*

चारु । [ उपविश्य ] वयस्य । चिरयति वर्द्धमानक ।

विद् । भणिदो मए वड्डमाणओ, वसन्तसेणिअ गेह्लिअ लह,  
लहुं आअच्छ त्ति । †

चारु । तत् किं चिरयति ?—

किं यात्यस्य पुरं शनैः प्रवहणम् ? तस्यान्तरं मार्गति ?

भग्नोऽप्ये परिवर्त्तनं प्रकुरुते ? क्षिन्नोऽथवा प्रग्रहः ?

वर्त्तान्तोऽङ्गीकृत-दारु-वारित-गतिर्मार्गान्तरं याचते ?

स्वैर प्रेरितगोयुगः किमथवा स्वच्छन्दमगच्छति ? ॥ २ ॥

\* भो । इदमसकाररमणीयं शिलातलम् उपविशतु भवान् ।

† भणितो मया वर्द्धमानक, वसन्तसेनां गृहीता लघु लघु आगच्छेति ।

प्रकृतस्य शुल्कसाधनरूपाप्रकृतस्वरूपेण तादात्म्याध्यामादुत्कटिकं कौटुकसंशयसमुदया-  
दुत्प्रेक्षाऽलङ्कार, सधुकरा पुरुषा इव इति समासे औपम्यवाचन इवाद औप-  
मसासंगता लुप्तोपमेत्येतयामलङ्काराणामन्योऽन्यसापेक्षतया संस्थित मङ्गल । आर्या-  
हकम् ॥ १ ॥

( ख ) असन्काररमणीयम्—असन्काररूपि—सन्काराभावरहितरूपि, रमणीय—  
मनोरमं, स्वभावमुन्दरमित्यर्थः ।

[ प्रविश्य गुताद्येकप्रवहणस्य चैव ] जाध, गोणा । जाध । ३

आद्येक । [ स्वगतम् ]—

नरपतिपुरुषाणां दर्शनाद्भीतभीतः

सनिगडचरणत्वात् सावशेषापसार' ।

अविदितमधिरुढो यामि साधोस्तु यानि

परभृत इव नोडे रक्षितो वायसाभिः ॥ ३ ॥

८ यात गावौ यातम् ।

याचते—यत्नयन्ते, वक्ष्यन्तापरपद्येन समानञ्चति इत्यर्थः, किम् ? अथवा स्वैरं—मत्तं नन्द, स्वेच्छाऽनुरूपमिति यावत्, प्रेरित—चालित, गीयुग—बलीवर्द्धय येन तादृशं मनः, स्वच्छन्द—स्वेच्छया, आगच्छति किम् ? [ “वत्मान्तोऽश्रित” इत्यव “कम्पान्तोऽश्रित” इति “कम्पान्तोऽश्रित” इति च पाठान्तरम् । “कम्पान्तं,—गजादोना निशेगविशेष” इति पञ्चीधरः ] । वस्तुतस्तेनाऽऽगमने समयातिपातसम्बन्धान्ध आम्बुदस्य चित्तौकुक्ष्यनत्यधिकमावेदयतीत्युक्तिः । अवोत्कण्ठाविकाशः, तद्वत्पदं यथा—“सर्वेन्द्रियसुखाभादो यवामौत्सुगमन्यते । तत्रापीच्छा मसद्वत्पामुत्कण्ठा कवयो विदुः ॥” इति । अत्र वस्तुतस्तेनापिगमनरूपेकविषयस्य प्रतिभोषितयामान्तरादरोधनादिरूपानेककारणजन्यतेनोद्भावमात् समानवन्तया च तेषामनेककोटिभूतैरनेकतरस्य मिर्तेतुमशक्यत्वात् मशयन्त्येव पथ्यवसानात् गृहसन्देशान्द्वारा शार्दूलविक्रीडितं हस्तम् ॥ ३ ॥

भीत आद्येक स्वपलायनमिदानीमपि अनिर्वापमिति विचिन्तयन्नाह, नरपतीति—नरपतिपुरुषाणां—राजपुरुषाणां,—रक्षितोऽश्रितः, कोकिलपथे,—नरपतिपुरुषाणां—शकुनिकानामिति ध्वनिः, दर्शनात्—इदं दृष्ट्वा, भीतभीतः,—भीतादपि भीतः इतिभीत इत्यर्थः, तथा सनिगडचरणत्वात्—महलवर्द्धैकपादत्वान्, पथे,—सनिगडचरण इव—महलनिपतितपद इव कुलागतं ददेच्छ पलायितुमक्षमं,

अहो । नगरात् सुदूरमपक्रान्तोऽस्मि, तत् किमस्मात् प्रवहणादवतीर्य वृत्तवाटिकागहनं प्रविशामि ? उताहो प्रवहणस्वामिनं पश्यामि ? अथवा कृतं वृत्तवाटिकागहनेन, अभ्युपपन्नवत्सलं खलु तत्रभवान् आर्य-चारुदत्तः (ग) श्रूयते, तत् प्रत्यक्षीकृत्य गच्छामि ।—

स तावदस्माद्वसनार्णवोत्थित

निरीक्ष्य साधु समुपैति निर्हतिम् ।

मन, ग्रामि—गच्छामि कौकिलशावको यथा परमृष्ट वायनीभ रक्षितं व्याधुमनात् विकम्पितमृष्टं निमृत्तमिच्छति, तथा अहमपि रक्षितमया सदाशङ्कितं चारुदत्तस्य शकटे वमन्तमेनाव्यपट्टेन आत्मानं गापायित्वा वत्समानकन रक्षितं निमृत्तमवस्थितो दामोति समुदिताथ । अत्र परमृष्टन साधुम आर्यकस्यावेधम आत्मीके उपमाऽलङ्कार, एवम् आत्मीयत्वमनात् वायस्य यथा परमृष्टशावकं स्वकुलायि सरक्षन्ति, तथा शकटवाहकस्य वमन्तमेनाव्यपट्टेन आश्रयकस्य सरवणे समुपपन्नमिति उपमायां सर्व्वेति पूर्णतया सादृश्यं समुपेयम् । मालिनीं वृत्तं, तदुक्तं,—“ननमयययुतेय मालिनी भोगिनीकै ” इति ॥ ३ ॥

( ग ) वृत्तवाटिकागहन—वृत्तवाटिकाया, —गृहमभीपस्थस्योपवनस्य, गहन—दुष्प्रेषण स्थान, विरलजनसञ्चारं वृत्तवाटिकाया प्रदशावगममित्यर्थः । उताहो—अथवा । प्रवहणस्वामिन—शकटाविपनिम् । कृतमिति ।—वृत्तवाटिकागहनेन—वृत्तवाटिकाया गहनप्रदेशे प्रवेशनेत्यर्थः । कृतम्—अनागत्यर्थः, (“दातुं गन्तुं मर्थेऽपि” इति मदिनी ) अतः वृत्तवाटिकागहनप्रवेशं न करोमीति भा । अभ्युपपन्नवत्सलं,—अभ्युपपन्नं—विपन्नं, शरणागतमित्यर्थः, वत्सलं,—समन्वितं स्नेहवानित्यर्थः । प्राक् किलायकेण यानमधिकृष्टं सुगमं तिष्ठतां पत्रि नगरं रक्षणेन वारकेण “कस्येदं प्रवहणं कुत्र वा नागने ?” इति पृष्टस्य ज्ञानवाक्येन शरणागतवत्सलस्य चारुदत्तस्यैवैतत् यानमिति विज्ञातम्, असौ जानाति दानं न इति लोकमुखादिनिगमाकणितं तेनैव शरणागतस्य अपराधगतमसौ आनयते प्रमादयित्वातीति निमित्तं, तदनुमतिं विनैव तदयानं आर्य-चारुदत्तः कृत्वा, तदेव स्थितिमात्रं वेदितव्यम् ।

शरीरसेतुतमीदृशी दशा

धृत मया तस्य महात्मनो गुणैः ॥ ४ ॥

वेद । इमं तं उज्जाण, जाव उवश्यामि । [ उपसृत्य ]

अब्ज सिन्धे । \*

विद्। भो' पित्र्य दे णिवेदेसि : बहूमाणाओ मन्तेदि, (घ)

आगदाए वसन्तसेणाए होदब्बं । ११

\* इह तदुद्यानं यावदुपलपामि । आर्यसैव्येय ।

+ प्रिय ते निवेदयामि वर्द्धनानको मन्त्रप्रति आगतया वसन्तमेनया भवितव्यम् ।

करणीय इत्याशयेनाह, स इति ।—तावत्—वाक्यालङ्कारे । स,—सर्व्वलीकप्रसिद्ध  
इत्यर्थ, साधु—विमलचरित, सञ्जनैकशरण इत्यर्थ, चारुदत्त इति शेष, अस्मात्  
—एवभूतात् उत्तरीकमशक्वादित्यर्थ, व्यसनाशवात्—रचिगणहस्तपतनरूपदुस्तर-  
विपत्कारात् इत्यर्थ, उल्लिखित—तटीप्रवहणरूपावलम्बनमादायैव रचितमित्यर्थ,  
मानिति शेष, [ अथ नापेक्षितेऽपि गमकत्वात् समास ] निरीक्ष्य—दृष्ट्वा, निवृत्ति—  
सुख मलोपमित्यर्थ, स्वचेतसि इति शेष समुपेति—प्राप्तातीत्यर्थ [ अथ भविष्यत्-  
नानीये लट् प्रयोग ], दृष्ट्वने हि परदुःखमसहिष्णो दयावत् चेतसि दुःखसागर-  
निमग्नस्य नरस्य समुद्ररणजनिता निरतिशया प्रीति, अत तत्प्रीत्यधनेव नया अवश्य-  
मेव अक्षौ दग्नीय इति तात्पर्यात् । यदि हि अहमेवभूतपरमोपकारकमदृष्टैव  
गच्छेय तदा अकृतज्ञत्वदोषप्रसर मादित्याह, शरीरेत्यादि ।—इदृशीन्—एवभूता  
कारावासादिना शीघ्रनीयानित्यर्थ, दशान्—अवस्था, गत—प्राप्तम्, एतत्—इदं हि  
मया प्रियमाणे शरीर—देह, महाकन,—उदानादयस्य तस्य—चारुदत्तस्येत्यर्थ,  
गुह्यं,—गरगातवाकल्यादिगुणैरित्यर्थ, हृत—रचितम् कलुषासादिव रचिकोपात्  
परत्वात् चारुदत्तस्य दशनं विना एतत् न शरीरधारणं विफलं स्यादित्यवश्यमेव  
केदासीति द्रष्टव्यं दृष्टैव च गतव्यमिति समुदितार्थः । अत व्यसनविमुक्तस्य आधिक्यस्य  
दशनेन चारुदत्तचित्तनिवृत्तिलाभप्रकाशस्य सम्यक्तया चारुदत्तगुरौ आश्रयशरीर-  
संस्पर्शकारणत्वादायानात् कारणेन कायस्य सम्यक्त्वदोषादालम्ब्यमात्रेण ।

६४५१०३७८९१०११

चारु । प्रिय नः प्रियम् ।

विद् । टासोए पुत्ता । किं चिरइदो सि १ \*

चेट । अज्ज मित्तेअ ! मा कुप्प, जाणत्यल्लके विण्णुमल्लिटे-  
त्ति कदुअ गदागदि कल्लेन्ते चिलइदेस्सि । † (ड)

चारु । वर्द्धमानक । परिवर्त्तय प्रवहणम् । मखे मैवेय ।  
अवतारय वसन्तसेनाम् ।

विद् । किं णिअडेण बड्ढा से गोडा, जेण मअ ण ओट-  
रेदि १ । [ उल्याय प्रवहणमुद्वाह्य ] भो । ए वसन्तसेणा, वसन्तसेणा  
क्खु एसो !! ‡ (च)

\* दास्या पुत्र । किं चिरायितोऽसि १

† आद्य मैवेय । मा कुप्य, यानास्तरण विष्णुतमिति कृत्वा, गतागतिं कुर्वन्  
चिरायितोऽस्मि ।

‡ किं निगडेन बडावस्था पादौ, येन स्वयं नावतरति १ भो । न वसन्त  
सेना, वसन्तसेन खलु एष ॥

( ड ) मा कुप्य—क्रोधं ना कुरु । इति कृत्वा—इति ह्येतो, यानास्तरणस्य  
विस्मरणादित्यर्थः । गतागति—गमनागमनम्, [ गतागतिमित्ययं गतश्च आगतिश्चेति  
विग्रहेण केचित् समाहारद्वन्द्वं समथयन्ते, तत्र विचारमर्हं, समाहारद्वन्द्वं क्रोध  
लिङ्गस्यैव अनुशिष्टतया प्रकृतम्यलस्य कथमपि समथयितुमशक्यत्वात् । अतः “गती  
क्षरा आगति, गतागति, ताम्” इति विग्रहेण मध्यपदलोपात् समथयनीयो ।  
प्रयोग इति सुधीभिर्विभाज्यम् ] । चिरायित, —विलम्बित, [ अथ “चिराय  
चिरावाय चिरस्यायाचिरार्थका ” इत्ययथर्वेण अमरीके, चिरायशब्दात् “तत्त्वगीति”  
इत्यर्थे किञ्चि “धातोरर्थान्तरे वृत्तेधात्वर्थेनापसङ्गहात् । प्रसिद्धेरेविवचात् अस्मिन्  
ऽस्मिन्का क्रिया ॥” इत्यनुशासनेन अस्य धात्वर्थोपसङ्गहोतकमकल्पेन अकल्पकतया  
कथमपि निष्ठाया चिरायित इति सिद्धम्, यदा,—चिराय सप्तातमर्हति वाक् निरय  
शब्दात् तारकादित्वादितच्प्रत्ययन निष्पन्नमिति वाच्यम् ] ।

चारु । वयस्य । अल परिहासिन, न कालमपेक्षते स्नेहः । (क)

अथवा 'स्वयमेवावतारयामि । [ इति उत्तिष्ठति ] ।

साध्यं । [ दृष्ट ] अये । अयमेव प्रवहणस्वामी ॥ न केवलं  
श्रुतिरमणीयः, दृष्टिरमणीयोऽपि । हन्त । रक्षितोऽस्मि । (ज)

चारु । [ प्रवृत्तमधिकृत्य दृष्टा च ] अये । तत्कोऽयम् ?—

कारिकर-समबाहु., सिद्धपीनीनतास,

पृथुतर-समवक्षास्ताम्रलोलायताक्षः ।

वसन्त,—सृजुविशेष, सुरभिकाल इत्ययं सेना—वल यस्येति स, द्वितीय काम-  
देव खलुशनित्यपि ध्वन्यते]।

(क) परिहासेन—उपहासेन, अल—निष्प्रयोजनम्, उपहास मा कुरु  
इत्यर्थः । तत्र हेतुमाह, नेति ।—द्वेष्ट, —अनुराग । काल—एषाकालक्षेपमित्यर्थः ।  
नापेक्षते—न सहते, प्रणय प्रणयिनीदशने कालविलम्ब न सहते इति समुदितार्थः ।  
शक्येन कश्चिदागमनवाच्यमाकर्ण्य समुत्क्रान्तिन चारुदत्तेन आर्यकागमनाज्ञानात्  
वमनसेना जागनेति निश्चित्य एवमुक्तमिति वेदितव्यम् ।

(ज) अत्रे इति हर्षमूषक विस्मयमूषक वा अव्ययम् । श्रुतिरमणीय, —  
 सुधा — गोकुलरम्यर प्रतिउगुणाकथनेन, रमणीय, — मनोरम, श्रुतिकुहरे सुप्रसुधा  
 सिधनेन लोकवित्तरजन इत्यथ । हृष्टिरमणीयोऽपि — हृष्ट्या — दर्शनेनापि, रम-  
 णीय, चित्तहारा इत्यथ “यथाकृतिस्त्व गुणा वसन्ति” इति न्यायात् अस्तु गुणा  
 वरुनेन सौम्यदर्शनत्वं प्राक् यदनुमितं, तदिदानीं प्रत्यक्षीकृतम् इति भावः । हन्त —  
 हर्षे, रमणीय — प्रवितातो भवामि, एवदिक्षमौम्यदर्शनं पुरुष कदाऽपि पालक  
 हर्षे मा म सम्पदयिष्यति इति भावः ।

[illegible]

कथमिदमसमान प्राप्त एवविधो यो

वहति निगडमेकपादलग्नं महात्मा ? ॥ ५ ॥

ततः को भवान् ?

आर्यकः । शरणागतो गोपालप्रकृतिरार्यकोऽस्मि । (भक्त)

चारु । किं घोषादानीयं योऽसौ राज्ञा पालकेन बद्धः ?

आर्यकः । अथ किम् ।

चारु ।—

विधिनैवोपनीतस्त्वच्चलुर्विषयमागतः ।

अपि प्राणानहं जह्या, न तु त्वा शरणागतम् ॥ ६ ॥

इत्यर्थः, भवति इति शेषः, स एवविधः,—करिकरेत्यादिमहापुरुषलक्षणाक्रान्त-  
संश्रित्यथ, कथं—केन हेतुना, असमानम्—असदृशम्, ईदृशवीरत्वव्यञ्जकाकृतेरननु-  
रूपमित्यर्थः, पादलग्न—चरणसंयुतम्, इदं—दृश्यमानमित्यर्थः, एकम्—एकमह्यम्,  
निगड—गृह्यन्, वहति ?—धारयतीत्यर्थः, अरीर्यमिदं निगडवत्त्वं कथं प्राप्त-  
वानेष ? इति भावः । [ अत्र “निगडयुग्मम्” इति पाठो न युक्तः, “एकचरण-  
लग्ननिगड” इत्यनेन, “पादावस्थितनिगडैकपाशकपी” इत्यनेन च पूर्वोक्तं विरोधात्  
“निगडमेक” “निगडपाशम्” इति वा पाठो युज्यते इति ध्येयम् ] । १७ ईदृश-  
महापुरुषलक्षणसम्पन्नस्य इत्येव विरुद्धपनिगडवत्त्वं सहट्टनादिषु भालद्वार । अपि  
सह असमास्यस्यैव सर्वत्र दृशनात्, सिद्धेन सह असमास्य लोके अप्रमिदं, तथा  
कटिमास्याभिधानस्यैव सार्वत्रिकत्वात्तोऽवोपनालद्वारागत प्रमिदिविरुद्धत्वं दोष-  
सङ्केतः । मालिनी वृत्तम् ॥ ५ ॥

आय्येक । [ हर्षं नाटयति ] ।

चारु । वर्द्धमानक । चरणात् निगडमपनय । (ज)

चेट । लं अज्जो आणवेदि । [ तथा कृत्वा ] अज्ज । अबणी-  
दाइ णिगलाइ । \*

आय्येक । स्नेहमयानि अन्यानि दृढतराणि (ट) दत्तानि ।

विद् । सङ्गच्छेहि णिअलाइ, एसो विमुक्को, सम्पदं अम्हे  
वच्चिस्सामो । † (ठ)

चारु । धिक् शान्तम् । (ड)

आय्येक । सखे चारुदत्त । अहमपि प्रणयेनेद प्रवहण-  
मारुढ तत् चन्तव्यम् । (ढ)

\* यदाय्ये आजापयति । आय्ये । अपनौतानि निगडानि ।

† सङ्गच्छ निगडानि, एष विमुक्तः, साम्प्रतं वयं व्रजिष्याम ।

(ज) अपनय—उन्नीय ।

(ट) स्नेहमयानि अन्यानि—अकृतिमपणयदपाणि अपराणि निगडानि ।  
दृढतराणि—अर्क्कयानि “वन्धनानि यदि सन्ति ब्रह्मि, प्रेमरञ्जुतवन्धनमन्यत्”  
इति प्राचीनोक्ते इति भावः ।

(ठ) सङ्गच्छ—धारय इत्यर्थः, यधुना त्वं स्वकीयचरणे ग्रहलसिद्धं वधान  
इति भावः । श्रुत्वा तु एतद्वृत्तान्तात् राजा पालकं नियतमेवास्मभ्यं कौपिष्यात्,  
तत्र आस्माकं ग्रहलसुवसनं समापातितप्राप्तमिति मन्ये इति तात्पर्यम् । [“समा-  
गम्यास्तुभ्याम्” ( ११३२६ पा० ) अकर्मकाभ्यामेवेत्युक्ते अत्र तदभावः ] एष,—  
आय्येक विमुक्तः,—ग्रहलवन्धनान्मुक्तिं प्राप्तः, यद्य—सर्वे इत्यर्थः, व्रजिष्याम,—गाम-  
धानं आकाशपाथ इति भावः ।

(ड) धिक् इति भक्तनाट्यैकमव्ययम्, (“धिङ्भिर्भक्तैर्नित्यं” इत्यमरः) ।  
शान्त—इष्टं गन्धः, सा प्रलप इत्यर्थः, शरणागतचरणवत्सर आस्माकं भाविनीं विपद-  
राजद्वयं भक्ष्यतां कापि दाया अत्र न जनयितव्या इत्याशयः ।

(ढ) प्रणयेन—विद्वान्नेन, अत्र साधुस्वामिकतया, आत्मीयत्वशान्तिनो इत्यर्थः,  
‘उदारचरितानां तु सन्तुष्टैः कुटुम्बकम्’ इत्युक्ता उदाराश्च भवन्त्यस्मै सन्तु मत्वा इति  
२६३ । तस्—तस्मै दन्तुस्मारीश्च नित्यं सन्तु—नमित्यर्थः, कीदृशमित्यर्थः ।



चारु । अलङ्कृतोऽस्मि स्वयङ्गाहप्रणयेन भवता । (ण)

आयक । अभ्यनुज्ञातो (त) भवता गन्तुमिच्छामि ।

चारु । गम्यताम् ।

आयक । भवतु अवतरामि । (य)

चारु । सखे । न अवतरितव्यम् । प्रत्यग्रापनीतमयमनस्य भवतोऽलङ्कृतसवारा गति । सुलभपुरुषमञ्चारेऽस्मिन् प्रदेगे प्रवहणं विश्वासमुत्पादयति, (द) तत्प्रवहणेनैव गम्यताम् ।

आयक । यथाह भवान् ।

चारु । जेमेण व्रज वान्धवान्,—

आयक । \* \* \* ननु मया लब्धो भवान् वान्धवः,

चारु । स्मर्त्तव्योऽस्मि कयान्तरेषु भवता,—

आयक । \* \* \* स्वात्मापि विस्मर्यते ।

( ण ) स्वयङ्गाहप्रणयेन—अप्रायितीपनीतिन भवत्कृतप्रेमणा । भवता—त्वया । अलङ्कृत,—भूषित, अनुगृहीत इत्यर्थः । अस्मि—भवामि ।

( त ) अभ्यनुज्ञात,—अनुमोदित, चेद्वान्नात्मापरीति भावः ।

( य ) अवतरामि—अवरोहामि, शकटादवत्य पादविहरणं न गच्छामास यावत् ।

चारु । त्वारक्षन्तु पथि प्रयान्तममरा,—

आद्यक । ॐ ॐ ॐ सरक्षितोऽह त्वया,

चारु । स्वैर्भाग्यै परिरक्षितोऽसि,—

आद्यक । ॐ ॐ ॐ ननु हे । तत्रापि हेतुर्भवान् ॥७॥

इदानीं गगनकाले आद्यं चारुदत्तौ परस्परमुक्तिप्रत्युक्तिभ्यां शिष्टसम्पत्तं शुभा-  
 इत्यनं यद्योचितं तदुत्तरञ्च विधत्तु, चेमेणेति ।—“चेमेण” इतः प्रथमं “तत्रापि  
 हेतुर्भवान्” इत्यनं यावत् चारुदत्ताय कयोः मुक्तिप्रत्युक्तिभ्यां विरचितम् एकमेव पद्य-  
 निरवगमनञ्च । त्वं चेमेण—कुशलेन कल्याणवान् सन् इत्यर्थः, [“इत्यभूतलक्षणे”  
 ( २।३।२१ पा० ) इति विग्रहणे “प्रह्लादादिभ्यः” ( वा० ) इति वा तृतीया ]  
 वात्सवान्—आकीशान् स्वन्नसमोपनिषद्, व्रज—गच्छ, स्वजनान् प्राप्नुहीति  
 यावत् । आद्यं च “वात्सवान्” इत्यनं चारुदत्तौ कवाक्यस्य उत्तरमाह, ननु इति ।—  
 ननु—मी ! नया—आद्यकेपि-यत्, भवान्—त्व, वात्सव,—पुङ्गव, लब्ध,—प्राप्त,  
 “राजहारे श्मशाने च यस्मिन्नस्ति स वात्सवः” इत्युक्ते, जगति नै त्वत्पदं यथायं तो  
 दन्तु कीदृशं नास्तीति त्वन्नामैव नै दन्तुल्लभं सनुपपन्न एवेति भावः, ननु यदह-  
 मपि वात्सवः, तदा इत्यादि, भवता—दया, कदाऽन्तरिक्षे—सामयिककथाप्रसङ्गेषु,  
 अस्मि—अहम् [ अत्र “दासे कृतागमि भवत्युचितं प्रमृष्टा पादप्रहार इति सुन्दरि ।  
 नास्ति दृष्टिः” इत्यादिप्रयोगदर्शनात् अस्मिन्मध्योऽहमित्यर्थे अत्रयम् ] अस्मिन्,—अग-  
 राय, वात्सवेषु अहमपि कदाचित् क्वचित् गमनीय इति भावः । चारुदत्तस्य  
 परिकरणीयत्वे हेतुप्रदं हेतुमाद्यं चारुदत्तस्य साम्यम् अमेदं वा प्रति-  
 पादयति ।—अपि—किम् ? स्वस्य—आत्मनः, आत्मा—देहः, विस्मयेति  
 —विस्मयेपि भवति, [ दि० छ०—कस्मिन् लट् “दुरोऽस्मिन्दीनादी” ( ७४२८  
 ८० ) इति स्वरदक्षिण ] न विस्मयते इत्यर्थः, स्वात्मवत् नित्यप्रवर्तमानस्य  
 तद्विस्मयः इति भावः । चारुदत्तं सुन्दरि आद्यकस्य पथि

चारु । यत्, उच्यते पालके महती रक्षा न वर्तते, तत्  
शौघमपक्रामतु भवान् । (ध)

आयक । एव, पुनर्दर्शनाय । [ इति निष्क्रान्त ] ।

देवादरूपमेवभवस्य रत्नकस्य चारुदत्तस्याधिक्यप्रतीतिं व्यतिरेकालङ्कारं व्यज्यत ।  
ननु “हरिश्चन्द्र, शिशो धाम, ब्रह्मणो भु, सखा रवे । शिशिरेण कृतं पद्मं न  
केन रचितं भवेत् ॥” इत्युक्ते, “भाग्यं फलति सर्व्वेव, न मनुष्यशक्तिः” इत्याह,  
स्मेरति ।—स्व, —आत्मोद्यै, भाग्ये, —भागधेयेरेव [ कत्तरि तृतीया ] परि—  
सञ्चत रविर्लोऽसि—वातोऽसि, नास्मांसि इति भावः । तत्र आयक उत्तरयति  
ननु इति ।—ननु इति—निश्चये, (‘प्रश्नावधारणानुज्ञाऽनुज्ञासन्तणे ननु’ इत्यमरः )  
हे इति—सम्बाधने, तत्रापि—तादृशभाग्योत्पादवपि, भवान्—त्वत्तव, हत, —  
कारणम्, कारणं विना काव्यस्यात्येतेरदृशनात् तत्कारणचित्ताद्या भवानेवाय अत्रान्तर  
कारणानां मूलोभूत कारणं भवतीति भावः । अत्र वसन्तसनाया आनन्दनसमृद्धयेन  
प्रवहणकथाऽग्नौ, अत्रान्तरकथारूपम् आयकागमनं सम्बद्धमिति हतोरपि साम्भर्य  
नाटकेतिवृत्तकभागरूपः । तल्लक्षणं यथा,—“अन्तरकाशमन्वस्य मन्त्रिकान्वये मातः”  
इति । स चात्र वर्णनीयस्य वसन्तसिनाप्रणयवत् चारुदत्तचरितार्त्तपक्षपक्षे कारणमुक्तं  
पुरुषान्वयदानरूपावात्तायान्वितस्य मुख्यफलमध्ययस्य गभमन्त्रिकोक्तिनात् रान  
पालकस्य काधजनितमथानिद्रितत्वाच्च विमग्ननामा साम्भर्यम् । तल्लक्षणमप्याह  
दणकार,—“यत्र मुख्यफलापात्र उद्भिन्ना गभतोऽधिकः । शापायां सान्तरायस्य  
स विमग्न इति स्मृतः ॥” इति । शार्दूलविक्रीडितं हतं, तल्लक्षणं यथा,— सन्ध्याय  
प्लुटि स सज्जौ मततगा शार्दूलविक्रीडितम्” इति ॥ ७ ॥

( ध ) उच्यते—उपक्रान्ते, उच्यते इत्यर्थः, त्वा धत्तमिति शेषः । पालक—  
तदाख्ये अस्माकं राजनि । महतो—समोचीना । रक्षा,—रक्षणं, तत्र सन्नाम्न पाल  
रक्षणमित्यर्थः । न वर्तते—न सम्भवति इत्यर्थः । पलायमानं त्वा पुनः कारणा  
निर्गदं कृतोद्देशेन पालकेन रत्ननिर्देशेन कृतं, अत्र सम्प्रति उपस्थितं राजनिर्देशेन  
अस्मान्मित्रं निषाधा रक्षा न सम्भाव्यते इति वायतात्पर्यम् [ यद्यपीति रक्षा  
वस्तुतः इति पाठे तु—रक्षा—नगररक्षा इत्यर्थः, राजा पालकः नगरपालक इत्यर्थः  
अत्र सावधानतया नगरसुरक्षणं समादिष्टवान्, अतः इदं नगरं नगरपालक  
हितं नगरन्यते, तत्र इतिपदमावृत्तिर्भवति पदमात्रसम्बन्धनसम्भारः । अत्र  
तेषामेव गमनान् प्र गेव भवान् स्ववसन्तं नृप्यानामपि हतुं इति मनुष्येन ।

चार।—

कृत्वैव मनुजपतेर्महद्वलीकं

स्थातु हि क्षणमपि न प्रशस्तमस्मिन् ।

मैत्रेय । क्षिप निगड पुराणकूपे,

पश्येयु चित्तिपतयो हि चारदृष्ट्या ॥ ८ ॥

[ वामाक्षिभ्यन्तन सूचयित्वा ] सखे मैत्रेय । वसन्तसेनादर्शनोत्-  
सुकोऽय जनः । पश्य,—

अपश्यतोऽय ता कान्ता वाम स्फुरति लोचनम् ।

अकारण परितस्त हृदय व्यथत मम ॥ ९ ॥

यानमुरक्षितमायैक विसृज्य चारुदत्त राजक्रीपात् आत्मान सरञ्चितु तदानीन्तन  
कर्त्तव्यमाह, कृत्वैति ।—इ मैत्रेय । एवम्—इत्थं, मनुजपते,—नराधिपस्य  
पालकम्, महत्—अत्यन्तमित्यर्थ, व्यलीकन्—अप्रियम्, आर्थिकपलायने साहाय्य-  
रूपमित्यर्थ ( “व्यलीकन्वप्रियेऽनृते” इत्यमर ) कृत्वा—विधाय, अस्मिन्—अत्र  
विपदमण्डले प्रदेगे इत्यर्थ, क्षणमपि—सुहृत्तमपि, कियत्कालमपीत्यर्थ, स्थातु—  
वर्त्तितुम्, अपेक्षितमित्यर्थ, न प्रशस्त—न युक्तम्, अतः पुराणकूपे—प्राचीनीद-  
पाने, वर्षमानदशाया कौरव्यवहार्ये उदपाने इत्यर्थ, निगड—आर्यकस्य पादाप-  
नोत् शृङ्खल क्षिप—पातय, हि—यत, चित्तिपतय,—राजान, चारदृष्ट्या—  
चारदृष्टयश्चरा [ चरतीति चर, चर एव चार, प्रज्ञादित्वात् अण्प्रत्यय, चार  
एव दृष्टिश्चरदृष्टि, तथा ] पश्येयु —अवलोकयेयु । स्व परमण्डलकार्यावलोकने  
चारा एव चक्षूषि नृन्दाणा,—“चारै पश्यन्ति राजान ” इति नौतिशास्त्रात्,  
मन्त्रस्य वाचा गुप्तचारसत्त्वात्, यदि कथित कदाचिदागत्य अस्माकनवस्थितस्थाने  
आगत्य चरणध्वनित निगडनलीकयेत्, तदा महत्पादापत्यते इति हृदयम् ।  
अतः मनुजपतेर्बलीकानुष्ठानादि निगडलेपणान्पादवदगतकार्येण सम्यक्तया चित्ति-  
पतिवारदृष्ट्या चरदर्शनमपचतुर्पादगतकारणव्योपन्यासात्, कारणेन कार्यमुभयत्र  
रदोऽप्यन्तर्भावोऽप्यन्तर्भावः । महपिरी हृत्तन ॥ ८ ॥

तदेहि, गच्छावः । [ परिक्रम्य ] कथमभिमुखमनाभ्युदयिक  
 श्रमणकदर्शनम् । ( न ) [ विचार्य ] प्रविशतु श्रमणेन पथा  
 वयमप्यनेनैव पथा गच्छामः । [ इति निष्क्रान्ता सर्वे ] ।

इति आर्यकापहरण नाम सप्तमोऽङ्कः ॥ ७ ॥

खीचन—नयन, स्फुरति—स्पन्दते, तथा अकारणपरिवन्तम्—अहेतुकमुद्दिष्ट, हृदय  
 —चित्तम्, व्यथते—पीडयति, सामिति शेष । अङ्गम्यन्तकने यथा मत्स्यपुराणे,—  
 “अङ्गदक्षिणभागे तु शस्त प्रस्फुरण भवेत् । अथाशस्त तथा वामे पृष्ठस्य हृदयस्य  
 च ॥” इति । अथ इदानीमपि प्रियाया वसन्तसेनाया विपत्त्यातस्यानिगथात् चारुदत्त  
 हृदयव्यथारूपकाव्यस्य अहेतुकस्यैवोदयात् विनाहतककार्यात्पत्तिरूपविभावनाऽन  
 डार ॥ ८ ॥

( न ) अनाभ्युदयिकम्—अशुभजनकम् । श्रमणकम्—गौडमश्यामिन , ( “श्रमणो  
 यतिभेदे ना निव्यजीविनि तु विपु” इति मेदिनी ) दर्शनम्—अपलोचन, सालाल्कार  
 इत्यर्थः । अथ श्रमणकरपाशकुनदर्शनं चारुदत्तवसन्तसेनयोर्भावितं अनिरूप्य  
 मूचकमिति वाड्य, तद्दर्शनस्य दुर्निमित्तमूचकतया शान्तप्राप्त्यादिति भावः ,  
 श्रमणकदर्शनस्याशुभमूचकत्वं यथा वाचस्पत्ये दुःशकुनशब्दे,—‘वस्यानम्यन्त्याप्यसर्पं  
 लवणाङ्गारेभ्यः क्रावित्त्वात्तत्रसौपचारिजटिलप्रवाट्त्वणयाभिता ” इति, तथा  
 अमङ्गलशब्दः,—कुम्भकार तैलकार व्याधः सपोषजीवनम् । कुचेनमतिरुनाङ्ग नय  
 काषायवासिनम् ॥ दर्शनममङ्गलम् ॥” इति च ।

इत्यवशमस्त्राट्सीमधरणपद्यानन पण्डितकुलपतिना वि, ण, उपार्धप्रधारणा  
 शोभञ्जीवानन्दविद्यामागरभट्टाचार्येण विरचिताया, तदा गजाननं  
 पण्डितशोभदायुगीवविद्याभूषण-पण्डितश्रीमन्त्रिभूषणविद्याभूषणा  
 प्रातःसुकृताशानमन्त्राग्याया मृच्छकटिकनाट्याय

सप्तमोऽङ्कः ॥ ७ ॥

## अष्टमोऽङ्कः ।

[ ततः प्रविशति चारुवीरहर्षो भिक्षुः ] ।

भिक्षु । अन्ना । कलेध धम्मशब्दं, \*

शब्दमध गिअपीट गिच्च जग्गेध भाण पडहेण ।

विषमा इन्द्रियचोला हलन्ति चिल-शब्दिट धम्म ॥ १ ॥

\* अन्ना । कुर्वत धर्मसङ्घम्,—

† सयच्छत निजोदरं नित्यं जागृतं ध्यानपटहेन ।

विषमा इन्द्रियचोरा हरन्ति चिरसञ्चितं धर्मम् ॥

धम्मं विना सूरस एव धर्मोपावनीपाय, इति वक्तुमाह, सयच्छतति ।—निजोदरं—निजम्—आत्मोद्यम्, उदर—जठरं, सयच्छत—सदाचर्यत मितशक्तिं भवत्येव, त्वेव जठरमागूरयितुं समर्थः सा विपत इति यावत्, जागरितानां हि किमपि वस्तु चोरोनापहर्तुं शक्नोति इति जागरणमुपदिशद्वाह, ध्यानेति ।—आनपटहन—स्वेष्ट विद्याप्रवाहपटङ्गशः, नित्यं—सर्वदा, जागृतं—विनिद्रा भवतः, परमतत्त्वचिन्तया निद्रामवनीयं सदा अवहितं भवत इत्यर्थः, सगतं समाधिः, स्वेष्टचिन्ता वा कुर्वत इति दधम् ( यदा पटहेन निद्राया व्याघातः समुपपादते, तथा ध्यानमेव मोहं निद्रायां चलाशो भवति, इति निद्राऽपगमकत्वसाम्येन एव ध्याने पटहत्वारोपः ) । निरुज्जरत्तं प्रयत्नप्रदं य इन्द्रियाणां धम्महरणपाटवं वर्णयद्वाह, विषमा इति ।—विषमा,—दुरन्ता, इन्द्रियचोरा,—इन्द्रियाणि—सङ्कुशोदीन्धे, चोरा,—चक्राः । एषान् सदमन्त्रेण हं भगवन् इत्युक्त्वा विषयासक्तपुरुषधर्मोपहारकत्वादिति भावः, चिरसञ्चितं—चिरं विनियमः, आनपटहनं बहुला हेतुना सुरक्षितमित्यर्थः, धम्म—धर्मः, हरन्ति—मुहयन्ति, इत इन्द्रियभिर्ये दत्तं कुर्वत इति भावः । अथ विषयचोरोपपत्तिमुक्तं ध्यानेन्द्रियोऽभेदेन उपमानोभूतं पटहचोरो

अविश्र । अणिच्चदाए पेक्खिअ गबलं दाव धम्माण शल-  
ण्हि, \* (क) —

पञ्चजण जेण मालिदा, इत्थिअ मात्तिअ गाम लक्खिदे ।

अवल अ चण्डाल मालिदो, अवश शे णल शमं गाहदि ॥ २॥

\* अपि च, अनित्यतया प्रेक्ष्य केवल तावद्दर्शनां शरणमस्मि,—

† पञ्चजना येन मारिता स्त्रिय मारयित्वा ग्रामी रचित ।

अथल्य चाण्डालो मारितोऽवश्यं स नर स्वर्गं गच्छति ॥

( क ) अनित्यतयेति ।—अनित्यतया—विनश्यतया । प्रेक्ष्य—दृष्ट्वा, प्रविच्छेद्य,  
कुमारमिति शेष । केवलम्—एकम् । धम्माणा—प्रज्ञापारमितादिनिर्दिष्टपुत्रोपा-  
सनाऽनुकूलदर्शनध्यानकीर्त्तनादीनामित्यर्थ, शरणम्—आश्रय, अस्मि—भवाभि,  
धर्ममेव शरण गतोऽस्मीत्यर्थ ।

वशीकृतेन्द्रियनिवृत्त्य धार्मिकस्य जितात्मन अवश्यमेव स्वर्गमाप्त्युपाय, पञ-  
चना इति ।—येन—जनेनेत्यर्थ, पञ्चजना,—पञ्चेन्द्रियाणि, [ पञ्चभिर्भूतेन मनो वृत्ति  
पञ्चजना, यद्यपि पञ्चभूतजन्यानि अन्यान्यपि वर्त्तन्ते, तथाऽप्येव पञ्चजनशब्देन प्रकरण  
वशान पञ्चेन्द्रियाणि लक्ष्यन्ते इति श्रौत्यम् ] मारिता—विनाशिता, अथवा  
विप्रेत्यां निवाय्य वशीकृता इति यावत्, स्त्रियम्—स्त्रियाभित्यर्थ, अशानमिति  
यावत्, मारयित्वा—विनाश्य, तत्त्वज्ञानेन तदभ्यनानि हित्वा इत्यर्थ, ग्राम,—  
आत्मा, इन्द्रियाणामाधारतया शरीरमिति केचित्, रचित,—निर्दिष्टात्, अथ  
रूपावस्था प्रापित इत्यर्थ, अविद्यायावरणपरिहारेण आत्मानं प्रगल्भा रचित  
वाचदायु निरत परमपुरुषो ध्यात इति निगूढार्थ, तथा अवल,—मुक्तं प्रसन्नं,  
वदिरिन्द्रियाणां वशाकरणात् अविद्यादिपाशनागाभेति भावः,

शिल मुण्डिदे, तुण्ड मुण्डिदे, चित्त ण मुण्डिदे, कौश मुण्डिदे ?  
जाह उणअ चित्त मुण्डिदे, शाहु शुद्ध, शिल ताह मुण्डिदे ॥३॥

गिहिद-कशाओदए एणे चौबले, जाव एद लट्टिअ शालकाह  
केलके उज्जाणे पविशिअ पोक्खलिणीए पक्खालिअ लहं लहुं  
अवक्कमिश्श । १ ( ख ) [ परिक्रम्य तथा करोति ] ।

[ नेपथ्ये ] चिट्ठ ले दृष्टशमणका । चिट्ठ । ॥

\* शिरी मुण्डित तुण्ड मुण्डित चित्त न मुण्डित कि मुण्डितम् १ ।

यथ पुनय चित्त मुण्डित साधु सुष्ठु शिरस्तस्य मुण्डितम् ॥

+ गृहीतकपाधोदकमेतच्चीवर, यावदेतत् राष्ट्रियशालकस्य उद्याने प्रविश्य पुष्क-  
रिणां प्रचाल्य लघु लघु अपक्वमिष्यामि ।

‡ तिष्ठ रे दृष्टन्नणक । तिष्ठ ।

अन्त गृहीरेव तात्त्विकी गृहि, न तु वहि गृहिरिति वर्णयन्नाह, शिर इति ।—  
यथ—जनस्य, शिर,—मनस्य, मुण्डितं,—केशगुण्य कृत, तथा तुण्ड—मुख, मुण्डित  
—रसशुण्य कृत, नापितेनेति शेष, [“शिल मुण्डिदे, तुण्ड मुण्डिदे” इत्यव शिल-  
मुण्डि । तुण्ड मुण्डिदे” इति कचित् पाठ, तत्र “हे शिरीमुण्डक । तुण्ड मुण्डितम्”  
इति संकृतम् ] किन्तु चित्तम्—अन्त करण, न मुण्डित—न परिकृत, न विधौत-  
कदप्य कृतमित्यर्थ, तस्य—जनस्य इत्यर्थ, कि मुण्डितम् ?—कि परिकृतम् ? न  
किमपि इत्यर्थ, यथ चित्त—अन्त करण, पुन—तु, साधु—सम्यक् यथा तथा,  
मुण्डित—विगतकिन्धि कृतमित्यर्थ, तस्य शिर,—मनस्य, सुष्ठु—शीघ्रं यथा  
तथा, मुण्डित—केशगुण्यकृत, परिकृतमित्यर्थ, अगृह्यचित्तस्य दृष्टिम् केशादिवपन  
व्यवमिति भाव । अगृह्यचित्त एव हि निर्हते भाजनं भवति, न तु अविशुद्धचित्तं  
मुण्डितमस्ति इति समुदिता । यतिना केशशुभ्रमुण्डनम् उक्तञ्च मनुना,—  
“सुपकेशशुभ्रमुण्डनं पादौ दण्डी कुशुभवान् । विषरेद्विप्रतो नित्य सर्वभूतान्य-  
पादयन् ।” इति । [“शिल मुण्डिदे” इत्यत्र ‘चित्त ण मुण्डिदे’ इत्यत्र च  
एकारस्य सन्तोऽनरोधानं लघु पठनोपमम् । वैतालौप इत्य ॥ ३ ॥

( ख ) गृहीरेति ।—कपाधोदक—रक्तपीतसिन्धुतवर्णरङ्गितमलिन, गृहीत—  
न त द्वाभ्यां तत कपादरागरक्तस्य । चीवर—निम्बवल्कलम्, कौपीनमित्यर्थ । एतत्  
—पादयन् । दण्डी—दण्डिका । दण्डिकस्य—राजगालक-सम्यक्कस्य । लघु लघु—  
शेफरीदम् । अपक्वमित्यन्ति—पक्व दिष्टे ।



भिद्य । [ दृष्टा सभयम् ] ही अविद हो माणहे । एणे शे  
लाअशाल शरणाणे आअटे ॥ एकेण भिक्वणा अबलाहे किटे,  
असं पि जहि जहि भिक्वुं पेक्खदि, तहि तहि गोण विअ  
णास विन्धिअ ओवाहेदि, ता कहिं अशलणे शलण गमिण्ण ?  
अध वा भट्टालके ज्जेव बुद्धे मे शलणे । ३ (ग)

[ प्रविश्य मुखेन विटेन सह शकार ] चिट्ठ, ले दृष्ट शमणका ।  
चिट्ठ । आवाणअ मज्झपविट्ठश्श विअ लत्तमूलअश्श शीशं दे  
मोडइश्श । ४ (घ) [ इति ताडयति ] ।

० भो आश्रय्यम् । एष स राजश्यालमस्थानक आगत ॥ एकेन भिक्षुणा अप  
राधे कृते, अन्यमपि यत् यत् भिक्षु पश्यति, तत् तत् गामिव नामिकां विहा अप  
वाहयति, तत् कुत्र अशरण शरण गमिष्यामि ? अथवा भट्टारक एव बुद्धी मे शरणम् ।

+ तिष्ठ रे दृष्टशमणक । तिष्ठ । आपानकमध्यप्रविष्टस्यैव रक्तमूलकस्य शीर्षे  
ते मोटयिष्यामि ।

( ग ) अपवाहयति—देशात् देशान्तर मयति, ताडयति वा । अशरण,—  
रक्षकविहीन, अनाथ इत्यर्थः । शरण—रक्षितारम्, आश्रयमिति भावः । गमि  
ष्यामि—आश्रयिष्यामि, प्राप्त्यामौत्यर्थः, “सर्वे गन्तव्यां जानाथा प्राप्त्याथ” इत्यन्त  
शासनात् । भट्टारक,—प्रभु, देवो वा, ( “भृत्यं भट्टेति आप्तमै” इति नाम्नाक,  
“राजा भट्टारकी देव” इत्यमरोक्तेयः ) । शरण—रक्षिता, ( “शरणं गच्छरक्षितो”  
इत्यमरः ) ।

( घ ) आपानकमध्यप्रविष्टस्य—आपानक—पानगोत्रो, मत्प्राप्तिसमाप्त इत्यर्थः,  
[ आपिबन्धनमिति वाक्य आपिबन्धनधिकरणे ल्यट् ] मध्यप्रावट्ठस्य—तस्य  
प्यितस्य इत्यर्थः । रक्तमूलकस्य इव—रक्तवर्णस्वनामस्यात् कन्टिकापस्य इव । ७ प—  
मज्झकम् । मोटयिष्यामि—भट्टयामि ।

षिट । काणेलीमातः । न युक्तं निर्वेदधृतकषाय भिक्षुं  
ताडयितु, तत्किमनेन ? इदं तावत् सुखोपगम्यमुद्यानं ( उ )  
पश्यतु भवान्,—

अशरण-शरण-प्रमोदभूतैर्वनतरुभिः क्रियमाण-चारुकर्म ।

हृदयमिव दुरात्मनामगुप्तं नवमिव राज्यमनिर्जितोपभोग्यम् ॥४॥

मूलकश्चमणकयोरुपमानोपमेयभावः शकारवचनत्वेन सोढव्यः । निर्गुणत्वासारत्वबोधकः  
रक्तमूलकोपस्यन्तु लोकाप्रसिद्धनेवेत्यप्यवधातव्यम् ।

( उ ) निर्वेदधृतकषाय—निर्वेदेन—वैराग्येण, धृतम्—अवलम्बितं, परिहितं—  
मित्यर्थं, कषाय—कषायेण रक्तं वस्त्रमिति यावत्, येन तम् । ताडयितुं—प्रहर्तुम् ।  
अनेन—भिक्षुणा इत्यर्थं, किं—किं प्रयोजनम् ? अस्य भिक्षुसोढनेन किमपि प्रयोजनं  
नाम्यस्माकमिति अस्य परित्याग एव युक्त इति भावः । सुखोपगम्य—सुखेन—अक्षेपेन,  
उपगम्यम्—उपभोग्यं, सुखसेव्यमित्यर्थः ।

उद्यानस्य सुखोपगम्यत्वं प्रतिपादयति, अशरणेति ।—अशरणानां—गृहस्थानां,  
शरणानि—आश्रया, गृहस्थानां हि तरुतलनाययन्तीति प्रसिद्धम्, तथा, प्रमोद-  
भूता,—आनन्दस्वरूपा, क्लान्तपथिकेभ्य आश्रयदानेन तेषां निरतिशयशान्तेरान-  
यनात् इति भावः, तथोक्तैः, वनतरुभिः,—आश्रयपादपैः, क्रियमाण—विधीयमानं,  
चारु—मनोहरं, कर्म—कार्यं, पुष्पफलादिदानात् अतिथ्यानुकूल्यरूपं दद्यादाना-  
द्यादितस्तर्पणं यत् तत्, कुवचिच्च, दुरात्मनाम्—असत्यचेतसां, पापाशयपूर्ण-  
हृदयानामित्यर्थः, हृदयमिव—चित्तमिव, अगुप्तम्—अप्रसिद्धं, यद्येच्छविहारयोग्य-  
मित्यर्थः, तथा, नव—नवाधिकृतं, राज्यमिव—साम्राज्यमिव, अनिर्जितम्—अशिष्टम्,  
शासनेन अनाप्रभोक्तमित्यर्थः, नवप्रतिष्ठापितराज्ये सम्यक्शासननियमस्याभावात्  
विशालतया इति भावः, अथ च, उपभोग्य—खेच्छया सम्भोगार्हम्, दृश्यते हि  
नवाधिकृतस्य राज्यस्य सुशासकनिधीनात् पूर्वं विशालतयाऽवस्थानमिति, तद्वत्  
इदमपि उद्यानं तादृशरसविरहं दुर्जनभुविष्ठतया च साधारणजनानामवब्रह्मोप-  
भोगदशतो बिल्हरासरोयकमपि स्वभावसरोयतया सुखेनैवास्माभिरुपभोक्तुं शक्य-  
मिति भावः । इह गृहलाभाववत्त्वेन नवराज्यसामर्थ्यात् राज्यकाधिकृतं राज्यं  
विशालं विशालं नावपतेति ध्वन्यते । अथ उद्यानस्य दुरात्महृदयेन नवराज्येन  
राजसर्वेष्टसामर्थ्यात् सुष्ठु वैव उपभोग्यलक्षारौ, परस्परनिरपेक्षतया कल्पिते-

भिच । शाअद ? प्रसीदतु उवाशके । \* ( च )

शकार । भावे । पेक्व पेक्व, आक्रोशति ( छ ) म । †

विट । किं ब्रवीति ?

शकार । उवाशके त्ति म भणादि । किं हग्गे णाविटे ? ‡ ( ज )

विट । बुद्धोपासक इति भवन्तं स्तीति ।

शकार । शुणु, श्रमणका । शुणु । § ( झ )

भिच । तुम धस्से तुमं पुस्से । ¶ ( ञ )

\* स्वागतम् ? प्रसीदतु उपासक ।

† भाव । ( विहन् । ) पय्य, पय्य, आक्रोशति माम् ।

‡ उपासक इति मां भणति, किमहं नापित \*

§ शृणु श्रमणक । शृणु ।

¶ त्वं धन्यं, त्वं पुण्यं ।

( च ) उपासक,—सेवक । प्रसीदतु—प्रसन्नो भवतु, कोप मां करोत इत्यर्थे ।

( छ ) आक्रोशति—निन्दति, कटुवाक्येन तिरस्करोतीत्यर्थः । एतन्नाम शय्याय ज्ञानाभावप्रदर्शनात् सदमूर्खताऽभिमानवत्त्वं प्रकटीकृतम् ।

( ज ) उपासक,—उपास्ते—सेवते इति श्रुत्वा, बुद्धोपासनाकारक इत्यत्र भिद्यतात्वयम् । स्वस्य नृत्वंत्वेन शकारस्तमयसनवगत्यैव उपासकमृच्छक नापिताय करोति, नापितो हि अहमसेवया मुन्तोष्य लोकेभ्योऽयमाहूयता इति व्यवहारः, एतेनात्र कविना शकारस्य मूर्खताविजृम्भणं प्रदर्शितं वेदितव्यम् ।

( झ ) ‘शृणु’ इत्यत्र ‘शृणु’ इति पाठान् समीचीनतया मन्यामः, तत्र ‘स्मृ’ इति मूलम् । सौतेराटाटिक्कमैव प्रयोगदर्शनात् मूलम् ‘स्मृ’ इत्यपमेव साधु, स्वादिगणोपने चाप्य ‘स्मृ’ इति मूलम् तत्र मूलम्, यत्र तत्र पाठः अस्य स्वादिगणोपने पाठोपादर्शनाद्वैतदृश्यमिति ध्यातव्यम् ।

शकार । भावे । धस्य पुस्ये त्ति सं भणादि । किं हम्गे  
शलावके, कोष्ठके कोम्भकले वा । ॥ (ट)

षिट । काणेलीमातः ! ननु धन्यस्त्व, पुण्यस्त्वमिति भवन्तं  
स्तीतिः।

शकार । भावे । ता कौश एषे इध आगटे ? †

भिद्यु । इदं चीवल पक्खालिदुं । ‡

\* भाव । ( विडन् । ) धन्य पुण्य इति ना भणति, किमह यावकः, कोष्ठकः,  
कुम्भकारी वा ?

† भाव । ( विडन् । ) तत् कघनेष इहागत ?

‡ इदं चीवर प्रचालयितुम् ।

( ट ) यावक इत्यादि ।—यथोक्ति पुराणादिकम् इति यावकः,—शास्त्रादि-  
ग्रन्थ इत्यर्थः, स हि शास्त्रोक्तौ ग्रन्थावन्, अतोऽसौ सर्वेभ्यो धन्यवाद लभते, अतः  
स धन्यः, तस्य च सदनशक्तिविरहात् सर्वेभ्यो शान्ततत्त्वमजानतः अन्ववहिन्नास एव  
दीपः, अहं किं तदा ? इति धन्यशब्दस्य भिद्युताप्यव्यंजनवबुद्धैश्च शकार उक्तद्वयेण  
यावकत्वे धन्यशब्दस्यार्थे प्रकल्प्य भिद्युवचसौ दीपनपंक्ति इति बोध्यम् । केचित्तु  
“शलावके” इत्यस्य “शलावक” इत्यनुवाद कृत्वा शलावकः,—चाव्दाकः, इत्यर्थं  
कुञ्चन्ति तस्य वैदिकरुद्धभाषित्वात् निन्द्यत्वञ्च दर्शयन्ति । कोष्ठः,—उदरमध्यः, तस्यैव  
पूरणं करोति यः, स कोष्ठकः, [ इति कारकाद्यैः कन् ] कोष्ठको हि ग्रन्थभवात्  
इति तस्य निन्द्यत्वम्, किमहं तदा ग्रन्थः ? इति शकाराभिप्रायः । यथा,—कोष्ठ  
एव इति कोष्ठकः—कुण्डलः, धान्याद्याधारः, तददतिमूलत्वेन निष्प्रतिभ इत्यर्थः,  
प्राकृतनायका पुराणिकस्य “ऽस्ते” इति शब्दस्य मूर्खशब्दार्थं “पूर्ण” इत्ययमवगम्य  
वाह्यरूपेण परमानन्दभावेन “किमहं कोष्ठकः” इत्युवाच । केचित्तु तु—यव शमाल

शकार । अले दुष्ट शमणक । एषे मह बहिणीवटिणा  
शब्बुज्जाणाण पबले पुप्फ-कलण्डुज्जाणे दिस्स, जहि दाव  
शण्हका शिआला पाणिअ पिअन्ति, हम्मे वि पवलपुलिगे  
मणुशके ण ह्माआमि । तहिं तुम पुक्खलणीए पुलाण-कुलुत्य-  
जूशशबलाइ दुशगन्धिआइं चीवलाइ पक्खालेशि ? ता तुम  
एकपहालिअ ( ठ ) कलेमि । \*

विट । काणेलीमातः । तथा तर्कयामि यथा अनेन अचिर-  
प्रव्रजितेन ( ड ) भवितव्यम् ।

शकार । कथ भावे जाणादि ? †

विट । किमत्र ज्ञेयम्, पश्य,—

अद्याप्यस्य तथैव केशविरहाद्वीरी ललाटच्छवि,  
कालस्याल्पतया च चीवरक्षतः स्कन्धे न जातः किणः ।

\* अरे दुष्टशमणक । एतस्मिन् भगिनीपतिना सर्वान्मानानां प्रवरं पृथ-  
करण्डोद्यानं दत्तं, यत्र तावत् शनका गगाला पानीयं पिबन्ति, अहमपि प्रवर-  
पुरुषो मनुष्यको न स्मामि, तत्र त्वं पुष्करिण्यां पराणकुलल्यशूषमवसानि दृश्यगन्धीन-  
चीवराणि प्रनालयामि ? तत् त्वामेकप्रहारिकं करोमि ।

† कथं भावः जानाति ?

( ठ ) कुलल्य,—कलायमेव इत्यर्थः, तस्य शूषण-—कायेन, शवलाण-—निनि-  
माणि, कुलल्यमक्षणात् इत्यन्तं पतितैरग्रे तदभवन्ति इत्यर्थः । दृश्यगन्धीन-  
दुर्गन्धीनः, घ्राणद्रूपकामौ रसगन्धीनीत्यर्थः । [ “पुलाणकुलल्यशूषमवसानि” इत्यतः  
“पुलाणकुलल्यशूषमवसानि” इति पाठान्तरे—पराणकुलल्यशूषमवसानि” इति  
ननुक्तम् ] । एकप्रहारिकम्—एकं प्रहारं प्राप्तुमर्हति यः तस्य, एकप्रहारिणः इति  
मित्यर्थः ।

( ड ) अचिरप्रव्रजितेन—अचिरम्—अल्पदिनं, प्रव्रजितः,—प्रव्रज्यायम्—  
संन्यासं गतः, तेन, अद्यापि,—प्रव्रजितः—प्रव्रज्या, अचिरं प्रव्रजितः प्रव्रजितः, [ “प्र-  
व्रजितः” इति भावे निहा ] ।

नाभ्यस्ता च कषायवस्त्ररचना दूर निगूढान्तरं  
वस्त्रान्तञ्च पटोच्छ्रयात्प्रशिथिल स्कन्धे न सन्तिष्ठते ॥ ५ ॥

भिन्नु । उवाशके । एवं अचिल-पव्वजिटे हग्गे । ३

शकार । ता कीश तुम जातमेत्तकज्जेव (ढ) ए पव्वजिटे ११  
[ इति ताडयति ] ।

भिन्नु । गामो बुद्धश । ३

\* उपासक । ण्वनचिरप्प्रजितोऽहम ।

+ तत् किमये त्वा जातमावक एव न प्रजित १

३ नमी बुडाय ।

“अथायन्य” इति पाठान्तरे,—आयन्य—मान्यस्य अस्य वसनकस्येत्यर्थः ] ललाट-  
च्छन्नि —भालकान्ति, केशविरहात्—अचिरकेशमुण्डनादित्यर्थः, तथैव—गार्हत्याव-  
स्याद्यामित्येव, गोरी—अरुणवर्णा, गुप्तीज्जला चेत्यर्थः, अचिरमुण्डने हि सक्तकस्य  
ललाटस्य च कान्तिः सनाता न भवति, कालस्य—अश्वासयहणसमयस्य, च अन्य  
तथा—अचिरतया अचिरप्रजितत्वेन इत्यर्थः, स्कन्धे—असुदंशे, चीवरकृत,—  
चोदरेण—सुततत्कम्पावसक्तेन भिन्नवस्त्रविशेषेण, कृत,—उत्पादित, किण,—  
कलदक्षिणविषय, गुक्त्रण वा, न जात,—न उत्पन्न, कषायवस्त्ररचना च—  
कषायप्रजितवसनव्यवहारश्च, वसनकषायीकरण वा, न अभ्यस्ता—न शीलिता, न  
अभ्यास गतित्वञ्च अचिरप्रजितत्वेन अनभ्यस्ततया केन रूपेण कषायवस्त्र व्यवहरति,  
कषादण वस्त्राणां रञ्जनं वा कथं करोति, इति न ज्ञानाति इति भावः, तथा दूरम्  
—दूरं निगूढम्—आच्छादितम्, अन्तर—शरीरमध्यदेशः, अचिरप्रजिता एव  
अस्मदा वस्त्रेण शरीरमतिदृढमाच्छादयन्ति इति भावः, तथा वस्त्रान्तञ्च—प्राशरण  
वसनोददेश पटोच्छ्रयात्—इत्यन्तर्द्व्यान्ति प्रशिथिल—द्व्यधत्त गतम्, अत एव, स्कन्धे—

विट । किमनेन ताडितेन तपस्विना ? (ण) मुच्यतां, गच्छतु ।

शकार । अले ! चिद् दाब, जाब शम्पधालेमि । \* ( त )

विट । केन माड्डम् ?

शकार । अत्तणी हडक्केण । †

विट । हन्त, न गत' ॥ ( थ )

शकार । पुत्तका हडका । भट्टके पुत्तके । एगे शम्पणके  
अवि णाम कि गच्छदु कि चिद्दु ? [ स्वगतम् ] णावि गच्छदु,  
णावि चिद्दु । भावे । शम्पधालिट मए हडक्केण शह, एगे  
मह हडक्के भणादि । ‡

विट । किं ब्रवीति ?

शकार । मावि गच्छदु, मावि चिद्दु, मावि ऊगशदु,  
मावि णीशशदु, इध ज्जेव भन्ति पडिअ मलेदु । §

\* अरे । तिष्ठ तावत्, यावत् सम्प्रधारयामि ।

† आत्मनो हृदयेन ।

‡ पुच्छक हृदय । भट्टारक पुच्छक । एष शम्पणक अपि नाम कि गच्छतु, किं  
तिष्ठतु ? नापि गच्छतु, नापि तिष्ठतु । भाव । ( विद्वन् ) सम्प्रधारितं मया हृदयेन  
सह, एतन्मम हृदय भणति ।

§ साऽपि गच्छतु, साऽपि तिष्ठतु, साऽपि उच्छमिषु, साऽपि निशमिषु, इति  
भट्टिति पतित्वा स्त्रियताम् ।

( ण ) तपस्विना—वराकेण, निरपराधेन इत्यर्थः । ताडितेन—प्रहृतम् । किम्  
—अलं, तपस्विनमेव सा ताडय इत्यर्थः ।

( त ) सम्प्रधारयामि—प्रवधारयामि, विवेचयामासीत्यर्थः ।

भिद्य । नमो बुद्धाय, शरणागतोऽस्मि । \*

विट । गच्छतु ।

अकार । न ग्रमण । † ( द )

विट । कीदृशः समयः ?

अकार । तथा कद्दम फेलदु, जधा पाणिअ पड्ढाविलं न  
होदि : अधवा. पाणिअ पुञ्जीकदुअ (ध) कद्दमे फेलदु । ‡

विट । अहो ! मूर्खता ॥—

विपर्यस्त-मनश्चेष्टै शिलाशकल-वर्षाभिः ।

मासहृत्क्षैरिय मूर्खैर्भारान्क्रान्ता वसुन्धरा ॥ ६ ॥

\* नमो बुद्धाय, शरणागतोऽस्मि ।

† ननु समयेन ।

‡ तथा कद्दम क्षिपतु, यथा पानीय पड्ढाविल न भवति, अथवा, पानीय-  
पुञ्जीकृत्य कद्दम क्षिपतु ।

( द ) समयेन—नियमेन, शपथ कृत्वा इत्यर्थः ।

( ध ) पड्ढाविल—पडेन—कद्दमेन, आविल—कलुष, कद्दमाक्तमित्यर्थः ।  
पुञ्जीकृत्य—राशीकृत्य, पिण्डीकृत्य इत्यर्थः ।

कद्दमनिवेपिण्यपि सलिलस्य अनाविलवसाधनरूपं तथा पानीयपुञ्जीकरणरूपं  
अकारस्य युक्तिविरुद्धं निश्चयं मूर्खाणां पृथिव्या भारभृतत्वमाह विट, विपर्यस्येति ।  
—विपर्यस्या—विपरीता, लोकाविरुद्धेत्यर्थः, मनसः,—चेतसः, चेष्टा—व्यापारं येषां  
तैः अशुचिजननादतिविशिष्टैरित्यर्थः, शिलाशकलानि—प्रमत्तखण्डानि एव, वर्षाणि  
—शरीराणि येषां तैः, ( “शरीरं वत्सं विदह” इत्यमरः ) अतिनिर्दयतया पाषाणवत्  
कोमलनाले परिवहितेति भावः तथा मासहृत् —मासस्य मासनिमित्ता वा हृत्ता,  
—हरत्, तैः, मासमपि पादपैः, अतिस्थूलपिण्डितात्मकतया विविक्लिशशून्यैरित्यर्थः,



भिद्यु । [ नाय्येन आक्रोशति ( न ) ] ।

शकार । किं भणादि १ †

विट । स्तौति भवन्तम् ।

भिद्यु । [ तथा कृत्वा ( प ) निष्क्रान्त ] ।

शकार । शृणु शृणु, पुणो वि शृणु । ‡

विट । काणेलीमातः ! पश्योद्यानस्य शोभाम्,—

असौ हि वृक्षा. फलपुष्पशोभिताः,

कठोर-निस्पन्द लतोपवेष्टिताः ।

नृपाज्ञया रत्तिजनेन पालिता

नरा. सदारा इव यान्ति निर्वृतिम् ॥ ७ ॥

शकार । शृणु भावे भणादि । ‡—

० किं भणति १

† शृणु शृणु, पुनरपि शृणु ।

‡ शृणु भावे भणति ।

( न ) आक्रोशति—शपति ।

( प ) तथा कृत्वा—अभिगम्य इत्यर्थः ।

शकारस्य भिद्युन्मृच्छ चित्तमन्यत शृङ्गाररसोद्दीपके दम्पति निवेद्यित वाक्यो विट  
उद्यानशोभा विवर्णयति, असौ इति ।—फलपुष्पशोभिताः,—शृणु शृणु भणति,  
[ ० न तेनामुल्लङ्घ्योवनदक्षया उपभोगक्षमल मृचये ] तथा कठोर,—दृढ यथा  
तथा, निस्पन्दाभिः,—निस्पन्दाभिः, आनिद्रोत्कण्ठिततया शिराभिर्विच्य, लताभिः,  
—व्रततिभिः, उपवेष्टिताः,—आश्रिताः, निद्रयसान्निद्रता इत्यर्थः, नृपाज्ञया—  
राजानुनत्या, रत्तिजनेन—उद्यानरक्षकैरित्यर्थः, [ अत्र ज्ञातारिकाननम ] पालिता,  
—राक्षता, दुर्जनादिकृतोपद्रवादिति शेषः, असौ—० न, परत दृश्यमाना इत्यर्थः,  
इत्यादि,—तरवः, सदाराः,—सस्त्रीकाः, नरा इव—गदित्यर्थः मानवा इव, निर्वृतिम्—  
परमसुखं, दान्ति—सुमन्ते,

बहुकुशुम-विचित्रिता अ भूमि,  
कुशुम भलेण विणामिता अ रुक्मा ।  
द्रुम शिखल-लता अ लम्बमाणा,  
पणसफला विअ बाणला ललन्ति ॥ ८ ॥

८ बहुकुशुमविचित्रिता च भूमि, कुशुमभरेण विनामिताश्च वृक्षा ।  
द्रुमशिखरलताश्च लम्बमाना, पणसफलानौव वानरा ललन्ति ॥

विटोक्तममुमीदृशं शकारोऽपि स्वबुद्धानुरूपमुद्यानशीमा वर्णयन्नाह, बह्विति ।—  
भूमि,—उद्यानमध्यगतं मृगदेशं, बहुभिः,—नानाप्रकारैः, मानावर्णैर्वा, कुसुमैः,—  
पुष्पैः, वि—विशेषेण, चित्रिता—भूषिता, चित्रफलकीकृता इवेत्यर्थः, [ चित्रयते  
चीरादिकात् निष्ठा ] कुसुमाना—पुष्पाणां, भरेण—आधिक्येन, विकसितकुसुम-  
सम्भारयोगादित्यर्थः, वृक्षा,—द्रुमाः, विनामिता,—अवनतललङ्घितकीकृता सक्त,  
शीमन्ते इति शेषः, तथा, द्रुमशिखरलता,—द्रुमाणां—वृक्षाणां, शिखरं—अग्रभागे,  
रुसक्ता या लता,—प्रतानिन्यः, वृक्षाणामुपरि आरुढलताप्रताना इत्यर्थः, ताः,  
लम्बमाना,—अधःप्रसरणशीलाः, सन्तीति शेषः, [ “द्रुमशिखरलताऽवलम्बमाना”  
इत्यपि, “द्रुमशिखल” इत्यादिप्राकृतस्य संस्कृतसाधुतया रोचतेऽस्मभ्यः, द्रुमशिखर-  
लतासु—वृक्षायसलग्रवह्नीषु, अवलम्बमाना,—दोलायमाना इति तदर्थः, वानरा  
इत्यस्य विशेषणमेतत् । अथ यद्यपि “शिखरोऽयं शिखरं वा ना” इत्यमरीक्ते शिखर-  
शब्दस्यैव वृक्षाग्रसौधकता, एवमाधिकस्य द्रुमपदस्योपादानादधिकपदत्वदोषावसर-  
इति शङ्कते, तथाऽपि अत्र “कृटीऽस्ती शिखरं यद्द्रुम्” इत्यमरीक्ते, पञ्चताग्रभागा-  
सौधधमनिरासाद्यमेव शब्दसौधसौकर्याय “द्रुम” इति सिद्धपदोपादानं कृतमिति  
वेदितव्यम्, तथा चोक्तं,—“सन्निध्यत सिद्धपदस्य वृद्धा” इति मुक्तावल्याम् ] पणस-  
फलानौव—कण्टकिकफलाख्यफलविशेषा इव, वानरा,—कपयः, ललन्ति—शीमन्ते,  
दर्शने इत्यर्थः, अत इति शेषः । [ ललन्तीत्यपपाठः, ललयन्ति लातयन्तीति वा साधुः,  
“ललन्ति” इत्यत्र लीलन्ति इति वा संस्कृतं, तथापि लीलने भौवादिकस्येतत् रूपम् ।  
अथ नमते एवमिदं स्वतन्त्रं वैकल्पिकविधानात् “नमयति” “नामयति” च रूपद्वयस्य  
‘एतत्सोऽपि उपसर्गपुञ्जकत्वे स्वतन्त्रं नित्यविधानात् विपुञ्जकात् नमयति निष्ठायां  
“ललन्ति” इति उपसर्गसाधुतया बाधितं स्तुतस्कारत्वं न विचार्यते, तथा  
‘१,—“ललन्ति” इत्यत्र ललन्ति’ (१०) इति सूत्रस्य ह्यतो “बहुपदस्ये तु

विटे । काणेलीमात । इदं शिलातलमध्याम्यताम् । (फ)

गकार । एषेष्मि आशिदे । ( व ) [ इति विटेन सृच्छ उपविशति ]

भावे । अज्ज वि तं वशन्तशेणिअ शुमन्नामि ; दुज्जणवअणं विअ  
हडक्कादो ण आशलदि । \* ( भ )

\* एषाऽस्मि आसित । भाव । अद्यापि तां वसन्तसेनां आरामि, दुर्जनवचनमिव  
हृदयापमरति ।

निर्य मित्वम्” इति नियम्य स्वयमेव पुनः सशयमुद्गाध्य च मिश्रान्तितं भट्टोजिदीक्षितम्,  
तथा हि,—“कथं तच्छि प्रज्वालयति, उन्नामयतीति ? घञन्तात् सत्करोतीति षौ”  
इति, एवमद्यापि “विनामा कृता इति विनामिता” इति सत्करोतीत्यथ णन्तात्  
कर्मणि कप्रत्ययेनास्य साधनसम्भवादिति सुधीर्भावभाव्यम् ] । अतः कुसुमभरावमत  
त्रयं परिक्रीडमानानां वानराणां पनसफलत्वेन उत्कटैककोटिकसशयोदयात् उत्पन्ना-  
ऽलङ्कारः । पुष्पिताया वसम् ॥ ८ ॥

( फ ) शिलातलमिति “अशिशोड्प्यासां कर्म” ( १।४।४६ पा० ) इति अपि  
करणस्य कर्मताऽतिदेशः ।

( व ) आसित इति “गन्थथाकर्मकशिशिशोड्प्यास—” ( १।४।७० पा० )  
इति आसि कर्त्तरि निष्ठा ।

( भ ) [ “आशन्दि” इत्यत्र “आदन्दि” इति पाठान्तरे—“अवसरति” इति  
सम्भवनस्य अपगच्छति इत्यर्थः ] दुर्जनवचनमिव—असम्भवनवाक्यगतः । हृदयात्-  
चेतसः । नापमरति—नापगच्छति, वसन्तसेनेति शेषः, यथा दुर्जनवचनमतिपरक्य  
तया अकृतुदत्तेन असहनीयत्वादीहमानेनापि प्राकृतजनेन आ-प्रतिकारात् विधूयता  
चेतसा नापनायते, तथा इयमपि वसन्तसेना बलात् सम हृदयराज्यनिर्वाहना  
मुदेजउत्ती मयाऽतिप्रयत्नेनाप्यपमारयित न शक्नोति इति पर्यायमाशयः । नो-  
यज्जानात् यस्माज्जमदतथ, स हि तदनुदपम् कर्ममपकथयति । अतः अपमरति न  
इति दृश्यते अतः निरुदचरित्वेन शकारेण उपसर्गभूताया उक्त्याया अपि वसन्त  
ननाया अत्युदत्तस्य दुर्जनवचसः उपमानत्वेन उपनाम इति उपमानवचन

विट । [ स्मृतम् ] तथा निरस्तोऽपि ( स ) स्मरति ताम् ।  
अथवा,—स्त्रीभिर्विमानिताना कापुरुषाणां विवर्धते मदनः ।

सत्पुरुषस्य स एव तु भवति मृदुर्नैव वा भवति ॥ ६ ॥

इकार । भावे ! का वि वेला यावलअ चेडश्श भणिदश्श  
“पवहण गेहिअ लहुं लहुं आअच्छे” त्ति, अज्ज वि ण आअ-  
च्छदि त्ति, चिलमिह बुभुक्खिटे, मज्झहे ण शक्कीअदि पादेहिं  
गन्तु. ( य ) ता पेक्ख पेक्ख, —

० भाव । कापि वेला म्यावरक्खेदस्य भणितस्य “पवहण गेहीत्वा लघु लघु  
पागच्छ” इति, अद्यापि न पागच्छतीति, विरमस्मि बुभुक्षित, मध्याह्ने न शक्यते  
पादाभ्यां गन्तुम्, ततः परं परं —

स्तेषु प्रकारवृत्तेन सहनीयम् । अथ जनप्रसिद्धीकृतार्थस्य प्रमाणभूततया उपन्यस्यते  
वडोयानामाभाण्ण, यथा हि,—“नीच यदि उच्च भाषे, सुवृत्ति उचय हासे” इति ।

( स ) तथा—नेन प्रकारेण । निरस्त,—दूरीकृत, अवज्ञया परित्यक्त इत्यर्थः ।

स्त्रीभिर्विमानितयोः सत्पुरुषकापुरुषयोः मेटप्रदर्शनमुखेन प्रकारस्य कापुरुषता  
प्रतिपादयन्नाह स्त्रीभिरिति ।—स्त्रीभिः,—मागैभिः, विमानितानाम्—अनादृतानां,  
निरस्तानामित्यर्थः, कापुरुषाणां—कपुरुषाणां, निर्वीर्याणामित्यर्थः, [ “कापुरु-  
षाणां” इत्यत्र “कुशतिपादय” ( २।३।१८ पा० ) इति पुरुषशब्देन कुशब्दस्य नित्य-  
कनासे “विभाषा पुरुषे” ( ६।३।१०६ पा० ) इति पाठिक काऽऽदेशः ] मदनः,—  
काम, विषयने—व्यापेण हृदि गच्छति त्व—किन्तु, सत्पुरुषस्य—उत्तमपुरुषस्य,  
इदं वक्तव्य इत्यर्थः, स्त्रीभिर्विमानितस्येति वचनविपरिणत्या पूर्वेण अन्वयः, न एव—  
मदन एवेत्यर्थः, मृदु—स्वल्प, दुर्जने इत्यर्थः, भवति—जायते, वा—अथवा,  
नैव भवति—नैव जायते स्त्रीकृततिरस्कारेण महामत्तस्यातिमहोरस्य चात्मसम्मान-  
शामर्प्येन त्रेकजनितविरहदुःखादिति भावः । आत्मां हन्तुम् ॥ ६ ॥

णहो-मज्झ गटे शूले दुप्पेक्खे कुविट् वाणल-शलिच्छे ।

भूमौ दद शन्तत्ता, हटपुत्तशदे व्व गन्धाली ॥ १० ॥

विट । एवमेतत्,—

कायासु प्रतिमुक्त-शय्यकवल निद्रायते गोकुल,

तृणार्त्तैश्च निपीयते वनमृगैरूष्णं पयः सारसम् ।

\* नभोमध्यगत मूरी दुष्प्रेक्ष्य कुपितवानरमदृश ।

भूमिदृढसन्तप्ता हतपञ्चशतैव गाभारी ॥

सितोऽपि मध्याङ्गमूयकिरणमन्तपायां भूमौ पादाभ्यां गृह्य गत्वा क्षुधामपनेत न शक्नोमीति भावः ।

पादचारणेन गमनायोग्यत्वं ज्ञापयितुं मयाङ्गं विवर्णयति, नभ इति ।—कुपितवानरेण—क्रुद्धकपिना, सङ्गल,—समान, ( “वाच्यलिङ्गा समस्तस्य सदृश सदृश सदृक् । साधारण समानश्च—” इत्यमरः ) दुष्प्रेक्ष्य,—दृढगण, मुर,—मूर्ध्नि, ( “मुरमुष्णार्थमादित्यदादगात्तद्विकाराः ” इत्यमरः ) नभोमध्यगत,—गगनमध्यमारुढ तथा भूमि,—पृथिवी, हत—मृत, पञ्चाणां—सुतानां, शत—शतसङ्कायं पुत्रा इत्यर्थः यस्यां तादृशी, गाभारीव—धृतराष्ट्रपत्नीव, दृष्टोर्धनादिशतपञ्चमननीतितायावत्, दृढम्—पक्वम्, सन्तप्ता—उष्णा, पीडिता इत्यर्थः । कुपितानां हि कपोनां सुखमण्डलं कथञ्चिदरुणम् भवति, शीकाक्षानां हि चेतः विधीर्गनिपीडिततया सन्तप्तं दृश्यते, ताभ्यां सान्ने मृगस्य भूमेश्च सन्तप्तायां साम्यकथनान्न न दाय, प्रत्यत गुण एव, कुपितवानरपदस्य साम्यत्वेन शकारस्य वक्तुं प्रधानप्रत्यायकत्वान्न, तथा हि दृष्टकार,—“साम्यत्वमधर्मातिशय” “गुण इत्यव” इति च तद्व्याख्या स्यात् न वक्तृणां वीरुणाद्यावन्तव प्रतिपादयितव्ये, तद्य तत्कत्वार्थेन वा वनसा मृगोभनत्वमव वेदितव्यम् । आद्या वचन ॥ १० ॥

सन्तापादतिशङ्खितैर्न नगरीमार्गो नरैः सेव्यते,  
तप्तां भूमिमपास्य च प्रवहण मन्थे क्वचित् संस्थितम् ॥ ११ ॥

शकार । भावे !—

शिल्लशि मम णिल्लीणे भाव ! शुल्लश पाटे,  
शउणि खुग-विहङ्गा लुक्खशाहाशु लीणा ।

शिरसि मन निलीनो भाव । सुख्यस्य पाद ,  
शङ्कनिखुरविहङ्गा हृत्तशाखासु लीना ।

वचन, तद्यापि धर्मिपरत्वेन अनिद्रावत् मिद्रावद्भवतीत्यर्थे शब्दशक्तिबलादेव प्रयुक्त, तदा हि सुषुप्तौषि टीकायां दुर्गादास,—"अथ वे निद्रादय, ते यद्यपि धर्मवचना, तद्यापि शब्दशक्तिस्वभावात् धर्मवचना एव, तेन निद्रायते जन, अनिद्रावान् मिद्रावान् भवतीत्यर्थे "] ताव सूर्योत्तापेन अत्यर्थे प्रपीडिता सन्त सुखधर्माभि रदांशुदीपमानदृष्टौ तद्वत्त्वमाकिरन्त वृक्षच्छाये निपत्या निद्रां यातीति भाव ; दमहरौ,—उद्यानोदहरिणौ, आरख्यनगभिर्वा, वृषाक्षौ,—पिपासाऽऽकुलौ सहि, ७८—नमन् आतपनगीगादिति भाव, नमन् इदं नारस—सरोवरीय, पय,— वृक्ष, निपीयते—नि शिषेद पीयते, पिपासाक्षां मृगा शीतलज्जलाभावात् उष्णमपि पयं सादृशं पिबन्तीत्यर्थे तदा नरौ,—जगै, सन्तापात—श्रीणात्, अतिशङ्कितै, —अतिभीतौ सहि, नगरौमार्ग,—नगर्यां,—उल्लसित्या इत्यर्थे, मार्ग,—पन्था, न सञ्चते—पाद्रीयते, पदा न गच्छते इत्यर्थे, अवशङ्कत्वं यत्पि परित्यज्य गृहमेव न शिरः तिष्ठन्ति नागरिका इति भाव, अत नन्दे—सम्भावशानीत्यर्थे, यथा प्रवृत्तं —गच्छ, तनास—उद्या, नलि—धराभागम्, अयास—त्यक्ता क्वचित—छायाप्रधाने प्रदेशे इति भाव, नखितम्—प्रवसितम् । अत चतुर्नादगतस्य किञ्चिद्देशं यान- वन्ति तदपरादेन सनयस्त्वेन पादद्वन्द्वतानां कारणानामुपलब्धतात् कारणै काव्य- मतपरलोचनवत्यामात्रादयः, अपि च उक्तस्य किञ्चिद्देशासम्मितत्वेऽपि, सर्वे इति सर्वत्र वाक्यपदप्रयोगेन सन्निहितत्वे विपरीतत्वेऽपि उक्तस्योदयान् विद्यान्तोऽय- र्गोदय उदयवद्वन्द्वीयद्वन्द्वीय इति महार, तौ च निकुलादीनां स्वस्वप्रियाणां यत् यदनुपपन्नं दुर्दीप्तं नैव स्वस्ववैभवात्पुनरेव नरोदयेत् । मार्दूलविक्री यत्

गल पुलिश मणुशा उल्लटाहं शशन्ता

घल गलण निशखा आटव निव्वहन्ति ॥ १२ ॥

भावे । अज्ज वि शे चेडे गाअच्छदि । अत्तणो विणीटण-  
णिमित्त कि पि गाडइण । [ इति गायति ] । भावे । भावे । श्रु-  
तुए जं मए गाडदम् १ †

विट । किमुच्यते !! गन्धर्वो ( २ ) भवान् ।

शकार । कध गन्धर्वे ण भविइण १ ‡—

नर पुरुष मनुष्या उणदीर्घं शसन्तो

मृदुशरण निषणा आतप निव्वहन्ति ॥

† भाव । अथापि स चेदो म आगच्छति । आत्मनो विनीदननिमित्तं किमपि  
गास्यामि । भाव । भाव । श्रुत त्वया यन्मया गीतम् १

‡ कथं गन्धर्वो न भविष्याति ?—

—विदन् । मुख्यं—टिकाकरण, पाद,—किरण, सम—म, गिरमि—समाह,  
निबान,—पतिव, शकुनिश्वगविहङ्गा,—पालण, वलशाखाम्—तकोटपालस्य,  
लोना,—तामि सह ण्कोभृथ अवस्थिता, प्रवररागसलाप सोटमगुपल तस्य  
काटरपु विटयान्तरानिषु च निलाना निर्भर मुता वा इत्ययं, नरपुरुषमनुष्या,—  
मानवा, उण—तप, च तत् दाप—वदुमस्य व्याप्य इत्ययं यन्मया, शान-  
त्यनल मृदुशरणानि—मृदा, तत्र निषणा,—उपविष्टा मल, आतप निव्व-  
हन्ति—पतिवाहयन्ति, आतप विपन्नता नानाभय, सतपय  
शतवृषानमासाय आतपवर्जितमपनयन्त, सदेवदानो वरुणस्य आतप दत्तव्यं  
विनीदनार्थं किमपि समारम्भमसह इत्यस्यार्थः । अत्र "शकुनिश्वगविहङ्गा" न नर-  
मनुष्या । तथा मृदुशरणानि इति एकपदस्य एकस्य मृदुशरणं इति वचनं  
इति वाच्यं इति । अन्तिमोऽङ्कः ॥ १२

हिङ्गुज्जले, जीलकभद्रमुत्थे, वचाह गण्ठी, शगुडा अ शण्ठी ।

एषे मए शैविद गन्धजुत्ती, कध ण हग्गे मधुलश्लेत्ति १३ ॥ १३ ॥

भावे । पुणो वि दाव गाडश्ल [ तथा करोति ] । भावे । भावे !

शुट तुए ज मए गाडड १ ॥

विट । किमुच्यते ॥ गन्धर्वो भवान् ।

प्रकार । कध गन्धर्वे ण भवामि ? ॥—

हिङ्गुज्जले दिखमलौचचुखे वग्घालिटे तेल्लघिण्ण मिश्रे ।

भुत्ते मए पालहुटीअमशे, कधं ण हग्ग मधुलश्लेत्ति १ ॥ १४ ॥

\* हिङ्गुज्जला जीरकभद्रमुत्ता, वचाया गन्धि, शगुडा च शण्ठी ।

एषा मया सेविता गन्धयुक्ता, कध नाह मधुरस्वर इति ? ॥

+ भाव । पुनरपि तावत् गच्छामि । भाव । भाव । श्रुत त्वया गन्धया गीतम् ।

॥ कध गन्धर्वो न भवामि ?—

§ हिङ्गुज्जल दत्तमरीचचूर्णे व्याघ्रान्ति तैलघृतेन मिश्रम् ।

भुक्त मया परभूतोद्यमान, कध नाह मधुरस्वर इति ? ॥

स्वस्थ मधुरस्वरवस्त्रे हेतुमाह, हिङ्गु इति ।—हिङ्गुज्जला—हिङ्गुभिः,—हिङ्गु-  
निर्यासे सज्जला—सुगन्धि, प्रभूतहिङ्गुसहिता इत्यर्थः जीरकभद्रमुत्ता—जीरक  
इति सुल इति च सुकष्टसम्पादनौषधिद्रव्यविशेष, भद्रमुत्त—वैवर्तमुत्तक, 'नागर-  
मुत्ता' इति ख्यात मुत्तकमेव, तद्वर्तौष्य, [ अथ चादिभ्यः कर्तृधीये अचि स्त्रीत  
स्तेषु ], वचाया,—तदाग्न्यस्य औषधिद्रव्यविशेषस्य, दान्द,—काण्डस्य अङ्गविशेष,  
शगुडा—गुडनिपाता, शण्ठी—प्रक्षिप्याकण्ड गुप्ताद्रक, ("शुंठ" इति ख्यात कन्द-  
विशेष, ) नन्दा—इक्षारिद इत्यर्थः, एषा—पूर्वोक्ता इत्यर्थः, गन्धयुक्ता,—गन्धेन  
रूपे,—गीतं दत्ता मा, सुगन्धिद्रव्यविशेषमिदं इति भावः, सेविता—भुक्ता  
इत्यर्थः अतः अहं कथं—इति हेतुना मधुरस्वर—श्रवणतत्पदध्वनि, सुकण्ड इत्यर्थः,  
॥ १४ ॥ इति अष्टमोऽङ्कः । सप्तमोऽङ्कः ॥ १३ ॥



भावे । अज्जवि चेडे गाअच्छदि । \*

षिट । स्वस्थो भवतु भवान्, सम्प्रति एव आगमिष्यति ।

[ ततः प्रविशति प्रवहणाधिरुढा वसुन्तसेना चेटयः ] ।

चेट । भीटे कवु हग्गे, मञ्जुल्लिके शुज्जे, ( ल ) मा टाणि कुबिडे लाअशाल-शण्ठाणे हुबिण्णदि, ता तुल्लिट व्हामि । जाध गोणा । जाध । †

वस । हही । हही । गा कवु, बड्डमाणस्य अअं मर-  
संजाओ, कि खेट ॥ कि कवु अज्जचारुटत्तेण बाहण-पडिम्मं  
परिहरन्तेण अण्णो मणुस्सो अण्ण पवहण पेमिट भविस्सदि ?  
फुरदि टाहिण लोअणं, वेवदि मे हिअअ, सुणाओ दिमाओ,  
मल्ल ज्जेव विसण्ठुल ( व ) पेक्कामि । ‡

\* भावः । अद्यापि चेटी नागच्छात ।

† भीतं खलु अहं, साध्यादिकं मयि, सा इदानीं कृपितो रात्र्यान्तमभ्यासको  
भविष्यति, ततः त्वरितं वदामि । यातं गात्री । यातम ।

‡ हा धिक् । हा धिक् । न खलु वड्डमानकस्याऽपि मरसयोगः ॥ तिन इदम ॥  
किं खलु आर्यचारुदत्तन बाह्यपरिग्रहं परिहरता अणो मनुष्य, अन्यतः प्राज्ञं  
द्रष्टुं भावयति ? स्फुरति टालिण लोचनं, वेपथे मे हृदयं, गत्या दिशं, मन्मथ  
विमदुल पश्यामि ।

व्याङ्मूलकात् त्रिपुल्ले निवि निपायां रूपः ] तथा, तैलत उत्तर तयो मनाहार,  
तेन तैलवृत्तं मिथ—पाकानन्तर पुनरप्यतलवृत्तमुक्तं, परमनीय—परमत्वं इदं,  
कोकलसम्बन्धीत्यर्थः, ( “वनप्रिय परमत्वं कोकलं पिक इत्यादि” इत्यमरः ) मन्मथ  
—आमिथ मया युक्त—सेवित, अथ मुकुटवसायनाय परमसावित्र्यं तो कथमपि  
भक्षितवान्, अतः अहं कथं मन्मथस्य,—मुकुटं, न मन्मथिनीत्यर्थः, तस्मात्  
वन्मथेन मेतद्वान्मथैकैकवत्त्वं दृश्यन्मन्मथत्वमिति । अन्त्यात् ॥ ३३३ ॥

शकार । [ नेमिघोषमाकर्ण्य ] ( श ) भावे । भावे । आगदे पव-  
हणे । ३

बिट । कथं जानासि ?

शकार । किं ण पेक्खदि भावे ? बुद्धशूअले विअ घुल-  
घुलाअमाणे ( घ ) लक्खीअदि । ४

बिट । [ हृद्वा ] साधु लक्षितम् ; अयमागतः ।

शकार । पुत्तका थावलआ चेडा ! आगदे शि ? ५

चेट । अधइ । §

शकार । पवहणे वि आगदे ? ६

चेट । अधइ । ॥

शकार । गोणा वि आगदे ? ७ ( स )

चेट । अधइ । ॥

शकार । तुम पि आगदे ? §§

३ भाव । भाव । आगत प्रवहणम् ।

४ किं न पश्यति भाव ? हृदयकर इव घुरघुरायमाण लक्ष्यते ।

५ पत्तक व्यावरक चेट । आगतीऽसि ? § अथकिम् ।

६ प्रवहणमपि आगतम् ? ॥ अथकिम् । ॥ गावावपि आगतौ ?

७ अथकिम् । §§ त्वमपि आगतः ?

अपनयता, दूरीकर्तुमिच्छता इत्यर्थः । अनुष्य, — शकटपालक इत्यर्थः । स्मरति—  
स्मरन्त, दक्षिणलोचनस्मरन्त नारीणामष्टभक्त्युक्तत्वेन प्रसिद्ध, विपत्ते—दम्पते ।  
विमहल—विपरीतम् ।

( ३ ) नेमिघोष—सकपालवर्षजलितशब्दविशेषम् ।

( ४ ) घुरघुरायमा—घुर इति अत्यन्तानुकरणशब्द, अत्यन्त शब्द कुदाय  
इत्यर्थः । [ अघुर घुर भवन्मिति वाक्ये, कण्ठविषये डाचि विभावादौ घुरघुरा इति  
अप्यपि व. ह. ज्ञानचि सिद्धम् ] ।

( ५ ) "गावावपि आगतौ" इत्यत्र निश्चयस्य सम्भवासकत्वेन पुमि प्रयोगः,  
तौर्भेदेवावकत्वे तु स्त्रीत्वमेव अतीत्या पुमि प्रयोगः साधुव्याजः सङ्गच्छते ।

चेट । [ महामम ] भट्टके ! अहं पि आगटे । ३

शकार । ता पवेगेहि पवहण । १

चेट । कटलेण (ह) मग्गेण ? ४

शकार । एदेण ज्जेव पाआल-खण्डेण । § (क)

चेट । भट्टके ! गोणा मलेन्ति, पवहणे वि भज्जेदि, हग्गे वि चेडे मलामि । ॥

शकार । अले । लाअ शालके हग्गे, गोणा मले, अवलं कीणिश्श ; पवहणे भग्गे, अवल घडाइश्श ; तुमं मले, अग्गे पवहण वाहके हुविश्शदि । ॥

चेट । शब्बं उववस्स हुविश्शदि, हग्गे अत्तणकेलके ण हुविश्श । ११ (ख)

शकार । अले । शब्बं पि णश्शट्ठ, पाआलखण्डेण पवेगेहि पवहण । ॥

\* भट्टारक । अहमपि आगत ।

+ तत् प्रविश्य प्रवहणम् ।

‡ कतरण मार्गेण ।

§ एतन्नेव प्रकारखण्डेन ।

॥ भट्टारक । गावी सिन्धेने प्रवहणमपि भज्यते, अहमपि चेटो मिय ।

१२ अरे । राजग्यालकाइहम्, गावी मत्तौ, अपरी कयामि, पवहण भयम्, अपर घटयिष्यामि, त्व मृत अन्य प्रवहणवाहका भविष्यति ।

† मज्झिमपपन्न भविष्यति, अहमात्मोप्री न भविष्याम ।

‡ अरे । मज्जेनपि नग्यन्, प्रकारखण्डेन प्रवेगः प्रवहणम् ।

( ह ) कतरण —परिदृश्यमानायां या मार्गायां कल इत्यर्थः ।

( क ) प्रकारखण्डेन —पञ्चोपासने अहमप्यप्राप्तिरसंभूत पदम इत्यर्थः ।

चेट । विभञ्ज ले पवहण । शमं शामिणा विभञ्ज । (ग)  
असे पवहणे भोदु, भट्टके गदुअ णिवेदेमि । [प्रविश्य] कधं  
ण भम्मे ॥ (घ) भट्टके । एसे उवत्थिदे पवहणे । ३

शकार । य छिस्सा गोणा ? य मला लज्ज ? (ङ) तुम पि  
ण मले ? १

चेट । अघइ । ४

शकार । भावे । आअच्छ, पवहणं पेक्खामो । भावे ।

० विभङ्गि रं प्रवहण । समं स्वामिना विभङ्गि । अन्यत् प्रवहणं भवतु,  
भट्टारकं गत्वा निवेदयामि । कथं न भयम् ॥ सट्टारक । एतदुपस्थितं प्रवहणम् ।

† न छिन्नी गावी ? न मृता रज्जव ? त्वमपि न मृत ?

‡ अथकिम् ।

( ग ) विभङ्गि—मोटय, भयं भय इत्यर्थं, सम—सह, ( “साङ्गन्तु साकं  
सुखा समं सह” इत्यमर ) स्वामिना—प्रमुखा, शकारेण इत्यर्थं, आत्मजीवनसमायक  
कार्येऽपि अकृण्वत् सेवकं निशीजयन्त शकारं प्रति चेष्टय्य ईदृशीं उक्तिं अतीव क्रोध-  
व्यङ्गिका ज्ञेया, अथवा,—स्वामिशब्देनापि रक्षकोऽभिप्रेत, शकटारक्षकेण—शकट-  
आत्मकेन इत्यर्थं, दासानां जीवनेन न कस्यापि किमपि प्रयोजनम्, अतः तेषां  
जीवनेऽपि न कश्चित् लाभः, नरयेऽपि न काचित् क्षतिः, इति बुद्ध्या अनुचितता-  
दमशयकस्य शकारस्य वाक्येन आत्मनि जातधिकारस्य चेष्टय्य सविषादोक्तिरियं  
धीश्या, उदा—अयं स्वामिनेति पदेन शकटारोहो एव लक्ष्यते, आरोहिमहितमेव  
सं भयं भवेत्यर्थः, वस्तुसेतारोहणमजानत चेष्टस्य उक्त्या आरोहिण्या भाविनी  
विषयभूतिता ।

( घ ) दैवतत्वात् प्रवहणस्य समप्रवाहं विस्मृत्येत आह,—कथं नेति ।  
प्रवहणस्य समप्रवाहप्रतिपादनात्, विपद्भावात् तस्याः काऽपि क्षतिर्न भविष्यतीति  
प्रतीत्यर्थः, इति भाविनी वस्तुस्थिति कदाचिदुद्देशोपनिवृत्तिवत् कविना भयप्राकारपदेन  
समाह्वयकार उपरुक्त इति वाक्यम् ।

( ङ ) “ए हिंसा लज्ज, ए मला गाणा” इति वक्तव्ये शकारवाक्यत्वात् विषयशी

तुमं पि मे गुरु पलमगुरु पेक्वीअग्नि, शादलके अब्भन्तलकेत्ति  
पुलकलणीएत्ति ; (च) तुम दाव पवहणं अग्गदो अहिलुह । \*

विट । एव भवतु । [ इति आरोहति ] ।

शकार । अधवा चिट्ठ तुम ; तुह वप्पकेलके (छ) पवहणे ?  
केण तुम अग्गदो अहिलुहहि ? हग्गे पवहणं शामी, अग्गदो  
पवहणं अहिलुहामि । †

विट । भवानेवं ब्रवीति ।

शकार । जइ वि हग्गे एब्बं भणामि, तथा वि तुह एगे  
आदले, “अहिलुह भट्टके” त्ति भणिदु । ‡ (ज)

विट । आरोहतु भवान् ।

\* भाव । आगच्छ, प्रवहणं पश्याव । भाव । त्वमपि मे गुरु परमगुरु  
प्रेक्ष्यसे, सादरीऽभ्यन्तरक इति पुरस्करणीय इति, त्व तावत् प्रवहणमयतोऽधिरोह ।

† अथवा तिष्ठ त्वम्, तव पैठकं प्रवहणम् ? येन त्वमयतोऽधिरोहसि ? अथ  
प्रवहणस्वामी, अयत् प्रवहणमधिरोहामि ।

‡ यद्यपि अहमेव भणामि, तथाऽपि तवैव आदर, “अधिरोह भट्टारक ।” इति  
भणितुम् ।

( च ) “गुरु, परमगुरु” इति सम्भाषणं विटस्य अतिमाननीयत्वञ्चकं ब्रीक्षम् ।  
मे—मया, त्वमपि—भवानपि, गुरु,—पूज्य इत्यर्थः, परमगुरु,—पूज्यतमः, पुंसां  
दपि पूज्यतम इत्यर्थः, प्रेक्ष्यसे—दृश्यसे, अतः सादरक,—आदरणीय इत्यर्थः,  
अभ्यन्तरक,—दृष्टयद्मतया अन्तरङ्ग, रहस्यवन्मय इत्यर्थः, इति—इति इति,  
पुरस्करणीय,—पुर,—अग्ने, करणीय,—कृत्य, मया त्वमिति ज्ञेय ।

( छ ) पैठक—पितृ आगत, पितृसम्बन्धि इत्यर्थः, इदं प्रवहणं तव पितृ इति  
इति स्मृदिताय ।

शकारः । एषे शम्पटं अहिलुहामि । पुत्तका थावलआ  
चेडा ! पलिवत्तावेहि (भू) पवहण । ॥

चेट । [ परावत्तं ] अहिलुहदु भट्टालके । ॥

शकारः । [ अधिरुद्धावलीक्य च शडां नाटयित्वा त्वरितमवतीर्य विट कण्ठे  
प्रवक्ष्यन् ] भावे ! भावे ! मलेशि मलेशि, पवहणाधिलूढा  
लक्खशी, चोले वा पडिवग्गदि ; ता जइ लक्खशी, तदो उमे  
वि मूग्गे ; अघ चोले, तदो उमे वि खज्जे । ॥ (ञ)

विट । न मेतव्यम् ; कुतोऽत्र वृषभयानि राक्षस्याः सञ्चारः ?  
मा नाम ते मध्याह्नार्क-ताप-च्छिन्नदृष्टेः स्थावरकस्य सकञ्चुकां  
ह्याया दृष्ट्वा भ्रान्तिरुत्पन्ना ? (ट)

॥ एष नाम्नतम् अधिरोहामि । पुत्रक स्थावरक चेट । परिवर्त्तय प्रवक्ष्यम् ।

† अधिरोहतु भट्टारक ।

‡ भाव । भाव । स्ततोऽसि स्ततोऽसि, प्रवहणाधिहृता राक्षसी, धौरो वा प्रति-  
दहति, तद् यदि राक्षसी, तदा उभावपि सुपितौ, अघ धौर, तदा उभावपि  
हृदिपितौ ।

( भ ) परिवर्त्तय—धामय, नदभिमुखं स्थापय इत्यर्थः ।

( ञ ) सुपितौ—दत्तधनी, “मूग्गे, खज्जे” इति विपर्ययोक्तिः शकारवाक्यत्वात्  
प्रवृत्ता एव ।

शकार । पुत्तका थावलआ चेडा ! जीवेगि १ \*

चेट. । अधइं । †

शकार । भावे । प्रवहणाधिलूढा इत्थिआ पडिवगटि, ता  
अवल्लोएहि । ‡

विट । कथं स्त्री १—

अवनतशिरसः प्रयाम शीघ्रं

पथि ह्यभा इव वर्षताडिताच्चा ।

मम हि सदसि गौरवप्रियस्य

कुलजन दर्शन-कातर हि चक्षुः ॥ १५ ॥

\* पुच्छक स्यावरक चट । जीवसि १

† अयकिम् ।

‡ भाव । प्रवहणाधिलूढा स्त्री प्रतिवसति, तदवलोकय ।

दृष्टा—निरोक्ष्य, मा नाम—म तावत्, नाम इति सम्भावनायां, भान्ति,—मम,  
उत्पन्ना १—जाता १ स्यावरकस्य सकधुकच्छायो दृष्टा ते राक्षसीभान्तिरुदिष्यात् न  
किम् १ इत्यर्थः, अपि तु भान्तिरेव जाता इति सम्भावयामीति भावः ।

शकारेण प्रवहणाधिलूढा स्त्रिय द्रष्टुमनुरुडाऽपि विट आत्मसम्मानानुरोधेन मय  
परम्प्रादर्शनमकरणोयमित्याह, अवनतेति ।—अवनत—नमः, शिर,—मस्तकं येषां  
ताडणा, स्वगौरवरक्षणाय अधीमुखा मन्त इत्यर्थः, “नेजेत परकासिनीम्” इति  
वचनादिति भावः, वरमिति शयः, पथि—मार्गे, वर्षेण—हृत्वा, सार्वतानि—आह  
तानि, अचोणि—मयनानि येषां तथोक्ता, वाग्विन्दुनिरुदयना इत्यर्थः ह्यभा,—  
अनोवृद्धा इव, शीघ्र—मन्त्र, प्रयाम,—इति अपगच्छाम, [ याधातोर्लटि क्,   
युष्मदस्मदोरविग्रहणत्वे दिव्यैकत्वयो बहुत्वमिति नियमेन बहुवचनान्ताः ], नि-  
वत, सदसि—सभायां, साधुजनसमाजे इति यावत्, गौरवप्रियस्य—आमनि वट  
सान काट्टिए मम—मे, अनु,—नेव कुलजनस्य—कलत्रवृक्षस्य, कल

वम् । [सुविस्मयमात्मगतम्] कथं । मम गात्रगाण आश्रामश्रो  
ज्जेव रात्रिस्थालश्रो ॥ ता मसइदम्हि मन्दभाश्रा । एसो दाणिं  
मम मन्दभाइणोए ऊसरखेत्तपडिटो विअ वीअमुट्ठी णिण्फलो  
इध आगमणो सवुत्तो । (ठ) ता किं एत्थ करइस्स ? \*

शकार । कादले क्खु एशे वुड्ढेवे पवहणं णावलीएटि ।  
भावे । आलीएहि पवहण । † (ड)

विट् । को टोष ? भवतु एवं तावत् ।

\* लघुम् । मम नयनयोरायासकर एव राजशालक ॥ ततः सश्रितास्मि मन्द-  
भाग्वा । एतदिदानीं मनः मन्दभागाया ऊपरस्तेवपतित इव वीजमुष्टि निष्फलमिहा-  
रमम सहकम् । ततः किमव करिष्यामि ?

† कातर खलु एष हृदये पवहणं नावलीकयति । भावः । आलीक्य  
प्रवहयामि ।

प्रासादिकत्वदर्शनात्, व्याकरणलक्षणहीनत्वेनास्य श्रुतसंस्कारतादोषदुष्टत्वं वेदितव्यम्,  
लीटि चान्न प्रयोगस्य साधुत्वेऽपि तस्य विधायार्थविहितत्वेनाथ तद्यविधायस्य प्रक-  
सादुपयोगित्वात् तत्रयोगस्य वैयर्थ्यमेवेति ध्येयम् । पश्चिमादा वृत्तम् ॥ १५ ॥

( ३ ) आशमकर — विदग्धनक, चक्षु पीडादायक इत्यर्थः । सश्रिता—  
रुग्ण — रुग्णः, जीवने इति शेषः, ज्ञातं चस्याः, तादृशी, जीविष्यामि न वा ?  
इति मशयाकुलाऽस्मि इत्यर्थः, [ ज्ञातार्थे इति चिन्तयामासुः, यथा,—मपृच्छकस्य ज्ञेने  
इत्यस्य कश्चरि निष्ठा, स्मियामासुः ] । मन्दभाग्वा—मन्दम्—चम्प, दुष्टम् इत्यर्थः,  
भाग्वा—मिदं यस्या सा, दुर्भगा, ऊपरस्तेवपतिता,—ऊपरस्तेव—ऊपरमुनी,  
पतिता—प्रतिष्ठा, आश्रमाश्रमूनी एतात् वीजान् यथा नादुरीकयति, नानापि  
करीरय तदा विफलं नृणां इति भावः ।

( ४ ) विटोक्तं “क्लृप्तामन्दमन्त्रातरम्” इत्यादिकसाक्षर्यं प्रवहदावलीकने  
विटस्य चमभिप्रायं विहितम्, खेटं तव प्रवर्त्तयितुं निष्कृत्वापि परिधानस्य वाश्वेन  
चममदम् तव चरित्तया नन्दनान् इकारं च ह कातर इति ।—कातर —  
चक्षुःशान्दानकर्तुं भेंट, दाहंकात् विहरी वा एष हृदयेट, —मद्विरदम्,  
इहहृदम् हृदयेटति—मद्विरदम् चममदम् । प्रवहम् चाम्पु कद तन्नेर इति  
३६ ।



शकार । कध । शिआला उड्डेन्ति ॥ बाअगा वच्चेन्ति ॥  
ता जाव भावे अक्खोहि भक्खोअदि, दन्तेहि पेक्खोअदि, (ठ)  
दाव हग्गे पलाइअ । ॥

विट । [ वसन्तसेनां दृष्टां सविषादमात्मगतम् ] कथमये ! सृगी  
व्याघ्रमनुमरति ? (ण) भोः कष्टम् ।—

शरच्चन्द्र-प्रतीकाश पुलिनान्तर-शायिनम् ।

हंसी हस परित्यज्य वायस समुपस्थिता ॥ १६ ॥

१ कथ । शगाला उड्डोयन्ते ॥ बायसा व्रजन्ति ॥ तत् यावत् भावीऽतिभा  
मत्यन्ते, दन्तं प्रेत्यन्ते, तावदह पलायिष्ये ।

(ठ) “शिआला उड्डेन्ति” इत्यादिविपरीतोक्तिः शकारवाक्याददृष्टा क्रिया ।  
एव परवापि ।

(ण) अये । इति विषादे, (“अये क्रीधे विषादे च समुसे स्मरणेऽपि न” इति  
मैदिनी) । सृगीव्याघ्रयो परस्परभीज्यभीजकमस्वस्वमत्त्वेन सृगा व्याघ्रानुमरण  
यथा अतीव विषादजनक विपत्तिजनकश्च, वसन्तसेनाया अपि शकाराभिमरण तथा  
इति भावः, वसन्तसेनाया शकाराभिमरण स्वेच्छाकृतमात्र विज्ञानतः निटके मुक्त  
भान्तिरुता वेदितव्या ।

[ जगन्तिकम् ] वसन्तसेने । न युक्तमिदं, नापि सदृश-

मिदम्, (त) —

पूर्वं मानादवज्ञाय द्रव्यार्थे जननीवशात् ।

वस । शृ । [ इति शिरशालयति ] ।

वित । अशीर्णोऽर्थस्वभावेन वेशभावेन मन्यते ॥ १७ ॥

( त ) जनान्तिकम् — अद्भुतमनामिकाच्च बहुलि कुञ्चिता विधाय प्रसारिता-  
पराङ्मुखित्वेण तवत्यानपरामाङ्काच्च परस्परकंधामन्तरा यत् गुह्यभाषणरूपं नाम्ना  
तद्वेति वेदितव्यम्, ( तल्लक्षणं यथा दर्पणे, — “विपताककरेणान्यामपवाच्यान्तरा  
कथाम् । अन्वोऽन्यामन्त्रेण यत् स्यात् जगन्ती तल्लज्जान्तिकम् ॥” इति । विपताक-  
लक्षणमपि नास्तिशास्त्रे नवमाध्याये चतुःषष्टिकरलक्षणप्रतिपादनावसरे, यथा, —  
“प्रसारिता समा सर्वा यस्याङ्गुल्यो भवन्ति हि । कुञ्चितश्च तथाऽद्भुत स पताक्  
इति श्रुतः ॥ पताके तु यदा वक्ताऽनामिका तद्गुलिर्भवेत् । विपताक स विज्ञेयः —”  
इति । सन्तारमरन्दे तु किञ्चिद्विशेषः, — “तल्लज्जनीमूलमलप्रकुञ्चिताद्भुतक कर ।  
गण्डय सहताकारप्रसारिततलाङ्गुलि ॥ पताक स्यादथ यदि वक्त्रिणानामिका-  
ङ्गुलि । स एव शीवगमार्हं विपताक इतीर्यते ॥” इति ) । युक्तम् — उचितं, न्याय-  
मित्यर्थः । सदृशम् — अनुरूपमित्यर्थः, तवेति शेषः, चारुदत्तानुरक्ताया असामान्य-  
भाषणवशात् ते ईदृशं जनार्थं स्वेच्छाकृताभिसारं प्रतीकं गर्हणीयं इति वितस्याशयः ।

इदानीं धमलोभात् शकारसदृशशीघ्रपुरुषे अभिसारस्य अव्युक्ततायां हेतुमाह,  
पूर्वमिति । — पूर्वं — प्राक्, यदा दशसहस्रसुवर्णमुद्रालभ्य अलङ्कारं प्रवृत्तञ्च प्रेषितं,  
तदा इत्यर्थः, मानात् — गर्वात्, अवज्ञाय — प्रत्याख्याय, शकारमिति शेषः, इदानीम्  
— एवम्, जननीवशात् — मातुरधीमतया, तदुपदेशादित्यर्थः, द्रव्यार्थे — द्रव्यधन-  
भाषणम्, “इह जागताऽसीति मन्यते कस्माभिः” एतावन्त्येव पदान्तरं सुधरन्दय-  
रोक्षादं परलोकाणि, पूर्वजनभिसाद्यत्तदुद्देशात् सावहेतुमिन्नमभद्रं शकारं विहाय-  
अद्भुत एव सद्यद्वाहस्य दहन् दवाभिमानवत्यानि सञ्चर्यैवानुचितमिति तात्पर्यम्,  
( हृतैस्तैव वस्तुनैव, विदोक्तिः सान्निप्रयुक्ता एवेत्यादित्युक्तं “न” इत्युक्ता शिरशालन-  
कथया वितस्मादवनादा अवद्यायत्तमेव प्रतिपादितवतीति वेदितव्यम् ), अथवा  
अशीर्णोऽर्थस्वभावेन — तल्लज्जनीमूलमलप्रकुञ्चिताद्भुतक इत्यर्थः, [ इत्या-  
रम्भः ॥ १७ ॥ ] इत्युक्तं इत्यादिभिरिति भावेऽपि च शीर्णार्थः, तद्वदिति दर्शयति,

ननूक्तमेव मया भवतीं प्रति,—“सममुपचर भद्रे ।  
सुप्रियञ्चाप्रियञ्च” ।

वस । पवहण-विपज्जासेण आगदा, सरणागदस्मि । \* (य)

विट । न भेतव्य न भेतव्यम् । भवतु, एन वच्चयामि । (ट)

[ शकारमुपगम्य ] काणेलीमात' । सत्य राजस्य एव अत्र प्रति-  
वसन्ति ।

शकार । भावे । भावे । जइ लक्खणो पडिबशटि, ता  
कोश ण तुमं सूशेदि ? (ध) अध चोले, ता किं तुम ण  
भक्खिदे ? †

विट । किमनेन निरूपितेन ? यदि पुनरुद्यानपरम्परया(न)  
पद्मामेव नगरोमुज्जयिनीं प्रविशावः, तदा को दोषः स्यात् ?

\* पवहण-विपय्यासेनागता, शरणागताऽस्मि ।

† भाव । भाव । यदि राजसौ प्रतिवसति, सत् कथं न त्वां मुञ्चाति ? अथ  
चोर, तदा किं त्वं न भक्षितः ?

स अगौण्डियं, तथाविध स्वभावो यस्य तेन ] वेशभावेन—पेय्यात्वेन चतुर्नित्यं,  
मन्यते,—विज्ञायते, तवागमनमिति शेषः । प्रागुद्दामगौवगमदेन, चारुदत्तानुरागिणी  
इदं नोचशकार कथं भजे इति साहजिकगत्यादिकेण वा शकार प्रत्यागत्य, पुन  
रिदानीं सातुमाडमया, अथग्वृत्तिरभिमानवेग्यास्वाभाव्येन वा, धननाशादभिज्ञानता  
ऽस्तीति संभावयामासीति समुद्रिताय । पेय्यावश्च वृत्तम् ॥ १० ॥

शकार । एवं किदे (प) किं भोदि ? \*

बिट । एवं कृते व्यायामः सेवितो धुर्याणाञ्च परिश्रमः  
परिहृतो (फ) भवति ।

शकार । एवं भोदु । धाबलआ चेडा । गेह पवहणं ।  
अधवा, चिट्ट चिट्ट, देवदाणं वम्हणाणं च अगदी चलणेण  
गच्छामि ? ग हि ग हि, पवहण अहिलुहिअ गच्छामि । जेण  
दूलदो मं पेक्खिअ भणिशन्ति “एसे शे लट्ठिअशाले भट्टालकी  
गच्छदि ।” †

बिट । [स्वगतम्] दुष्करं विषमौषधीकर्तुम् । (व) भवतु,

\* एष कृते किं भवति ?

† एवं भवतु । व्यावरकचेट । नय प्रवहणम्, अथवा, तिष्ठ तिष्ठ,  
देवतानां ब्राह्मणानां चारुत चरणेन गच्छामि ? न हि न हि, प्रवहणमधिकञ्च  
गच्छामि, येन दूरतो मां प्रेक्ष्य भणियन्ति, “एष स राष्ट्रीयश्रालो भट्टारकी गच्छति” ।  
इत्येवमुक्तेन निरूपितेन—निर्णीतेन, प्रत्यक्षीकृतेन इत्यर्थः, किं—किं फलमित्यर्थः,  
निरूपणं निष्पत्तीजनमिति भावः । उद्यामपरम्परया—आरामश्रेण्या, उपवनमार्गेण  
इत्यर्थः, ( शकारं वक्ष्यमानेन विटनेयमुक्तिः, दसन्तसेनायाः प्रतिरोधं परिजिहीर्षयै  
शोपन्मेति वेदितव्या, बिटो हि शकारसहायकं सन्नपि वसन्तसेनायाः अयद्यन्त्याहम  
कदापि कानुमोदते, अतः सर्वेन तस्यान्तात् शकारं स्थानान्तरं नेतुम् एवमुप-  
दिशतीति बोद्धव्यम् ) ।

( प ) एवं कृते—पद्यानिष गते इत्यर्थः ।

( फ ) व्यायामः,—अङ्गसञ्चालनजनितशारीरिकपरिश्रमविशेषः । वेदितः,—  
अनुहितः, आचरत इत्यर्थः । धुर्याणां—हयभाणान्, ( “धुक्कं धुक्कं धुर्याणां  
सङ्गसङ्गा” इत्यमरः ) परिहृतः,—अननुहित इत्यर्थः ।

( व ) विष—गरलम्, औषधीकर्तुम्—औषधरूपेण परिणमयितुं, दुष्करं—  
दुःसाध्यम्, यदा प्रादनाशकस्य विषस्य हितकारोषधरूपेण परिणमनम् अतोव लघु  
राशौ तदस्य खल्वसमाधे नृजनशकारं वाक्यान्तरेण विनियुज्य तत् प्रत्यावर्त्तयितुं दुष्करं  
इत्यर्थः । यदा,—दुष्करम्—दुःसाध्यं वेनाप्युपदिष्टं नाहवितुमशक्यमित्यर्थः, विष—  
गरलम्, औषधीकर्तुम्—औषधरूपेण हुक्ककर्तुमिच्छेत् अङ्गजनितं हृदय-अनाश-

एवं तावत् । [ प्रकाशम् ] काणेलौमात । एषा वसन्तसेना  
भवन्तमभिसारयितुमागता ।

वस । सन्त पावं । सन्त पाव । \*

शकार । [ सहपम् ] भावे । भावे ! म पवनपुनिशं मणुगं  
वाशुदेवम् १ १ (भ)

बिट । अथाकिम् ।

शकार । तेन हि अपुष्वा शिली समाशादिता ; तस्मिन् काले  
मए लोशादृता, शम्पद पाएशु पडिभ पशाटेमि । ‡ (म)

\* शान्तं पापं, शान्तं पापम् ।

† भाव । भाव । सो प्रवरपुरुष मनुष्य वासुदेवकम् १

‡ तेन हि अपूर्वा शी समाशादिता, तस्मिन् काले मया रोपिता, साम्प्रत  
पादयो पतित्वा प्रसादयामि ।

विषय किमपि औषध नास्तीति भाव । औषधशब्दस्य रोगप्रशमनोपायमतश्चाशये  
कवेऽपि, अथ लक्षणया तत्साध्यत्वरूपार्थपरत्वं यदित्यम्, एव औषधापनीतीकृतामात्रं  
फलितार्थ, औषधम् औषधं कथमिति अभुततद्वावर्थे औ दपम्, औषधीकम्  
दुष्करम् इति क्रियारूपत्वेन वा दुष्करमिति पदस्यान्वयः, दुष्करशब्दस्य विगणनीयता  
अन्वये तु अशक्यमिति क्रियापदान्तरमूहनीयम्, तथा च, वसन्तसेनापदस्य  
शकाराभिप्रेतसंस्काराणि केनापि क्लृप्तं अपनेतुमशक्यमिति निदर्शयामि प्रायः, अतः  
अतिदार्ढ्यविषये औषधव्यपत्ताऽऽपादनस्य अतिदुःसाध्यत्वरूपान्तरप्रसङ्गात् अतिरिक्तं यत्  
स्वभावस्य शकारस्य मुख्यभावत्वाऽऽपादनमतिदुष्करत्वमिति प्रस्ताव्यस्य प्रतीत्यप्रसङ्ग  
प्रशनाऽस्तुदात्तः ।

( म ) प्रवरपुरुष—देवमानव, वासुदेवकं—वासुदेव एवति वासुदेवकं त,  
वासुदेवाभिन्नमित्यद, [ एव मयि कन प्रत्यय ] ।

विट । साधु अभिहितम् ।

शकार । एषे पाण्डु पडेमि । [ इति वसन्तसेनामुपसृत्य ]

अत्तिके । अम्बिके । शृणु मम विवृतिम् ।—

एषे पडेमि चलणेशु विशालनेत्ते !

हृत्पञ्जलि दशणहे ! तव शुद्धदन्ति ! ।

जं त मए अवकिदं मदणानुलेण.

त खम्मिदाणि, वल्लगन्ति ! तव म्हि दाणे ॥ १८ ॥

२ एष पादयो पतामि । हे मात । अम्बिके । शृणु मम विवृतिम्,—

† एष पतामि चरणयोर्विशालनेत्रे । हृत्पञ्जलि दशनखे । तव शुद्धदन्ति । ।

यत्तन्मया उपकृत मदनातुरेण, तत खमिताऽस्मि, वरगामि । तवाम्बि दास ॥

यदा,—नेन हि—अभिसाराकाङ्क्षैर्वागतत्वेन हेतुनेत्यर्थे, अपूर्वा—रसणीया, हृदयग्राहिणीत्यर्थे, ओ,—श्रीमा, वसनालङ्कारादिना आहार्यमुपमेत्यर्थः । समासा-  
दिता—स्वीकृता, वसन्तसेनयेति शेषः, अभिसरणोपयोगिनीभिः वेशमृषाभिर्विचरन्त्य-  
दर्शना मुञ्चन्तीति समुदितार्थः । तस्मिन् काले—पुनः, वसन्तसेनाकृतस्वप्रार्थनाप्रत्या-  
ख्यानसमये वसन्तसेनाकृतषाठदत्ताभिसरणसमये वा इत्यर्थः । शीपिता—कोपिता,  
वसन्तसेना इति शेषः । प्रसादयामि—अनुनयामि, मदनुरागित्वात् इदानीमस्या  
प्रसन्नतानुत्पादशक्तीत्यर्थः ।

शकार वसन्तसेनाऽनुमयप्रकारमाह, एष इति ।—हे विशालनेत्रे ।—आयत-  
नयने । एष,—अहमित्यर्थे तव चरणयोः—पादयोः, पतामि—आत्मानं निक्षिपा-  
मीत्यर्थः, दशनखे—दश मखा यस्यान्तकम्बुजौ, अविकृतदशरजतधवलमखरौ । इत्यर्थः,  
एष शुद्धदन्ति ।—शुद्धा,—निष्कला श्रीमन्ना इति यावत्, दन्ता यस्यान्तकम्बुजौ,  
कलावशात्तदिति । इत्यर्थः, तव—तस्मत्त्वमे, हृत्पञ्जलि,—प्रसृतपुङ्गवकरी इत्यर्थः,  
वरगामि इति शेषः, मदनातुरेण—कामार्त्तेन, कामप्रसङ्गात् विवेकशून्यमनन्देति

वम । [ मकीधम् ] अवेहि, अणज्ज मन्तेमि । \* (य) [ इति  
माटेन तडियति ] ।

शकार । [ मकीधम् ]—

जे चुम्बिते अम्बिक-मादुकेहिं, गटे ण देवाण वि जे पणामं ।

शे पाडिते पाटतलेण मुण्डे बणे शिआलेण जधा मुदङ्गे १ ॥ १८ ॥

अले थावलआ चेडा । कहिं तुण एशा शमाशादिटा १ । †

\* अपेहि, अनार्ये मन्तयमि ।

† यस्मिन्मस्विकामाहकाभिगेत म देवानामपि यत प्रणामम् ।

तथातित पाटतलेन मुण्डे बणे शिआलेन यथा मुताङ्गम् १ ॥

‡ अरे म्यावरकचेट । कुव तया एशा ममामादिता १

( य ) अनार्यम्—आर्यजनविगर्हितम्, असमीचीनमित्यर्थ, मन्तयमि—कथयमि ।

वमलसेनाया पाटप्रहारेण क्रुड शकार आत्मोत्कर्षणायपनपर मर मावस मय  
तत्क्रान्तनिराकरणमाह, यदिति ।—यत मुण्डे—शिर, मम इति शेष अम्बिकामाह  
काभि, —माहभि इति भाव, ( शकारवाक्यात् पीनकृत्य न दोषात् ) न  
वम ) चुम्बित—चुम्बन कृत, वाक्मत्यातिरेकादित्यर्थ, तथा यत् मुण्डमिति यत्,  
देवानामपि—सुराणामपि, देवममीपेऽपि इत्यर्थ, [ “देवाण” इत्यस्य निरुद्धात्  
पाटस्य “देवाण” इति अनुस्वारान्ततया कुवचित् दर्शनात्, अतः त् प्राक् “ममा”

चेष्ट । भट्टके ! गाम-शअलेहि लुडे लाअमगे, तदो  
चालुदत्तश्च लुक्खवाडिआए पवहण धाविअ तहि ओदलिअ,  
जाव चक्कपलिअट्टिअ कलेमि, दाव एशा पवहण-विपज्जाशेण  
इह आलूदे, त्ति तक्केमि । ॥

रत्ता । कव ! पवहण-विपज्जाशेण आगटा ? ए म अहि-  
शालिदुं ? ता ओदल ओदल मम केलकादो पवहणादो ।  
तुमं तं दलिह-अत्यवाह-पुत्तअ अहिशालेशि ? मम केलकाइ  
गोणाइं वाहेशि ? (र) ता ओदल ओदल गव्वदाशि । ओदल  
ओदल । ॥

वत्त । त अज्जचारुदत्तं अहिशारेसि, त्ति ज सच्च, अलद्धिद-  
न्हि इमिणा वअणेण । सम्पदं जं भोटु, त भोटु । ॥

\* भट्टक । दानशकटे रुडो राजनागं, तदा चारुदत्तस्य वृक्षवाटिकाया प्रवहण  
स्थापयित्वा तदावतीव्य, यावच्चक्रपरिहृतिं करोमि, तावदेषा प्रवहणविपर्ययसिने-  
हाएता इति तर्कयामि ।

† कथम् । प्रवहणविपर्ययसिनेनागता ? न मानभिसारयितुम् ? तदवतर अवतर  
मदीयान् प्रवहणात् । त्वं तं दरिद्रसाहचर्यपुच्छकमभिसारयसि ? नदीवौ गावौ  
साहयसि ? तदवतर अवतर गर्भंदासि । अवतर अवतर ।

‡ तन्मायचारुदत्तमभिसारयसि, इति यत्, सत्यम्, अलङ्घ्यतांस्ति अनुना  
इत्यनेन । साम्प्रतं यद्भवतु, तद्भवतु ।



शकार । एदेहि मे दश-ण्डुप्पल-मण्डलेहि

हत्थेहि चाडुशद ताडण-लम्पडेहि ।

कष्टामि टे बलतणुं णिअ-जाणकादो

केशेण बालिदइअ वि जहा जडाऊ ॥ २० ॥

८ एताभ्या मे दशनखोत्पलमण्डलाभ्या हस्ताभ्यां चाटुशतताडनलम्पटाभ्याम् ।

कष्टामि ते वरतनं मिजयामकात्, केशेषु बालिदयितामिव यथा लटाय ॥

वसन्तसेनाया शकटारोहण तदवतरणे कालक्षेपश्चामुद्भूतान् शकारं मक्षा-  
न्वानुष्ठेय तन्निर्व्याप्तनप्रकारमाह, एताभ्यामिति ।—मे—मम, दश—दशमहाका,  
मखा, —करकहा, उत्पलमण्डलानि—पुण्डरीकसमूहा इव यथोक्ताभ्यां, ( दृश्यते  
हि लोके वीरा करकाकस्ययांतनाथं वज्रीपस्य प्रदशयन्ति, सुन्दरीणां करक्षणानामरं  
एव नखानां कमलसाम्यच्चेति, एतच्च सौख्यातिशय्यात् शकारं ताडनकर्मणि करया  
काकस्यमनुपवर्णं विपथयेण कोनलत्वमेव वणयतीति शकारवस्तुत्वेनैतत् प्राग-  
वसानकुलत्वात् भूषणमेवेति वेदितव्यम् ), तथा चाटुशतानि—प्रियवचनशतानीं,  
ताडनानि—प्रहारा, तेषु लम्पटाभ्या—लुब्धाभ्यां, तत्पुण्डलाभ्यामित्यर्थः, चाटुप्रभ-  
त्वाको यथा मिथ्याप्रियवाक्यसमूहाकर्णने सदा आशङ्कान् दृश्यते, मम हस्ता-  
मञ्जटा प्रहारविधौ तथैव मायङ्ग इति भावः, ( अथ मन्त्रानां मधुराणाञ्च ताभ्यां  
कटोरणं ज्ञेयं नृन्मत्ततया अप्रोतकरणेन च ताडनेन सामान्यदशनं शकारस्य सामान्य-  
शब्दश्चकम् ),

विट ।—अग्राह्या मूर्धजेष्वेताः स्त्रियो गुणसमन्विताः ।

न लताः पल्लवच्छेदमर्हन्त्युपवनोद्भवाः ॥ २१ ॥

तदुत्तिष्ठ त्वम्, अहमेनामवतारयामि । वसन्तसेने । अव-  
तीर्थ्यताम् ।

वस । [ अवतीर्थ्य एकान्ते (व) स्थिता ] ।

प्रकार । [ स्रगतम् ] । जी श्रे मम वज्रणावमाणेण तदा  
स्त्रीशमी शम्भुक्लिदे, अज्ज एदाए पादप्पहालीण अणेण  
पज्जलिदे ; ( व ) तं सम्पदं मालेमि णं । भोदु, एव्वं दाव ।  
[ प्रकाशम् ] भावे ! भावे ! —

० य स मन वचनावमानेन तदा रोषाग्नि सन्वृष्टित, अद्य एतस्या पाद-  
प्रहारिणानेन प्रज्वलित, तत् साम्बर नारयाम्येनाम् । भवतु, एवं तावत् । भाव ।  
भाव ।—

परस्परविरुद्धाभिधानमूलकमेतदीपस्य शवारवन्तृत्वेन न दूष्यमिति बोध्यम् । वसन्त  
तिलक वृत्तम् ॥ २० ॥

केशयद्वहणद्वारा वसन्तसेनाया निघ्यातनोद्यत प्रकारं निवारयितुं तादृशकार्यस्या-  
युक्ततामाह, अग्राह्या इति ।—गुणसमन्विता, —गुणवत्य, ०ता, —पुरतः परिवृष्ट-  
माना, स्त्रिय, —वसन्तसेनासदृश कामिन्य, [ अव बहुवचन वसन्तसेनाया गौरव  
व्यञ्जक बोध्यम् ], यथा—स्त्रिय, —माय्य, नारीमादमेव इत्यर्थ, मूर्धजे—केशेषु,  
केशवच्छेदेनेत्यर्थ, [ अव औपम्येयिकाधिकरणे सप्तमी ] अग्राह्या, —न गृहीतुमश्या,  
तदा हि, —उपवनोद्भवा, —हृदिने कामने सश्व परिवर्द्धिता इत्यर्थ, लता, —  
वृत्तम्, पल्लवच्छेद—किञ्चलवभङ्ग, न अर्हन्ति—किञ्चलवभङ्गं प्राप्त योग्या न  
भवन्तीत्यर्थ । सयवपालिताया सुकीमलाया उपवनलताया पल्लवभङ्ग यथा अनु-  
चित, तथा अतिकीमलाया गुणवत्या उपवीवनादिसमन्विताया वसन्तसेनाया अप-  
रूपकपदेन निरुद्धादुचित इति सूच्यते । अव स्त्रीकेशयद्वहण-लतापल्लवच्छेदम-  
रूपद्वयं साम्यस्य प्रविधानस्य तावत् हृदानींलङ्कार, “हृदानींल्लु सधर्मस्य वस्तुन  
प्रतिविम्बनम्” इति लक्षणात् । पद्यादन्त वृत्तम् ॥ २१ ॥

( व ) एकान्ते—एकस्मिन् पार्श्वे ।

जदिच्छमे लम्बदशा विशालं  
 पावालत्र शुत्तशदेहि जुत्तम् ।  
 मशं च खादुं, तह तुट्टि कादु,  
 चुह चुह चुकु चुह चुहत्ति—” ॥ २२ ॥

विट । ततः किम् ?

शकार । “—मम पित्रं कलेहि । ॥”

विट । बाढं करोमि, वर्जयित्वा तु अकार्यम् । (श)

\* यदीच्छसि लम्बदशाविशालं प्रावारकं मृचशैथुलम् ।

मांसघ्नं खादितुं तथा तुष्टिं कर्तुं चुह चुह चुकु चुह चुहत्ति ॥

† मम पित्रं कुरु ।

मानेन—अमादरणेन, सावन्न परिहरणेनेत्यर्थ, तदा—प्राक् भाकृताभिसरणमग्रा  
 इत्यर्थ, शपाप्ति, —कोधामलं, सन्धुजित, —सन्दीपित, अमृचिपुष्पं व्यापानां  
 नय्यक्तया विकाशाभावात् तदानीं धूमाच्छन्नतया स्थित इत्यर्थ । एतस्या,—  
 वसन्तसमाया इत्यर्थ, प्रज्वलित, —ज्वालामालामूलतया पुनरुद्दीपित इत्यर्थ ।

वसन्तमेन निहन्तुं समुचितोपायनदानप्रस्तापिम विट प्रतापयन्नाह, वर्जयित्वा—  
 यदि—वेत, लम्बाभि, —सुदीध प्रताप्यताभि, दशाभि, —लम्बानां, लम्बमान  
 वस्त्रान्तरान्तरित्यर्थ, (“दशा, वस्त्रादीपदार्थान्तरान्तरां भास्यं व्यापयति” इति म. ८. १०)  
 विशाल—शव, तथा मृचगते, —मम शत्रुमित्यर्थ, [“यत्तशदेहि” इत्यत्र यत्तः  
 इन्द्राद्यादनुस्वाराभावः, कर्त्तुं कानुस्वाराऽप्यपाठ इत्यनेन, तत्र पुन्यतः प्रस्तापि  
 कृत्वा कृत्वा सनाधेय ]

शकार । भावे ! अकज्जाह गन्धे वि णत्थि, लक्खशी

कावि णत्थि ( प ) । \*

षिट । उच्चता तर्हि ।

शकार । मालेहि वसन्तशेणिसं । †

विट । [ कर्णो पिषाय ( स ) ] ।—

वाला स्त्रियञ्च नगरस्य विभूषणञ्च

वेक्ष्यामवेश सदृशं प्रणयोपचाराम् ।

एनामनागममहं यदि घातयामि

केनोडुपेन परलोकनटीं तरिष्ये ? ॥ २३ ॥

\* भाव । अकायस्य गन्धोऽपि नास्ति, राक्षसी कापि नास्ति ।

† सारथ्य वसन्तसेनाम् ।

इति यावत् । ( “भृशपतिघ्नयोर्वाढम्” इत्यमरः ) । अकाय्यम्—अनुचितकार्यं, पाप  
कार्य इत्यत्र, वर्जयित्वा—विहाय, करोमि—विदधामि, गर्हितं कर्म विना सर्व्वमेव  
भवतु ह्यन्यं साधयितुमष्टं स्वीकरोमीत्यर्थः ।

( प ) राक्षसी कापि नास्तीति ।—अकाय्ये वर्जयित्वेति विटप्रोक्तवाक्यात्,  
अकाय्ये—सज्जनविगर्हितं कर्म इति विटाभिप्रेतमर्थमनवबुध्य, अकाय्ये—कर्म  
मशङ्कम्, असाध्यमित्येवमर्थमवगम्य, राक्षसी कापि नास्तीत्युक्त्वा राक्षसीवधो हि  
नृनाञ्च, अस्या दबस्म न तथा, यत एषा किञ्च वसन्तसेना, अतोऽस्या न भेतव्य  
मात भाव प्रकटोक्तः । [ “लक्खशी कावि” अत्र “लखलिषा वि” इति पठित्वा  
“रक्षोऽपि” इति केचित् ] ।

गकारः । अहं ते मेडकं ददंश्मि । अस्मिं च,—विचित्ते (ह)  
उज्जाणे इह मालन्तं को तुम पेक्खिंश्मदि ? ५

विट ।—

पश्यन्ति मा दशदिशो, वनदेवताश्च,  
चन्द्रश्च, दीप्तकिरणश्च दिवाकरोऽयम् ।  
धर्मानिलौ च गगनञ्च तथाऽन्तरात्मा  
भूमिस्तथा सुकृत-दुष्कृत-माक्षिभूता ॥ २४ ॥

— अहं त उडुपं दास्यामि । अन्यच्च,—विचित्ते उज्जाणे इह मालन्तं कस्तं  
प्रेषिष्यत ?

देय्यान्वे मयपि कुलकामिनोमिष पवित्रपण्यवतीमिल्यथ, अनागम—निरपराधाम्,  
एना—वसन्तसेना, घातयामि—मारयामि, तदा—तादृशकाव्यानुदानं कृते इत्यर्थः,  
वेम उडुपेन—प्रवेन, किम्भूत, तरणमाधनमधनस्य इत्यर्थः, ( “उडुपेन पय वेन”  
इत्यमरः ) परलोकनदी—परलोकपथमध्यवर्तिनीं सरित्, “तरणीमिल्यथ, तारि—  
अतिक्रमिष्यामि, तत उर्ध्वोर्गो भविष्यामि ” न केनापि इत्यर्थः । निरपराधाया  
अस्या हनने परलोके नैव सं निस्तारः, तेन अयग्रसंवाह निरयगामी भविषामीत्य  
भावः । अथ बालादिविशेषणानां माभिप्रायकतया परिकरीत्युदाहरणं, “उत्तिग्गिण्णे  
माभिप्राये परिकरी मत ” इति लक्षणम् । [ तरणं भीमादिकस्य परमैर्पान्तिनां  
श्रिततया तदनुशासनमुत्तुङ्ग आत्मनिपट्टप्रयोगादत्र आकरणात्पण्यं नृणां प १, १  
मन्त्रकृतादीषु विद्येय ] । वसन्ततनक वसन्त ॥ २४ ॥

( ह ) उडुप—प्रवेन, “दीडा” इति वडभाषा । विटि—विचित्रः,  
( “विचित्रो पृतविजनी” इत्यमरः ) ।

शकार । तेण हि पडन्तोवालिदं (क) कदुअ मालेहि । ३

विट । सूखं । अपध्वस्तोऽसि (ख) ।

शकार । अधम्मभीलू एणे बुडकीले । भोदु, थाबलअं चेडं  
अणुणेमि । पुत्तका थाबलका चेडा । शोवस्सखडुआइ (ग)  
टडण्ण । १

\* तेन हि पटान्तापवारितां कृत्वा मारय ।

† अधम्मभोरुपे इडकील । भवतु, स्थावरक चेटमममयामि । पुत्तक स्थावरक  
चेट । सुवर्णकटकानि टाड्यामि ।

“अथ”शब्दो योऽथ ) धर्म — शास्त्रविहितकर्मानुष्ठानजन्यभाविफलसाधनभूतशुभा-  
दृष्टम्, समित्, — वायु, एतौ चेत्यर्थ, गगनम् — आकाशश्च, तथा अन्तरात्मा  
— मन, शरीरान्तर्वर्त्ती जीवात्मा वा, तथा भूमि, — पृथ्वी च, मा — विटमित्यर्थ,  
पश्यन्ति — अवलोकयन्ति, ( पतदुपलक्षणम्, तेन अनल-सलिल-यम-यामिनी-  
प्रभतीनामपि कर्मसाक्षित्वं बोधव्यम्, तदुक्तं मिताचरायाम्, — “आदित्यचन्द्रा-  
वमिलोऽनलय सौभूमिरापो हृदयं यमय । अहं रात्रिय उभे च सन्ध्ये धम्मय  
जागति मरत्य हसम् ॥” ), पापाचरणं केनापि कदापि गोपायितुं न शक्यते अथ  
अष्टशतान्ते वा अवग्रहेण प्रकाशितं भविष्यतीति भावः । अथ प्रस्तुतानां सर्वेषामेव  
दिग्-वनटि-वता-चन्द्रादीनाम् एकया दर्शनक्रियया अभिसम्बन्धात्तुल्ययोगिता नाम  
अलङ्कारः । वसन्ततिवृत्तकं हसम् ॥ २४ ॥

( क ) पटान्तापवारितां — वस्त्रप्रान्तेन चाच्छादितां, येन केऽपि न द्रष्टुं शक्य-  
तीति भावः ।

( ख ) अपध्वस्त, — नीचवशप्रसूत, अथवा इहलोकान् परलोकान् अध-  
पतित, धिक्कृत इति यावत् ।

( ग ) अधम्मभील, — अधम्माचरणार्थशील इत्यर्थः । इडकील, — जीर्ण-  
शकर [ “वराहं यकरो हृदि कीलं पोथी” इत्यमरः । लङ्कार्हाचनेन  
“इडकीले” इत्यत्र “इडकीले” इति पठित्वा इहमनाल इति व्याख्यातम् ] ।  
आक्, दीर्घन्तशब्दा लया नष्टत्वात्पुनराहतम्, इटानीलु इहले धम्मवदुत्त  
इत्या च तान् रोपायति इत्याशयः, ददा — आकाशदिग्दया यद्येहहत्वेन शृङ्खलवत्  
रूपेण लान्ते दृष्टव्यत्वेन च वेदं इति “इडकीले” इति शकारस्य सावर्णीकक्रिय  
यावत् । सुवर्णकटकान् — सुवर्णकटकान् ।

शकारः । अहं ते भेडकं ददृशं । अस्मा च,—विविक्ते (ह)  
उज्जागे इह मालन्तं को तुमं पेक्विश्रुति १ \*

विट ।—

पश्यन्ति मां दशदिशो, वनदेवताश्च,  
चन्द्रश्च, दीप्तकिरणश्च दिवाकरोऽयम् ।  
धर्मानिलौ च गगनञ्च तथाऽन्तरात्मा  
भूमिस्तथा सुकृत-दुष्कृत-मात्तिभूता ॥ २४ ॥

\* अहं त उडुप दास्यामि । अन्यच्च,—विविक्ते उद्याने इह मारयन् कस्तां  
प्रेक्षिष्यते १

वेद्यान्वे सत्यपि कुलकामिनौमिव पवित्रपण्यवतीमित्यर्थः, अनागम—निरपराधाम्,  
एना—वसन्तसेना, घातयामि—मारयामि, तदा—तादृशकाव्यानुष्ठाने कृते इत्यर्थः,  
केन उडुपेन—प्लवेन, किम्भूतः तरणसाधनमवलम्ब्य इत्यर्थः, ( “उडुपन्तु प्रव कोल”  
इत्यमरः ) परलीकनटी—परलीकपथमध्यवर्तिनीं सरितं, तैरणीमित्यर्थः, तदिदं—  
अतिक्रमिष्यामि, तत उत्तीर्णी भविष्यामि १ न केनापि इत्यर्थः । निरपराधाया  
अस्या हनने परलीके नैव मे निस्तारः, तेन अवश्यमेवाह निरयगामी भविष्यामीति  
भावः । अथ बालादिविशेषणानां साभिप्रायकतया परिकरील्लङ्कारः, “उत्तिर्निश्वस्य  
साभिप्राये परिकरो मत्त” इति लक्षणात् । [ तरन्ते भौवादिकस्य परस्मैपदित्येनाग  
शिष्टतया तदनुशासनमुल्लङ्घ्य आत्मनेपदप्रयोगादत्र व्याकरणलक्षणहीनत्वरूपं श्रुत  
संस्कारतादोषं विज्ञेयः ] । वसन्ततिलक वृत्तम् ॥ २३ ॥

( ह ) उडुप—प्लवम्, “डोडा” इति वङ्गभाषा । विविक्ते—निर्जनं,  
( “विविक्तौ पूतविजनौ” इत्यमरः ) ।

“—कस्तां प्रेक्षिष्यते १” इति शकारवाक्यस्थोत्तरं दातुं सर्वथा अनाना कम्पमापि  
भूततया ध्येतान् शास्त्रोक्तान् देवादीन् निर्दिशति, पश्यन्तीति ।—सुकृतदुष्कृतमाध  
मृता,—पृथपापथी साक्षाद्भटारः, [ विशेषणमेतत् सर्वैरव कर्तृपदे यद्यमभ्य  
लिङ्गविभक्तिविपरिणामेनावृत्तिः ] दश—दशमद्वाका, दिशः—ककुभः, वनदेवता,  
—आरण्यदेव्यश्च, [ अथ सर्वेभ्यः कर्तृपदेभ्यश्चकार दशनक्रियायां प्रत्येकप्रधान  
योगकः ] चन्द्रः,—निशाकरश्च, दीप्तकिरणः,—भास्वराश्च, अथ—परिदृश्यमानः,  
दिवाकरः,—सूर्यश्च, ( मध्याह्ने सूर्यस्य गगनमध्यदेशे अवस्थानात् हस्तेन निर्दिष्टमात्रं

शकार । तेण हि पडन्तोवालिदं (क) कदुअ मालेहि । ३

विट । सूर्ख । अपध्वस्तोऽसि (ख) ।

गकार । अधम्मभीलू एसे बुद्धकोले । भोटु, यावलअ चेडं  
अणुणेसि । पुत्तका यावलका चेडा । शोवस्सखडुआइ (ग)  
टट्टण्ण । १

\* तेन हि पटान्नापवारितो कृत्वा मास्य ।

\* अधम्मभीरुणं हृदकोल । भवतु, प्यावरक चेटममुमयामि । पुत्तक स्यावरक  
चेट । सुवर्णकटकानि टाढामि ।

“अथ”शब्दी बोध्य ) धर्म — शान्तविहितकर्मानुष्ठानजन्यभाविफलसाधनमुत्तमभा-  
वदम्, धर्मिल, — वायु, एतौ चित्थं, गगनम् — आकाशश्च, तथा अन्तरात्मा  
— मन, शरीरान्तर्वर्ती जीवात्मा वा, तथा भूमि, — पृथ्वी च, ना — विटमित्यर्थं,  
पण्डिति — अवलोकयन्ति, ( एतदुपलक्षणम्, तेन अनल-सलिल-यम-यानिनी-  
प्रवृत्तीनामपि कफमादित्वा बोध्यम्, तदुक्तं मिताचरायाम्, — “आदित्यचन्द्रा-  
दग्निर्लोऽनलश्च योर्भूमिरापो हृदयं यमश्च । अहश्च रात्रिश्च उभे च सन्ध्ये धम्मश्च  
लान्नाति मरुश्च हस्तम् ॥” ), पापावरणं केनापि कदापि गोपायितुं न शक्यते, अथ  
अष्टाङ्गताले वा अवश्यमेव प्रकाशितं भविष्यतीति भावः । अत्र प्रस्तुतानां सर्वेषामेव  
टिग् वनटवता-चन्द्रादीनाम् एकया दशनक्रियया अभिसम्बन्धात्तुल्ययोगिता जान  
अट्टार । वसन्ततिलकं हस्तम् ॥ २४ ॥

( क ) पटान्नापवारिता — वस्त्रप्रालेन आच्छादिता, येन केऽपि न द्रष्टुं शक्य-  
मिति भावः ।



चेट । अहं पि पलिह्दिश । \*

शकार । शोवसं टे पीठकं (घ) कालइश । †

चेट । अह पि उवविशिश् । ‡

शकार । शब्बं टे उच्छिट् (ङ) दइश । §

चेट । अहं पि खाइश । ¶

शकार । शब्बचेडाण महत्तलकं कालइश (च) । \*\*

चेट । भट्के । हुविस्स । ††

शकार । ता मस्येहि (क) मम वअणं । ‡‡

चेट । भट्के । शब्ब कलेमि, वज्जिअ अकज्ज । §§

शकार । अकज्जाह गन्धे वि णत्थि । ¶¶

चेट । भणादु भट्के । \*\*\*

शकार । एण वसन्तसेणिअं मालेहि । †††

चेट । पशीददु भट्के । इअ मए अणज्जेण अज्जा पवहण-

पलिवत्तणेण आणीदा । ‡‡‡

\* अहमपि परिधास्यामि ।

† शौवर्णे ते पीठकं कारयिष्यामि ।

‡ अहमपि उववेत्स्यामि ।

§ सर्वे ते उच्छिष्ट दास्यामि ।

¶ अहमपि खादिष्यामि ।

\*\* सर्व्वचेटानां महत्तरक कारयिष्यामि ।

†† भट्क ! भविष्यामि ।

‡‡ तन्नन्यस्व मम वचनम् ।

§§ भट्क ! सर्वं करोमि, वर्ज्जयित्वा अकाय्यम् । ¶¶ अकाय्यस्य गन्धोऽपि नास्ति ।

\*\*\* भयतु भट्क ।

††† एतां वसन्तसेनां गारय ।

‡‡‡ प्रसीदतु भट्क । इय मया अनार्येण आय्या प्रवहणपरिवर्त्तनेनानीता ।

( घ ) पीठकम्—आसनम् ।

( ङ ) उच्छिष्ट—भुक्तावशिष्टम्, “प्रसाद” इति वदभाषा, शकारस्य राजश्यालकतया चब्बचूष्यादावविधस्वादुद्रव्याशिलात् तदुक्तावशिष्टमन्त्र भाग्यलभ्यसेनात् तेषु चटस्य क्षोभप्रदर्शनं सद्व्रतमेवेति बोध्यम् ।

( च ) महत्तरक—प्रधानम् । कारयिष्यामि, राजा इति शब्द ।

( क ) मयस्व—स्त्रीबुद्ध इत्यर्थः ।

शकार । अले चेडा । तवावि ण पव्वामि ? (ज) ३

चेट । पव्वदि भट्ठके शल्लोलाह, ण चालित्ताह, ता पशीटदु पशीटदु भट्ठके । भाआमि क्खु अह । १

शकार । तुम मम चेडे भविअ कश्श भाआशि ? ३

चेट । भट्ठके ! पललोअश्श । §

शकार । के शे.पललोए ? १

चेट । भट्ठके ! शुकिद-दुकिदश्श पलिणामे । (भ) ३३

शकार । केलिसे शुकिदश्श पलिणामे ? ११

चेट । जाटिसे भट्ठके वहुमोवस्समण्डिदे । ३३

शकार । दुकिदश्श केलिसे ? §§

\* अरे चेट । तवापि न प्रभवामि ?

+ प्रभवति भट्ठक शरीरस्य, ण चारिषस्य तत् प्रसीदतु प्रसीदतु भट्ठक ।  
विभेमि खण्ण पइम् ।

‡ त्व मम चेटी भूत्वा कक्षात विभेपि ? § भट्ठक । परलोकात् ।

१ क न परलोक ?

३३ भट्ठक । सुकृतदुक्कृतयो परिणाम ।

११ कीदृश सुकृतस्य परिणाम ?

३३ यादृशा भट्ठका बहुमुवस्समण्डित ।

§§ दुक्कृतस्य कीदृश ?

( ज ) प्रभवामि—प्रभुभवामीत्यर्थ, तदुपरि अपि किं मन कर्तव्यं अधिकारी  
नामि ? इति समुदिताशयः ।

( भ ) सुकृतदुक्कृतयोः,—पुण्यपापयोः, परिणाम,—परिणामः, फलरूपेण  
परिणतिरित्यर्थः “हादरितो भाव इव्यदन्त प्रवाणन्ते” इति व्याजान्ते, परिणमन्तान्ते  
सुकृतदुक्कृत इति तु पश्यवन्तिऽहम् । तथा हि पर —पण्डिकादस्य, लोकात्—  
सुखदशादप्येतत् तथा दुःखदशादप्येतत् वा दृश्यत दोऽसौ लोकः, लाङ्कान्तरीय दुःख-  
दशादप्येतत् पश्यन्त्यमान्स्व, सुखदशादप्येतत् वा, इति चददददददद द्युक्तान्  
एवमेव, एव विधीषदपिपदा प्रदुज्जमान्स्व परलीहददददद दद्यादभस्तापननीध-  
रश्चन इवार् एव तथाप्येतत् इत्यन्तरेतदव सुकृतदुक्कृतयोः परिण नदपददोद  
११ १२ १३ १४ १५ ।

चेट् । जाटिशे हग्गे पलपिण्ड-भक्तके भृटे ; ता  
अकज्ज (ज) ण कलङ्गश्श । ३

शकार । अले । ए मालिङ्गश्शि १ णं [ इति बहुविध ताडयति ] ।

चेट् । पिट्टदु भट्टके, मालेदु भट्टके, अकज्ज ण कल-  
ङ्गश्श, ३:—

जेण म्हि गम्भदाशे विणिम्मिदे भाअहेअ-दोशेहि ।

अहिअ च ए कीणिङ्गश्श तेण अकज्ज पलिहलामि § ॥ २५ ॥

वस । भाव । सरणागदम्हि । १

विट् । काणेलीमातः । मर्षय, मर्षय । (ट) साधु स्यावरक ।

साधु,—

\* यादृशीऽह परपिण्डभक्तको भृत , तदकार्यं न करिष्यामि ।

+ अरे । न मारयिष्यसि ?

‡ पिट्टयतु ( ताडयतु ) भट्टक , मारयतु भट्टक , अकार्यं न करिष्यामि,—

§ वेनाम्मि गर्भदासी विनिर्मितो भागधेयदोषे ।

अधिकश्च न क्रेष्यामि, तेनाकार्यं परिहरामि ॥

१ भाव । शरणागतोऽस्मि ।

( ज ) परपिण्डभक्तक,—परिपास्—अन्येषा, पिण्डम्—आजीवनम, अन्नयाम  
नित्यं , भक्षयति—अन्नाति इति परान्नभीजो इत्यर्थ , परदोयनानाद्रीपजौषी इति  
यावत् । [“पलपिण्डभक्तक” इत्यत्र “पलपिण्डपुट्टके जाते” इति पाठे “परपिण्डपुट्टको  
जात” इति संस्कृतम् ] । अकार्ये—गर्हित कर्म, पापफलक कार्यामिति यावत् ।

अकार्याकरणे हेतुमाह, वेनेति ।—वेन—यस्मात् हेतोरित्यर्थ , भागधेयदोषे ,  
—पूर्वजन्मावृतिताकार्यफलभूतदुरदृष्टपरिणतिवशादित्यर्थ , गर्भदास,—आजन्मभला  
इत्यर्थ , विनिर्मित,—कल्पित , विधिना इति शेष , अस्मि—भवामि, तेन—तस्मात्  
ह्नामित्यर्थ , अकार्ये—निन्दित कर्म, परिहरामि—त्यजामि, अधिकम्—एतस्मात्पाप  
गर्भदासफलत्वादतिरिक्त , विषमफलभूतभौषणनरकादिरूपमित्यर्थ , न क्रेष्यामि—आत्म  
कृतकस्यात्मकमूल्यदानेन यक्षीष्यामि, अकार्याविनिमयेन गर्भदास्यादव्यधिकतर धीर  
नरकपातादिष्वपि दुरदृष्टपरिणाम न सञ्चिर्भामि इति भाव । आद्या वृत्तम् ॥ २५ ॥

( ट ) मर्षय मर्षय—समस्त समस्त, क्रोध परिहर इत्यर्थ , [‘वेनाय’ ॥ १॥ ॥

अप्येष नाम परिभूतदशो दग्धिः

प्रेष्य परत्र फलमिच्छति, नास्य भर्ता ।

तस्मादमी कथमिवाद्य न यान्ति नाशः ।

ये वर्द्धयन्त्यसदृशः सदृशं त्यजन्ति ? ॥ २६ ॥

अपि च.—रन्ध्रानुमारी विषमः कृतान्तो

यदस्य दास्यं तव चेश्वरत्वम् ।

स्वावरकस्य साधुचरितमुपवर्णयितुं प्रसङ्गात् असदृशकर्मकारिण जनान् उपा-  
स्यते, अपीति ।—परिभूता—तिरस्कृता, सर्वैरेवावज्ञातेत्यर्थः, दश—अवस्था यस्य  
सः दुरवस्थ इत्यर्थः दग्धिः,—निर्जितः, स्त्रीदशस्यापि पोषणाय नियतव्याकुलमना  
इति भावः, प्रेष्य—भृत्यः सन् अपि, [ “प्रपूर्वकादिच्छन्ते इत्येतेषां कर्मणि स्यति  
रूपं सन्त्येति तु, प्रस्थावणात् परयो एवैष्यथो हृद्दे, एवमेवैष्यथो परयो प्रस्थावणस्य  
लोपस्य च विधानात् प्रेष्य इत्यपि पदान्तरं भवतीति बोद्धव्यम् । “नियोज्य किङ्करः  
प्रेष्य भुजिष्य परिचारकः” इत्यमरः ] एष,—चेष्ट इत्यर्थः, परत्र—परलोके, फल  
—निरवच्छिन्नसुखसन्ततिरूपम्, अथवा सदृशिरूपसुदृढमित्यर्थः, नाम—सम्भावनाया  
मन्ययम्, इच्छति—अभिलषति अस्य—भृत्यस्य, चेष्टस्य इत्यर्थः भर्ता—स्वामी,  
इकार इत्यर्थः, न, इच्छतीति शेषः तस्मात्—भृत्यः धर्मभयस्य प्रभौ तद्विपर्ययस्य  
च दर्शनादित्यर्थः, ये—जनाः असमीत्यकारिणः किम्भव इत्यर्थः, दैवहतका वा,  
असदृशः—अयोग्यः अपारलौकिककर्मकारिणमिति वा, वर्द्धयन्ति—वर्द्धिं प्राप-  
यन्ति पीडयन्तः कुर्वन्तीत्यर्थः, तथा सदृशः—योग्यः, वर्द्धिप्राप्तुपयोगिनः जनमित्यर्थः,

श्रिय त्वदीया यदयं न भुङ्क्ते.

यदेतदाज्ञां न भवान् करोति ॥ २७ ॥

सौभाग्यासौभाग्यविधायक देव तिरस्कर्तुं, रन्नेति ।—कृतान्त, —देव, ( “कृतान्तो ऽस्मैकस्मिन् सिद्धान्तयमदैवेपु” इति हेमचन्द्र ) रन्मानसारी—छिद्रानुसन्धायी, दोष-  
मावदर्शोत्थ, न तु गुणपक्षपातीति यावत्, अन्यथा कथमेतमधना गुणशतान्कृत  
मतिधम्मपरायणमपि पूर्वकृतदुष्कृतलेशानुसन्धानतत्परं दुर्गते परां कीटिसुपलभ्यन्  
नियतमधम्मपरायणमपि शकारं तदोद्यपूर्वकृतमुकृतलेशानुसन्धानेन सौभाग्यसौमां  
लभ्यमासासिति भावः, ( अथवा,—रन्मानसारी—दुर्गतानामेव छिद्रानुसन्धानात् तेषु  
शतनिर्व्यातनपटीयामिति भावः, “छिद्रेष्वनयां बहुली भवन्ति” इति दशनात् ।  
विपन्ना एव जना अनद्यशतमुपमुञ्जते, न तु सम्पन्ना, तेषां दोषशतमज्ञावेऽपि तत्  
फलभोगस्य सर्वथाऽदर्शनात् ) अत एव विषम,—विपरीत, अत्रिचारक इत्यर्थः,  
( यदा,—दैवमन्यमानमाय्यजनविगर्हिताकाय्यकारिण शकारं सदपदिशन् दैवस्य  
विषमत्वमुपपादयति ।—विषम,—फलानुमेयतया विपरीतः, धार्मिकस्य बहुल-  
गुणवतोऽपि पूर्वकृतदुष्कृतलेशवशात् क्लेशशतावामि, अधार्मिकस्याकाय्यकारिण  
पूर्वकृतसुकृतलेशवशादेव प्रमुत्पादिमुखावाप्तिश्च देवप्रातिकृत्यानुकृत्याभ्यां सम्भवति,  
एतेनैश्वर्यमदमत्तस्य शकारस्य अपकार्यकरणे नियतमेव छिद्रान्वेषी कृतान्तं प्रति  
कृन्नी भविष्यति, तेन च सर्व्वमिदं प्रमुत्पादिकनचिरंणैश्च कालेन विलयं यावति इति  
त्यज्यते ) । कृतान्तस्य विषमत्वे हेतुमाह, यदिति ।—यत्—यस्मात्, अस्य—चेदस्य,  
परलोकभोगो साधोरिति भावः, दास्य—किञ्चरत्वं, परपिण्डोपजीवित्वमिति यावत्,  
तत्र च—अकार्यकारिण क्लेशधीयतस्य शकारस्य इति भावः, ईश्वरत्वं—प्रभुत्वं,  
दैवेन कृतमिति शेषः, यत्—यस्मात्, अप—चेद’, त्वदीयां—शकारमस्मिन्नो,  
श्रियम्—ऐश्वर्य्यं, न भुङ्क्ते—नानुभवति धार्मिकतया प्रभुयोग्येऽयं तत्र सम्पत्तिं यत्  
न प्राप्नोति इत्यर्थः प्रभुत्वेनेति भावः, यत्—यस्मात्, भवान्—त्वः, शकारं इत्यर्थः, एत  
दाज्ञाम्—एतस्य—चेदस्य, आज्ञाम्—आदेशः, न करोति—न पालयतीत्यर्थः, अन्य  
भावेनेति भावः, धार्मिकत्वेन प्रभुयोग्येऽपि अथ यत् तत्र सम्पत्तिं नोपभुङ्क्ते,  
अधार्मिकत्वेन अस्य दासायोग्येऽपि भवान् यदस्य आदेशं न पालयति तदतस्त  
दैवस्य न केवलम् अविमृश्यकारित्वम्, अपि तु अविवेककृतं पश्यमानोऽपीति समु  
दिताशयः । अतः प्रथमपादगतवाक्यायै प्रति अपरपादवत्वाप्रार्थायां नित्यादिकलेन  
हेतुतया काव्यलिङ्गमलङ्कारः । इन्द्रश्चोपेन्द्रश्च गोर्मलनादुपजाति उरसम् ॥ २७ ॥

इकार । [ स्तगतम् ] अधम्मभिलुए बुद्धखोडे, पललोअभिलू  
एणे गम्भदाणे, हग्गे लट्ठिअशाले कश्श भाआमि (ठ) वल-  
पुल्लिशमणुअणे ? [ प्रकाशन् ] अले गम्भदाणे चेडे ! गच्छ तुम,  
ओवत्तके पविशिअ वीयन्ते एअन्ते (ड) चिट्ठ । \*

चेट । ज भट्ठके आणवेदि । [ वसन्तसेनामुपसृत्य ] अज्जए ।  
एत्तिके ने विहवे (ढ) । † [ इति निष्क्रान्त ] ।

इकार । [ परिकर (८) वधन् ] चिट्ठ वशन्तशेणिए ! चिट्ठ,  
सालइशं । ‡

विट् । आ. ! समाग्रतो व्यापादयिष्यमि ? (त) [ इति मले  
गच्छति ] ।

\* अधम्मभीरुकी वड्डयगाल, परलोकभीरुरेव गम्भदास, अहं राष्ट्रियशाल  
केष्सात बिमेमि वरपरुपमनुय ? अरे गम्भदास चेट । गच्छ त्वम्, अपवारके  
अविश्व विद्यान्त एकान्ते तिष्ठ ।

† यत् भट्टक आज्ञापयति । आर्ये । एतावान् ने विभव ।

‡ तिष्ठ वसन्तसेने । तिष्ठ, नारयिष्यामि ।

( ठ ) अधम्मभीरुक, —अधम्मावरपादयशौच इत्यर्थः । कस्माद्विमेमि—  
कस्मात् ? न कस्मादपि ने दासहेतुरस्मि इत्यर्थः ।

( ड ) अपवारक—गृहविग्रहे, ( कवचनिकामये इति केचित्, “सन्तधिरप  
वारकम्” “आस्थादने सन्निधानमपवारकमित्युभे” इत्युभयवैदासने अपवारकमब्ध-  
त्वात् । इदं गद्ये प्रयोगदृष्ट्यात् अपवारक इत्यर्थे कर्त्तरि ऋक्, अपवारकमब्धत्वादि  
अस्मादकादकवचनमुक्तेरस्य ) । एतान्ते—एकस्मिन् पार्श्वे, निजने इत्यर्थः,  
अस्मात्पादादन्तर्भावे ।

शकार. । [ मूढो पतति ] भावे भट्टकं मालेदि ॥ \* (य)  
[ इति मोह नाटयति । चेतना लब्धा ] ।—

शब्दकाल मए पुष्टे मशेण अ घिएण अ ।

अज्ज कज्जे शमुप्यसे, जादे मे वैलिए कध ? † ॥ २८ ॥

[ विचिन्त्य स्वगतम् ] भोटु, लब्धे मए उवाए । दिस्सा बुद्ध-  
खोडेण शिरसालणशस्सा, ता एद पेगिअ वशन्तशेणिअ मान-  
इशं । एब्बं दाव । (ट) [ प्रकाशम् ] भावे । ज तुम मए भणिटे,

\* भावो भट्टक मारयति ॥—

† सर्वकाल मया पटो मासेन च घृतेन च ।

अथ कार्ये समुत्पन्ने जातो म वैरिक कथम् ? ॥

‡ भवतु, लब्धो मया उपायः । दत्ता वृत्त्यगामिन शिरसालनसज्जा, तदेत प्रेष्य

( य ) भट्टक—भट्टारक, प्रभुमित्यर्थ, मागिति शय । “भावे भट्टकं मालेदि” इत्यत “भावे भट्टके मालोपदि” इति पाठे—“भाव । भट्टक माय्यत” इति संस्कृतम् । एतन्मते “भाव” इति स्वस्वाधनात्, “भट्टक” उक्ते कर्मणि प्रथमा । माय्यते इति कर्मणि लट् ।

विटकृता निव्यातनामधिगत्य शकार विटस्याकृतवेदित्व दर्शयन्नाह, सर्वकाल मिति ।—सर्वकालम्—सकल समयसमिध्याय, अनुदिनसत्य, मया—शकार जेत्य, मासेन—सुखादुना आसिपेण, तथा घृतेन—सर्पिषा, च पुष्ट,—वृद्धि नीत, परिपोषित इत्यर्थ, विट इति शेष, अथ—इदानीम्, आत्मन् चर्ण इत्यर्थ, कार्ये—प्रयोजने समुत्पन्ने—उपस्थित सति इत्यर्थ, कथ—किमर्थं, मे—मम, वैरिक,—शत्रु, [ वैरिक इति वैरिक इति वैरिक इति स्वार्थे कन ] जात,—भूत ? पतयत मट्टमसुभोज्यपरिवर्तितशरीरस्य ते, मट्टीयकायकाले एवविधमप्रियानुदानमकृतशरीर परिचायकतया अतीवानुचितमिति तात्पर्यम् । पय्यावकं वचनम् ॥ २८ ॥

( ट ) शिरसालनसज्जा—शिरस,—मम मस्तकस्य चालनेन—करण गमनं गृह्णीत्वा आलोडनेनेत्यर्थ, शिरस अधोनमनेन उग्रमनेन चेति यावत्, मया—आम, बुद्धिस्फूर्तिरित्यर्थ, दत्ता—मह्यमापनेत्यर्थ, विटनीत शय, मम गमनं शकारवेन शिरसर्भं द्या मया विट इदं नी मज्जन एका नवीनामुदावर्तो शक्ति दत्तवान् इति तात्पर्यात्, शकारधनत्वेनेतत् शास्त्ररमोदोपक वचनं प्रोक्तरीत्या तद्रसादुद्भवेन





शकारः । भावे ! एषा तव अगदो लज्जाअटि, गं मं  
अङ्गीकलेदि । ता गच्छ, थावलअ-चेडे मए पिट्टिदे गदे  
वि एशे पलाइअ गच्छदि, ता त गेल्लिअ आअच्छदु  
भावे । \* (न)

विट । [ स्वगतम् ]—

अस्मत्समत्तं हि वसन्तसेना

शौण्डीर्यभावान्न भजेत सूर्खम् ।

\* भाव । एषा तवायतो लज्जते, न मामङ्गीकरोति । तद्गच्छ, स्थावरकचेटो  
मया पिट्टितो ( ताडितो ) गतोऽपि एष पलाय्य गच्छति, तस्मात्त गृहीत्वा आगच्छतु  
भाव ।

वशीदाहरणम् अकिञ्चित्कर, सौशील्यमेव अनुचितानाचरणे कारणमिति भाव ।  
अथ कुलक्ष सुचेदेष, शकारस्य च कण्टकिद्रुमै साङ्गं साम्यस्य प्रणिधानगम्यत्वात्  
साधर्म्येण दृष्टान्तो नामालङ्कार । पथ्यावक्तव्यम् ॥ २८ ॥

( न ) तव अयत. —त्वत्समच्चमित्यर्थ । अङ्गीकरोति—स्वीकरोति, रमण-  
रङ्गेण इति शेष, महाऽनुभवं भवन्त पुरत अवलोक्य, रक्ताऽपि सती लज्जया सा  
व्यात्येन न भजत इति भाव । एष स्थावरकचेटो मया पिट्टितो गत अपि पलाय्य  
गच्छति इत्यन्वय, पलाय्य—पलायनं कृत्वा, [ परापूर्वकस्यायत इत्यस्य त्वपि रूप,  
रस्य च लत्वसमिधानादिति वेदितव्यम् ] मदनुमतिमगृहीत्वैवामौ सक्रोधं समाधि-  
कारात् पलायत, पुनन एष्यति इति सम्भावयामि, अत भवान् समानेत सत्वर यातु  
इति समुद्दिताय । वसन्तसेनानिघासुरय दुष्टशकार स्वोदकामात्तत्त्वप्रख्यापनव्याजिन  
पञ्चमुक्ता विट देशान्तरं प्ररयति इति वेदितव्यम् । अपीति सम्भावनायामव्यवर्तिता  
ज्ञेयम् । [ “पिट्टिदे गदेवि एशे” इत्यथ “पिट्टिदे गदेवि विअ श” इति पाठस्य  
सम्यक् आमाति, तथात्वे, यत स्थावरकचेट गद्गभ इव ताडित, अत एव स  
पलाय्य गच्छतीत्यन्वयः ] ।

एवंविधः शकारभाषितः क्लृप्तसमवेत्यनवगत्यैव कृत्तुमिति विट, कुलजा इव  
जसन्तसेना मयमश्राडिततया मम समक्षं मम्रातलज्जा आस्मिन् स्वाभिलाषं दृष्ट्वा न  
प्रकाशयतीति मन्यमाना मद्यात् म्यानादपमर्तुं काम आह, अस्मादिना ।—वसन्तसेना,  
शौण्डीर्यभावात्—उदारस्वभावसम्यग्वादित्यर्थ, उदारस्वभावा तया आदत्ता

तस्मात्करोम्येष विविक्तमस्या

विविक्तविश्रम्भरसो हि कामः ॥ ३० ॥

[ प्रकाशम् ] एवं भवतु, गच्छामि ।

वस । [ पटान्ते (प) गृहीत्वा ] यं भणामि शरणागतमिह । \*

विट । वसन्तसेनि । न भेतव्यं, न भेतव्यम् । काणेत्सी-  
मातः । वसन्तसेना तव हस्ते न्यासः (फ) ।

शकार । एवं मम हस्ते एषा याशेण चिह्नदु । †

\* अनु । भणामि शरणागताऽस्मि । + एव मम हस्ते एषा न्यासेम तिष्ठतु ।

रागिणी भूत्वाऽपि “कथमहम् इदानीम् अयंलोभेन छुट्यावधीरितशकार, सत विटस्य समस्त भजामि किम्” इत्यवधीधयितुमिवेति भावः, अस्मात्समस्त—मम सन्निधौ मुखे—सदृशद्विवेकविरहितम्, अतः तादृशविह्वलमणीरमणानर्हमित्यर्थः, शकारांमातः शेषः, न भजेत—सेवेत, मुरतरङ्गेन शकार न प्रीणीयादित्यर्थः, तस्मात्—समस्तम् भजना-  
स्वीकारात् इत्यर्थः, पप,—अहम्, अस्या,—वसन्तसेनायाः, विविक्त—विजनत्वः, करोमि—विदधामि, मदपसरणेनास्या निर्वाध निषुवनसङ्गत समाधयामीत्यर्थः, हि—यतः, काम,—मदनः, मुरतसम्भोगः वा, विविक्ते—विजने, यः विश्रम्भः,—विश्रामसहस्रतरहस्यव्यापारः, तस्मिन्, रसः,—अनुरागः यस्य तादृशः, विजनेषु पप काम प्रसरतीति तात्पर्यम्, यथा—विविक्ते—जनसङ्घाररहिते देशे, यः विश्रम्भः,—अङ्गद्वितया अवस्थानात् उभयोः यः निर्वाधमुपभोगविश्राम इत्यर्थः, तेन उप-  
भुज्यमान इति शेषः, रसः,—रस्यमानः स्वाद इत्यर्थः, निरतिशयसुखसन्ततिरप-  
यस्य, तथाविध इति विदहलभ्योऽप्य, असङ्कुचितचेतोभ्यामाभ्यामेव रतिरसः कस्यक्-  
तया अनुभवितुं यथा शक्यते तथा कर्तव्यमेव मया, अतोऽधुना इतः अपसक्तव्यमिति  
विटस्याभिप्रायः । अथ सामान्येन विविक्तमपसरणेऽद्यान्तरस्यासीत्युदाहरः । उपजाति  
हन्तु । ३० ।

( प ) पटान्ते—वस्त्रपान्ते, विटमेति शेषः ।

( फ ) न्यासः—उपनिधिः निक्षेप इत्यर्थः पुनरुदाहरणं किंत्वा न तव समोद-  
पत्तः भवत्यस्य रसोऽस्मिन् एव दृश्यते हि तादृशः, न्यासस्तु वस्तु रसकैः दृष्टेष्टमुपभोग-  
न शक्यं इति अतः समस्ततरागतमेव सर्वं रसमेवैव वसन्तसेनायामपि वसन्त-  
सेनायाः मुरतरङ्गेन इति श्रुत्वा न्यासस्तमेव न्यासयेत् ।

षिट । मत्यम् १

शकार । शच्च । ५ (ब)

षिट । [ किञ्चिद्भवा ] अथवा मयि गते नृशंसो हन्यादेनाम् ;  
तदपवारितशरीरः पश्यामि तावदस्य चिकीर्षितम् । (भ) [ इति  
एकान्ते ( म ) स्थितः ] ।

शकार । भोटु, मालइश, अधवा कवड-कावडिके  
एशे बम्हणे बुद्धुखोडे कटावि ओवालिद-शलीले गडिअ,  
शिअली भविअ, हुलुभुलिं (य) कलेटि, ता एदश वञ्चना-  
णिमित्तं एव्व दाव कलइशं । [ कुसुमावचय कुर्वन्नायान सम्पद्यति ] ।  
वाशू । वाशू । वशन्तशेणिए । एहि । ७

षिट । अये । कामी सहत्त ; हन्त निव्वेतोऽस्मि ।  
गच्छामि । [ इति निष्क्रान्तः ] ।

\* मत्यम् ।

+ भवतु मारयिष्यामि, अथवा कपटकापटिक एव ब्राह्मणो नृशंगाम  
कटापि अपवारितशरीरो गत्वा, शंगालो भूत्वा कपटं करोति ? तदेतस्य वञ्चना-  
निमित्तमेव तावत् करिष्यामि । वासु । (बाले ।) वासु । (बाले ।) वसन्तसेने । एहि ।

( ब ) शाकारभाषाया नाश-न्यासशब्दयोरैकाकारतया प्रयोगदृष्ट्यात्, “णाशेष  
इत्यस्य “विनाशं तच्छतु” इत्यथमाभेदेनैव शकारणोक्तमततः, अतो नास्य मित्या  
वादित्वमिति व्येयम् । कविनाऽप्यत्र वसन्तसेनानिधनसम्पृक्तोदन्तजातमित एव  
प्रारभ्यत इति सामाजिकेभ्य विद्यापयितृमेतत् सेद्धितमुपन्यस्तमिति वादतव्यम् ।

( भ ) नृशंस, —कूर, घातुक इत्यर्थः, ( “नृशंसो घातुक कूर” इत्यमरः ) ।  
एना—वसन्तसेनाम् । अपवारितशरीर, —प्रच्छादितदेहः, अन्तराले स्थित्वा व्यत  
धापितवियह सन् इत्यर्थः । चिकीर्षितम्—कर्ममितम् अभिलषितं कम्प इत्यर्थः ।

( म ) एकान्ते—निर्जने, एकस्मिन् पार्श्वे इत्यर्थः ।

( य ) कपटकापटिक, —अतोव मायावीत्यर्थः, [ कपटाचरणं गौलमहेत्यर्थं  
कपटशब्दात् “गौलम्” ( ४ ४ ६१ पा० ) इति सूत्रेण गौलार्थे ठक ] अन्त्यकपट  
व्यवहारो इति यावत्, अत्र कपटशब्दस्य पुनरुक्तत्वेन कथितपदत्वदोषः शकार  
वक्तृत्वात् सेदव्यः ।

प्रकार । शुवस्मिन् अटमि, पित्र वदेमि,

पडेमि शीशेण शवेष्टणेण ।

तथात्रि मं गच्छेति ? शुद्धदन्ति !

किं शिवं कष्टमत्रा मणुष्याः ॥ ३१ ॥ \*

वस । को एष सन्देहो । † [ अवनतमुखो सचूणक "खलचरित" इत्यादि श्लोकद्वय पठति ] ।

८ सुवर्णक ददामि प्रिय वदामि, पतामि शीर्षेण सवेष्टनेन ।

तथाऽपि नां नेच्छामि शुद्धदन्ति । किं सेवक कष्टमत्रा मणुष्या ॥

† कोऽयं सन्देहः ।

अपवारितविद्यही भूत्वा विटघेत समापकार्यं पश्येत् तदाऽयं महान्तं विघ्नमुत पाटयैदिति विभाव्य त वच्चयितुमिदानीं वसन्तसेनाया स्वीय क्लृप्तानुरागं प्रदर्शयति सुवर्णकमिति ।—सुवर्णक—सुवर्णालङ्कार, सुवर्णमुद्रा वा, [ सुवर्णसेव इति सुवर्णक सुवर्णशब्दात् स्वार्थे कन् ] ददामि—यच्छामि, प्रिय—मधुर्वचनमिति यावत् वदामि—कथयामि, सवेष्टनेन सीर्षोपेष्ट, किरीटमुपितनेत्यर्थ, शीपण—नमस्तेन पतामि—आत्मानं निक्षिपामीति भावः, तव पाटयोरिति शब्द पाटयोरिति नमस्क सख्याय त्वाम् अनुमयामीति फलितार्थः हे शुद्धदन्ति ।—शोभन-दन्ते । तथाऽपि—इदं शानुनये क्रियमाणेऽपि इत्यर्थः, सेवक—परिचारक, ना—शक्यमित्यर्थः कि—कथं न इच्छामि ?—कान्यसे ? तव छन्दानुवृत्तये एव यदा निश्चयमनुतिष्ठति सति ते निश्चयव्यवहार सर्वथा अनुचित एवेति भावः, एतच्छात्रानामपि वसन्तसेनाया प्रसादमलभमाना हस्तिकनिर्वेदं प्रकटयति कष्टमत्रा इत्यादि ।—तदा हि मणुष्या—मानवा कष्टमत्रा—हेनप्रधाना,

खलचरित । निरुष्ट ! जातदोष

कथमिह मां परिलोभसे धनेन ? ।

सुचरित-चरित विगुडदेह

न हि कमल मधुपा परित्यजन्ति ॥ ३२ ॥

सत्यपि सेवककामनाऽपगिर्यरूपस्य तृतीयपादगतविशेषाथस्य सोपपत्तिकत्वकरणात्  
सामान्येन विवेकमयनरूपोऽयान्तरन्यासोऽलङ्कार । उपजाति वचन ॥ ३१ ॥

‘गुणिषु गुणज्ञो रमते नागुणिषु हि तस्य परितोष । अनिरिति वनात् कमल  
न हि भेकस्त्वेकवासोऽपि ॥’ इति व्यायात्, सती मत्सु एव अनुराग साहजिक, न  
तु निर्गणेपु, इति अस्मिन् त्वयि मेऽनुराग स्तरान्स्वाभाविक इति सामधिगन्तु त्वेदं

धनलोभपदार्थेन विफलमिति भङ्गा आह, खलिति ।—हे खलचरित ।—खलस्य—  
दुजनस्य, चरितमिव चरित—स्वभाव यस्य तादृश । निरुष्ट ।—नौच । ( अथवा,  
—हे खल । इति पृथगामल्लणपद, तथा, चरितेन—स्वभावेन, पापकम्पणा वा,  
निरुष्ट ।—नौच । ) त्वं जातदोष ।—समुत्पन्नपाप, निरपराधाया सम जिघांसया

इति भाव, निखलदोषैकभूमिरिति वाऽथ, अथवा जाते—जनने, दोष,—अप  
वाद, यस्य स, जारज इत्यथ, तथाभूत सन्नपि, इह,—अस्मिन्, ता प्रति प्रणय-  
प्रदर्शनविषये इत्यथ, धनेन—अस्मिन्निष्कर्षेण अर्थेन, मा—गुणवदेकमेव वसन्तमेना-

मित्यथ, कथ—किमर्थे, परिलोभसे—प्रलोभयसे ? तुच्छेन धनेन गुणवद्वत्तमा  
सम प्रलोभनं व्यर्थमिति भाव, एतमेवायमप्रस्तुतीत्यामेन प्रसूति, मुचरितति ।—  
मधुपा,—ममरा, प्रकृतथापेक्षया भूमय वा, [ नायिका इति खनि, मधुपय

इति पद मिडम्, तथा चाप मवपौतुल्याया वसन्तमेना । कसन्तुल्या चारुत्त,  
मधुपतुल्यस्य च चारुदत्तस्य कमलतुल्याया वसन्तमेना । कसन्तुल्या चारुत्त,  
पदार्थनग्न्याहृतमव, अतोऽत साम्यप्रदर्शने लिङ्गविषयामुज्जितश्रद्धा न करणीति ]

मुचरितचारत—मुचरितं—महु क्त, चरित—जनमनोहरणरूप काऽन तादृश,  
[ प्रकृतिमिति ध्वनि, तत्पत्ते तु,—मु—मद्यत्रमित्यथ, चरित—कृत, मर चरितं न  
यावन, चारत—स्वभाव येन तथोक्त, दारिद्र्यादश्यामप्यनतस्वभावमित्यर्थ, चरि,  
—मुचारत,—गजन, तस्य चारतमिव चरित—स्वभाव यस्य त, कसन्तुल्या  
जादकमित्यथ ] विगुडदेह—निन्दलाकार, ( पुद्गलपत्र तु—अपापमित्यर्थ ) न  
—यस्य, न हि—नैव, परित्यजन्ति—उत्क्षिप्ति, यथा गुणवद्वत्तमेन सम

यत्नेन सेवितव्यं पुरुषं कुलशीलवान् दरिद्रोऽपि ।

शोभा हि पणस्त्रीणां नटशजन-समाश्रयः कामः ॥ ३३ ॥

नकरन्दमन्धारपरिपूर्णं कमल विहाय कुसुमान्तरं न गच्छन्ति, तथा गुणानुरक्ता  
 अत्रमपि विविधसङ्गणगणोदात्त चारुदत्तमुपेत्य भवादृशनस्य कपकप नाश्रयामि इति  
 भावः । [ लभते लभ्यतेच परस्मैपदित्वेन "से" इति आत्मनेपदप्रयोगस्य, तथा  
 तौदादिकत्वेन उपधागुणस्य चाननुशिष्टत्वात्, "परिलोभसे" इति पठ व्याकरणलक्षण  
 हीनतया श्रुतसंस्कृतिदोषदृष्टमवधातव्यम्, "परिलुभमि" "परिलोभयसे" इति वा  
 पदमाधुतया सङ्गच्छते "आत्मनेपदमिच्छन्ति परस्मैपदिना क्वचित्" इत्यनुशासनानु-  
 सारेण कश्चित् आत्मनेपदमिडावपि तदादिगणीयत्वेन गुणस्यासम्भवत् सन्धितमेव ।  
 "स्वादेराकृतिगगनान् लोभति इत्यप्याह " इति दैवादिकधातुपाठविहतौ दीर्घात्वेन  
 मिहान्तकौन्त्या केचित्त्वभिधाय सतमुपन्यस्त, तन्मतानुसरणे नास्य अतस्त्कारता  
 दीर्घदृष्टत्वं वेदितव्यम् अथन्तु केचपि व्याकरणगणपाठेषु तौदादिकदैवादित्यति-  
 रिक्तस्य लभत परस्मैपदिन अटशनात् अस्य प्रोक्तदीर्घदृष्टत्वसाकल्यमित्यवधातव्यम् ।  
 अत्र सामान्यादप्रस्तुतात् सधुपानां कमलपरित्यागाभावरूपात् विशेषस्य प्रस्तुतस्य  
 वसन्तसेनाया चारुदत्तपरित्यागाभावरूपस्य गम्यत्वादप्रस्तुतप्रशंसाऽलङ्कारः, तथा  
 खलुचरितादिमन्दुविशिष्टपदानां साभिप्रायकानां प्रकृतादपीदृश्याभिप्रायेण प्रयोगात्  
 परिकरालङ्कारश्चेति, अन्यो तिलतण्डुलवत् अन्योन्यनिरपेक्षतया सन्धिते सन्दृष्टि  
 रिति बोध्यम् । पृष्णितादा हसन् ॥ ३२ ॥

अविश्र, सहकार-पादवं मेविश्र पलाश पादव अङ्गी-  
करिस्स १ \* (र)

शकार । दाशीए धीए । दलिहचालुदत्ताके शहआलु  
पादवे कडे, हगे उण पलाशे भणिते ॥ किशुके वि ण कडे ।  
एव्व तुम मे गालि टेन्ती (ल) अज्ज वि तं ज्जेव चालुदत्ताक  
शुमलेशि । १

\* अपि च सहकारपादप सेवित्वा पलाशपादपमङ्गीकरिष्यामि १

+ दास्या पुत्ति । दरिद्रचारुदत्तक सहकारपादप कृत, अह पुन पलाशी  
भणित ॥ किशुकोऽपि न कृत । एव त्व मस्य गालि ददती अद्यापि तमेव चारुदत्तक  
अरसि ?

माना स्वानुरूपे प्रणयिनि प्रणयिनी भवन्ति, तदा त्वामा घृण्याऽपि हृत्तिर्भूषणमेव  
भवतीति भाव । अथ वारवनितासामान्यस्य अनुरूपपुरुषानुरागजनितगीभावगण-  
रूपसामान्येन वारवनिताविशेषवसन्तसेनाया कुलशौलवत्त्वेन स्वानुरूपतया दीन  
पुरुषचारुदत्तसेवाया करण्यत्वेन समथनात् सामान्येन प्रियपुनसमर्पणोऽर्थान्तर  
न्यासीऽलङ्कार । आर्या वृत्तम् ॥ ३३ ॥

( र ) सहकारपादपम्—अतिसोरभादिगुणान्वितास्वतकम्, ( “आमयूतो  
रमालाऽमी सहकारीऽतिसोरभ” इत्यमर ) । पलाशपादप—किशुकवृक्ष, गन्ध  
शय्यतया निगुण सति भाव । “दिखुन पलाशपुष्य अति मनाहर । गन्ध विना केवा  
हार करे समादर ॥” इति वङ्गोपमायाऽनुसारत अस्य भावोऽवगन्तव्य । अङ्गी  
करिष्यामि—आश्रयत्वेन अभ्युपगमिष्यामि, प्रणयित्वान् स्वीकरिष्यामीत्यर्थ । अत  
अप्रस्तुताया सहकारपलाशाभ्यां प्रस्तुतयोपारुदत्तशकारयोर्विधानात् अप्रस्तुतप्रणमेव  
मलङ्कृतिः ।

( ल ) अथ पलाशकिशुकयोरेकपद्याप्रकृतेऽपि “पल माममश्राति” इति  
पलाश,—राजस, इत्येवमर्थे कुशा शकारेण “एव्व तुम मे गालि टेन्ती” इत्युक्तम् ।  
गालि ददती—आर्कोश कुर्वती इत्यर्थ, [ गालन्ने इत्यन्धात् धौरादिकान् गलनया  
कौरादिकान् गलधातो इति कते गालिगञ्च पुमि शाप आर्कोश आर्धे पुन्यादिन,  
अत ईकारान्तविशया “गाली” इति मस्कृते अनुवात् समकृत गदत्त मन्त्रासन १ ।

वन । हिअअगढो ज्जेव कित्ति ण सुमरीअदि १ ० (व)

इकार । अज्ज वि दे हिअअगढं तुम च शम ज्जेव

मोडेमि । (श) ता दलिह शत्यवाहअ-मणुग्ग कामुकिणि । चिद्ध

चिद्ध । ११

वन । भण भण, पुणो वि भण, मलाहणिआइं एटाइं

अक्खराइ । १२ (घ)

इकार । पलित्ताअदु दाशीए पुत्ते दलिह-चालुदत्ताके

तुम । १३

वन । परित्ताअदि, जदि म् पेक्खदि । १४

\* हृदयगत एव किमिति न कथ्यते ।

+ अद्यापि न हृदयगत त्वाच्च सममेव मोटयामि । तद्विरिड-मायवाहक-मनुष्य  
कामुकि । तिष्ठ तिष्ठ ।

१ भण भण पुनरपि भण, ब्राह्मण्यमिति पतानि पचरादि ।

२ परिव्रायता दास्या पुनराकृतकम्पाम् ।

३ परिव्रायते यदि मां प्रेक्षते ।

(व) किमिति न कथ्यते ?—कथं विमथ्यते ? इत्यर्थे इदानीमदृष्टमपि  
अदृष्टं चिन्तयन्तं तस्य विस्मरणसम्भवादिति भावः ।

(श) अद्यापि—इदानीमपि इत्यर्थे, सत्कृतानुनयसमकालं यौवनमवेंप  
कामनाहृतं मनः समस्य हि तादृशजनस्य अनुष्ठानस्यैव पदेति यावत् । हृदयगत  
—दिमाज्जन्दसिन्धुं साकदमिति उच्यते । त्वाच्च—भवतीच्च । सममेव—एव  
एवम् समकालमवेल्लेह्यं, मोटयामि—हस्तिं चुरयामि इत्यर्थे [ मोटयतीति  
संज्ञादशान्मुटयतीति नटि रूपम् ] । न चेत्येते हृदयगतं, तदा तदपि ज्ञायमानं  
मनुजनादिनाम् भविष्यति साधारण्यं विनाऽपि साधेयस्यापि नाशदंशं नान इति  
सत्यं कथं न कथिष्याम ।



शकार ।—किं शे शक्के वालिपुत्ते महिन्दे

लम्भापुत्ते कालणेमी शुबन्धू ? ।

लुहे लाआ टोणपुत्ते जडाऊ

चाणक्के वा धुम्भुमाले तिगड्डू ? \* ॥ ३४ ॥

अथवा एदे वि दे ण लक्खन्ति । (स) †—

\* किं स शक्का वालिपुत्तो महिन्दो रम्भापुत्त कालनेमि सुबन्धु ।

रुद्रो राजा टोणपुत्ता जटायुशायका वा धुम्भुमार्गान्तराद्गु ? ॥

† अथवा एतेऽपि त्वां न रचन्ति ।—

विपन्ना मामद्रव्यचेत तदा नूग मङ्गासत्त्वोऽसौ मामरक्षिष्यदिति वसन्तसेनाऽभि  
प्रायमवगम्य, का कथा दुर्बलस्य चारुदत्तस्य, शक्रादयो महावीरा अपि मदीयक्रीडाये  
त्वा रक्षितुं न शक्नुवन्ति इत्याह, किमिति ।—स,—चारुदत्त इत्यथ, शक्र,—इन्द्र,  
किन् ? ( किमिति सर्वैरेव कर्तृपदैरन्वेति ) वालिपुत्र,—अड्डट, अथवा बाली पक्षी  
यस्य इति शक्रविशेषणम् । अथवा महिन्द्र,—देवेन्द्र, ( शक्रमहिन्द्रयोरिकपञ्चायकत्वेऽपि  
नीचपातशकारीकृत्वात् नासङ्गतोऽयं प्रयोग इति बोध्यम् ), यद्वा,—महन्द्र,—  
महेश्वर्यशाली, वालिपुत्र इत्यन्वयः, रम्भापुत्र,—रम्भानामाप्तरत्नत्रय, काल-  
नेमि,—रावणमातुली राजसविशेष, हिरण्यकशिपुपुत्र देवविशधी वा, ( यथा,—  
“कालनेमि दुराधर्मे रक्ष परमदुर्जयम् । चतुरास्य चतुर्हंसमपनेव भयावहम् ॥” इति  
रामायणम्, तथा “आत्मानमिह सञ्जात जानन् प्राग् विष्णुना हतम् । महाऽमुरं  
कालनेमि यदुभि स व्यरुध्यत ॥” इति श्रीमद्भागवतम् ), सुबन्धु,—तन्नामा दैत्य,  
राजविशेष वा, रुद्र,—शिव, राजा—नृपति, टोणपुत्र,—अथवा ला, जटायु,—  
गरुडात्मज पक्षिविशेष, चाणक्य,—गन्धर्वशोच्छेदक विष्णुगुप्तापरनामक पाण्ड्य,  
धुम्भुमार,—हृदयपुत्र कुवलययाचनामक राजविशेष, वा—अथवा, तिगड्डू,—  
स्वनामध्यात सूर्यवश्य राजविशेष \* भवतीति शेष, किमिति पूर्वणान्य, त-  
वन्नभयारुदत्तयेत उक्तानां प्रसिद्धवीराणामेकतमोऽभविष्यत, तदा मन्ये मन्त्रिणाम्  
मम त्वामरक्षिष्यदिति, किन् तस्यातिदुर्बलस्य एतेषामन्यतमत्वाभावात् मन्त्रि-  
नरक्षणं मुतरामसम्भोति भावः । शालिनो वृषम्, “मात्तो गौ वेन्दन्ति”  
वेदन्तीकै” इति सूचयति ॥ ३४ ॥

( स ) उक्तवीरिणु कथञ्चित् सम्भावित स्वहन्ता वसन्तसेनापरित्यागसम्बन्धेन

चाणकेण जघा शीदा मालिदा भालदे जुए ।

एव्व दे मोडइस्सामि, जडाऊ विअ दोवदिं \* ॥ ३५ ॥

[ इति ताडयितुमुद्यतः ] ।

वस । हा अत्ते । कहिं सि ? हा अज्जचारुदत्त ! एसो

जणो असम्पुस-मणोरहो ज्जेव विवज्जदि । ता उड अकन्द-  
इस्स, अधवा वसन्तसेणा उडे अकन्ददि त्ति लज्जणीअ  
क्खु एद । (ह) णमो अज्जचारुदत्तस्स । †

० चाणकेन यथा सीता मारिता भारत युगे ।

एव त्वा मोटयिष्यामि जटायुरिव द्रौपदीम् ॥

+ हा मात । कुवासि ? हा आय्यचारुदत्त । एष जनीऽसम्पूर्णमनीरय एव  
विपद्यते । तद्गूढमाक्रन्दिष्यामि, अथवा वसन्तसेना ऊर्ध्वमाक्रन्दतीति लज्जनीय  
गृहस्य एतत् । नम आय्यचारुदत्ताय ।

इदानीं निराकर्तुं पचान्तरमाह, अथवेति ।—एतऽपि—पूर्वोक्ता अतिप्रसिद्धा वीरत्व-  
ख्यातिं हृद्यैव वहन्त शक्रादयोऽपि, न रक्षन्ति—परिहातुं न शक्नुवन्ति, मत्तोऽनधिक-  
दलतया प्राक् कषाडित् सम्भावितम् एतथा त्वद्रक्षासान्ध्यमपि सम्प्रति नास्तीत्येवाह-  
मममिनोमीति भावः ।

वसन्तसेनायां निधियातविषया शकार तन्निष्यांतनप्रकारमाह, चाणकेनेति ।—  
भारत युगे—महाभारतीयकथासृष्टकाले, हापरान्ते कलिप्रारम्भे चेत्यर्थः, ( पृथ्वी-  
धरम् 'भारतावष्टिन्ने सन्त्ये इति व्याचख्यौ ) सीता—जानकी, यथा चाणकेन—  
चन्द्रगुप्तसचिवेन विष्णुगुप्तेन, मारिता—विनाशिता, ( विष्णुगुप्तेन नवमन्दानां विनाश  
करणात्, तद्गूढमहत्तयमुक्तिः ) तथा जटायु, —पक्षिविशेषः, द्रौपदीम्—द्रुपदात्मजा-

शकार । अज्ज वि गम्भटाशो तश्श ज्जेव पावण्ण ग्गाम  
गल्लदि ? । [ इति कण्ठे षोडशम् ] शुमल गम्भटाशि । शुमल । ३

वस । गमो अज्जचारुदत्तस्स । ४

शकारः । मल गम्भटाशि ! मल । ५ [ नाय्येन कण्ठे निषोडशम्  
साव्यति ] ।

वस । [ मूर्च्छिता नियेष्टा पतति ] ।

शकार । [ सहस्रम् ] ।—

एद दोशकरण्डिअं अविणअशावाशभृदं खल  
लत्त तश्श किलागदश्श लमणे कालागद आअदम् ।  
कि एशे समुदाहलामि णिअअं वाह्ण शूलत्तण  
णीशशे वि मलेइ अस्स शुमला शीटा जधा भालदे § ॥ ३६ ॥

\* अद्यापि गर्भदासी तस्यैव पापस्य नाम गृह्णाति ? स्मर गर्भदासि । स्मर ।

† नम आर्यचारुदत्ताय ।

‡ स्त्रियता गर्भदासि । स्त्रियताम् ।

§ एतां दोषकरण्डिकामविनयस्यावासभृतां खलां

रक्तां तस्य किलागतस्य रमणे कालागतामागताम् ।

किमेव समुदाहरामि निजक शब्दो गुरत्वम् ?

निश्चासिऽपि स्त्रियते अस्मा, सुमता सीता यथा भारते ॥

आत्मनैव प्रत्याख्यातस्य नीचस्य शकारस्यायत इदानीं मङ्गासत्त्वचारुदत्तानुरागिण्या  
अभिमानिन्या वसन्तसेनाया अस्मात् भिया प्राणरक्षणायमात्रवत उच्चैः क्रन्दनं कृत्वा  
दोञ्चन्यप्रकाशशरत्वेन अतीव लज्जाकरमिति भावः, अत्र, प्राणत्याग एव तत्र, न  
त्वशरणवदाक्रन्दनमिति तात्पर्यम् ।

स्त्रीघातपातकौ अपि शकारः, कापुरुषवत् तस्या वयप्रभृतं स्वधोर्घ्यातशय्य प्रकट  
यत्तुमाह, एतामिति ।—करण्डिका—वशादिविरचितपावमेदः, दोषाणां—दृष्ट  
व्यवहाराणां, करण्डिका ता, दोषाकरभृतामित्यर्थः, अविनयस्य—दुर्निति, मादृश्य  
पुरुषसिद्धेषु अनासक्तिरूपासौजन्यदर्शनादित्ति भावः, आवासभृता—वासभूमिभूषणम्,  
अविनयशतपुतामित्यर्थः, खला—कूरम्भभावाम्, आगतस्य—पुत्रमुत्पन्नमुपगतम्,  
तस्य—चारुदत्तस्य इत्यर्थः, रमण—रमणायामित्यर्थः, दाह रत्न रत्नाप्रदुर्गात यीवत,  
आगताम्—उपस्थिता, रक्ता—तत्रानुरागिणी, कल—कल तदामोत्य, ( "नाम

इच्छन्त मम ऐच्छंति गणिआ लोशेण मे मालिदा,  
शुष्मे पुष्पकलण्डके ति शहशा पाशेण उत्ताशिदा ।

\* इच्छन्त मा नेच्छसीति गणिका रोषेण मे मारिता,  
शुष्मे पुष्पकलण्डके इति सहसा पाशेण उच्चासिता ।

सम्भाव्यी क्लिष्ट" इत्यमरः ) कालागता—कालेन—महाकालेन, मृत्युना वा,  
प्रागताम्—प्राणीताम्, [ अन्तर्भावित्यर्थोऽपि गमघातु । "काली मृत्यौ महाकाले  
समये यमकक्षयो" इति मेदिनी ] कालप्राप्तम् इत्यर्थः, अकस्मात् कृतान्तसमस्य  
मम इमे पतितत्वात्, एता—वसन्तसेनामित्यर्थः इत्येति शेषः, एष,—अह-  
नित्यत्र निजक—स्वकीयः, दाहो,—भुजयोः, शूल—वीर्यं, पराक्रममिति यावत्,  
किं सुमुदाहरान् ?—प्रकटयामि ? प्रकाशयामीत्यर्थः, शूरशिरोमणमम अवला-  
सेता निहत्य दाहुवीर्येष्वापनम् अनावश्यकमिति भावः । वधस्य अनायासकृतत्वेन  
वसन्तसेनायाः दुर्बलत्वं प्रकटयन्नाह, निश्चासिषीति।—यत अस्मा—माता,  
वसन्तसेना इति भावः, ( गणिकायाः पूर्वमुपभोग्यत्वं याच्यमानायां मातृत्वकथन-  
हास्यरसात्कुलियं शकारोक्तिः ), यथा भारते—महाभारतीयोपाख्याने, सीता  
—जानकी, सुमता—सुहृ सुता, तथा निश्चासिषीति—मम निश्चासपानेऽपि, क्षियन्  
—नास्ते विपुच्यन्ते इत्यर्थः मम दाहुवीर्यं दूरे तिष्ठतु, वसन्तसेना मदीयनिश्चासपात-  
मपि न मरति, समाधिकमलत्वात् तस्याय पतिसौकुमार्यादिति भावः । [ "समुद्र-  
जस्य यमला" इत्यत्र "मल इव यमला" इति पाठान्तरे—"क्षियते इव यमला सुमता,"  
इति मल्लिचार्जुनः ] । रामादिभिरभौष्ट पराजिते राक्षसकुले, सीतावधवार्तामुपश्रुत्य  
अकस्मात् नूनं रामादयः दुष्टात् निवर्त्तन्ति मरिचानि वा इति सम्भाव्यः, एकदा इष्ट-  
मदादयः शास्त्रविद्यया मायामयी सीता विरहस्य वानरसैन्यानां समस्य तां निजमु-  
पासीत रामादयो वार्तां एतावदेव मूलमपि, अकारिणं रामादयश्चदाया-  
नमदीयत्वेन उपवासं कृतं यतः अकारवक्तृत्वाच्च सत्यं सुमं पठेति ।  
उक्तं वक्तृत्वेन इत्यमरः ३६६

शे वा वञ्चिद-भाटुके मम पिता मादेव शा दोवदी

जे शे पेक्खदि गेटिश्च ववशिदं पुत्ताह शूलत्तण \* ॥ ३७ ॥

भोदु, सम्पद बुद्धखाडे आगमिश्शदि त्ति, ता (क) ओश-  
लिअ चिह्मामि । ११ [ इति तथा करोति ] ।

स वा वञ्चित-भाटुको मम पिता मादेव सा द्रौपदी

कौऽसौ पश्यति नेट्ठश्च व्यवसित पुत्रस्य गुरुत्वम् ॥

† भवतु, साम्प्रत दृढग्रहाल आगमिष्यतीति, ततोऽपस्य तिष्ठामि ।

इति पाठ समीचीन , न इच्छति इति हेतोरिति तदर्थ ] शब्दे—निजने इति  
यावत्, पुष्पकरगडके—तदारब्ध राजदत्तमदीयजीर्णोत्ताने, उच्चासिता—भयं प्रापिता,  
पूर्वमिति शेष, गणिका,—वेशाङ्गना, वसन्तसेना इति यावत्, सहसा—छटात,  
रोषेण—क्रोधेन हेतुना, पाशेन—रज्जुरूपेण भुजेन इत्यर्थ, पीडयित्वा इति शेष,  
मे—मया, [ मे इति तृतीयाविभक्त्यन्तप्रतिरूपकमव्यय, वामनाचार्यसम्मत वा,  
अन्वेषाद्याचार्याणां मते मे इति आदेशस्य तृतीयाया विभक्तावदर्शनात् इति  
वेदितव्यम् ] इति—इत्य, कथितप्रकारेणैति यावत्, मारिता—नाशिता । इदानीं  
स्वपौरुषस्य स्वजनैरदृष्टतया तेषां वञ्चितत्वमुपवर्णयति, स वा इति ।—वञ्चित  
भाटुक, —वञ्चित, —प्रतारित, भाता येन तादृश, सहोदर वक्ष्यमान यो  
हि तदीय सख्यमेव न्याय्य धनमात्मसात् कृतवानिति तदर्थ, वञ्चकचूडामणिरिति  
यावत्, स,—प्रसिद्धा, मम पिता—जनक, द्रौपदी—द्रुपदनन्दिनी इव, [ द्रौपद्या  
पञ्च पाण्डवा भक्तार आसन्, तया साईं सायकयनात् मूर्खेण शकारेण स्वमानं  
सर्वोपभाग्यत्वमेवैव प्रकटीकृतम्, पञ्चनिष्ठतथोक्तिकानां हि शास्त्रेषु वेद्यान्तेन  
निहारितवान् ] सा—सर्वेष्वेव भुजङ्गेषु प्रसिद्धा, माता वा—जननी च इत्यर्थ,  
मम पिता वञ्चक माता च चरिवद्गोना, अहं पुन तयोर्गुरुरूपं पञ्च इति भावः, १  
अमा—मम पिता तथा द्रौपदीमदृशी माता, पञ्चस्य—तनयस्य, भर्मेति यावत्,  
व्यवसितम्—अनुष्ठित, प्रयोगतः प्रकाशितमित्यर्थ, दृढग्रह—स्त्रीविनाशरूपम, [ एतन्  
स्वभावाववच्छकात् पितुः स्वस्वामिप्रतारणेन कल्पितचारवाया मानुरापि शकारेण  
प्रेमप्रापिका व्यज्यते ] गुरुत्व—शौच्ये, न पश्यति—नावलोकायन, अतस्मै नदृष्टं कल  
नाविगतौ, दृष्टव्यस्यादयनादिति भावात् । शार्दूलविक्रीणित इति ॥ ३७ ॥

( क ) तत,—तस्मात्, अतः परमर्थः ।

[ प्रविश्य चेटेन सह विट ] ।

विट । अनुनोतो (ख) मया स्थावरकञ्चेट' । तद् यावत्  
काणेलीमातर पश्यामि । [ परिक्रम्यावलाक्य च ] अये । मार्गे णव  
पादपा निपतित । अनेन च पतता स्त्री व्यापादिता । भी-  
पाप' किमिदमकार्यमनुष्ठित त्वया ? तवापि पापिनः पतनात्  
स्त्रीवधदर्शनेनातीव पातिता वयम् । अनिमित्तमेतत्, यत् सत्य  
वसन्तसेना प्रति शङ्कित मे मन', सर्वथा देवताः स्वस्ति (ग)

(ख) अनुनोत,—सन्तोषित, शान्तवाक्यप्रयोगेण असन्तुष्टोऽयं सन्तुष्टः कृतः  
इत्यर्थः ।

(ग) मार्गे—पथि । पादप —द्वय । अनेन—पादपेन इत्यर्थः । व्यापा-  
दिता—नारिता । पाप—पापाचारः । इत्यर्थः, [ पाप इति द्वयसम्बोधनम् । हृदयेण  
वाद्याघानेन पतता कथ्यायित स्त्रिया तत्तत्प्रसिद्धिद्वया वध अनुष्ठित, विवादे  
एतद्धि स्तस्त्रीशरीरं पश्यालोकयतां राजपुरुषाणां वचनेन वसन्तसेनैव चारुदत्तेन  
मारिता इति प्राङ्विवाकानां निर्णये भविष्यतीति भाव्यर्थः अनेन समुचित इति  
वेदितव्यम् ] । तवापि इति ।—अतः अपिशब्दे वयमित्यनेन सम्बध्यते, तेन वयस-  
पोष्य । अतोऽपि पातिता,—अतिशयपातित्य प्रापिता, निरय गमिता इत्यर्थः, त्वं  
केवलमेक एव न पतित, वयमपि त्वयैव सह अतः पतिता इति अपिशब्दात् ;  
पापाचरणेन पापानुष्ठानदर्शनेनैव पातित्यजनकतया शान्तिमुत्पत्तिरिति भावः ।  
[ अथ हि केवलम् अपसत्यद्वयजनितपातित्येन वयमव न पतिता, अपि तु  
निविचगुणविभूषिताया निरपराधाया वसन्तसेनाया शकारकृतिनायघातीवनमश्रय-  
कारिण्यस्य समधिकमिव विपरीकता दुजनस्यास्य सहचारित्वेन परस्परया सह-  
कारित्वेन च पृथक्पृथक्पातित्यादिदोषदुष्टा इहलीकात परलीकाश्च पातिता  
आप इत्यर्थो ल्यज्यते ] । अनिमित्तम्—असम्भङ्गकुनमित्यर्थः । यत—उत, अनि

करिष्यन्ति । [ शकारमुपसृज्य ] काणेनीमातः । एवं मया  
अनुनीत स्यावरकचेटः ।

शकार । भावे । शाअदं टे ? पुत्तका यावलका चेडा ।  
तवावि शाअदं ? ३

चेट । अधड । १

विट । मदीय न्यासमुपनय ।

शकार । कौदिशे गाशे ? ३

विट । वसन्तसेना ।

शकार । गटा । §

विट । क ?

शकार । भावश्च उज्ज्व पिठ्ठदी (घ) । १

विट । [ सवितर्कम् (ङ) ] न गता खलु मा तथा दिशा ।

शकार । तुम कदमाए दिशाए गडे ? ३

विट । पूवेया दिशा ।

शकार । शा वि दक्खिणाए गडा । ११ (च)

विट । अहं दक्षिण्या ।

\* भाव । स्वागत त ? पुत्तक स्यावरक चट । तवापि स्वागतम् ?

† अथकिम् ?

‡ कौटुम्भी न्यास ?

§ गता ।

॥ भावस्यैव प्रसृत ।

॥ त्व कतमया दिशा गत ?

॥ माऽपि दक्षिण्या गता ।

दुर्जनहन्ते न्यासभूतत्वेन सस्थापनात् परत एवाह नितरा तज्जीवने मशयाकुलाऽस्मीति  
भाव । सर्व्वथा—सर्व्वतोभावेन । स्वप्ति—मङ्गलम् , [ एतेन देवान्कल्याणव  
सवाहकस्य भिक्षो साहाय्येन सतकल्याण्यसौ पुन जीविष्यतीति ध्वन्यत ] ।

( घ ) प्रसृत, —पयादिव्यथ ।

( ङ ) सवितर्क—मसन्देह, स्वमनसि विचार्य्येयम् ।

( च ) अनयोक्ता तथा मरश्च मन्थने , यमसदनस्य दक्षिण्या दिशि वर्त  
मानत्वान् इति भाव ।

शकार । शा वि उत्तलाए । ३

विट । अत्याकुलं कथयसि, न शुध्यति मे अन्तरात्मा ; (क)

तत् कथय सत्यम् ।

शकार । शवामि भावश्च शीश अत्तणकेलकेहिं पादेहि, ता  
शण्ठावेहि (ज) हिअअं, एशा मए मालिदा । १

विट । [ सविषादम् ] सत्य त्वया व्यापादिता ?

शकार । जइ मम वअण्णे ण पत्तिआअशि, ता पेक्ख  
पढम लद्धिअशालशण्ठाणाह शूलत्तणं । ३ (झ) [ इति दर्शयति ] ।

विट । हा हतोऽस्मि मन्दभाग्यः । [ इति मूर्च्छितं पतति ] ।

० साऽपि उत्तरया ।

+ अपि भावस्तु शीर्षमात्मीयाभ्यां पादाभ्याम्, ततः सस्यापय हृदयम्, एषा  
मया मारिता ।

‡ यदि मम वचने न प्रत्येयि, तत्पश्य प्रथम राष्ट्रियशालासंस्थानस्य शूलत्वम् ।

( क ) अत्याकुलम्—असम्बलमित्यर्थः, अपराधिन इव पीड्यापध्यसम्बन्धरहित  
यथा तथ्यति भावः । शुध्यति—विद्धमिति इत्यर्थः, प्रसीदतीति यावत् । अन्तरात्मा—  
मन इत्यर्थः, पत्याकुलभाषणेनैवावाप्रसन्नताया हेतुरित्यवधारयम् ।

( ज ) आत्मोद्याग्या—स्वकीयाभ्यां, पादाभ्यां—चरणाभ्यां, भावस्तु—तव इत्यर्थः,  
शीघ्रम्—उत्तमाद्, अपि—प्रतिज्ञां करोमि, तव मूलकसत्यादाभ्यां नृणां शपथं करोमि  
इत्यर्थः, तुभ्यमिति चतुर्थ्यन्तपदमूहनायम्, लोके हमाभ्यां पुष्पादिशरीरस्पर्शनेन शपथ-  
करणं प्रसिद्धम्, इह तु पादाभ्यां शीर्षमिति शकारस्य गव्योक्तिः । [ भौवादिकस्य  
शपथातोऽभयपदिच्छात् शप उपात्मने ( वा० ) इति शपथार्थे आत्मनेपदविधाना-  
दत्र आत्मनेपदप्रदानं सव्यदा नाधु । स्वाभिप्रायज्ञापनार्थं शोभानानपदाङ्गुर्दी-  
विधानात् साहसं इत्येव कथं न चतुर्थी इत्यपि नाङ्गुर्दी, शीर्षमित्यस्य सव्य-  
त्ववधारणं भावस्तु इत्येव पदोत्तरार्थे “त्वम्” इतिपदे तु शोभानानाश-  
रमदाने चतुर्थीति स्तुधानात्, तथा—एव शपथातो स्वाभिप्रायज्ञापनपद-  
शपथदाने चतुर्थी । सस्यापय—सत्यम् विवेच्य, सुस्थापितं कुरु इत्येव ना



शकार । ही ही, उबलटे (ज) भावे । \*

चेट । शमशशदु शमशशदु भावे । अविचालिश्रं (ट)  
पवहण आणन्तेन जजेव मण पढमं मालिदा । †

विट । [ समाश्रय्य सकरुणम् ] हा वसन्तसेने ।—

दाक्षिण्योदकवाहिनी विगलिता याता स्वदेश रतिः

हा हाऽलङ्घ्यतभूषणे । सुवदने । क्रोडारमोद्भासिनि ।।

हा सौजन्यनदि । प्रहासपुलिने । हा माट्टशामाश्रये ।

हा हा । नश्यति मन्मथस्य विपणि सौभाग्यपण्याकर. ॥ ३८ ॥

\* ही ही, उपरती भाव ।

† समाश्रयितु समाश्रयितु भाव । अविचारित प्रवहणमानयतेव मया  
प्रथम भारिता ।

( ज ) उपरत, —सुत ।

( ट ) अविचारितम्—अनवहितं यथा तथा, अनवगतविशेषमित्यर्थ । यतो  
मया प्राक् प्रवहणं सत्यं न परीक्ष्य वसन्तसेना अस्य घातकस्य हस्ते निक्षेपिता,  
अतः अहमेवास्या वधे निदानमिति चेदस्याशयः ।

शकारमुखात् तत्कृतवसन्तसेनावधवृत्तमवगत्य मन्मांहीतो विट तद्गुणकोर्धनपर-  
चरं विलपन्नाह, दाक्षिण्योदकेति ।—चुणकस्य मन्मोधानात् वसन्तसेनापदेनास्यान्त-  
र्गत्यवगन्तव्यम् । सर्व्वेव हा हति हति च समधिकविदमृचकमव्ययम् । दाक्षिण्य-  
सारथ्यमेव, औदाय्यमेव वा, उदक—जल, तस्य वाहिनी—नदी, प्रवाहिणी इत्यर्थः,  
विगलिता—विशुद्धा, विनष्टा इत्यर्थः, तव नाशादिदानो दाक्षिण्यमिदं लाकारितु-  
मिति भावः, रतिः—कामपत्नी, वसन्तसेनादपिणी इत्यर्थः, ( “रतिं स्त्रीं का-  
दारिपु रार्णि सुस्तगुणयो” इति हंसचन्द्र ) स्वदश—मित्रदेशं स्वर्णिकामिति यावत्,  
याता—गता, भलाकात् विनष्टा इत्यर्थः, यः पि रतिं यः लोकवासिने, तथापि  
सा पतावनस्य कालमवेवावसदित्यस्यामहि वयं, त्वयि च अगताया म-  
अध्वानात्वात् परित्यज्य स्वावसथनेव प्रयाता इति भावः, नवतो रातदपेक्षानादात्  
न क्षिप्रमिति वेदितव्यम् । अलङ्घ्यतभूषणे ।—भूषणम्—अलङ्कारः, अलङ्कृत—यत्  
यथा तत्कृष्टो, [ आदितादित्वात् निष्ठान्तस्य पुञ्यान्तगतः ] सार्व्वभूषणं नैमित्तिक-

नोन्द्येष अलङ्कारान्वारम्बरूपे इत्यर्थः, सुवदने ।—सुसुखि । कौट्यायां—कौटौ, य  
रम —चतुराग, तस्य उद्गमिनि ।—प्रकाशिके । हा सौजन्यगटि ।—सज्जनतारूप-  
जलप्रवाहतरङ्गिणि । प्रकट —मधुर तरविकसिताघरग्रीभी इत्यथ हास —  
हास्यम् एव पुलिन—मैकत, जलवेष्टितजलोत्थितभूभाग इत्यथ यस्यास्तादृशि ।  
( हास्यस्य शुभ्रत्वेन वणनस्य कविममयनिष्ठत्वात् जलोत्थित शुभ्रवाल्क्याभय पुलिन-  
प्रदेशस्य च धावन्यात्, तद्वत्तत्वात्तदेव हि हास्यस्य मुखसम्बलमध्यवर्त्यघरगतस्य  
जलपरिवेष्टितजलोत्थितभूभागरूपपुलिनाभेदेनाध्यासः, स च वसन्तसेनाया नदीत्वा  
रीपहृत्त्वमिति वेदितव्यम् ) । हा मादृशा—मतादृशाना, विटजनानामित्यथ, आश्रये ।  
—धनदानादिना पोषणात् आश्रयभूते इत्यथ, ( मादृशमित्युपलक्षण, सर्वेषामेव  
विपन्नानामुज्जयितौजनानामिति वेदितव्यम् ) हा—हता इदानीं लोकाऽतः भावः न  
केवलं रतिरेका एव गता, तन्निग्रहसहस्रस्य कानस्य सौभाग्यभोग्यनिचयस्य गृहीत्वेव  
प्रगता इत्याह हति ।—हा हा मन्मथस्य—कामस्य, सौभाग्यान्वेव—हाव भाव-  
विदामादिभिः नायिकाऽलङ्कारैः प्रकटितानि सौन्दर्याच्छेदेत्यथ पञ्चानि—विक्रेश-  
ट्याणि तेषाम् आकर,—स्थानम् आधारभूत इत्यथ विपणि —पण्यवैधिका  
( ‘विपणि पण्यवैधिका’ इत्यमरः ) क्रयविक्रयस्थानमित्यथ, नश्यति—नाश  
प्राप्नोति । त्वयि गताया मुवनादद्यात् दाक्षिण्यं, कुमुलामनोयाङ्गसद्वत्तुम् अन्वित्वच-  
नीयतावत्तु भूषणमयवसिष्ठ, रुहीकामुरसः मुखं रमणीयं निधुवनसद्वत्,  
शङ्करैकरम सौजन्यस्य, अम्भोरुहसुरभिमुखग्रीभिसुमधुरमित्यन्, आश्रितवाक्यं,  
मनसिजमनीहरविपणि कामसौभाग्यस्य सर्वमेवैतत् युगपत् विलुप्तमित्यहो किं कष्ट-  
करमितोऽस्मिन्ति भावः करुणीऽत रसः, “अलङ्कृतभूषणम्” इत्यादिभिः प्रतीयमान  
प्रकाराऽस्याहम् । यद्यपि “करुणी हास्यशृङ्गाररसाभ्यामापि तादृशः” इत्यनेन  
द्विरुद्धरसद्वयस्याद्वादिभावेन न युज्यते, तथाऽपि ‘विरोधिनीऽपि स्मरणे सास्त्रेन वक्ष्ये-  
रे वा’ इत्यादिमा तत्परिहारः, “अथ स रश्मन्तत्त्वर्षी पीनस्वनविमर्हन् । नाभ्यु-  
त्थनस्पर्शं नोवोचितस्मरं करः” इत्यादिवत् स्वीकरणीयः, अतोऽस्य रसवद-  
-

[ सासम् ] कष्ट भोः । कष्टम् ।—

किं नु नाम भवेत् कार्यमिदं येन त्वया कृतम् ? ।

अपापा पापकल्पेन नगरस्थीनिपातिता ॥ ३६ ॥

[ स्वगतम् ] अये । कदाचिदयं पाप इदमकार्यं मयि  
सङ्ग्रामयेत् ? ( ठ ) भवतु, इतां गच्छामि । [ इति परिक्रामति ] ।

शकार । [ उपगम्य धारयति ] ।

भूषणत्वमीनादात्याध्यामात् निरङ्गणकम्, इत्येतेषां परस्परनिरपेक्षतया तिलतण्डुल  
वगं सृष्टिः । शार्दूलविक्रीडितं वृत्तम् ॥ ३८ ॥

अकारणमस्या वधनं न केवलं स्त्रीवधरूपपापमेवोत्पन्नम्, अपि तु नगरशोभानाश  
कृतं महदकार्यमप्याचरितमित्याह, किमिति ।—येन—यादृशेन, अतिनिष्ठुरमेत्यर्थः,  
त्वया—भवता, कृतम्—अनुष्ठितम्, इदं—वसन्तसेनाहननं, किं नाम—किंसाध्यं,  
कार्यं—कृत्यं, भवेत्—स्यात्, नु—अहो, अहंतुं किमिदमसामान्यलाभप्रायां स्त्रिया  
हननं कदाऽपि कुत्रापि पुरा कैरपि गानुष्ठितम्, अतस्तदुदाहरणं कुत्राप्यदृष्टचरम्,  
मरणात् लोकाचाराश्चाभीरूणां त्वया यदभिनवहननमाचरितम्, तदतीवविस्मयकरम्,  
अतोऽहमेतत् तर्कयितुमपि न पारयानीत्याशयः, पापकल्पेन—इतोयेन मूर्ध्निमता  
पापेनेत्यर्थः, त्वया इति शेषः, [ पापादौषट्मं पापकल्पे इति पापशब्दादौषट्मनाथं  
“इषट्ममासौ कल्प्येद्व्यदेशीयम्” ( ५ । ३ । ६७ पा० ) इति कल्पप्रत्ययः ] ।  
अपापा—पापलिङ्गरहिता, निरपराधा इत्यर्थः, नगरस्थी,—नगरस्थ—उज्जयिन्या,  
यो,—शोभा, निपातिता—विनाशिता, वसन्तसेनावधे न केवलं स्त्रीवधपापमु-  
पपद्यत, अपि तु नगरस्य शोभशोऽपौति भावः, “कष्टं भो । कष्टम्” इति प्रागुक्तं  
चूणकेंनावधं, नास्तीति परं किञ्चित्कष्टकरमस्माकं किं नाम तु तत्पथः । अतः निरप-  
हृतभेदायामुपमेयभुताया वसन्तसेनायाम् उपमानभुताया नगरायदा तादात्म्येना  
ध्यामात् रूपकमन्वहारः । पद्यावक्तुं वृत्तम् ॥ ३६ ॥

( ठ ) अये इति स्मरणार्थकमव्ययम्, (“अये कीपे विपाटे च सम्भूने गार्गोऽपि  
च इति मेदिनी) उद्बोधकाल्परवशात् शकारस्य “वल्चरिदं श्रुत्वा “अदं” इत्युक्तं  
क्षेत्रम् । पापः,—पापाचारौ, शकार इत्यर्थः, इदमकार्यं—स्त्रीवधरूपं दण्डम् इत्यर्थः ।  
मयि सङ्ग्रामयेत्—मा प्रापयेत्, मयि चारीपरादित्यर्थः, स्वयं कुत्रापि सङ्ग्रहचारिणा  
विद्वेदेनैव इव मारिता, न तु मया, इति अनसमोपे कदाचित् आकरणात् प्रसक्तं पद्य-  
मृच्छकटिकेति यावत् ।

वित । पाप । मा मा स्यात्तोः । अन्नं त्वया, (ङ) गच्छामि  
अहम् ।

प्रकार । अले । वशन्तशिणिअं शन्नं जीव मालिश मं  
दूशिअ कहि पलाअशि ? शम्पदं ईदिशि हग्गे अणाधे  
पाविटे । २ ( ङ )

० अरे । वसन्तसेना स्वयमेव मारयित्वा, मा दूषयित्वा कुत्र पलायसी ?  
साम्प्रतमौदृशीऽहमनाथ प्राप्त ।

( ङ ) मा मा स्यात्तो — न मा लृश इत्यथ, [“मा मा स्यात्तो” इति पाठे—  
च्युतनेपथे माशब्दस्य द्विवचन, मामिति श्रव । मा स्यात्तोऽन्ति स्मृधातो माङ्  
संज्ञात “माङि लुङ्” ( ३।३।१०५ पा० ) इति लुङ्, तथा “म माङ्थीने” ( ६।४।७४  
पा० ) इति चडागमनिषिद्ध, माङि लुङ्प्रयोगस्य सार्वकालिकस्य वैकल्पिक-  
विधानात् पक्षे लीड्लुडादय तात्कालिकप्रत्यया स्मृत्याच्चाया वैचमाहु  
दोषितास्तु,—माङ्शगे लुङ् एव, यत्र तु लीड्लुडादय प्रयोगा माथीने दृश्यन्ते,  
तत्र का गति ? तत्र तु नाय माङ् अपि तु माशब्द तत्समानाद्यक एव इति  
समादधत्ते, वैकल्पिकविधानेनैवोपपत्तौ एतस्मादान्न सूत्रकारमतमनुसृत्यैवोक्तमिति  
एव काशिका,—“माङ्प्रपदधातानुङ्प्रत्ययो भवति । सर्वलकाराणामपवाद । मा  
कार्षीत्, मा कार्षीत् । कथं मा भवतु, तस्य पाप मा भविष्यतीति, असाधुरेवाश्रम ।  
एविदाह एडिदपरी माशब्दो विद्यते तस्याय प्रयोग ”, अस्यार्धे एस्व चेत्पि  
एङि एस्वत् इय पदान्तरं भवतीति वेदितव्यम् ] । अल त्वया—त्वया मे न किमपि  
प्रयोजनमित्यर्थ, त्वत्कर्मोपे न स्यात्तमीति भावः । [ त्वदेति वारणादकालशब्ददीर्घे  
दतोदा ] ।

विट । अपध्वस्तोऽसि । ( ण )

शकार ।—

अत्य शब्द टेमि शुक्लस्य अ टे कहावणं टेमि शबोडिअ टे ।

एणे दुशदाण फलकमे मे सामास्ये भोदु मणुअशआण ॥ ४० ॥

० अथान् शत ददामि सुवणक ते कापापण ददामि सपोपण ते ।

एष दुशदाणा फलकमी मे सामान्यको भवत् सन्यकाणाम् ॥

समुदितार्थ , अथवा, अनाथ प्राप्त,—अशरण सञ्जात , पूर्वं सहायभूत यो हि आसीत्, सोऽपि इदानीं सा विमुच्य गत , अस्या विपदि सहायकान्तर किमपि मे नास्ति, अहोऽशरणोऽस्मि इदानीं सहज इति तात्पर्यम् ।

( ण ) अपध्वस्तोऽसि—निन्दितोऽसि, अध पतितोऽस्येत्यर्थ , एवं मिथ्याभाषणादिति भावः ।

वसन्तसेनाद्वयारूपमकार्यं गोपायितुम् अन्येष्वपि एतदारीपयितुं वा विट धन-दानप्रस्तावेन प्रलोभयति, अथानिति ।—शत—शतसङ्ख्याकान्, बहुनित्यर्थ , अथान—घनानि, ते—तुभ्य, ददामि—अर्पयामि, [भविष्यत्सामीप्य वर्त्तमानता, दास्यामीत्यर्थ] सपोपण—सभोजन, भोजनसहितमिति यावत्, सुदु भोजयित्वा इत्यर्थो वा, यद्वा,—पोषणेन—परिजनानां यासां ह्मादनादिनिर्वाहणेन सह वर्त्तमान यथा तथा, भवत् परिजनानां यावता अर्थेन यासां ह्मादनादिकममात्रासेनैव निर्वहति ताव दधम्, [ “शबोडिम” इति प्राकृतस्य “सबोडिम” सवाडिकम्” इति च संस्कृत कृत्वा “बोडी—विशतिकपट्टक इति गौडि प्रसिद्ध , तच्चतुष्टय पण , ते षोडश कापापण कहावण इत्येकं” इति पृथ्वीधर । “शबोडिम” इत्यत्र “सबोडिम” इति पाठे—“सबेटिकम्” इति संस्कृत, बेटिका—बेटनम्, एषोड वटिकम् वा, तस्मिन्निमित्तार्थे ] कापापण—षोडशपण ( काइन ) सुवणक—काश्चन, [ सुवर्ण परिमाणव्यवहारे हि, धान्य चतुर्नित्यपरिमित, चतुर्भिर् धान्यैश्च रत्तिका, दशभि रत्तिकाभिश्च माष दशगुणाफलपरिमित , अष्टाभिश्च माषैर् तोलक तद्विगुण कर्पूर इत्यादयः सुवर्णपरिमाणवाचका शब्दा व्यवहियन्ते, गणनीयद्वयसमूह तु,—गणक-बोडी-पण षोडशपणसंयुक्तकापापणशब्दा प्रयज्यन्ते , शकारस्तु वराटिकादिवत् जात्यकापापणमान भवता मौल्याच्च सुवर्णमाने प्रयुक्तवानिति वेदितव्यम् । “कहावणम्” इति प्राकृतस्य अद्वयत्वादिवत् किंचिदन्वय वा वन्” इति प्राचीन सम्प्रदायाख्या ] ते—तुभ्य, ददामि—प्रयच्छामीत्यर्थ , मे—मम, दुशदानां—

विट । धिक्, तव एवास्तु । ( त )

चेट । शन्तं पाव । ३

प्रकार । [ हसति ] ।

विट ।—

अप्रोतिर्भवतु विमुच्यता हि हासो

धिक् प्रोति परिभवकारिकामनार्याम् ।

२ ज्ञान पापम् ।

नन्विनाशाना वसन्तेनाश ताडननारणाटिरूपाणा दुर्वचनानामित्यर्थ, दु,—  
दुष्टानां उच्छाना—वसन्तेनाहत्यारूपाणामित्यर्थो वा सङ्गच्छते, (इत्याशा स्मृष्टिनैवा-  
शान्तिनापाया यदि कश्चित् प्रच्छन्ती भूत्वा श्यति, तदा विवादे तेन इत्येव शकारि  
रैव कृतेति सप्रमाण भवेदिति भिया प्रतीव वचक शकार सदेतेनैवैतत् विटायोक्त  
वानिति वेदितव्यम् अथ दुःशब्दस्तु सादेतिक इत्याश्वदीधनाद्यै प्रयुक्त इति तु  
सङ्गितम् ) एव फलकम्,—फलस्य—काराश्वरोधप्राचदृष्टाटिरूपस्य, क्रम,—  
विधि मनुष्याणाम्—अन्येषा मनुष्याणाम् इत्यर्थ, सामान्यक,—साधारण,  
भवतु—अस्तु, वसन्तेनाववाभिरीश नमोपरि न पातयित्वा सामान्येन अन्यान् प्रति  
पातय इति भाव । [ पुनःकालरे “दुःशब्दाश्च फलकम्” इत्यत्र “दुःशब्दाश्च फलकम्”  
“इत्यादिफलकम्” इति च पाठान्तरद्वय, तत्र “दोषस्थानं पराक्रम” “कस्यानपरा-  
क्रम” इति च अद्याक्रम संस्कृतम् तदशस्तु—दोषस्थान—दोषभूमि पराक्रम,—  
स्मृत्वाशा व्यसनाय अपरत च पाठे—कस्यानि—कृत्यौ, इत्यादिमित्यर्थ, वसन्त  
नशाया इति भाव, “मस्यान्माहृतौ कृत्यौ कर्त्तव्ये चतुष्टये” इति मेदिनी, परा  
क्रम—इत्यपदशब्द, अतिहासिक दृष्टेति दावत, कस्यान्स्य—राजस्यास्य  
राम पराक्रम इति वा । उपपत्ति हसन ६ ५० ।

मा भूच्च त्वयि मम सङ्गतं कटाचित्

आच्छिन्न धनुरिव निर्गुण त्यजामि ॥ ४१ ॥

गकार । भावे ! पशोट पशोट, एहि, नलिणीए पविशिश्र  
कीलेन्ह । \* ( थ )

विट ।—

अपतितमपि तावत् सेवमान भवन्त

पतितमिव जनोऽय मन्यते मामनार्थम् ।

\* भाव । प्रसोट प्रसोट, एहि नालन्यां प्रावश्य क्रीडाव ।

निन्दाजननीम्, अनार्याम्—असाध्या, प्रीति—मौहट्टे, भवाट्टजन दुर्जनेन सहति  
शेष, धिक्—निभस्सयामोत्थय, दुजनस्य सदैव विपत्जनकमयशस्करम् इति  
भाव, त्वयि—भवति, मम—मे, सङ्गत—मेलन, कटाचित्—कात्, अपीति शेष,  
मा भूच्च—न भवत् इत्यथ, निर्गुण—गुणा,—दयादाक्षिण्यादय, तद्रहित, त्वाम  
इति शेष, पचे,—मोर्वीविहोन च, आच्छिन्न—शत्रुणा निकृष्ट, धनुरिव—गरामन-  
मिव, त्यजामि—जहामि । अथ निर्गुणशकारस्य त्यागे छिन्नमौर्वीकशरासेनेन  
अवेधस्यंसायकयमात्, निर्गुण इत्यत्र प्रीताथान्तरस्य च वाच्यत्वादेवायं श्लोकोपमा  
ऽलङ्कार । प्रहर्षिणी वृत्तम् ॥ ४१ ॥

( थ ) नलिन्या—नलिनानि—पद्मानि सत्यस्थामिति नलिनशब्दात् अर्ज  
आदिभ्य मत्वर्थेयं अचि गौरादित्वात् स्त्रिया डीप्, नलिनो—पश्युक्तदश, तस्यां,  
पद्मसरसि इत्यथ, ( “नलिनो-पद्मिनो व्योम निखगा कमलाकर” इति मेनिनी )  
प्रविश्या—गत्वा, अवगाह्य वा, क्रीडाव,—तत्र जलक्रीडा कृत् इत्यथ । [ “नलि-  
योए” इत्यत्र “अभलाए” इति पाठान्तर—“नगध्याम्” इति संस्कृतम् ] ।

दुर्जनसमर्गस्य अविविधानयकारितामुल्लिख्य “लज दुर्जनसमग भज साधुसमा  
गनम्” इत्यादिदृग्गतात् दुर्जनसमर्गस्य दोष दर्शयन्नाह, अपतितमिति ।—अ—  
मगरवासोत्थय, जन,—साधारणमानव इत्यथ, अपतितमपि—पापाकारिकमपि,  
स्वयं स्वोपधाटिजनितपातित्याभाववन्तमाप इति यावत्, मा—विष्टामन्य,  
भवन्—त्वा, स्वयं स्वीकृत्याश्रयात् पतितमिति नाव, सेवमानम्—भजमानम्,  
अनुकूलकायसम्पादनं परचरन्मिति यावत्, अतएव पातितमिव—पापकम्पा  
ननुनिष्ठत्वात् यपकारिणमिव, अनार्यान्—असाधु, दुर्जनमात्रं यावत्, मन्यते  
तावत्—समानवयम्, “लज करानि दीक्षन् कुरु पतति साधु” इत्यादिदृग्गतात्

कथमहमनुयाया त्वा हतस्त्रीकमेन

पुनरपि नगरस्त्री-शङ्कितार्द्धाचिदृष्टम् ॥ ४२ ॥

[ सकरुणम् ] वसन्तसेने ।—

अन्यस्यामपि जातो मा वेश्या भूस्त्व हि सुन्दरि । ।

चारित्र्यगुणसम्पन्ने ! जायेथा विमले कुले ॥ ४३ ॥

तत्सङ्गचारित्वेनाहमेवाव अपराधो इति नून सर्वेषां निर्णयो भविष्यतीति मन्ये इति भावः , ( अतः ) अह—विष्ट , गोष्ठ्या बहुमत इत्यर्थः , हतस्त्रीक—स्त्रीवधकारिणः , विनाशितवसन्तसेनमित्यर्थः , अत एव नगरस्त्रीभिः ,—पुरकामिनीभिः , शङ्कितम्—अस्मानपि अयं कदाचिदेव घातयिष्यतीति सन्दिग्धं यथा तथा , अर्द्धाचिभिः ,—सङ्कुचितनेत्रैः , दृष्ट—ईक्षित , तः , यद्वा ,—नगरस्त्रीणां—पौरयोषितां , शङ्कितैः ,—सशयाकुलैः , यतः अयमेव वसन्तसेनाघातुकः , अतः पातकिनः अस्य दर्शनं किमस्माभिः करणीयमिति सशयाकुलतया इत्यर्थः , अर्द्धैः ,—अर्द्धोन्मीलितैः , इत्यर्थः , अचिभिः ,—नयनैः , दृष्ट ,—अवलोकित , तः , स्त्रिय अपि त्वा पथि गच्छन्तं सायं एव घृणया द्रव्यन्ति , का कथा विवेकिना जनानामिति स्त्रीपटोपाटनानाम् प्रतीयते , [ दृष्ट इति भाविनि भूतवदुपचारः , कोर्णोद्यानस्थस्य शकारस्य तदानीमपि अन्नात-हनाभिः नगरस्त्रीभिरदृष्टत्वात् इति बोध्यम् । “नगरस्त्री” इत्यदं “नगरात्री” इति पाठो तु— दृष्टम्” इति भूतकालविहितं पठं सङ्गच्छते , तस्यां नगराधिदेवतायाः स्मरहिषा सर्वेषामन्तर्गम्यमित्वात् ] एतन्—पुरोऽवतिष्ठमानः , त्वा—भवन्तः , पुनरपि—भूमीपि , वध—हन् प्रकारेण , अनुयायान्—अनुगच्छेयम् ? न कथमप्यनुगच्छेयम् इत्यर्थः , इदंशकायानुष्ठानात् परमपि नै तवानुगमनं कथमपि न युज्यते इति भावः । अथ पतितत्वस्य अनाद्यत्वबोधस्य स्त्रीहत्यादयः विद्वेषदग्धा अनुगमना-वर्गादिगुणात् काव्यलिङ्गमलङ्कारः । कालिनी इति ॥ ४२ ॥



शकार । मम केलिके पुष्पकलण्डक-जिम्बुज्जाणे वशन्त-  
श्रेणिश्च मालिश्च कहि पलाश्चि ? एहि, मम आवुत्तश  
अग्गदी बवहाल देहि । ५ (द) [ इति धारयति ] ।

विट । आः । तिष्ठ जाल्ल । ( ध ) [ इति स्वस्माकषंति ] ।

शकार । [ सभयसपत्न्य ] किं ले । भीदेशि ? ता गच्छ । ५

विट । [ स्वगतम् ] न युक्तमत्रावस्थातुम् । भवतु, यत्र  
आर्य्यशर्विलक-चन्दनकप्रभृतयः सन्ति, तत्र गच्छामि ।

[ इति निष्क्रान्त ] ।

\* मदीय-पुष्पकरण्डक-जीर्णोद्याने वसन्तसेनां मारयित्वा कुत्र पलायसे ? एहि,  
मम आवुत्तस्यागतो व्यवहार देहि ।

+ किं रे । भीतोऽसि ? तद्वच्छ ।

—चारिवा—शौलव, गुणा,—दयादाक्षिण्यादय, तै सम्पन्ना, तस्या सम्बोधने,  
सुषरित्रे । गुणशालिनि । चेत्यथ, यद्वा,—“चारिवागुणसम्पन्ने” इति “कुले” इत्यस्य  
विशेषणम्, तथा च तव गणिकात्वादेवेय विपक्षिरूपस्थिता, कुलकामिनीत्वे तु न  
तथा, इति विबोधयितुमेवाह, चारिवेति ।—सौशील्यदयादाक्षिण्यादिगुणविशिष्टे  
इत्यथ, विनक्षे—विशुद्धे, कुले—वर्णे, (वशकरस्य तत्तद्गुणवत्तादर्शनात् सुतरा वशस्यापि  
तच्छालित्व फलवत्तादायातमिति वेदितव्य) जायंथा,—उत्पद्येथा, इदानीन्निष्ठ-  
स्त्रीकादपसृतायास्ते अन्यत् किं वयं प्राययामहे इति विटस्याशयः । पय्यावक्त्र  
वृत्तम् ॥ ४३ ॥

( द ) आवुत्तस्य—भगिनीपते, राज्ञ इति यावत्, [ तत्प्रत्ययानागत योगात्  
“पष्ठतसर्थप्रत्ययेन” ( २३३० पा० ) इति “आवुत्तस्य” इति षतो, “भगिनीपति  
रावुत्त” इत्यमरः ] । अयत्,—पुरतः, समक्षमित्यर्थः । व्यवहार—व्यवहारेण,  
विवाद विवादविनिर्णय इत्यर्थः, देहि—अपश्य, त्वमत्र वसन्तसेनायातो इति अभि-  
योगसङ्मानयिष्यामीति भावः, त्वयि अभियुक्ते मति, अभियाग तत्रापि दातव्य  
स्यादित्यावदयित देहोत्पन्नम्, अथवा वसन्तसेनाया इत्यामन्नेहनिराकरणार्थं  
मुत्तरमिति यावत्, “विनाकार्यैव मन्नेहे हरणं हारं लभ्यते । नानामन्नेहहरणं  
व्यवहार इति ध्रुवः ॥” इति कात्यायनवचनात् ।

( ध ) जाल्ल—मृत्यु इत्यर्थः ।

शकार । निधनं गच्छ । ( न ) अले थाबलका पुत्तका !  
कीलिशे मए कडे ? ॥

चेट । भट्टके । सहन्ते अकज्जे कडे । ॥

शकार । अले चेडे । किं भणसि ? अकज्जे कडे त्ति ?  
भोदु, एव्व दाव । [ नानाऽऽभरणानि अवताप्य ] गेह्ण एद अलङ्कारअं,  
मए ताव टिस्से, जेत्तिके वेलि अलङ्कलेमि, तेत्तिक वेलं मम,  
अस्स तव । ॥ ( प )

चेट । भट्टके उज्जेव एदे शोहन्ति, किं मम एदेहि ? §(फ)

८ निधनं गच्छ । परे म्यावरकपुद्गवा । कीदृशं मया कृतम् ?

† भट्टक । भट्टकार्यं कृतम् ।

‡ परे चेट । किं भणसि ? अकार्यं कृतमिति ? भवतु, एव तावत् । गृहाण-  
मङ्गलम्, मया तावद्वत्, यावत्यां वेलायाम् अलङ्करोमि, तावतो वेलो मम, अन्या  
तव ।

§ भट्टके एव एते शोभन्ते, किं मम एते ?

शकार । ता गच्छ, एटाइ गोणाइ गेल्लिअ मम केनकाए  
पाशाद-बालग-पटोलिकाए(व) चिट्ठ, जाव हगगे आअच्छामि ।\*

चेट । ज भट्टके आणवेदि । † [ इति निक्काल ] ।

शकार । अत्तपलित्ताणे भावे गटे अटंशण, चेड वि  
पाशाद बालग-पटोलिकाए णिअलपूलिट कटुअ थावइण्ण ।  
एब्बं मन्ते लक्खिदे भोटि । (भ) ता गच्छामि, अधवा, पेक्खामि  
दाव एद, किं एशा मला ? अधवा पुणो वि मालइण्ण ?  
[ अवलीका ] कधं शुमला । भोटु, एदिणा पावालएण पच्छा-  
देमि ण । अधवा, णामङ्गिदे एणे, ता के वि अज्जपुलिणे

\* तद्वच्छ, एतौ गावौ गृहीत्वा सदोयाया प्रासादवालाग्रप्रतीलिकाया तिष्ठ,  
यावदहमागच्छामि ।

† यद्वृत्त आज्ञापयति ।

‡ आत्मपरिवाणे भावो गतोऽदर्शनम्, चेष्टमपि प्रासादवालाग्र-प्रतीलिकाया  
निगडपूरित कृत्वा स्थापयिष्यामि । एव मन्त्रो रक्षितो भवति । तद्वच्छामि, अथवा,  
पश्यामि तावदेना, किमेषा मृता ? अथवा पुनरपि मारयिष्यामि ? कथं ममृता ।

( व ) प्रासादवालाग्रप्रतीलिकायां—प्रासादस्य—वृद्धदशालिकाया, बालायास  
—अभिनवनिर्मितायाम्, अथप्रतीलिकायां—प्रधानरख्यायाम् ( “रथ्या प्रतीली  
विगिखा” इत्यमर ) यथा,—प्रासादस्य—राजाशालिकावद्व्रताशालिकाया,  
( “प्रासादो देवभुजाम्” इत्यमर ) बाल,—अभिनवनिर्मित इत्यर्थ, य अथ,—  
अथभाग, उपरिस्थगृहमिति यावत्, तस्य प्रतीलिका—रथ्या, चूडास्यगृहस्योपरि  
अधिरोहणायम् अधिरोहणीत्यपरनामकमार्गविशेष इत्यर्थ, सोपानमिति यावत्,  
तस्याम् । चेष्टे अन्यादरप्रदर्शनार्थमेतदभिधानमिति वेदितव्यम् ।

( भ ) आत्मपरिवाणे—आत्मन,—स्वस्य, परिवाणे—रक्षणार्थमित्यर्थ । भाव,  
—पण्डित विट इत्यर्थ । अटंशन गत,—अक्षुरवियत्रता प्राप्त, पलायित इत्यर्थ ।  
निगडपूरित—गृहलवधदम् । नन्त —गुप्तावाद, वसन्तमेनावधदपरीष्यतिष्य इति  
यावत्, ( “मन्त्रो वेदविगमे स्यात् देवादीनाञ्च सावन्ने । गुप्तावादेऽपि च पमान”  
इति मेदिनी ) । रक्षितो भवति—गुप्तस्मृतोऽस्य । नो वेदेव करोमि, तथा पुन  
चेष्ट वसन्तमेनावधादिदृशान्तजात मन्त्रेभ्यस्तत् प्रकाशयति ३९ । १४ य ।

पञ्चहिजाणेदि । भोदु, एदिणा वाटालीपुञ्जिदेण शुक्कपस्स-  
पुडेण (स) पच्छादेमि । [ तथा कृत्वा विचिन्त्य ] भोदु, एव्वं टाव,  
सम्पद अधिअलण गदुअ ववहाल लिहावेमि । (य) जहा  
अत्यश्श कालणादो शट्ठवाह चालुदत्ताकेण मम केलकं पुप्फ-  
कलण्डक जिस्सुज्जाण पवेशिअ वशन्तशेणिआ वावादिदे त्ति । ॥—

चालुदत्तविणाशाअ कलिसि कवड णव ।

णञ्जलीए विगुहाए पशुवाट व्व टालुण § ॥ ४४ ॥

भवतु, एनेन प्रावारकेण प्रच्छादयामि एनाम्, अथवा नामादित एष तत्काऽपि  
आर्यपुरुष प्रत्यभिज्ञायति । भवतु एतेन वातालीपुञ्जितेन शुक्कपर्णपुटेन प्रच्छा-  
दयानि । भवतु, एव तावत् नाम्नतमधिकरण गत्वा व्यवहार लेखयानि, यथा  
अद्यस्य कारणात् माघवाहचारुदत्तकेन मदीय पुष्पकण्डक जीर्णोद्यान प्रवेश्य वसन्त-  
सेना व्यापारितेति ।—

§ चारुदत्तविनाशाय करोमि कपट नवम् ।

मगध्यां विगुहाया पशुवातनिव दारुणम् ॥

(न) एना—वसन्तसेनामित्यर्थ । प्रावारकेण—उत्तरीयवस्त्रेण । प्रच्छादयामि  
—आपातनमकम् आहणामि । नामादित—नम नामादिहित इत्यर्थ । आर्य-  
पुरुष—प्रधानपुरुष, यदा,—आर्याणां—मानानां, राजादीनामित्यर्थ, पुरुष,—  
अधिकृतनम रधिपुरुष इत्यर्थ । प्रत्यभिज्ञायति—मन्नामादितनुत्तरीयमालीक्य  
अस्मिन् हस्ताकारी इति निर्धारयितुमित्यर्थ । वातालीपुञ्जितेन—वायुसमूह-  
रहितेन हास्यानोत्तरेणेत्यर्थ । शुक्कपर्णपुटेन—विशोषितपत्रपुटकम्पितेनेत्यर्थ ।

(य) अधिकरण—विचाराद्यमित्यर्थ । व्यवहार—विवादम् । लेखयामि—  
लेखे कारयामि, माघविवाकसोपनुपस्थापयामीति दावत, [ इव भविष्यद्वासीधे

भोदु, गच्छामि । [ इति निष्क्रम्य दृष्ट्वा समयम् ] अविद-  
मादिके । जेण जेण गच्छामि मग्गेण, तेण ज्जेव एणे दुट्ठम-  
णके गहिद कशाओदक चीवल गेह्णिअ आअच्छदि, एणे मए  
णशि च्छिअ बाहिदे (र) किटवेले कटावि म पेक्खिअ, एटेण  
मान्हिदे त्ति पआशइश्हदि , ता कधं गच्छामि ? [ अवतीर ]  
भोदु, एद अद्वपडिद पाआलखण्ड उल्लाहिअ (ल) गच्छामि । \*

\* भवतु, गच्छामि । अविदमादिके । येन येन गच्छामि मार्गेण, तेनेव  
एष दुष्टग्रमणकी गृहीतकपायोदक चीवर गृहीत्वा आगच्छति, एष मया नासां  
क्षित्वा बाह्वित कृतवैर कदापि मां प्रेत्य, एतेन मार्गता, इति प्रकाशयिष्यति,  
तत्कथं गच्छामि ? भवतु, एतम् अद्वपतित प्राकारखण्डमुल्लाह्य गच्छामि ।—

चारुदत्तस्य निरपराधस्य पशुवन्नाशयमित्यर्थं, नवम्—अभिभव, केनापि प्रागनुज्ञावित  
मिति यावत्, टारुण—नृग्राम, कपट—कूटप्रयोगं, करोमि—विदधामि, पदिमा  
नगरो यथा निद्वयघातुकानाम् अवैधजीवन्तिमादिना दूषिता भवति, तथा जिघासा-  
विनिवृत्त्यर्थं निष्पापचारुदत्तमपि कूटव्यवहारानयनेन निव्यातयिष्यामि इति सरणाद्यर्थं ।  
पद्यावक्तुं वृत्तम् ॥ ४४ ॥

( र ) अविदमादिके—इति खेदविस्मयभयद्योतकम् अव्ययम् । गृहीतकपायो-  
दक—गृहीत—धृत, रज्जनाथ निहितम् इत्यर्थ, कपायोदक—रागराश्रितजन यत्र  
तथाविध, ( कपायो रमभेदेऽपि निव्यासे च विलिपने । अद्वरागे च न सो म्यात्  
सुरभो लाहिने विपु ॥” इति मेदिनी ) आरक्तमलिलमिक्तमित्यर्थं । चीवर—वस्त्र  
खण्डम् । एष,—ग्रमणक । नासां—नासिकाम् । क्षित्वा—विहेत्यर्थ, [ अश्वेव  
अद्वय प्रथमे ( ३२६ पृ० १६ प० ) पुष्पकरण्डकोद्यानप्रविष्टेन भिक्षुरेगिसवाङ्गेन  
तत्र शकारस्य दर्शनमात्रं तस्य भिक्षुनामावेधस्वाभाव्य वर्णितम्, स्वाङ्कस्य तु तथानि-  
ऽपि नासावेध कृत्वापि कविना नाक्त इति, इह “मया नासा क्षित्वा बाह्वित ” इति  
शकारोक्तेरमङ्गतत्वेऽपि बौद्धमत्यामिना परस्परं केशग्रस्तमुग्धन कायायनामपरि-  
धानादिषु सामान्यसत्त्वात् अकिञ्चनानिऽपि अस्मिन् सवाङ्के क्षिप्त्वा मया कल्पित  
अव्यय भिक्षुभोग्यादिति कथारुदत्तस्य सङ्गतिं करणीया ] । बाह्वित,—ताह्वित ।

( ल ) अद्वपतितम्—अद्वयम् । प्राकारखण्ड,—प्रायोगिकम् । उल्लाह्य—  
उत्प्लव्य, उत्पतनेन अतिक्रम्य इति यावत् ।

एषे न्हि तुलिद-तुलिदे लङ्गा गअलीए गअणे गच्छन्ते ।

भूमीए पाआले हणूमशिखरे बिअ महेन्द्रे ॥ ४५ ॥

[ इति गिष्कात् ] ।

[ प्रविश्य चपटोक्षेपेण सवादको भिक्षु ] . पक्खालिदे एषे मए चौवलखण्डे, किं एणु हु शाछाए शुक्खावड्ढश्श ? इध वाणस्सा दितुप्पन्ति । किं एणु हु भूमीए ? धूलीदोषे होदि, ता कच्चिं पशालिअ ( व ) शुक्खावड्ढश्श ? [ दृष्ट्वा ] भोदु, इध वादाली-

\* एषोऽहं त्वरित त्वरितो लङ्कानगव्या गगने गच्छन् ।

भूम्यां पाताले हनूमच्छिखरे इव महेन्द्रे ॥

+ प्रचलितमेतन्मया चौवरखण्डम् , किं तु खलु शाखाया शोषयिष्यामि ?—  
इह वातरा विलम्पन्ति । किं तु खलु भूम्याम् ?—धूलौदोषो भवति । तत् कुत्र प्रमाद्य

उपमानप्रदर्शनद्वारा भयप्रकाशपथेन कृत पलायनसुपवर्णयद्वाह, एव ज्ञात ।—  
एष,—एषावस्थित, एह—शकार इत्यर्थं, हनूमच्छिखरे—हनूमत,—पवन-  
नन्दनस्य, शिखरे—शङ्के, ( “हनूमानिव महेन्द्रशिखरे” इति वक्तव्ये “हनूमच्छिखरे  
इव महेन्द्रे ” इति विषयस्ता शकारोक्ति , तदपस्तु —महेन्द्रशिखरे—महेन्द्राख्य  
गिरिशङ्के ) पाताले—धरायास्तलस्थे भुवने, गगने—व्योमसार्गे, लङ्कानगव्या—  
लङ्काव्यपुत्र्या, त्वरितत्वरित,—त्वरितादपि त्वरित, एतौव त्वरान्वित इत्यर्थं,  
गच्छन्—प्रजन् परित परित्याम्यन्नित्यर्थं, सीताया अनुत्थानार्थमिति भाव, महेन्द्रे  
इव—तदाख्यपर्वत इव, ( हनूमानिवेत्यभिप्राय ) भूम्या—भूमितले, यद्येच्छ गच्छा  
सीति पूर्वोक्तगद्यस्येनान्वय , हनूमत इव प्राचीरमुल्लङ्घ्य त्वरित गच्छामीति भाव ।  
अत हनूमानिति वक्तव्ये हनूमदिति निर्विभक्तिरुक्त, तथा महेन्द्र इति वक्तव्ये महेन्द्र  
इति विभक्तिविषयासञ्जित प्रस्तुताप्रतीतिविघातकर दोष शकारभाषितत्वेनापि  
रक्षित । इह हन्तोऽदुरोधत एषमोणं “गच्छ” इत्युभयोर्लङ्घन पाठ । पाठ्या  
रक्षित । ४५ ।

पुञ्चिदे ( श ) शुक्लवत्तमञ्चए पशालइश्श । [ तथा कृत्वा ] गमो  
बुद्धश्श । [ इति उपविशति ] भोदु, धम्मक्खलाइं ( ष ) उटाहलामि ।  
[ “पञ्चजण जेण सालिटा” इत्यादि पूर्वोक्तं पठति ] अधवा, अल मम  
एदेण शमेण, जाव ताए वसन्तसेणाए बुडोवाशिआए पञ्चुव-  
आल ण कलेमि, जाए दशाणं शुवस्सकाण किदे जूदिअलेहि  
णिक्कीदे, ( स ) तटो पडुदि ताए कीद विअ अत्ताणअ अव-  
गच्छामि । [ दृष्ट्वा ] कि णु हु पसोदले शमुश्शगदि ? ॥

श्रीपयिष्यामि ? भवतु, इह वातालीपुञ्जिते शुक्लपवसञ्चये प्रसारयिष्यामि । नमो  
बुडाय । भवतु, धर्माचराणि उदाहरामि । [ “पञ्चजना येन मारिता ” ] अथवा, अल  
ममेतेन स्वर्गेण, यावत्तस्या वसन्तसेनाया बुडोपासिकाया प्रत्युपकारं न करोमि,  
यथा दशाना सुवर्णकाना कृते द्यूतकराभ्या निष्क्रोत, तत प्रभृति तया क्रीतमिवा  
त्मानमवगच्छामि । किं नु खलु पर्णोदरे समुच्छ्रंसति ?

प्रवज्जा प्रवन्ते, अतोऽव श्रीपणायमस्य स्थापने नूनमेवेते धीवरमतत् छेत्त्यनीति  
भावः, [ हेतुनाशक-तौदादिकगुम्पते भविष्यत्सामोष्ये लट्, यडा,—“प्रवृत्तोपरतयव  
वृत्ताविरत एव च । मित्यप्रवृत्ति सामोष्यो वत्तमानयत्तुव्विष ॥” इति नामात्  
“इह कुमारो क्रीडांति” इतिवत् वृत्ताविरतवत्तमाने लङिति बोध्यम् ] । भूम्या—  
भूमितले एव विस्तार्येत्यर्थः, श्रीपयिष्यामीत्यन्वयः । धुलीदोष,—रजोमालिन्य  
मित्यर्थः । प्रसाद्ये—विस्तार्य ।

( श ) वातालीपुञ्जिते—समीरणप्रवाहेण राशीकृते ।

( ष ) धर्माचराणि—धर्मापदेशभूमिप्रवचनानि, “पञ्चजना येन मारिता ”  
इत्यादि श्लोकइयमिति यावत् ।

( स ) एतेन स्वर्गेण—स्वर्गगमनकामनया एतत्पात्रेन, लज्जयेन वतन इत्यर्थः,  
उपकारप्रत्युपकारसकृत्वेन लोकान्तरं प्रयातव्यं तत्र शान्तिं न भवतीति भावः । ( अथ  
तावदित्यस्याहार्थः, तेन तावत् सम एतेन स्वर्गेण अल, यादृदित्यन्वया बाध्यः ।  
अथ स्वर्गपदं मीक्षपरं, यतोना मीक्षयेवाकाङ्क्षितत्वात् । तदकं समार्थोपनिर्वाहः,—  
“किं वा दुःखं समुद्दिश्य भोगास्त्यजति सुख्यतान । गन्धवामभयादोत ग्रीतोपाणा  
तथैव च ॥ गुहां प्रवेष्टुमिच्छामि, परं पदमनामयम् ॥” इत्यादि ) । प्रत्युपकारम्—  
कपयिमीधनदपकृतीपकारस्य अनुद्वेषं हिताचरणमित्यर्थः । यथा—वसन्तसेनाया

अथवा.—

वाटादवेण तत्ता. चीवल-तोएण तिम्मिदा पत्ता ।

एटे विथिस्सपत्ता मस्से पत्ता विअ फुलन्ति ॥ ४६ ॥

वच । [ मञ्जा लब्धा हन् दशंयति ] ।

मिह । हा । हा । शुद्धालङ्कालभूशिटे इत्यिआहस्ये णिक्क-  
मदि । (ह) कध. दुट्टिए वि हस्ये ॥ [ बहुविध निवस्य ] पच्चभि-

६ पद्यदा — वातातपेन तप्तानि चीवरतीयेन तिमितानि पदाणि ।

एतानि विस्मीयपदाणि नन्ये पवाणीव स्फुरन्ति ॥

+ हा । हा । शुद्धालङ्कारभूषित स्त्रीहस्यो निष्क्रान्ति । कध द्वितीयोऽपि

इत्यर्थ । सुवचकाना—शोडशनापकमितानां हंसान् । कृते—निमित्तम् । द्यूतकराभ्या  
—मायुर-तक्रहचराभ्यामित्यर्थ, [ अपाटानि पञ्चमी ] । निष्क्रान्त, —दशमुदयविनि-  
न्देन विमोचित कण्ठदंडोऽहमिति ईष ।

पुञ्जितपदाभ्यन्तरे निपतिताया वचनसेनाया समुच्चयेन स्फुरत्यवाप्ति  
दृष्टा किमिदमिति विचारयद्वाह वातातपेनेति ।—वातातपेन—वातेन—वायुना  
सहित आतप—गैट, तेन तप्तानि—शोष गतानि इत्यर्थ, एतानि—  
दशगुणानां पदाणि—पदाणि, चीवरतीयेन—चीवर—यतीना वस्त्रस्य तस्य  
तीयेन—तस्मिन् द्रव्येन यतीना वस्त्रनिष्पीडनविधेयात् सनलवस्त्रखण्डान्  
पतितेन जलनेति भाव, तिमितानि—सिक्कानि सन्ति स्थितानतीति ईष एतानि  
—हंसानि पुरतः शुद्धमानानि इत्यर्थ, विस्मीयपदाणि—प्रसारितपदाणि,  
पदाणिव—पद्विदा पद्वद्विद इव (पद्वन्तु बाहने पदे न्नाप पदे इरपद्विरी” इति  
न टो) स्फुरन्ति—स्फुरन्ते इति नन्ये—नकावयमौन्द, सुदुल्लभादतद्भङ्गेन  
यदा पद्विद पदा वेपने तर्पितान्तीति तर्पयामि इति भाव । अथ तु पृथ्वीधर, —  
इत्यर्थेन तप्तानि चीवरतीयेन तिमितानि इति भाव, तिमितानि इति भाव-  
इत्यर्थेन तप्तानि चीवरतीयेन तिमितानि इति भाव, तिमितानि इति भाव-  
इत्यर्थेन तप्तानि चीवरतीयेन तिमितानि इति भाव, तिमितानि इति भाव-



जागामि विश्व एतं हृत्यं । अधवा, किं विचालेण ? (क) शब्द मे  
ज्जेव हृत्ये, जेण मे अभयं दिण । भोदु, पेक्कइण । [ गच्छोभोदाञ्ज  
इहा प्रत्यभिज्ञाय च ] शा ज्जेव बुडोवाशिआ । १

वस । [ पानीयमाकाङ्क्षति ] ।

भिच्छ । कध । उटअ मग्गेटि ? दूले च टिग्गिआ, कि दाणि  
एत्थ कलइण्णं ? भोदु, एट चीवल शे उवल्लि गालइण्णं । ॥ (ख)  
[ तथा करोति ] ।

वस । [ सज्ञां लब्ध्वा उत्तिष्ठति ] ।

भिच्छ । [ पटान्तेन वीजयति ] ।

वस । अज्ज । को तुमं ? § (ग)

हस्त ॥ प्रत्यभिज्ञानामीव एत हस्तम् । अधवा, किं विचारिण ? सत्यं स एव हस्तः,  
येन मे अभयं दत्तम् । भवतु, प्रेक्षिये । सैव बुडोपासिका ।

‡ कथमुदकं मार्गेयति ? दूरे च दीर्घिका, किमिदानीमत्र करिष्यामि ?  
भवतु, एतस्योवरम् अस्या उपरि गालयिष्यामि ।

§ आर्यः । कस्त्वम् ?

( क ) प्रत्यभिज्ञानामीव—अरामीव, पूर्वं किलैव मया अवलोकित इति  
संस्कारसहजतः ज्ञानमव प्रत्यभिज्ञापदाद्य, इति प्राग्दृष्टस्य संस्कारवलादेव अव  
गच्छानोवेत्यर्थः । विचारिण—एष हस्तः तस्या एव न या इति वितर्केण इत्यर्थः ।

( ख ) मार्गेयति—अन्विष्यति, याचते इत्यर्थः । [ वैकल्पिकचौरादिकस्य  
मार्गेयते मार्गेत्येव लटि प्रयोगः ] । गालयिष्यामि—सज्जलवस्तु निर्यासं सज्ज  
दास्यामीत्यर्थः । [ चौरादिकात् चरणाश्रयात् सकृन्मकादाशनेपदिनय गालयति  
इत्यस्य लटि रूप, “गालयिष्ये” इत्येव पदमव साधुतया सप्रचक्षते, भौतादिकस्य  
गच्छते भक्षणायकत्वेन, तस्य णिवि रूपमेतदिति तु नाशङ्कनीयं, तस्य आश्रयतत्वेनैव  
दशनादिति तु विभावनीयम् ] ।

( ग ) आर्यः । कस्त्वमिति ।—सूत्र्यासदस्ताया मे पुनः श्रोतव्यमस्मिन्मन्त्रेण मे  
पक्षेभ्यः विपद्रेकगणय्य भवान् क इति ज्ञातुमिच्छामि, एतादृशा विपदे नान्नि मे  
किमपि शरणमत्र, अतः अप्रायित्वावगतं किमिदं मे भवानिति जिज्ञासा ।

भिञ्ज । किं म ण शुमलेदि बुद्धोवाशिआ दशसुवर्ण-  
णिक्कोद ? ‡ (घ)

वस । सुमरामि, ण उण जधा अज्जो भण्णादि, वर अहं  
उवरटा ज्जेव । † (ङ)

भिञ्ज । बुद्धोवाशिण । किं खेदं ? ‡

वस । [ सन्निवेदम् (घ) ] ज सरिस वेसभावस्स । § (क)

भिञ्ज । उट्ठे उ उट्ठे उ बुद्धोवाशिआ एट पादव समीज्जाद  
लट ओल्लस्विअ । ¶ (ज) [ इति लता नमयति ] ।

\* किं मा म स्मरति बुद्धोपासिका दशसुवर्णनिष्क्रीतम् ?

+ स्मरामि, म पुन यथा आर्यो भणति, परमहंसुपरतेव ।

‡ बुद्धोपासिके । किं तु खेदम् ?

§ यत्सदृश वेशभावस्य ।

¶ उत्तिष्ठतु उत्तिष्ठतु बुद्धोपासिका एता पादपसमीपजाता लतामवलम्ब्य ।

( घ ) किमिति ।—दशसुवर्णनिष्क्रीत—दशभि—दशसङ्ग्रहै, सुवर्णै,—प्रत्येक  
पौडगमापकमिते दोनारैरित्यथ, निष्क्रीत—निष्कृत, हारितायांना द्यूतकरभ्य,  
सप्तपणेन तत्र विक्रीतस्य वडस्य वा पुन निष्क्रीति उद्धार माचन वा यस्य तम् ।

( ङ ) स्मरामि, म पुन यथा आर्यो भणति—“दशसुवर्णनिष्क्रीतम्” इति यत्  
कथयति, तत्र स्मरामि, [ अनेन वसन्तसेनाया मरुदौदार्यं सूचितम् ] । सवाहक-  
कृतप्रशसादादन लज्जिता स्वविपत्तिसङ्कोत्वापनेन प्रस्तुतपरिजिह्वीर्षया आह, पर  
मिति ।—पर—किन्तु । उपरता—सता, मया त्व दशसुवर्णनिष्क्रीत इति न स्मरामि,  
परन्तु सतसायाया मे शोचनदानेन भवता एवाह निष्क्रीता इत्येव स्मरामीति भाव ।

( क ) सन्निवेद—सादृताप सवैराग्य वा ।

( ज ) वेशभावस्य—व्याजनाप्रयतिवतधम्मस्य गणिकाइतिरित्यथ । मरुदम्  
—इत्येत दशगणा वाट्ठो दुट्ठो अट्ठमात्ता ताट्ठो एव न भूता इति तु तदप्य,  
अत एव पादपसमीपविविधपद्मादृशोत्पत्तिगणिकानाम् अत एव तद्विविधत्वात् न न  
वध उच्यते इति भावः ।

वस । [ गृहीत्वा उत्तिष्ठति ] ।

भिच्छ । एटश्शि विहाले मम धम्मवह्निणिआ चिद्धदि,  
तहि शमश्शशिदमणा भविअ उवाशिआ गेह गमिश्शदि , ता  
शेणं शेण (भ) गच्छदु बुद्धोवाशिआ । [ इति परिक्रामत । दृष्टा ]  
ओशलध अज्जा ! ओशलध, एशा तलुणी इत्थिआ, एशो भिक्खु  
त्ति शुद्धे मम एशे धम्मे । \* (ज) —

\* एतस्मिन् विहारे मम धम्मभगिनी तिष्ठति, तव समाश्रयमना भूत्वा उपा-  
सिका गेह गमिष्यति, तत् शनैः शनैर्गच्छतु बुद्धोपासिका । अपसरत आया ।  
अपसरत, एषा तरुणी स्त्री, एष भिक्षुरिति युद्धी मम एष धम्मे । —

तेन च यतिनियमभङ्गप्रसङ्ग आपद्येत इति विविच्य धर्म्मसंवलनभिया तामस्पृष्ट-  
तस्या लताऽवलम्बनेनोत्पापनाय प्रयत्नं अनुसृतं भिक्षुणेति भावः ।

( भ ) विहारे—शौदानाम् आश्रमे, बुद्धोपासनास्थाने इत्यर्थः । (“विहारी  
भमणे सुत्थे लोलाया सुगतालये” इति मेदिनी ) । धम्मभगिनी—समानधर्म्मावलम्बि-  
तया एकगुरो शिष्यत्वेन च भगिनीसमा इत्यर्थः, यथा,—धम्मत्, —आचारत एव,  
भगिनी—भगिनोभूता, न तु लोकेत, भगिनोवदाचरशीला इति यावत् । समाश्रय-  
मना,—समाश्रयस्—अनुत्थि, शान्तमित्यर्थः, मन,—अन्तःकरणं यस्या सा,  
किञ्चित् स्वस्थोभूत्येव । शनैः शनैः,—नन्तः सन्तमित्यर्थः ।

( ज ) अपसरत—इतोऽपगच्छत इत्यर्थः । अपसरणे हेतुमाह, एषेति । —तरुणी  
—युवता, गच्छति इति शेषः, पथि गच्छत्या अस्या । स्त्रिया निवाधमनं यथा  
भवति, तथा नवद्विगार्यं किञ्चिदपसृत्यायतिष्ठमानैः कथञ्चमेवात भावः, ननु कथं  
वयमपसराम ? यतः त्वं किल अनुसरसि इत्याशङ्क्याह, एष इति । —एष,—अथ  
जनः, अहमिति यावत्, भिक्षु,—शौहमश्रमासी इत्यर्थः । ननु विषयविरक्तस्य ते युवत्यनु-  
सरणमयुक्तमित्याशङ्क्याह, युद्ध इति । —नम—मे, एष,—अवश्यकथञ्चिन्मानुषिती-  
त्यमित्यर्थः, धम्म,—सौमसस्मृतिहेतुभूततया शास्त्रकारे उल्लिखितं अवश्यपात-  
नोय विधिः, यथा,—एष धम्म,—विषयमरतणमिन्द्रादानानियोगं मोक्षत एव  
सुश्रानाचारः, विपनानामुदरव्याधयेव धर्माभीतिं तापव्यसः, [ त्रिपुनं सरन्त्येव नमः  
दत्तेनेति व्युत्पत्त्या धरतः त्रिपुनं इत्यस्य वाकरणं भविष्य, लोकादपि हेतुमाह धम्म  
इति तु व्युत्पत्तिरुच्यते ] । युद्ध,—पवित्रः, कथं तावन्तं विदुः ।

हृद्यशृङ्गदो मुहृशृङ्गदो इन्द्रियशृङ्गदो, श्री क्व माणुग्रे ।

किं कलेति साश्रुते ? तश्च पल्लोशो हृद्ये णिचले ॥ ४७ ॥

[ इति निष्क्रान्ति ] ।

इति वसन्तसेनामोटनो नाम अष्टमोऽङ्कः ॥ ८ ॥

\* इत्तस्यतो मुखसयत इन्द्रियसंयत स सुख मनुष्य ।

किं करोति राजकुलम् ? तस्य परलोको हस्ते निश्चल ॥

इत्यर्थे , नाहं कामुक इवेतामनुभूयामि, परन्तु अस्या प्रत्युपकाराश्रमेव अनु-  
ब्रजामीति भावः , नाहं धर्मकशुक इति शङ्कनीयमित्येवाव तात्पर्यम् ।

सुवत्सुसरण दृष्ट कश्चिदन्यथाऽऽशङ्की चेत् इत्याकल्य मुमुक्षूणां तत्सम्भावनाऽपि  
नास्ति इति दर्शयितुमाह, इत्तस्यत इति ।—यो नर इस्तेन—करेण, सयत,—  
नियमित सयतइत्त, य खलु इत्ताभ्यां किमपि प्रकार्यं न करोतीत्यर्थे, सुखसयत,  
—सुखेन—वदनेन, सयत,—आवड, सयतसुख इत्यर्थे, यो हि सुखेन परपीडाकर  
किमपि कटुवाक्यं न कथयति, जिह्वालालसायुक्त्य भवतीति, अधिकाया वाचि  
अभिधीयमानाया सत्या यदि कदाचिदपि भस्मेण मिथ्याभाषणं प्रयुक्तं स्यादिति शङ्कया  
य सदा भौनो नम्रास्ते इति वा तात्पर्याद्यं, तथा इन्द्रियसयत,—सयतेन्द्रियः, यस्य  
इन्द्रियाणि चतुरादीनि विषयेभ्यः निगृहीतवानित्यर्थः, स खलु—स एव, मनुष्य,—  
मनुष्यत्वेन गण्य राजकुल—राज,—शासकस्य, कुल—गृह, राजगृहावस्थिता  
पुत्रया इत्यर्थे विचारालयो वा, तस्य—इत्तादिभिः सयतस्य इत्यर्थे, जितेन्द्रियस्येति  
भावः किं करोति ?—किमनिष्टं कर्तुं शक्नोतीत्यर्थः, निरन्तरादात्मकस्याचरणान्  
राजकुले दण्डसम्भावनाऽपि नास्तीति भावः , तस्य हस्ते परलोकः,—स्वर्गः, निश्चलः,  
—स्थिरः, इह भूनात् पदपातादा दण्डावाप्तिसत्त्वेऽपि कदाचिदपि स स्वर्गात् न  
भ्रमतीत्यर्थः परलोके निरवच्छिन्नसुखधाराया एवाकाङ्क्षितत्वात्, ऐहिकस्य दुःख  
रूपिण सुखमाह्वानमुपेक्षणीयमेवेति भावः । गीतुपगीतिमित्रं त्वम् ॥ ४७ ॥

इदं प्रथमाष्टकीनधरपञ्चानन-पण्डितकुलपतिना वि, ए, उपाधिधारिणा

श्रीनन्दोबानन्दविद्यासागरभट्टाचार्येण विरचितायाः, तदात्मजाभ्यां

पण्डितश्रीनन्दोबविद्याभट्टपण्डितश्रीनन्दोबविद्याभट्टाचार्याभ्यां

इत्येवमनन्तरात्त्याया नक्षत्रकटिकच्छायां

अष्टमोऽङ्कः ॥ ८ ॥

## नवमोऽङ्कः ।

[ ततः प्रविशति शोधनकः ] ।

शोधनक । आणत्तस्मि अधिअरणभोइएहि,—“अरे सोहणआ । व्यवहारमण्डव (क) गदुअ आमणाइ सज्जीकरेहि” त्ति । ता जाव अधिअरणमण्डव सज्जिदु गच्छामि । [ परिक्रम्य अवलोक्य च ] एद अधिअरणमण्डवं, एस पविसामि । [ पवित्र्य सम्प्राज्जामनमाधाय ] विविक्त कारिट मए अधिअरणमण्डव, विरइटा मए आमणा, ता जाव अधिअरणिआण (ख) उण गिवेदेमि ।

\* आश्रतोऽस्मि अधिकरणभोजकै,—“अरे शोधनक । व्यवहारमण्डप गत्वा आसनानि सज्जीकुरु” इति, तत् यावदधिकरणमण्डपं सज्जितं गच्छामि । इदमधिकरणमण्डपम्, एष प्रविशामि । विविक्त कारित मयाऽधिकरणमण्डपम्, विरचितानि

( क ) अधिकरणभोजकै,—अधिक्रियते निर्णयार्थं विचारोऽस्मिन्निति व्युत्पत्त्या विचारेणाविक्रियते निर्णयते वा याथार्थ्यम् अस्मिन्निति अधिकरण—विचारालय, तस्य भोजका,—भोगकारिण, विचारका इत्यथ, प्राड्विवाकादय इति यावत्, तै । व्यवहारमण्डप—व्यवहार,—विवाद, ( “विवादो व्यवहार स्यात्” इत्यमर ) विचारो वा, तदुक्तं मिताचरणाम्,—“विनानाथेऽव सन्देहे हरणं हार उच्यते । नानासन्देहहरणाद्व्यवहार इति श्रुतः ॥” इति, “परस्परं सन्ध्याणां स्वाद्विप्रतिपत्तिषु । वाक्यान्त्यायातव्यस्यान्त्यव्यवहार उदाहृतः ॥” इति च । तस्य मण्डप—गृह, विचारालय इत्यर्थः, तत् ।

( ख ) विविक्त—विशुद्ध, सम्यक् सष्टमित्यर्थः, ( “विविक्तां प्रतविगनौ” इत्यमर ) । कारित—विधापित, परिचारकादिभिः परिचारकादीन् वेदितव्यं, [ अथ करोति णिचि प्रयोज्यकर्तुं वैकल्पिककर्मत्वविधानात्, तदथ कर्मत्वात्ति २२३८ ल कर्मणि वाच्यं कर्तुं यद्येष्टमुभयवैव मुख्यं गौणे च कर्मणि उक्तत्वात् २२३९ गौणस्य कर्मणः अधिकरणमण्डपस्य उक्तत्वं वेदितव्यम् ], आनकरणानाम्—अधिकरण—धर्माधिकरणे, विचारालये इति यावत् निश्चयानाम्, अधिकरणस्य इत्यर्थः, [ अथ ग्रंथे पटौ ] ।

[ पङ्क्तिन्यावस्रोज्य च ] कथं ॥ एमो रट्टिअसालो दुट्ट दुज्जण-मणुत्तो  
इदो ज्जेव आअच्छदि ॥ ता दिट्टिपथ (ग) परिहरिअ गमिस्स ।  
[ इति पङ्क्ते स्मृत ] ।

[ ततः प्रविशति उज्ज्वलवेशधारी शकारः ] ।

शकारः ।—

ह्लाटेऽहं शल्लिलजलेहि पाणिणहिं,  
उज्जाणे उपवणकाणणे णिशस्से ।  
गालोहिं शहं जुवटीहिं इत्थिआहिं,  
गन्धर्व्वे विअ सुहिदेहिं अङ्गकेहिं १ ॥ १ ॥

नराऽऽमनानि तत्र यावदधिकरणिकानां पुनः निवेदयामि । कथं ॥ एष राष्ट्रिय-  
भ्यान्तो दुट्टदुज्जनमनुष्य इत एव आगच्छति । तद्वद्विषय परिहृत्य गमिष्यामि ।

† स्नातोऽहं मल्लिलजले पानौघैरुद्याने उपवन-कानने निपत्य ।

नारीभिः सह युवतीभिः स्त्रीभिर्गन्धर्व्वं इव सुहितैरङ्गकैः ॥

खण्णेण गरुही, खणजूलके मे, खण्णेण मे चञ्चलकुन्तले वा ।

खण्णेण मुके, खण उद्धचूडे, चित्ते विचित्ते हगे लाअग्गाले ॥ २ ॥

\* चणेन ग्रन्थि, खणजूटकी मे, खणेन मे चञ्चलकुन्तला वा ।

खणेन मुक्ता, खणमूर्हचूडाश्रितो विचित्रोऽह राजग्याल ॥

विनोदयन्तिष्ठन्ति, तथेवाहमपि युवतीभि सह आत्मान विनोदयन् वर्ये इति तु ताव्यथम् । अत्र शकारवद्भूत्वात् “मलिलजलै पानीये” तथा “उद्याने उपवन-कानने” अपि च “नारीभि स्त्रीभि” इति पर्यायकशब्दप्रयोगकृतपुनरुक्तत्वदोष उपेक्षणीय । [“गन्धर्वे विष शुद्धिदेहि अङ्गकेहि” इत्यत्र “गन्धर्वेहिं शुद्धिदेहिं अङ्गकेहि” इति पाठान्तर दृश्यते, तस्य तु—गन्धर्वे सुविहितैरङ्गके इति संस्कृतम्, तदथस्तु,—सुविहितै,—रत्नखचितभूषणमनोहारिभि, अङ्गके,—रम्यतया कीमल-तया च प्रशस्तेरवयवैरुपलक्षितैरित्यर्थ, गन्धर्वे,—देवयोनिविशेषै, देवगात्रैरिति यावत्, तत्सदृशैरिति भाव, युवतीभिरिति पूर्वेष्वान्वय, अत्र अशरीभिरिति वक्तव्ये “गन्धर्वे” इति पुंभि साकं युवतीनां साम्यप्रदर्शनकृतलीकविरुद्धार्थाभिधान हास्य-रसानुकूलतया शकारसदृशाना नीचपादाणामधमत्वप्रतीतिकारत्वेन च भूषणमित्यव-धातव्यम् । “मलिलजलेहि” “ज्वरीहि” “शुद्धिदेहि” इत्यत्र सानुस्वारानामपि अन्योच्चाराणां लाघव हन्तोऽनुबोधात् स्वीकर्तव्यम् ] । प्रहर्षिणी उक्तम् ॥ १ ॥

केशाना नामाविधित्रिन्यासवशात् स्वस्य असाधारणशिरशीमां प्रकटयत्माह, खण्णेति ।—मे—मम, खणेन—खणकालं, कदाचिदित्यर्थ, ग्रन्थि,—केशवन्ध, सयतकेश इत्यर्थ, खणजूटक,—खणेन जूटक,—जटा, खणेन वा मे चञ्चल-कुन्तला,—चञ्चला केशपाशा, खणेन मुक्ता,—वस्त्रनात् भूषिता, खण वा उद्ध-चूडा,—उपरिस्थिता शिखा, राजन्ते इति शेष, [ सञ्चल कुल्लपदस्यानुपद्वेष्टा-न्वय, अत्र कुल्लप्यधिकरणादीना वैचित्र्यरूपफलप्राप्ते द्योतितत्वेन कालवाचकान “खणेन” इत्यस्मात् “अपवर्गे तृतीया” ( २१६ पा० ) “खणेन” “मे” इत्यत्र च पुनरुक्तिरुक्तो दोष वक्तृरधमपावत्वादेवोपेक्षणीय ] । खण्णेन रज्जे जूटकादथ करणे फलमाह, चित्त इति ।—यतोऽह राजग्याल,—राज ग्यालक, अत, पित विचित्र,—खणे खणे नानाविधविचित्रवैशम्यम् इत्यर्थ, राजग्यालत्वेन भवि सर्वमेव सौभाग्यश्रितमित्युपपन्न भवति इति भाव । [ “हगे” इत्यत्र एकार हन्तोऽनुबोधात् लघु पठनीय ] । उपजाति उक्तम् ॥ २ ॥

अवित्र, —विशगणित-गन्ध-पविष्टेण वित्र कीडण अन्तलं  
सगसाणेण पाविट मए सहदन्तल, ता कश्च एदं किविण-  
चेष्टिअं पाडइश्श ? (घ) [ श्रुत्वा ] आ । शुमलिट मए, दलिट-  
चालुदत्तश्श एट किविण-चेष्टिअ पाडइश्श । अस्स च दलिहे  
क्कु शे, तश्श शब्ब शम्भावाअदि । भोदु, अधिअलणमण्डवं गदुअ  
अगदो ववहाल लिहादइश्श, जधा चालुदत्ताकेण वशन्त-  
शेणिआ मोडिअ (ङ) सालिदा, ता जाव अधिअलणमण्डवं  
ज्जेव गच्छामि । [ परिक्रम्यावलोक्य च ] एदं त अधिअलणमण्डव,  
एत्थ पविशामि । [ प्रविश्यावलोक्य च ] कध, आशणाइ दिस्साइं  
चिठ्ठन्ति, याव आअच्छन्ति अधिअलणभोइआ, दाव एटिश्शं

\* अपि च—विशगणितगन्धपविष्टेनेव कीटकेनान्तरं सार्गसाणेन प्राप्तं सया सह-  
दन्तम्, तत्कथ्येदं रूपदचेष्टितं पातयिष्यामि ? आ । श्रुतं सया, दलिटचालुदत्तस्य  
इदं रूपदचेष्टितं पातयिष्यामि । अन्यद्, दलिटं खलु स, तस्य सर्वं सुम्भाव्यते ।  
भवतु अधिकरणमण्डपं गत्वा अशतो व्यवहारं लिखयिष्यामि, यथा चारुटस्तेन दसन्त-  
नेना नोटयित्वा सांगिता । ततः यावदधिकरणमण्डपमेव गच्छामि । एतत् तदधि-  
करणमण्डपम् अहं प्रविशामि । कथम्, सामनानि दत्तानि तिष्ठन्ति, यावदाग-





कृत्वा कार्यमुपक्षिपन्ति पुरुषा न्यायेन दूरीकृतं.

स्नान् दोषान् कथयन्ति नाधिकारणे रागाभिभृता स्वयम् ।

तै यज्ञापरपक्षवर्जितवलेर्दोषैर्नृप स्पृश्यते.

सुहृपादपवाद एव सुलभो द्रष्टुर्गुणो दूरत ॥ ३ ॥

विशेषण—सन्निगतभाववशेन नृप तेषां वाक्यं श्रुत्वा स्वहृद्भावेण मनीसत-  
भावपरेनानसिति भावः । अथ अहो इति खेदाद्येत परचित्तदृष्टस्य दृष्टरतया  
कदाचित् विज्ञानविषये पापसूचकाशङ्कया खेदो वीज्य , वितर्काद्येत,  
अतीव क्लेशजायमिति तर्क्यानीत्यर्थः परस्परविमत्वादि अर्थिप्रतीतिभावेन श्रुत्वा  
स्वहृद्भावात् तच्चाप्रधानस्य अतीव दुःखं इति तात्पर्यम् ।

लक्षणादिकं नृप सत्पादनस्य दुःखरते हेतुवचनप्रसङ्गेन असम्बन्धवद्भावेन  
लोपन इ कृत्वा जायमानि ।—पुरुषा,—अभियुक्ताभिधीनप्रसृतयः, न्यायेन—  
नैवा पुनः वा दूरीकृत—निराकृत नीतिरहितसंयुक्त वा इत्यर्थः कायम्—  
अमनीसविषयीकृतं यत् इति जायते इदम्—आयोजनाद्यादि, तथा तथा अन्तः  
सत्येन सत्यमसत्येन वा जायते इत्येति भावः, उपासपान्—अवधारणं प्रयुज्यते,  
अद्वैतमस्येत्यर्थः, 'यत् त' इति पदद्वयस्य कृत्वाभावः, स्वयम्—आत्मना,

अपि च ।—

छन्न दोषमुदाहरन्ति कुपिता न्यायेन दूरीकृताः,

स्वान् दोषान् कथयन्ति नाधिकरणे, सन्तोऽपि नष्टा ध्रुवम् ।

सम्यपक्षीयवाग्जालैराच्छन्नमतितया किकर्त्तव्यताज्ञानविरहेण अधिकरणकेन कदाचित् असत्यस्य सत्यवाग्वर्णयात्, कदाचित् सत्यस्य असत्यवन्निर्णयार्थं भाव, तेन च इह महदयशस परत्र च निरयस्य भाजन नृपति भवतीति फलितम्, यथा,—पक्षा,—राज्ञ स्वपक्षा, असाम्यभृत्यादय इत्यथ, अपरपक्षा,—व्यवहारार्थपक्षा, व्यवहाराजीविन, “सकील” इति प्रसिद्धा इत्यथ, तै, तथा हि,—राजपक्षा असाम्यादय, बुद्धिविपर्ययात् उत्कीचयहणाद्वा कुमन्तणाप्रदानेन नृपम् अन्यथा चालयन्त, तथा व्यवहाराजीविनोऽपि लोभपारवश्यात् सतत वाक्कोशमन स्याप्रमाणाद्युपस्थापनेन च अतृप्तमपि व्यवहार यथार्थत्वेन वर्णयन्त दोषमुत्पादयन्ति, तदुदाटयितुमशक्ते समाहा अदण्ड्यान् दण्डयति राज्ञि तस्यापसम्पर्शो भवतीति बोध्यम्, अत एव व्यवहारस्य अथवादर्शने अदर्शने च दोषमाह सन्, यथा,—“अदण्ड्यान् दण्डयन् राजा दण्ड्यायेवाप्यदण्डयन् । अथगो महदाप्नोति नरकश्च गच्छति ॥” इति । भवतु तावम् विचारविपर्ययेण नृपस्य पापस्पर्शं, प्राड्विवाकस्य तेन किमित्याशयेनाह, सङ्क्षेपादिति ।—अत सङ्क्षेपात्—सामान्यात्, किमनन्यजन्यमे नेति भाव, द्रष्टु,—व्यवहारदर्शने, विचारकस्येत्यर्थे, अपवाद एव—निन्दा एव, सुलभ,—सुप्राप, गुणस्तु—प्रशंसालाभम्, दूरत एव—दूरवर्त्ता एव, न सुलभ इत्यर्थं, व्यवहारकस्य मुहु सत्यादनस्य अतीव दृक्कृतया तत सामान्यमात्र खल्वनेनैव महती निन्दा जायते, प्रशंसालाभम् सुदूरपराहत एव इति भाव । [ अत्र सुलभ इति खलाशकस्य कर्तुं द्रष्टु इत्यस्य कथं पठोत्वम् ? ‘न लोकाय ।’ ( राश. ६६ पा० ) इति सूत्रेण पटोप्रतिषेधदर्शनान्न, अत्र तु दीनता,—‘सर्वेति कारकपठ्या प्रतिषेध, श्रेये पठौ तु स्यादेव’ इत्याह, तथा च सुलभ इत्यस्य क्रिया पदस्य द्रष्टुरेव कर्तृत्वेऽपि श्रेये पठौ इति कृत्वा समाधानं करणीयमिति, एव । “कोपदण्डसमयाणां किमेपासन्ति दृक्कर्म” इति “मुक्तानां किं दण्डाय महत्तानाम्” एवमादिषु स्थलेषु प्रोक्तनिग्रमस्य व्यभिचारदर्शनात्, सम्यस्यविग्रनया, नत्रा निर्दिष्ट स्वानित्यत्वाहेति व्यवस्थया समाधातव्यमिति ] । शार्दूलविक्रीडित वृत्तम् ॥ ३ ॥

उक्तमर्थे पुनर्भङ्गान्तरेणाह, छन्न दोषमिति ।—ये, पुरुषा इति श्रेय, कुपिता, —कोपपरतन्ता, अत एव व्याप्ति—दीदा, दूरीकृता —नोदोषता एव

ये पक्षापरपक्षदोषसहिता. पापानि सङ्गुर्वते,  
सङ्क्षेपादपवाद एव सुलभो द्रष्टृगुणो दूरतः ॥ ४ ॥

यत अधिकरणिक (भ) खलु,—

शास्त्रज्ञ कपटानुसारकुशलो वक्ता न च क्रोधन-  
स्तुल्यो मित्रपरस्वर्केषु चरितं दृष्ट्वैव दत्तोत्तरः ।

( दृश्यते हि ताके कडा पापान् मदमदिविकशया भवन्ति इति ) अधिकरणे—  
विचारालये, कृष्ण—कटाचित् सत्यमसत्येन, कटाक्षश्च असत्य सत्येन आहत, दोष—  
पापम् अन्योन्यस्योत ऊप उदाहरन्ति—वर्णयन्ति तथा सन्तीऽपि—साधक आप,  
ये स्वान्—निजान् दोषान्—अपराधान् न कथयन्ति—न प्रकाशयन्तीत्यर्थः, ( ते  
नूनमित्यव्याहार्यं यत्तदनिव्यमस्त्वन्तान् ) पक्षापरपक्षदोषसहिता,—पक्षाणाम्  
अपरपक्षाणां—परस्परविरुद्धपक्षाणामित्यर्थः, दोषैः,—दूषणैः, परस्पर निव्यातनेष्वथ  
अपराधोपपत्तौ इति भावः सहिता—न्युक्ता, प्रतिहिंसापरतन्त्रतया उभय-  
पक्षीयानोपपत्तौ दृष्टं दत्ता मन्त्र, पापानि—किल्बिषाणि, सङ्गुर्वते—सम्यक् आच-  
रन्ति, पापिन भवन्तीति यावत्, ( अतः ते ) भुक्—निश्चित, नष्टा,—नाश गता,  
उभयलोकाभ्यां भ्रष्टा भवन्तीति भावः । अवशिष्टाशानां व्याख्या तु पूर्वश्लोकवत्  
देदितव्या । शार्दूलविकीर्णत हस्तस ॥ ४ ॥

( भ ) अधिकरणिक —[अधिकरणस्य अयम् अधिकरणशब्दादितमर्धे इक-  
प्रत्यय “अत इतिठनौ ( ५ । २ । ११५ पा० ) इति ठन् वा ] अधिकरणसम्यग्भी,  
विचारकभा इत्यर्थः प्राङ्निवाकपदवाच्य इति यावत् ।

क्लीवान् पालयिता शठान् व्यथयिता धर्म्येऽस्ति लोभान्वितो  
हार्भावे परतत्त्व-वद्वहृदयो राज्ञश्च कोपापह्नः ॥ ५ ॥

आवरण, विवादविषयोभूतमिति यावत्, अविप्रत्यर्थिनोरिति शेष दृष्टैव—विचारण  
पुद्गानुपुद्गण ज्ञात्वैवेत्यर्थे, [ स्वाद्योग्यवच्छेदकीऽयम् एवकार, एतेन लज्जाभया  
दिभिरुत्तरदाने विकल्पः अकथय इति सूचितम्, “चरितं दृष्टैव” इत्यत्र “चरिते  
दृष्टे च” इति पाठान्तरे—विचारिते सतीत्यर्थः ] दत्त—विहितमित्यर्थः, उक्त—  
राजान्तित प्रतिवचन, वादिप्रतिवादिनी अद्यपराजयरूपमिति यावत्, यत् तथाभूत,  
क्लीवान्—अविक्रमान्, अक्षमानित्यर्थः, ( “—पापे क्लीव नपुंसके । पण्डित्यवद-  
विक्रमे—” इति मेदिनी ) पालयिता—दुजनेभ्य स्वभावतः रक्षिता रक्षणशील  
इत्यर्थः, शठान्—धूर्तान्, दुज्जनान् इत्यर्थः, व्यथयिता—प्रकृत्यैव दण्डयिता,  
दण्डदानशील इत्यर्थः, [ त्वच प्रयोगे कथं कृदयोगात् “क्लीवान्, शठान्” इत्युभयस्य  
कर्मणि न षष्ठी, इति तु नाशङ्कनीय, शौलायत्तच योगे षष्ठीप्रतिषेधात्, अथवा  
भव्यार्थे लुटः एवायं प्रयोगः, पात व्यथयनेत्य लुटि तथैव प्रयोगः भवतीति  
विज्ञेयम्, ] धर्म्ये—धर्मादनपेते कर्मणि, धर्माचरणे इत्यर्थः, अतिलोभान्वित—  
अतिलब्ध, धर्मपरायण इत्यर्थः, ( धार्मिकस्य पक्षपातीति तु फलितं, विटपा गण  
पक्षपातदर्शनात् ) [ “धर्म्येऽस्ति लोभान्वित” इत्यत्र “धर्म्यो न लोभान्वित” इति  
पाठान्तरे—धर्मा, —धर्मादनपेत, धार्मिक इत्यर्थः, न लोभान्वित,—निर्लोभ  
इत्यर्थः ] तथा हार्भावे—हार्, —हारम्, अभ्युपाय इत्यर्थः, ( “हारं निर्गमनेऽपि  
व्यादभ्युपाये” इति मेदिनी ) तस्य भावः,—सत्ता तस्मिन्, उपाये सतीत्यर्थः,  
परिषाम्—अर्थिप्रत्यर्थिना, यत् तत्त्व—शायार्थं तस्मिन्, तन्निर्णये इत्यर्थः, न दृष्टव्यः,  
—त्यासक्तमना, परतत्त्वानुसन्धाने समाहितचित्त इत्यर्थः, व्यवहारार्थं स्वाय  
परतया यथा स्वविषये वद्वहृदो भवति, तथा अधिकरणिकोऽपि तद्व्यवहारमन्त्रमा  
भावात् उपाये सति केवलं तत्त्वानुसन्धानाश्रयं समाहितमना भवेदिति भावः,  
यथा,—पर,—प्रधान, श्रेष्ठ वा यत् तत्त्व तस्मिन्, किमत्र तत्त्वमिति श्रद्धा राक्षितेनात्र  
तत्त्वमिति विनिर्णये, वद्वहृदयः,—आकुलचेता, अभियोग्यवर्तिपरा स्वयं तन्मा त-  
निर्णयपटु इति फलिताय, तथा राज्ञः,—निधीज्जकस्य नृपते कोपापह्नः,—राजः,  
—क्रौव, अथवा व्यवहारदर्शनादिति भावः, तस्य अपह्नः—नाशकः तस्य अपह्नः  
नाशकस्य, कर्णेज्जवानामुत्तिवैचित्र्येण विचारकाश्च इति चरितं कथं अमलं  
तथा पक्षपातित्वं सत्त्वा विचारकस्यां तत्त्वज्ञानात् क्रुद्धो राज्ञः सद्व्यवहारदर्शने

देहिजायस्यौ । अज्जस्स वि णाम गुणे दोसो त्ति बुच्चदि १ जइ  
एव्व, ता चन्दालोए वि अन्धआरो त्ति बुच्चदि । ३

अधि । भद्र शोधनक । अधिकरणमण्डपस्य मार्गमादेशय ।

शोधनक । एदु एदु अधिअरणभोइओ एदु । १' [ इति परि-  
ज्ञानलि ] ।

शोधनक । एद अधिअरणमण्डव, ता पविसन्तु अधिअरण-  
भाइआ । १' [ मवे प्रविशलि ] ।

अधि । भद्र शोधनक । वह्निनिष्क्रस्य जायता, क. क  
काय्योयी (ज) इति ।

शोधनक । ज अज्जो आणवेदि । [ इति निष्क्रम्य ] अज्जा !  
अधिअरणिआ भणान्ति, को को इध कज्जली त्ति । §

प्रकार । [ नष्टपत्र ] उवत्थिए अधिअन्तणिए १ [ साटोप (ठ)  
परिकल्प ] हग्गे वलपुलिशे मणुण्णे वाशुटेव तट्ठिअशाले (ठ)  
लाअशाले कज्जली । १

शोधनक । [ ससभ्रमम् ] हीमाटिके । पटम ज्जेव रट्टिअसालो कज्जत्थी ! भोदु, अज्ज । सुहुत्त चिट्ठ, टाव, अधिअरणिआणं णिवेदेमि । [ उपगम्य ] अज्जा । एसो क्खु रट्टिअसालो कज्जत्थी ववहार (ड) उवत्थिदो । \*

अधि । कथ । प्रथममेव राष्ट्रियश्याल कार्याधी । यथा सूर्योदये उपरागो महापुरुषनिपातमेव कथयति । शोधनक ! व्याकुलेनाद्य (ठ) व्यवहारेण भवितव्यम् । भद्र । निष्क्रम्योच्यता, “गच्छ, अद्य न दृश्यते तव व्यवहार ” इति ।

शोधनक । ज अज्जो आणवेदि त्ति । [ निष्क्रम्य शकारमुपगम्य ] अज्ज । अधिअरणिआ भणन्ति, “अज्ज गच्छ, ण दोशदि तव ववहारो” । †

\* इत् । प्रथममेव राजश्याल कार्याधी । भवतु, आद्य । सुहृत्ते तद तावत्, अधिकरणिकाना निवेदयामि । आर्या । एष खनु राष्ट्रियश्याल कार्याधी व्यवहारम् उपस्थित ।

† यदाद्ये आज्ञापयति । आद्य । अधिकरणिका भणन्ति, “अद्य गच्छ, न दृश्यते तव व्यवहार ” ।

शोधनाये तदभेदाशय क्त राष्ट्रियश्याल,—“राजश्यालन्तु राष्ट्रिय ” इत्यमरः । राष्ट्रियशब्देनैव राजश्यालस्य गम्यमानत्वेऽपि “राजश्याल ” इति पठे विगणनाभाये पञ्चपञ्च इत्यादिवत् इति वीजम्, अनूटामात्रत्वेन विगणवैजनाये वा, मृग भाषितत्वाद्वा पौनरुक्त्यमेतत् न दोषायिति वेदितव्यम् ।

( ड ) व्यवहार—विचारगृहमित्यर्थ ।

( ठ ) उपराग,—राष्ट्रया मुख्ये चन्द्रमसी वा यास इत्यर्थ, ( “उपरागा यदा राष्ट्रयस्ते त्वित्यौ च पुंश्चि च” इत्यमरः ) यथा—यदत्, महापुरुषनिपात—साधुजन-विनाश, कथयति—मन्त्रपतीत्यर्थ, तथा प्रथममेव राष्ट्रियस्य आगमन रट्टिअसाल निपातमेव सूचयतीति शोधो बीज , [ एतत् महापुरुषस्य आरुढमस्य । यदुक्तमादिश आवा एवेति सूचते ] । व्याकुल—विश्रामितेन, विवर्धितेन, अन्तः १ २ ३ ४ ५ ६ ७ ८ ९ १० ११ १२ १३ १४ १५ १६ १७ १८ १९ २० २१ २२ २३ २४ २५ २६ २७ २८ २९ ३० ३१ ३२ ३३ ३४ ३५ ३६ ३७ ३८ ३९ ४० ४१ ४२ ४३ ४४ ४५ ४६ ४७ ४८ ४९ ५० ५१ ५२ ५३ ५४ ५५ ५६ ५७ ५८ ५९ ६० ६१ ६२ ६३ ६४ ६५ ६६ ६७ ६८ ६९ ७० ७१ ७२ ७३ ७४ ७५ ७६ ७७ ७८ ७९ ८० ८१ ८२ ८३ ८४ ८५ ८६ ८७ ८८ ८९ ९० ९१ ९२ ९३ ९४ ९५ ९६ ९७ ९८ ९९ १०० १०१ १०२ १०३ १०४ १०५ १०६ १०७ १०८ १०९ ११० १११ ११२ ११३ ११४ ११५ ११६ ११७ ११८ ११९ १२० १२१ १२२ १२३ १२४ १२५ १२६ १२७ १२८ १२९ १३० १३१ १३२ १३३ १३४ १३५ १३६ १३७ १३८ १३९ १४० १४१ १४२ १४३ १४४ १४५ १४६ १४७ १४८ १४९ १५० १५१ १५२ १५३ १५४ १५५ १५६ १५७ १५८ १५९ १६० १६१ १६२ १६३ १६४ १६५ १६६ १६७ १६८ १६९ १७० १७१ १७२ १७३ १७४ १७५ १७६ १७७ १७८ १७९ १८० १८१ १८२ १८३ १८४ १८५ १८६ १८७ १८८ १८९ १९० १९१ १९२ १९३ १९४ १९५ १९६ १९७ १९८ १९९ २०० २०१ २०२ २०३ २०४ २०५ २०६ २०७ २०८ २०९ २१० २११ २१२ २१३ २१४ २१५ २१६ २१७ २१८ २१९ २२० २२१ २२२ २२३ २२४ २२५ २२६ २२७ २२८ २२९ २३० २३१ २३२ २३३ २३४ २३५ २३६ २३७ २३८ २३९ २४० २४१ २४२ २४३ २४४ २४५ २४६ २४७ २४८ २४९ २५० २५१ २५२ २५३ २५४ २५५ २५६ २५७ २५८ २५९ २६० २६१ २६२ २६३ २६४ २६५ २६६ २६७ २६८ २६९ २७० २७१ २७२ २७३ २७४ २७५ २७६ २७७ २७८ २७९ २८० २८१ २८२ २८३ २८४ २८५ २८६ २८७ २८८ २८९ २९० २९१ २९२ २९३ २९४ २९५ २९६ २९७ २९८ २९९ ३०० ३०१ ३०२ ३०३ ३०४ ३०५ ३०६ ३०७ ३०८ ३०९ ३१० ३११ ३१२ ३१३ ३१४ ३१५ ३१६ ३१७ ३१८ ३१९ ३२० ३२१ ३२२ ३२३ ३२४ ३२५ ३२६ ३२७ ३२८ ३२९ ३३० ३३१ ३३२ ३३३ ३३४ ३३५ ३३६ ३३७ ३३८ ३३९ ३४० ३४१ ३४२ ३४३ ३४४ ३४५ ३४६ ३४७ ३४८ ३४९ ३५० ३५१ ३५२ ३५३ ३५४ ३५५ ३५६ ३५७ ३५८ ३५९ ३६० ३६१ ३६२ ३६३ ३६४ ३६५ ३६६ ३६७ ३६८ ३६९ ३७० ३७१ ३७२ ३७३ ३७४ ३७५ ३७६ ३७७ ३७८ ३७९ ३८० ३८१ ३८२ ३८३ ३८४ ३८५ ३८६ ३८७ ३८८ ३८९ ३९० ३९१ ३९२ ३९३ ३९४ ३९५ ३९६ ३९७ ३९८ ३९९ ४०० ४०१ ४०२ ४०३ ४०४ ४०५ ४०६ ४०७ ४०८ ४०९ ४१० ४११ ४१२ ४१३ ४१४ ४१५ ४१६ ४१७ ४१८ ४१९ ४२० ४२१ ४२२ ४२३ ४२४ ४२५ ४२६ ४२७ ४२८ ४२९ ४३० ४३१ ४३२ ४३३ ४३४ ४३५ ४३६ ४३७ ४३८ ४३९ ४४० ४४१ ४४२ ४४३ ४४४ ४४५ ४४६ ४४७ ४४८ ४४९ ४५० ४५१ ४५२ ४५३ ४५४ ४५५ ४५६ ४५७ ४५८ ४५९ ४६० ४६१ ४६२ ४६३ ४६४ ४६५ ४६६ ४६७ ४६८ ४६९ ४७० ४७१ ४७२ ४७३ ४७४ ४७५ ४७६ ४७७ ४७८ ४७९ ४८० ४८१ ४८२ ४८३ ४८४ ४८५ ४८६ ४८७ ४८८ ४८९ ४९० ४९१ ४९२ ४९३ ४९४ ४९५ ४९६ ४९७ ४९८ ४९९ ५०० ५०१ ५०२ ५०३ ५०४ ५०५ ५०६ ५०७ ५०८ ५०९ ५१० ५११ ५१२ ५१३ ५१४ ५१५ ५१६ ५१७ ५१८ ५१९ ५२० ५२१ ५२२ ५२३ ५२४ ५२५ ५२६ ५२७ ५२८ ५२९ ५३० ५३१ ५३२ ५३३ ५३४ ५३५ ५३६ ५३७ ५३८ ५३९ ५४० ५४१ ५४२ ५४३ ५४४ ५४५ ५४६ ५४७ ५४८ ५४९ ५५० ५५१ ५५२ ५५३ ५५४ ५५५ ५५६ ५५७ ५५८ ५५९ ५६० ५६१ ५६२ ५६३ ५६४ ५६५ ५६६ ५६७ ५६८ ५६९ ५७० ५७१ ५७२ ५७३ ५७४ ५७५ ५७६ ५७७ ५७८ ५७९ ५८० ५८१ ५८२ ५८३ ५८४ ५८५ ५८६ ५८७ ५८८ ५८९ ५९० ५९१ ५९२ ५९३ ५९४ ५९५ ५९६ ५९७ ५९८ ५९९ ६०० ६०१ ६०२ ६०३ ६०४ ६०५ ६०६ ६०७ ६०८ ६०९ ६१० ६११ ६१२ ६१३ ६१४ ६१५ ६१६ ६१७ ६१८ ६१९ ६२० ६२१ ६२२ ६२३ ६२४ ६२५ ६२६ ६२७ ६२८ ६२९ ६३० ६३१ ६३२ ६३३ ६३४ ६३५ ६३६ ६३७ ६३८ ६३९ ६४० ६४१ ६४२ ६४३ ६४४ ६४५ ६४६ ६४७ ६४८ ६४९ ६५० ६५१ ६५२ ६५३ ६५४ ६५५ ६५६ ६५७ ६५८ ६५९ ६६० ६६१ ६६२ ६६३ ६६४ ६६५ ६६६ ६६७ ६६८ ६६९ ६७० ६७१ ६७२ ६७३ ६७४ ६७५ ६७६ ६७७ ६७८ ६७९ ६८० ६८१ ६८२ ६८३ ६८४ ६८५ ६८६ ६८७ ६८८ ६८९ ६९० ६९१ ६९२ ६९३ ६९४ ६९५ ६९६ ६९७ ६९८ ६९९ ७०० ७०१ ७०२ ७०३ ७०४ ७०५ ७०६ ७०७ ७०८ ७०९ ७१० ७११ ७१२ ७१३ ७१४ ७१५ ७१६ ७१७ ७१८ ७१९ ७२० ७२१ ७२२ ७२३ ७२४ ७२५ ७२६ ७२७ ७२८ ७२९ ७३० ७३१ ७३२ ७३३ ७३४ ७३५ ७३६ ७३७ ७३८ ७३९ ७४० ७४१ ७४२ ७४३ ७४४ ७४५ ७४६ ७४७ ७४८ ७४९ ७५० ७५१ ७५२ ७५३ ७५४ ७५५ ७५६ ७५७ ७५८ ७५९ ७६० ७६१ ७६२ ७६३ ७६४ ७६५ ७६६ ७६७ ७६८ ७६९ ७७० ७७१ ७७२ ७७३ ७७४ ७७५ ७७६ ७७७ ७७८ ७७९ ७८० ७८१ ७८२ ७८३ ७८४ ७८५ ७८६ ७८७ ७८८ ७८९ ७९० ७९१ ७९२ ७९३ ७९४ ७९५ ७९६ ७९७ ७९८ ७९९ ८०० ८०१ ८०२ ८०३ ८०४ ८०५ ८०६ ८०७ ८०८ ८०९ ८१० ८११ ८१२ ८१३ ८१४ ८१५ ८१६ ८१७ ८१८ ८१९ ८२० ८२१ ८२२ ८२३ ८२४ ८२५ ८२६ ८२७ ८२८ ८२९ ८३० ८३१ ८३२ ८३३ ८३४ ८३५ ८३६ ८३७ ८३८ ८३९ ८४० ८४१ ८४२ ८४३ ८४४ ८४५ ८४६ ८४७ ८४८ ८४९ ८५० ८५१ ८५२ ८५३ ८५४ ८५५ ८५६ ८५७ ८५८ ८५९ ८६० ८६१ ८६२ ८६३ ८६४ ८६५ ८६६ ८६७ ८६८ ८६९ ८७० ८७१ ८७२ ८७३ ८७४ ८७५ ८७६ ८७७ ८७८ ८७९ ८८० ८८१ ८८२ ८८३ ८८४ ८८५ ८८६ ८८७ ८८८ ८८९ ८९० ८९१ ८९२ ८९३ ८९४ ८९५ ८९६ ८९७ ८९८ ८९९ ९०० ९०१ ९०२ ९०३ ९०४ ९०५ ९०६ ९०७ ९०८ ९०९ ९१० ९११ ९१२ ९१३ ९१४ ९१५ ९१६ ९१७ ९१८ ९१९ ९२० ९२१ ९२२ ९२३ ९२४ ९२५ ९२६ ९२७ ९२८ ९२९ ९३० ९३१ ९३२ ९३३ ९३४ ९३५ ९३६ ९३७ ९३८ ९३९ ९४० ९४१ ९४२ ९४३ ९४४ ९४५ ९४६ ९४७ ९४८ ९४९ ९५० ९५१ ९५२ ९५३ ९५४ ९५५ ९५६ ९५७ ९५८ ९५९ ९६० ९६१ ९६२ ९६३ ९६४ ९६५ ९६६ ९६७ ९६८ ९६९ ९७० ९७१ ९७२ ९७३ ९७४ ९७५ ९७६ ९७७ ९७८ ९७९ ९८० ९८१ ९८२ ९८३ ९८४ ९८५ ९८६ ९८७ ९८८ ९८९ ९९० ९९१ ९९२ ९९३ ९९४ ९९५ ९९६ ९९७ ९९८ ९९९ १०००

शकार । [ सक्तीधम् ] कि । ण दीशदि मम ववहाले ? जइ  
अ दीशदि, तदो आउत्तं लाआण पालअ वहिणीवदि विस्स-  
विअ, वहिणि अत्तिक च विस्सविअ, एदं अधिअलणिअ दूले  
फेलिअ एत्थ अस्स अधिअलणिअ ठावइअ । \* (ण) [ इति  
ननुनिच्छति ] ।

श्रीधनक । अज्ज रट्ठिअशालअ । सुहुत्तअ चिठ्ठ, दाव  
अधिअरणिआण खिवेटेमि । [ पधिवरणिअमुपगम्य ] एसो रट्ठिअ-  
शालो लुविटो भसादि । † [ इति ननु भवति ] ।

अधि । सर्वमस्य सूख्यस्य सम्भाव्यते । भद्र । (त) उच्यताम्,  
“आगच्छ, दृश्यते तव व्यवहारः” ।

श्रीधनक । [ शकारमुपगम्य ] अज्ज । अधिअरणिआ भणन्ति,  
“आगच्छ, दीसदि तव ववहारो,” ता पविसदु अज्जो । ‡

\* कि । न दृश्यते मम व्यवहार ? यदि न दृश्यते, तदा आनुक्तं राजानं पालकं  
भगिनीपतिं विज्ञाप्य भगिनीं अन्तिकासं विज्ञाप्य एतमधिकरणिअकं दूरीकृत्य अथ  
अन्यमधिकरणिअकं स्थापयिष्यामि ।

† आथ राष्ट्रियशाल । सुहुत्तकं लिठ्ठ, तावदधिकरणिअकानां निवेदयामि ।  
एष राष्ट्रियशालं कुपितो भवति ।

‡ आथ । अधिकरणिअका भवन्ति, “आगच्छ दृश्यते तव व्यवहारः,” तत्  
प्रदिशतु आथ ।



शकार । पडम भणन्ति ण दीशदि, सम्पट दीशदि त्ति ,  
ता णाम भोदभोदा अधिअलणभोइआ, जेत्तिअ हग्गे भणिग्ग,  
तेत्तिअं पत्तिआवइअं ; (थ) भोदु, पविशामि । [ प्रविश्य उपसृत्य ]  
शुशुह अम्हाण, तुम्हाणम्य शुह देमि ण देमि अ । \*

अधि । [ स्वगतम् ] अहो । स्थिरसस्कारता व्यवहारार्थिन । (ट)  
[ प्रकाशम् ] उपविश्यताम् ।

शकार । आं । अत्तणकेलका शे भूमी, ता जहिं मे रोअदि,  
तहि उवविशामि । [ अहिम प्रति ] एश उवविशामि । ' शोधनक  
प्रति ] ण एत्थ उवविशामि । [ इति अधिकरणिकमस्त के हस्त दत्ता ]  
एश उवविशामि । † [ इति भूमौ उपविशति ] ।

अधि । भवान् कार्यार्थी †

शकार । अधइ । ‡

अधि । तत् कार्यं कथय ।

\* प्रथम भणन्ति न दृश्यते, साम्प्रत दृश्यते इति, तत् नाम भीतभीता अधि  
करणभोजका, यदयदह भणिष्यामि, तत्तत् प्रत्याययिष्यामि । भवतु, प्रविशामि ।  
सुसुखमस्माक, युष्माकमपि सुख ददामि न ददामि च ।

† आ । आत्मीया एषा भूमि , तद् यत्र मच्च राचते, तत्रोपविशामि । एष  
उपविशामि । ननु अत्रोपविशामि । एष उपविशामि ।

‡ अथकिम् ।

( थ ) मास—सम्भावनायाम् । भीतभीता,—अतिशयेन भीता इत्यर्थः, अति  
भवतृता इति सम्भावयामोति यावत् , प्रत्याययिष्यामि—विश्रामयिष्यामि, अधि  
करणिकान् इति शेषः, [ प्रतिपूर्वकस्य एते णिचि लूटि उपम् ] अहं यद् यदहं  
कथयिष्यामि, तत् तदेव विचारकान् विश्रामयिष्यामोति तात्पर्यम् ।

( ट ) व्यवहारार्थिन,—अस्मत्तो विचारप्रार्थिन, शकारस्य इत्यर्थः । स्थिर  
सस्कारता—स्थिर,—अविचल, यथा प्राक्, तथा इदानीमपि इत्यर्थः, स्मार —  
मिद्वान् इत्यर्थः यस्य तस्य भावः, एकवचनेन ज्ञानम्, अस्मत्तेनैव पदपि न कान्त  
परिवर्तिरिति भावः, यद्वा,—स्थिर,—सदाकां विश्रामनेदमेव भविष्यतेति दृढताया  
निरूपित, सस्कार,—ज्ञानवेधा तेषां भावः, कथयार्थे अविचलितमिति इति भावः ।

शकार । कस्मै कञ्जं कधदृश । एव्व वडुके गल्लक-  
प्पमाणाह (ध) कुडे हग्गे जाटे । ३—

लाअशशुले मम पिदा, लाआ तादश होइ जामादा ।  
लाअशिशाले हग्गे, ममा वि बहिणीवदी लाआ १ ॥ ६ ॥  
अधि । सर्व्वं ज्ञायते ।—

कि कुलेनोपदिष्टेन, शीलमेवात्र कारणम् ।  
भवन्ति नितरा स्त्रीताः सुक्षेत्रे कण्टकिद्रुमाः ॥ ७ ॥

तदुच्यता कार्य्यम् ।

शकार । एव्व भणामि, अवल्लाह वि ण अ मे कि पि  
कलइशिटि । तदो तेण बहिणीवदिणा परितुष्टेण मे कीलिटु  
लक्खिटु शव्वज्जाणाण पवले पुप्फकलण्डक जिस्सुज्जाणे दिस्से :

\* कर्णे कार्य्ये कथयिष्यामि । एव हसति गल्लकप्रमाणस्य कुलि अह जात ।—

† राजशशुले मम पिता, राजा तातस्य भवति जामाता ।

राजशालीऽह, ममापि भगिनीपती राजा ॥

‡ एव भणामि, अपराहस्यापि न च मे किमपि कारिष्यति । ततस्तेन भगिनी-  
पतिना परितुष्टेन मे क्रीडित रक्षितुं सर्व्वोद्योगानां प्रवर पुष्पकरण्डकजीर्णानां

( ध ) गल्लक, —सुरापानपादम् । “गल्लक” इति प्राकृतस्य “गल्लक” इति वा  
संस्कृतं पर्य्यवर्द्धवाद्य “मल्लक” इति पाठस्य “नल्लक” इति संस्कृते नारिकेलशब्दा-  
धारिता कठिना त्वमेवाद्य, “नारिकेल साला” इति वडभाषा ।

तहि अ पेक्खिदुं अणुदिअह, शोभावेदु, शोधावेदु, पोत्थावेदु, लुणावेदुं गच्छामि । टेव्वजोएण (न) पेक्खामि, ण पेक्खामि मा, इत्थिआ-शलील णिवडिद । ३

अधि । अथ ज्ञायते का स्त्री विपन्नेति ? (प)

शकार । हहो ! अधिअल्लगभोइआ । किं त्ति ण जाणामि त तादिशिं णअल्लमण्डण कच्चणशदभूशणिअ ? केण वि कुपुत्तेण अत्थकल्लवत्तश कालणादो शुस्स पुप्फकलण्डक-जिणुज्जाण दत्तम् , तव च प्रेक्षितम् अनुदिवस, शोपयितु, शोधयितु, पोषयितु, लावयितु वच्छामि । दैवयोगेन पश्यामि, न पश्यामि वा, स्त्रीशरीर निपतितम् ।

३ हहो । अधिकरणभोजका । किमिति न जानामि ता तादृशीं नगरमण्डनं

(न) अपराइस्यापि—कृतापराधस्यापि । करिष्यति—कर्तुं शक्यतीत्यर्थः , यद्यपि भवन्त धर्म्मस्य स्थापनाय, धर्म्माधिकरणमिदमल्लुब्धान्त, तथाऽपि पालकस्य प्रीतिभाजन मा दम्बयितुं भवता शक्तिनास्तीति भावः , [ एतेन अयमेवापराधी इति श्रुतीकृत, पालकरान्ये धर्म्माधिकरणिका प्रत्युत्पन्नमतय धर्म्माकाय आसन्, ते तु सदा अपक्षपातविचारं कर्तुमीश्वर अपि कदाचित् कथञ्चित् राजानुरोधोपेक्षया राजपक्षमाययामासुरिति सूचितम्, अत एतद्वान्य राजवदभवति इति ध्यातम् ] । ततः , —राज प्रीतिभाजनत्वादिति भावः , यदि राज त्वयि प्रीतिरस्ति, तर्हि तत्प्रीतिदानं किमस्ति भवतः ? इत्याशङ्क्यामाह, तेनेत्यादि । —तन—प्रसिद्धेनेत्यर्थः । मे—ममम् । क्रीडितुं—विह्वलितुम् । प्रवर—येष्टम् । जीर्णोत्थानम् इत्यत्र जीर्णं तत् पदं पुरातनत्वख्यापनायम् । तद—उत्थाने इत्यर्थः । अनुदिवस—प्रतिदिनम् । प्रोषयितुं—शुष्क कारयितुम्, शोधयणादीन् इति शेषः । शोधयितुं—शुष्क श्रुतशुष्कपर्णादिदुर्गोकरणद्वारा परिष्कारं कारयितुमित्यर्थः । पोषयितुं—स्थाना-लगादानीतवृत्तिकारिणा निचभूमिं पूरयितुमित्यर्थः, दीहदटानेन पुष्पाणां फलानां वा परिपुष्टिं साधयितुं वा, यदा,—जलसेचनादिना बालं शुष्कप्रादुर्भावं वर्द्धयितुम् इत्यर्थः । लावयितुं—श्रुतागुहादीनां शोभावद्वनायै विगच्छन्भावेन इतस्तत् प्रसारितं पल्लवान् छेदयितुमित्यर्थः । दैवयोगेन—सहजा , अवाग्योऽन्यत्र कदाचित् वा, यत्न-लेनादप्येव, प्रतिदिवसं गमनम्, दैवगत्या च दृग्गतादृशं यत् परमं यत्नं ।

(प) अथ—प्रश्ने । ज्ञायते, भवतेति शेषः । विपन्ना—सूता, मृच्छकटिका इति यावत् ।

पक्षेति वाहुपाश बलकालेण (फ) वशन्तशेणिआ मालिदा,  
ण मए । § [ इत्यर्होक्तिं सुखमाहणीति ] ।

अधि । अहो ! नगररक्षिणा प्रमाद । भो अष्टिकायस्थौ !

“न मया” इति व्यवहारपदं (व) प्रथममभिलिख्यताम् ।

कायस्थ । ज अज्जो आणवेदि । [ तथा कृत्वा ] अज्ज !  
लिहिदं । ॥

शकार । [ स्वगतम् ] होमादिके ! उत्तलाश्रन्तेण विअ  
पाअश-पिण्डालकेण अज्ज मए अत्ता एव्व गिस्साशिटो । (भ)

काचनशतभूषणम् ? केनापि कुपुवेष अघकल्हवत्तस्य कारणात् शून्य पुष्पकरण्डक  
कोर्णोद्यान प्रवेश्य बाहुपाशवलात्कारेण वसन्तसेना मारिता, न मया ।

\* यदाय आज्ञापयति । आय्य । लिखितम् ।

\* होमादिके । उत्तरयन्तेष पायसपिण्डारकेण अय मया आत्मैव निष्ठाशित

( फ ) हहो इति सम्बोधनसूचकमव्यय, ह इत्यघ । किमिति—कथम्  
नगरमण्डन—नगरस्य—उज्जयिन्या इत्यर्थं, मण्डन—शीभाभताम् । काचनशतभूषणां  
—काचनानां—सुवर्णानां, शत—समूह, भूषणम्—चलितार यस्या ता, बहु-  
सुवर्णालङ्कारालङ्कृतमित्यर्थः । शून्य—निञ्जनित्यर्थः । बाहुपाशवलात्कारेण—  
वनपुष्पक भुजपाग्नं तस्या यौवादेशमाहृत्य इत्यर्थः ।

भोदु एव्वां दाव । [ प्रकाशम् ] अहो अधिअल्लणमोडआ । गं  
भणामि, मए ज्जेव दिट्ठा, किं कोलाहल (म) कलेध ?  
[ इति पाठेन लिखित प्रोच्छति (य) ] ।

अधि । कथ त्वया ज्ञात, यथा खलु अर्थनिमित्त बाहुपाशेन  
व्यापादिता ?

शकार । हहो । गूण शूणशूणाण मोघट्ठाणाण गोवाल्लि-  
आण, गिशुवस्सजेहि आहल्लणट्ठाणेहि (र) तक्केमि । १

भवतु एवं तावत् । अहो अधिकरणभोजका । ननु भणामि, मया एव दृष्टा,  
किं कोलाहलं कुरुत ?

१ हहो । मून गुणगुणया मोघस्थानया गोवाल्लिकया, नि सुवणंकेराभरण-  
स्थानैककयामि ।

यथा रसना दम्बोक्षित, तथा मयाऽप्येत्यथ, निष्पागित, — निश्चयेन नाश प्रापित,  
“त्वया सारिता न वा ०” इति केनचित् अपृष्टऽपि, प्राक् स्वयमेव “न मया” इत्यत्रा  
स्वापराधव्रीकारसम्भावनात् इति भावः, [ “उपमगादममामेऽपि गोपन्यम्”  
( ८ । ४ । १४ पा० ) इति णत्वम् ] । अत्र पायमशब्देन चारुदन्तस्य भवनाश एव  
फलतोऽभिप्रेतः ।

( म ) कोलाहल — कलकलम् ।

( य ) प्रोच्छति — प्रताडि, अक्षरवणान् मुष्णाति इत्यर्थः ।

( र ) गुणगुणया — स्मृतिस्मृतिवया, [ अथवा भौवादिकस्य कर्तारिणत्याया रूप  
मेतत् ] गुणात् गुणा तथा, अतिस्मृतिवया इत्यर्थः, उच्छेद्यवत्या इति यावत् । [ कान्तम्  
“गुणगुणाण” इति प्राकृतस्य “गुणगुणया” इति संस्कृतं सत्त्वा आभरणगुणः ॥  
स्मृतिवया च” इत्यर्थे कुञ्चति । “गूणगुणाण” इत्येव “पटिगुणाण” इति पाठान्तरं  
“परगुणया” इति संस्कृतं, भयणगुणया इत्यर्थः ] माघस्थानया — माघ — माघकृतः,  
स्थान — स्थित, सत्ता इत्यर्थः, तादृशानुसारविरहादिति भावः, अत्र तादा-  
श्वयकापहरणात् गुणाल्लणस्थानया इति यावत्, यावा लकया — योवता, यथा,  
— योवामलता भवति यावता, [ अन्ते कर्तारिणत्यायास्त्वयं तादा-  
श्वयस्य परिशुद्धत्वमेतानन्द, माघस्थानया — माघ — रूपमोकारदिनां तादा-  
श्वक, स्थान — शरीरस्थान प्रकृत्या तथा, सत्तया स्मृतिवया इत्यर्थः, तथा च, — यथा,  
स्वयं कान्त — स्वयं भवत्यानन्दं यथा तथानन्दं, आभरणस्य तै, — रूपं दिव्यं ।

त्रेष्टिकायस्यौ । जुज्जदि विअ । ॐ

शङ्कर । [ भगवतम् ] दिट्ठिआ पत्तुज्जीविदम्हि । १

अविदमादिके । (ल)

त्रेष्टिक यस्यौ । भा । क एसो ववहारो अवलम्बदि ? ॥ (व)

शङ्कर । इह हि द्विविधो व्यवहार ।

त्रेष्टिकायस्यौ । केरिसो ? ९

शङ्कर । वाक्यानुसारेण, अर्थानुसारेण च । यस्तावद्

वाक्यानुसारेण, स खलु अर्थिप्रत्यर्थिभ्य । (श) यश्च अर्थानु-  
सारेण, स च अधिकरणिकबुद्धिनिष्पाद्य ।

त्रेष्टिकायस्यौ । ता वसन्तसेणामादर अवलम्बदि ववहारो । ११

शङ्कर । एवमिदम् । भद्र शोधनक । वसन्तसेनामातर-  
मनुज्जयन्नाह्वय । (घ)

शोधनक । तथा । [ इति निष्क्रम्य शपिकामादा नह प्रविश्य ] एदु

एदु अज्जा । २६

वृद्धा । गदा मे दारिका मित्तघरञ्च अत्तणो जीव्वण अणु-  
भविदु, एसो उण दीहाऊ भणादि, आअच्छ, अधिअरणिओ  
सहावेदि, ता मोहपरवसं विअ (स) अत्ताणम अवगच्छामि,  
हिअअ मे थरथरेदि । अज्ज । आटेमेहि मे अधिअरणमण्ड-  
वस्स ममा । ३

शोधक । एदु एदु अज्जा । [ उभौ परिक्रामत ] एदु अधि-  
अरणमण्डवं, एत्थ पविसदु अज्जा । ४

[ इत्युभौ प्रविशत ] ।

वृद्धा । [ उपसृत्य ] सुह तुम्हाण भोदु भावमिस्साण । ॥ (ह)

अधि । भद्रे । स्वागतम् ? आस्यताम् ।

वृद्धा । तथा [ इत्युपविष्टा ] ।

शकार । [ साक्षेपम् (क) ] आगदाणि वुट्टकुट्टणि । आगदाणि ? §

अधि । अये । त्व किल वसन्तमेमाया माता ?

\* गता मे दारिका मित्तघरम् आत्मनो यौवमसुभविदुम्, एव पुन  
दोषायुर्मन्वति, आगच्छ, अधिकरणिक शब्दायते ( आह्वयति ) । तस्मात्तपरवश  
मिवात्मानमवगच्छामि, हृदय मे प्रकल्पते । आथ । आदिश मे आधिकरणमत्र पश्य  
सार्गम् ।

† एतु एतु आथा । एयोऽधिकरणमण्डप, अत्र प्रविशतु आथा ।

‡ सुख युष्माक भवतु भावमियाणाम् ।

§ आगतामि वृद्धकुट्टनि । आगतामि ?

( ३ ) दारिका—बाणिका, कन्या इत्यर्थ । मित्तघरम्—साख्यभवन, चाव  
दत्तासयमिति यावत् । सुभविदु—सुभोचुम् । मोहपरवश—अज्ञानीपक्षम्,  
मूर्च्छाकालमिव सर्वत्र अत्यकाराच्छत्रम् इति भाव ।

( ४ ) भावमियाणां—भावयितु—विदुः, मिया,—येता, तेषाम्, ( एतत्  
पदस्यस्य मिश्रशब्दस्य येताशब्दकत्वात् ) पण्डितव्यापामित्यर्थ, भावय—  
विदामस्य, मियाव—पुत्र्याव तेषां वा ।

( क ) साक्षेप—सन्निष्कारम् ।

वडा । अधई १ ॥

अधि । अथेदानी वसन्तसेना क्व गता ?

वडा । मित्तघरअ । १

अधि । किन्नामधेय तस्या मितम् ?

वडा । [ स्वगतम् ] हड्डी । हड्डी । अदिलज्जणीअ क्व एदं ।

[ प्रकाशम् ] जणस्स पुच्छणीओ अअं अत्थो, ण उण अधि-  
अरणिअस्स । ३ (ख)

अधि । अल लज्जया . (ग) व्यवहारस्त्वा पृच्छति ।

ट्रेडिकाग्रस्यौ । व्यवहारो पुच्छदि, णत्थि दोसो ; (घ)  
कधेहि । §

वडा । कध १ व्यवहारो १ जइ एव्व, ता सुणन्तु अज्जमिस्सा ;  
—सो क्व, अत्यवाह विणअटत्तस्स णत्तिओ, साअरटत्तस्स  
तणओ, सुगहिटणामहेओ (ङ) अज्ज चालुदत्तो णाम,

\* अर्थकिम् ?

† मितवृद्धम् ।

‡ हा धिक् । हा धिक् । अतिलज्जनीय खलु इदम् । जनस्य प्रच्छनीयोऽयमपि,  
न पुनरधिकरणिकस्य ।

§ व्यवहारं पृच्छति, नास्ति दोषः कथय ।

१ कथं व्यवहारः ? यद्यपि तदा श्रूयन्तु पायमिन्ना, —स खलु माप-



सेष्टिचत्तरे पडिवसदि, तहि मे दारिआ जीव्वणसुहमणु-  
भवदि । १

शकार । शुट अज्जेहि ? लिहीअन्दु एटे अक्खला, चालु-  
दत्तेण शह मम बिवादे । ॥

श्रेष्ठिकाग्रस्थौ । चालुदत्तो मित्तो त्ति गत्थि दोसो । ॥

अधि । व्यवहारोऽयं चारुदत्तमवलम्बते । (च)

श्रेष्ठिकाग्रस्थौ । एव्व बिअ । ॥

अधि । धनदत्त । वसन्तसेना आर्य्यचारुदत्तस्य गृह  
गतेति लिख्यता व्यवहारस्य प्रथम. पादः । कथमार्य्यचारुदत्तो-  
ऽपि अस्माभिराह्वययितव्यः ? अथवा व्यवहारस्तमाह्वयति ।  
भद्र शोधनक ! गच्छ, आर्य्यचारुदत्त स्वैरममभ्रान्तमनुदिग्न  
सादरमाह्वय, प्रस्तावेन ( छ ) अधिकरणिकत्वा द्रष्टु-  
मिच्छतीति ।

शोधनक । ज अज्जो आणवेदि । [ इति निष्क्रान्त, चारुदत्तेन सह  
प्रविश्य च ] एदु एदु अज्जो । §

वाह्विनयदत्तस्य नता, सागरदत्तस्य तनय, मुग्धहीतनामधेय आर्य्यचारुदत्तो नाम,  
श्रेष्ठिचत्तरे प्रतिवसति । तव मे दारिका यौवनमुखमनुभवति ।

\* द्युनमार्य्ये ? लिख्यलामेतान्यनराणि, चारुदत्तेन सह मम बिवाद ।

+ चारुदत्तो मित्रमिति नास्ति दोष । § पश्यमित ।

§ यत्राय आज्ञापयति । एतु एतु आय्य ।

( च ) चारुदत्तमवलम्बते, प्रत्यर्थितया इति भाव ।

( छ ) धनदत्त । इति कायस्थनामसन्धोधनम् । प्रथम, — आय्य, पाद —  
अग्र इत्यर्थः । स्वैर—मन्द, धीरनित्यर्थ, अमभ्रान्तम्—अन्तर, यथा लराप्रकाशो  
न भवति तथेत्यर्थः । अनुदिग्नम्—अन्त्याकुलम्, एव वाक् प्रदीप्तो लोका न कथं  
येन तद्विधे “कथनहमधिकरणमण्डपे आहृत किमनिष्टमापतितम्” इत्यादि  
उद्देशे उपन्यस्यते तथा इति भावः । सादर—सदरानन्दम् । प्रस्तावेन—प्रस्ताव  
प्रसङ्गेन, कथाद्वारेण भवद्भनद्वारेण इति यावत् ।

चारु । [ विचिन्त्य ]—

परिज्ञातस्य मे राज्ञा शीलेन च कुलेन च ।

यत्सत्यमिदमाह्वानमवस्थामभिशङ्कते ॥ ८ ॥

[ सवितर्कं स्वगतम् ]—

ज्ञातो नु किं म खलु बन्धनविप्रयुक्तो

मार्गागतः प्रवहणेन मयाऽपनीतः ? ।

चारेक्षणस्य नृपतेः श्रुतिमागतो वा ?

येनाहमेवमभियुक्त इव प्रयामि ? ॥ ९ ॥

इदानीमाह्वानकारणं दितर्कयति, परिज्ञातस्येति ।—राज्ञा—मृपेण, पालके-  
नेति यावत् शीलेन—चरित्रेण च, कुलेन—प्रशस्तान्वयेन, परिज्ञातस्य—विदितस्य,  
यत् सत्यमावगता वशगता च काऽपि शङ्का न सम्भवतीति भावः, मे—मनः, यत्  
आह्वानम्—आकारणा, (“इतिराकारणाह्वानम्” इत्यमरः) कृतमिति शेषः, इदम्  
—आह्वानमित्यर्थः, सत्य—निश्चितम्, अवस्था—दशां, दारिद्र्यमिति यावत्, अभि-  
शङ्कते—सन्देहि, महारिद्र्यम् अभिलक्ष्य कस्मिन्नपि विषये मदीयदीपं तर्कयति,  
यत् दीपं सदृशा दारिद्र्येण आश्रयति, न तु धमिनः, दारिद्र्यस्य सर्व्वदीपैकहेतुत्वा-  
दिति भावः । पथ्यावक्तव्यम् ॥ ८ ॥

आह्वानकारणानुसन्धाने षड्वर्त्तमानाह, ज्ञात इति ।—बन्धनात्—कारा-  
वासनात्, विप्रयुक्तः,—विश्रुतः, तत् मार्गागतः,—मार्गवशात् आगतः,—उपस्थितः,  
पाल इत्यर्थः, स,—आयुक्तामा गोपालसुतं मया—आह्वयतेनेत्यर्थः, प्रवहणेन—  
शकटेन, अपनीतः—अपसारितः, स्थानान्तरणीत इति यावत्, खलु—निश्चयेन,  
अथ वा किं नु ज्ञातः ?—अपि किं सर्व्वज्ञैर्विदितः ? नु—चित्कर्त्तुः, सर्व्वे  
पक्षेणान् १ त्वा राजनि प्रकाशितवन्तः किमिति भावः, अदीपाद्यान्तरिणं राज्ञं

अथवा किं विचारितेन ? ( ज ) अधिकरणमण्डपमेव  
मच्छामि । [ प्रकाशम् ] भद्र शोधनक । अधिकरणस्य ( झ )  
मार्गमादेशय ।

शोधनक । एदु एदु अज्जो । \* [ इति परिक्रामत ] ।

चार । [ सत्रदम् ] तत्किमपरम् ?—

रुचस्वरं वाशति वायसोऽयममात्यभृत्या मुहुःराक्षयन्ति ।

सर्व्वेष्व नेत्रं स्फुरति प्रसह्य समानिमित्तानि हि खेदयन्ति ॥ १० ॥

\* एतु एतु आय्य ।

( अ ) विचारितेन—विचारिण, वितर्केण इति यावत् । किं—निष्प्रयोजन  
मित्यर्थः ।

( झ ) अधिकरणस्य—अधिकरणमण्डपस्य इत्यर्थः ।

अमनमार्गं दुर्निमित्तानुभवमाह, रुचस्वरमिति ।—अयं—परो उत्तमान इत्यर्थः,  
वायसु,—काक, रुचस्वरं—विकृतशब्द, कर्कशं यथा तथेति यावत्, वाशति—  
शब्दायने, [ देवादिकस्य वाशघातोरात्मनेपदित्वेऽपि वक्ष्ये पुनर्केपु भौवादिकतया  
उभयपदित्वेन चास्य प्रयोग इत्यने, यथा,—“दक्षिणपार्थेऽनुवाशते यावत् ” इति  
“यदि वाशत्यस्थिभद्राय” इति “वज्रौ वाटाग्रं वाशते वस्त्रं ” इति च, यदा—माश्रयत  
इति वाश, पचाद्यच्, शब्दकारौत्यर्थः, स इव आपरतीति वाशान् कतरूप  
मानादाचारार्थं “मन्त्रेपातिपदिकेभ्य क्त्वा वक्तव्यं ” ( वा० ) इति पाणिनिः  
क्विप्प्रत्यये वाश इति गामधातो लटि वाशतीति सिद्धम् । अथानिमग  
जनकत्वमाह बृहत्कहिताया वराहमिहिर, यथा,—“दारुणनादसंकोटरापसो  
वायसो महाभयद ” इति ] अपि च, असामाना—गाननियुक्तानां पुरुषाणां, मन्त्रा,  
—परिचारका, मृग,—दारुदारम, आह्वयन्ति—आकारयन्ति ( अतिक्रम्यकृत्वा  
भृत्यादिभिर्नोचनेन सहतामाकारयन्ति दुर्निमित्तरूपं गच्छति, अत्रानि हि महा  
धर्माधिकरणदृष्ट्यात् दिव्यतीर्त्वात् ) तथा मन्त्र—वाम, नेत्रद्व—नेत्रद्वय, प्रसह्य  
—सहसा स्फुरति—अदत्त पुनः वामाङ्गस्फुरत्यहं दुर्निमित्तमनुभवकत्वमाह अत्र  
पुराणम्, यदा —“सदृशदिव्यजाले तु शब्द प्रसह्य भवेत् । अत्रानि तत्र वाम  
पृष्ठस्य दृष्ट्वा च ॥ ” इति । ( वि २२५ ) अनेनित्तानि—एतानि नित्तानि ॥ १० ॥  
—नित्यत एव—स्मिन्नेति सर्व्वविवक्षया कर्मणि चञ्जे, मासिद्वये, सप्तमि—

शीघ्रनक । एदु एदु अज्जो सैर असम्भन्त । ॐ

चारु । [ परिक्रम्यागतोऽवलोक्य च ]—

शुष्कवृक्षस्थितो ध्वाङ्ग आदित्याभिसुखस्तथा ।

सयि नोदयते वामं चक्षुर्वोरममशयम् ॥ ११ ॥

[ पुनरन्यतोऽवलोक्य ] अये । कथमयं सर्प ।—

२ एतु एतु आये सैरसम्भान्तम ।

अवसादयन्ति, क्लेशयन्ति इत्यर्थः, यथा,—[मम इति मन्वन्ते षष्ठी, अनिमित्तानीति मन्वन्तिपट्टेनाव्ययने, नास्मिन्ति कम्पपदान्तरमत्राध्याहृत्यस्य ] । अहो । न जाने एतानि दुर्निमित्तानि अयं किमनभिमतं सा दर्शयिष्यतीति भावः । उपजातिं हत्तम ॥ १० ॥

पूर्वोक्तमेव दुर्निमित्तं भङ्गान्तरेण विशदयित्वाभिरुद्धाति, शुष्क इति ।—शुष्कवृक्ष-स्थितः—नौरसपादपाधिरुद्धः, तथा—एवम्, आदित्याभिसुखः, अभि—अभिगतः, परोवर्त्तित्यर्थः सुखं यस्य स अभिसुखः आदित्यस्य अभिसुखः, इति बहुव्रीह्यान्तरं धर्मीयमास आश्रयणीयं मुख्यमवलोक्यपट्टित्यर्थः, ध्वाङ्ग,—काकः, ( “काके तु करटारिष्टहन्तिपुष्टनङ्गप्रजा । ध्वाङ्गात्मघोषपरमदहन्तिमुग्धायसा अपि ॥” इत्य-नङ्गः ) सयि—मम उपरि इति यावत् घोर—भयानकः, वाम—सयः, चक्षुः,—

मयि विनिहितदृष्टिर्भिन्ननीलाञ्जनाभः

स्फुरितविततजिह्व शुक्लदद्राचतुष्क ।

अभिपतति सरोषो जिह्विताधातकुच्चि

भुजगपतिरयं मे मार्गमाक्रम्य सुप्त ॥ १२ ॥

अपि च इदम्,—

खलति चरणं भूमौ न्यस्तं, न चाद्रतमा मही,

स्फुरति नयन वामो बाहुर्मुहुय विकम्पते ।

अपरमपि दुर्निमित्तमाह द्वाभ्यां, मयीति ।—मयि—मम उपरि, मा प्रतीत्यर्थ, विनिहिता—अर्पिता, दृष्टि, —नेत्र येन स, (“लोचनं नयनं नेत्रमौक्षिकं चतुर्वाच्यम् । दृग्दृष्टौ” इत्यमरः ) भिन्न—सृष्टित, दृष्टमित्यर्थ, नीला—नीलवर्णा, यत् अन्नं—कञ्जल, तस्य आभा इव आभा—कान्ति यस्य तादृश, कृष्णवर्णं इत्यर्थ, स्फुरिता—स्फुरिता, वितता—विस्तृता, जिह्वा—रसना, यस्य तथाभूत, ललितहानरमण इति यावत्, शुक्ल—शुभ्र, दद्राणां—दन्तपङ्क्तिद्वयप्रान्तस्थेषु दवकाकतिर्दीप्तानां, सविषदग्मानामिति यावत् चतुष्क—चतुष्टय, यस्य स, जिह्विता,—नकोक्त, कण्डलीकृत इति यावत्, आधात,—पवनाशनत्वात् वायुना प्रेरित, स्फोट इत्यर्थ, बद्धा,—आधात,—रापवशात् भूमौ आस्फालनेन शङ्कित इति यावत्, कानं,—उदर यस्य तादृश, तथा मे—मम, मार्ग,—गमनस्य पथानम, आक्रम्य—अतिक्रम्य सुप्त,—शयित, (“सुति स्पर्शालता निद्राविग्रहे शयने स्विताम” इति साहित्यिकी ), अयं—परावर्त्ती, भुजगपति,—सर्पराज, सरोष,—सक्रोध मनः, ( दृष्टाम् ) इत्यत्राहार ) अभिपतति—सदभिमुखमागच्छतीत्यर्थ । अयं च विनिहितः मूषकत्वमुक्तं वृक्षकृतितायाम्, यथा,—“फाणनीतिभिर्मुखागमोऽस्मिन् कथं न दन्तवधान्ययस्य यात्” इति । वसन्तराजशाकुनेऽपि,—“गोनास दन्तः स रजिष्वा आन्यैव सर्वे भद्रा भजता” इति । अत्र जिह्वा वितत्य प्रधात स्फोट वा ना प्रजापत्या स्फोटस्य दृष्टमप्यस्य दृष्टदृष्टया सरोषमभिमुखमागतं तथा स दृष्टं शयनस्य च स्वभावमिदं तत्क्रियानुदपापवध-दृष्टं नात भवति ॥ १२ ॥

शकुनिरपरश्चाय तावद्विरोति हि नैकश ,

कथयति महाघोरं मृत्युं न चात्र विचारणा ॥ १३ ॥

सर्वथा देवता स्तस्ति (ज) करिष्यान्ति ।

शोधनक । एदु एदु अज्जा, इस अधिअरणमण्डव पविसदु  
अज्जो । ६

८ एतु एतु आथ्य इमम् अधिकरणमण्डप प्रावशतु आथ्य ।

नही च—एवौ तु आर्द्रतमा—अत्याद्रा, न भवतीति शष अत्याद्रायां भूमौ हि  
चरणस्वनन सम्भवति इति भाव , नयन—चक्षु, वार्त्तामिति शेष , स्फुरति—  
स्पन्दत, तथा वान ,—दक्षिणेतर , बाहु —भुज , सुहु,—वार वार, विवम्पते—  
स्फुरतीत्यर्थ , अथ—पुरस्य एष , अपर,—अन्य , शकुनिश्—दुर्निमित्तकृच्छक  
पक्षी, तावत् नैकश —सुहुसुहु , विरोति—विकट शब्दाद्यते , ( अत एतत् रुचं  
निति अज्जाहाय्यम् ) महाघोरम्—श्लादिसाध्यतया अतिदारुण , मृत्यु—मरण  
वक्षयति—जापयति, अथ—आफिन् विषये, विचारणा—वितर्क , मशय इति  
यावत् न अस्ति इति शेष , एतत् निश्चितमेवेत्यर्थ । अकारण चरणस्वलनस्य  
दुर्निमित्ततामाह वसन्तराजशकुने, यथा,—“स्वपादयान्स्वलनं मृपाणां भद्रं  
कश्चिद् यानपलायनञ्च । दाराभिघाताध्वगं शस्त्रपाता प्रस्थानविघ्नं कथयन्ति यातु ॥”  
इति । अपि च, शाङ्गधरपद्धतिं विशिष्य वार्त्तामस्य स्फुरणरूपदुर्निमित्तफलमाह ,  
तथा हि —‘वार्त्तायाध स्फुरणमसकृत्कङ्करे भङ्गहेतुमस्यैवोद्वेग इति नितरा मानस  
दुःखजालम् । नीतीपालो हरति च घनं निषर्कायै च दन्तं, मध्ये चैतत् फलमविकल्प  
स्यैव आपस्ये ॥ दक्षिणमङ्ग एव नियाय वामं शुभावहं स्फुरितम् । नीचोच्च-  
कण्ठमात्रं फलति च गार्धोचितं स्पन्द ॥” इति । एवं नष्टादे आर्द्रतमत्वाद्य  
कारणेऽपि अतिशयं स पादस्वननादे वदन्नात्र हेतु विनैव तत्त्वार्थोत्पत्तिकथनरूपा  
विशेषमात्रादयः तदा पादस्वननात्वात् वदन्नाद्यान्तु पादस्वनस्य महाघोर

चात् । [ प्रविश्य समन्तादवलोक्य ] अहो ! अधिकरणमण्डपस्य  
परा श्रो । इह हि,—

चिन्तासक्त निमग्न मन्त्रिमलिनं दूतोर्मिशङ्काकुलं  
पर्यन्तस्थितचार-नक्रमकरं नागाश्व-हिंस्राश्रयम् ।

नानावाशक-कङ्कपक्षि रुचिरं कायस्य सर्पास्पदं

नीतिक्षुण्णतटञ्च राजकरणं हिंस्रैः समुद्रायते ॥ १४ ॥

अधिकरणमण्डप वर्णयन्नाह, चिन्तेति ।—चिन्तायाम्—तत्त्वाद्यावत्करणविषयक  
भावनायाम्, आसक्ता,—प्रवृत्ता, अत एव निमग्ना,—निविष्टमनस, गाढाभि  
निविष्टा इत्यर्थ, मन्त्रिण,—सचिवा एव, मन्त्रिलानि—जलानि यस्य तत्,  
(मन्त्रिणा विद्वत्तया ऋजुकत्वेन शीतलप्रकृतिकत्वेन च मन्त्रिमालम् । इह  
“चिन्तासक्तनिमग्न—” इत्यत्र आसक्तशब्दस्य विषयान्तरपरिहारणं तदवतारत्रया  
अभिनिविष्टाद्यकत्वेन फलती निमग्नशब्दसमानाद्यकतया आपातत पुनरुक्तवदा  
भासमानत्वात्, पथ्यवसाने च आसक्तशब्दस्य सामान्यतः प्रवृत्ताद्यकत्वसम्भवात् पुन  
रुक्तवदाभासी नानालङ्कार भवितुमर्हतीति विभाव्यम् ), तथा दूता,—वातातला  
एव, कन्दय,—तरङ्गा, शङ्का,—कम्बवत्, काम्पाक्ष्मा शङ्का वा, तेराकृत—  
व्याप्तम्, ( दूतानामितस्तत् सञ्चरणात् काम्पाक्ष्म मास्यम् ), तथा पथ्यन्ते—  
प्रान्तेऽंशेषु, मध्येषु वा, स्थिता,—अवस्थिता, चारा,—गुप्तचरा, ते एव रुका,—  
कुम्भीरा, मकरा,—स्वनामग्यातजलकुलविशेषाद्यस्य तत्, । चाराणां हिंस्र  
जनकतया गुटचारितया च भयावहत्वात् नक्रमकरमास्यम् अवगन्तव्यम्, तथा  
हि मनु,—“तान् विदित्वा सुचरिते गुटस्तत्कर्मकारिभिः । चारयानकमस्थान  
प्रीत्याय वशमानयेत् ॥” इति ), तथा नागा,—हस्तिन, अदा,—गोट  
काय, ते एव हिंस्रा,—क्रूरजन्तव, तेषामाश्रय,—स्थानं तत्, ( नागादीनां  
वध्यघातनार्थं स्थापितत्वात् तेषामपि जलहस्तिभिः स्निग्धात्केन हिंस्रजनैः  
नास्यसवगन्तव्यम् ), तथा नाना—विविधा,

पात्रि” इति वङ्गभाषा, लोहपृष्ठाख्यसमुद्रतौरसञ्चरत्यचिविशेषा वा, “हाडगिला  
इति कथित, तथा च राजनिघण्टु,—“कइस्तु लोहपृष्ठ स्यात् सन्दशवदन.  
खर । रणालङ्करण क्रूर स च स्यादानिषप्रिय ॥” इति ) तै रुचिर—  
मनीहरम् ( अलनिहितहिंसाहत्तिकत्वेऽपि वहि प्रकटीकृतसाधुभावत्वेन खलाना  
वक्तव्यम् “रुचिरम् इत्यत्र “राचतम् इति पाठे—रचित—विरचित,  
व्यातमिति यावत् ), तथा काप्रस्या,—करणाख्यवर्णसङ्हरजातिविशेषा एव,  
सुपा—भृङ्गा, तेषामास्यट—स्थानम्, ( मसौजीवित्वाच्च एतेषा धम्माधि-  
करणत्वेन निप्रत वर्तनञ्चान भवतीति आस्यटपटोपाटानात् प्रतीयते, समुद्रो  
यद्या भीषणै विषधैराकुल तदैव जिह्मगप्रायै शोषकै खलप्रकृतिभि कायस्यै  
रितदनिगमाकुलीक्षित इति बोध्यम् तथा हि —“कायस्यैनीटरस्येन नातुर्मांस  
न भक्षितम् । दया हेतुर्न चेवाव दन्ताभावी हि कारयम् ॥” इत्यादि दर्शनात्, तेषा  
टन्दशकस्वभाव कविभिर्वर्णित सुसङ्गत एवेत्याभाति, तेषा हत्तिनाह पराशर —  
“धनधान्याध्यक्षता च राजसेवा तथैव च । हिंसाते परिचय्या च दुर्गन्त पर  
रक्षणम् ॥” इति ), एव नीतिरिव—शासनगान्धर्व, हृद्य—भयम्, एकत्र सीतसा,  
अपरव कीटान्तेन च नम्रतया अन्तरालरा उन्नतत्वानतत्वात् दुर्गन्तमिति यावत्,  
तट—कुलं यत्र तत, ( नीत्या अनवरतपय्यालोचनयाऽपि अवान्तरसूक्ष्मातिनुष्मा-  
निकावपदनाटलतया भूमात् कदाचिदनत्यमपि नृत्यवत्, कदाचित नृत्यमपि असत्य-  
वत् । क्रान्ते नातिविह्व इति विचार्यन्त्या दुर्गन्तत्वात् मुखनावधीधाभावाच्च तस्या  
धृष्टतटसाध्यगगलत्वं, एतेन यद्या हि बन्धुरतटभूमिषु अध्वगस्य पादध्वजान  
निदतनव्याभचारि तथैव कुटिलाया दुर्गन्ताहाडाह राजनीतौ विचक्षत्स्यापि  
खलत्वं स्वतः सम्भवति प्रतीयते ) तथा हि—हिंसाशीलै, एतैरुपलक्षितम्  
[ वन्द्य एतौना ] राजकरण—राज आधकरण—एतत् विचारस्यानमित्यद,  
राजावत—समुद्रवत् अचरति अविकरणं कञ्चन समुद्रवत् दुर्गन्तमिति भाव ।  
[ रण इन्द्रादाणाधेनो इ, समुद्रादिति नामधार्ते लट् रूपम् । “राजकरणम्”  
एतत् राजभक्षणं इ- प पठन्ती । अ- “समुद्रवत्” इत्यत्र कचरि विहितेन



भवतु—” [ प्रविशन् शिरीघातमभिनीय सवितकम् ] अहं । इदम-  
परम्, (ट)—

सव्य मे स्यन्दते चक्षुर्विरौति वायमस्तथा ।

पन्थाः सर्पेण रुद्धोऽयं स्वस्ति चास्मासु देवत ॥ १५ ॥

“—तावत् प्रविशामि । [ इति प्रविशति ] ।

अधि । अयमसौ चारुदत्त । य एष,—

घोणोन्नत मुखमपाङ्गविशालनत्रं

नैतद्वि भाजनमकारणदूषणानाम् ।

सहोष्णते, न चैष परम्परितरुपत्वेनाशङ्कनीय, राजकरणे समुद्राभेदारीपे क्रि-  
माणे एव तदवसर सम्भवति, इह तु उपमया तद्विघातोऽकारणीति वेदितव्यम् ।  
शार्दूलविक्रीडित वनम् ॥ १४ ॥

( ट ) इदं—नृहप्रवेशकालि शिरीघातरूपम्, अपरम्—अन्तः, दुर्लक्षणाभात  
रूप । “हाराभिघाताख्यगणपता ” इत्यादिश्लोक १३ सङ्ख्यकश्लोकव्याख्यानावसरे  
उद्धृत इति द्रष्टव्यम् ।

इदानीं विविध प्रासुक्तं सव्यमेतत् दुर्निमित्तं सङ्ख्याभिदधाति, स गमिति ।—  
स—सम, सव्य—वाम, चक्षुः—नयन, सान्त—मुरति, तथा वायम,—काय,  
विरौति—शब्दादत, अय—पुरस्य, पन्थाः,—मार्ग, सर्पेण—पङ्क्तिमा, रुद्ध—  
पाशत, अस्मासु—अस्माकमित्यर्थ, देवत,—देवात, दवान्कृत्यन इत्यर्थ, [ देव-  
-द्व्यात् पञ्चम्या तमित् ] स्वलि—सङ्कलस, भवतु इति श्रुत्य, दवता सम आत्मा  
कुर्वन्तु इति भाव, यदा—देवतम् एव देवत स्थाय आण वा साय, तथा न  
देवत,—दवतासमुह, अस्मासु—विदग्धेषु

नागेषु गोषु तुरगेषु तथा नरेषु

न ह्याकृति सुसदृशं विजहाति हतम् ॥ १६ ॥

चारु । भो । अधिष्ठतेभ्यः स्वस्ति । हृष्टो नियुक्ता ।

अपि (ठ) कुशल भवतान् ?

अधि । [ समन्वयनम् (ड) ] स्वागतमार्थ्यस्य ? भद्र गोधनक !

आर्थ्यस्य आसनमुपनय ।

नामिका ( “घोषा नामा च नामिका” इत्यमरः ) यच्च [ आहिताम्ब्यादत्वात् वा परनिपातः पक्षे—उन्नतघोषनः ] खगपतिनामिकावत् तिलकुमुभवद्वा विशालनामस्य उन्नतनामिकमित्यर्थः अपाङ्गो,—नेवान्तयो विशाले—आदत्ते, कथानविधाने इति यावत्, नेवे—लोचने यस्य तादृशम् आकण्ठपुरितनेत्रमित्यर्थः, मुख—शठम् ( यः यः इति प्रागुक्तचूणकीनान्वयः ) विभर्त्ता इति शब्दः, एतास्मान् नरान्स्त्रीप्रधाने सुखवेत्तादृष्टकाय्याचङ्ग किमपि नाम्नीति भावः एतत्—अयनमी चारुदत्त इति चूणकीकृत्यैवाक्षेपः एतत्पदनं क्रियत इति शीघ्रव्युत्पत्तिः यः हि चारुदत्त इत्येवाह, [ विधेयप्राधान्यादस्य लीङ्वत्तम् ] अकारणदृष्टणानाम्—अहेतुकदोषणा, व्यवहारानीपितापराधानामित्यर्थः, भाषन्—पाषन् आश्रय इत्यर्थः न हि—नैव, भवतीति न च तथा हि, नागेषु—रश्मिषु, गोषु—लौकिकेषु तुरगेषु—अग्नेषु तथा नरेषु—मानवेषु नागादिमण्डले इत्यर्थः, आकृति—वहिराकारः सुसदृश—स्वातु-  
रप्य वाच्याह्वयनुयायीत्यर्थः, हत—चरितः नावच्छातः—न लज्जति आकृतिरवाप्य न ह्यपित्व प्रमादयति इति भावः । अत्र प्रस्तुताप्रस्तुतानां नरनागादीनां आकृत्युत्पत्तिरप्यभाषापरित्यागरूपैकधक्काभक्त्यन्तात् तर्हि पक्षान्तरात् अपि च युक्त्याह तदादित्येव चारुदत्तस्य पराङ्मनो—“अस्मिन्” इति हस्ताभ्यां न न रक्तनाभः सानात्मेन विपक्षमद्वन्द्वोऽपान्तरव्यास्य इत्यन्वयः इत्य-  
हं दोषतया सन्दर्भः । अकृतित्वक इत्यन्ता १६ ।

भवतु—” [ प्रविशन् शिरोघातमभिनीय सवितकम् ] अहह ! इदम-  
परम्, (ट)—

सव्य मे स्पन्दते चक्षुर्विरौति वायमस्तथा ।

पन्थाः सर्पेण रुद्धोऽयं स्वस्ति चास्मासु देवत ॥ १५ ॥

“—तावत् प्रविशामि । [ इति प्रविशति ] ।

अधि । अयमसौ चारुदत्त । य एष,—

घोणोन्नत मुखमपाङ्गविशालनेत्र

नैतद्धि भाजनमकारणदूषणानाम् ।

सङ्क्षोध्यते, न चैष परम्परितरूपत्वेनाशङ्कनीय, राजकारणे समुदाभेदारीपे क्रिय-  
माणे एव तदवसर सम्भवति, इह तु उपमया तद्विधातोऽकारिणीति वेदितव्यम् ।  
शार्दूलविक्रीडित वृत्तम् ॥ १४ ॥

( ट ) इद—गृहप्रवेशकालि शिरोघातरूपम्, अपरम्—अन्तर, दुर्लक्षणाभात  
गण । “हाराभिघाताध्वगशस्त्रपाता ” इत्यादिश्लोक १३ सङ्ग्रहश्लोकाव्याख्यानावसरे  
उद्धृत इति द्रष्टव्यम् ।

इदानीं विविध प्रागुक्तं सर्वमेतत् दुर्निमित्तं सङ्ग्रह्याभिदधाति, सयमिति ।—  
स—तम, सव्य—वाम, चक्षु,—मयनं, स्पन्दते—स्फुरति, तथा वायम,—काक,  
विरौति—शब्दाश्रित, अयं—पुरस्य, पन्था,—मार्ग, सर्पेण—अहिना, रुद्ध—  
पातित, अस्मासु—अस्माकमित्यर्थ, देवत,—देवात्, दवानुकृत्येन इत्यर्थ, [ देव-  
शब्दात् पञ्चम्या तमिन् ] स्वस्ति—मङ्गलञ्च, भवतु इति शेष, दधता मम ज्ञप्ति  
कुर्वन्तु इति भाव, यद्वा,—देवतम् एव देवत स्वार्थं अणि वा साय, तथा च  
देवत,—दधतामसूह, अस्मासु—विदग्धेषु इत्यर्थ, स्वस्ति—शुभं, विदधातु इति  
शेष, अशरणानां देवा एव शरणं भवन्तु इत्याशयः । “देवतानि पुंसि वा”  
इत्यमरीको पुंसि अपि व्यवहारः देवशब्दस्य दृश्यते, अतः सम्यक् उदाहरितम् एव  
विदग्धस्य पुंसि प्रयोगस्य कविभिरनादृतत्वात् अप्रयुक्तत्वं दीप्य एवत्यागदितम्,  
अस्माभिन् “उयाऽयं दारुणाचारः सत्त्वदेव विभाव्यत । तथा जन्तु देवता, ५ । ५ । ५ ।  
रावना, धवा ॥ ” इत्यादि प्रयोगदशनात् प्राक्तदीपादारभ्यैव व्याख्यायमानं प्रयोगः ता-  
वेदितम् । पञ्चावली वृत्तम् ॥ १५ ॥

नागेषु गोषु तुरगेषु तथा नरेषु

न ह्याकृति सुसदृशं विजहाति हृत्तम् ॥ १६ ॥

चारु । भो । अधिक्ततेभ्य, स्वस्ति । हृहो नियुक्ता ।

अपि (ठ) कुशल भवताम् ?

अधि । [ नमस्कृत्य (ड) ] स्वागतमार्थ्यस्य ? भद्र शोधनक !

आर्यस्य आसनमुपनय ।

नामिका ( “घोषा नामा च नामिका” इत्यनर ) यष [ आहिताभ्यादत्वात् वा परनिपात पक्षे—उन्नतघोषेन ] खगपतिनामिकावत् तिलकुसुमवहा विशाल नामस्य उन्नतनामिकमित्यथ अपाङ्गो,—नेद्यान्तयो, विशाले—आद्यते, कणान् विशाले इति यावत् नेवे—लौचने यस्य तादृशम् आकण्ठपूर्तिनेवमित्यथ, सुख—वटम् ( य एष इति प्रागुक्तचूषकेनान्वय ) विभर्त्तीति शष, एतांस्मान् नष्टमन्त्रे प्रगाले सुखवेकतादिदुःखाद्याचङ्ग किमपि कालीति भाव एतत्—अयनसौ चारु-दत्त इति चूषकीकृत्येषाक्षेप एतत्पदन क्रियत इति बोध्यम् एष हि चारुदत्त इत्येवाह, [ विधेयप्राधान्यादस्य स्वीकृतम् ] अकारणदृष्टानाम्—अहितुकदोष या, व्यवहारादीपितापराधानामित्यथ, भाजन—पाषाण, आश्रय इत्यथ, न हि—नैव, भवतीति तेष तदा हि, नागेषु—हस्मिन्, गोषु—नीरम्बेषु तुरगेषु—अश्वेषु तथा नरेषु—मानवेषु नागादिमध्ये इत्यथ, आकृति,—वर्हराकार, सुसदृश—स्वाशु-रूप वाक्ताकृत्यनुयायीत्यथ, हृत्त—चरित्व न विजहात्—न लज्जति आकृति रवाद्य निहृषित्व प्रनाणयति इति भाव । अत्र प्रस्तुताप्रस्तुताना नरनागादीनाम् आकृत्यनुपपन्नमात्रपरित्यागरूपैकधर्माभिन्नत्वात् दीपकालङ्कार, आप च पुन्याहम् तदादितर्विदमरस्यैव चारुदत्तस्य पराङ्मनेन “नरेषु” इति कृत्वा सामान्य संश्रयान् सामान्येन दिग्गमसमस्तदोषान्तरान्तर इत्यन्वयवत् इत्य-र पक्षेऽपि नानु । इत्यन्तिल्लव हृत्तम् ॥ १६ ॥

शोधनक । [ आसनमुपनीय ] एह आसनं, एतत् उवविमदु  
अस्मो । \*

चारु । [ उपविशति ] ।

शकार । [ सक्तीधम ] आगदेशि ले इत्यिआघादआ । आग-  
देशि ? अहो । गाए बवहाले ॥ अहो । धम्मे बवहाले ॥  
जं एटाह इत्यिआघादकाह ( ट ) आशणे दीअदि । [ सगञ्चम ]  
भोदु, णं दीअदु । †

अधि । आर्य्य चारुदत्त । अस्ति भवतोऽस्या आर्य्याया  
दुहित्रा सह प्रसक्तिः, प्रणयः, प्रीतिर्वा ? ( ण )

चारु । कस्याः ?

अधि । अस्याः । [ इति वसन्तसेनामातर दर्शयति ] ।

चारु । [ उत्थाय ] आर्य्ये । अभिवादये ।

\* इदमासनम्, अतीपविशतु आय्य ।

† आगतोऽसि रे स्त्रीघातक । आगतोऽसि ? अहो । न्यायो व्यवहार ॥ अहो ।  
धर्मो व्यवहार ॥ यदंतस्मै स्त्रीघातकाय आसन दीयत । भवतु, ननु दीयताम ।

आगमनेन तत्सर्वार्थं सुदाचारस्य अक्षुण्णतया सुरक्षणपरायणानाम् आधिक्यं  
शिकाना त्वरा ज्ञातव्या ।

( ट ) अहो—इति अस्माद्याम् । न्यायः,—न्यायादनपेत, मोतिसुप्रत इत्येव ।  
व्यवहारः,—आचरणम् । धम्मः,—धम्मादनपेत, धम्माशास्त्रानुमोदित इत्येव,  
[ क्वचित् “एटाह इत्यिआघादकाह” इत्यस्य “एतस्य स्त्रीघातकस्य” इति अङ्गतम् ]  
आसनदानेन पातकिनः ससर्गकरणात् ससर्गकृत पातित्यमाशङ्कितम्, अतः भोदु  
अनोक्तिरेषा ज्ञेया ।

( ण ) “अस्या” इति वसन्तसेनाया मातरः प्रति अङ्गुलिनिर्देशो बोध्यः ।  
प्रसक्तिः,—प्रसङ्गः, सम्पर्क इति यावत्, प्रच्छेदानुगाह इति वा । प्रणयः,—प्रेमः,  
सौहार्दमिति यावत्, (“प्रणयः प्रयः ये प्रेक्ष्यन्ते तं ज्ञातिवत्कृतं यः” इति मेदिनी)  
प्रीतिः,—प्रमोदः, सन्तोषादिमात्र इत्याशयः, (“प्रीतिर्निगान्तरं प्रेक्ष्य यत्प्रदत्तं मुद-  
स्वित्वात्” इति मेदिनी) ।

हृदा । जाट । चिर मे जीव । [ स्वगतम् ] अथ सो चारु-  
दत्तो ॥ एष्य (त) सुगिक्खित्तं क्व दारिआए जीव्वण । ३

अधि । आर्थ्य । गणिका तव मितम् ?

चारु । [ लज्जा नाटयति ] ।

शकार ।—

लज्जाए भीलुदाए वा चालित्तं अल्लिए । गिगूहिदुम् ।

अथ मालिअ अत्यकालणा दाणि गूह्दि ण तं हि भट्ठके ॥ १७ ॥

० जात । चि० मे जीव । अथ स चारुदत्त ॥ अथ सुनिश्चितं खलु दारिकया  
यौवनम् ।

† लज्जया भीरुतया वा चारित्र्यमस्तीक । निगूहितुम् ।

अथ मारयित्वा अयस्कागणदिदानीं गूहति न तद्धि भट्टक ॥

( त ) अथ—अस्मिन् चारुदत्ते इत्यर्थः ।

गणिकाप्रेम प्रकाशयित्वा लज्जमानं चारुदत्तमधिनिपति, लज्जयति ।—अलति  
—गच्छति अध, मिथ्याकथनेन इति अल्लोक, हे अल्लोक ।—सिद्धावादिन् । अथ-  
कारणात्—धनलालस्य, [ निमित्ताद्यकाले कारणशब्दात् पदमी, अथायं कशब्दात्  
ततोऽप्यत्र मज्जा एव विभक्त्यः स्मृतिरिति वदितव्यम् ] स्वयम्—आत्मना, मारयित्वा  
—विनाशं लज्जया—वपया भीरुतया—भयशीलत्वेन वा, इदानीम्—अधुना,  
चारित—चारित्र्यमेव चारित, [ प्रज्ञादित्वात् स्वार्थे ऋप् प्रत्ययः ] स्वकृतदुष्काव्यव-  
सितिं यावत् निगूहितुं—गोपायितुं चेष्टन्ते इति शेषः, भट्टकः,—प्रभुः,—नमः  
भक्तिपतिरित्यर्थः यथा,—राजनैतिकुशलं सुपरिचितं आधिकारिक इत्यर्थः,  
[ कश्चिच्छातं स्वार्थे कन् ] हि—निश्चितं ततः—तव एतत् दुश्चरितमित्यर्थः न गूहति  
—नैव आह्वयति नैव गोपायित्वा त्वं नीचयति इत्यर्थः प्रमाणदृष्ट्यादिना मनः

श्रेष्ठिकायस्थी । अञ्ज चातदत्त । भणान्ति, अल लज्जाए, बवहारो कतु एसा । \*

चार । [ सलज्जन् ] भो अधिकृताः । मया कथमीदृश वक्तव्यम् ? यथा गणिका मम मित्रमिति, अथवा यौवनमत्तापराध्यति, न चारित्र्यम् । (थ)

अधि ।—

व्यवहारः सविघ्नोऽयं, त्यज लज्जा हृदि स्थिताम् ।

ब्रूहि सत्यमल धैर्यं, क्लमत्र न गृह्णाते ॥ १८ ॥

अल लज्जया, व्यवहारस्त्वा पृच्छति ।

\* आथ्य चातदत्त । भण, अल लज्जया, व्यवहार खलु एष ।

पठित, यथा—“लज्जाए आदु भौलदाण वा चालत्त अलिअ गिगुहटि शअ इत्थिअ सालिअ अत्यकालणाए गिगुहटि ण त हि भट्ठके” इति, अपि च “अलिण” इति प्राकृतस्य “अलीकम्” इति संस्कृतं दृश्यते, तथात्वे, अलीक—कृष्याभर, चारित्र्य—सत्त्वभाववत्त्वमित्येवाथ करणीय इति । यस्यान्तरे च अत्यपाटं “एणि गृहटि त ण भट्ठके” इति पाठान्तरं दृश्यते, तस्याथसङ्गतिं सुधीभि स्वयं तवणीया । “भौलदाण” इत्यथ एकार “शअ” इत्यथ अकारस्य कृन्दाऽनुरोधात् लघुतया पठनीय ] । अत्र वैतालोय कृन्द् ॥ १७ ॥

( थ ) अथवेति ।—अतः—गणिकामित्रत्वे, यौवन—तारुण्यं, नवीनं वा इत्यथ, ममेति शेष, उद्दामयौवनमेव ईदृशाचरणे सा प्रवर्तयामास, न चारित्र्या—दौ शौल्य, लाघवस्य वा इत्यथ । “बलवानिन्दप्रगामी निवाममाप कपात” इति भगवन्मनुवचनेन, सञ्चरित्वा आप यौवने कदाचिदन्धियनिरुद्धानमा भवन्तीति ज्ञायते, तथाच, सता सक्तं त्वलनं न तथा चरितोक्तिं मन्त्रया अपन्त्याव नायकस्याशयः ।

व्यवहारं लज्जाभवादिना सत्यगोपनस्य अनिष्टोदकत्वात् तत्परित्यक्तुं स प्रपदिगं प्राह, व्यवहार इति ।—अथ—वर्तमान, व्यवहार—अभिधीग, मायत्र,—सप्रबुद्ध प्राणदण्डाद्यनिष्टजनक इति भाव, अत इति—अल करण, अल—वर्तमाना, लज्जा—वषा, त्यज—मुञ्च, लज्जया म. गी. दने तदेव कृन्दिता ॥ १८ ॥ तीति भाव, मल—यथा, ब्राह्म—वध, दैत्य—रक्षोऽसुर, इ—अ, ।

चार । अधिकृत । केन सह सम व्यवहारः ?

प्रकार । [ साटोपम ] अले । मए सह ववहाले । \*

चार । त्वया सह सम व्यवहार सुदु सह । (ट)

प्रकार । अले । इत्थिआघाटआ । त तादिशि लअअ-  
अटभृशणिअ वशन्तशीणिअ मालिअ, शस्यद कवड-कावडिके  
भविअ गिगूहेशि ? \* (ध)

\* अरे मया सह व्यवहार ।

- अरे स्वीघातक । ता तादृशीं ववशतभुषणा वसुक्तसेना सारयित्वा साम्प्रतं  
कपटकापटिकी भत्वा निगूहसि \*

इत्यन्तं ना कुरु इत्यत्र ण्वविधे त्रटिके व्यवहारे लज्जया गाम्भीर्येण वा यथा  
यद्यत्तरदाने विसृज्यो न कृतव्य इति भावः । अत्र दैर्येणालम् इति वक्तव्ये  
दैर्यमलमिति कृतम् । वारणाश्रकालशब्दयोगात् तृतीयैवानुशिष्टा अत्र तु तददर्श-  
नात् समवायवैतत् व्याख्यायते, तथा हि,—दैर्यं—धीरतावलम्बननिवाह,  
अलम्—वत्तरदाने समये धीरतया दद्याद्यनुत्तरं देहि, चापत्य परित्यजेति भावः,  
शक्राश्रकालशब्दवाच्यं योगभावात् चतुर्थी नाशङ्क्यायति । मदुक्तस्य क्लृप्तं अन्यथा  
रक्षणं ना भवति विविक्तोत्तरं दास्यामीत्याशङ्क्यामाह,—क्लृप्तमिति ।—अत्र—  
यथा वक्तव्ये क्लृप्तं—वक्ष्ये यथा,—क्लृप्तं—यौवननवापराधात्, न चारिचाम्  
इत्यादिसंवाक्येन न वृत्तं—प्रनाशनेन न स्वीक्रियते इत्यर्थः । अथ कतरि  
चिदत्र ता भवान्ताना क्रियापदानां तृतीयपादे चतुर्थपादे च तेनैव प्रकारेण  
एव न कृतं स्यात् चार्जितं, अत्र तु तदर्थं वाच्यं रतम् । तथा च देन प्रकारेण  
एव न कृतं स्यात् प्रकारेणानु कल्पितवक्तव्यमभ्यस्तं जायमानत्वात् मद्यप्रकृततादृश्यं य  
न कृतं तं वाच्यं स्यात् । तथा वक्तव्येन लज्ज दैर्यस्य दृष्टं नादत्तं स्वस्मै  
अत्र इत्यत्र वाच्यं स्यात् न कृतं इति श्रुत्यम् । अथ वक्तव्येन इत्यत्र



चारु । असम्बद्धः (न) खलु अमि ।

अधि । आर्य्य चारुदत्त । अलमनेन, ब्रूहि सत्यम् । अपि(प)  
गणिका तव मित्रम् ?

चारु । एवमेव ।

अधि । आर्य्य । वमन्तसेना क्व ?

चारु । गृह गता ।

श्रेष्ठिकायस्यौ । कधं गदा ? कदा गदा ? गच्छन्ती वा केण  
अणुगदा ? \*

चारु । [ स्वगतम् ] किं प्रच्छन्नं (फ) गतेति ब्रवीमि ?

श्रेष्ठिकायस्यौ । अज्ज । कधेहि । †

चारु । गृह गता, किमन्यत् ब्रवीमि ?

शकार । मम केलक पुष्पकलण्डक जिस्सुज्जाण पवेगिअ,  
अत्यणिमित्तं बाहुपाण बलक्कालेण मालिदा । अए । सम्पट (व)  
वदसि, घनं गटे ति ? ‡

\* कथं गता ? कदा गता ? गच्छन्ती वा केन अनुगता ?

† आर्य्य । कथय ।

‡ मदीय पुष्पकलण्डकजीर्णान् प्रवेश्य अशनिमित्तं बाहुपाण वमन्तारण  
मारिता । अये । साम्प्रत वदसि, गृह गतति ।

धर्मकक्षुक इति, तात्पर्य्ये, कपटपदस्यावाधिका शकारभाषितनाट्यमत्र,  
कापटिक इत्यनेनैव गतायत्वात् इति वेदितव्यम् । निगृह्णामि—गोपयामि ।

( न ) असम्बद्धः,—असम्बद्धप्रलापोत्यर्थः, असम्प्रतभाषीति यावत्, असम्बद्धः  
प्रखापो इति वक्तुं यत् “असम्बद्ध” इत्येतावदेव असमाप्तवाक्यम्, तत् पिशुनस्य  
शकारस्य दुष्वाक्येण अतिगन्धोरयापि महासत्त्वस्य चारुदत्तस्य अत्युद्देशत्वात् कदाचि  
बोधवशादेवाभवत् इति विभावनीयम् ।

( प ) अनेन—शकारेण सह वाक्प्रपञ्चनेत्यर्थः । अपि—प्रश्ने ।

( फ ) प्रच्छन्नम्—अप्रकाशम् ।

( व ) सम्पट—प्रवेश कारयित्वा, वसन्तकनान् इति श्रेयः । सम्पट—इति नो  
मित्यर्थः ।

चार । आः । असम्बद्धप्रलापिन् ।—

अभ्युक्षितोऽसि सलिलैर्न वलाहकानां

चाषाग्रपक्षसदृश भृशमन्तराले ।

मिथ्यैतदाननमिदं भवतस्तथा हि

हेमन्तपद्ममिव निष्प्रभतामुपैति ॥ १८ ॥

अपराधिन इव अस्य चास्यवैश्वर्येन सर्वेशरीरव्यापिस्वेदीकृतेन च सापराधत्वं  
तेन च उक्ताभिधीयस्य मिथ्यात्वं प्रतिपादयितुमाह, अभ्युक्षित इति ।—अन्त-  
राले—अन्तरीक्षे, ( “अन्तराले” इत्यत्र “अन्तरा ते” इति पाठे,—अन्तरा—मध्य-  
भागे, ते—तव एतत् निध्या इत्यन्वयः ) वलाहकानां—वारिवाहकाणां मेघानां,  
[ वारौणा वहाका, वलाहका पृषोदरादित्वात् साधु ] सलिलैः,—जलैः, चाप,  
—पक्षिविशेषः, ( “अग्रं चातक ” इत्येके, “अग्रमपतित वारि चातकानां रुजाकरम्”  
इति दृष्टान्तात्, सलिलपानादया ते प्राग्मेघमार्गेण सञ्चरन्ते इति दृश्यते,  
“नीलकण्ठ ” इत्येके ) तस्य अपपक्ष —पक्षाग्र, तस्य सदृश—तुल्य दद्या तथा,  
भृशम्—अत्यन्तं न अभ्युक्षित —न मित्र, असि—भवसि देनचित्त निमित्तेन  
कोऽपि चेत् कदाचित् कसपि मृद्या अभियुङ्क्ते, तदाऽसौ मृहतनिध्याऽभिधीय-  
प्रकाशमिद्या इति त्विन्द्रकल्पिणी जायते इति दृश्यते, तवापि मामिव राजाधि-  
करे अभियुज्जानस्य मेघसलिलमेकाग्रभावेऽपि सहसा एव मित्रकायम् आत्मानं  
प्रकाशयन् नि मग्न स्थापराधमूषक अकस्मात् स्वेदीकृत एव अभिधीयस्यास्य मृद्यात्वं  
प्रतिपादयतीति भावः । तथा—एव भवतः,—तव, इदं—परिदृश्यमानस्य, आनन

अधि । [ जनान्तिकम् ] ।—

तुलन चाद्रिराजस्य समुद्रस्य च तारणम् ।

ग्रहण चानिलस्येव, चारुदत्तस्य दूषणम् ॥ २० ॥

[ प्रकाशम् ] आर्य्य चारुदत्तं खलु असौ कथमिदमकार्य्यं  
करिष्यति ? ( चीणेत्यादि पठति ) ।

शङ्कार । किं पक्षवादेन (भ) व्यवहारी दीशदि ? \*

\* किं, पक्षपातन व्यवहारा दृश्यन्ते ?

नैवाकणनीय , नापि विचारार्हं इति तात्पर्य्यम् । अत्र वदनस्य हेमन्तकालीन  
कमलैनाविधम्यमायकथनात् उपमाऽलङ्कार , तथा सुखस्नानतापादकस्य कस्यचित्  
कारणस्य अनुक्तावपि सुखस्नानिरूपकार्य्योत्पत्तिकथनात् विभावनाऽलङ्कारश्च । न च  
प्रकरणपथ्यालोचनाक्षिप्तस्य मिथ्याऽभिप्रायानयनजनितदोषस्यैव निष्प्रभताया हेतुत्व-  
सम्भवात् कथमत्र हेतुं विना कार्य्योत्पत्तिरिति वाच्य , सामान्यत हेतुं विना कार्य्यो-  
त्पादव्यासम्भवात्, विभावनायामपि प्रसिद्धहेत्वभावस्यैव वक्तव्यत्वात्, प्रकृते च निष्प्रभ  
ताया कस्यचित् प्रसिद्धकारणस्य रोगशोकादेरभाव एव कारणाभावपदेन विवक्षित  
इति सुधीभिश्चिन्तनीयम् । वसन्ततिलकं वृत्तम् ॥ १८ ॥

चारुदत्ते आरोपितस्य अभियोगस्य असम्भाव्यत्वेनाविश्वासनीयत्वमुपवर्णयन्नाह,  
तुलनमिति ।—चारुदत्तस्य—तदाव्यस्य अस्य सज्जनस्य, दूषण—तस्मिन् दीपारी  
पणम्, [ दुष्यते णिचि “ल्युट् च” ( ३।३।११५ पा० ) इति ल्युटि रूपम् ] अद्रि-  
राजस्य—हिमालयस्य, तुलनम्—तुलाया करणमिवेत्यर्थ , तुलायन्तेन गुरुत्वानिरु-  
पणमिवेति यावत्, [ न च तोलयते तोलतेत्य ल्युटि तोलनमित्येव पदं भवतीति  
तुलनमिति पदमसौधिति वाच्य , तुलाशब्दात् करोत्यर्थे णिचि तुलि इति नामधातो  
ल्युटि कृते तुलनपदस्य साधुत्वसम्भवात् ] समुद्रस्य—सागरस्य, तारण—सन्तरणेन  
अपरपारगमनमिव, तथा अनिलस्य—वायो , ग्रहणमिव—हस्तेन धारणमिव, सदा  
गतं गतिरोध इवेत्यर्थ , असम्भवमिति शेष , यथा एतत्सर्वं जनानामत्यन्तसमम्भव-  
नीय, तथा चारुदत्तस्य दूषणमपि न कदाचित् शक्यसम्भवमिति भावः । अत्र चारु-  
दत्तदूषणरूपस्य उपमेयस्य अद्रिराजतुलनादिभिर्वहुभिरूपमानै विरुद्धधर्मातिविशिष्टत-  
त्वात्तत्सम्भवत्वद्वयसाधर्म्यकथनात् मालोपमाऽलङ्कारः । पथ्यावक्तव्यं वृत्तम् ॥ २० ॥

( भ ) पक्षपातेन—पक्षे—अन्याय्यसाहाय्ये, पाते,—अभिनिवेश , चारुदत्त  
मिति अनुरागवशेन न्यायमुल्लङ्घ्य कियमाण इति भावः, तेन ।

अधि । अपेहि (म) मूर्ख ।—

वेदार्थान् प्राकृतस्त्वं वदसि, न च ते जिह्वा निपतिता ?

मध्याङ्गे वीक्षसेऽर्कं, न तव सहसा दृष्टिर्विचलिता ? ।

दीप्तार्गे पाणिमन्तः क्षिपसि, स च ते दग्धो भवति नो,

चारित्र्याच्चारुदत्तं चलयसि, न ते देहं हरति भूः ? ॥ २१ ॥

( म ) अपेहि—अपगच्छ, दूरीभव इत्यर्थः ।

सञ्जननिन्दाया अगुभीष्टकत्वेन अकर्तव्यत्वं वक्तुमाह, वेदार्थमिति ।—त्व—  
भवान्, प्रकृतनृकृतमपकार्यं यस्य स प्राकृत, —नीच, अधमजातिसमुद्भव  
सन्निव्यथ, ( “विषण्णं पामरी नीचं प्राकृतं पृथग्जनं” इत्यमरः )  
वेदार्थान्—श्रुतिप्रतिपादिताभिधेयान्, वदसि—कथयसि, वेदवदतिविशुद्धस्य चारु-  
दत्तस्य नामोच्चारणमपि त्वया न करणीयं, का कथा तन्निन्दाया ? यत्स्वस्त्वं  
कर्तुं मनुगतं अतः असमसाहसिकोऽसि इति भावः, ते—तव, वेदोच्चारणमिव  
अस्य निन्दावादं कुर्वत इति भावः, जिह्वा—रसना, न च निपतिता ?—न  
व्यलिता ? नूनं पतिष्यत्येवेति काका व्यन्यते, इदं तु िशतिशयव्यञ्जकमित्यव-  
गन्तव्यम्, नीचजातीनां वेदोच्चारणे अनधिकारिणं बलादुच्चारितं च जिह्वाच्छेदनस्य  
शाम्नीयत्वेन अर्धोच्चारणमिति भावः, तथा मध्याङ्गे—मध्यन्दिने, अर्क—सूर्यः,  
वीक्षसे—पश्यसि, [ एतेन चारुदत्तस्य तेजस्वित्वं ध्वन्यते ] सहसा—तरलणात्, दर्शन-  
क्षममेवेत्यर्थः, तव—ते, दृष्टिः,—नेत्रं, दर्शनशक्तिर्वा, न विचलिता ?—न प्रति-  
रुता ? अगोचरे तेजस्विपदार्थदर्शनेन दृष्ट्युपघातस्य स्वाभाविकत्वात् विश्रुतचरितस्य  
सहीयमानया तपनवतं तेजस्विनं चारुदत्तस्य दर्शनमपि त्वया कर्तुं मशक्यमेव, कुत  
तद्विरुद्धोच्चारणमिति भावः, तथा, दीप्तार्गे,—प्रज्वलितानलस्य, अन्,—

आर्य-चारुदत्तः कथमकार्यं करिष्यति ?—

कृत्वा समुद्रमुदकोच्छ्रयमावशिषं

दत्तानि येन हि धनान्यनपेक्षितानि ।

विमर्द्दमपटीयां नृशम भगवती पृथ्वी किमर्थं वक्षसि वक्षतीति न जाने इति तात्पर्यम् । अतः चारुदत्तात् चारित्र्यत्रागनेन सार्द्धं प्राकृतस्य वेदाश्रयकथनस्य, माध्यन्दिनमूयबोक्षणस्य, तथा प्रदीपार्थी पाणिप्रक्षेपस्य च दिव्यप्रतिदिव्यभाव-बोधस्य सम्भवद्विधया वर्णनात् सम्भवदस्तुसम्बन्धरूपा अनेकैश्च सह वाक्यार्थे पञ्चमसाजितुमेव विष्वप्रतिविष्वताक्षेपात् मालारूपा मिदृशनाऽलङ्कारः, एव जिह्वा-पतनप्रभृतौन् प्रति वेदाश्रयसमुच्चाराणादर्थेऽपि तज्जन्यपतनरूपफलाभावदर्शनात् विरोधोक्तिरलङ्कारः, तल्लक्षणं दर्पणकारिणः,—“सति ह्येतौ फलाभाव विंशोक्तिः,—” इत्यादि, तथाच अनयो परस्परसापेक्षितया सन्ध्यते सङ्गः, अतिधृतिरन्तर्गतं सुमधुराख्यं हस्तः,—“सौ स्त्री सौ नो गुरुयेदमुशररसैरुक्ता सुमधुरा” इति तल्लक्षणात् ॥ २१ ॥

एव गुणावलीवर्णनेन धनार्थं महाऽनुभवस्य चारुदत्तस्य ईदृशपापानुष्ठानायोग्यत्वं प्रकटयितुमाह, कृत्वेति ।—येन—चारुदत्तेन इत्यर्थः । समुद्रम्—अर्थवम्, उदकानां—जलानाम्, उच्छ्रयः,—प्रसृत्य, प्राचुर्यमित्यर्थः, तन्मात्र—तदेव, शिष्यते इति शेषः,—अवशिष्टं य य त, जलाधारमात्रमित्यर्थः, कृत्वा—विधाय, तद्वर्त्मजातरद्वयमुदायाहरणात् इति भावः, अनपेक्षितानि—अविचारितानि, दानशौण्ड्या अस्ती-क्षितानि इत्यर्थः, आशाऽतीतानि इति यावत्, धनानि—अर्थाः, दत्तानि—वितरि-तानि, [यथा,—समुद्रम्—अतिगम्भीरतया जगति प्रसिद्धिं गतमिति यावत्, उदकानां—सलिलानाम्, उच्छ्रय एव, उच्छ्रयमात्र—प्रहृष्टिमात्र, तदेव शेषः,—अवशिष्टं, अवशिष्टमित्यर्थः, यस्य त, गाम्भीर्येदरिद्रमिति यावत्, कृत्वा—विधाय (अतः समकाले का, “मुखं व्यादाय स्वपिति” “ठनत् कृत्वा पतति” इतिवत् बोध्यम्) अनपेक्षितानि—अपारिंतात्यपि याचकैरिति शेषः, ( एतेनानिवचनीयदानशौण्ड्यं प्रति-पादितम्) धनानि—स्वधनानामारम्भितानि यावन्ति मूल्यवन्ति रत्नानि, इत्यर्थः । दत्तानि—याचकेभ्यः व्यक्तानि, कदाप्यतन दानकर्मण पूज्यत परता वा दयानां दत्तानां वा धनानामनुशोचना न कृता, अपि तु अकात-दीनेभ्यः धनं विसृज्य धीरतया अदल-वदवस्थानेन समुद्रस्य गाम्भीर्यम् अपहृत्य त गाम्भीर्यविरहिततया जलमादावर्ग्य-सेवासौ कृतवानित्यर्थः । एतेनास्य गाम्भीर्येण समुद्रादप्युत्कर्षप्रसूते व्यतिरेकान्

स श्रेयसा कथमिवैकनिधिर्महात्मा

पापं करिष्यति धनार्थमवैरिजुष्टम् ? ॥ २२ ॥

प्रकारः । किं पक्षवादेण बज्रहाले दीशदि ? \*

हृदा । हृदास ! जो तदाणि णासीकिद सुवणभण्डं  
रत्ति चोरिहि अवहिद, त्ति तस्स कारणादो चटुस्सामुद्-सारभृदं  
रअणावलि देदि, सो दाणि अत्यक्खवत्तस्स कारणादो इमं  
अक्ख करेदि ? हा जादे । एहि ( य ) मे पुत्ति । † [ इति  
रोदिति ] ।

पक्षः । आर्य्य चारुदत्त । किमसौ पद्मया गता ? उत प्रव-  
हणेनेति ?

\* किं, पक्षपातेन व्यवहारो दृश्यते ?

† इति । यन्मदानो न्यासीकृत सुवर्णभाण्डं राक्षसौ चौरैरपहृतमिति तस्य  
कारणात् यत् समुद्रसारभृता रक्षावली ददाति, स इदानीमर्थकल्यवत्तस्य कार-  
णादितनकायं करोति ? हा जाते । एहि मे पुत्रि ।

दारीऽव अज्यने ] श्रेयसा—सकलमङ्गलानाम्, [ “दिवचन—” ( ५।३।५७ पा० )  
इति प्रश्नश्चाट्टीयमुन् “प्रश्नस्य य ” ( ५।३।६० पा० ) इति यादेश्य ]  
एकमिधि —एकमात्रनित्य, महात्मा—महाशय, स.—चारुदत्त, धनार्थं—  
धनलाभाय, अवैरिजुष्ट—वैरिणा—शत्रुणाऽपीत्यर्थं, न जुष्टं—न सेवितम्, अति-  
दुष्कायत्वेन शत्रुभिरपि आचरितुमशक्यमिति यावत्, [ “अवैरिजुष्टम्” इत्यत्र  
‘अवैरिजुष्टम्’ इति पाठान्तरे—कापुरुषोचितम् इत्यर्थः ] इदं पापं—दुष्कर्म,  
साधारणी नारी धनलाभात् निहत्य तदलङ्कारजातापहरणरूपमिति भावः, कथ-  
मिव—कथादिव करिष्यति ?—आचरिष्यति ? नैव करिष्यतीत्यर्थः, इदं हृदयदानस्य  
दानवैरिण्यस्य पुनरुक्तं चारुदत्तस्य कापुरुषोचितं स्त्रीहृदनन्दोपसाराय  
नैवारीयं रिप्यात्मनपदाम् काकदशनादुन्मूलनवनं विफलमेवेति स्मृतिर्तार्थः ।  
\* ॥ इत्यत्र चारुदत्ते नन्दनमस्ति न च नन्ददातृत्वात् नन्दोऽपि नन्दत्वात् नानाम्  
नन्दत्वे सन्दर्भो नास्ति इति । नन्दनमिति । नन्दनमिति । २२ ॥

चारु । ननु । मम प्रत्यक्षं न गता, ( र ) तन्न जाने, किं पद्मरां गता, उत प्रवहणेनेति ।

[ प्रविश्व सामर्थ्यं ( ल ) ]

वीरक ।—

पादप्रहार-परिभव विमानणा वदगुरुअ-वेरस्स ।

अणुशीघ्रतस्स इअं कथं पि रत्ती पभाटा मे ॥ २३ ॥

ता जाव अधिअरणमण्डव उवसप्पामि । [ प्रवेटकेन ( व ) ] सुह  
अज्जमिस्साणं । १ ( श )

\* पाद-प्रहार-परिभव विमानना-वदगुरुदैरस्य ।

अनुशीघ्रत इय कथमपि रात्रि प्रभाता मे ॥

+ तदथावदधिकरणमण्डपमुपसपामि । शुभमाय्यमियाणाम् ।

( र ) ननु ।—मो । इत्ययं । प्रत्यक्ष—साक्षात्, ज्ञातसारणेति यावत् ।

( ल ) सामर्थ्य, —सकोपः ।

अभिधीगमुत्थापयितुमागत स्वाभिधीज्यस्य वस्तुन नितराम् असहनीयतां वण्य-  
आह पादेति ।—पादप्रहारेण—चरणाघातेन, चन्दनकस्येति शेष, य परिभव,  
—पाकमणमित्यथ, अनादर इति यावत्, [ “परी मुधोऽदज्ञाने” ( १।१।५५ पा० )  
इति घञो वैकल्पिकत्वात् “कटदीरप्” ( १।१।५७ पा० ) इत्यप् । “अनादर  
परिभव ” इत्यमर ] तेन या विमानना—अवज्ञा, तया वद—नदम्, उत्प्राति  
मित्यथ, गुरुक—महत्, दृढमित्यथ, वैर—शत्रुभाव यस्य तादृशस्य, अनुशीघ्रत,  
—सपत्तितापम् इतिकथ्यतान् अनुशीलयत, मे—मम, इयम्—अचिरात्  
अतीता, ( अथ रात्रेरवसितत्वेऽपि प्रत्यक्षपताबीधकस्य इदम् अल्प प्रयोग इति,  
तत अचिरप्रभातत्वेन तदानोमपि तिमिरस्य सत्यगपगमाभावात् इति बाध्यम् )  
रात्रि,—तथा, कथमपि—अतिकष्टेनेत्यर्थं, प्रभाता—अतीता, प्रायेण प्राचि अरुण-  
किरणाहासिता अभवत् इत्यथ । आर्याभेदान्गतेन गायत्र्या नाम दत्तम् ॥ २२ ॥

( व ) प्रवेटकेन—प्रवेष्ट एव इति प्रवेष्टक—बाहु, ( “भुजवाह प्रवेष्टो दी”  
इत्यमर ) तेन, बाहुमुत्तोल्य इत्यर्थः ।

( श ) शुभ—मङ्गलं, भवतु इति शेष, आय्यमिया जयन्तीत्यर्थः ।

अधि । अये । नगररक्षाऽधिकृतो ( ष ) वीरकः ॥ वीरक ।  
किमागमनप्रयोजनम् ?

वीरक । हो । वत्सल-भेद-सम्भवे अज्जकं अस्मेमन्तो,  
ओवाडिद पवहणं वच्चदि त्ति विआरं करन्तो अस्मेमन्तो,  
“अरे । तुण वि आलोइदे, मए वि आलोइदब्बो” त्ति भणन्तो  
ज्जेव, चन्दनमहत्तरण पादेण ताडिदो म्हि । एट सुणिअ  
अज्जमिस्सा पमाण । \* ( स )

अधि । भद्र । जानीषे, कस्य तत् प्रवहणमिति ?

\* हो । वत्सनभेदनसम्भवे आद्यकर्मन्विध्यन्, अपवारित प्रवहणं तज्जतीति विचार  
कुर्वन् अन्विष्यन् — “अरे । त्वयाऽपि आलोकितं, मयाऽपि आलोकितव्यम्” इति  
भणन्नेव, चन्दनमहत्तरकेण पादेन ताडितोऽस्मि । एतत् श्रुत्वा आद्यमिथा प्रमाणम् ।

( ष ) नगररक्षाऽधिकृत — नगररक्षा — पुरीरक्षणम्, अधिकृता — अष्टचत्वेन  
आयत्तीकृता येन स, नगररक्षाकर्मणि नियुक्तानामध्यक्ष इत्यर्थः, यद्वा, — नगर  
रक्षायां — पुरीरक्षणकर्मणि, अधिकृत, नियोजित, प्रधानपररक्षक इत्यर्थः ।

( स ) हो इति विषादाश्रयकमन्त्र्य, ( “हो दु खे हेतावाग्यातो विषादे विस्मयेऽपि  
च” इति मेट्ठिनी ) ‘वत्सनभेदनसम्भवे — वत्सनम्य — कारागृहस्य, भेदन — भद्र,  
तत्र भित्त्वा अपगमनमित्यर्थः, आद्यकर्म इति भावः, तेन २ सम्भवे, — रुवेग, त्वरा  
इत्यर्थः, तस्मिन्, सम्भवे जाते सति इति यावत् । अन्विष्यन् — तन्नुसन्दधदित्यर्थः ।  
अपवारितम् — आच्छादितम् । विचार — विवेकं सन्देहमिति यावत् । भएन् एद —  
वदन् एव अहमिति शेषः । चन्दनमहत्तरकेण, — मृत्त महता चन्दनकेन इत्यर्थः,  
[ अयमभिव्यक्तिश्रयेण महानिति महत्तर तेन, इयोरैकस्मिन्त्वर्थे “द्विवचनम् —”



वीरक । इमस्स अज्ज-चारुदत्तस्स, वसन्तसेणा आलूढा,  
पुष्पकरगुडक जिणुज्जाणं कीलिदुं गीअदि, त्ति पवहणवाह-  
एण कहिदं । \*

शकार । पुणो वि शुदं अज्जेहिं १ ॥ ( ह )

अधि ।—

एष भोः । निर्मलज्योत्स्नो राहुणा ग्रस्यते शशी ।

जल कूलावपातेन प्रसन्न कलुषायते ॥ २४ ॥

\* अस्य आद्य-चारुदत्तस्य, वसन्तसेना आलूढा, पुष्पकरगुडकजीर्णोद्यान कीलितु  
नीयते, इति प्रवहणवाहकेन कथितम् ।

† पुनरपि श्रुतमर्थं ?

( ह ) पुनरपि—भूयोऽपीत्यर्थं, श्रुतम्—आकर्णितम् १ मया प्रथमं यदुक्तं,  
तदिति शेषः, वीरकमुखादिति भावः । “वसन्तसेना अन्य पुष्पकरगुडक जीर्णोद्यान  
प्रवेष्ट्य अर्थनिमित्तं सारिता” इति प्रागुक्त-स्ववाक्यस्य प्रमापकत्वेन वीरकवाक्यमुद्धि-  
स्त्वितु “पुणो वि” इत्यादिकं शकारेणोक्तमिति बोध्यम् ।

वीरकवाक्यस्य शकारोक्त्यनुकूलतया चारुदत्तस्य सदोपलब्धवशमात् दण्डभोग्यत्व  
माशङ्क्य विलपन्नाह, एष इति ।—भो । इति अधिकरणस्यानासक्तत्वं ।  
निम्नत्वा—विशदा, शुभा इत्यर्थः, निखिललोकलीचनानन्दकरीति यावत्, ज्योत्स्ना—  
कौमुदी यस्य तादृशः, एष,—पुरतः परिदृश्यमानः, शुभयशोधरलितदिङ्मण-  
ल-चारुदत्तस्य इत्यर्थः, शशी—चन्द्रः, अनाकाशे गलितहरिणः शीतकिरण इति यावत्,  
राहुणा—सैहिकेयनः, पापयहदपिणा शकारेण इत्यर्थः, ग्रस्यते—कवलीक्रियते,  
[ एतैः पूर्णिमाया प्रतिपदस्य सन्धौ राहुशमात् परं यथा पूर्णस्यैवाततमण्डलस्य  
शशिनः पुनः सुप्रकाशो दृश्यते, तथैवेदानीं प्रसीणीऽपि चारुदत्तं राजानुद्वेष्टेण  
वेणातटस्थकुशावतोरान्यप्राप्ता वसन्तसेनालाभेन च प्रागिव पूर्णतया विभवशाली  
भविष्यतीति ध्वन्यते ], तथा च, आपाततः कूलावपातजनितकलुषितस्यापि सलिलस्य  
पुनरचिरादेव स्वाभाविकस्वच्छतालाभः द्रव्यते एवेत्यधस्तात्प्रसीने दृष्टान्तेन प्रोक्तायस्य  
साधर्म्यं दृश्यति, जलमिति ।—तथा हि, प्रसन्न—निम्नलः, कथमपि सलिलस्य शन-  
भकलुषितमित्यर्थः, जलं—सलिलं, कूलावपातेन—तटभङ्गेन, [ अलीकं अवधार

वीरक । पञ्चादिह भवतो न्यायं (क) द्रव्याम । य एषो-  
ऽधिकरणद्वारि अश्वस्तिष्ठति, तमेनमारुह्य गत्वा पुष्पकरण्डको-  
द्यान दृश्यताम्, अस्ति तत्र काचिद्विपन्ना स्त्री न वेति ?

वीरक । ज अज्जी आणवेदि । [ इति निष्क्रान्त प्रविश्य च ]  
गतोऽस्मि तर्हि, दिदृश मए इत्थिआकलेवर सावदेहि विलु-  
पन्त । ॥ (ख)

त्रेहिकावचौ । कथं तु ए जाणिदं इत्थिआ कलेवर त्ति ? ॥

\* यदाय्य राज्ञापयति । गतोऽस्मि तत्र, दृष्टञ्च मया स्त्रीकलेवर आपटोऽस्तु  
मानम् ।

+ कथं त्वया ज्ञातं स्त्रीकलेवरमिति ?

समारोपयेति गम्यते ] कल्पायते—सन्निपाद्यते, [ अकल्प कलुष क्रियते अनेन  
इति अमृततडावेऽपि मृगादीनान् आकृतिगण्यतेन तदन्तर्गतात् कल्पशब्दात् कर्थाङ्क  
कल्पादिति नामधातो कल्पि लटि एवाय प्रयोगः । “कल्पायते” इत्यत्र “कल्पा-  
यते” इति पाठे तु कर्तरिप्रयोगे सुकर एव अर्थः ] । अत्र एतत्पदवाक्येन चारुदत्तेन  
सपत्नीमतेन साङ्गं निष्कलज्योत्स्नं शशिन् अमेदारीपात किमय रूपकालङ्कारः,  
अपि वा, एतत्पदेन विग्रेषितस्यैव शशिन् सर्व्वदैव निर्गोपं दिपये चारुदत्ते  
अमेदाश्वसामात् मेदेऽमेदरूपातिशयोक्तिरित्येतयो रूपकातिशयोक्त्या कन्देहसदृश  
उद्दण्डोऽय एवञ्च विपन्न प्रकारस्य निगमनेन विषयिण राक्षो अमेदमतिपत्तिरूपात्  
प्रकारस्य राक्षसा अमेदेनाश्वसामात् मेदे अमेदरूपातिशयोक्त्यालङ्कारः तथा पृच्छाङ्क-  
वत्तस्य चारुदत्तस्य निष्कलज्योत्स्नशशिन् राक्षकर्तृक्यामृगस्य विग्रेषस्य दम्भन,  
परादेन असद्वस्तुत्वस्य कलावपातजनित कल्पीकरणरूपसदृश-विग्रेषवद्भूता साधस्य  
एवञ्च नवमस्तोत्रं दृष्टान्तलङ्कारः इत्येतां परस्परनादिवृत्त्या कल्पिते सदृशः ।  
एवञ्च ॥ ६८ ॥

वीरकः । सावसेमेहि केमहत्थ-पाणि-पाटेहि उव-  
लक्खिदं (ग) मए । २४

अधि । अहो ! धिग् वैपस्य लोकव्यवहारस्य । (घ)—  
यथा यथेद निपुण विचार्यते, तथा तथा मङ्गलमेव दृश्यते ।  
अहो ! सुमन्ना व्यवहारनीतयो मतिस्तु गौ पङ्कगतेव मीदति ॥ २५ ॥

\* सावगपै केशहस्त-पाणि पादैरुपलनित मया ।

(ग) सावगपै,—मुक्तावशष्टेरित्यथ । केशाद्यादि ।—[शरीररुद्रजालकरचरैः ,  
[ केशानां हस्ता समूहा इति पठ्यीममाम, ते च पाणी च पादौ च तेषा  
समाहार इति इन्दे, “इत्थं प्राणितुयसीनाङ्गानाम्” ( २४१२ पा० ) इत्यनुशासन-  
बलात् एकत्वप्राप्ती कथं बहुत्वमिति चेदत्रोच्यते,—केशहस्तसङ्घिता पाण्य  
तत्सङ्घिता पादा तैरिति शाकपार्थिवादित्वात् समासेन कथञ्चित बहुत्वमुपपादनीय  
मिति , व्यासवाक्ये पादादीना बहुत्वन्तु आपदादिस्तत्त्ववद्बहुत्वाभिप्रायेणेति बोध्यम् ।  
केशवाचिशब्दात् हस्तशब्दस्य समूहाशक्तमाह अमर यथा,—“पाश पचय हस्तय  
कलापार्था कचात् परे” इति , कलाप,—समूह ] । उपलक्षित—दृष्टम्, अन-  
मितमित्यथ , यद्यपि शृगालादिभि तत् कलिवर प्रायश एव भक्षित, तथाऽपि मया  
सुदीर्घेण केशकलापेन सुकोमलपाणिपाटेन च एतत् स्त्रिया एव कलिवरमिति  
विशिष्यैव विज्ञातमिति प्रतिकूलसाक्षिण वीरकस्याभिमतम् ।

(घ) अहो—इति खेदे, विस्मये वा । लोकव्यवहारस्य—लौकिकविचार-  
दर्शनस्य, व्यवहारनीतिरित्यथ । वैपस्य—वेपरीत्यम् । धिक्—निन्दनीयमित्यथ ,  
ज्ञायते सत्यमेव चारुदत्त निन्दीष, परन्तु सात्यादिभिघटनाशम् अवगताया  
सर्वमेतद्विरुद्धमिव प्रतिभाति, अतः प्रकृत्या साधावपि असाधुत्वारोपणाद् व्यवहारस्य  
निन्दनीयत्वमिति भावः ।

लोकव्यवहारस्य विषमत्वमेव विशदयन्नाह, यथेति ।—इदं—व्यवहारदृष्टं दम्, यथा  
यथा—तेन तेन प्रकारेण, यय यत वा, निपुण—सम्यक्, सप्रणिधानमित्यथ,  
विचार्यते—निर्णयते, तादृशवस्तुन तत्त्वनिर्णयार्थं यत्यते इत्यथ, तथा तथा—तेन  
तेनैव प्रकारेण, तव तवैव वा, मङ्गल—सुदारुण, सन्देहवद्बलमित्यर्थं, दृश्यते—  
लक्ष्यते, अस्माभिरिति शेष, व्यवहारशास्त्रस्य नानाभावजटिलतया सुप्रमाणमापेक्ष  
तथा च भटिति तत्त्वनिर्णयस्य दुष्करत्वात् सुविचारिण चारुदत्तस्य निन्दोपलप्रतिपाट  
नार्थम् अह येन मार्गेण गन्तुमभिलषामि, तनैव दारुणसगवादुलो भवामीति

चारु । [स्वगतम्]—

यथैव पुष्प प्रथमे विकाशे समेत्य पातुं मधुपाः पतन्ति ।

एव मनुष्यस्य विपत्तिकाले छिद्रेष्वनर्था बहुलीभवन्ति ॥ २६ ॥

अधि । आर्य्य-चारुदत्त ! सत्यमभिधीयताम् ।

चारु ।—दुष्टात्मा परगुणमत्सरौ मनुष्यो

रागान्धः परमिह हन्तुकामबुद्धिः ।

तात्पर्याद्य , व्यवहारस्य—व्यवहाराङ्गभूतविचारस्य, नीतय,—नियमपद्धतय,  
शास्त्रोपदिधानानि इत्यद्य, अही इति विषादे, सुसन्ना,—सुलुप्रा, सम्यक् मिलिता  
इत्यद्य, तु—किन्तु मति,—मदोया बुद्धि, पङ्कगता—कर्तृसंपत्तिता, गौरव—  
सौरभेदीव सौन्दर्य—अवसाद गच्छति, न उल्यातु शक्नोतीत्यर्थ, अवसन्ना सती  
तत्त्वाद्यविनिर्णये न क्षमा भवतीति यावत्, नष्टुद्धिस्तु चारुदत्तस्य निर्दोषितामिव  
प्रमापयते, घटना तु दण्डनीतिमनुसरति, तदनुसारेण विचार्य्य निरपराधमपि  
चारुदत्त निम्नोक्तु न शक्नोमीति भाव । अत्र अधिकरणिकबुद्धे पङ्कपतितगवा सह  
अवधमसाम्यक्यनात उपमाऽलङ्कार । वक्ष्यविल हतम् ॥ २५ ॥

किं यो यद् वदति मृषैव जातिदोषात्

तद् याह्य भवति ? न तद्विचारणोयम् ? ॥ २७ ॥

अपि च,—

योऽहं लता कुसुमितामपि पुष्पहेतो-

राकृष्य नैव कुसुमावचयं करोमि ।

सोऽहं कथं भ्रमरपक्षरुचौ सुदीर्घं

केशे प्रगृह्य रुदती प्रमदा निहन्मि ? ॥ २८ ॥

भारोपिताभिर्गोशस्य मिथ्यात्वं वक्तुमाह, दृष्टास्मेति ।—इह—अस्मिन् ससारि, य परगुणतत्सरी—परगुणेषु—अन्योत्कर्षेषु, मत्सर,—द्वेष, सोऽस्मास्तीति परगुण मत्सरी, परगुणविषेधीत्यर्थ, ( “मत्सरीऽन्यशुभद्वेष” इत्यमर ) दृष्टास्मा—दुराशय, मनुष्य, —नर, दुर्जन इत्यर्थ, रागात्, —रागेण—वनितादिविषयासक्त्या, कीदृश वा, अन्य, —सदसद्विवेकयुक्त इत्यर्थ, तथा परम्—अन्य, हन्त—नाशयितुं, काम, —अभिन्नाप यस्या तादृशी, बुद्धि, —मति यस्य तादृशं सन्, जातिदोषात्—अपक्वजटातिवशात्, मृषैव—मिथ्या एव, यत्, वाक्यमिति शेष, वदति—कथयति, तस्यत्यादि, तत्—मिथ्यावचनं, किं याह्य—सत्यत्वेन स्वीकार्यं, भवति ? तत्—वाक्यं, विचारणीय—सत्यनिर्णययोग्यं, न ?—न भवति किम् ? अवश्यमेव विचार्य मियथ, शकारवाक्यं सत्यमसत्यं वा इति निपुणमविचार्य समं दण्डविधानान्वेषण भवाद्दण्डमत्यन्तसेवानुचितमिति भावः । यदा,—किं याह्य भवति ? नैवेत्यर्थ, एवञ्च अयाह्यस्य विचारोऽपि न कर्तव्य इत्याह, नेति ।—तत्—अयाह्यवचनं, न विचारणीय—नैव विचारयोग्यम्, मिथ्यात्वेन श्रवणायोग्यस्य वचनस्य प्रमाण यत्तदादिना विचारोऽपि अयुक्त एवेत्यर्थ । अथ अप्रस्तुतसामान्यात् प्रस्तुतस्य मिथ्या वादिन शकारस्य प्रतीतिरप्रस्तुतप्रशमाऽलङ्कार, तथा परगुणमत्सरिप्रभृतिविशेषणानां शकारवाक्यस्य मिथ्यात्वप्रतिपादनाभिप्रायेण प्रयुक्तत्वात् साभिप्रायत्वेन परिकरमेव न शोरङ्गादिभावेन सद्वर । प्रहर्षिणी वृत्तम् ॥ २७ ॥

स्वस्य निहर्षापित्वं प्रकटयितुमाह, य इति ।—य अहं—चारुदत्त इत्यर्थ, कुसुमितां—सज्जातकुसुमां, अपि लता—वीरध, पुष्पहेतो, —पुष्पायम, आकृष्य—आकृष्य, आकषणं कृत्वा इत्यर्थ, कुसुमावचयं—पुष्पवचनं, नैव, करोमि—विदधामि, तासां पत्रवच्छेदजनितपीडोत्पादशब्दोऽपि भावः, स अहं, भ्रमरपक्ष

शकार । हंही । अधिअलणभीइआ । कि तुम्हे पेक्खवादेण  
ववहाल पेक्खध ? जेण अज्ज वि एशि हदाश चालुदत्ते आशणे  
धालीअदि ? \* ( ड )

अधि । भद्र शोधनक ! एव ( च ) क्रियताम् । [ शोधनकस्तथा  
करोति ( ङ ) ] ।

चारु । विचार्यता भो अधिकृताः । विचार्यताम् । [ इति  
आसनादवतीव्य भूमौ उपविशति ] ।

शकार । [ सहर्षं नर्त्तित्वा स्वगतम् ] ह्री । अणेण मए कडे पावे  
असुअ मत्यके णिवाडिडे, ता जहि चालुदत्ताके उवविशदि,  
तहि हग्गे उवविशामि । ( ज ) [ तथा कृत्वा ] चालुदत्ता । पेक्ख  
पेक्ख म, ता भण भण, मए मालिडे त्ति । †

\* हरी । अधिकरणभीजका । कि यूय पत्रपातेन व्यवहार पश्यत ? देना-  
यापि एष हताशद्वारादत्त आसने धायते ?

† ह्री । अनेन मया कृत पापमन्यस्य ममके निपातितम्, तस्य यत्र चारुदत्त  
उपविशति तत्राहमुपविशामि । चारुदत्त । पश्य पश्य सा तद् भण भण "मया  
नारता इति ।

चारु । भो अधिकृताः । [ “दृष्टात्मा—” इति पूर्वोक्तं पठित्वा सन्निवास  
संगतम् ]—

मैत्रेय । भोः । किमिदमद्य समोपघातः ?

हा । ब्राह्मणि । द्विजकुले विमले प्रसूता ।

हा रोहमेन । न हि पश्यामि मे विपत्तिम् ?

मिथ्यैव नन्दसि परव्यसनेन नित्यम् ॥ २८ ॥

वाक्येन पीडनार्थश्चेति बोध्यम् । प्रमापितापराधस्य हि आसनदत्तं नेन स्तुकारोऽनाद्यत  
इति भूमावुपवेशितस्य चारुदत्तस्य समीपं समासने भूमाविव शकारस्यापि उपवेशनं  
वर्णयता कविना अचिरमेव अपराधनिन दण्डनीयत्वं सूचितमित्यवधेयम् ।

सम्प्रति विपत्तौ अनन्यगतिकं स्वजनसम्बोधनपरं सरं विलापात्, मैत्रेय इति ।—  
भो मैत्रेय ।—सखे विदूषक । इदम्—एतत्, समाकार्मिकदुष्टनारत्यर्थः, विम —  
कथमुपनतमित्यर्थः ? इदमिति सामान्येनाह्ना तदेव विवक्ष्यतीति, अयेति ।—अद्य—  
अस्मिन् दिवसे, सम—मे, सर्वथा निर्दोषस्यापीति भावः, उपघातः,—अनिष्टपातः,  
विनाशरूप इत्यर्थः, एवविधे विपत्त्यागरे निमज्जितो भविष्यामि इति तु प्राक्  
कदाप्यहं न चिन्तितवानिति तात्पर्यं, हा—इति खेदसूचकमव्ययम्, (“हा टिपाट  
शुगर्त्तिषु” इत्यमरः) ब्राह्मणि ।—स्वपत्न्या सम्बोधनमिदं, विमले—निमले,  
अकलङ्के इत्यर्थः, द्विजकुले—विप्रवर्णे, प्रसूता—जाता, अस्तीति शेषः, अकलङ्क  
कुलजाया सत्यात्मवत् पत्युरीदृशकलङ्कापातेन प्राणदण्डोऽस्तिदं महं त्वया इति  
भावः, [ एतेन सुकुलीनाया सदाचारप्रताया अपि ते “अस्या भया अदलीकेन  
स्त्रीहृत्कारुण्यं महापातकं कृत्वा राजदण्डेन प्राणान्तकं दण्डितः” इति जनाप्रवाद  
यावज्जीवमेव दुरपनेयः, अहो । कष्टम् इति सूचितम् ], हा गीहर्त्तुन ।—पुत्र  
सम्बोधनमिदं, मे—सम, विपत्तिः—प्राणदण्डरूपां विपत्तिः, न हि पश्यामि ?—नैव  
अवलोकयामि ? परव्यसनेन—परिण—कैवल्येन, व्यसनेन—बाल्यसुखभोगेन क्रौञ्चेन,  
नित्य—सतत, मिथ्यैव—मयैव, वृथैवेत्यर्थः, नन्दसि—आनन्दमनुभवामि, यथा—  
पर—प्रधानम्, अतीव दुःखजनकतया अतिदारुणमित्यर्थः, व्यसन्—विपत्तयः  
अकाले पितृवियोगरूपमिति भावः, तेन उपलक्षितं मनु, नित्य—निरन्तरम्, आ  
बाल्यादिति यावत्, मिथ्यैव नन्दसि, मिथ्यैवेत्यनेन तवायमानन्द अचिरमेव विपाटं  
परिणम्यते इति तात्पर्यार्थो लभ्यते, अतः परम् अतीव दृष्टमागरे पतिष्यमीति  
भावः । प्राणापगमसमये प्राणसमस्य पत्नीपुत्रादेः नामादिवहणपुरःसरं विलाप

प्रेषितञ्च मया तदार्त्ताऽन्वेषणाय मैत्रेयो वसन्तसेना-  
सकाशम्, शकटिकानिमित्तञ्च तस्य (भू) प्रदत्तानि अलङ्कर-  
णानि प्रत्यपेयितुम् । तत्कथं चिरयते ?

[ ततः प्रविशति गृहीताभरणो विदूषकः ] ।

विदू० । पेसिदोस्मि अज्जचारुदत्तेण वसन्तसेणामआसं, तहिं  
अलङ्करणाइ गेहिअ, जधा “अज्ज मित्तेअ । वसन्तसेणाए  
वज्जो रोहसेणो अत्तणो अलङ्कारेण अलङ्कारिअ जणणीसआमं  
पेसिदो, इमस्स आहरणं दाढव्व, (ज) ण उण गेहिदव्व, ता

९ प्रेषितोऽस्मि आर्यचारुदत्तेन वसन्तसेनासकाशम्, तदाशङ्करणानि गृहीत्वा,  
तथा “आर्यमैत्रेय । वसन्तसेनया वज्जो रोहसेन आत्मनोऽलङ्कारेणालङ्कृत्य वज्जी-

कथञ्चित्पेयं मुखमुत्पादयति इति पुत्रादीन् स्वजनान्दृष्ट्य एव विलापं कृत इति  
शेषम्, [“परव्यमनेन” इत्यत्र “वत व्यमनेन” इति पाठान्तरं—वत इति खिदमुचक-  
मशब्दम्, हा इति खिदश्रीतकाव्ये मल्यपि पुनः वतपदोपादानवत्तु अथ पाठः न  
सर्माचीनतया प्रतिभासते तथा पाठे स्थिते तु—कथितपदस्य विधाटे विभ्रये वृद्धि  
य गुणत्वाङ्गीकारात् वक्तव्यत्वं विधादयन्मत्वात् कथञ्चित् समाधातुमपि शक्यते ] ।  
वसन्तातल्लङ्क हत्तम् ॥ २८ ॥



समप्येहि” त्ति । ता जाव वसन्तसेना-सञ्चामं ज्जेव गच्छामि ।  
[परिक्रम्यावलोक्य च आकाशं] कथं भावरेभिल, ? भो भाव-  
रेभिल । किं निमित्तं तुम उब्बिगो (ट) उब्बिगो विअ लकवी-  
असि ? [आकण्ठं] किं भणसि ?—“पिअवदस्सो चारुदत्तो

सकाशं उपेत, अस्या अभरणं दातव्यं, न पुनरुद्घोषस्तस्मै ततः समर्प्य” इति ।  
तत् यावत् वसन्तसेनासकाशमेव गच्छामि । कथं भावरेभिल ? भो भावरेभिल ।  
किं निमित्तं त्वमुद्दिष्टं उद्दिष्टं इव लक्ष्यसे ? किं भणसि ?—“प्रियवयस्य चारुदत्त

(ट) उद्दिष्टं,—उद्भ्रान्तं व्याकुलचित्तं इत्यर्थः । चारुदत्तेनैव वसन्तसेना  
निहतंति अधिकरणिकानां दृढतरप्रत्ययानुदानार्थं कविना सान्द्ररणस्यैव विदूषक-  
स्यायं प्रवेशोऽकारिः, तथा च, किमर्थं हि विदूषकेण अलङ्करणजातं प्रत्यर्पितमेव  
गच्छता अगत्तैव तद्गृहम् अधिकरणं प्रविष्टमिति पूर्वोपगमसम्बन्धस्य सूचयति कर्तुं  
“भावरेभिल” इति सम्बुद्धिपूर्वम् अलङ्करणस्य “किं ब्रवीषीति यत्राग्रे दिना  
पार्श्वं प्रयुज्यते । श्रुतिवानुक्तमप्यर्थं ततः स्यादाकाशभाषितम् ॥” इत्युक्तलक्षणेन  
आकाशभाषितेन “किं निमित्तम्” इत्यादवाक्यमुदीरितमिति । एतेनैतदेवात्र प्रती-  
यते, यत् भावी रेभिलो हि पथि वसन्तसेनायै अलङ्करणजातं प्रत्यर्पितं गच्छन्तं  
विदूषकम् अधिकरणे चारुदत्तस्य आह्वानम् अकथयदिति, ततः त्वामौ प्रिय-  
महदथारुदत्तस्याकस्मिकीमापदसाशङ्क्य त्वयसेना वसन्तसेनागृहमगतैव, तदीयान्  
ङ्करणकानि गृहे रुम्याप्य अधिकरणे गमने कालक्षेपम् आशङ्कमानं त्वरितपटनं  
तत्रैव साङ्गं विचारमण्डपं प्रातिष्ठत । यथा त्वाधिकरणिका गृहस्थं चारुदत्तं  
विचारालयमाजुहुवुः, ततः किञ्चित् प्रागेव विदूषकं चारुदत्तगृहात् अलङ्करणभाण्डं  
गृहीत्वा वसन्तसेनासदनाभ्युग्रे प्रतस्थे । तदानीं वसन्तसेना तु गृहं नामीत, यत्  
सा शकारकृतानकारापनोदनार्थं स्वाहर्केन भिक्षुणा तद्वस्त्रभगिन्या मठे मरिचिता  
इति तु कविर्नवावेदितम्, एतत् सख्यमन्त्रान्तो तज्जननी विचारावसरे प्राड्विवाक-  
मसक्तं, वसन्तसेना चारुदत्ताभिसरणाद्यमेव गतवतीत्येतावन्मात्रमवबोधयतीति, विचा-  
रकस्तु कुत्रापि कथमपि तस्याः सन्धानमनधिगत्य, पादपयातहतायाः स्मिता कलवरं,  
प्रतिकूलसाक्षिणीं वीरकादीनां वधमा, वसन्तसेनायाः पदेन सन्धानं प्रमादयन्  
सायिन्यैव चारुदत्तं दण्डितुमिच्छुरभवदिति । भावरेभिलम् श्रोतृचलनवाक्यं  
चारुदत्तादीनामलङ्करणं कथितं सुगन्धकं, तस्मात् किल चारुदत्तं सद्योतरमङ्गलं

अधिअरणमण्डवे सदावीअदि' त्ति ? ता ण हु अप्पेण कल्लेण  
(ठ) होटव्व । [ विचिन्त्य ] ता पच्छा (ड) वसन्तसेणा सआमं  
गमिस्सं. अधिअरणमण्डव टाव गमिस्सं । [ परिक्ख्यावलीक्य च ]

अधिकरणमण्डपे उच्यते" ( आह्वयते ) इति ? तत न खलु अल्पेन कार्येण  
भवितव्यम् । तस्य प्रातः वसन्तसेनासकाशं गमिष्यामि, अधिकरणमण्डपं तावत् गमि-

भवित कदाचित् तद्वन्मनसत एतत् तृतीयोऽङ्के रेभिलसङ्गीतनैपुण्यप्रदसावरे  
व्यपितम् चक्षुर्दे तु शर्विलक वसन्तसेनौदार्येण प्रियतमा सदनिकासधिमग्न,  
रुददि निरादेशमन्येन जानिवा पालकेन कारागृहे बद्ध प्रियसखनायकमुपश्रुत्य  
तादृशीचलात् पल्लवेता अल्पैव विदुष रेभिलस्य गृहे चेटेन ता सदनिका प्रेरित-  
वान् । तत प्रभृत्यसौ शर्विलक वडमायिक कारागृहादुन्मोचयितुं राज्ये च  
प्रतिष्ठापयितुं विविधकृतमन्त्रणाया लिलोऽभवदिति तु तत्रैवाङ्के शर्विलकमुखेनोप-  
बसित कविना । आर्यकीडारण्ये यादाकाल सदनिकाया रेभिलस्यै रुम्यापन-  
दशनात् रेभिलस्यैतपः हितेषी आसीदिति स्फुटतया विज्ञायत । विदुषकाय चारुदत्त-  
विवारकदाहनापन्नेन अद्यापि घोरापानापदि रेभिल एव चारुदत्तस्य प्रिय-  
माधनदम् अलविद्रोहकारिभिः शर्विलकादिभिर्नियुक्त आसीदित्ववगम्यते, एत-  
न्निवेदितवानन्तरं च कदाश्च सामञ्जस्यं नृपकया मरचित कविना रेभिलकदामव  
ताय विचारप्रतापवाहनरे आकाशभाषितमेतद्वतागितनिति मृच्छगीभिरवधेयम् ।

इदं अधिअरणमण्डप, ता जाव पविमामि । [ प्रावण्य ] सुद्ध  
अधिअरण भोडआण, कहिं सम पिअवअस्सो ? ॥

अधि । ननु एष तिउति । (ठ)

विद् । वअस्स । सोत्थि दे ? ॥ (ण)

चारु । भविष्यति । (त)

विद् । अवि क्वेमं दे ? ॥

चारु । एतदपि भविष्यति ।

विद् । भो वअस्स ! किं णिमित्तं उब्बिगो उब्बिगो विअ  
लक्खीअसि ? कुदो वा सहाइदो ? ॥

चारु । वयस्य ।—

मया खलु नृशसेन परलोकमजानता ।

स्त्री रतिर्वाऽविशेषेण शेषमेषोऽभिधास्यति ॥ ३० ॥

यामि । अयमधिकरणमण्डप, तत् यावत् प्रावणामि । सुद्धम अधिकरणभोडका-  
नाम् । कुत सम प्रियवयस्य ?

† वयस्य । स्वस्ति ते ?

‡ अपि चेम ते ?

§ भो वयस्य । किं निमित्तम् उद्दिष्ट उद्दिष्ट इव लक्ष्यसे ? कुतो वा शङ्कायित  
( आहृत ) ?

( ठ ) गतु—सन्वोधने, प्रत्युक्तौ वा । एष,—चारुदत्त । तिष्ठत, अत्र इति  
शेष ।

( ण ) ते—तुभ्यम्, [ स्वकिशब्दयोगात् “नम स्वस्ति स्वाहा—” ( २।३।१६  
पा० ) इति चतुर्थी ] ।

( त ) भविष्यति—जनियते, अचिरमेव इति श्रय, दर्शनानन्तराद्यान् न  
दृश्य, दैवदुष्टविपाकात् इदानीमेव विपत्त्यागरे निजस्य अरुहायस्मिन् कश्चपि  
मङ्गलसम्भावना नासीत्, किन्तु सम्प्रति भवदृशस्वाहादिमस्य सुद्धो लाभोदयिना-  
दव मङ्गलसम्भावना जातति भाव । इत्यन्तु निवृत्तसन्निर्देशो वाक्ये दत्तित्य,  
आविन स्वस्ति-विमर्शादिप्राशस्त्यस्य उपपन्नपुरस्सर यद्व्याप्त, तथा हि,—“उप-  
न्यासस्तु काव्याणां यथनम्” इति दर्पण ।

मैत्रेयप्रश्नस्य उत्तर दातुं इत्यादिवादस्य समुपनि सम्प्रत्यया कौतुकादन्वयता

विदुः । किं किम् ?

शकुन्तला । [ स्वरैः ] एवमेवम् ।

विदुः । को एव भणति ?

शकुन्तला । [ स्वरैः ] उवाच उवाच उवाच । ननु एष तपस्वी हेतुभूतः ।

ह्युतान्तो सा व्याहरति । (य)

विदुः । [ स्वरैः ] एव कोमल भर्ग्याश्चिद्विदुः गच्छ गच्छ

ति ० ॥

शकुन्तला । उच्यमानमपि श्रवणादोषात् न गृह्यते । (द)

० ॥ एव ० ॥

+ एव कथं न मन्त्रेण ? गच्छ गच्छ ।

यस्य कौत्सवशाद् मतेति—परलीक—पर,—येन शीक,—सुवनं, सुगोष्ठिक  
मानसिक सुवनमिति यावत्, अज्ञानता—अनुमाननम्, अनप्ययता इत्यर्थः, दृष्टं न  
—निर्दिष्टं मया—आह्वयेनेत्यर्थः यत्—निर्दिष्टं स्त्री—योषितु, वा—अथवा,  
अविशेष—अभिष्टेन गति—कान्तपदो, यत्वा अविशेषा काचित् कामिनीत्यर्थः,  
[ “रतिश” इत्यनेन वसन्तमेना दपसावणायातिशयात् कान्तपदना अनूना इति  
मन्त्रे “स्त्री रतिशविशेष” इत्यत्र “स्त्री रतिशविशेष” इति पाठान्तरं—  
अविशेषेद स्त्री रतिश सुते पदेत्यर्थः ] किं कथा इत्याकाङ्क्षायां ननु कथं नानाहं ईषन्  
—अविशेषेद दृष्टव्यमिति मन्त्रेण “घातिता” इति पठन्मिति यावत्, एष, शकुन्तला  
इति ईषन् अविशेषमिति—अविशेषमिति । अत्र वसन्तमेनाया यत्वा लक्ष्मिदाश्रयमानान्  
अप्ययता, पाठान्तरार्थे तु—अहताप्रहता स्त्रीरन्ती एवम् समावेशात् दीपका  
मन्त्रेण हेति मन्त्रः । यथा, दृष्टं ॥ ३० ॥

विद् । भी भी अज्जा । जेण दाव पुरद्वावण-विहाराराम-देउल-  
तडाग कूब जूवेहि अलङ्घिदा गअरौ उज्जइणी, सो अणीसो  
अत्यकल्लवत्तकारणादो एरिस अकज्ज अणुचिह्वादि त्ति ॥ (ध)  
[ सकोधम् ] अरे रे काणेलीसुदा । राअस्साल-सण्ढाणआ !  
उस्सङ्गलआ । किदज्जण दोमभण्डआ । बहुसुवस्स मण्डिट-  
मकडआ । भण भण मम अण्णदो । जो दाणि मम पिअवअस्सो  
कुसुमिद माधवीलद पि आकिट्ठिअ कुसुमावचअ ण करेदि,

\* भी भी आर्या । येन तावत् पुरस्थापन-विहाराराम-देवालय-तडाग कृप  
वृपरलङ्घता नगरी उज्जयिनी, स अनीश अत्यकल्लवत्तकारणात् दृष्टशरकायम  
अनुतिष्ठतीति ॥ अरे रे कुलटासुत । राजश्यालमस्थानक । उच्छृङ्खलक ।  
कृतजनदोषभाण्ड । बहुसुवर्ण-मण्डित-मर्कटक । भण भण समागत, य इदानीं  
मम प्रियवयस्य कुसुमिता साधवीलतामप्राकृत्य कुसुमावचय न वरीति,  
गृह्यते—सत्यत्वेन स्वीक्रियते, विश्रस्यत इत्यर्थः, दरिद्राणां सत्यवाक्यमपि मिथ्यात्वेन  
परिणमतीति भावः ।

( ध ) पुरेति ।—पुराणां—नगराणां, स्थापन—प्रतिष्ठाकरण, विहार,—  
बौद्धमठ, आराम,—उपवन, देवालय,—देवानां—हारहरादिविद्यानाम,  
आलय,—आवास, देवमन्दिरम् इत्यर्थः, तडाग,—सरोवर, पञ्चशतानूनधनुर्मित  
द्विसहस्रानूनहस्तचैवफलक पञ्चवत्पारिशदुलानूनदोर्घविस्तार जलाशय इत्यर्थः,  
कृप,—उदपान, वृक्षाकारस्वल्पपरिमरादिगर्भोरजलाशयविशेष इत्यर्थः, य,  
यन्त्रीरपयवन्तदकारविशेष, एते, ( पृष्ठाधरस्तु कृपयूपेति पदद्वय लौकिकोक्ति  
नाह ) । अनीश,—अवस, इदानीं दरिद्र भूत्वा इत्यर्थः । अनुतिष्ठति ?—आप्त  
रति किम् ? इदममहात्मन अखिललोकिहितायमिटापृष्ठादिकम्कारिण एवविध  
शृङ्खलवदाचरण सम्भवति किम् ? इत्यभिप्रायः, नैवेत् कथमाप सम्भवतीति भावः ।  
कल्ले—प्रभाति, वत्तुले ये अर्थेति—ते कल्यवत्ता,—प्रभातकालमावध्यायिन,  
अवध्यायिन इत्यर्थः, [ वर्तते इत्यस्य पचादित्वात् कचरि अच् ] तथाभता ये अथा  
विनश्यता इति भावः, [ राजदत्तादित्वात् परनिदात् ] तथा कारणात् अदिरम्यारि-  
चनायमिति तात्पर्यायः, यो हि पुरा धनानि दद्यात् सकलान् अदिशतम् अगर्भं  
तान् व्यकिरम् इदानीं किमसौ तेषु सुखं ? इति वक्तुरागम् ।

कटा वि आकिट्टिटाए पल्लवच्छेदी भोटि ति, सो कध एरिस  
अकज्ज उहअ लोअविरुद्ध करेदि ? चिट्ठ रे कुट्टणिपुत्ता । चिट्ठ,  
जाव एदिणा तव हिअअ कुडिलेण(न) दण्डकट्ठेण मत्थअ टे  
सदखण्ड करेमि । \*

प्रकार । [ नकीधन ] शुणन्तु शुणन्तु अज्जमिस्सा । चालुदत्ता-  
केण शह मम विवाटे ववहाले वा, ता कीश एसे काकपद-  
शीशमत्थका मम गिले शदखण्डे कलेदि ? मा दाव (प) ले  
दाशीए पुत्ता दुट्ठवड्का । †

कटाचित् आहृतता पल्लवच्छेदी भवतीति स कधनीदृशनायायमुभयलीकावरुद्ध  
करोति । तिष्ठ रे कुट्टनीञ्च । तिष्ठ यावदेतेन तव हृदयकुटिलन दण्डकाहेन  
सम्पन्न ते शतखण्ड करोमि ।

- शुणन्तु शुणन्तु आज्जमिस्सा चालुदत्तेन सह नम विवाटी व्यवहारी वा,  
तन किमर्थेन काकपदशीष-सम्पन्न नम शिर शतखण्ड करोति ? मा तावत्, वे  
दास्या पक्ष दटवट्क ।

( न ) उच्छृङ्खलक ।—नियन्त्रणहित । असयतचित्त । असयतभाषिन् । इति  
वाङ्म । हतजनदोषभण्ड ।—हतम्—आविष्टत जनानां—लोकानां, निष्पापा-  
नानि भाव, दोषाणां—पापानाम्, असङ्गतानामपीति भाव, भाण्डम्—आधार  
येन तस्य सङ्गुदी अयदा दीर्घकट्टनित्य, यो हि सचिकाप्राय सदैव लोकानाम्  
समतापि दोषान् आवकुब्बन् तिष्ठति तादृश इति तात्पर्यात्, [ केचित्तु “किट-  
ठपदोभण्डभा ।” इति प्राकृतस्य “हतजनदोषभण्ड ।” इति संस्कृत कृत्वा हत-  
जनदोषदासी भण्डयेति [ विविधरत्नानां ] हतजनदोषभण्ड —परदीषादिष्ठां  
अह नमपां सेत्त । ( “नोड” इति लोके ) इत्येव व्याचक्षते ] । कुमुनितामिति ।  
—पल्लवच्छेदी भवतीति हेतो कुमुनावच्छेद न करोतीत्यर्थ । उभयलीकविरुद्धम्—  
इदं कपलं कनकं रक्कन । इदं कुटिलं—इदं दण्डं—अन्त करणवत् कुटि-  
लेन—क्षेत्र ।

विट् । [ दण्डकाष्ठसुत्याय पूर्वोक्त पठात् ] ।

शकार । [ मक्रोधसुत्याय ताडयति ] ।

विट् । [ प्रतोप ताडयति । अन्याऽन्य ताडयत । विट्पक्षस्य कनदेशा  
दाभरणानि ( फ ) पतन्ति ] ।

शकार । [ तानि गृहीत्वा दृश मसाध्वमम् ( व ) ] पेषन्तु पेषन्तु  
अज्जा, एदे क्व ताण तवशिशुणीए ( भ ) कीलका अलङ्काला ।  
[ चारुदत्तमुद्दिश्य ] इमशश अत्यकल्लवत्तशश काल्लणादी एणा  
मालिदा, वावादिदा ( म ) अ । ३

३ पश्यन्तु पश्यन्तु आर्या, एते खलु तस्यास्तपस्विन्या अलङ्कारा । अस्य  
अथकल्यवर्त्तस्य कारणादेषा मारिता, व्यापादिता च ।

मध्यम्या शिखा इत्यथ, सक्तके यस्य स, इदन्तु भाषण विट्पक्षस्यानादरज्ञापकम् ।  
सा तावत्—न तावत्, मामिव प्रहर्तुं शक्तायि इति मनसाऽपि न तावत् चिन्तय इति  
भावः ।

( फ ) प्रतोप—विपरीतम् । ताडयति—मारयति, प्रतिप्रहरतीत्यर्थः । कन-  
देशात्—वाङ्मूलात् । आभरणानि—वसन्तसेनया रीद्धसेनाय दत्तानि अलङ्कार-  
णानि ।

( व ) मसाध्वम—सुसम्भ्रम, [ “सम्भ्रम साध्वमेऽपि स्यात् सर्वगादरपौरपि”  
इति मेदिनी । अथनिमित्तं चारुदत्तेन वसन्तसेना मारिता इति अभियोगस्य सत्यता  
प्रसङ्गकस्य तस्यैव अलङ्कारजातस्य चारुदत्तमित्यस्य विट्पक्षस्यैव सकाशात् अप्रत्या-  
शितभावन आविर्भावात् अतिदृष्टेणाय शकारस्य सम्भ्रमो बीज्य ] , यथा,—मसाध्वम-  
—समभयम्, विट्पक्षात् पुनः प्रहारसम्भावनाया दायिण्यादिभ्यस्तस्यैव उत्काण्ठत-  
त्वात् अलङ्कारागमवृत्तान्तं चारुदत्तश्च मन्त्रममलं यथाग्र्यं प्रकाशयिदितं सत्य-  
प्रकाशाशङ्का वा अवाप्य मसाध्वमत्वमित्यवगन्तव्यम् ।

( भ ) तपस्विन्या,—अनुकम्पनीयाया, निरपराधिन्या इति यावत्, ( तपश्च-  
तापसे चानुकम्प्ये विष्णु” इति मेदिनी ) ।

( म ) एणा—अभियागविषयभूता वसन्तसेना इत्यर्थः । मारिता—अलङ्कारिता  
अनेन इति शेषः । व्यापादिता इति शकारभाषितेन पुनरुक्तमपि न दोषावहम् ।

[ चंद्रिका सर्वे अधीसुखा म्यता ] ।

चारु । [ जनान्तरिकम् ]—

अयमेवविधे काले दृष्टो भूषणविस्तर ।

अस्माक भाग्यवैषम्यात् पातित पातयिष्यति ॥ ३१ ॥

विद् । भो । कौन भूदत्तं (य) ण निवेदीअदि ? ३

चारु । वयस्य ।—

दुर्वल नृपतेश्चक्षुर्नैतत् तत्त्वं निरीक्षते ।

केवल वदतो दैन्यमस्त्राध्यं मरण भवेत् ॥ ३२ ॥

० भ । ' किनये भतायो न निवेद्यते ' ।

चक्रकात् विदपक्ष्णान्तरात् भूषणपतननालोक्त्य अभिधीगम्य अशुभ परिणाम  
फलप्राप्त्यर्थं अशमिति ।—एवविधे—दृष्टं, वसुधैनाया हत्यापराधेनाभिमुख्य  
ऋ निद्वारविपद्भान्तरादिना पात यावत् काले—समये अस्माक—समेत्य  
अतावि—प्रत्यक्षाद एकत्वे “अहदी द्योय” ( १२५६ पा० ) इति अनुशासनेन  
एववचनम् । भाग्यवैषम्यात्—दीर्घायात्, पातित —विदपक्ष्ण कक्षदेशात् प्रसूत  
[ अत्र ] पतितपदेन अत्र निर्वृति मयि मिथ्याहत्याभिधीगान्यनात् उभयर्त्तु क  
मिति नष्टपातको प्रकारश्च व्यन्यते ] अत एव दृष्ट —एवलीकित, राजपक्ष्ण-  
विति इष अत—परिदृष्टं जान इत्यर्थ, भूषणविस्तर —फलद्वारमुद्राय पत  
न नमो विस्तृतं गता फलद्वारा इत्यर्थ, (“विनागी विरही व्यास स च उल्लस्य  
विस्तर” १० मरीकौ विस्तरुल्लस्य वाग्विस्तरार्थे एव उपात्तत्वेऽपि उल्लरवाकरादौ  
स धारणफलमर्थेऽपि उपादानात् कश्चित् दीप इति शेषम् ) पातयिष्यति—वनी  
गो एव इत्यर्थ ममिति इष निरपराधस्यापि न अनेन भूषणेनैव अपराध मुतरा  
रुद्रकात् भवति इति समुदिततात्पर्यम् । पद्यावक्क इत्यम् ॥ ३१ ॥



अधि । कष्ट भोः । कष्टम् ।—

अङ्गारक विरुद्धस्य प्रजीणस्य वृहत्स्यते ।

ग्रन्थोऽयमपरः पार्श्वे धूमकेतुरिवोत्थितः ॥ ३३ ॥

दुबल—मलहीन, चारचक्षुषैव दर्शनात् स्वयं तत्त्वदर्शने अचसमित्यर्थः, एतत्—  
राजचक्षुः, तत्त्व—याथाथ्यं, प्रकृतघटनामिति यावत्, यद्वा,—एतच्छब्दम्—एतस्य  
—उपस्थितविवादस्य, तत्त्व—याथाथ्यं, न निरीक्षते—न पश्यति, नियतपरमुखा  
पेलिण राजामो हि इदमेवाव तत्त्वमिति स्वयं विनिर्णेतुं न शक्नुवन्ति इति तात्पर्यम्,  
अथ तत्त्वाश्विजिज्ञासादित जने अनिच्छया यथाकथञ्चित् प्रकृताथकथनेऽपि तस्य  
तादृशाश्वोधशक्तिविरहात् इष्टाथप्राप्तिसम्भावना दूरमाप्ता, प्रत्युत तद्विरुद्धफलापत्तय  
सम्भावनैवेत्याह, केवलमिति।—वदत,—“न मया सारिता, नापीदमनङ्गरण  
मयाऽपहृतम्” इति कथयत, सम—सं, केवलम्—एकमेव, देय—दीनतामात्रं,  
व्यथ कातरताप्रकाश एव, न तु काचित् फलोदयसम्भवेत्यर्थः, तथा अत्रात्र—  
राजदण्डव्यातिनिन्दितत्वात् अप्रशसनीय, सर्वजनविगृहितमित्यर्थः, यद्वा,—दण्ड  
मिति क्रियाविशेषण, वदत इत्यस्य कश्च वा, तथा च, दैर्घ्य—कातरताप्रदर्शनं  
पूर्वकं यथा तथा वदत, स्वदीनभाव प्रकाशयती वा,—“वसन्तमिना मया न  
सारिता” इति सविनयं सत्यं कथयतीऽपि, सम केवलम्—एकम्, अत्रात्र—नित्यं  
नीय, (स यारत्राव्यवन्तु टक्कृतकारित्वापवादजन्यत्वात्, परापकारादिसत्कर्मजन-  
मरणस्य तु कौत्सिजनकत्वमेव,—“धनानि जीवितञ्चैव परार्थं प्राणं नृसृजितं” इत्यादि-  
स्मरणत्वात्) मरण—मृत्युः, भवेत्—सम्पद्येत, तत्त्वाथावजिज्ञासमाने अविवेकः च  
जने मत्तकथनं विडम्बनं कातरताप्रकटनमावप्यवसायि च भवति, न तु कथमाप  
प्राणदण्डान्निष्कृतिरिति भावः । पथ्याशक्तं वृत्तम् ॥ ३३ ॥

चारुदत्तस्य अक्षविजयभीविदूषकात् अभियोगविषयोभूतानाम् अपनद्वाराणां  
सागनदर्शनान्त, तस्मिन् निरपराधत्वेन पूर्वं ज्ञातप्रत्युत्पत्त्याऽतिविषमोऽधिकरणिक  
विद्यन्नाह, अङ्गारकेति ।—अङ्गारकेण—मङ्गलेन पापग्रहेण इत्यर्थः, विरुद्ध—  
विपरीतस्य, कुत्तर्हृद इत्यर्थः, प्राचीना ज्योतिषका एव एतन्मासन्ति,—  
यदङ्गारकं वृहत्स्यतं शत्रुरिति, वराहमिहिरादयः नयन्तु तयो एव विरोधभावेन न  
स्वीकुञ्चन्ति, तथा हि वृहत्तात्किं,—“जीवेन्द्रणकरा कुत्रस्य मृत्युः” इति, स्थान  
विशेषस्थिते तु तात्कालिकशत्रुत्वस्य स्वीकुञ्चन्त्येव, तत्र च नात्र तन्मासः पृथग-  
विरुद्धतादीपावहरः, यद्वा,—विरुद्ध अङ्गारकं यस्य तत्त्वः, विरुद्धतादीपावहरः



वृद्धा । [ अवलीक्य ] सरिसो एमो, ग उण सो । ॐ (ल)

शकार । आ वुडुकुट्टणि । अक्खीहिं मन्तिदं, वाआए  
मूकिदम् । १ (व)

वृद्धा । हदास । अबेहि । ३

येहि कायस्यौ । अप्पमत्तं कधेहि, सो ज्जेव एमो ग वे त्ति ? §

वृद्धा । अज्ज । सिप्पिकुशलतया ओबन्धेदि (श) टिट्ठिं, ग  
उण सो । १

अधि । भट्टे । अपि जानामि (घ) एतानि आभरणानि ?

ॐ सदृशमेतत्, न पुनस्तत् ।

† आ वुडुकुट्टणि । अक्षिभ्या मन्त्रित, वाचा मुक्तिरुत्तम् ।

‡ हताश । अपेहि ।

§ अप्रमत्त कथय, तदेवेतत् न वेति ?

॥ आर्य्य । शिल्पिकुशलतया अववध्नाति दृष्टिं, न पुनस्तत् ।

( ल ) एतत्—भागदस्यालङ्करणजातम् इत्यर्थः । सदृश—तस्या एव अलङ्करणसमूहस्यानुरूपम् । तत्—वसन्तसेनाया अलङ्करणम् इत्यर्थः ।

( व ) अक्षिभ्या,—चक्षुर्भ्याम् । मन्त्रित—तदेवेदमिति भाषितम् । किन्तु वाचा—वाक्येन, स्पष्टीक्या इति यावत् । मुक्तिरुत्तम्—वाक्शक्तिरहितयेव आचरितं, गोपायितमित्यर्थः, [ मुक्तिरिति मृकाशब्दादाचारार्थं क्तिप् निन्ताया रूपम् ], अस्या अक्षुर्हं दृष्ट्वा एव प्रतीयते, यत् “तदेवेदम्” इति एषा प्रत्यभिज्ञानान्येव, किन्तु चारुदत्तपक्षपातेन “तदिदं न” इत्युक्त्वा गोपायतीति भावः ।

( श ) शिल्पिकुशलतया—शिल्पिन, —भूषणनिष्ठात्, कुशलतया—निष्ठाया नैपुण्येन, सौष्ठवातिशयविधात्रिकयेति शेषः । अववध्नाति—आकर्षयति, अलङ्काराणां मनोरमनिर्माणपरिपाद्या तदीयत्वबोधनेन दृष्ट्यान्तरात् अवैव नयन बलपुत्रकमाकर्षयति, न तु तदीयत्ववृद्धिं व्यवस्थापयतीति भावः, यद्वा,—अववध्नाति—रुण्णति, अलङ्काराणां कृत्या दृष्टिप्रतिरोधात् “तदेवेदं न वा” इति मशय एव मा पातयति इति भावः ।

( घ ) भट्टे ।—कन्याणि । वसन्तसेनामातुरासुखमेतत् । अपि—प्रत्ये । जानामि ?—परिचिनीयि, अवबुध्यसे इत्यर्थः, कथं एतामाभरणानीति धरस किम् ? इत्यर्थः ।

वृडा । ग भणामि । ग हु ग हु अणहिणादो, अहवा,

कदा वि सिप्पिणा घडिदो (स) भवे । ३-

अधि । पश्य श्रेष्ठिन् ।—

वस्त्वन्तराणि सदृशानि भवन्ति नून

रूपस्य भूषणगुणस्य च कृत्रिमस्य ।

दृष्ट्वा क्रियामनुकरोति हि शिल्पिवग्

सादृश्यमेव कृतहस्ततया च दृष्टम् ॥ ३४ ॥

३ ननु भणा न । न हि न ।ह अनभिज्ञातानि, अथवा, कदाऽपि शिल्पिना  
घटितानि भवेयु ।

( स ) ननु—भो । भणामि—वदामि, “शिल्पिकुशलतया अददध्म ति दृष्टि, न  
पुन तत इति शेष । अथवा—पचान्तरं । न हि न हि—नैव नैव । अनभिज्ञातानि  
—अपरिचितानि, मन्त्रैव अपरिचितानि इत्यपि वक्तु न शक्नीमतीति भाव । कदा  
ऽपि—कस्मिन्नपि समये, शिल्पिना—तेनैव कारुणा, अन्येन केनचित् कारुणा वा ।  
घटितानि—तदनुकूपाणि अपराणि अलङ्करणानि निर्मितानि, तदलङ्करणानुरूपा-  
ण्येकान्यन्यान्वेदालङ्करणानि निपुणशिल्पिभि निर्मितानीति वृद्धावचनतात्पर्यम् ।  
[ ‘ग हु ग हु अणहिण दो’ इत्यत ‘ग हु ग हु अणादा’ इति पाठान्तरे,—“न हि  
न हि अज्ञात’ इति संस्कृतम् । ]

श्रेष्ठिकायस्थी । अज्ज-चारुदत्तस्स केरकाइं एटाइ १ ५ (ह)

चारु । न खलु न खलु ।

श्रेष्ठिकायस्थी । ता कस्स १ ५

चारु । इह अवभवत्था दुट्ठितुः । (क)

श्रेष्ठिकायस्थी । कध एटाइ ताए विओअं गटाइ १ ३ (ख)

चारु । एव गतानि, आ इटम् । (ग)

\* आर्यचारुदत्तीयानि एतानि ?

† तत् कस्य ?

‡ कथमेतानि तस्या विधोग गतानि ?

तत्सदृश निर्मातु शक्तीत्येवेत्यर्थः, इति दृष्टञ्च—भूयस्तथा अवसीकितत्वेत्यर्थः, अस्माभिरिति शेषः, यद्वा,—क्रियां दृष्टा अनुकरोति—सदृशीकरोति, तत्र सादृश्यं दृष्टमेव, अत्र भूषणमित्थं वसन्तसेनाया एव, नान्यस्येति कथं निर्णीयते ? इति भावः । अलङ्कारसमूहाद्यैरेव वसन्तसेनाया अलङ्काराणां तुल्या, न तु त एव इति अधिकरणिकस्याशयः । अत्र पूर्वार्द्धगत कृतिमत्वगुणयोगात् वस्तुन वस्तुन्तरसदृशीभवनरूपकार्ये, परार्द्धगतेन शिल्पिवर्गाणां कृतककृताकरूपकारणेन समर्थितमिति कारणेन काव्यसमयनरूपोऽर्थान्तरन्यासोऽलङ्कारः । वसन्ततिलकं वृत्तम् ॥ ३४ ॥

( ह ) आर्यचारुदत्तीयानि—आर्यचारुदत्तसम्बन्धीनि । एतानि—इमानि आभरणानि इत्यर्थः ।

( क ) इह—अथ, विद्यमानाया इति शेषः । अवभवत्था,—मान्याया, वसन्तसेनामातरमुद्दिश्येयमुक्तिः । दुट्ठितुः,—कन्याया, वसन्तसेनाया इत्यर्थः ।

( ख ) तस्या,—वसन्तसेनाया, वसन्तसेनाऽङ्गादित्यर्थः । विधोग—विच्छेदम् । गतानि—प्राप्तानि, केन प्रकारेण एतान्यलङ्कारानि वसन्तसेनासंकाशात् भवदत्तकमागतानि इति समुदितताव्ययम् ।

( ग ) एवम्—इत्थं, गतानि—प्राप्तानि, तथा विच्छेदमिति शेषः । श्रेष्ठिकायस्थी “कथमेतानि” इत्यादिप्रश्नस्य एवमस्फटीतरदाने अत्र हेतुरुक्तेः, तथा हि—सुवर्णशकटिकार्यं रीक्यमानं रीहमेतं सान्वयितं प्रदानरूपं प्रकृतमन्त्रद्वारागमनं विवरणमाधिकरणिकस्य विद्याय भविष्यति न वेति शङ्कया यथायथमनुपवर्ण्य “आम इटम्” एतावन्मात्रमुक्तेन विवरणं, अथवा,—आमिति कारणायकमप्यत्र, आम् किदृष्टं दृष्टनाया चक्षुस्त्वचेना ज्ञानमौनी अभवत्, तत् किञ्चित् श्रुत्वा स्मरन्, अ

वेदिकायस्यौ । अज्ज चारुदत्त । एत्थ सच्चं वत्तब्बं । पेक्ख  
पेक्ख, —

सञ्चेण सुहं क्खु लब्धमद्दं, सञ्चालावि ण होइ पादइ ।

सच्चं ति दुवेवि अक्खरा मा सच्च अल्लिएण गूहेहि १ ॥ ३५ ॥

अतः । आभरणानि आभरणानीति न जाने, किन्तु  
अस्मद्गृहाटानीतानीति जाने । (घ)

\* आद्यं चारुदत्त । अत्र सत्यं वक्तव्यम् । पश्य पश्य, —

- सत्येन मुखं खलु लभ्यते सञ्चालापी न भवति पातकी ।

सत्यमिति हे अपि अचरे मा मत्थनलोकं गृह्य ॥

अपरिभाष्य “हान् इदम्” इत्येतावन्मादनेधीक्षां चलच्चिन्तयथा पुनः तूष्णीम्भावः  
नाश्यादिति वेदितव्यम् ।

शकार । उज्जाणं पवेतिञ्च पटस सालेशि, वडड-  
कावडिअटाए शम्पट गिगूहेशि १ \* (ड)

अधि । आर्ये चारुदत्त । मत्स्यमभिधीयताम्,—

इदानीं सुकुमारिस्मिन् निशङ्क कर्कशा कशाः ।

तव गात्रे पतिष्यन्ति महास्माकं मनोरथै ॥ ३६ ॥

\* उज्जाणं प्रवेष्टुं प्रथमं सार्यासि, कपटकापटिकतया साम्प्रतं निगूहामि ?

सकाशात् विदूषकत्वात्तिकसतपासागमः ? इत्याशङ्क्यामाह, किन्त्वित्यादि ।—  
अस्मद्गहादेव—मदीयभवनादेव । आनीतानि—उपस्थापितानि, विदूषकेणेति शेषः ।  
इति—एतावन्मात्रमेवेत्यर्थः । जानि—वेदि, अहमिति शेषः । कथं हि यथाश्रुत  
विवरणम् आमूलादाविकरणिकसमच्च चारुदत्तेन न वर्णितमिति चेत्, अत्राय  
साशयः,—“यदि त्वहं यथाश्रुतमेवामूलमेतत् वर्णयेय, तदा स्वभाष्याया धृताया,  
चक्ष्याय रदनिकाया आह्वानं धर्माधिकरणे अपरिहार्यं भवेत्” इत्याशङ्कितं चारु-  
दत्तेन, तथैव तव लिप्तत्वात्, तथा च स्वजीवनार्थं कुलीनाया स्त्रिया, आत्मपार-  
जनभूतायाश्चेष्टया साध्यदानाशमाकारणा अतीव लज्जाकरोति विभाव्य, अभि-  
जात्यरक्षायमेव श्रुतविषयस्यावतारणा न कृता, तथा चास्य यथाश्रवादित्वा कथमपि न  
व्याकृतमिति बोध्यम् ।

( ड ) प्रवेष्टुं—प्रापयेत्यर्थः, वसन्तमेनामिति शेषः । कपटकापटिकतया—  
अतिकपटाचारतया इत्यर्थः, कपटपटसताधिकमपि शकारवक्तृत्वेन न दोषावह-  
मिति बाध्यम् । निगूहामि—गोपायामि, मिथ्याभाषणेन प्रकृतं स्वरूपोपेत्य ।

मिथ्याकथनस्य भोषणं परिणामफलमाह, इदानीमिति ।—सुकुमार—सुकुर्मलं,  
कर्कशकशाघातसहनाक्षमं इत्यर्थः, अस्मिन्—परिलिप्त्यमाणे, तव—त, गात्र—  
शरीरे, इदानीन्—अधुना अगतिविलम्बेनैवेत्यर्थः, कर्कशा,—कटिना, कशा,—  
प्रहरणावशेषा, अश्रुताडनसाधनानात् यावत्, अस्माकं मनोरथे,—आकांक्षायाम्,  
तव निदोषताप्रमाणानुसन्धानार्थं सततमेव व्याकुर्मेति शङ्कः, सङ्घ—साङ्गः,  
निशङ्कम्—प्राणविनाशो भवेन्न वेति शङ्कारहितं, निदोषमित्यर्थः, अन्त्यव निमग्नः  
यथा स्यात् तथैव पतिष्यन्ति—तव पारिणतिमया भावयन्ति, त्वा राजपुत्रा कशाभि-  
प्रहरिष्यन्तीत्यर्थः, अन्त्यव निराशस्वना भविष्यन्ति, यथा अस्माकं मनोरथानुसन्धान-  
ानुसारोपायसमुत्पन्नतः अपि अदुकूलप्राणाभावात् निरवलम्बेन सन्तानं प्राप्नु-  
यन्ति ( विक्रान्तं भविष्यन्ति इत्यर्थः ) तदा अविनश्यन्तैव तदीयसि परीराज्यदक-

चान् ।—

अपापाना कुले जाते मयि पाप न विद्यते ।

यदि सम्भाव्यते पापमपापेन च किं मया ? ॥ ३७ ॥

[स्वगतम्] न च मे वसन्तसेनाविरहितस्य जीवितेन  
कृत्यम् । (च) [प्रकाशम्] भो ! किं बहुना ?—

मया किल नृशसेन लोकद्वयमजानता ।

स्त्री रतिश्च विशेषेण शेषमेषोऽभिधास्यति ॥ ३८ ॥

भावयतीति समुदायात् । अतः ककशकशाना मनीरथानाञ्च युगपत् पतनासम्भवे  
ऽपि समकालिकत्वसम्बन्धेन तत्पतनसम्बन्धीकृत्या, पतनस्य सम्बन्धिभेदादेव भेदेऽपि  
अभेदाश्रयसनात् भेदेऽभेदरूपाऽतिशयोक्तिमूला सहोक्तिरलङ्कारः । पथ्यावक्त  
हृत् ॥ ३६ ॥

निर्दोषतापापने उपायान्तरादर्शनात् इताश्च सन्निधानौ सत्कुलजातस्य आत्मन  
द्वंद्वशपापप्रतिरेकसम्भवत् प्रदर्शयन् विलपति, अपापानामिति ।—अपापाना—पाप-  
गत्याना, पुण्यवतामित्यर्थः कुले—वर्गे, प्रातःस्मरणीये प्रख्यातसदृश इति यावत्,  
जाने—उत्पन्ने, मयि—चारुदत्ते इत्यर्थः, पाप—कलम, न विद्यते—न वर्तते,  
स्वप्रशोधनलीकृतदिग्गङ्गले अन्ववाये जातत्वेन मयि दीर्घलेशसम्भावनाऽपि  
नास्तीति भावः, तथाऽपि यदि—चेत् पापम—अथ, सम्भाव्यते—मन्यते, भवद्भि  
मर्थीति शेषः, तदा अपापेन—नास्ति पापः,—पापकस्मा इत्यर्थः, [पाप विद्यते अस्य  
इति पापशब्दादस्यर्थे अशङ्कादित्वाद्] यस्मात् तेन, द्वंद्वशदुक्त्वांनुष्ठानात्  
अतिपापीयसा इत्यर्थः, मया, मम जीवितेन चेति शेषः, किम् ?—किं प्रयोजनम् ?  
नास्ति किमपि प्रयोजनमित्यर्थः यद्वा,—मया अपापेन—नास्ति पाप यस्य तेन,  
पापशून्येनेत्यर्थः, कि—केन प्रकारेण, भूयते इति शेषः, यदि भवन्त विचार्य मा  
पापिममैव मन्यन्ते, तदा केनोपायेन अहम् आत्मन निर्दोषत्व प्रमापयामि इति  
भावः । अतः चारुदत्ते पापमस्तु प्रति प्रथमपादादस्य हेतुतया उपन्यासात् काव्यलिङ्ग  
रालङ्कारः । पथ्यावक्त हृत् ॥ ३७ ॥



शकार । बाबादिदा । (क) अन्ते तुमं पि भण, मए बाबादि-  
देत्ति । \*

चारु । त्वया एवोक्तम् । (ज)

\* व्यापादिता । अरे त्वमपि भण, मया व्यापादिनेति ।

मान असन्तमप्यपराध कथञ्चित स्वीकुञ्चन्नाह, मयेति ।—लोकद्वयम्—इहलोक  
परलोकश्च, इह जगति राजदण्ड-लोकापवादादिक, परव नरकभोगादिकश्च  
इत्यथ, विशेषेण रति,—रतिरूपा, एकमेव मे अनुरागपातं, न हि सामान्या  
स्त्री, किन्तु रतेरविशेषा एवैषेति, द्वितीया मूर्च्छितमती रतिरवेति वा तात्पर्यम् ।  
अन्यत् शिष्टं पूर्वं ( ४५० पृष्ठे ) व्याख्यातम् । [ “स्त्री रतिश्च” इत्यत्र “स्त्रीरवश्च”  
इति पाठान्तरम् ] । पथ्यावक्तव्यम् ॥ ३८ ॥

( क ) [ “बाबादिदा” इत्यत्र “तद्वा मि” इति पाठान्तरे,—“तथाऽपि” इति  
संस्कृते—त्वया वसन्तसेना व्यापादिनेति मयि अभिहितवत्यपौष्य , यदा,—तथाऽपि  
—पुनरपि, एवमसम्पूर्णं वदसि ? त्वयैव व्यापादिनेति स्पष्टमभिधीयतामित्यर्थः ।  
अरे । त्वमपीति ।—अहं किमेकाकी एतत् कथयिष्यामि ? भवानपि कथयतु, यत्  
अहमेव वसन्तसेना मारितवानिति ] ।

( ज ) उक्त,—कथित, “मया व्यापादिता इति” इति शेष, आरोपितस्वदीप  
चालनाय आत्मवाणाय च उपायान्तरमदृष्टा, तथा वसन्तसेनाविरादितस्य जीवनस्य  
दुर्बलत्व मत्वा च चारुदत्तेन मिथ्याऽपवादोऽपि आत्मकतत्वेन स्वीकृत इति धीयम्,  
वस्तुतस्तु परमधार्मिकस्य तत्त्वतः स्त्रीहत्यामकुञ्चत चारुदत्तस्य अभियोगस्य मिथ्यात्व  
ज्ञात्वापि आत्मकतत्वेन स्त्रीहत्याया स्वीकारं मिथ्यावादित्वदीपापातात् स तथा  
ऽयौक्तिकमेवैतत् प्रतिभाति, अतोऽवायमाशय उपवर्णयत, तथा हि,—उक्त—  
स्वमुखेन त्वयैव कथित, मया व्यापादिनेति पुनोक्तं वचनमिति शेष, भवान् वसन्तसेना  
व्यापादितवानिति तु निश्चितम्, अतः स्वमुखेनैव व्यापादिनेति अशास्त्रतया त्वया  
उच्चारितमिति तात्पर्यम् । चारुदत्त “मया व्यापादिता” इति पाप वचनं स्वमुखेन  
नाज्ञाय “शप अभिमनिधास्यति” इत्युक्तवान्, एवञ्च अस्या “त्वयैवोक्तम्” इति वारं  
दत्ताक्तो, आचक्षते “मया व्यापादिता” इत्युक्तवाक्यं स्मितम् अस्यापि शकारमय  
बोद्धव्यत्वेन लज्जयां करोति, न तु चारुदत्तमिति फलता वक्तुं निरदरावलम्बनायैव  
मेतदिति हृदयम् ।

शुक्रा । शुग्नेध शुग्नेध भट्टालका । एदेण सालिदा ।  
एदेण ज्जेव शशए छिस्से । एद३श टालिहचालुदत्त३श शालीले  
दण्डे धानीअदु । १० (भ)

अधि । शोधनक । यथाह राष्ट्रियः । भो राजपुरुषाः !  
गृह्यतामय चारुदत्त । [ राजपुरुषा गृह्णन्ति ] ।

वडा । पमादन्तु पमीदन्तु अज्जमिस्सा । (“जो तदाणि णासीकिद  
सुव्वमण्णए रत्ति चौरैरि अघहिद—” इत्यादि पूर्वोक्त पठति ) ता जदि  
वावादिदा मम दारिआ, वावादिदा , जीवदु मे दीहाज ।  
अस्स च—अत्थिपच्चत्थिण ववहारो, अहं अत्थिणो, ता सुव्वध  
एदम् । ११ (ज)

२ अदत्त अणुत भट्टालका । एतेन सारिता । एतेनैव सशयच्छिन्न । एतस्य  
दण्डिचारुदत्तस्य शारीरो दण्डो धाव्यताम् ।

† पमीदन्तु पमीदन्तु आत्थमिआ । (“यल्लदानीं न्यासीकृत सुवर्णभाण्डं रात्रौ  
चौरैरपहतम् इत्यादि पूर्वोक्त पठति ) । तस्य यदि व्यापादिता मम दारिका,  
व्यापादिता , जीवतु मे दोषाय । अन्यच्च—अर्थिप्रत्यर्थिनोर्व्यवहार , अहमर्थिनो,  
तस्य सुवर्तनम् ।

( भ ) सशय —वसन्तसेना अनेनैव सारिता न वा इति सन्देह । छिन्न,—  
खण्डित मिरल इति एवम् चारुदत्तेन स्वयमेव सापराधस्य स्वीकारादित्याशय ,  
एव अन्तर्धे चारुदत्तेन प्रयुक्तमपि “त्वयैवाकम्” इति वाक्यं दुष्टशकार स्वाभि  
प्रायादुक्त्वा व्याख्याय तस्य सापराधत्वम् अधिकरणिक विश्वासप्राप्तास इति बोद्धव्यम् ।  
शारीरो दण्ड —कषाप्रहार गुलारीपणादिरूपा देहिकी शान्तिरित्यर्थः । धाव्यताम्  
—अवलम्ब्यता विधीयतामित्यर्थः ।

शकार । अवेहि गर्भदासि । गच्छ, किं तव णट्टिणा ? (ट)  
अधि । आर्य्ये । गम्यताम् । हे राजपुरुषाः । निष्क्रामयत  
एनाम् । (ठ)

वडा । हा जाद । हा पुत्तअ । † [ इति रुदती निष्क्रान्ता ] ।

शकार । [ स्वगतम् ] कडं मए एदण्ण अत्तणो गलिण, (ड)  
शस्यद गच्छामि त्ति । ‡ [ निष्क्रान्त ] ।

अधि । आर्य्य चारुदत्त । निर्णये वयं प्रमाणं, श्रेष्ठे तु  
राजा । तथाऽपि शोधनक । विज्ञाप्यता राजा पालक . (ढ) —

\* अपेहि गर्भदासि । गच्छ, किं तवैतेन ?

† हा जात । हा पुत्रक ।

‡ कृत मयैतस्य आत्मन सदृशम् , माम्प्रत गच्छामीति ।

अख्यणी” इति पाठे—“न चाहमर्थिनी” इति संस्कृत, तथा समैवार्थित्वे सत्यपि  
नाहमस्य दण्डप्रायिनोत्यथय बोध्य ] । सदुद्भूत निधनात् मयैव वादित्वे विद्यमाने  
ऽपि नैवाहमस्य दण्डमथये, अपि तु सुक्तिम्, इति मनसि कृत्वाऽऽह, ता इति ।—  
एन—चारुदत्तमित्यथ । सुष्ठुत—परित्यजत, नास्य दण्ड विधत्ता, वाटिणा मया  
अभियुज्यत चेत्, तदैव विचार्यमधिकरणिकेन, न तु कस्यचिददामीनस्याभिप्रीये  
विचार कर्त्तव्य इति भावः । एतत्तु स्वीस्वभावचापल्यादवोक्तं, वस्तुतस्तु हत्याऽपराधे  
राजा स्वयमेव अर्थो भवतीति निप्रसंगो बोध्यः ।

( ट ) एनेन—चारुदत्तेने यस्य । किम् ?—किं प्रयोजनम् ? अनेन सह तव  
क सम्बन्धः ? किं वा अयं ते सावप्रियति ? तेनाम् भोषितुं त्वया दृढशो प्राथना  
कियते इति भावः , अथवा—एतन्—अनेन व्यवहारसमानाचनेन इत्यथ , यतोऽयं  
हत्याऽपराधेनाभियुक्तः , अतः राजपुरुषा नैनं मील्यन्ति, ततः कथं तया प्रत्यपाम इति  
तात्पर्यम् ।

( ठ ) राजपुरुषा ।—रक्षिणः । निष्क्रामयत—वहिर्नयत । एन—वडा,  
वसन्तसेनामातरमित्यथ, [ अत्र गत्यथकत्वात् “एनाम्” इति प्रयोज्यकत्वं कथ्यते ] ।

( ड ) एतस्य—चारुदत्तस्य सम्बन्धे । आत्मन,—वयम् । सदृशम्—एतदपमं ,  
अहन्तु यादृकं चतुरं, तथाविधं कौटिल्यं स्वधिर्मेव नमर्वावतवान् इति भावः

( ढ ) निर्णये—दोषित्वादोषत्वावधारणः । प्रमाणं—हन्तुं, अधिकारिण इत्यर्थः ।

अथ हि पातकी विप्रो न बध्यो मनुरब्रवीत् ।

राष्ट्रादस्मात् तु निर्वास्थो विभवैरक्षतैः सह ॥ ३८ ॥

शीघ्रनक । ज अज्जो आणवेदि । [इति निष्क्रम्य पुनः प्रविश्य सासम्(ण)]  
अज्जा । गदस्मि तच्चि , राआ पालओ भणादि,—“जिण अत्य-  
कल्लवत्तस्स कारणादी वसन्तसेणा बाबादिदा, त ताइं ज्जेव

५ यदर्थं आज्ञापयति । आर्या । गतोऽस्मि तत्र , राजा पालकी भणति,—

दोषिन्नादोषित्वनिरूपणपर्यन्तमेशमाकमधिकार , इतः अन्यस्मिन्नस्माक शक्तिर्नास्ति  
इति भावः । जदे—एवमिष्टे व्यापारे, अपराधिन विमोचने दण्डविधाने वा इत्यर्थः ।  
राजा—नृपते, प्रमाणमिति शेषः , राजा चेद्विच्छति, तदा अपराधिन लघु  
दण्डविधानं विमोचनं वा कर्तुं शक्नोति न तु विचारका , ते तु केवलं दण्डनीतिमेव  
अनुसरन्ति, ततः पदैकमपि गन्तुं न हि प्रभवन्ति इति भावः । तथाऽपि—राज  
अभिलाषानुसारिण दण्डदानाधिकारि सत्यपि इत्यर्थः । विज्ञाप्यता—निवेद्यता, वक्ष्य  
माणं शास्त्रशासनं दण्डनीतिश्च इति शेषः । [पालक इति प्रयोज्यकर्तुं कम्मणि  
उक्तत्वं णिचि कम्मणि प्रयोज्यकर्तुं प्रायशः तथात्वदर्शनात्] ।

अपराधिनो दण्डविषये स्वमतं विज्ञापयितुं मनूक्ता दण्डनीतिमुल्लिख्य राज्ञि  
पालके आवेदनोद्यमाद्, अयमिति ।—अथम्—अभियुक्तः, विप्रः,—ब्राह्मणः , चारु  
वत् इत्यर्थः पातकी,—स्वोक्तमनुष्यपपापकर्मा, ( तथापि ) न हि—नैव, बध्यः,  
—विनाश्यः, प्राणदण्डाहं इत्यर्थः, इति मनु,—धर्मशास्त्रप्रणेता स्वमतप्रसिद्ध  
न्यायविशेषं अब्रवीत्—अकथयत् अतः, अक्षतैः,—अविनष्टैः, समर्थैरिति यावत्,  
दिभैः—धर्मैः, सह—सार्द्धम् ( अथम् ) अस्मात्—भवदधिकृतादित्यर्थः , राष्ट्रात्  
—राज्यात् निवास्य—दूरीकृतव्यः । पातकिनो विप्रस्य प्राणदण्डमकृत्वा निर्वासने  
भद्रवचनं यथा—‘न जानं ब्राह्मणं इत्याम् सञ्जपापेवपि स्थितम् । राष्ट्रादेन  
वहिष्कृतात् समदधनमन्वनम् ॥ इति, “नौण्डा प्राणान्तिकी दण्डो ब्राह्मणस्य  
विधीयते” इति च । तथा च हत्याऽपराधिनं ब्राह्मणस्य तदीया सकला सम्पत्तिः  
तस्मै दत्त्वा राज्यादेवासी निष्काशनीय इति मानवी दण्डनीतिः, तत्र भवता किमभि  
मतं कीदृशं दण्डनं इत्यादि । पण्णादुक्त्तं वचनम् । ३८ ॥

( ५ ) सासम्—असम्—नैतज्जलनं सह विद्यमानं, सरोदनमित्यर्थः । (“असु  
पण्णादुक्त्तं वचनम् ५ इत्यमरः ) ।

आहरणाद् गले बन्धिञ्च डिङ्गिडम ताडिञ्च टक्किणममाण गडञ्च  
सूले भज्जेध त्ति । जो को वि अवरौ एरिम अकत्तञ्च अणु  
चिद्धटि, मो णटिणा सणिआरदण्डेण मामीअटि” । \* (त)

चारु । अहो । अविमृष्यकारी राजा पालक' (य) । अथवा,—

ईदृशे व्यवहाराग्नौ मन्त्रिभिः परिपातिताः ।

स्थाने खलु महीपाला गच्छन्ति कृपणा दशाम् ॥ ४० ॥

“यैन अथकल्यवर्त्तस्य कारणात् वसन्तसेना व्यापादिता, त तान्नेव आभरणानि  
गले बद्धा डिङ्गिडम ताडयित्वा टक्किणममाण नीत्वा शूल भडक्त इति । य  
कोऽप्यपर ईदृशमकायमनुतिष्ठति, स एतन् मनिकारदण्डेन शिष्यते” ।

( त ) तव—राज्ञ पालकस्थान्तिके । भणति—आदिशसौत्यथ । डिङ्गिडम—  
राजादेशघोषणोक्त्या वाद्यमान यन्त्रविग्रहम् । ताडयित्वा—वादयित्वा इत्यथ ।  
टक्किणममाण—टक्किणदिग्वस्थित शवदाहस्थान, वधस्थान वा इत्यथ, [ ममाण  
मिति “मण् शब्देन शव प्रीकृतं शानं तत्स्थानमुच्यते” इति वचनात्, मणानं शवा  
शरते अथ इति व्युत्पत्त्या शने इत्यस्मात् धातोरानच्, डिक् ] शूल—शूलस्योपरि,  
आरोप्येति शेष । भडक्त—मारयत इत्यथ । [ अनुतिष्ठति इत्यत्र “आशमाया  
भुतवच्च” ( ३ । ३ । १३२ पा० ) इति आशमार्थे भावयत्कालं लट्प्रयोगो बीज,  
अनुठास्यतीत्यथ ] । मनिकारदण्डन—मापमानदण्डेन । शिष्यते—दण्ड्यते, शान  
जीर्था भविष्यतीत्यथ ।

( य ) अहो—विस्मये, विषादे वा । अविमृष्यकारी—अविवेक, अमद  
विचारक इत्यथ, यतोऽयं विग्रहवृत्तान्तमनात्वेव दण्डप्रदायीति भावः । [ अविमृष्य  
—पौर्वोपपद्यसदृशैव करोति इति कर्त्तरि णिनि ] ।

पूर्वमविमृष्यकारित्वेन राजानं विनित्य पत्नान्तरेण तदविमृष्यकारिताया  
कुमन्त्रिबुद्धिपरिचालनामूलकतया कुमन्त्रिदोषिणैव तदोपमाह, ईदृशे जात ।—  
मन्त्रिभिः,—कुमन्त्रितामात्रेणेत्यथ, ईदृशे—एवमकार, अतिदण्ड इत्यथ, एव  
दारायो—विचारदण्डनरूपवद्भौ, परिपातिता,—सन्तोषावेन नित्यता, अर्ध  
गमिता इत्यथ, महीपाला,—राजानं, कृपणा,—दीनं नरकपातदुर्गमतामिनं  
यावत्, दशाम्—पञ्चमा, [ “दशाम्” इत्यत्र “ययम” इति पाठः—कृपणा—पञ्चमा,  
द्विथ—सम्यद, मन्त्रिपरतन्त्रस्य स्वयमविमृष्यकारिण मन्त्रेणैव समायागणात् दि

अपि च ।—ईदृशैः श्वेतकाकीयै राज्ञः शासनदूषकैः ।

अपापाना सहस्राणि हन्यन्ते च हतानि च ॥ ४१ ॥

सखे मैत्रेय । गच्छ, महचनादस्वामपश्चिरम् अभिवाटयस्व,  
पुत्रश्च मे रोहसेन परिपालयस्व । (द)

षट् । मूले क्खिस्से कुदो पादवस्स पालणं १ \* (ध)

\* मूले क्खिस्से कुत पादपस्य पालनम् ?

श्रीश्वर बाध्यम् ] गच्छन्ति—प्राप्नुवन्ति, इति यत्, तत् स्थाने खलु—युक्तमेव,  
(“युक्ते हे साम्प्रत स्थाने” इत्यमर ) , सन्निष्ठा दीर्घनिर्दोषत्वनिर्णयाधिकारित्वात्  
राज्ञश्च तन्मतमवलम्ब्यैव दण्डदातृत्वात् तेषा निर्दोषदण्डविधानजन्यनिरयगामित्वे  
कुमन्निष्ठा एव हेतव इति भावः । अत्र व्यवहाररूपे निरपराधे विषये अग्नेस्मादात्मा  
ध्यासात् रूपकमलङ्कारः । पद्यावक्तृ हस्तम् ॥ ४० ॥

राज्ञानदण्डदण्डविधानादिरूपेऽविमृष्यकारित्वदीर्घे कुमन्निष्ठामेव हेतुत्वं दृश्य-  
न्नाह ईदृशैरिति ।—श्वेतकाकीयै,—युधवर्णकाकतुल्यै, यथा युधवर्णा काका हि  
केवलं वह्निं मुह्यन्वा परमतीवानिष्टजनका, तथा कुमन्निष्ठा वह्निर्दर्शितसाधुभावा  
अलङ्कृता इति भावः, ईदृशैः,—एवमकार्षे, वह्निं साधुभिरन्तर्विधैरिति यावत्,  
राज्ञः—दूषकः शासनदूषकैः—शासन—दण्डनीति, दूषयन्ति ये तै तथीर्त्तै, अथवा-  
व्यवहारदर्शिमरित्वय, सन्निभिरिति शेषः, अपापाना—निरपराधाना, सहस्राणि—  
षड्नि इत्ययं, बहुसहस्रसङ्ख्याका निरपराधा जना इति यावत्, हतानि—मारितानि,  
प्राणित इति भावः, हन्यन्ते—नाशयन्ते च, इदानीमपीति शेषः । [ युधवर्णकाकानां  
भारतं षट्पञ्चोपि ‘षट्कलिया’ इति नाम्ना ख्याते द्वीपान्तरे तादृशा काका  
सन्ति इति प्राणितत्त्वविहिरामननात् न तेषामप्रसिद्धत्वं इति सुधीभिरवधातव्यम् ] ।  
पद्यावक्तृ हस्तम् ॥ ४१ ॥

चारु । मा मैवम्, (न)—

नृणां लोकान्तरस्थानां देहप्रतिकृतिः सुत ।

मयि यो वै तव स्नेहो गोहसेने स युज्यताम् ॥ ४२ ॥

विदू । भो वयस्य । अहं ते पित्रवयस्यां भवित्र तुए विर-  
हिदाइं पाणाइं धारमि ? (प)

\* भो वयस्य ! अहं ते पित्रवयस्यो भूत्वा त्वया विरहितां प्राणान्  
धारयामि ?

दिना त्वत्पुत्रस्य जीवनरक्षणं न सम्भवति इति भावः । अत्र मूलच्छेदानन्तरं पादपस्य  
रक्षणासम्भवरूपपादप्रस्तुतात् चारुदत्तविनाशात् परं तत्पुत्ररक्षणासम्भवरूपस्य प्रस्तु-  
ताशस्य प्रतीतेरप्रस्तुतप्रशसां नाम अलङ्कारः ।

( न ) एवम्—इत्य, “मूले किन्ने कुत पादपस्य पालनम्” इत्येवरूपमित्यत्र,  
वचनमिति शेषः । मा मा—न हि न हि, वादी इति शेषः, नैव कथय नैव कथय  
इत्यर्थः ।

समाभावे मत्पुत्रस्य पालने असामर्थ्यापनरूपगुणाशकस्य “मूले किन्ने” इत्यादि  
वाक्यस्य प्रत्युत्तरं “मा मा” इत्यादिना यदुक्तं, तदेव समर्थयितुं पितुं पुत्राभिलष-  
माह, नृणामिति ।—सुतः,—पुत्रः, लोकान्तरस्थानां—अन्यं लोकं इति लोकान्तरः,  
तव स्थितानां, परलोकगतानामित्यर्थः, नृणां—पुरुषाणां, देहस्य—शरीरस्य, प्रति-  
कृतिः,—प्रतिरूपः, पुत्रं पितुर्द्वितीयो देह इति भावः, सुतस्य स्वदेहप्राप्तकृतिवि-  
श्रुतिप्रमाणं यथा,—“आत्मा वै जायते पुत्र” इति, स्मृतिरपि यथा,—अज्ञा-  
दज्ञात् सम्भवसि हृदयादभिजायसे । आत्मा वै पुत्रनामास स जीवः प्रयति प्रयति ॥  
इति, अतः मयि—तवाकृतिमिव चारुदत्ते इत्यर्थः, तव—ते, तवपुत्र इत्यर्थः,  
यः,—यादृश इत्यर्थः, वै—एव स्नेहः,—प्रणयः, गोहसेने—तदाग्रे समाश्रित्य, सः,  
—तादृश एव स्नेह इत्यर्थः, युज्यताम्—अर्प्यताम्, पितुर्लोकान्तरतत्पदस्य मत्स्य  
तदङ्गजत्वेन तत्प्रतिकृतिरूपत्वात् पुत्रजीवनरक्षणेनैव पितुं सत्ता सम्भवति तथा मा  
न य स्नेहः अस्ति, स चेत् गोहसेने अप्यते, तदा मध्येव अर्पितो भवति अतः तव  
न समीचीनमिति भावः । अतः वै इति पादपूरणे अप्रयत्नमिति काचित् । अतः तव  
रूपम् ॥ ४२ ॥

( प ) तव विनाशे समं विन । । तव विनाशे तव विनाशे तव विनाशे तव विनाशे

चारु । रोहसेनमपि तावद्दर्शय । (फ)

विदू । एवञ्जुज्जटि । ३ (ब)

अधि । भद्र शोधनक । अपसार्यतामय वटु । (भ)

शोधनक । [ तथा कराति ] ।

अधि । क कोऽत्र भो । चण्डालानां दीयतामादेश । (म)

[ इति चारुदत्तवस्तुन्य निष्काला सर्वे राजपुरुषा ] ।

शोधनक । इदो आअच्छदु अज्जो । १\*

चारु । [ सकृत् एव ( २ ) ] “मैत्रेय भो । किमिदमद्य” [ इत्यादि

पठति । आकाश ( २ ) ] ।—

\* एव युज्यते ।

+ इत आगच्छत आर्य्य ।

मित्याह, भो । इति ।—धारयामि ?—धनुस्तुहो किमित्यथ, प्रियवयस्तेन त्वया विरहित अह जीवितुमेव न शक्यामि, ततश्चाहमेव अजीवित, कथं रोहसेन पालयामि स्त्रियामि वा इति भावः ।

( फ ) अपिरव अनुज्ञायाम् । दर्शय—साक्षात्कारय, मामिति शेषः ।

( ब ) एवञ् इति स्वीकाराद्यकमव्ययम्, दशयानीत्यर्थः । युज्यते—युक्तियुक्तो भवति आत्मजदशनाभिलाष इति शेषः ।

( भ ) अपसार्यता—स्थानान्तरं नीयताम् । वटु,—विप्रवाहक, विदूषक इत्यर्थः, चारुदत्तविदूषकयोर्विलापभयिष्ठा परस्परोक्तिमुपश्रुत्य स्त्रियेनाधिकरणिकेन प्रशान्त्यर्थं धर्माधिकरणस्य च सुतारं सुखिदृष्टाभिधीयमानैर्विदूषकवचोभ्यां शान्तिं भङ्गमाशङ्क्य तस्मिन्नात विदूषकस्यापसारणाद्यनुसन्तिरदीर्घतेति, यद्यपि वटुपदस्य सागवकाशत्वमभिधाने दृश्यते तथाप्यत आलोक्यते विदूषकविप्रलापश्रुत्वा वटुमिहोपि तस्मिन् अथवा वटुत्वनापीपितमित्यवधातव्यम् । [ “वटु” इत्यत्र “वह्नि” इति पञ्चान्तरसंस्कृतपाठः ] ।



विष-सलिल-तुलाग्नि प्रार्थितं मे विचारे

क्रकचमिह शरीरं वीक्ष्य दातव्यमद्य ।

अथ रिपुवचनाद्वा ब्राह्मण मा निहमि

पतमि नरकमध्ये पुत्रपौत्रैः समेतः ॥ ४३ ॥

अयमागतोऽस्मीति । [ निष्क्रान्ता सर्वे ] ।

इति व्यवहारो नाम नवमोऽङ्ग समाप्तः ॥ ८ ॥

निरपराधस्य स्वस्य अविचारिण जीवनदण्डादृशदानात् राजानम् अधिकर-  
णिक वा आकीर्णनाह, विधेति ।—विधेण—शरलेन, सलिलेन—कलेन, जल-  
निमज्जनेनेत्यर्थः, तुलया—तुलायन्त्रस्योपरि आरोपणेनेति यावत्, अग्निना—  
अनलमध्ये निक्षेपेण वा, प्रार्थितं,—याचितं, मयेति शेषः, तस्मिन्,  
विषादिभिः परीक्ष्य निष्पादनौघे इत्यर्थः, मे—मम, विचारे—मय्यारोपितस्य दुर्भ-  
योगस्य तत्त्वनिर्णये सति इत्यर्थः, विषादिपरीक्षया मदपराधस्य तत्त्वनिर्णयो भवतु  
इति सहर्षं मत्प्राप्तिते सतीति यावत्, वीक्ष्य—विशेषेण दृष्ट्वा, प्रोक्तपरीक्षाभिरुक्त  
पापो न वेति पूर्वं सम्यक् विचार्य इत्यर्थः, यदि पापं विद्यते, तदा विषमजले  
सलिलमज्जने वा प्राणवियोगः, अपापस्य तु तत्करणेऽपि न तथा, तुलादण्डेन  
योजने पापो गुरुर्भवति, तेन च पापिनः आधारभूततुल्यैकभागः अधो याति,  
अपरभाग ऊर्ध्वमुत्थितो भवति, अपापयेत् तदधिष्ठिततुलाभाग ऊर्ध्वमुत्थितो भवति,  
अपरभागश्च गुरुर्भूत्वा अधो यातीति, अग्निप्रवेशे वा तत्र धारणे पापिनः शरीरस्य  
वा तदण्डस्य दाहः, अपापत्वे तु न तथेति परीक्ष्य इति यावत्, निगद्यविधौ  
विषादिपरीक्षा च याज्ञवल्क्येनाज्ञा यथा,—“तुलाग्न्यापो विष कोपो दिव्यानाह  
विशुद्धये । महाभियोगेवेतानि शीर्षकस्येऽभियोगात्तरि ॥” इति । अन्य—वर्तमान-  
दिने इत्यर्थः, इह—अस्मिन्, शरीरे—देहे, क्रकच—करपत्रं, त्रनादिविषाटनकर-  
खुरधारः अस्वविशेष इत्यर्थः, (“करात्” इति वङ्गभाषा ) दातव्यं—दातुमुचितम्,  
अधिकरणिकस्येति शेषः, विषादिपरीक्षेण समापराधित्वे नि मग्नो भूत्वा अधिकर-  
णिकः यदि अतीव यत्नणादायकेन क्रकचेनापि मम प्राणदण्डं विनष्टान्, तदा  
मे किमपि वक्तव्यं न स्यादिति भावः । इयमस्यानेपौक्तिकीत्या, वस्तुतस्तु विषय-  
व्याप्तं धर्मशस्त्राविरुद्ध एव विचारः कृतः, स्यादैव,—“विषादेऽन्वयान्न न  
समाभवे तु साक्षिणः । सान्द्रभावात् ततोऽपि प्रवदन्तं कर्तव्यम् ।” इति

तथा च प्रोक्तालौकिकप्रमाणरूपस्य दिव्यस्य पूर्वोपात्तयो पतसाचिणोरभावे एवानु-  
 शिष्टत्वात् अथ च सालिभिरेव निर्णयस्य निष्पादितत्वात् दिव्यकरणे आगही न  
 कृतीऽधिकरणिकेनेति सुधीभिरवधातव्यम् । तथाऽकरणान् साक्रीशमाह, अथेति ।  
 —अथ—यदि, रिपुवचनात्—रिपो—शत्रो', शकारस्य इत्यथ, वचनात् वा—  
 वाक्यादेव, यदा,—वा,—पक्षान्तरे ( “वा स्याद विकल्पोपसयीरेवार्थेऽपि ससञ्चये”  
 इत्यमर ) ब्राह्मण—विप्र, मां—चारुदत्तमित्यथ, निरपराधमिति यावत्, ब्राह्मण-  
 तथा निष्पापतया च अवध्यमिति भावः, निहसि—मारयसि, तदा पुत्रपौत्रैः,—  
 तनय तत्पुत्रयादिभिः, समेत,—सहित, नरकमध्ये—निरयान्त, पतसि—  
 गच्छसीत्यथ, अवश्य निरयगामी भविष्यसीति यावत् । निरपराधदण्डस्य नरक  
 फलकत्वमाह मनु,—“अदण्ड्यान् दण्डयन् राजा दण्ड्यादैवाप्यदण्डयन् । अयं शो-  
 महडाप्नोति नरकश्चैव गच्छति ॥” इति । अथ दण्डदातु पुत्रपौत्रादिभिः साहं  
 नरकनयपतने, रिपुवचनमात्रमाश्रित्य निरपराधब्राह्मणहननस्य निष्पादकहेतुत्वेनो-  
 क्तत्वात् वाक्याग्रहेतुक काव्यलिङ्गमलङ्कारः । सालिनी हस्त, ‘ननमयययुतेय  
 सालिनी भोगिलोके’ इति लक्षणात् ॥ ४३ ॥

इत्यप्यगाम्वाटवीमञ्जरणपञ्चालन-पण्डितकुलपतिना वि, ए, उपाधिधारिणा  
 श्रीमज्जीवानन्दविद्यासागरभट्टाचार्येण विरचिताया, तदात्मजाभ्या  
 पण्डितश्रीमदायवीधविद्याभूषण-पण्डितश्रीमन्निजवीधविद्यारत्नाभ्यां  
 प्रतिसंस्कृतायाममलाख्याया मञ्जुकटिकत्याख्यायां  
 नवमोऽङ्कः ॥ ८ ॥

## दशमोऽङ्कः ।

[ तत्र प्रविशति चाण्डालइवेनातुगम्यमानचारुदत्त ] ।

उभौ ।—

तर्किं गा कलत्र काल्पण्यं नववध वन्धनअणे गिउणा ।

अचिलेण शेशक्खिअण शूलालोवेण कुशलम् ॥ १ ॥

ओशलध अज्जा । ओशलध । एषि अज्जचालुदत्ते, ॥—

\* तत्र किं न कलत्र कारण नववध वन्धनयने निपुणौ ।

अचिरेण शीर्षच्छेदनं शूलारोपेण कुशलौ च ॥

† अपमृत आर्यो । अपमृत । एष आर्य-चारुदत्त, —

चारुदत्तं विनाशयितुं दक्षिणश्मशानं नयन्तौ घातकौ तेषां गमनकारणमज्ञानत्वं कश्चनप्रस्थाहृतुं, “तर्किं” इति ।—तत्—प्रज्ञात, इत्यस्य विदितमित्यर्थः, कारण—हृतुम्, अनेन पथा गमने इति भावः, किं न कलत्र ?—विचारय ? इत्यर्थः, अस्माकं गमनप्रयोजनं किं त्वं न जानासि ? तत् किमिति विशिष्य आह, नववधः ।—नव, —नूतने, वधे—नाशः, तथा वन्धे—वन्धनविषये, यथा,—नव,—नूतन, ॥ १ ॥ ५५ वन्ध, —वन्धन, तत्र यत् नयन—साधनं तस्मिन्, अभिनववधदण्डाभावात्तस्य वन्धनं सम्पादने इत्यर्थः, [ ‘साधुनिपुणाभ्यामज्ञायाम्’ ( २३४३ पा० ) इति सूत्रेण सूतस्यो ] निपुणौ—दत्तौ ( अत्र आवास् इति कर्तृपदमव्याहरणोक्तम् ) अचिरेण—शीघ्रम्, शीघ्रम्,—शीघ्रम्, छेदनेषु—कर्तव्येषु, तथा शूल—शूलरूपेण, आरोपे—आरोपणे वध्यमिति शेषः, कुशलौ—अभिज्ज्ञौ, [ ‘आयुतकुशलम्याम्’ ( २३४० पा० ) इति सूत्रेण कुशलशब्दोपागतं सूतस्यो ] च—भवात्, अत्र ववादिमानस्य नववधवधादिषु नेपथ्यं प्रकाशयितुं तथा शीघ्रच्छेदनादप्युक्तं कुशलं प्रज्ञादा तु स्तनाभावप्राप्तेर्गमनमिति भावः । [ ‘व’ इत्यस्य भविष्यत्कार्त्तव्यत्वं लट् । कालत्र इत्यस्य दण्डादनुगन्धादनुत्पत्त्याभावः । उपगोति इत्यत्र, तत्र नववध इति,—“अ ४ ३५४ तु नूतनदण्डमाहुरुदगीतिम्” इति ॥ १ ॥

दिस्सुक्कलवीलदामे गहिदे अस्सेहि बज्जभपुल्लिसिंह ।

दीवे व्व मन्दस्सेहे धोअं धोअ खअ जादि ॥ २ ॥

चारु । [ सविषाणम् ]—

नयनमल्लिलसिक्त पाशुरूक्षीकृताङ्ग

पितृवनसुसनीभिर्वेष्टित मे शरीरम् ।

दत्तकरवीरदामा गृहीत आशम्या बध्यपुरुषाभ्याम् ।

दीप इव मन्दस्सेहं स्तोकं स्तोकं लयं याति ॥

चारदत्तस्य हत्यापराधज्ञापकवैशम्पयण्यन् बध्यतेनास्य स्वत एव क्रमशः  
चयित्वमाह दत्तेति ।—दत्तकरवीरदामा—दत्तम्—अपित करवीरम्—प्रतिहासा  
परपण्याऽकस्य रक्तवर्णपुष्पाविशेषस्य, दाम—माल्य यस्मै स, करवीरमाल्यभूषित-  
कण्ठ इत्यर्थ ( रक्तमाल्येन रक्तचन्दनेन च बध्य अलङ्कियते इति प्रसिद्धि ) दध्य-  
पुरुषाभ्या—बधे—बधविषये साधू इति बध्यौ [ “तव साधु ” ( ४।४।८८ पा० ) इति  
सूत्रेण यत् ] बधनिपुणौ इत्यर्थ, तौ च तौ पुरुषौ चेति ताभ्या, घातुकाभ्यामित्यर्थ,  
आशम्या—चाणालहवेनेत्यर्थ, गृहीत,—धृत, “एष आय्यचारुदत्त ” इति  
पूर्वाक्तगण्यवाक्येनावय मन्दस्सेह,—मन्द,—अल्प, रेह,—रैह, पद्दि—टिका,  
देहस्थघातुरसी वा यस्य तर्थाक्त, दीप,—प्रदीप इव स्तोकं स्तोकम्—अल्पमल्प,  
शनै शनै यथा तथेत्यर्थ, लय—नाश, यात—गच्छति, प्राप्तासीत्यर्थ, स्तौ, स्तौसी -  
दीपो यथा शनै शनै निवाति, तथा रक्तकरवीरादिवध्यचिह्नार्पणेनैव आत्मन  
नाशनिश्चयात् अस्य प्रतिक्षणं देहस्थयो जायते इति तात्पर्याद्य, “अशने पतने न  
वेदना पतनज्ञानमतीव दुःसहम्” इतिवत् मरणापेक्षया मरिष्यामि इति ज्ञानस्यैव  
दुःसहत्वादिति भावः । अतः श्लिष्टविशेषणेन मन्दस्सेहपदार्थेन विशेषितयो चारु-  
दत्तदोषशोरवैधर्म्यं साम्प्रतीतिं हेतुानुपाणितीपमाऽलङ्कारः । अस्सेहि इत्यत्रापि पुष्प-  
बध्यन्त्याऽनुराधादवानुस्माराभावः । सादुस्मरते तु अगत्या लघुतया पाठ्यम् । आश्या  
हमस । २ ॥

विरममिह रटन्तो रक्तगन्धानुलिप्त

बलिमिव परिभोक्तुं वायसास्तर्कयन्ति ॥ ३ ॥

चाण्डाली । ओशलध अज्जा । ओशलध \* ।—

किं पेक्ख १ ? छिज्जन्तं शप्पुलिशा । कालं पल्लशु धालाहि ।

शुअणं शउणाधिवासं शज्जनं पुलिशदुमं एदं १ ॥ ४ ॥

\* अपसरत आद्या । अपसरत ।—

† किं पश्यत ? छिद्यमानं सत्पुरुषा । कालं परगुधाराभ्याम् ।

सुजनं शकुनाधिवासं सज्जनपुरुषदुर्ममेतम् ॥

कृतानि—धूसराणि, अङ्गानि—अवयवा यस्य तत तथोक्तं, तथा पितृवनसुमनीभिः,  
—पितृवनं—ग्रमशानं, बधस्थानं वा, ( “ग्रमशानं स्यात् पितृवनम्” इत्यमरः ) तस्य  
सुमनीभिः,—तत्र भवैः, तत्र गमनसूचकैर्वा पुष्पैरित्यर्थः, ( “स्त्रियः सुमनसः पुष्पं प्रमृज्य  
कुसुमं समम्” इत्यमरः ) करवीरपुष्पैरिति यावत्, ( प्राक् करवीरस्यैवीकृत्वात् )  
वेष्टितं—परिवृतं, रक्तगन्धेन—रक्तेन—रक्तवर्णेन, गन्धेन—घृष्टचन्दनेन, घृष्टरक्त-  
चन्दनेन इत्यर्थः, अनुलिप्तं—परित्यागः, सञ्चितमित्यर्थः, मे—मम, शरीरम्—अङ्गं,  
बलिमिव—काकादिप्रदेयभृतयस्त्रोयद्रव्यमिव, ऐश्वदेवात् दीयमानं पुत्राद्रव्यमिव वा,  
तन्तुं काका एव भुञ्जते, अत एव तेषां “बलिमुक्तं, बलिपट” इति मनादयम्,  
काकादिभ्यो बलिप्रदानमाह मनु,—“शुनाञ्च पतितानाञ्च श्वपचा पापरीणिणाम् ।  
वायसानां क्लृप्तोणाञ्च शनकैर्निर्वपेक्षुवि ॥” इति । परिभोक्तुं—खादितुं, तत्र यान्तं  
—उत्प्रेक्षन्ते, अस्माभिर्गतं भक्षणीयमिति विचारयन्तीत्यर्थः । अदीपमानस्तत्र  
बलिना साह्रं शरीरस्यावैधर्म्यसाम्यप्रतीतिरूपमाऽलङ्कारः । मालिनी वृत्तम् ॥ ३ ॥

सज्जनस्य विनाशदर्शनं साधूनामनुचितमिति तास्ततो निवर्धयन्त्यावाहयत्,  
किमिति ।—हे सत्पुरुषा ।—साधवः ।, चारुदत्तस्य बधः द्रष्टुमागता इति भावः,  
सुजना,—सहृदयमानवाः, एव शकुनाः,—पक्षिणः, तेषाम् अधिवासः,—आश्रयः  
तः, सज्जनपुरुषः,—साधुपुरुष एव, दुर्ममः,—वृक्षः तं, पक्षिणो यथा वृक्षमाश्रित्य  
तिष्ठन्ति, तथा बहवः सत्पुरुषा दुर्ममरूपमस्ममेव साधु चारुदत्तमाश्रित्य अतीत्यन्ति  
इति भावः, कालपरगुधाराभ्यां—काल एव—कृतान्त एव, कृतान्तश्च द्रष्टव्य इत्यर्थः,  
यदा,—कालः,—कृतान्त इव, तस्य सारकत्वादिति भावः, परगु—परगताः, परगु-  
धाराभ्यां—तेजसादभागाभ्यां, [ अण्डालस्य पितृन् परगुधाराभ्यां निवर्धयन्त्यावाहयत् ]

आअच्छ ले चालुदत्ता । आअच्छ । ॥

चारु । पुरुषभाग्यानामचिन्त्या खलु व्यापाराः, यदह-

मीदृशी दशासनुप्राप्त । (क) —

सर्वगात्रेषु विन्यस्तै रक्तचन्दनरुस्तकैः ।

पिष्टचूर्णावकीर्णश्च पुरुषोऽह पशूक्ततः ॥ ५ ॥

० आअच्छ र चारुदत्त । आअच्छ ।

आशब्धा विधृताभ्यामिति ३५ क्लियमान—।वपायमान विनाशमानमिति यावत्,  
एत—चारुदत्तमित्यर्थ किं पश्यतः ?—किमवलीकयतः ? न युक्तमीदृशसाधनन  
द्रुन् अत अपसरत इति भावः । [“क्लिज्जन्त शप्पुलिशा” इत्यत्र “क्लिज्जन्त शप्पु-  
लिश” इति “शप्पुलिश वज्रकन्त” इति च पाठान्तरद्वये “क्लियमान सत्पुरुष” “सत्पुरुष  
वज्रमानम्” इति च संस्कृतद्वयम्, तथा “कालपलशुधालाहि” इत्यत्र “कालपलशु-  
धलणहि” इति पाठान्तरं “कालपरशुधराभ्याम्” इति संस्कृते आवाभ्यामिति  
ऊह्यविशेषपदस्य विशेषणतया व्याख्येयम् ] । अत एतत्पदप्रतिपाद्ये उपमेये चारु  
दत्ते उपमानभूतस्य द्रुमस्य तादात्म्यासीपातः, मुजनेषु शकुनित्वे काले च परशुधारात्  
मारोपितमिति सादृश्यरूपकमलङ्कारः । एव “सज्जनद्रुमम्” इत्यनेनैव अभीष्टाय  
सिद्धौ पुनः पुरुषपदप्रयोगात् पुनरुक्ततादोषः, स च “सज्जनसरलद्रुमेतत्” इति  
पाठपरिवर्त्तनेन समाधातुं शक्यते । आध्या वृत्तम् ॥ ४ ॥

(क) पुरुषभाग्य ना—नानवाट्टानाम् । अचिन्त्या,—आवकादनीया,  
दुष्प्राप्ता इति यावत् । व्यापारा,—विषया, फलानीति यावत् । “स्त्रियाश्चित्त  
पुरुषस्य भाग्य देवा न जानन्ति कुता मनुष्या” इति भावः । यद्—येन अचिन्त  
नीयभाग्येनेत्यर्थः । ईदृशी—कदाप्यचिन्तनीया प्राणदण्डरूपनिकारवतीमित्यर्थः ।  
दशम—१५व्याम् । अनुप्राप्त—लब्धः ।

[ अग्रतो निरूप्य ] अहो । तारतम्य नराणाम् । (ख) [ सकलम् ]—  
अमी हि दृष्ट्वा मदुपेतमेतन्मर्त्यं धिगस्त्वित्युपजातवाप्या ।  
अशक्तवन्तः परिरक्षितु मा स्वर्गं लभस्वेति वदन्ति पौरा ॥ ६ ॥

सन्, पश्यन्त, —देवतीदेव्यकक्षेच्छागादिपशुरूपेण परिणत, देवताप्रीतये  
छेदनीय पशुवर्गो यथा रक्तचन्दनादाभिरलाङ्घ्यत, तथा अहमाप कृत इत्यर्थ,  
[ अपशु पशु सम्यग्मान कृत इति विग्रहे “व भवन्ति—” ( ५।४।५ पा० ) इति  
कृत्वातृत्तरपदात् पशुशब्दादभूततद्भावे चित्पत्यय ] पुरा हि बन्धस्य शरीर रक्तचन्दनेन  
छन्नाकारचिह्नाद्धितमक्रियतेति व्यवहारोऽनेनानुमीयते । अतोपमानभूते पशुपे  
पशोन्नादात्प्राध्यासात् निरङ्ग रूपकमलङ्कार । पद्यावक्तव्यम् ॥ ५ ॥

( ख ) अहो इति खेदे, विस्मये वा । नराणां—राजपुरुषदृष्टृरुपप्राणा  
मित्यर्थ । तारतम्य—बधसाधन-वाणविसर्जनादिकृत परस्पर भेद, केऽपि मां  
निघ्नन्त हृष्यन्ति, केचन वा तदवलीकयन्त दुःख प्रकाशयन्तीति भावः ।

राजपुरुषाणां नागरिकाणाञ्च परस्पर तारतम्य दशदितु नागरिकाणां खन्  
विश्ववन्नाह, अमी इति ।—अमी—इतस्ततः समवेता, पौरा,—नागरिका,  
मदुपेत—मयि—मद्विषये, उपेतम्—उपस्थितम्, अथवा मया उपेत—दुर्दैववशात्  
प्राप्तमित्यर्थ, एतत्—उपस्थितम् अकारणबधदण्डरूपम् अवमाननमित्यर्थ, यदा,—  
मया उपेत—प्राप्त, धृतमिति यावत्, एतत्—करवीरमात्यादिरूप बन्धचिह्न,  
[ “एतत्—निरपराधवधादि” स्वम्’ इति लङ्गादीर्घतः । ‘उपेतम्’ इत्ये  
‘सम देहमेतम्’ इति पाठान्तरे—एतम्—दृष्ट्वा, अथाचक्रयिषितमित्यर्थ, सम—  
मे, देह—शरीर ] दृष्ट्वा—विनीक्य, मर्त्य—मानव, मरणधम्माणामर्थ, पशुवर्ग  
व्यवहरन्तमिति यावत्, धिक्—निन्दा, अम्—वत्तताम्, तादृश जनानाम्  
इत्यर्थ, इति—इत्यम्, उक्तेति शेष, उपजातवाप्या,—उत्पत्तिशब्दात् पशु  
पूर्णनयना, [ “उपजातवाप्या” इत्यत्र उपजातत्वेना’ इति पाठान्तरम् ] सा  
बन्धभूत चारुदत्तमित्यर्थ, परिरक्षितु—घातकहन्तात् परवत्ताम्, अमी, त—  
अपारयन्त

चाण्डाली । ओशलध अज्जा । ओशलध । कि पेक्ख १ ?—

इन्दे प्पवाहिअन्ते, गोप्पशवे, शङ्कमं च तालाणं ।

शुपुलिश पाणविपत्ती, चत्तालि इमे ण दट्ठव्वा १ ॥ ७ ॥

०८ । हण्डे आहीन्ता । (ग) पेक्ख पेक्ख, ॥—

\* अपसरत आयां । अपसरत । कि पश्यत ?—

इन्द्र प्रवाह्यमाणो गोपसव सङ्क्रमय ताराणां ।

सुपुलपाणविपत्तिस्तार इमे न दृष्टव्या ॥

† हण्डे आहीन्ता । पश्य पश्य,—

नाभुभि सञ्जतवधदशनस्य अशस्त्रीयत्वेन अयुक्तत्वात्, ताम्रतो निवर्तयित  
त सञ्जतवधदादर्शनयत्वेनाहतु, इन्द्र इति ।—इन्द्र,—इन्द्रध्वज, सराज्य  
हृदिशस्यादिहृद्दार्ढ्यं राजा क्रियमाण इन्द्रदेवत पताकाविशिष इत्यर्थ, [ अथ इन्द्र  
इत्येन इन्द्रपूनार्थं निर्मितं तदीयध्वज एव लल्यते, तस्यैव विसर्जनकाले प्रवाह्यत्व  
दशनात्, अन्यदा इहलोके इन्द्रस्य साक्षाद् दर्शनासम्भवाद उक्तिरियमसङ्गता स्यादिति  
विद्वद्भि विभावनीयम् ] प्रवाह्यमाण —विसर्जनार्थं नीयमान, [ इन्द्रध्वजविस  
र्जनस्य रहसि कर्तव्यतामाह कालिकापुराण यथा,—“उत्थापयेत्तूयैरवै सव्वे-  
लीकस्य वे पुन । रक्षो विसर्जयेत् दैतु विशेषोऽय प्रपूजने ॥” इति “एव कृत्वा  
।दवाभानि शक्नोत्यापनमादित । अवर्द्धयेत्तायाश्च दादध्या पार्थिव स्वयम् ॥ अन्त-  
पादे भरतास्तु निशि शक्न विसर्जयेत् । सुतेषु सव्वेलीकेषु यथा राजा न पश्यति ॥”  
इति च । गी ।—सौरभेया प्रसव —गर्भमंभीचन, ताराणा—नक्षत्राणां, सङ्क्रम,  
—सङ्क्रम, अन्तःपतनमित्यर्थ ।



गणअली-पधाणभूदे वज्झीअन्ते कदन्तअस्याए ।

किं लुअदि अन्तलिकवे ? आटु अणद्धे पडदि वज्जे ? १ ॥ ८ ॥

द्वितीय । अले गोहा । (घ)—

ण अ लुअदि अन्तलिकवे गेअ अणद्धे पडदि वज्जे ।

महिला शम्भूह मेहे निवडदि गणअणस्सु धाराहि १ ॥ ९ ॥

\* नगरीप्रधानभूतं बध्यमाने कृतान्ताश्रया ।

किं रोदित्यन्तरीचम् ? अथवा अनभं पतति दध्मम् ? ॥

† अरे गोह ।—न च रोदित्यन्तरीचं नैवानभं पतति वज्रम् ।

महिलासमुद्गमेघाग्निपतति नयनास्य धाराभिः ॥

चारुदत्तस्य वधादेशयवणेन शोकात्तानां गवाक्षदेशस्थितानां पुरस्त्रीणां रोदनादित्यापारे प्रथमचाण्डालस्य वितर्कमाह, नगरीति ।—कृतान्तस्य—अलङ्कारादशस्य यमकत्वस्य राज्ञः पालकस्य, आज्ञया—आदेशेन, नगरीप्रधानभूते—नगर्या,—उज्जयिन्या इत्यर्थं, प्रधानभूते—श्रेष्ठपुरुषरूपे, चारुदत्ते इत्यर्थं, बध्यमाने—हन्तुं बध्यमाने नोद्यमाने सतीत्यर्थं, आवाभ्यामिति शेषः, अन्तरीचम्—आकाशं, रोदति—क्रन्दति किम् ? अथवा—किं वा, अनभं—सघनसुन्दररङ्गितामत्यं, [ नास्ति अभ्रं मेघो यस्मिन् तदिति विग्रहः ] मेघगत्यादाकाशदेशात् इति यावत्, वज्रम्—अग्निः, पतति—मण्डलं निक्षिप्तं भवति किम् ? तादृशमनुकूपस्य अकारणप्राणदण्डोदयागदशनेन रोदयमानानां पुरस्त्रीणां भ्रमावविरलधारसञ्चपतनानां अन्तरीचं रोदति, चतुर्दिक्षु यवणविदारि-हाहाकारशब्दप्रादुर्भावात् न च पततीति चाण्डालस्य वितर्कः । अथ प्रकृतया पुरस्त्रीकर्तृकयारत्रुपातरदनयोः अप्रकृतान्तरौचकर्तृकरोदनवज्रपातयोः तादात्म्यारोपस्य किञ्चिन्नेन सूचनान् मन्दहृत्पतनापथ्यवसानात् सन्नेही नाम अनङ्कारः । आश्रया वृत्तम् ॥ ८ ॥

(घ) गोह इति प्रथमचाण्डालस्य नात्वा आसन्वणं वीक्ष्य ।

अविश्र ।—

वज्रमि गीअमाणे जणश्श शब्बश्श लोदमाणश्श ।

णअण शल्लिलेहि शित्ते लच्छादो ण उस्समइ लेणू ॥ १० ॥

चारु । [ निरुप्य सकरुणम् ]—

एता. पुनर्हर्म्यगताः स्त्रियो मा

वातायनार्द्धेन विनि सृतास्या ।

\* अपि च ।—वध्ये नोयनाने जनस्य सर्वस्य रुदत ।

नयनसलिलसिक्तो रथ्यातो न उन्नमति रेणू ॥

नारीनिकर एव नेघ, —जलद, तस्मात्, [ अविरतनेत्रजलवर्षणात् नारीसमूहे नेघत्वारोपो बोध्य ] नयनाम्—नेत्रोटकम्, अश्रु इति यावत्, धाराभि, —प्रवाहै, हृदिप्रवाहप्रवाहेष्वप्यथ, पतति—सवति, पीरयोधिता लोचनेभ्य अनवरतमश्रु धारा विलतीत्यर्थः । अत्र निरुप्यविषये महिलासमूहे मेघतादात्म्याध्यासात् रूपकमलङ्कारः । उपगीति वृत्तम् ॥ ८ ॥

नागरिकाणामपि शोकप्रकटप्रकारनाह वध्य इति ।—वध्ये—मारणीये, चारु दत्ते इत्यर्थः, नोयनाने—प्राप्यमाणं सति, वधाय रथ्याभूमिम् आवाभ्यामिति शब्दः, रुदत —क्रन्दत क्रन्दनपरायणस्य इति यावत्, सर्वस्य—सकलस्य, जनस्य—नगरवासिलोकस्य रुदतामुज्ज्विनीषामिनामित्यर्थः, नयनसलिलेन—अश्रुधारया, सिक्तः,—झाट पङ्क्तिता गत इति यावत्, रेणू,—धूलि, रथ्यास्य इति भावः, रथ्यात् —नागानां न उन्नमति—उत्तिष्ठति उड्डीय परितः प्रसरति इत्यर्थः, अविरतवह्निवज्रप्रतनेन कट्टमोभतत्वादिति भावः । “णअणशल्लिलेहि” इत्यत्र णकारस्य सान्स्वारत्वेऽपि कृत्योऽनुराधात् लघुत्व बोद्धव्यम् । अत्र रथ्यारेणूनामनुत्पत्तये रुदद्वानाजनमयनसलिलसैकान्त्वत्वेऽपि तत्सम्बन्धकद्वनात् असम्बन्धे सम्बन्धरूपा आतशोक्तिरलङ्कारः । आद्या वृत्तम् । १० ॥

हा । चारुदत्तेत्यभिभाषमाणा

वाप्य प्रणालीभिरिवोत्सृजन्ति ॥ ११ ॥

चाण्डालौ । आअच्छ ले चालुदत्ता । आअच्छ । इम घोषण-  
द्वारा । आहणेध डिण्डिम, घोषेध घोषण । \* (ड)

उभौ । शुणाध अज्जा । शुणाध । एणे शय्यवाह विणअ-  
दत्तश्च गण्टिके, शाअलदत्तश्च पुत्तके अज्जचालुदत्ते गाम् ,  
एदिणा किल अकज्जकालिणा गणिआ वशन्तशेणा अत्यकम्प-  
वत्तश्च कालणादो शुस्स पुण्फकलण्डअजिस्सुज्जाण पवेशिअ

\* आगच्छ रे चारुदत्त । आगच्छ । इद घोषणाध्यानम् । आहत डिण्डिम,  
घोषयत घोषणाम् ।

† शृणुत आर्या । शृणुत—एष साधवाहविनयदत्तस्य नप्ता, सागरदत्तस्य पुत्रक  
आर्ये चारुदत्तौ नाम । एतेन किलाकायकारिणा गणिका वसन्तसेना अत्यल्पवर्षेण

यासा ता, तथाभूता सन्त्य, [ “विनि सृतास्या ” इत्यत्र “विनि सृतास्त्य इति  
पाठान्तरे—विनि सृतानि अनीणि याभि तथोक्ता ] माम उद्दिश्य इति श्रय, हा  
इति खेदे, चारुदत्त । इति—चारुदत्तेत्येतावन्मात्रमेव, अभिभाषमाणा,—कथयन्त्य,  
विलपन्त्य सन्त्य इत्यर्थ, प्रणालीभि,—परिवाहविनिर्गतेजन्तधाराभि, यदा,—  
जलनि सरणमार्गे इव, ( “इया प्रणाली पयस पदयाम् इत्यमर ) वाप्य—एत  
जलम्, उत्सृजन्ति—मुञ्चन्ति, जलनालीभिरिव पौरयोपता नेदै प्रवलवर्गेन  
अश्रुवारा विगलन्तीत्यर्थ । अत्र प्रकृताना स्त्रियासम्भा पय प्रणालीत्वेन सम्भावनात  
उत्प्रेक्षाऽलङ्कार । इन्द्रवज्रा वृत्तम् ॥ ११ ॥

( ड ) घोषणाध्यानम्—अपराधप्रख्यापनध्यानमित्यर्थ, अनुमीयते नैतत्त एत  
राज्ञा मुचिरप्रचलता एषा शासनपद्धति आसीत् किल, येन हि सम्पादनाकना  
प्राणदण्डाद्या राजदण्डाणा श्रेष्ठिचत्वरूपे, महाजनतामभयम्, चतुष्टयेषु, नगणा  
प्रधानस्थलेषु वयनमिषु च प्रख्यापयितुम् अविनोतान मनीषतान शिवविजयन  
दण्डनीयस्यापराधवापणा विशेषणं चातुर्गैरक्रियतेति, तत्र हि उन्मत्तस्या प्रधानतम  
मार्गेषु चारुदत्तस्यापराधवापणा चाण्डालै पक्षकत कृतेति बोध्यम् । आहत—  
ताडयत, बाधयत इत्यर्थ । डिण्डिम—राजादौ दीपयार्थं वाद्यमानं लोहयुग्मम् ।  
घोषयत,—उच्चैः प्रख्यापयत इत्यर्थ । घोषणा—राज आह्वयम् ।

बाहुपाशवलकालीन सालिदे त्ति एसे शनोत्ते (च) गहिदे. शअ  
अ पडिवस्से । तदो लस्सा पालएण अस्से आसुत्ता ण्ढ मालेदु ।  
जदि अवले ईदिश उभअ लोअविलुङ्ग अकज्ज कलेदि, त पि  
लाआ पालअ एव्व ज्जेव शाशदि । ११

चारु । [ मानवेद ( इ ) स्वगतम् ]—

सखुशत परिपूत गोत्रमुद्भासितं मे

सदसि निविडचैत्य-व्रह्मघोषे पुरस्तात् ।

कारणान् शन्य पुष्पकरगुडकजीर्णोद्यान प्रवेग्य बाहुपाशवलात्कारिण सारितेति ण्य  
सल्लो गृहीत स्वयं प्रतिपन्न । ततो राज्ञा पालकेन वयनाज्ञया एत  
सारितम् । यद्यपर ईदृशमुभयलोकविरुद्धमकार्यं करोति, तमपि राजा पालक  
एवमेव ज्ञाति

( च ) नता—पौत्र । एष —चारुदत्त । सलील,—लीला—दम्युतस्करा  
दिभिः अपहृत धनं पश्यन्तु वसन्तसेनाया भूषणजातं तन सहितं, सद्रव्यं, साम्य  
द्वार इत्यर्थः । “लोहलु तडने” इत्यनर, तडने—वीर्यधने इत्यर्थः । गृहीत,—  
हृतं स्वयम्—आत्मना स्वमुचिनेति यावत् । प्रतिपन्न,—वसन्तसेना सदैव हता  
इति स्वीकृतवानिति नाव । आज्ञया,—आदिष्टा । एत—चारुदत्तमित्यर्थः । अपर  
—अन्यः २ कश्चिदिति शब्दः । ईदृशम्—एवमकारं, न्यौत्रधरूपमिति यावत् ।  
उभयलोकविरुद्धम्—इहलोकपरलोकप्रतिकूलम् । ऐहिकपारविकानङ्गलहेतुभूत-  
मित्यर्थः । करोति—कुरियतीत्यर्थः । एवमेव—ईदृशमेव, चारुदत्तस्य दण्डानुरूप  
मेवम् । ज्ञाति—उच्यते त इत्यर्थः कश्चिदेव कुरियति चेत् राजा त दण्डयि-  
ष्यतीत्यर्थः । करोति—“ज्ञाति इत्येव “आज्ञया—” ( ३।३।१३२ पा० ) इति  
आज्ञया भविष्यदर्थे कर्तुः ।

सम मरणदशाया वर्त्तमानस्य पापैः

तदसदृशमनुष्यैर्घुष्यते घोषणायाम् ॥ १२ ॥

[ उदीच्य कर्णो पिधाय (ज) ] हा प्रिये वसन्तसेने ।—

शशिविमल-मयूख शुभ्रटन्ति ।

सुरुचिर-विद्रुम मन्निभाधरोष्ठि ।।

—वेदवादा, तैरुद्भासित—समुज्ज्वलीकृतम्, आसीदिति शेष, इदानीं मरणदशाया  
—निधनावस्थाय, वर्त्तमानस्य—तिष्ठत, सत्युक्त्वलगतकल्पस्य इत्यर्थ, सम—स,  
तत्—गोत्र, पापैः,—पापाचारिभिः, असदृशमनुष्ये,—असदृशा,—अर्थग्या,  
अतिमीचा इत्यर्थ, ये मनुष्या,—लोका, तैः, चाण्डालादिभिरिति यावत्, घोषणायाम्  
—घोषणायाम्, घुष्यते—उच्चैः कौत्स्यते, किमित परमाक्षेपकरमिति भावः । इह  
यद्वि कुल पुरा नियतमेव ब्रह्मवादिनां ब्रह्मघोषैरुद्भासितमासीत्, इदानीं तद्वत् पापा  
चारिभिः चाण्डालैः घोषणया घुष्यत इति, ब्रह्मघोषणा-इत्याघोषणारूपविरूपयोरकत  
सघटनात् विपमालङ्कार, “विषयस्य सङ्गटना या च तद्विषयस्य मतम्” इति लल  
णात्, पूर्वार्द्धे, प्रस्तुतस्य वणनीयाविषयस्याज्ञतया मद्भतां चारुदत्तपुञ्जपूरुषाणां  
सख्यगताद्यनुष्ठानपुत्रस्य चरितस्थोपवर्णनात् उदात्तलङ्कारश्च, एतयोर्व्योम्यमापिनतया  
सङ्करः । अतः “शुणाध अज्जा । शुणाध” इत्यारभ्य “तदसदृशमनुष्ये घुष्यत घोष  
णायाम्” इत्यन्तर्गम्येन, वसन्तसेनामारणनिमित्तकचारुदत्तवधप्रश्लेषापनस्य सकृन्नाभ  
दधानुकूलविशेषपरिचयप्रदानस्य प्रसङ्गात् पिदादिगुणामुत्कीर्तनेनात्र ।।समसस्य  
प्रसङ्गो नामाङ्गविशेष बोध्यः, तदुक्तं दण्णे,—‘प्रसङ्गो गुरुतासनम्’ इति ।  
मालिनी उक्तम् ॥ १२ ॥

( ज ) उदीच्य—ऊर्ध्वं निरीक्ष्य, निहताया वसन्तसेनायाः स्वगोच्यत्वसंभावना  
दत्त सर्वदृश ऊर्ध्वनिरीक्षण बोध्यम्, [“उदीच्य” इत्यत्र “उदीच्य” इति पाठान्तर—  
उद्वेग कृत्वा इति पृथ्वीधरः, वाञ्छित चौरादिकस्य यजनाप्रकल्पस्य प्रसङ्गस्य  
तु उपसर्गयोगादेव बलात् उद्वेगाश्चक्रे कल्पितमित्यत्र ॥ १२ ॥— आत्मा, प्र  
ख्यातकुलीकृतस्य स्वस्य चाण्डालकृतापराधघोषणया पूतचरितानां । इत्थं व्याख्यातमि  
नामकौत्सनात् कुलदूषणेन स्वेनैव पण्ययाकानां तस्यास्य कल्पितस्य तदसदृशवत्  
आत्मेत्याम्यदीप्ता प्राणमना वसन्तसेना च स्वेनैव हन्ता अस्मात्पुत्रवत् ॥ १२ ॥  
मशङ्कवता वा अनेन कणाच्छादितं कृतमित्यत्र बोध्यम् ।

तव वदन-भवामृतं निपीय

कथमवशो ह्ययशोविष पिबामि ? ॥ १३ ॥

युगलेन घातुकघोषणा त्रीतमशक्तुवन्नाह शशीति ।—शशिनः,—चन्द्रस्य, ये विमला,  
—उज्ज्वला धवला इत्यथ मयूखा,—किरणा ते इव शुभा,—विशदा, दन्ता,  
—दण्डना यस्यान्तस्त्वमुडौ निम्बलसुधाकरकरावदातदशने इत्यथ, तथा सुचिर,  
—अतिमनीहर य विद्रुम —प्रवाल, तत्सन्निभ—तत्सदृशम् अधरौष्ठम्—अधर,  
—निवीर्य ओष्ठ,—उत्तरीष्ठं तयो समाहार, [ प्राण्यङ्गत्वात् “इदं”  
( २।४।२ पा० ) इति सनाहारं एकवद्भाव ] तत यस्या तत्सम्बोधने, प्रवालवदति  
रुधिररक्तिनाधरौष्ठविशिष्टे इत्यथ ( यद्यपि “ओष्ठाधरौ तु रदनच्छदौ दशन  
वाससी” इत्यमरोक्ते अधरौष्ठौ एकाग्रवाचकौ, तथाऽपि केषाञ्चित्काले ऊहस्य ओष्ठ,  
रुधिरस्य अधर “अधरोष्ठेऽधर पुमान्” इति बलशर्माङ्गि अधरौष्ठशब्देन उत्तरा-  
धरौ रदनच्छदौ बोध्यौ । केष्विषु सनाहारइत्यनुपेक्ष्य “अधरेण सहित ओष्ठ ”  
इति विग्रहे शाकपादिवदित्वात् उत्तरपदलोपिसमास वदन्ति तथात्वे तत्सन्निभ  
अधरौष्ठ यस्या इति अनुदितविग्रह ] तत्र—ने, वदनभवामृत—मुखीत्यप्युष,  
निपीय—आस्वाद्य ( इटानीम् ) अवश,—अनायत्त, पराधीन सन् इत्यथ, कथ  
—केन प्रकारेण अयशोविषम्—अयश —स्त्रीघातकोऽयमिति अकीर्तिरूपमित्यथ,  
विष—गरलम् [ इति रूपकम् ] विषमिव अयश,—दुष्कौर्तिमिति वाऽर्थ,  
[ इत्युपमा ] पिबामि—पान करोमि आस्वादयामीत्यर्थ, पूर्वं बहुश सर्वोत्कृष्ट  
प्राणप्रद स्वाद सुपय निवृत पिबने अनाद्य पद्यादतिकटु स्वादरहित छदयटादिक  
पथ कथमपि न रोचते इति भावः । यशोधनानां हि अयश विषममृतशाल्यवत्  
ममृतं भवति तापयन् । अनासत्तपान-विषपानरूपयो विरुद्धा वस्तुनिरिकत  
नरदनादण्णात् विषनालहार, तथा रुधिरशिनयुखै सह दन्तानां अदृक्नेष  
सनाधरौष्ठस्य अवेषसुनास्त्रोष्ठादुपमाइत्यम् एवमेव आपातत आस्वाद्यमान  
अहारजन करणस्याइत्यभिहित इति तस्य मुखीभूतत्वात् रसवदलहार इत्येतथा

उभौ । ओशल्लध अज्जा । ओशल्लध,—

एषी गुणलअण णिहो मज्जनदुक्खाण उत्तलणशेदू ।

अशुवणमण्डनकम् अवणीअटि अज्ज णअलीदो ण ॥ १४ ॥

\* अपसरत आया । अपसरत,—

† एष गुणरत्ननिधि मज्जनदु खानामुत्तरणमेतु ।

अशुवणमण्डनकम् अपनीयतेऽप्य नगरीत ॥

विरोध इत्यवधातव्यम्, “विरोधिनीऽपि स्मरणे साम्येन वचनेऽपि वा । भवेद्विरोधो नान्योन्यमङ्गित्वसाम्यो ॥” इति दर्पणवचनात् । पुष्पिताया वृत्तम् ॥ १३ ॥

चारुदत्तगुणपञ्चपातिनी घातुकावपि राजशामनात् चारुदत्तस्य अपराधं पुत्रं सुहृद्य इदानीं तस्य गुणानपि उद्दीपयन्तावाहत्, एष इति ।—गुणरत्ननिधि,—गुणा, —दयादाक्षिण्यादयः, एव रत्नानि—मणयः, तेषां, निधोऽन्ते अस्मिन्निति निधि,—आधारः, यथा,—गुणानां रत्नानि इव—रत्नाकर इव, समुद्रे रत्नयोगवदस्मिन् पश्य । गुणयोगं विद्यते इति तात्पर्यं, सद्गुणनिकराकरं समुद्रिताय, तथा मज्जनानां—साधुवृत्त्याणां, यानि दुःखानि—दारिद्र्यादिनिमित्तककेशमहाता इत्यर्थः, तेषाम् उत्तरणे—अतिक्रान्ते, विमोचने इत्यर्थः सेतुः,—आलिख्य रूपं, पञ्चा नगरादीनां परस्परगमनसाधनकविमार्गविशेष इत्यर्थः, सत्पुरुषकेशविमोचनतत्पर इति यावत्, (“सेतुगालो स्त्रिया प्रसान्” इत्यमरः), सेतुसाधनेन लोकाः प्रथा नगरादीनां परस्परं गच्छति, तथा मज्जना अपि, धनदानादिना निवृत्तं दुःखानां लक्षणं कृत्वाऽनेन सत्यं दुःखात्यतिक्रामन्ति इति भावः, एवमुक्तं एष,—अथ चारुदत्त इत्यर्थः, अशुवणमण्डनकम्—नास्ति श्रवणमण्डन—काचनभूषणं प्रीतिस्तद्वत्तया तथा, सुखसम्पन्नः कश्चिन्नमोऽपि एव श्रवणभूषणं भूष्यते, एवंविधे तु काले कथं नयमेव स्वसाध्यादिनिर्गता भावः, अथ—अस्मिन् दिवसे, नगरीत,—परीत उज्जिनीया इत्यर्थः, अपनीयते—अपनीयते स्थानान्तरं प्राप्यते इत्यर्थः,

असञ्च—

शब्दे क्वु होइ लोए लोओ शुह शण्डिदाण तत्तिस्सा ।

विणिवडिदाण एलाण पिअकाली दुल्लहो होदि \* ॥ १५ ॥

चारु । [ सक्तेतोऽवलीक्य ]—

अमी हि वस्तान्त-निरुद्धवक्ताः

प्रयान्ति मे दूरतरं वयस्या ।

परोऽपि वन्धु ममसंस्थितस्य

मित्र न कश्चिद्विषमस्थितस्य ॥ १६ ॥

\* दम्भ ।—सर्वे खलु भवति लोके लोक सुखमस्थितानां चिन्तायुक्त ।

विनिपतिताना नराणां प्रियकारी दुर्लभो भवति ॥

नतीश अमेटाध्यानात् निरङ्क रुपकनलदार । “सञ्जणदुक्खाण” इत्युपातुस्वाराभाव’  
इन्दोऽनुरोधान् बोध्य । आर्या वत्सम ॥ १४ ॥

सुमते कदाचिद्दुःखदुःखदुःखतमपि चारुदत्तमिदानीं विपदि नि महायमालोका  
खिदन्तावाहन् सर्व इति ।—लोके—जगति सर्वे —मकल, लोक —जन,  
खलु—निश्चित सुखमस्थितानां—सुखिन—अतुल्यैश्चयोगायानन्तेनेत्यर्थ, निरुद्धव  
यदा मद्येति प्राक्च मस्थितानां—वत्तमानानां सुखिना जनानामित्यर्थ, चिन्ताया  
—दम्भचित्ते युक्त —रत, भवति—वर्तते इत्यर्थ, परन्तु विनिपतितानां—  
विपद्भाज नराणां—जनानां प्रियकारी—हितकारी मन्थ इत्यर्थ, दुर्लभ —  
प्राप्य भवति—सम्पद्यन् सर्वस्य हि सुखदत्त स्वसम्पद्विश्रुति भाव । “गुह  
विनिवडिदाण” “विनिवडिदाण” इत्युभयव इन्दोऽनुरोधादनुस्वाराभाव, अतदुपरि तु  
अतदुपरि तदनुस्वाराभावान् पदानां गान्तरं गुणप्रवर्तिनीष्टाऽऽद्यान्त्यं रक्ष्योपमिति आर्या  
हन्त । १५ ।



चाण्डालौ । ओशाल्लण किटं, विविक्तं लाअमगं, ता आणेध  
एटं टिस्सवच्चचिह्नं । \* ( भ )

वारु । [ निश्चय "सैवेय भो । किमिदमय—” इत्यादि पठति ] ।

[ नेपथ्ये ] हा ताट । हा पिअवअस्स । †

वारु । [ आकण्यं सकरुणम् ] भो स्वजातिमहत्तर । इच्छा-  
म्यह भवतः सकाशात् प्रतिग्रहं कर्तुम् । ( ज )

\* अपसारणं कृतं, विविक्तौ राजमार्गे, तटानयतैन दत्तवञ्चिह्नम् ।

† हा ताट । हा प्रियवयस्य ।

किञ्चित् साहाय्यं प्राप्य, इत्याशङ्कया महानपथं परिहृत्य दूरवर्तिस्थानमयत्ने इति  
भावः, तथाहि परीऽपि—उदामीनोऽपि श्वरपि वा, ममे—समाप्राप्तव्यानाम्  
इत्यर्थं सम्पदीति यावत्, मस्थितस्य—वर्तमानस्य, विभवशालिन इति भावः जनस्य  
—जनस्य वत्, —मव भवति—मम्यत, साहाय्यलाभप्रत्याशया, वैरमात्रेण  
असनशय्या वा वस्तुवद्विषयतया भावः, कथित—कोऽपि जनः, विषयस्य—  
विषये—मद्विषये, स्थितस्य—वर्तमानस्य, विषयस्य इत्यर्थः, जनस्य इति शेषः, भिन्न—  
सुहृत्, न, भवतीति शेषः उपकारलाभसम्भावनाविरहादिति भावः । अतः  
मद्विषयव्याया सञ्चनाधारणस्यैव भिन्नव्यागम्याभावरूपमात्रेण आरुत्तामताणां  
तद्विषयव्यायामिदानीं परित्यागद्विषयव्यायस्य समर्थनात् सामान्येन विषयसमर्थन-  
रूपोऽप्राप्तव्यायोऽप्युक्तः । इन्द्रजिह्वेन्द्रवज्रयोरुपजातिः प्रथमः ॥ १६ ॥

( भ ) अपसारणम्—अपनयनं, विताडनमिति यावत्, दण्डकानामागतं  
शेषः । विविक्तं,—विजनं, जनशून्य इति यावत् ( 'विविक्तौ पुत्रावननौ' इत्यमरः ) ।  
तत—तस्मात्, इदानीं राजमार्गस्य निजनान्त इत्यर्थः । आनयत—उपस्थापयत,  
त्वयि दक्षिणमगानमिति शेषः, अन्यथा चारुदत्तदण्डनाथ राजमार्गं पश्यन् जनानां  
सङ्गरमस्य वज्रमुनिनयनं व्याहतं भवदिति भावः । एन—आरुदत्तस्य । २२५ ॥ १७ ॥  
—दण्डानि—अपितानि, परित्यक्तानि इत्यर्थः, वज्रानां—वज्रदण्डानां, २२६ ॥ १८ ॥  
रक्तकरवोरमात्यादीनि प्रापकलङ्गाणि यस्य त, परिष्ठापितरक्तकरवोरमात्यादीनि  
मित्यर्थः ।

चाण्डालौ । किं । अस्माकं हत्यादो पांडिगह कलेषि ? \* ( चारु । शान्त पापम् । न अपरीक्ष्यकारी दुराचारः पाल इव चाण्डाल । तत् परलोकार्थं पुत्रमुख द्रष्टुमभ्यर्थये । ( ८ चाण्डालौ । एव ( ८ ) कलौअदु । †

[ नेपथ्ये ] हा ताट । हा आवुक । ‡ ( ८ )

चारु । [ श्रुत्वा सक्रमणम् ] “भोः स्वजातिमहत्तर ।—” [ इत् पठति ] ।

चाण्डालौ । अले पउला । खुण अन्तल (ण) देध, एणे अर

\* किम् । अस्माकं हत्यात प्रतिग्रह करोषि ?

+ एव क्रियताम् ।

‡ हा तात । हा आवुक । ( पित

प्रतिग्रह—स्वीकरणम्, दानग्रहणस्वीकारमित्यर्थः । (“प्रतिग्रहः स्वीकरणे नैव पतद्वृत्ते । द्विजिभ्यां विधिवद्देये तद्वृत्ते च ग्रहणम् ॥” इति मेदिनी ) ।

( ८ ) अस्माकं—चाण्डालानामित्यर्थः ब्राह्मणानां चाण्डालप्रतिग्रहस्य पापं करवान् मन्त्रघब निषिद्धत्वेन ब्राह्मणकुलप्रभृतयः चारुदत्तस्य तथाविधामिलापः अस्मत्प्रवृत्त्यागस्तु “अस्माकम्” इत्यस्य प्रयोगो बोध्यः, यथा,—हीनदरिद्राणामस्य हत्यायां किं प्रतिग्रह—दानग्रहणं करोषि ? नीचानामस्माकं का शक्तिः नञ्च प्रतिग्रहादितुमिति भावः । करोषि—करोष्यस्योत्पत्तिः [ अथ भविष्यत्साक्षीये लः

( ८ ) पाप—पापमाधकम्, अत्याधिकमित्यर्थः, दुःख इति यावत् । शान्त निरम्भ भवतु इति ईदं दूय चाण्डाला इत्यादिशब्दः सा वदत इति भावः । कुत इत्यादिनाह नेति ।—अपरीक्ष्यकारी—अपरीक्ष्य—मम्यक् विविध, न करोति तदाविधः अपरीक्ष्यकारी इत्यर्थः, दूय जाला चाण्डाला अपि दुर्ज्ञेयः अविचिच पालक इव व्यवहारतः चाण्डाला न मन्त्रव्यवहारप्रकाशनादित्याशयः युष्माकं न नञ्च अस्मि इति भावः । परलोकादं—परलोके पुत्रानन्तरकालं परित्राणालम् इत्यर्थः । अन्तरे—मार्गः ।

‡ एवम्—इत् पठन्त्यदृष्टमित्यर्थः ।

“१” इति इत्यादौ तत्कमन्त्रयम् । आवुक ।—अनक । (“अद्यावुः

चालुदत्ते पुत्तमुह पेक्खदु । [ नेपथ्याभिमुखम् ] अज्ज । इटो इटो ।  
आअच्छ ले दालआ । ( त ) आअच्छ । \*

[ ततः प्रविशति दारकमादाय विदूषकः ] ।

विदू । तुवरदु तुवरदु भद्दमुहो, पिटा टे मारिटुं  
णीअदि । † ( थ )

दारक । हा ताद । हा आवुक् । ‡

विदू । हा पिअवअस्स । कहि मए तुमं पेक्खिटब्बो ? §

चारु । [ पुनः मित्रञ्च बोध्य ] हा पुत्त । हा मैवेय । [ सकरुणम् ]

भो कष्टम् ।—

चिरं खलु भविष्यामि परलोके पिपासितः ।

अत्यल्पमिदमस्माकं निवापोदकभोजनम् ॥ १७ ॥

\* अरे पौरा । क्षणमन्तरं दत्तं, एष आद्यचारुदत्तः पुनःमुखं पश्यतु । आद्यः ।  
इत इत । आगच्छ रे दारक । आगच्छ ।

† त्वरता त्वरता भद्रमुखः, पिता ते मारयितुं नोयते ।

‡ हा तात । हा आवुक् । ( पिता । )

§ हा प्रियवयस्य । कुतः मया त्वं द्रष्टव्यः ?

( त ) आद्यः ।—सात्यः । इदं तु रीदृशेन मादायागच्छतः विदूषकस्यासत्त्वगपदम् ।

इत इत,—अस्याम् अस्यां दिशि । दारकः ।—बालकः । इदं रीदृशेन मन्वाधनम् ।

( थ ) त्वरता त्वरता—सत्वरं भव सत्वरं भव, अतित्वरितभाग्यलक्षणम् । भद्र-  
मुखः,—भद्र—कल्याण मुख—शब्दः, पितायास्तान्तापको रव इति यावत् । अथ  
स, सुमधुरभाषिन् इत्यर्थः, ( “मुखं नि मरणे वक्त्रे प्राग्भाषाप्रधारयि । सुमन्त्र-  
नाटकादेः शब्देऽपि च नपुंसकम् ॥” इति सादनी ), यदा भद्र—कल्याणमुखः,  
मुखः,—वदन् यस्य तत्कामोदने, पुनःमुखदः तेन पितुः पद्मानन्दकपलनायमानन्दं दातुं  
कल्याणापायकत्वं तथ्येति द्रष्टव्यम् । मारयितुं—हन्तुम् । नोयते—न भयम्  
प्राप्यते, राजपुरुषैरिति शेषः ।

दुग्धपोषकस्य विपादपरोक्षं पुत्रकन्यालोकां अन्तर्निवेशः, इति चेत् ।  
परलोके—लोकान्तरे, स्वर्गलोके इत्यर्थः, चिरं—चिरकालं दाय इति, त्वं—

किं पुत्राय प्रयच्छामि ? [ आत्मानमवलोक्य यज्ञीपवीत ( ८ ) दृष्ट्वा ] ।

आ । ( ४ ) इदं तावदस्ति । मम च,—

अमौक्तिकमनौवर्णं ब्राह्मणानां विभूषणम् ।

देवतानां पितॄणाञ्च भागो येन प्रदीयते ॥ १८ ॥

[ इति यज्ञीपवीतं ददाति ] ।

निश्चितं पिपासितं — दृष्ट्वातः पिपासाप्रशमनोपयुक्तस्य चटकस्य अलाभादिति भावः भविष्यामि—वर्तिये न कदाऽपि मम पिपासा निवर्त्तियते इत्याशयः । ननु लोभता अनेनैव पुत्रेण सत्यं भवतः पिपासा अपनेष्यते निषापजलदानेन इत्याह, अत्यल्पमिति ।—यतः अक्षाक्षम्—न, अक्षद्वयोऽयानामित्यर्थः निषापो दक्षमोज्ज्वल—निषाप—पितॄणां तर्पणं ( “निषापः पितृतर्पणम्” इत्यमरः ) तस्य चटक—जनः तस्य भोजन—पानं यस्मात् ततः, पितृपुरुषेभ्यः अलग्नगुप्टादि इत्यर्थः, इदं—नीदृशेन रूपेण अत्यल्पमित्यर्थः अत्यल्पम—अतिसान्त्वयम्, अतिशय इति उच्यते अनेन पुत्रकेण चिरपिपासितस्य मे नित्यञ्जानाञ्च निषापोदकेन सम्पूर्णं दानिं साधयितुं शक्यते अतिशयत्वादनृणां यत्नत्वात् पालकगाल्यवामन्यत्वाच्चान्यः पुरुषोऽप्यस्ति विवर्त्तयता सततं मनसि समुदगात् सुचिरमस्माकं सर्वेषां लपापनोदने किमलं इति भावयतीति बहुलाशयः । पथ्यावक्ता वृत्तम् ॥ १७ ॥

( ८ ) यज्ञीपवीतं—यज्ञमन्त्रम् ।

चाण्डाल । आअच्छ ले चालुदत्ता । आअच्छ । \*

द्वितीय । अले । अज्ज चालुदत्तं णिलुबवटेण णामेण  
आलुवेशि ? ( न ) अले । पेक्ख,†—

अभुदए अवशाणे तहेअ लत्तिन्दिव अहटमग्गा ।

उद्दामे व्व किशोली णिअदी क्खु पडिच्छिदं जाटि ॥ १६ ॥

\* आगच्छ रे चारुदत्त । आगच्छ ।

† अरे । आर्यचारुदत्तं निरुपपट्टेन नाम्ना आलपमि ? अरे । पश्य,—

‡ अभुदये अवसाने तथैव रात्रिन्दिवमहृतमागा ।

उद्दामेव किशोरी नियतिं खलु प्रसीष्ट याति ॥

द्विजातीनामेव वेदाधिकारस्य शास्त्रसम्मतत्वात् देवे पवे च कर्मणि तेषामेवाधिकारः,  
न तु असक्ततानाम्, वेदाधिकारस्य च उपनयनात् परमेव जायमानतया वैदिक  
संस्कारविहीनस्य बालस्य तदुद्योग्यत्वसम्पत्तये स्वीय यज्ञोपवीतमेव तारकाय प्रदत्त  
मिति बोध्यम् । अत्र यत्पदवाच्ये उपमेयमुत यज्ञोपवीते उपमानभूतस्य निमुपगम्य  
तादात्म्याज्यामात्, तत्र चोपमानभूते भौतिकत्वसौवर्ण्यत्वाभावरूपवैशिष्ट्यावगाहना  
दधिकादृष्टवैशिष्ट्यरूप रूपकसमलङ्कारः । पद्यावक्तृ वृत्तः ॥ १८ ॥

( न ) निरुपपट्टेन—उप—समीपे, उन्नयित पदमित्युपपद—निगमणार्थक  
नास्ति उपपद इत नन, आर्यत्यादिसम्मानसूचकोपपदग्रन्थेनेत्यर्थः । आलपमि—  
कथयमि, आह्वयमि इत्यर्थः ।

अस्य च —

शुक्ला बवदेशा शे १ किं पणमित्र मत्यए ण काअब्बं १ ।

लाहुगहिदे वि चन्दे ण वन्दणीए जणपदस्य १ ॥ २० ॥

\* अन्यच्च — शुक्ला व्यपदेशा अस्य १ किं प्रणम्य मस्तके न कर्तव्यम् ?

राहुगृहीतोऽपि चन्द्रो न वन्दनीयो जनपदस्य १ ॥

दुर्दैववशेन महानुभवशरदत्त इदानीमीदृगवस्थाऽपि, अनुकूलदैववशेन पुनरपि अचिरादेव पूजामवस्थां प्राप्तुं शक्नोति, अतो नाम्य अवमाननमुचितमिति तात्पर्यम् । अथ एकांक्षिणैव वाक्ये नियते उद्दानकिशोण्या सङ्घे वैधर्म्योक्तिशून्यसाधन्यकथनादुपमा नामान्नद्वार । आव्यां हस्तम् ॥ १९ ॥

उक्तमेवायं प्रकारान्तरेणाह, शुक्ला इति ।—अस्य—चारुदत्तस्य, व्यपदेशा,—कुलनामादय [ व्यपदिश्यते परिचोयते पुरुष एभिरिति व्यपदिश्यते करणे घञ् ] शुक्ला १—नृपा किन् १ अपि तु न नृपा इति काकुल्वोऽय, अस्य च—चारुदत्तस्य, गुणादिकमिति शेष, प्रणम्य—नत्वा ससम्भ्रमस इति भावः, मस्तके—शिरसि, न कर्तव्य—न करणीयम् १ न व्यापनीय किमित्यय, अस्माभिरिति शेष, अपि तु सर्वमेव चारुदत्तसङ्गत गुणादिकं प्रणम्या शिरसि धार्यामित्यत्र, दुरदृष्टेन परिभ्रममाणतया मिथ्याऽपवाददृष्टितस्य माननीयस्यास्य नाम गुल्मादिनामवत आख्यादिर्विशिष्टं कर्तव्यं उच्चायनमिति हृदयम् । [ “काअब्बं” इत्येव “काअब्बा” इति पाठे—‘पणमित्रमत्यएण’ इति समस्ततया पठनीयम्, “कर्तव्या” “प्रणमितमस्तकेन” इति च यथाक्रमं नस्तम् ‘प्रणमित—पक्षेण अवनमित, मस्तक—श्रीर्धं येन तथीक्रेन, अन्यजनेभ्यः, अन्यभूते अस्माभिरिति यावत् यदा,—प्रणमितम्—अवनमितं यत् नमस्कृतं तत् [ इति कस्माधारय ] अस्माभिरवनमितेन शिरसा इत्यत्र, अस्य—सर्वं जनमानसेभ्यः गुणानघे चारुदत्तस्येभ्यः, व्यपदेशा,—कुलनामादय, किं शुक्ला,—उपपत्त्यादित्येन नारुतया अवगणनं इति यावत् कर्तव्या,—विधात्वा १

बालक । अरे रे चाण्डाला ! कहि मे आवुकं गेध ? ॥

चारु । वत्स ।—

अंसेन बिभ्रत् करवीरमालां स्कन्धेन शूल हृदयेन शोकम् ।

आघातमद्याहमनुप्रयामि शमितमालव्युमिवाध्वरेऽज. ॥ २१ ॥

चाण्डाल । दालआ । ॥—

\* अरे रे चाण्डाला, ! कुव मम आवुकं ( पितर ) नयत ?

† दारक ।—

जागपटोऽपि जनदेशयो ” इति सेटिनी ) न वन्दनीय ?—न सवनीय , न प्रणम्यो वा, किम् ? इति शेष , अपि तु प्रणम्य पवेत्यथ , चन्द्र राहुशस्त्रोऽपि यथा पूज्यते सर्वेषां नमस्य , तथा अयम् अस्त्रीकापवादेन विपद्गुस्ताऽपि अस्माभिरावर्तते इति भाव । राहुशस्त्रोऽपि चन्द्र यथा लीकैरभिवन्द्यते, तथा अपवादगुस्ताऽपि चारुतत अस्माभि सन्वर्द्धनीय इति चारुदत्तस्य चन्द्रेण सह साम्यस्य प्रतिधानत गम्यमानत्वात् दृष्टान्तालङ्कार । आद्या वचम् ॥ २० ॥

चाण्डालान् “कहि मे” इत्यादि पृच्छते रोहमेनाय स्वप्रमेवोत्तर प्रयच्छता ह अस्मिनेति ।—अद्य—अस्मिन् दिने, अहम् असेन—स्कन्धेन, शूलहृदयेन दातयात् करवीरमाला,—करवीरस्य—तदाख्यरक्तवर्णपद्मविशेष इत्यर्थ , माला—वस्त्रमालमित्यर्थ , तथा, स्कन्धेन—भुजशिरसा, शूल—हत्यापराधिना ययमानेन मुक्ता माला लोहफालमित्यर्थ , तथा, हृदयेन—चेतसा, शोक—स्योपादानजनितः स्वाम्भय , विभ्रत—धारयन् मनु, [ अभ्यस्तत्वाद्भगवत्प्रतिपक्ष ] अन्तर—यत्र, आल—चतुर्भुज, [ आङ्पुत्रकस्य स्वभारतीर्भरणायकत्वं व्याकरणमिदम् ] शमित—शान्तं यशुवधनस्यानम्, अज,—काग इव, कागो यथा अभिसर्लित आदभानमानगतं वज्रभुमिस अनुप्रयाति तद्वदिति विशेषात्, ( ‘अज्ञा विगुह्यच्छाया’ इत्यमरः ) आघातम्—वज्रभुमिस, [ आह्वयते अत इति हनेरधिकरणे घञ् । अनुपगमि—अनुगच्छामीत्यर्थ । दर्पणकल्पति अनेकासु क्रियासु एककारकान्तरमालं पदोपपत्त्या लङ्कार ,

दारक । ता (प) कीम मारिध आवुक् १ \*

चाण्डाल । दीहाओ । अत्त लाअणिओओक्कु अवलज्झदि,

णक्कु अम्हे । † ( फ )

दारक । बावादिध म, मुञ्चध आवुक् १ ‡ ( ब )

चाण्डाल । दीहाओ । एवं भणन्ते चित्तं मे ( भ ) जीव । §

चारु । [सास ( स ) पत्र कण्ठे गृहीत्वा]—

इद तत्स्नेहसर्वस्वं सममाव्यदरिद्रयोः ।

अचन्दनमनौशौरं हृदयस्यानुलेपनम् ॥ २३ ॥

\* तत् किमय मारयत आवुकम् ( पितरम् ) ?

† दीघायु । अत्र राजनियोग खलु अपराव्यति, न खलु आवाम् ।

‡ व्यापादयत मा, मुञ्चत आवुकम् ( पितरम् ) ।

§ दीघायु । एव भणन् चिर मे जीव ।

( प ) तत्—ताह, यदि यूय न तत्त्वत चाण्डाला, तदा इत्यर्थः ।

( फ ) अत्र—त्वत्पितृमारणविषये इत्यर्थः । राजनियोग, —राजादेश, राजाज्ञयैव वयं पुण्यश्लोक चारुदत्त मारयितुं प्रवृत्ता, न पुन स्नेहया नृशोचिनेऽस्मिन् कर्मणि निपुक्ता इति समुदिताय, क खलु पराधीनस्य व्याघ्राव्याघ्र-विचारावसर इति तु हृदयम् ।

( ब ) व्यापादयत—मारयत, यूयमिति शेषः । आवुक, —पितरम्, (—अथावुक । जनक — इत्यमरः ) । मुञ्चत—परित्यजत, न मारयत इत्यर्थः ।

( भ ) एवम्—इत्य, “बावादिध म” इत्यादिरूपमित्यर्थः । भणन्—अभिदधत, त्वमिति शेषः । मे—महा, मम वा, [ यस्य प्रीतिजननोद्देशेन क्रिया अनुष्ठायते तत्रैव अभिप्रेत्यार्थे चतुर्थी अनुशिष्टा, तथा च अत्र चाण्डालप्रोति जनयितुमेव बालस्य पञ्चकथनदर्शनात् “क्रियया यमभिप्रेति सोऽपि सम्प्रदानम्” इति वार्त्तिकेन चतुर्थी, सम्बन्धमात्रविवक्षायां वा कर्माणि पठ्यते ], अपरिणतवृत्तिबालस्यापि पितरि प- प्रोत गमनत्यादिकसामान्ये आनन्दविह्वलहृदयेन चाण्डालेनापि तस्य सुदोषजीवनप्राथतर्मात् बोध्यम् ।

( न ) सासम्—श्लेष—अश्रुणा सञ्चितं यथा तथा, नरोदनमित्यर्थः, [ क्रियाविशेषणमेतत् ], अथवा सासमिति ‘पुवन्’ इत्यस्य विशेषण, रुदन्तामित्यर्थः । वानपुत्रस्य तादृशकारुण्यपूर्णवचनश्रवणेन विगलितहृदयः पुत्रालोकनादुत्तमः ।



[“अनेन विभवे” इत्यादि पुन पठति । अवलीक्य स्वगतम् “अनो हि  
बन्तानिर्द्वयका” इत्यादि पुन पठति ] ।

विद् । भो भद्रमुहा । सुखं पित्रवत्सं चालुदत्त, मं  
वावाटेध । ॥

चारु । शान्तपापम् । (य) [ इति स्वगतम् ] अद्य अवगच्छामि ।  
[“परीति वत्तु नननचित्तम्” इत्यादि पठति । [ प्रकाशम् ] “एता पुनर्हस्यंगता  
स्त्रियो नान्” इत्यादि पुन पठति ] ।

चारु । ओश्लध अज्जा । ओश्लध, १—

\* भो भद्रमुहा । सुखं पित्रवत्सं चालुदत्त, मा व्यापादयत ।

- अपसरत वाया । अपसरत,—

किं पेक्खध शप्पलिश अजशवशेण पणट्ठजीवाणं ? ।

कूपे खण्डिदपाश कञ्चनकलशं वि दुब्बन्तं ॥ २४ ॥

चारु । [ सकरुण 'शशिविमलसयूख' इत्यादि पठति ] ।

अपर । अले । पुणो वि घोशेहि । †

चाण्डाल । [ तथा करोति ] ।

चारु ।—

प्राप्तोऽह व्यसनकृशा दशामनार्थ्या,

यत्रेद फलमपि जीवितावसानम् ।

\* किं पश्यत सत्पुरुषम् अयशीवशेन प्रनष्टजीवाणम् ? ।

कूपे खण्डितपाश काञ्चनकलसमिव मज्जन्तम् ॥

† अरे । पुनराप घोषय ।

चारुदत्तावलोकनाय समागत जनसङ्घम् अपसारयितुमाह, किमिति ।—  
खण्डित, —छिन्न, पाश, —बन्धनरज्जु यस्य तम्, अत एव कूपे—उदपाने,  
मज्जन्तम्—अन्तः प्रविशन्त, वृद्धन्तमित्यर्थ, निमग्नोभवकामिति यावत्, जलोत्थोलन-  
समये अरघदायसम्बद्धरज्जुत विद्यततयेति भावः, काञ्चनकलसमिव—सौवर्णघट-  
मिव, ( यद्यपि सर्व्वेव च्छन्मयघटेन अरघद्वयेन जलोत्थोलनं क्रियते इति दृश्यते,  
तथाऽपि तस्य पार्थिवतया अत्यल्पमूल्येन तेन साम्यकथने मण्डोदारचेतसः चारुदत्तस्य  
गौरवदानिमाशङ्क्य कलसे काञ्चनविशेषणमुपात्तमिति वेदितव्यम् ) अयशीवशेन—  
'अयशः,—वसन्तसेनायधाम्निवागजनिता वयाकलङ्क', तद्वशेन—तत्सामर्थ्येन, तदा-  
यत्ततयेत्यर्थः, प्रनष्टा—अदर्शनं गता, [ नश्यतेत्येव षोडशत्वाभावात् न शब्दः ]  
जीवस्य—जीवनस्य, आशा यस्य त तथाविध, औवनरक्षणीविषये हताग्रमित्यर्थः,  
सत्पुरुष—सुजन्म, निरपराधमिति भावः, किं पश्यत ?—किमवलोकयत ? इत्य-  
मिति शेषः, केवलं मिथ्याऽपवादसाधित्वं विधीयमानं सुजनस्य ब्रह्मसमन्वायमवसानं  
कैरपि न द्रष्टव्यम्, अत इतः सत्वरम् अपसरत इति भावः । अथ काञ्चनकलसेन  
साहच्ये चारुदत्तस्यवैधर्म्यसाम्यप्रतीतिरूपमाऽलङ्कारः । आख्या वृत्तम् ॥ २४ ॥

“चारुदत्तेन वसन्तसेना मारिता” इति श्रवणविदारिणी घोषणा श्रोतुमशक्तान्  
सविलापमाह, प्राप्त इति ।—अहं—चारुदत्त इत्यर्थः, व्यसनकृशा—यत्नेन—  
विपदा, कृशा—चोया, शोचनीयामिति यावत्, [ व्यसनकृतानिति पाठे—विपन्नान्तिता  
मित्यर्थः ] अत एव अनार्थ्याम्—नितान्तनकोत्तिकरतया आर्थ्यं विगृहिता, दशाम्—

एषा च व्यथयति घोषणा मनो मे,

श्रोतव्य यदिदमसौ मया हतेति ॥ २५ ॥

[ ततः प्रविशति प्रासादस्थो वडः स्थावरकः ] ।

स्थावरकः । [ घोषणानाकर्ण्य स्वैक्यम् (२) ] कथं । अपावे चालु-  
दत्ते वावदीअदि । हम्मे शिअलेण शामिणा बन्धिटे ।  
भोदु, आकन्दामि । शुणाध अज्जा । शुणाध । एत्थ दाणि  
मए पावेण पवहणपडिवत्तेण पुप्फकलण्डअ-जिसुज्जाणं  
वसन्तशिणा णीदा, तदो मम शामिणा “म ए कामेशि”त्ति  
कटुअ वाहुपाशवलक्कालेण मालिदा, ए उण एदिणा अज्जेण ।

२ कथम् । अपापशब्दस्य व्यापायते ॥ अहं नगडेन स्वामिना वडः । भवतु,  
आकन्दामि । अगुत आया । अगुत,—अथ इदानीं मया पापेन प्रवहणपारवर्त्तेन  
पुष्पकलण्डकौर्णयान वसन्तसेना नीता, ततो मम स्वामिना, “मा न कामयसे”  
अवस्था, दुःखशान्तित्वं, प्राप्तं—लब्धं, यतः—यस्या दशाग्रम्, इदम्—एतत्,  
अनतिशिरमेवानुभवनीयमित्यर्थः, जीवितावसान—जीवितस्य—जीवनस्य आधुप  
इत्यर्थः, अवसान,—परिसमाप्तं, यतः, तथाभूतं, प्राणदण्डरूपमित्यर्थः, फलमपि—  
चरमपरिणामी इति । अथ एषा च—सर्वसमक्षमेव उद्बुध्यमाणा  
स्वकर्णेन शृङ्गा—पाणि धृत्य, या—सर्वजनसमक्षे चैरपवादाख्यानपुरस्सर  
चाण्डालानां दण्डादशकौत्तनामात्मा यावत्, मे—मम, मन,—चित्तं, व्यथयति—  
पथयति, कथयति इत्याह, यदिति ।—यतः—यस्मात्, असौ—वसन्तसेना, मया—  
चारुदत्तेनेत्यर्थः हता—अश्लेषया वाहुपाशवलात्कारेण नारिता, दात—इत्यम्,  
इदम्—एतत्, इदमस्मत्पुनरिदं वचनमित्यर्थः, श्रोतव्यम्—आकर्णनीयं, स्वकर्णेनैव  
कदातः शृणु,

कथं विदूतदाए ण को वि शृणादि ? ता किं कलेमि ?  
अत्ताणअ पाडेमि ? (ल) [विचिन्त्य] जइ एव्वं कलेमि, तदा  
अज्ज-चालुदत्ते ण बाबादीअदि । भोदु, इमादो पाशाद-  
बालग पदोलिआदो एदिणा जिम्मगवक्खेण अत्ताणअ णिक्खि-  
वामि । बलं हग्गे उवलदे, ण उण एग्गे कुलपुत्तविहगण

इति कृत्वा, बाहुपाशबलात्कारेण मारिता, न पुनरेतेन आर्येण । कथम् । विदूरतया  
न कोऽपि शृणाति । तत् किं करोमि ? आत्मानं पातयामि ? यद्येव करोमि, तदा  
आर्यचारुदत्तो न व्यापाद्यते । भवन्तु, अस्या प्रासादवालायप्रतीतिकात् एतन्  
जीर्णगवाक्षेण आत्मानं निक्षिपामि । वरम् अहमुपरत, न पुनरप्य कुलपुत्रविहगानां

( ल ) व्यापाद्यते—विनाशयते, प्राणघात इत्यत इत्यथ, राजपुरुषोरिति  
शेष । स्वामिना—प्रभुणा, शकारेणोक्तं यावत् । नगडेन—शृङ्खलेन, बन्ध —  
संयमिते, अताऽहं तत्त्वप्रकाशनार्थमिदं गन्तुं न शक्नोमीति भावः, आक्रन्दामि—  
आह्वयामि, एतान् प्रकृततत्त्व ज्ञापाद्यतुं उच्चैः विरौनीत्यर्थः, ( “आक्रन्द क्रन्दने  
ह ने निवदाकणयुद्धो ” इति मेदिनी ) । अतः—अस्मिन् विषये, उपस्थितघटनायां  
यत् तत्त्व, तन्मात्रं कथ्यते, भवद्भिरवहितैस्तदाकण्यतुमिति तात्पर्यम्, इदानीम्—  
अधुना, अनतिचिरमेव, यदा,—अतः इदानीम्—ने मर्यादा अस्मिन् स्थाने, स्थितेन  
इति शेषः । पापेन—वधनिमित्तभूततया पापीयसे इदित्यस्य प्रवक्ष्यपारवर्ते—  
प्रवक्ष्यस्य—गोशकटस्येत्यर्थः, परिवर्त्त,—परिवर्त्तनं, उपस्थास इति यावत्, तन्,  
प्राक् किल स्थावरकण्य शकारस्याज्ञया जीर्णोद्यानं गच्छता पुरीषात्तन् पत्न्यान्  
शकटान्तरेण रुद्रमालाक्यं तदपसारयितुं चारुदत्तपक्षहारे स्वशकटं संस्थाप्य गतः,  
तस्मिन्नेवावसरे अस्मात् स्ववाहनार्थं स्थापितं चारुदत्तशकटमेतदिति अन्यमानया  
वसन्तसेनया तच्छकटमारोहति, यथात् सम्यगपरीक्ष्य चेष्टेन तच्छालतम्, इत्यप्रवक्ष्य  
विपद्यासः मर्यादितः, शकटस्य असमीक्ष्य नयनात् अहमपि निरपराधं चारुदत्तविनाश  
हेतुरिति चेष्टस्य आक्षेपोक्तिवीजमवधातव्यम् । कामयसे—अभिलषसि, रमा—तुमिति  
भावः । इति कृत्वा—इति इती, इत्येवमपराधं समारोप्येति यावत् । एतन्—चारु-  
दत्तनेत्यर्थः । विदूरतया—विप्रकृत्यतया, चाण्डालयो दशकजनानां छातद्वारं करोति  
यावत् । आत्मानं—दहम्, ( “आत्मा यदा धृतिमुद्विग्नं स्वभावात् नैव नश्यति च ”  
इत्यमरः ) । पातयामि—अध क्षिपामि, स्वयमेव इति शेषः ।

वाशपादवे अज्ज चालुदत्ते । एज्ज जइ विवज्जामि, लद्धे मए  
पल्लोए । (व) [ इति आत्मानं पातयित्वा ] । हो हो । ग उवलदम्हि,  
भग्गे मे दण्डणिअले, ता चाण्डालघोशं शमस्सेशामि । (श)  
[ दृष्ट्वा उपसृत्य ] । हो हो चाण्डाला । अन्तल अन्तलं (घ) । ३-

वासपादप आश्रयवाक्यदत्त । एव यदि विपद्ये, लब्धो मया परलाभः । आश्रयार्थः ।  
न उपरतोऽस्मि । भग्गे मे दण्डनिगड, तच्चाण्डालघोषं समन्विष्यामि । हो हो  
चाण्डाला । अन्तरन्तरनः ।

( व ) एव—ग्रहणावधारणायामेव इति आत्मानं पातयित्वा । न आपा-  
द्यने—न विनाशने चाण्डालद्वयसमीपमुपस्थितं यद्यहं प्रकृतव्यापारं प्रकाशयामि,  
तदाऽसौ नूनमेव प्राणदण्डात् मुक्तिं लप्स्यते इति भावः । प्रासादवालाग्रप्रतीलिकात्,  
—प्रासादस्य—इष्टकानाम्भितभवनस्य, यं बालः,—अभिनवानाम्भित अग्र,—अग्र-  
भागः, चूडाख्यगृहम् इति यावत्, तस्य—तत्र गन्तुमित्यर्थः, या प्रतीलिका—रथ्या,  
अधोरोहणीति यावत्, ( “रथ्या प्रतीली विशिखा” इत्यमरः ) तत्त । जीर्णगवाक्षेण—  
नगवाताग्रनपथेन । आत्मानं—स्वम् । कुलपुत्रविहगानां—कुलपुत्राः,—सत्कुल-  
प्रभूता जना एव, विहगाः,—पक्षिणः, पक्षिभूता कुलीना इत्यर्थः, [ वासे पादप-  
वारोपादेव कुलपुत्रे विहगत्वाभेदारोप कृतः, इति परम्परितरुपक्रमलङ्कारं वीध्य ]  
तथा वानपादप —आश्रयवृक्षः, तत्सदृश इत्यर्थः, पवित्रो यथा नौडाद्य पादप-  
नाशयान्तं पादपं तेषामाश्रयदानेन नि स्वायमुपकरोति, तथा ये निजना निरा-  
श्रयाश्च भवन्ति, ते एतन्मेव आवासभूतं शरणम् आप्नुवन्ति, शरणागताश्च तान् अव-  
श्याश्रयदानेन परिरेक्षति, न तत्र कथमपि असम्पत्तिं प्रकाशयतीति तात्पर्यात्,  
अपि हि निराश्रयाणां सत्वरूपाणामाश्रयप्रद इति सत्त्ववाऽस्य रक्षा विधेय इति भावः ।  
एव—जीर्णगवाक्षेण महापुरुषपाथरचायन् आत्मानिपातने क्रियमाणे भूति इत्यर्थः ।  
विपद्ये—विपत्तौ । लब्धः,—प्राप्तः, [ “लब्ध” इत्येव भाविनि भवतदुपचारः, तेन  
लब्ध इत्यर्थः ] । परलीक — स्त्री इत्यर्थः ।

चाण्डालौ । अले । के अन्तल मगेदि ? \*

चेट । [ “गुणाध—” इति पूर्वोक्त पठति ] ।

चारु । अये ।—

कोऽयमेवविधे काले कालपाशस्थिते मयि ।

अनावृष्टिहते शस्ये द्रोणमेघ इवोदितः ? ॥ २६ ॥

भो । श्रुत (स) भवद्भि ?—

न भीतो मरणादस्मि, केवलं दूषित यशः ।

विशुद्धस्य हि मे सृत्यः पुत्रजन्मसमो भवेत् ॥ २७ ॥

\* अरे । क अन्तर मगपत ( याचत ) ?

प्रत्यक्षदर्शिनं स्यावरकस्य वाक्येन मिथ्याऽपवादोचनं भावयतीति सम्भाप्य हर्षं प्रकाशयन्नाह, कोऽयमिति ।—मयि—चारुदत्ते इत्यर्थः, कालपाशस्थिते—कालम्—यमराजस्य, पाशं—बन्धनरज्जौ, स्थित—वत्तमाने, कालसदृशपालकराजशृङ्खलवद्धे इत्यर्थः, अचिरेणैव मरिष्यमाणे सतीति यावत्, एवावदे—एवम्प्रकारे, काले—समये, सृत्यकवलकल्पे वत्तमानसदृशसमये इत्यर्थः, अनावृष्टिहते—अनावृष्ट्या—वर्षाभावेन, हते—विशुद्धो सतीत्यर्थः, प्रचण्डनरीचिवितप्रतया सृतप्राये सतीति यावत्, शस्ये—वान्ययवादी, द्रोणमेघः—द्रोणनामा जलदराजविशेष इव, अस्य शस्यं बहुकन्वमुक्तं ज्योतिस्तत्त्वे यथा—“तियुते शाकवर्धे तु चतुर्भिः शेषितं क्रमात् । आवर्त्तं विद्धि सर्वर्त्तं पुष्करं द्रोणमस्तुदम् ॥ आवर्त्तो निर्जली मेघः सर्वर्त्तयं बहुदक । पुष्करो दुष्करजली द्रोणः शस्यप्रपूरकः ॥” इति । उदितः—उद्भूतः, आवर्त्त इत्यर्थः, उपस्थित इति यावत्, अयं—दृश्यमानो जन इत्यर्थः, कः ?—किनामधेयः, किम्पार चय इत्यर्थः, यथा द्रोणमेघः अकस्मादाविर्भूतः तौतातपदमधः गत्वा सन्नोदयति, तथा निर्द्वेषस्य कुटुम्बे पालकस्य अन्यायविचारेण प्राप्तम्लुदण्डः नास्मितुमशक्यत इत्येवोपस्थितः कारुण्यवारा निधिः अयं कः ? इति समुदिताय । अत्र किमञ्च वाक्येन स्यावरकेण सह द्रोणमेघस्यावैधर्म्यसाम्यप्रतीतिरूपमाऽनङ्कारः । पश्चात्तत्र उक्तम् ॥ २६ ॥

( स ) श्रुतम् ?—आकर्णितम् ? चेष्टावाक्यमिति शेषः ।

ननु विनश्वरस्यास्य जावनस्य क्व कथं त्वमेवमुक्ताष्टनां जात इत्याशङ्काह, नेति ।—मरणात्—मृत्या, न भीतः,—न शङ्कितः, अस्मि—भवामि, अहं मरिष्या

अन्यच्च,—

तेनास्माकृतवैरेण क्षुद्रेणात्यल्पबुद्धिना ।

शरेणैव विधाक्तेन दूषितेनापि दूषितः ॥ २८ ॥

नोति न विभेनोत्यय । ननु यदि क्षुब्धभोती नाऽसि तदा कथमोदृक् विनयायसे ? इत्याशङ्क्याह केवलमिति ।—यश्च,—कौत्स, यत आजन्मन वृत्तायासेन सञ्चित जात भाव दूषित—स्त्रीहत्यापवादकलङ्कित कृतमित्यय, “सम्भावितस्य चाकौत्सि नरादादितिगिच्ये” इति वक्तुमाश्रय तेन हि केवलम्—एकमेव, भोताऽस्मीति शेष स्त्रीहत्यापवादात् नदीयगुधयशसि कालिनाऽऽधायाकादेव केवल विभेनोति भाव । विगडस्य—परिप्लुतस्य निदीप्रत्येत्य २ इदानीं स्यावरकचेटवचसा अप्वादविस्तुक्तस्य ते यावत्, ते—नम, नृत्यु —नरण हि—निययेन, पुत्रजन्यसम, —सुतनम्वसदृश तन्तुल्यानन्ददायक इति यावत्, भवेत्—सम्पद्येत, “पुत्रस्ते जातः” इति अस्तवर्षिवचनयवगुणसमकाल १३।पुत्र निरतिशयहृषीदप्रदर्शनादित्याश्रय अत्यन्तदुःखावस्थायां अपि पुत्रजननं ज्ञत्वा तत्त्वार्थावनलानन्देन पित्रा स्रष्टुं दुःखं यथा सुसहं भवति, तथा अत्रयारीपतहत्यापराधकलङ्कितोऽहम् अनवम् इति अत्यन्तदुःखितोऽपि इदानीं चेष्टवचना स्त्रीवधापवादविस्तुक्त, अतः सुखं मग्निमाप्नोति फलिताय । अतः सत्यो पुत्रजननं न सह अवैधस्य साम्यकथनात् उपनाऽन्वहार । पद्यावच्छेदवृत्तम् ८ २७ ॥

चाण्डाली । यावलत्र । अवि (ह) शच्चं भणामि १ ॥

चेट । शच्चं । जग्गे वि, मा कण्ण वि कधइण्णशि त्ति पाशाद-  
वालगा पदोलिआए दण्डणिअलेण बन्धिअ णिक्खित्ते । १ (क)

शकार' । [ प्रविश्य सहर्षम् ]—

मशेण तिक्खामिलकेण भत्ते, शाकेण शूणेण ग्रमच्छकेण ।

भुत्त मए अत्तणअण्ण गेहे शालिण्ण कूलेण गुल्लोदणेण ॥ २८ ॥

० स्यावरक । अपि सत्य भणामि ?

† सत्यम् । अहमपि, मा कस्यापि कथयिष्यमीति, प्रासादवालाग्रप्रतीलिकाया  
दण्डनिगङ्गेन वद्धा निक्षिप्त ।

‡ नासेन तित्कान्नेन भक्त शाकेन शूणेन ग्रमच्छकेन ।

भुक्त मयात्मनो गेहे शालीयकुरेण गुडौटनेन ॥

सेनामलम्बा सञ्जातमत्सर स्वयमेव वसन्तसेना हत्वा आत्मवाणाय तत्प्रेयस सम  
जीवननाशार्थं वा मयि तमपराधमारापितवान्, न त्वह तत्त्वतो दोषीति भाव ।  
अत्र तत्पदप्रतिपाद्यस्य शकारस्य विधाक्तेन ग्रहेण सादृशमवैधस्य साम्यप्रतीते उपमा  
सुखद्वार । पद्यावक्तव्यम् ॥ २८ ॥

( ह ) अपिरत्र प्रश्ने, यथार्थं कथयामि किम् ? इत्यर्थ ।

( क ) सत्य—यथार्थं, भणामीति शेष । कस्यापि—जनस्य, इति सम्बन्ध  
विवक्षया पठ्यो, कमपि जनमित्यर्थ । दण्डनिगङ्गेन—दण्डस्य—ग्रामनस्य, निगङ्ग,  
—गङ्गल तन, [ अश्वघामादिवत् तादर्थ्ये पठ्योममाम ], यत्रा,—दण्डसल्य,—  
गृहकुक्ष्यायितदारुविशेषसंयुक्त, य निगङ्ग,—आवृण्ण्डल इत्यर्थ, तन, [ शाका-  
पार्थिवादित्वात् उत्तरपदलोपो समास ] । वद्धा—सुयस्य, करचरणावित्यर्थ ।  
निक्षिप्त,—एकान्त स्थापित इत्यर्थ ।

स हि कनापि निषेण चारुदत्त व्यापादयितुं त्यक्ताहारनिद्र शकार सम्यति  
चारुदत्तस्य प्राणदण्डान्नया कृतशस्त्रस्य इदानीं हर्षे प्रकाशयन् स्वगृहं नियन्त्रितेन  
कृत स्वभोजनव्यापार वर्णयति, नासेनेति ।—नासेन—सुपक्वे । शालान्निपाशन  
तित्कान्नेन—तित्केन—तित्करसेन, कारवेलादिना इत्यर्थ, तथा अन्नन—अन्न-  
तान्निपादिना चेत्यर्थ, शाकेन—अन्ननाशसंस्कृतपदपुष्पादिना, तित्करसवता अन्न  
रसवता च दण्डविधेन भोजनोपकरणेन इत्यर्थ, ( "मूलपदे करोराय फलका- ॥ १५  
२८ तम् । त्वत् पुष्प कवकस्यैव शाक दगावध व्युत्पन्न ॥" इत्युक्त ) सन्त्यक्त-  
न



[ कथे दत्त्वा ] भिन्नकंश-खड्गणाए चाण्डालवाचाए शल-  
शंजोए, जधा अ एशे उक्तालिदे वञ्चडिण्डिमशदे पड-  
हाण अ शुणीअदि, तथा तक्केमि, दलिइचालुदत्ताके वञ्च-  
हाण शीअदि त्ति, ता पेक्खिस्स । शत्तुविणाशे णाम मे महन्ते  
हलक्कस्स पलिदोशे होदि । शुद अ मए, जेबि किल शत्तुं  
वाचादअन्त पेक्खदि, तस्स अस्सस्सिं जन्मान्तले अक्खिलोगे ण  
होदि, मए क्खु विगगण्डिगढभ पविट्ठेण विअ कीडएण किं  
पि अन्तज्ज सम्ममाणेण उप्पाडिदे ताह दलिइचालुदत्ताह  
विणाशे । शम्पदं अत्तणकेलिकाए पाशाद बालग पदोलिआए  
अहितुहिअ अत्तणो पलक्कम ( ख ) पेक्खामि । [ तथा क्त्वा

\* भिन्नकास्यखड्गनाया चाण्डालवाचाया स्वरसंयोग, यथा च एष उक्तालिती  
वञ्चडिण्डिमशब्द पट्टहानाच्च श्रूयते, तथा तर्कयामि, दरिद्रचारुदत्तकी मध्यस्थान  
नीयते इति । तत्र प्रेक्षिष्ये । शत्रुविनाशे नाम मम महान् हृदयस्य परि-  
तोषो भवति । श्रुतञ्च मया, यो हि किल शत्रु व्यापाद्यमान पश्यति, तस्य अन्यस्मिन्  
जन्मान्तरे अचिरादीनां न भवति । मया खलु विषयन्यिगमप्रविष्टेनेव कीटकीन किमपि  
अन्तर मृगयमाणेन उत्पादितस्तस्य दरिद्रचारुदत्तस्य विनाशः, साम्प्रतम् आत्मीयाया

मत्स्यपुत्तेन, मृपेन—अश्वनभेदन, मुद्गादिदिदलेन सहेत्यर्थः, [ सहार्थे तृतीया, सुखेन  
धीयन् अतो इति मृप, मृपूज्ज्वात् प्रिवते घञर्थे क, पृथोदरादित्वात् साधु ] तथा  
शालोपकुरेण—शालितण्डुलप्रभवेण अन्नविशेषेण, ( कूरशब्दस्याभ्यर्थकत्वमुक्तं हला-  
युधेन ) अभुतनेति पदोद्धाहायम्, गुडीदनेन—गुडेन—गुडमिश्रितेन, आदनेन—  
पकेन अन्नेन, पायसेन इत्यर्थः, आत्मन एव—स्वस्यैव, गेह—भवने, मया—शका-  
मयेत्यर्थः, नक्तम्—अन्न, ( “मक्तमन्ने तत्परे च” इति हिमचन्द्र ) भुक्त—भाचतम्,  
अहन् प्रत्यहमेव स्वगृहे विविध सुखाय यथेच्छं निश्चिन्तना मुञ्चे, अतो नास्ति  
ममन कोऽपि सौभाग्यवानित्याशयः । इन्द्रवज्रा उक्तम् ॥ २६ ॥

( ख ) भिन्नकास्यखड्गनाया, —भिन्नकास्यवत अस्त्रखड्गननिनाद कुर्वन्त्या,  
पट्टहानाच्च खड्गना इत्यर्थः, [ खड्गन खड्गन कुर्वन्त्या इत्यर्थे भृशोदराकृतिगणत्वेन  
७०११-सदनुगतद्वारेण विप्रस्ये, यथात् पचादित्वादचि श्रिया टापि च खड्गना

इति पद सिद्धमिति ] चाण्डालवाचाया, —चाण्डालवचस, [ वाच्-शब्दात् स्त्रिया  
 वैकल्पिक टापप्रत्यय, “जुधा वाचा दिशा कुञ्जा विपाशा च सृजा रुजा । गिरीणिज्ञा  
 देवविशा पक्षे चुदवादिगादय ॥” इति दर्शनात् ] । स्वस्मयोग, —स्वराणा—  
 कण्ठध्वनिना, सयोग, —सस्यक् सम्बन्ध, यूयते इति शेष, कर्कशकण्ठस्वरपरिचयेन  
 एष घातकाना रश्च इत्यनुमीयते इति तात्पर्यम् । उत्खालित, —उद्धमित, उत्थापित  
 इत्यर्थे, घातुकैरिति शेष, [ उत्पूज्यकात् भौवादिकात् खलते णिचि कम्पणि निष्ठा,  
 अस्य चलनाथकतयैवात्र उद्धमनाथकत्वम्, उद्धमनस्यापि चलनविशेषरूपत्वादिति ]  
 बध्यडिगुमशब्द, —बध्याना—राजादेशेन हननीयानामित्यर्थे, डिङ्गिम, —राजा-  
 ज्ञया अपराधिना बधकाले वादनीय वाद्यभेद, तस्य शब्द, —स्वन । पट्टहानाच्च,  
 —ट्टकानाच्च, शब्द इति शेष, [ चकारस्य समुच्चयार्थकत्वेऽपि “पट्टहानाम्” इति  
 सम्बन्धपदेन अन्वयार्थे “बध्यडिगुमशब्द” इति समस्तपदस्यैकदेशस्य शब्दपदस्य  
 अनुपपत्तेरान्वयो न सम्भवति एकदेशान्वयस्यानङ्गीकारात् इति ऊर्ध्वेन पृथक्शब्द-  
 पट्टेनान्वय, तदङ्गीकर्तृमते तु न काचिद्भानिरिति बोध्यम् ] । शत्रुविनाशे—शत्रो,  
 —अरे, चारुदत्तस्येत्यर्थं, विनाशे—हत्याया, चारुदत्तस्य वधे जाते सतीत्यर्थ ।  
 [ “शत्रुविनाशे णाम” इत्यत्र “शत्रुविनाशेण” इति पाठान्तरम् ] नाम—सम्भावनाया,  
 पङ्क्तिषो भवतीति सम्भावयामीत्यर्थे । व्यापाद्यमान—विनाशमानम् । [ अत्र  
 “वावादश्मान” इति वक्तव्ये, “वावादश्नन्” इति प्राकृत, व्यापाद्यन्तम्—आत्मान  
 घातयन्तम् इत्येक पदमुच्चारयन् शकार अचिरादेव स्वस्य वधानुरूप पराभव  
 भविष्यति, न तु जिघांसितस्य चारुदत्तस्य इति भाविनमर्थं धमात् स्वयनेवाभ्यधादिति  
 रहस्यम् ] । “अन्यन्निन् जन्मान्तरे” इति द्विहक्ति शकारवक्तृत्वात् न दीयावदिति  
 बाध्यम् । अचिरागो न भवतीति ।—शत्रुविनाशदर्शनस्य चतुर्धोरतिसन्तपणतया तेन  
 चक्षुरोगो न भवति इति शकाराशयः । विमस्य—मृणालस्य, ग्रन्थि, —पञ्चमसि,  
 तस्य गर्भे—अभ्यन्तरे, प्रविष्टेन—गतेनेत्यर्थ, कौटकेन—चुद्रप्राणिविशेषेण ।  
 किमपि—किञ्चित् । अन्तरम्—अवकाश, निष्क्रमणमार्गमित्यर्थ । मृगयमाणेन—  
 अन्विष्यता । उत्पादित, —जनित, सङ्गठित इत्यर्थं, मृणालग्रन्थिगमप्रविष्ट कौटो  
 यथा तत् निष्क्रमितुं कमपि अवकाशमन्विष्यन् केनचित् क्रिद्रेण मुक्तिं व्रमत, तथा  
 वसन्तसेनाहत्यापराधजनिताया दुस्तरायानापदि पतित अवरुद्धप्राय अत्र तस्मान्ना  
 मुक्तिमन्विष्यन् चारुदत्तस्योपरि तमपराध पातयित्वा उपस्थितात् मङ्गल सङ्गटात्  
 इदानीं स्वयथा निमुक्ती जात इति भावः । पराक्रम—सामर्थ्य, प्रभुशक्तिमिवय,  
 चारुदत्तविनाशसाधकं खड्गदिकौशलमिति यावत् ।

दृष्टा च] ही ही । एदाह दलिदचालुदत्ताह वज्झा णीअ-  
मणाह एवड्ढे जणसम्मद्दे, ज वेलं अस्थालिसे पवले वलमणुशे  
वज्झा णीअदि, त वेलं कीदिशे (ग) भवे ? [ निरीक्ष्य ] कध । एशे  
शे णववलहके विअ मण्डिदे दक्खिण दिश णीअदि ? अथ  
कि णिमित्त मम केलिकाए पाशाद-वानग-पदोलिआए  
समीवे घोषणा णिवडिदा णिवालिदा अ ? (घ) [ विलोक्य ]  
कध थावलके चेडेवि णत्थि द्धध ? मा णाम तेण इदो गदुअ

प्रासादवालाप्रतीलिकायामधिरुद्धा आत्मन पराक्रम पश्यामि । ही ही । एतस्य  
दरिद्रचारुदत्तस्य वध्य नौयमानस्य एतावान् जनसम्मर्द्दं, यस्या वेलायामस्मादृश  
प्रवरा वरनानुषो वध्य नीयते, तस्या वेलाया कौटुशी भवेत् ? कथमेव स नववलीवर्द  
इव सङ्गृहीतो दक्षिणा दिश नीयते । अथ कि निमित्त मदीयाया प्रासादवालाय-  
प्रतीलिकाया समीपे घोषणा निपतिता निवारिता च ? कथं स्यावरकथेऽपि

( ग ) दरिद्रचारुदत्तस्य—तन्नामधेयस्य दुर्गतस्य सायबाहस्येत्यर्थः, दर्शनायेति  
शेषः । वय—ववाय इदं, वध्यमानमित्यर्थः । जनसम्मर्द्दः,—जनानां परस्पर  
नृपप्रणमित्यर्थः, जततेति यावत्, [ मनर्द्दनम् इति सम्मर्द्दं, सपूर्वज्ञातं नृदाती भावे  
घञ् ४५म् ] । यस्या वेलाया—यस्मिन् समये । अस्मादृश,—अस्माकमृश, नादृश  
परमैश्वर्याशीत्यर्थः । वरनानुष,—प्रधानपुरुषः, [ नयते कस्मिन् प्रधानकर्मण्य  
वरनानुष इत्यस्य उक्तत्वात् प्रधाना ] । वध्य,—वध्यस्थानम् । नीयते—प्राप्यते ।  
कौटुशः,—कम्पकार यदि एतस्मिन् दोने वध्यमस्मि नोयमाने तद्दृशनायम् एता  
वान् जनसम्मर्द्दं, तर्हि, न जाने लोकोत्तरविभवशालिषु अस्मासु एव नीयमानेषु  
अस्मै कौटुक्कवदिति अनुदिताद्यः, एतन् मुखं शकार स्वयाचिरादेव वध्यमस्मि  
न न न वध्यतेति विज्ञापितवान् । एवड्ढे” इत्यत्र ‘एषे वड्ढे’ इति पाठान्तरं,—  
“एव एव इति गङ्गितम् इदं —उन्नीतं इति प्रात इत्यर्थः ] ।

मन्तभेदे किदे भविष्णदि ? ता जाव गं अणेगामि । † (ङ)  
[ इति अवतीर्थ उपसर्पति ( च ) ] ।

चेट । [ दृष्ट ] । मट्टालका । एणे शे (क) आगडे । †  
चाण्डालो—ओगलध, देध मग, टाल ठक्केध, होध तुल्लोआ ।

अविणअ तिकवविगाणे दुट्टवड्ढे इदो एदि ‡ ॥ ३० ॥

नास्तीह ? मा नाम तज इती गत्वा मन्तभेद कृतो भविष्यति ? तद् यावदेन-  
मन्विष्यामि ।

† भट्टारकाः । एष स आगत ।

‡ अपसरत, दत्त मार्गं, हार पिधत्त, भवत तूष्णीका ।

अविनयतीक्ष्णविधाणो दुट्टवलोवद इत एति ‡ ॥

घोषणा—घोषणावाक्यमिति यावत् । निपतिता—उद्धोषिता, राजशासनमुद्धोषण  
समकालमव इति यावत् । निवारिता—निषिद्धा, केनचित् इति श्रुय, कथ निपतिता  
घोषणा अकाले एव निवारिता ? इत्याशङ्का ।

( ङ ) नाम—सम्भावनाया, विकल्पे वा । तेन—स्थावरकचेष्टेनेत्यथ । इत,  
—अस्मात् स्थानात् । गत्वा—अपसृत्य, जनसमलमिति शेष । मन्तभेद,—मन्त्रस्य—  
गुह्यवादस्य, मत्कृतवसन्तसेनाह्वयारूपगुप्तविषयस्येत्यथ, भेद,—प्रकाश, सञ्जसमल  
आपनमिति यावत्, मा कृत भविष्यति—अनुष्ठित न सम्पत्स्यते, असौ हि दृष्टाश्रय  
चट ईदृशात् सुरक्षितस्थानात् इदानीमेव पलायितवान्, मन्ये किमसौ स सञ्जसमल  
गुह्यविषयमप्रकाशयत् क्लिप्त, यदि हि तेन गुप्तवाद सञ्जसमल प्रकाशित स्यात्, तर्हि  
मे सहाननर्थ आपद्येत इति, अत एव मया त्वरितमेव तदनुसरण कर्तव्यमिति तर्हि  
मे गुप्त रहस्यमसौ भड्कु न शक्तुयादिति भावः । यद्यव तर्हि अविनयमेनैव तद्विधेय  
मित्याह, यावदिति ।—एतदि सम्भ्रममूषकम् अन्यथम् । एन—स्थावरकम्,  
अन्विष्यामि—अनुसन्दधामि, अन्यत सर्वं परित्यज्य एनमव अनुव्रजामि इत्यर्थः ।

( च ) अवतीर्थ—अवकृष्ट, प्रासादाद्यादिति शेष । उपसर्पति—उप—  
समीपे, सपति—गच्छति चाण्डालादीन् इति शेषः ।

( क ) भट्टारका इति चाण्डालानामामन्त्रणम् । एष स,—य वसन्तसेनां  
वाहुपाशबलात्कारण मारितवान्, स असौ मत्प्रभु प्रकार इत्यथ ।

स्थावरकमुखात् शकारस्य दुष्टेष्टितमाकर्ण्य तत्तीक्ष्णेषामपि अपकारमाशङ्क  
योरप्याह अस्मादभवस्याननुपादशत, अपसरतेति ।—अपसरत—अपगच्छत, इती

शकार । अले अले । अन्तल अन्तल देध । [ उपसृत्य ]  
पुत्तका थावलका चेडा । एहि, गच्छम्ह । \*

चेट । ही ही अणज्ज । वशन्तशेण्णिअ मालिअ ण पलि-  
तुट्टेशि ? शम्पद पणइज्जण-कप्पपादव अज्जचालुदत्तं माल-  
इदु ववशिदे शि ? † ( ज )

\* भरे भरे । अन्तरमन्तर दत्त । पुत्तक स्थावरक चेटक । एहि, गच्छाव ।

† ही ही अनाथ । वसन्तसेना मारयित्वा न परितुष्टोऽसि ? साम्प्रत प्रणयि-  
जनकल्पपादपमाव्यचारुदत्त मारयितुं व्यवसितोऽसि ।

दूर पलायध्वमित्यर्थ, मार्ग—पथानम्, अवाधागमनार्थमिति भावः, दत्त—अप्ययत,  
दुर्विनीतपशुरूपस्य शकारस्य इति शेषः, शकारस्यावाधागमनार्थं मार्गावरोधं त्यजते-  
त्यर्थः, डार—कपाटमित्यर्थः, स्वस्वगृहस्थेति भावः, पिधत्त—बध्नीत, [ अपिपूर्वकात्  
दधाते लोटि रूपम्, “वटि भागुरिरङ्गीपनवाप्योरूपसर्गद्यौ” इति वचनात् अपि  
अकारस्य पालिकी लोपः ] इतः पलाय्य गृहं गत्वा गृहकपाटं कृत्स्न इत्यर्थः, यडा,—  
भवन्त्या सर्वे गृहकपाटान् आहणत इत्यर्थः, अन्यथा उद्दामककुञ्चानयम् चन्मुक्ता  
दारमार्गेण गृहं प्रविश्य युष्मान् सर्वान् निर्यातयिष्यतीति भावः, तूष्णीका,—  
नीतिनः, [ तूष्णीं शीलं येषां ते इति शीलार्थे कन्, निपातनात् मलोपः ] भवत—  
तः, अन्यथा एव कदाऽपि कस्यापि उक्तिविशेषस्य अन्यथाऽर्थे गृहीत्वा महदनिष्ट  
मुत्पादयिष्यतीति भावः, कथमेवमकस्मादुपदेशप्रचार इत्याशङ्काह, अविनयेति ।—  
अविनय—ट शीलता इत्यर्थः, [ विनयस्याभावः अविनयम् इत्यव्ययीभावः ] तदेव  
तीक्ष्ण—निश्चित, नृत्त्याशामित्यर्थः, विषाण—शङ्ख यस्य तादृशः, दुष्टव्यवहाररूप-  
य आशयवर्षाणभोषण इत्यर्थः, दुष्टबलौबह,—दुष्टान्तरूपम्, [ अत्र शकारि दुष्टबलो  
बहोभेदाभावात् तद्वत् तस्य भोडित्यमूखवाचातिशयश्च नूयते ] इतः,—अस्या दिशि,  
अजानन्तुखितित्यर्थः, एति—आगच्छति । अत्र अप्रस्तुताद् दुष्टबलौबहात् प्रस्तुतस्य  
अलशकारस्य प्रतीतिरस्तुतप्रशङ्गाद्भावाद्, तथा अविनये तीक्ष्णविषाणतादात्म्या  
भावात् रूपकम्, एव पराङ्गतवाक्याशस्य पृष्ठाङ्गतवाक्यव्याख्यास्य अपसरणार्ह-  
नपादकतया अवतारपातः काव्यनिष्कालद्वारेत्येतेषामलङ्काराणां परस्परसापेक्षतया  
शोभत इति । अन्तिमं ॥ ३० ॥

शकार, । ण हि लक्षणकुम्भ-शलिशे हगो इत्यिअ वावा-  
देमि । ५ ( भ )

सर्वे । अहो । तुएं मालिदा, ण अज्ज-चालुदत्तेण । ५ ( ज )

शकार । के एव्व भणादि ? ६

सर्वे । [ चेटमुद्दिश्य ] णं एसो साह । ६

शकार । [ अपवाच्य (ट) स्वगत सभयञ्च ] अविदमादिके ! अविद-

२ न हि रत्नकुम्भसदृशोऽहं स्त्रिय व्यापादयामि ।

† अहो । त्वया मारिता, न आर्य्यचारुदत्तेन ।

‡ क एव भणति ?

§ ननु ण्य साधु ।

विस्मयार्थे प्रयोगोऽयं बोध्य, (“होहोशब्दो विस्मयहास्ययो” इति मेदिनी), वसन्त  
सेना “मारयित्वाऽपि न परितुष्टोऽसि, सम्प्रति चारुदत्तमपि मारयितुमुद्युक्तोऽसि ?  
अहो । ते दुष्टतता ।” इति विस्मयस्यैव प्रतीतिः । अनाद्य ।—असाधो । दुष्कृत  
इत्यर्थः । प्रणयिजनकल्पपादप—प्रणयिजनानां—याचकजनानां, सिन्धजनानां वा,  
(“प्रणय प्रणये प्रेम्णि याज्ञाविश्रम्भयोरपि” इति मेदिनी) कल्पपादप,—अभिलषित  
दायी स्वनैमग्यात् सुगतस्वविशेष, त, तत्स्वरूपमित्यर्थः, कल्पवृक्षो यथा प्रार्थना  
मात्रमेव याचकेभ्योऽभिलाषानुरूपं वस्तु ददाति, तथा अयमपि, अर्थिनां सर्वविधमभि-  
लाषं प्रायशःमात्रमेव पूरयतीति विशदय । व्यवसित,—उद्युक्त, प्रवृत्त इत्यर्थः ।

( भ ) रत्नकुम्भसदृश,—रत्नपूर्णकलसतुल्य, रत्नपूर्णं कुम्भो यथा महामूल्य  
वृक्षतृणतया अन्तःसारवान्, तद्वत् महासत्त्वेन अतुल्यविभवेन च सम्पन्नतया सारवान्  
अहं धनलिप्सया नैव स्त्रियं हतवान्, न मे अथाभावो कश्चिदस्ति, न वाऽहं निःसत्त्वं,  
अतः मयि एतादृशदुष्कर्मानुष्ठानं कथमपि न सम्भवतीति भावः, उदा,—रत्ननिर्मित-  
कुम्भ, रत्नकुम्भ, स हि यथा सुदृश्यं बहुमूल्यं भवति, तद्वत् सुखं वरपुरुषस्य अहं  
न रत्नभूतां स्त्रियं हतवानित्यर्थः ।

( ज ) अहो इति विस्मयार्थकमव्यय, साधुरयः स्थावरक समागत्य “चारुदत्तेन  
सा न हता, अपि तु शकारिणैव” इति साक्ष्यं ददाति, शकारान्तु सर्वज्ञा तदपलपति  
इति विस्मयकारणम् ।

( ट ) अपवाच्य—आच्छाद्य, जनान्तरिभ्यः परावृत्य मुखं तिरोधाय चेत्यर्थः,  
तथा च दम्पणकार,—“—तद्वदपवारितम् । रत्नं तु यदन्वसं परावृत्य प्रका-  
शते ॥” इति ।

मादिके । कथं यावत्कचे चेडे सुहु, ए मए शञ्जदे ? एशे कवु  
सम अकज्जश शक्खी । (ठ) [ विचित्र ] एब्ब (ड) दाव कलइश ।  
[ प्रकाशम् ] अलिअं भट्टालका । हहो । एशे चेडे शुवस्सचोलि-  
आए मए गहिदे, पिट्टिदे, मालिदे, वडे अ, ता किदवेले  
एशे ज भणादि, कि शब्ब शच्चं ? (ढ) [ अपवारितकेन चेटस्य कटक

\* इत्त । कथं स्यावरकचेट सुहु न मया सयत ? एष खलु मम अका  
यस्य साची । एव तावत् करिष्यामि । अलीकं भट्टारका । अहो । एष चेट सुवर्ण

( उ ) अविदमादिके ।—अथ-विष्णय-खेदमूचकमव्ययमिद, \* विरक्तिस्तु भया-  
दौनामातिशयबोधनायेन । सुहु—सम्यक्, दृढमित्यथ । सयत,—वड, निगडित  
इति यावत् । एष —अथ, चेट स्यावरक इत्यथ । अकायस्य—वसन्तसेनाहत्या-  
रपानुचितकम्पण इति भावः, [ “स्वामीश्वराधिपति—” ( २।३।३८ पा० ) इत्यादिभूतेषु  
अत्र सान्निध्ययोगात् षष्ठो, पक्षे सप्तम्यपि भवितुमर्हति ] । साची—प्रत्यक्षदर्शी ।

( ड ) एवम्—अन्वेषामगोचरेण चेटहस्ते सुवर्णकटककूपोत्कीचदानानुष्ठानमित्यथ ।

( ढ ) अलीक—मिथ्या, चेटोऽयं यद्वदति, तत्सत्त्वेनैव अयथायमित्यथ ।  
भट्टारका इति दर्शकानां सम्बोधनम्, भट्टारा पूज्या, तेषां समूहा भट्टारका,  
[ समूहाय कन् ] भी नान्वा इत्यथ । यथापि नाट्योक्तौ भट्टारकशब्दं नृपस्यैव  
बोधकतया प्रयुज्यते, तथाऽपि आत्मापराधप्रकाशशब्दया शकारस्य उद्धान्तत्वात्  
शकारभाषितत्वाद् वा एवविधं यादृच्छिकप्रयोगं सीदञ्च, सुवर्णचौरिकया—  
सुवर्णानां—खण्डालङ्काराणामित्यथ, चौरिका—चौर्यं तथा, [ चोराणां कम्प इत्यर्थं  
चौरशब्दात् कम्पणि ठन् ठक् वा, तत् स्त्रियानापि चौरिका इति पदं सिद्धम् ]  
सुवर्णचौरपणं हतुना इत्यथ । [ केचित्तु “शुवस्सचोलिआए” इति प्राकृतस्य “सुवर्ण-  
चौरकाया” इति पञ्चम्यन्तसंस्कृतपठित्वा हेतोः पञ्चमी, सुवर्णचौर्याहेतोरीत्यथ  
वदन् ] तत—तस्मात्, नयेव बहुधा निर्यातितत्वादित्यर्थः । कृतदे, —कृत—

प्रयच्छति । खैरकम् (ण) ] पुत्तका थाबलका चेडा । एद गेल्लिअ  
असुधा (त) भणाहि । †

चेट । [ मृहीला ] पेक्खध पेक्खध भट्टालका । हहो । (य)  
शुवसेण म पलोभेदि । ‡

शकार । [ कटकमाच्छिद्य ( द ) ] एणे शे शुवसाके, जश्श काल-  
णादो मए वड्डे । [ सकोधम् ] हहो चागडाला । मए क्व, एणे  
शुवस भण्डाले णिउत्ते, शुवस चीलअन्ते मालिटे, पिट्टिटे , ता  
जटि ण पत्तिआअध, ता पिट्टि दाव पेक्खध । ‡ ( ध )

चौरिकया मया मृहीतस्ताडितो मारितो वड्डय, तत् कृतवैर एव यत् भणति, किं  
सर्वं सत्यम् ? पुत्तकं स्यावरकं चेष्ट । एतद्मृहीला अन्यथा भण ।

† पश्यत पश्यत भट्टारका । अहो । सुवर्णेन सां प्रलीभयति ।

‡ एतत् तत् सुवर्णक, यस्य कारणात् मया वड्ड । हहो चागडाला । मया  
खलु एव सुवर्णभाण्डारे नियुक्त, सुवर्णं चोरयन् मारितस्ताडित, तत् यदि न  
प्रत्ययध्व, तदा पृष्ठं तावत् पश्यत ।

( थ ) अपवारितकैः—अपवारित—“तद्वैदपवारितम् । रहस्यं तु यदन्यस्य  
पराहत्य प्रकाशने” इति दर्पणोक्तलक्षणक गोपनीयविषयज्ञापक नाटकीयवस्तुचेष्टा  
विशेष, तदेव इति स्वार्थे कनि अपवारितक, तेन, अन्येभ्य पराहत्य केवलं वीक्ष्य  
स्थानिक स्वीश्रदस्यप्रकाशनार्थं चेष्टाविशेषाश्रयणेनेत्यर्थः । कटक—सुवर्णवलय  
मित्यर्थः । खैरक—खैरमेवेति । खैरक, [ स्वार्थे कन् ] मन्द मन्दमित्यर्थः, मृदुस्वरेणोक्तं  
चावत् ।

( त ) अन्यथा—अन्यप्रकारं, मया पूर्वं यदुक्तं तन्न सत्यं, न शकारिण वसन्तसेना  
मारिता, परन्तु चावदत्तेनैव इत्येव रूपनित्यर्थः ।

( ञ ) अहो इति धिगर्धकं विस्मयायक वाड्ययम्, (“अहो धिगर्धं श्रीके  
च विस्मये पादपूरणे” इति मेदिनी ) ।

( द ) माच्छिद्य—बलादाकृत्येत्यर्थः ।

( ध ) प्रत्ययध्व—विश्वं सतः । पृष्ठ—पृष्ठदेश, पश्चाद्भागमित्यर्थः, चेष्टस्तेति  
शेषः, प्राक् वसन्तसेना क्लृप्ता शकारिणादिष्टेयं परलीकभयात् तदादेशं कथमाप  
नाशकरीत, तदेव तेन कट शकारं पृष्ठदेशं तं वड्डया निर्दयम् अताडयत, तन्नेव  
हि अस्य पृष्ठदेशं प्रहारचिह्नानि जातानि, सम्मतिं तु तानेव प्रदर्शय, “सुवर्णचरणानां



चाण्डाली । [ दृष्टा ( न ) ] शोहणं भणति । वितत्ते चेडे  
किं न पलवति ? \* ( प )

चेट । हीमादिके । ईदिशे दासभावे, ज शच्चं कांपि न  
पत्तिआअदि ॥ ( फ ) [ सकरणम् ] अज्ज चालुदत्त । एत्तिके मे  
विह्वे । † ( अ ) [ इति पाठयो पतति ] ।

\* शोभन भणति । विततचट किं न प्रलपति ?

† हन्त । ईदृशी दासभाव, यत् सत्य कमपि न प्रत्याशयति ॥ आय्यचारु-  
दत्त । एतावान मे विभाव ।

नयाऽय प्रहृत, तस्यैव एतानि चिह्नानि” इत्यादि स्वीकृतं वचं सुदृढं कर्तुं चेटस्य  
पृष्ठदेशे प्रदर्शयितुमस्यावसुदयोग इति बोध्यम् ।

( न ) दृष्टा, पृष्ठदेशमिति शेषः ।

( प ) शोभन—सुष्ठु, युक्तियुक्तमित्यर्थः । वितत, —विशेषेण तप्त, प्रहार  
जनितवेदनासमुद्भूतशोकसन्निधेयाक्रोधसन्तप्त इत्यर्थः । किं न प्रलपति ?—किं विरुद्धं  
न भाषत ? सर्वमेव विरुद्धं भाषितुमीष्टे इत्यर्थः, स्वामिनि विरक्ता दासा त  
निष्यात्प्रितुम् अन्वीकानपि दोषान् आरोप्य तनमियुञ्जते इत्यपि सम्भावयितुं शक्यते  
इति भावः । [ “प्रलपति” इत्यत्र प्रतपति” इति पाठे—किं न प्रतपति ?—श्लोक-  
सूक्तं किं न अनुतिष्ठति इत्यर्थः, नास्ति हि अकार्यं किमपि क्रोधात्मानामिति भावः ।

( फ ) हन्त इति खेदमूचकमव्ययम् । ईदृश, —एवविध, भृत्याना यथा  
विध्यनुष्ठेयमानेष्वपि कस्मिन्, यथाग्रथमभिधौवमानेष्वपि वचसु च सततमेव प्रभूणां  
भुयस्यया अविश्वसनीय इति यावत् । दासभाव, —दासत्व, परकीयभाग्योपजीवित्व  
मिति यावत् । यत—यत, दासत्वादव हेतोरित्यर्थः । सत्य—तथ्य, प्रकृत वस्तु  
इत्यर्थः, यत्र नास्ति कापि विप्रतिपत्तिस्तादृशनपि पदार्थमिति यावत् । कमपि—  
प्रभु, तदितर वा कश्चिदित्यर्थः । प्रत्याशयति—विश्वासयति, दासजनस्य न्यूनमपि  
बाध न कोऽपि तत्त्वेन विश्वसितोत्यर्थः अहं हि दास, शकारन्म मन प्रभु, अत  
खलु वा नास्ति मम न्यूनमपि वचनमुपेत्य निव्यान्त तद्वचनमेव यदया परगृहीत  
मित्यत्र वस्तु विप्रदोषजनं “क पि” इत्यत्र “किं पि” इति पाठे—“किमपि”  
इति चिह्नम् । कतं प—सिद्धिदम्, वास्तव्यवहारादिकमिति यावत् । सत्य—  
वचनत उच्यते इत्यर्थः, सत्यमेति जानते प्रत्याशयति, जनमिति शेषः ।

( अ ) एतावान्—एतत्पर्यन्त, नन्वेवं ननुपेत्यापि घातक मीमादिमुज्ज्वलन-

षान् । [ सकरुणम् ]—

उत्तिष्ठ भोः । पतित-साधुजनानुकम्पिन् !

निष्कारणीपगतवान्धव । धर्मशील ।।

यत्नः कृतोऽपि सुमहान् मम मोक्षणाय

दैव न संवदति, किं न कृतं त्वयाऽय ॥ ३१ ॥

समन् प्रकृताथप्रकाशनरूप इति यावत् । मम विभव,—सामर्थ्य, भवतो रक्षणे प्रकृतमभिदधता मया सामर्थ्यानु रूप प्रयत्न कृत, न हि मे अत पर किमपि सामर्थ्य मस्तीति भाव ।

परोपचिकीर्षया स्वजीवन लक्षणां मन्यमान प्राप्तादायप्रतीलिकात् गृह्यन्सय मितमेवात्मानं पातयन्तमसु स्थावरकम् अकृतकार्यतया पादपातेन विलपन्तमानीक्य त सान्त्वयन्नाह, उत्तिष्ठेति ।—भो । पतितान्—विपन्नान्, साधुजनान्—सत्पुरुषान्, निरपराधानित्यर्थ, अनुकम्पते—दयते य तत्सम्बोधने, विपन्नसज्जनीपकारण । इत्यर्थः, निष्कारणीपगतवान्धव ।—नि,—नास्ति, कारणम्—उपकारकरणादिषुपी हेतु यस्मिन् तद्वयथा स्यात्तथा, उपगत,—प्राप्त, अपाधिततदेवोपस्थित इत्यर्थ, यो बान्धव,—सुहृत्, तत्सम्बोधने, अकृतविमप्रणयिन् । इत्यर्थः, कृतविमद्वत्वादिकन्त उपकारादिकारणजन्य, तादृशकारणाभावात् त्वयि तु तत् महज्जमिति वक्तुराशयः, तथा धर्मशील ।—धर्माचरणपरायण । [ “—बान्धवधर्मशील ।” इति समन्त-पाठे तु—निष्कारण—निर्निमित्तम्, उपकारादिहेतु विनाऽपि इत्यर्थः, उपगत—प्राप्त, सञ्जाताकाङ्क्षमित्यर्थः, बान्धवधर्मे—वस्तुकृत्ये, वस्तुभिरनुष्ठेयोपकाराद्याचरणे इति यावत्, शीलं—स्वभाव यस्य तत्सम्बुद्धौ, निश्चिताहेतुकपरोपकाराचरणपरायण । इत्यर्थः ] उत्तिष्ठ—उत्थिती भव, प्राणपातिचेष्टयाऽपि प्रतिकूलदेववर्गेन अकृतकार्यस्य विपक्षस्य ते पादपतनं न युज्यते इति भावः । कथं न युक्त इत्याशङ्क्य, यत्न इति ।—त्वया—भवता, अथ—इदानीम्, पूर्ववत्तु एव इत्यर्थः, मम—मे, मोक्षणाय—प्राणदण्डादिमुक्तये, किं न कृतम् ?—अनुष्ठितम् । अपि तु सर्वमेव सुहृत्कार्यं कृतमित्यर्थः, ( किन्तु ) सुमहान्—सातिशयः, यत्नवत्तम इति यावत्, यत्नः,—आयासः, प्रभोरसन्तोषमुपेत्यापि सत्यमभिधाय मम रक्षणार्थं निर्वन्धातिशयरूप इति यावत्, कृतः,—आचरितोऽपि, ( केवल ) दैव—दुर्भाग्य, टरट्टमित्यर्थः, पूर्वजन्मकृतमनुभवाधनं कस्मेति यावत्, ( “पूर्वजन्मकृतं कर्म तदैवमिति कथ्यते” “स्वमेव कर्म देवाख्यं विद्धि देहान्तरान्ति” “प्राग्जन्मनि कृतं

चाण्डालौ । भट्टके । पिष्टिअ एदं चेडं णिक्खालेहि । ‡ (भ)  
 शकार । णिक्कम ले । [ इति निष्कामयति ( म ) ] । अले  
 चाण्डाला । कि विलम्बेध ? मालेध एद । † ( य )  
 चाण्डालौ । यदि तुवलशि, ता शअ ज्जेव मालेहि । ‡ (र)  
 रोह । अरे चाण्डाला । म मालेध, सुच्चध आवुक्कं । §

\* भट्टक । ताडयित्वा एत चेष्ट निष्कासय ।

+ निष्काम रे । अरे चाण्डाला । कि विलम्बध्वम् ? मारयतेनम् ।

‡ यदि त्वरयसे, तदा स्वयमेव मारय ।

§ अरे चाण्डाला । ना मारयत, सुच्चत पितरम् ।

कम्प शुभ वा यदि वाऽशुभम् । दैवशब्देन निर्दिष्टमिह जन्मनि तदुभै ॥” इति च  
 स्मरणात् ), न सवदति—नानुकूलयति, नानुकूल भवतीत्यर्थ , भवान् यथा मयि  
 स्वत एव अनुकूल, तथा चेत् दैवमप्यभविष्यत्, तदा अनायासेनैवाहमस्मात्  
 अतीकाभिप्रेतप्रमाणदण्डात् विमुक्तिमलप्स्ये, मयि तु साम्प्रत तस्यैव सम्पूर्णप्रति-  
 कृततया त्वया कृतोऽयं नुमहानपि पुरुषकार ऊपरभूमावुत्त वीजमिव विफलो जात  
 इति भावः , यदा—न सवदति—न प्रमाणयति, सत्यमपि त्वदवाक्य प्रमाणत्वेन न  
 स्वीकरोतीत्यर्थ , “सवाद प्रामाण्यम्” इति तान्त्रिका , अथवा दैव—नियति,  
 जन्मान्तरीयकम्परिपाक इत्यर्थ , न सवदति—न वशीकरोति, विपक्षभूतान् जना  
 निति शेषः, [सपृच्छकात् वदने वशक्रियाथकत्व कोपप्रसिद्धम् । “वशक्रिया सवदनम्”  
 ६२२२ ] । अथ पतितसाधुजनानुकम्पित्वादिविशेषणान्तत्वनपदानां साभिप्रायक-  
 तया परिकरालङ्कारः । वसन्ततिलक वृत्तम् ॥ ३१ ।

शकार । शपुत्त ज्जेव एद मालेध । ३

चारु । सर्वमस्य मूर्खस्य सम्भाव्यते ; तद्वच्छ पुत्र । ( ल )  
मातुः समीपम् ।

रोह । किं मए गदेण कादब्बम् ? १ ( व )

चारु ।—

आश्रमो वत्स । गन्तव्यो गृहीत्वाऽद्यैव मातरम् ।

मा पुत्त । पिट्ठदोषेण त्वमप्येव गमिष्यसि ॥ ३२ ॥

\* सपुत्रमेव एत मारयत ।

+ किं मया गतेन कर्तव्यम् ?

( ल ) सर्व—सकलमेवेत्यर्थः, सपुत्रस्यैव मम निधनादिरूप सर्वविधमेव दुष्कर्म इति यावत् । मूर्खस्य—मूढस्य, हिताहितज्ञानवर्जितस्येत्यर्थः । अस्य—एतस्य, शकारस्येत्यर्थः । सम्भाव्यते—तत्काले, अनेन मूर्खेण सर्वमप्यकार्यं कर्तुं शक्यमित्यनुमीयत इत्याशयः । तत्—तस्मात्, मया सह तवापि विनाशस्य सम्भाव्यमानत्वादित्यर्थः । पुत्त ।—वत्सरोहसेन । इत्यर्थः ।

( व ) गतेन—यातेन, मातृसमीपमिति शेषः, इह त्वामेव विपन्नमशरणं विहाय मातृसमीपं गत्वा अहं किं करिष्यामि ? इति समुदिता ।

पुत्रकृतप्रश्नस्य प्रतिवचनं दातुं मातृसमीपं गत्वा कर्तव्यमुपदिशन्नाह, आश्रम इति ।—इह वत्स ।—तात । मातर—जननी, धृतामिति यावत्, गृहीत्वा—अवत्तव्या, मात्रा साङ्गमित्यर्थः, मातर सहकृत्यात यावत्, अद्यैव—एतस्मिन्नह्नयेव, [ अद्यैवेत्यनेन अवधारणान् क्षणकालमपि नगरेऽस्मान् अवस्थानकृतं ।वलम्बो न काव्य इति आशयः सूचितः । एवमब्दस्यातः नियोगाशयकत्वं, नियोगावधारणम्, अत एव सन्धौ एकारस्य वृद्धिः, अनियोगाशयकत्वे तु एवकारस्य सन्धौ परस्परमेकादेशः, तेन च अद्यैवेति पदं भवति, तथा च वाचिकम् “एवैवानियोगे” इति ] आश्रम—सुनिजनतपश्चैव, नित्यशान्तिनिकेतनतया निबाध इति भावः, गन्तव्यः,—यातव्यः, त्वयेति शेषः । आश्रममनाश्रित्य यथापूर्वं गृह्णवस्थानि, मदधेनाप्यपारतुष्टेन मूर्खं शकारेण पुत्रस्यापि विनाशी मा भूदित्याह, मात ।—इह पुत्र ।—तनय । त्वमपि पिट्ठदोषेण—पिट्ठकृतवसन्तसेनाधमूलकेनारोपितापराधेन, एवम्—इदंश्रम, शकारेणप्राप्तदण्डमित्यर्थः, मा गमिष्यसि—न प्राप्नुहि इत्यर्थः । अनावस्थितस्य तत्त्वपत्तिर्न ह्यसम्भाविता, यतः, यदि कदाचिदयं प्राप्ताहसंप्रतिपरवत् शकारं मदधेनाप्यपरितुष्ट्यन् वसन्तसेनाघातकस्य पुत्राऽयमस्मादधिकारो जीवतीति रात्रौ १९२५६८

तद्वयस्य । गृहीत्वैनं व्रज । (श)

विद् । भो वञ्चस्व । एव तु ए जाणिद, तु ए विणा अह  
प्याणाइ धारेमि त्ति ? ४ (ष)

वाक् । वयस्य । स्वाधोनजीवितस्य न युज्यते तव प्राण-  
परित्यागः । (स)

विद् । [ चगतम् ] जुत्त रोद, तधा वि ण सक्कुणोमि पिअ-  
वञ्चस्स-विरहिदो प्याणाइं धारेदु त्ति, ता व्वम्हणीए दारअं सम-

\* भो वयस्य । एव त्वया ज्ञात, त्वया विनाऽह प्राणान् धारयामि इति ?

† युक्तं नेदम्, तथापि न शक्नोमि प्रियवयस्यविरहितं प्राणान् धर्तुमिति,

तदा अविचारकं पालकोऽपि, अयमपि जीवन् पिबेत् स्त्रीवधादिकमकाय्यंश्चत  
करिष्यतीति विविच्य त्वा घातयेत्, अतस्तथा नात्वा सह अविलम्बमेव कुराज  
शासितादस्मात् नगरात् पलायितव्यमिति भावः । प्रत्यावृत्तं वृत्तम् ॥ ३२ ॥

( श ) तत—तस्मात्, मनापराधेन अस्यापि प्राणविनाशसम्भवात् इत्यर्थः ।  
वयस्य—सखे । विदूषकस्यानन्वयनेतत् । एन—एव रोदसेनमित्यर्थः । व्रज—गच्छ,  
आश्रयं गृहं वेति शेषः ।

( ष ) ज्ञात—विदितं किम् ? मनसि चिन्तितं किमित्यर्थः, त्वयि उप-  
रतेऽपि अहं जीवानि इति त्वया स्मरौक्यं किम् ? येनेदानीं रोदसेन गृहीत्वा  
नानपि आश्रयं गन्तुनादिशसि ? इति समुदितायं, [“ज्ञातम्” इति ज्ञाधातो  
अतोर्निष्ठा, न तु वर्धमाने, तथा सति ज्ञानायकानां वर्धमाने निष्ठाया तत्कर्तार  
“कस्य च—” ( २।२।८७ पा० ) इति षष्ठीनियमात्, “त्वया” इत्यत्र षष्ठ्यापत्तिः ।  
न च नाप्यसमकालमेव कथनतीति निष्ठाया सम्भव इति वाच्यम्, अतोऽप्येकैव  
नापि आश्रयं प्रयच्छात्, “वर्धमाने कालात् प्रवृत्तिः । किं भवता एतदेव विज्ञातं  
नासीत् ?” इत्येव अतोऽप्येकैव कालानिर्वाहकस्य वर्धमानस्य सम्भवादित्यनसन्देहम् ।

पिअ प्पाणपलिच्चाएण अत्तणो पिअवअस्स अणुगमिस्सं । (ह)  
 [ प्रकाशम् ] भो वअस्स । पराणेमि एदं लहुं । † ( क ) [ इति  
 सकण्ठयह पाटयो पतति ( ख ) । दारकोऽपि रुदन् पतति ] ।

शकार । अले । णं भणामि, शपुत्ताकं चालुदत्ताकं बावा-  
 देध त्ति । ‡

चारु । [ भय नाटयति ] ।

चाण्डालौ । णहि अस्हाण ईदिशी लाआस्सत्ती, जधा  
 शपुत्त चालुदत्त बावादेध त्ति , ( ग ) ता णिक्कम ले टालआ ।

तत् ब्राह्मण्यै दारक समर्थ प्राणपरित्यागेन आत्मन प्रियवयस्यमनुगमिष्यामि । भो  
 वयस्य । पराणयामि एत लघु ।

‡ अरे । ननु भणामि, सपुत्रक चारुदत्त व्यापादयतेति ।

§ न हि अस्माकमीदृशी राजाजति, यथा सपुत्र चारुदत्त व्यापादयत

( ह ) इदं—स्वेच्छया प्रार्थनसर्जनरूप कर्म, आत्महननम् इत्यर्थः । न युक्तः—  
 नोचितः, यत अन्वतामिसा अमूया नाम लोका आत्मघातिन प्रपद्यन्ते इति ऋषयः  
 अनुब्रुवन्ति, अतः स्वेच्छया जीवनविसर्जनं नैव कर्तव्यमिति भावः, आत्मघातिन  
 तादृशलोकप्राप्तिरुक्ता वाजसनेयसंहितोपनिषदि यथा,— ‘अमूया नाम ते लोका  
 अन्धेन तमसा वृताः । तास्ते भ्रेत्याभिगच्छन्ति ये के चात्महनो जनाः ॥’ इति ।  
 तथाऽपि—आत्महननस्य तादृशभौषण्यनरकसाधनत्वेन मत्त्वयाऽयुक्तत्वे सत्यपीत्यर्थः ।  
 प्रियवयस्यविरहितः,—प्रियवयस्येन—प्राणाधिकमुद्धता, चारुदत्तेनेत्यर्थः, विरहितः,—  
 विच्छिन्नः, आजीवन सङ्गमुखवर्चित इति यावत् । ब्राह्मण्यै—चारुदत्तपत्न्यै, धृतायै  
 इति यावत् । दारक—बालक, रोहसेनमित्यर्थः । अनुगमिष्यामि—अनुसारस्यामि,  
 भरिष्यामीति भावः ।

( क ) पराणयामि—व्यावर्त्तयामि, स्थानादन्मात् मातृसमीपं प्रापयामीत्यर्थः ।  
 एतम्—इमं, बालकमित्यर्थः । लघु—शीघ्रम्, भवदादिशादचिरादेव बालमिमं  
 स्थानान्तरमपसारयामीति समुदिताय ।

( ख ) सकण्ठयह—कण्ठस्य—गलदेशस्य, यह,—बाहुयुगलेन यद्वर्णमित्यर्थः,  
 तेन सह वक्तव्यं यथा तथा, आदौ कण्ठे गृह्णीत्वा आलिङ्ग्य पश्चात् पादयोः  
 पतनमिच्छाव्रतव्यम् ।

( ग ) अस्माक—घातकानाम्, आवयोरित्यर्थः । ईदिशी—वर्त्यमाण्यपि,

गिक्रम । [ इति निष्क्रामयत ] । इम तइअ घोशणद्वाणं, ताडेध  
डिण्डिम । §

[ पुनघोषयत ] ।

शकार । [ स्वगतम् ] कधं एशे ण पत्तिआअन्ति पौला ?  
[ प्रकाशम् ] हहो चालुदत्ता । बडुका । ण पत्तिआअटि एशे  
पौलजणे, ता अत्तण केनिकाए जौहाए ( घ ) भणाहि, मए  
वशन्तशेणा मालिडे त्ति । ॥

इति, तन्निष्क्रान्ते रौदारके । निष्क्रान्ते । इदं तृतीयं घोषणास्थानं, ताडयत  
डिण्डिमम् ।

५ कथमस्य न प्रत्यागयन्ति पौरा ? अरे चारुदत्त । वटुक । न प्रत्यागयति  
एष पौरजनः, तदात्मोद्यया जिह्वया भण्य, मया वसन्तसेना मारितति ।

सपुत्रचारुदत्तहननरूपेत्यर्थः । राजाज्ञमि,—राज्ञ,—नृपते, पालकस्येत्यर्थः,  
आज्ञमि,—आदेश, वयं हि राजाटशानुवाचनं, राजादेशश्च एकार्किक एव चारु-  
दत्तस्य हनननिर्वागरूपः, अतो न राजादेशवद्भिर्भूतं पुत्रस्यापि हननमनुतिष्ठाम इति  
चाण्डालाश्च ।

पिअ प्याणपलिच्चाएण अत्तणो पिअवअस्स अणुगमिस्सं । (ह)  
[ प्रकाशम् ] भो वअस्स । पराणेमि एदं लहु । ५ ( क ) [ इति  
सकण्ठग्रह पादयो पतति ( ख ) । दारकोऽपि रुदन् पतति ] ।

यकार । अले । णं भणामि, मपुत्ताकं चालुदत्ताकं बावा-  
देध त्ति । ॥

चारु । [ भय नाटयति ] ।

चान्दालो । गहि अस्साण इंदिशी लाआम्हत्तो, जधा  
मपुत्त चालुदत्त बावादेध त्ति ; ( ग ) ता णिक्कम ले टालआ ।  
तत्त प्राङ्गणं दारक समर्थं प्राणपरित्यागेन आत्मन प्रियवयस्यमनुगमिष्यामि । भो  
नयस्य । पराणयामि एत लघु ।

‡ अरे । ननु भणामि, मपुत्तक चारुदत्त व्यापादयतेति ।

§ न हि अस्माकमौदृशी राजाजति, यथा मपुत्त चारुदत्त व्यापादयत

( ह ) इदं—स्वेच्छया प्राणावसन्नरूप कम्प, आत्महननम् इत्यर्थ । न युक्त—  
नाचित, यत् अन्धतामिस्रा अमूया नाम लोका आत्मघातिन प्रपद्यन्ते इति कृपया  
अनुव्रवन्ति, अतः स्वेच्छया जीवनविसर्जनं नैव कर्तव्यमिति भावः, आत्मघातिन  
तादृशलोकप्राप्तिरुक्ता वाजसनेयसहितोपनिषदि यथा,—‘अमूया नाम ते लोका  
अन्धेन तमसा ऋता । तास्ते प्रेत्याभिगच्छन्ति ये के चात्महनो जना ॥’ इति ।  
तथाऽपि—आत्महननस्य तादृशभोग्यनरकसाधनत्वेन मञ्जयाऽयुक्तत्वे सत्यपीत्यर्थः ।  
प्रियवयस्यविरहितः,—प्रियवयस्येन—प्राणाधिकमुद्धता, चारुदत्तेनेत्यर्थः, विरहितः,—  
विविक्त्र, आजीवन सङ्गमुखवञ्चित इति यावत् । ब्राह्मण्यै—चारुदत्तपत्न्यै, धृतायै  
इति यावत् । दारक—बालक, रोदसेनामित्यर्थः । अनुगमिष्यामि—अनुसारस्यामि,  
अगमिष्यामीति भावः ।

( क ) पराणयामि—व्यावर्त्तयामि, स्थानादध्यात मातृसमीपं प्रापयामीत्यर्थः ।  
एतम्—इमं, बालकमित्यर्थः । लघु—शीघ्रम्, भवदादेशादचिरादेव बालमिमं  
स्थानान्तरमपसारयामीति समुदिताय ।

( ख ) सकण्ठग्रह—कण्ठस्य—गलदेशस्य, यद्, —बाहुयुगलेन ग्रहणमित्यर्थः,  
तेन सह वृत्तनान यथा तथा, आदौ कण्ठे गृह्णीत्वा आलिप्तं पथात् पादयो  
पतनमिहावगन्त्यम् ।

( ग ) अस्माक—घातकानाम्, आवयोरित्यर्थः । इंदिशी—वक्ष्यमाणस्या,



गिक्रमः । [ इति निष्क्रान्त्यतः ] । इमं तद्वत् घोषणद्वयं, ताडेष  
डिण्डिमः । §

[ पुनर्घोषयतः ] ।

शक्रः । [ स्वगतम् ] कथं एषेण पत्तिआअन्ति पौला ?  
[ पक्राम ] हहो चालुदत्ता । वडुका । एण पत्तिआअन्ति एषे  
पौलजणे, ता अत्तण-केलिकाए जीहाए ( घ ) भणान्ति, मए  
वशन्तसेणा मालिटे ति । ¶

इति, तन्निष्क्रान्तं रे दारकः । निष्क्रान्तः । इदं तृतीयं घोषणस्थानं, तद्वत्  
डिण्डिमः ।

• कदम्बस्य न प्रत्यागच्छन्ति पौराः ? अरे चालुदत्त । वडुका । न प्रत्यागच्छति  
एष पौरजनः, तदात्मोऽयं जिह्वया भण्य, मया वशन्तसेना नारितति ।

समुच्चचारुदत्तहननरूपेण । राजाज्ञति, —राज्य —वृषते, पालकस्येत्यर्थः ।  
आज्ञति, —आदेशः, यत्र हि राजादेशानुवर्तिनः, राजादेशस्य पक्राम्किन एव चारु-  
दत्तस्य हनननिगाररूपः, अतो न राजादेशवद्भिर्भूतं पुत्रस्तापि हननननुतिष्ठानं इति  
चारुदत्ताग्रहः ।

प्राक् । [ तूणीमाले ] । ( उ )

प्रकार । अले चण्डालगोत्रे । ग भगादि चालुदत्त-वडुके,  
ता भगाविध इमिणा जज्जल वशखण्डेण शङ्खलेण (च) तालिअ  
तालिअ । \*

\* अरे चण्डालगोत्र । न भगति चारुदत्त वटुक , तद्भाषयत अनेन अर्जरवश  
खण्डेन शङ्खलेन ताडयत्वा ताडयित्वा ।

इत किञ्चित् पूर्वं ५१३ पृष्ठे “हीमादिके” इत्यादिचूर्णके “पत्तिआअदि” इति  
प्राकृतस्य “प्रत्याययति” इति संस्कृतमस्ति, अत पूर्वापरसङ्गत्यनुरीत्रेन “कथ एषे ग  
पत्तिआअन्ति पौला” इत्यादि प्रकारीकौ “पत्तिआअन्ति” “पत्तिआअदि” इति प्राकृत-  
इत्यस्य “प्रत्याययन्ति” “प्रत्याययति” इति संस्कृतेनानुवाद एव न्याय्य । केचित्तु उक्त  
प्राकृतवचं “प्रत्ययन्ते” “प्रत्ययते” इत्येव संस्कृतेनानुवदन्ति , तथा चात्र भौवादिकस्य  
अयधातो प्रयोग इति स्वीकृतिविरोध प्रतीयते , यत प्राक् प्रत्याययति इत्यत्र इण-  
धातो णिचि रूपमेवाकलितम्, अत तु अयधातो , एतद्धि उक्तिवैषम्य दृष्ट्वा अस्माभि  
यथामति सामञ्जस्य पूर्वाविरोधेनैव सुसंरक्षितमिति ज्ञेयम् , “एषे” इत्यस्य “एते”  
इत्यनुवादस्तु विवचनायां षर्हो विनैव स्वाभीक्ष्णित्याशससाधकतया साधीयानिति मन्या-  
महे । आत्मीयया—स्वीयया । जिह्वया—रसनया, स्वमुखेनेति यावत् ।

( उ ) तूणी—नीनी, किमपि प्रत्युत्तरमव्याहरन्नित्यर्थः ।

( च ) भाषयत—वाचयत । अर्जरवशखण्डेन—जीर्णवैशखकलेन, भग्नप्रायवश-  
खण्डरूपेणेति यावत् । शङ्खलेन—डिण्डिमताडनदण्डेन , यावदयं स्वमुखेन वसन-  
सेनाया इत्या मयैव कृतेति न स्वीकरोति, तावत् शङ्खलेन प्रहार प्रहारम अप-  
राध स्वीकारयेत्यर्थः । [ कस्मिंश्चित्पक्षमिधाने शङ्खलशब्दस्य प्रयोग यद्यपि न दृश्यते,  
तथाऽपि प्राकृतोऽयं शब्द इति मन्यमाने प्रचीने प्रकृतार्थमनस्यैव व्याख्यातमित्यनु-  
मोद्यते , वयन्तु—निपिकरप्रमादवशात् सृकारमीयेण “शङ्खलेन” इत्यत्र “शङ्खलेन”  
इति आयातमिति, अत बहुषु पुस्तकेषु तथैव पाठो दृश्यते इति अनुमिन्म ।  
“इमिणा” इत्यत्र “खण्डमिणा” तथा “शङ्खलेण” इत्यत्र “शङ्खलेण” इति पाठान्तर-  
द्वये—खण्डायमानेनेति आद्यस्य संस्कृतानुवादे, मारणसमकालमेव “त खम् इति  
शब्दं कुर्वता” इत्यर्थः, तथा “शङ्खलेन” इति द्वितीयस्य संस्कृतानुवादे, शङ्खलेन—  
अपराधिनं बन्धनार्थं नीयमानेन निगडनेत्यर्थः ] ।

चाण्डाल । [ प्रहारमुद्यम्य ( क ) ] भी चालुदत्त । भणहि । ५  
चारु । [ सकृत्पुनः ]—

प्राप्यैतद्व्यसन महार्णव प्रपात

न त्रासो न च मनसोऽस्ति मे विषादः ।

एको मा दहति जनापवादवह्निः ।

वक्तव्य यदिह मया हता प्रियेति ॥ ३३ ॥

३ भी चालुदत्त । भण ।

( क ) प्रहार—प्रहिंसे—ताडयते अनेन इति प्रहार [ प्रपूर्विकात् हरते करणे  
षञ् ] त प्रहारसाधनमित्यत्र, वशस्तुम्भिति यावत् । उद्यम्य—उत्तोल्य इत्यत्र,  
शक्यतेन प्रतिहिंसापरवशेन शकारेण निर्द्वन्द्वं प्रहृत्य भाषयितुमादिष्टोऽपि, तदादेः  
लुङ्गे राजकोपमाशङ्कमान, तथा अन्यत तत्त्वतो निरपराधस्य तस्य ब्राह्मणस्य गात्रे  
दण्ड पातवितुमतितरा विन्यचाण्डाल केवल दण्डमुद्यम्य त भीषितवान्, न तु  
अधकमयादिकशोऽपि प्रहृतवानिति शकारापेक्षया अतिनीचस्य चाण्डालस्यापि  
चित्तस्य प्रसारी दास्यत इति बोध्यम् ।

शकार । [ पुनस्तथेव ] ( ज ) ।  
चारु । भी भोः पौराः । [ “मया खलु वृगमेन—” इत्यादि

पुन पठति ] ।

शकार । बाबादिदा । ३

चारु । एवमस्तु । ( भ )

प्रथमचारुडाल । अलि । तव अत्त वज्जवान्निआ ( ज ) । १

द्वितीयचारुडाल । अलि । तव । ॥

३ व्यापादिता । ॥ अरे । तव अत्त वज्जपालिका ।

॥ अरे । तव ।

करोतीत्यर्थ , यन—ग्रामाद्वेतो , मया—चारुदत्तेनैत्यर्थ प्रिया—प्रोतिप्रदा वसन्त-  
मनस्यथ , हता—मारता , दात—इत्यम , इह—वध्यस्थानि , वक्तव्य—सुखमनस्य  
अनुसुखनवीचारायतममित्यर्थ , प्राणदण्डादशात नाह किञ्चिदापि वर्मसि , न वा  
किञ्चिद् विपादासि , केवलम् “अहन्तव वसन्तसिनाहन्ता” इति स्वमुखोच्चारणात् दृढो  
भूत दुरपण्यथ सज्जनप्रत्ययकारेण न्यायकृत् जनापवाद सामतोव दुःखयतीति  
समुदिताथ । अत्र निरपङ्गवावयवे सप्तये व्यसने महाशयतोदात्ताध्यासात्,  
तथा प्रकृत तादृज जनापवाद वाङ्मतादात्म्यायासात् रूपकव्यमलङ्कार । प्रहृषिको  
दणम् ॥ ३३ ॥

( ज ) “पुनस्तथैव” इत्यस्य कविवाक्यपरत्वे—पुन ,—भवोऽपि । तथैव—  
तद्वपमव , पूर्ववत् पुनरपि शकार “ह ही चालदत्ता वडका ।” इत्यादिक , “अल  
चच्छालगोह” इत्यादिक वा कथयतीत्यर्थ । शकारोक्तपरत्वे तु—पुनस्तथैव दात  
चाब्दं प्रात शकारस्य अधिचेषवचनं बोध्यम् , एतदथस्तु—पुन ,—भूयाऽपि , तदेव  
—पूर्ववद्व , क्लृप्तवचनमित्याशय , वदसि ? इति शय , नाद्यापि हत्यापराध  
स्वीकरोषि , केवलम् अथवात्सालेन पौरानेव प्रतारयसि ? इति भाव ।

( भ ) एवम्—इत्य , त्वदुक्तमेवेत्यर्थ , मयैव व्यापादिता इत्येवद्वपनात् यावत् ,  
तथा च , भवता ‘मया व्यापादिता’ इति यदुक्तं , तद्व सत्यमस्तु दात उत्तरप्रिय-  
तामर्थ , शकारवर्तसि नयितव्याच्छब्देन शकारस्यैव बोधनात् , वसन्तसि मया हनन-  
कर्तृत्वं शकार एव बोध्यते दात शकारवाक्ये चारुदत्तस्य अनुमोदनं युज्यते एवेति  
बोध्यम् ।

( ज ) वज्जपालिका—वज्जस्य पालिका—घातनपध्याय । अहन्तु इति पुञ्ज-  
मप हतवान् , दातास्तु तव पश्यान् आपतित इति भाव .

प्रदत्तः । अले । लेख्यम् ( ट ) कलेम्ह । [ इति बहुविधं  
लेख्यम् ( उ ) कथा ] अले । यदि मम केलिका वञ्क्तवालिआ, ता  
चिठ्ठु दाव मुहुत्तम् ( ड ) । ॥

द्वितीयः । किं निमित्तम् ? १

प्रदत्तः । अले । भगिदो म्हि पिटुणा श्रमं गच्छन्तेण,  
जधा,—“पुत्त वीरम्ह । जइ तुह वञ्क्तवाली होदि, मा शहशा  
वावादअशि वञ्क्त” । ॥ ( ढ )

तृतीयः । अले । किं निमित्तम् ? §

७ अरे । लेख कुम्ह । अरे । यदि नदीया बन्धपालका, तदा तिष्ठतु तावत्  
सुहृत्कम् ।

८ किं निमित्तम् ?

९ अरे । भणितोऽस्मि पिवा स्वप्नं गच्छता यथा—“पुत्त वीरक । यदि तव  
बन्धपालिका भवति ना नदमा व्यापादयन्ति वञ्क्तम्” ।

§ अरे । किं निमित्तम् ?

शकार । [ पुनस्तथैव ] ( ज ) ।

चारु ।

भो भोः पौराः । [ “मया खलु वृगसेन—” इत्यादि

पुन पठति ] ।

शकार ।

बाबादिदा । २

चारु ।

एवमस्तु । ( झ )

प्रथमचाण्डाल ।

अले । तव अत्त वज्झवानिआ ( ज ) । १

द्वितीयचाण्डाल ।

अले । तव । ३

३ व्यापादिता ।

१ अरे । तव अत्त वज्झपालिका ।

३ अरे । तव ।

कर्तव्यतय , यत्—यस्मात्तेतो , मया—चारुत्तेनेत्यथ प्रिया—प्रोतिप्रदा वमन्-  
सनत्यथ , हता—मारता , डात—इत्यम् , इह—वध्यस्थाने , वक्तव्य—सुखमस्य  
स्वमुखनेवाचारयत्यमित्यथ , प्राणमडाटगात् नाह किञ्चिदापि वमसि , न वा  
किञ्चिद्व्यापादाम् , कवलम् “अहन्तव वसन्तसेनाहन्ता” इति स्वमुखीचारगात् दृढो  
भूत दुरपणवथ सव्वजनप्रत्ययकर । मयाकृत जनापवाद सामताव दु खयतीत  
समुदितथ । अत निरपङ्गवावपये उपनये व्यसने महाणवतादास्याध्यासात्,  
तथा प्रकृत ताटग जनापवाद वाङ्मतादास्याध्यासात् रूपकद्वयनलङ्कार । प्रहपिणो  
हन्तम् ॥ ३३ ॥

( ज ) “पुनस्तथैव” इत्यस्य कविवाक्यपरत्वे—पुन, —भूयोऽपि । तथैव—  
तद्वपमव, पूर्ववत् पुनरपि शकार ‘ह ही चालदत्ता वडका ।’ इत्यादिक, “अल  
चण्डालगोह” इत्यादिक वा कथयतीत्यथ । शकारोक्तपरत्वे पु—पुनस्तथैव डात  
चाब्दस्य प्रात शकारस्य आधक्षेपवचन बोध्यम् , एतदयस्ते—पुन, —भूयोऽपि, तदैव  
—पूर्ववदव, कलवचनमित्याशय , वदसि ? इति शय , नाद्यापि हत्यापराध  
स्वीकरीपि, कवलम् अथवावाङ्गालिनि पौरानिव प्रतारयसि ? इति भाव ।

( झ ) एवम्—इत्य, त्वदुक्तमेवेत्यथ , मयैव व्यापादिता इत्येवदपिनात यावत् ,  
तथा च , भवता “मया व्यापादिता” इति यदुक्तं , तदव सत्यमस्तु डात उत्तरयितु-  
माशय , शकारवचसि नयत्यगच्छेन शकारत्वेव बोधनात्, वसन्तसेनाया हनन-  
कर्तृत्वं शकार एव बोध्यते डात शकारवाक्ये चारुदत्तस्य अनुमोदन युज्यते एवेति  
बोध्यम् ।

( ज ) वज्झपालिका—वज्झस्य पालिका—घातनपध्याय । अहन्तु इति पुञ्ज-  
मपर हतवाङ्, मदानां तु तव पध्याय आपर्तित इति भावः ।

प्रथम । अले । लेखत्रं ( ट ) कलेम्ह । इति वडविष  
लेखक ( उ ) कला ] अले । जदि मम केलिका वज्जवानिआ, ता  
चिद्धु दाव मुहुत्तअ ( ड ) ।

द्वितीय । कि निमित्त ?

प्रथम । अले । भणिदो म्हि पिदुगा गग गच्छत्तेग,  
जधा,—“पुत्त वीरअ । जइ तुह वज्जवाली होदि, मा गहगा  
वावाटअशि वज्ज” । ‡ ( ढ )

द्वितीय । अले । कि निमित्त ? §

७ अरे । लेख कुम्ह । अरे । यदि मदीया वध्यपालिका, तदा तिदत्त तावत्  
मुहत्तकम् ।

+ कि निमित्तम् ?

‡ अरे । भणितीऽस्मि पिवा स्वर्गे गच्छता, यथा— पुत्त वीरक । यदि तत्र  
वध्यपालिका भवति सा सहसा व्यापादयसि वज्जम्” ।

§ अरे । कि निमित्तम् ?

( ट ) लेख—लिखन, वध्यपालिकानिर्णयार्थं रेखापातमिति यावत् ।

( उ ) लेखक—लेख एव इति लेखकम्, अनिदृष्टरेखापातमित्यर्थः, घातुको  
केवलं कस्य हननपट्या इदानीम् आपतति इति निश्चेतुं नानाविधरेखापाततत्पत-  
कालपरिसिद्धनकुरुता तेन च ताभ्यां हननक्रमं निरधारोत्याश्रयः, अथवा एतेन  
अनुर्गते चेतत, यत् पुनः किल, चाण्डालानां समाजप्रचलितं एषा प्रथा आसीत्  
येन, राजशाननात् नरहत्याकरणकाले तस्माज्जायमानं पापमपनीदयितुं स्वाभीष्टां  
देवतां प्रनृत्तुं घातुका नानाविधं तत्कालपरिसिद्धं लेखकनकार्युरिति, अतः चारु-  
दत्तहननमनये तानेव पडतिम् एतावपि अनुसस्यतुरितः ।

( ड ) मुहत्तक—दण्डइयमितं कालं, किञ्चित्कालमिति वाऽयम् ।

( ढ ) सहसा—अकस्मात्, अविचारितं यथा तथैत्यर्थः । व्यापादयसि—  
मारयसि, [ अथ अनुज्ञार्थं विवचिरेऽपि आश्रमायां लट्प्रयोगः, बोध्यः ] किरत्वात्  
प्रतीचणं कृत्वा मारयेति समुदिताशः ।

प्रथम । कदा वि कोवि साह्य ग्रथं ददग्र वज्ज मोआ-  
वेदि । कदा वि लगो पुत्ते भोदि, तेण वडावेण शब्बवज्जाण  
मोक्खो होदि । कदा वि हत्थो वन्ध खण्डेदि, तेण शम्भमेण  
वज्जे मुक्के होदि । कदा वि लाअपलिवत्ते होदि, तेण शब्ब-  
वज्जाणं मोक्खो होदि । \* ( ग )

\* कदाऽपि कोऽपि साधुरथं दत्त्वा यध्य मोचयति । कदापि राज्ञ पुत्रो  
भवति, तत्र तद्विमर्शस्त्वेन सर्वपञ्चानां मोक्षो भवति । कदाऽपि हस्तौ बन्ध  
खण्डयति, तेन सम्भ्रमेण बध्यो मुक्तौ भवति । कदापि राजपरिवर्त्तो भवति,  
तत्र सर्वपञ्चानां मोक्षो भवति ।

( ग ) साधु — मुज्जन, परदुःखामर्शिरिति यावत् । अर्थ—धन, वज्रस्य  
काले प्रचलित दण्डविधे देविध्यं प्रदर्शितम् तथा हि — कुर्वाचन यथाविधिप्राणादि  
दण्डविधान, कुवचिच्च दण्डाद्विमोचनार्थं प्राणादिदण्डावनिमयेन तज्जीवनादि  
मूल्योचितस्य अथस्य परिग्रह इति ] । तद्विमर्शस्त्वेन—इडा—अभ्यदयेन हेतुना,  
पुत्रजन्मादिजनितमेति भाव, य मोक्षस्व, — प्रकृतानन्दप्रकाशकव्यापारानुष्ठान,  
तेन, सुतसम्भवाद्यभ्युदयनिमित्तकापारानन्दप्रकाशकव्यापारेणेत्य । बन्ध—व्यत्ये  
अनेन इति बन्ध, त दण्डलमित्यर्थ, [ वध्नाते करणे घञ् ] । खण्डयति—भनक्ति ।  
तेन—दण्डलभङ्गेनेत्यर्थ । सम्भ्रमेण—सवेगेन, दण्डेन आकस्मिकदण्डलभङ्गजनित  
भयवशात् नागरिकाणां रक्षिपुरुषाणाञ्च यत् इतस्त पलायन, तज्जनितया त्वरये  
त्यर्थ । राजपरिवत्त,—नृपतिपारवर्त्तन, पूर्वभूपति विनाशय पराजित्य वा अन्येन  
भूपतिना सिद्धासनाविकारे कृते नवस्य भूपतराधकारप्रवर्त्तनमिति यावत्, [ अनेन  
पालकस्य विनाश, आर्यकस्य च तद्राज्यलाभ अनतिचिरमेव भविष्यति इति  
सूचितम् ] । तेन—राजपरिवर्त्तेन । सर्वपञ्चानां—प्राणदण्डेन दण्डनीयानां सर्व-  
यामेव जनानामित्यर्थ । मोच,—मुक्ति, प्राणदण्डाद्विमोचनमित्यर्थ, नवाभिपत्तो  
हि नृपति प्रकृतिषु खौदाय्यप्रदर्शनार्थं सम सिद्धासनाधिरोहणोत्सवसमये वस्यापि  
आधिमा भूत्, सर्वथा एव प्रजा अविशेषणैव उत्सवसमुभवन्तु इति सन्मान  
सर्वानेव वक्ष्यान् मोचयति इति, तथा च एतेषु किमपि चेत् अस्य मुक्तये उद्भवेत्  
तदा अयमपि मुक्तिं लब्धुं शक्नुयादिति भाव, [ एतेन चारुदत्तस्यापि मोच  
अचिरमावोति सूच्यते ] ।



शकार । किं किं ? लाञ्छननिवृत्ते ङोऽटि ॥ १ (त)

चाण्डाल । अले । वज्रमालिनीयाए लेख्वा (य) कलेम्ह । ॥

शकार । अले । शिम्भ मालेध चालुदत्ताक । ॥ ३ ॥

चेष्ट गृहीत्वा एकान्ते स्थितः ।

चाण्डाल । अल्ल चालुदत्त । नाश्रनिश्रीश्री क्व अव-  
लज्जदि, न क्व अल्ले चाण्डाला, ता गुमलेहि, ज गुमनि-  
दल्ल । § (ट)

\* किं किं ? राजपरिवर्त्तो भवति ॥

१ अले । वज्रपालिकाया लेख्वा क्वम् ।

२ अले । शोभ नारयत चारुदत्तम् ।

§ आद्य चारुदत्त । राजनिश्रीग खलु अपराध्यति, न खलु वय चाण्डाला,  
तत स्मर, यत स्मत्तव्यम् ।

( त ) किं किं निति समुद्भूतप्रश्ने, यद्वलेन मम ईदृक् प्रभुत्व, मदेकाग्र्यभूतस्य  
मग्नोपने तस्य राज पालकस्यापि किं परिवर्त्तनं भविष्यति ? इत्याशङ्कमानस्य  
शकारस्य भयविषयनभूतस्यातनार्चनव दिवचनं ब्रूयन्, नृवाभिषिक्तनृपस्याधिकारं  
तु स्वकीयप्रभुत्वादिकं किमपि न स्यादिति, चारुदत्तोऽपि सुक्री भूत्वा निखिलमेव  
भूताद्यै तत्सर्वं प्रकाशयति चेत् तदा स्वस्य अवश्यमेव दण्डनीयत्वमित्यादिसम्भावनाया  
च नृगादिकं बोध्यम्, अथवा,—चाण्डालानां मुखे राजपरिवर्त्तो भवति इति अगुम-  
नचकं वचनं श्रुत्वा तेषामभिषेपवोधकवाक्यमिदम्, तथा च—युष्माकमेतादृशो  
स्यहो, यत स्मत्तव्यमेव न वक्तुं प्रभवथ ? इत्याशयः ।

( य ) वज्रपालिकाया,—वज्र—हनुमिटे जने, या पालिका—पथ्याय  
दिवसं तस्या, वज्राहंवातनपथ्यायदिवसस्येत्यत्र, [ पलति—गच्छति निर्दिष्टदिवसे  
या ना इति चुत्पत्त्या भौवादिकस्य पलते इति ततः स्वार्थे कनि स्त्रिया टापि  
पालिकेति सिद्धम् ] लेख्वा—लिखन, वज्रपालिकानिर्णयाद्यै रेखापातमिति यावत् ।

( ट ) राजनिश्रीग,—राजादेशः । अपराध्यति—दुष्यति, तव मारणविषये  
इति नात्र, राजनिश्रीगपरतन्त्रा वयं राजादेशेनैव त्वा मात्रयाम, अतो नात्र वयं  
नृपगडा भवान् इति वाक्यात् । स्मत्तव्यम्—चलितसमये स्मरणीयम्, इष्टमन्त्रादिकं  
उपकृत्यादिकं वा इति यावत् ।

चार ।—

प्रभवति यदि धर्मा दूषितस्यापि मेऽय  
प्रबलपुरुषवाक्यैर्भाग्यदोषात् कथञ्चित् ।  
सुरपति भवनस्था यत्र तत्र स्थिता वा  
व्यपनयतु कलङ्क स्वस्वभावेन सैव ॥ ३४ ॥

भो । क्व तावन्मया गन्तव्यम् ?

चाण्डाल । [ अगतो दशयित्वा ] अले । एद दीशदि दक्खिण-

मशाण, जं पेक्खिअ वज्झा भक्ति प्पाणाइं मुञ्चन्ति । पेक्ख पेक्ख, —

अरे । एतत् दृश्यते दक्षिणमशाण, एतु प्रेक्ष्य वज्झा भक्तिं प्राणान्  
मुञ्चन्ति । पश्य पश्य,—

मिथ्याऽपवादयस्तस्य धम्ममिष्टस्य आत्मन अययारापित कलङ्कमपनोदात्तु धम्म  
स्मरणपूजक कलङ्कनिदानभूतां वसन्तसेना स्मरन्नाह, प्रभवतीति ।—भाग्यदोषात्—  
दुरदृष्टनिमित्तात्, दुर्दैववशादित्यथ, अय—आत्मन् दिवसे, प्रबलपुरुषाणां,—राज  
पुरुषाणाम्, यद्वा,—प्रबलपुरुषस्य राजानुग्रहात् शक्तिमती नरस्य, शकारस्येत्यथ,  
वाक्यै,—वचनै, मिथ्याभूतैरिति भावः, दूषितस्यापि—अपराधस्यापि, मे—मम,  
धम्मा,—सुकृत, नियतानुष्ठितसुकृताफलमित्यथ शुभादृष्टविशेष इति यावत्, यदि—  
चेत्, कथञ्चित्—किञ्चिन्नात्रमपि, प्रभवति—प्रभाववान् भवति, मदाचरितधम्मस्य  
यदि किञ्चिदपि प्रभावो ऽवद्येत इत्यथ, यदि कदापि मया धमाचरण कृतमिति  
यावत्, तदा तद्वलेनेति पूरण्णीय, सुरपतिभवनस्था—सुरपते,—इन्द्रस्य, यज्ञवन—  
गृह, स्वर्ग इत्यर्थः, तत्र तिष्ठति या सा स्वर्गस्थेत्यथ, वा—अथवा, यत्र तत्र—यस्मिन्  
क्षमिन्नपि लोके इत्यथ, स्थिता—वर्त्तमाना, सा एव—वसन्तसेना एव, स्व-स्वभा-  
वेन—मिजया दोषविनिमुक्ताया प्रकृत्या, कलङ्क—व्यापवादरूप कालिनान,  
ममेति शेष, व्यसनयतु—अपसारयतु, स्वयमागमनेन शोधयतु इत्यथ । यद्यहं  
कदाऽपि धर्मानुष्ठानमकार्षे, यदि वाऽहं यथायतो निर्दोषोऽभूम्, तदा मम  
तत्सुकृतफलैर्न वसन्तसेनैव मूर्त्तिमती इहागत्य मत्कलङ्कमवशतन चालयिष्यात् इति  
समुदिताय । [ अनेन वसन्तसेनाया अचिरभावि आगमन सूचितम् इति बोध्यम् । ]  
सातिनो वक्तुम् ॥ ३४ ॥

अङ्क कलेवल पडि-वुत्त कट्टन्ति दीहगोमाओ ।<sup>१</sup>

अङ्क पि शुल्लनग वेग विअ अट्टहागग्ग ५ । ३५ ।

चारु । हा । हतोऽस्मि मन्दभाग्य । (ध) इति न वेगस न]  
उपविशति ] ।

प्रकार । ग दाव गमिग्ग, चालुटत्ताक वावाटअन्त (प)  
दाव पेक्खामि । [ परिकल्प दृश ] कथ उवविट्टे १ १

० अङ्क कलेवल प्रतिवत्त कथान दावगोमाओ ।

अङ्कपि शुल्लनग वेग इवाट्टहागग्ग ।

१ न तावद्विध्या न, चारुदत्तक व्यापायमान तावत् पग्गामि । कट्टमुपविट्टे १

प्रदर्शितस्य दक्षिणतमानस्य भाषणत्वं वर्णमन्त्राद् अङ्कनिति ।—टीका —आगत  
कलेवरा इत्ययं विमल-व्रतावस्था इति यावत्, ये गोमाओ, —मनाना, पतिगत  
—गुह्यात् अन्तर्भवितुं, अङ्क कलेवल—देहस्य निवस्यन्तानामिदं कट्टिदेहात्  
पदात्तपयत्ननिवितावत् ( “पुन्यदोऽङ्क समे, गक्के” इत्यमरः ) कथंति, —पात्रस्य  
खड्गमिति भवदन्तीत्ययं शुल्लनग—शूलसक्त, शूलविदुमिति यावत्, अङ्कम्—  
कायनदरागनिधयं अपि, अट्टहागग्ग—अयुक्तानस्य, विगति अग्निम् इति  
लुप्तस्य वेग —आवाग इत्ययं, इव, दृग्गते इति शेषः । शूलोपरि स्थितस्य प्रेत  
शरीराद् गत्य सदृशतुल्यविच्छिन्नता, सुष्ठु च प्राणविधोगावसरे आगततया  
दन्तैश्चर्यानां पङ्क्तिं प्रकृतवान् ततः अट्टहागग्गधारस्वरूपमिव अभूदिति भावः ।  
अवीरनयनस्य शूलस्य प्रेतशरीरादस्य उपमानभताट्टहासात्मकतया सम्भावनात्  
उप्रेवाज्जहार, तल्लवणं यथा दर्पणे,—“भवेत् सम्भावनीयेषां प्रकृतस्य परात्मना”  
इति । आद्या इत्तम ॥ ३५ ॥

( व ) हा इति विधादे, वयस्यानि शूलागोपिताना प्रेताना वीर्यसाकारदर्श  
त्वेन परदुःखान्द्विगो परमकारुणिकस्य तस्य तेषां मरणकालिकवेदनादिकम् अनु  
नाम अतिक्लिष्टस्य चारुदत्तस्य “एवमेव दोना दृशाम अपवाददृशित अङ्कनपि  
अचिरात् गमिष्यामि, न च नै कलङ्कालनावसरे अनुपस्थित” इत्येव चिन्तैव  
विषादकारणं न तु सन्दुभयम् इति बोध्यम् ।

( न ) सावेगेत—आवेगेत—अदमितकारणमुपपन्नम् चोभजनित ईषदुःखेति  
सह यथा तथेत्ययं ।

( ५ ) आयायनान—विनायमान, घातुकाभ्यामिति शेषः ।

चाण्डाल । चालुदत्त । किं भीदेशि ? \*

चारु । [ सहस्रोत्थाय ] मूर्ख । [ “न भीती मरणदम्नि केवल दूषिते यश,—” इत्यादि पुन पठति ] ।

चाण्डाल । अज्ज चालुदत्त । गअणदले पडिवशन्ता चन्द-  
शज्जा वि विपत्ति लहन्ति, किं उण जणा मलण-भीलुआ  
माणवा वा ? लोए कोवि उट्ठिदो पडदि, कोवि पडिदो वि  
उट्ठेदि । † (फ) —

उट्ठन्त पडन्ताह वशण-पाडिआ शवश उण अत्थि ।

एदाइ हिअए कदुअ सन्धालेहि अत्ताणअं ‡ ॥ ३६ ॥

\* चारुदत्त । किं भीतीऽसि ?

† आर्यचारुदत्त । गगनतले प्रतिवसन्ती चन्द्रमूल्यावपि विपत्ति लभेते, किं पुनर्जन्मा  
मरणभीरुका मानवा वा, लोके कोऽपि उत्थित पतति, कोऽपि पतितोऽप्युत्तिष्ठते ।—

‡ उत्तिष्ठत्यततो वसनपातिका शवस्य पुनरस्ति ।

एतानि हृदये कृत्वा सन्धारयात्मानम् ॥

( फ ) गगनतले—आकाशतले, विपदागमसम्भावनारहित इति भाव ।  
विपत्ति—राष्ट्रयास मेघावरणादिरूपा विपदमित्यर्थ । मरणभीरुका,—मरणात्—  
मृत्यो, भीरुका,—भयशीला, [ विभ्यति ये इति व्युत्पत्त्या, विभेते कर्त्तरि कृप्रत्यय,  
तत स्वार्थे कन्, यद्वा,—“क्लृक्त्रपि वाच्य ” ( वा० ) इति क्लृक् ] अत्युच्चैरवतिष्ठ-  
मानौ महाप्रभावौ मूल्याचन्द्रमसावपि यदा राहुणा यस्मै विपत्ति लभेयाता, तदा का  
कथा मरणधमिणाम् अतितुच्छानां मत्स्यानां पुन विपन्नतायाम् इति समुदिताय,  
[ एतेन कदाचित् देवदुर्विपाकवशात् राहुणा यस्मावपि मूल्याचन्द्रमसौ यथा आचरा  
देव तस्मात् मुक्ति लभमानौ अतितरां प्रतिभाते, तथा विधिवशादेव विपत्कवस्य  
पतितोऽप्ययमचिरादेव मुक्तिमधिगच्छन् सुतरां भास्यतीत्यर्थो ध्वन्यते ] । “जना”  
“मानवा” इति पुनरुक्तिस्तु नीचचाण्डालवचनत्वात् न दीयावद्वा । लोके—जगति ।  
उत्थित,—अभ्युदयमापन्न, उन्नतपदवीमारुढ इत्यर्थ । पतति—अपश्यति, दुरवस्था  
प्राप्नोतीत्यर्थ । उत्तिष्ठते—उन्नमति, उन्नतिं सम्पदं वा समधिगच्छति इत्यर्थ,  
[ उपपूर्वकात् तिष्ठते “उदाऽनूठकम्पणि”(१।३।२४ पा०) इति सूत्रात् आत्मनेपदम् ] ।

गद्याक्तमेव जागतिकानां मानवानां सुखदुःखसम्बन्धिपदार्थेषु चक्रवत् नियत



[ द्वितीयपाण्डाल प्रति ] एदं चउड्ड घोशणङ्गाणं, ता उग्घो-  
शम्ह । \* [ पुनसथेवोदोपयत ] ।  
चारु । हा प्रिये वसन्तसेने । [ “अग्निविमन्मयूख—” इत्यादि  
पुन पठति ] ।

[ तत प्रविशति समभ्रमा वसन्तसेना भिक्षु (भ) ] ।  
भिक्षु । हीमागहे । पङ्कागपनिशन्तं शमशाशिश्र वशन्त-  
शेगिअ गाअन्ते अणुगाहिदम्ह प्पञ्ज्जाए । उवाशिए । कहि  
तुम गइश ? † (भ)  
वस । अज्ज-चारुदत्तस्स ज्जेव गेह , तस्स दसणेण मिअ-  
लाञ्छणस्स विअ कुमुदिणि आणन्देहि म । ‡ (म)

\* एतत् चतुर्थे घोषणास्यान, तदुद्घोषगाव ।  
† आश्चर्यम् । प्रस्थानपरिस्थान्ता समाश्रास्य वसन्तसेनिका नयन् अनुगृहीतीडास्य  
प्रव्रज्यया । उपसिके । कुत्र त्व नेष्यामि ?  
‡ आश्चर्यचारुदत्तस्यैव गेहम् , तस्य दर्शनेन सगलाञ्छनस्यैव कुमुदिनीस  
आनन्दय माम् ।

( व ) समभ्रमा—सलरा, द्रुतगामिनीति यावत् । समभ्रमाऽव चारुदत्तदर्शने  
त्कण्ठा बोध्य । भिक्षु,—बौद्धमणक , श्रमणकधम्मावलम्बौ सबाह्व इति यावत् ।  
( भ ) प्रस्थानपरिस्थान्ता—प्रस्थानेन—अध्वपथ्यटनेन, प्राक् ओर्णोद्यानान्  
विहारनयनकाले, इदानीं विहारदानयनकाले च इति भाव , परिस्थान्ता—खिन्नाम् ।  
समाश्रास्य—सान्त्वयित्वा, आश्रिता क्लेश्यथ । नयन्—प्रापयन्, तस्या द्वांसतप्रदम्  
मिति शेष । प्रव्रज्यया—प्रव्रज्या—सञ्चास तथा, सञ्चासथङ्गणेनेत्यथ , अनुगृहीत ,  
—अभ्युपपन्न , उपकृत इति यावत्, प्रव्रज्याकलनेव वसन्तसेनाया आघातजानत  
मूच्छाऽपनोदनपूर्वकगोवनरक्षणेन तत्कुतोपकारस्य स्वाभौटप्रत्युपकारसम्पादनादिति  
भाव । यथा,—यदि मया पूर्वे प्रव्रज्या परिगृहीता नाभावय्यत, तदा मया सादे  
गच्छन्तीमिमा तरुणोमालाक्य सर्वे मामसरस्वभाव मन्यमाना नूनमग्निदिध्यन्, अत  
सा एवेदानीं प्रत्युपकारनिरतस्य मम लाकापवादात् सरस्य भूयासमुपकारमकरात्  
इति तात्पर्यम् । नेष्यामि—प्रापायष्यामि ।  
( म ) “आश्चर्यचारुदत्तस्यैव” इत्यत एवकारस्य अन्ययोग्यवच्छेदायकतया

भिन् । [ स्वगतम् ] कदलेण समेण पविशामि १ (य) ।  
लाभमगेण ज्ञेय पविशामि । उवाशिष्ट । एहि. इम लाभमग ।  
[ आकष्यं ] किं गु क्व एहि लाभमगे महन्ते कलत्रले । (र)  
शुणाश्रदि १ ॥

वन । [ अयतो निरूप्य ] कथं पुरतो महाजगमसृहो १ अज्ज ।  
जाणाहि दाव किमुदत्ति । विममभरकन्ता विअ वसुन्धरा,  
एअवासीसदा उज्जङ्गी वट्टदि । १ (ल)

१ कतरेण मार्गेण पविशानि १ राजमार्गेणैव पविशानि । उपा नङ्क पाद  
अय राजमार्गे । किं तु खलु एष राजमार्गे महान कलकलं द्युतम् १

१ कथं पुरतो महान् जनसमूहः १ आह । जानीहि तावत् किं नु इदमिति ।  
विषमभाराकान्तेव वसुन्धरा, एकवासीव्रता उज्जयिनी वधत ।

“न त्वन्यस्य” इत्यर्थो लभ्यते । गेह—भवन, नय इति शब्दः , “क्व त्वा नेष्यामि  
इति पूर्वोक्तभिन्नुपग्रन्थोत्तरमिदम् । तस्य—चारुदत्तस्य । मृगलाञ्छनस्य—मृग, —  
शय, लाञ्छन—चिह्न यस्य तस्य, शयधरस्येत्यर्थः । कुमुदिनीनिव—कैरविणीनिव,  
कुमुदलतिक्रान्तित्वेनैव , कुमुदशास्त्रोदये हि कुमुदकुसुमान्येव प्रफुल्लन्ति, इति  
कविचिन्तनप्रसिद्धत्वादेव चन्द्रकुमुदिनोनायकनायिकाभावः प्रसिद्धः , कुमुदिना  
चन्द्रं दर्शयित्वा यथा आनन्दयति, तथा चारुदत्तं दर्शयित्वा मामपि आनन्दयेति  
तु कुमुदिताय । अत्र “इन्दु कुमुदवान्धव” इत्यादि पर्यायान् विहाय मृगलाञ्छन-  
पदनिर्देशात् शुभकिरणे चन्द्रमसि यथा ऋणवर्णं मृगरूपं कलङ्कं शैलधावल्यादि-  
गुणसमूहयोगात् न लोकापवादाय प्रभवति, तथा सर्वगुणाकरस्य चारुदत्तस्यापि  
गणिकाऽऽज्ञातत्वरूपं कलङ्कं न लोकापवादाय कल्पते इति ध्वन्यते , तथा कुमुदिन्या  
राविविकाशित्वात् वेद्यानाञ्च निशोदये एव प्रसन्नप्रकर्षोदयात् गणिकाया वसुन्ध-  
रसेनागं कुमुदिनीमात्रं सुसङ्गच्छते एवेति बोध्यम् ।

(य) कतरेण—राजमार्गे तथा नागरिकैर्भटिति गमनार्थमाविष्कृतो गम्य  
पथश्चेति मार्गद्वयं विद्यते, एतयो इयो केन इत्यर्थः ।

(र) कि—कथम् । गु—वितर्कः । एष,—यूयनाथ । कलकल,—कीलाहल ।

(ल) जनसमूहः,—जनतेत्यर्थः । जानीहि—कनपि पृष्टा अवबुध्यस्व इत्यर्थः ,  
अथवा जानीहि तावत्—जानानि किम् १ इत्यर्थः । उज्जयिनी—तदभिधाना एषा  
नगरी । एकवासीव्रता—एकस्मिन्—एकवैध प्रदेशे, अस्या वृध्यभूनावित्यर्थः, यो

चाण्डाल । इमं अ पच्छिम वीशणद्वाण , ता तालेध  
डिण्डिमं, उग्घोशेध वीशण । [ तथा कृत्वा ] भो चालुदत्त !  
पडिवालेहि, (व) मा भाआहि, लडुं ज्जेव मालीअशि । \*

चारु । भगवत्यो देवताः । (श)

भिधु । [ श्रुत्वा समभ्रमम (प) ] उवाशिण । तुमं किल चालुदत्तेण  
मालिदाशि त्ति चालुदत्तां मानिदु णीअदि । †

\* इदञ्च पश्चिम घोरणास्थानम् , तच्चाडयत डिण्डिमम्, उद्घोषयत वीशणम् ।  
भो चारुदत्त । प्रतिपालय मा भै , शीघ्रमेव माय्यसे ।

† उपसर्गिके । त्वं किल चारुदत्तेन मारितासीति चारुदत्तो मारयितुं  
नीयते ।

वास,—आपाद्यमान चारुदत्त सङ्गानुमति प्रकाशयितुं समवेताना उज्जायनीवासि  
नामवस्थानमित्यथ , तेन उन्नता—उच्चा, वर्तते—विद्यते , अत एव वसुन्धरा—  
पृथिवी, [ वसूनि धनानि धरति या सा इति व्युत्पत्त्या “सत्ताया भृतृन्निधारिसङ्घित-  
पिदम्” ( ३२.४६ पा० ) इति सूत्रेण, वसूपपदात् . धरते सत्ताया खच् खिया  
टाप् च ] । विषमभाराक्रान्तेव—विषमेण—दारुणेन, दुःसहनेत्यथ , भारिण—  
गुरुत्ववद्भ्येण, आक्रान्तेव—पीडितेव [ इति उच्चेचा ], उज्जायिनीस्थाना सर्वपात्रेव  
जनानां चारुदत्तदर्शनाद्यमेकवत् समवेतत्वात्, अल्पन्तमाक्रान्ता धरणीय खिद्यत इवेति  
भावः । अत्र भाराक्रान्तत्वे एकवाभोन्नतत्वरूपहती निष्पादकत्वात् वाक्यादहतुकं  
काव्यलिङ्गमलङ्कारः ।

( व ) प्रतिपालय—प्रतीक्षस्व, स्थिरीभव इत्यर्थः , मत्त आघाते लक्ष्मुमिति  
शेषः , प्रहारसमये चञ्चले लक्ष्ये प्रहारं सम्यक् न भवति, अतः अचञ्चलं सन्तिष्ठ  
इत्याशयः , इदानीमेव त्वां घातयामीति भावः ।

( श ) भगवन्,—“ऐश्वर्यस्य समग्रस्य वीर्यस्य यशस्य त्रियः । ज्ञानवैराग्ययो-  
र्यैव पन्था भग इतोद्भवाः ॥” इत्युक्तानुगवन्त्यः , अथ समग्रैश्वर्यवीर्यादनुसम्पत्तम-  
न्वितायकभगवत्त्वविशेषितदेवतामन्त्रस्यायमाशयः,—देवतानाम् ऐश्वर्यादिरूप-  
त्वात् ता स्वप्रभावेण सा रञ्जितुं समथा , अतः ता मा स्वप्रभावेण रचन्तु इति ।  
( प ) श्रुत्वा—चाण्डालाभ्यामुदुष्यमाणा चरमा पचमो घोरपणानाकणित्यथ ।  
समभ्रम—सत्वर, भयद्वन्द्वेगसङ्घितमिति वाऽयम् ।



वस । [ ससम्भ्रमः ] 'हड्डी' 'हड्डी' 'कध' 'मम मन्दभाङ्ग' 'त  
किटे अज्ज चालुदत्तो वावाट्ठाअदि' 'भी' 'तुरिद तुरिद  
आटेनेहि मग्ग । ३ (म)

मग्ग । तुवलदु तुवलदु बुडोवागिआ अज्ज-चालुदत्त  
जीअन्त शमग्गाशिटु । अज्जा 'अन्तल अन्तल देव । १ (ड)

वस । अन्तर अन्तर । ४ (क)

३ वाधिक् 'वाधिक' 'कध' 'मम मन्दभागिन्या' 'हन् वावाट्ठाअदि  
व्यापायत' 'भी' 'त्वरित त्वरितनादश नागेम ।

१ त्वरता त्वरता बुडोवासका वावाट्ठाअदत्त जीवन्त मनायासिणम् ।  
वाया 'अन्तरमन्तर' दध ।

२ अन्तरमन्तरम् ।

( म ) मन्दभागिन्या,—मन्द य भाग इति कम्पधारय न यथा अस्तेत्यर्थः  
इति डोषि च मन्दभागिनो, दुर्भंगा इत्यर्थः, तथा प्रियं असम्भ्रमितद्वन्द्वनात्  
नाकण्ड इतिविशेषा आह्वयि चक्षुषा कृतेति । कृते—निमित्त, 'कृते इति विभक्त्यन्त  
प्रतिषेधकमन्वयम् "अथ कृते च तादर्थ्यं कथित इयमन्वयम्" इति वचनात् । नमेव  
नारयाभिप्रेयसि च अज्ज प्रापट्ठ्यादिशब्द ज्ञातत्वादिति भावः । नागं—चारुदत्त-  
सनीपयमनीपयोगिपयमित्यर्थः । आदिशब्द—आज्ञापय, प्रदर्शय इति यावत् ।

( ड ) त्वरता—सत्वरं भवतु, शीघ्रमागच्छतु इत्यर्थः, [ सम्भ्रमे विवक्षितः ] ।  
जीवन्त—नप्रापय, इदानीमपि जीवदवस्थायां वृत्तमानम् इत्यर्थः । मनायासिणम्,  
—सत्याश्रयनं कर्तुं प्रीतिरितुमित्यर्थः, त्वं जीविता तिष्ठसि इति आपनेन घातक-  
इच्छान् परिचाय तस्य स्थिरा निर्हति अनपितुमिति यावत् । अकरम—आवयो-  
गिनोचितनवकाशमित्यर्थः चारुदत्तमेव व्यापायमानं द्रष्टुं, मनवेता अनतानुसृत्य  
दृष्टेः सत्वरं गन्तुमस्मत्तस्य भिषीतिव सम्भ्रमोक्तिर्वैदितव्या ।

( क ) "अन्तरमन्तरम्" इति वसन्तनेनाया अनन्तामवाक्यं निरर्तितव्यसम्भ्रम  
वैद्वन्मन्त्रकम् । मन्त्रतभाषापर्योगत्वात् तथा चारुदत्तस्य जीवननाशशङ्काजनितोत्कण्ठया  
अतोवावेगवशात् नन्दमेव कृत इति प्रियम्, एवं हि कुवचित कुवचित वैद्वन्-  
प्राप्तव्यं मन्त्रतकदन्तं चालुदत्तादिपापान्पुनरुतं तथा हि द्रष्टुं,—"योषिकस्त्री-  
पुत्रवैद्वन्नादितवापररा तदा । वैद्वन्नादं प्रदातव्यं मन्त्रत चान्तरान्तरा ॥" इति ।

चाडाल । अज्ज-चालुदत्त । ग्रामिणिओओ अव-  
लज्जदि, (ख) ता शुमलीहि, ज शुमलिदब्ब । \*

पा० । कि बहुना ? (ग) [ "प्रभवत—" इत्यादि श्लोक पठति ] ।

चाडाल । [ खड्गमाक्षय ] अज्ज चालुदत्त । उत्ताणे भविअ

ग्रम चिड्ढ, एक्कप्पहालेण मालिअ तुमं ग्रम गेम्ह । † (घ)

\* आय्य चारुदत्त । स्वामानयोगाऽपराध्यात्, तत् स्मर, यत् स्मृत्यम् ।

† आय्य चारुदत्त । उत्तामो भूत्वा सम तिष्ठ, एकप्रहारिण मारयित्वा त्वं स्वर्गं नयाम ।

(ख) स्वामानयोग — स्वामिन, — प्रभो, राज्ञ इति यावत्, निरोग —  
आज्ञा, वधदण्ड इत्यर्थः । अपराध्यात् — दुष्यति, वाक्यव्यवहारादिना तव निरपराधत्वे  
विश्वस्तु अपि वयं वत त्वामिदानीं व्यापादावतुम् उदयुक्ता, तत्र अपराधायस्व राजा  
दण्डस्यैव दोषः, वयन्तु राजनिर्वाणपरतन्त्रा इति अन्यायाचारणोऽप्यत्र निरपराधा  
एवेति भावः ।

(ग) कि बहुना — प्रस्मिन् अतत्यापदेशे अधिकेन उक्तेन किम् ? इत्यर्थः,  
इतो नाविक स्मर्तव्यमस्तीति भावः ।

(घ) उत्तान, — ऊर्ध्वमुख इत्यर्थः, उत्तमितथोव इति यावत्, ("उत्तानमग  
भीरे स्यादूष्णमग्निते त्रिषु" इति मेदिनी) । सम — समानम्, ऋजुम् यथा तद्ये  
त्यर्थः । एकप्रहारिण — एकैर्नैव खडाघातेनेत्यर्थः । [ यद्यपि चाडाल प्राक् राज्ञा  
पालकेन शूलं समारोप्य चारुदत्तं घातयितुमादिष्ट, तथाऽपि कथं तत्र राजा  
दण्डमुत्तरेण स्वेच्छया चारुदत्तहननाय खड्गं उत्तोलत इति शङ्कमानान् प्रलुच्यते,  
तथा ऽह, — चारुदत्तेहनेन चाडालयोऽस्य स्वारसिकोऽच्छा नास्तीति, कवलं राजा-  
देवान्पालनाशमेव तत्र तथा प्रवर्तति, आय्यकशावलकादिभिः नगद्या विद्रोहे  
जनप्रित्ये, यदि भाग्यात् राजपरिवर्त्तनवशात् चारुदत्तावमुक्तं वैदितं सम्भावयता  
ताभ्यां किंत्वा कालक्षेपोऽक्रियतेति, अत एवोक्तं चैतत्पूर्वमेकं चाडालिनं त-  
व यपालिकायान् अपतिताम् सहसा बध्य न व्यापदयेत्येव पिता आदिष्टमिति,  
तथा च पितुः राज्यादण्डमुभयमेवाचुक्षतया रुचिन्तु, तेन प्रथमत एव बध्य  
शूलं नारोपित, वाग्वितण्डया पूर्वं बध्य विलम्ब्य, सहसा बध्यस्याव्यापादनाय खड्गेन  
हननीदृशमभिनीय च पितुराज्ञां प्राक् पालिना, ततश्च प्रहृष्टोऽस्मानस्य स्वस्य  
हस्तं खड्गपतमभिनीय तावुभावेन चाडालौ चारुदत्तं शूलं समारोपयितुमोप-  
पन्नः ।

चारुदत्तः । [ तथा तिष्ठति ] ।

चाण्डालः । [ प्रहस्यमानः । खड्गपतनं हस्ताभिनयन् (ङ) ] ॥ श्री कथम् ॥—

आश्रद्धिदे शलोश सुष्टीए सुष्टिणा गहीदे वि ।

धलणीए वीश पंडिदे दालुण्के अशणिशमिहे खगे ॥ ३७ ॥

जधा एद सवुत्त, तथा तकेमि, ण विवज्जदि अज्जचालुदत्ते  
त्ति । भअवदि । शज्जवाशिणि । प्पगीद प्पगीद, अवि

० श्री कथम् ।—

† आकट सरोष सुटी सुटिना गहीतोऽपि ।

धरणा किमिति पतितो दारुणकोऽग्निसन्निभः खड्गः ॥

‡ यथा एतत्कृतं तथा तर्कयामि न विषयते आख्याचारुदत्त इति । भगवति ।

इति पूर्वपरगत्याभप्रायः । वचाय, “कथमेवम एताभ्यां राश्यां पालकस्यापि आदेशं  
समुद्बोधितः” इति कैरपि नाशङ्कनीयमिति सर्वं सुखम् ।

( ङ ) ईदृश—चेष्टनं, उद्यमो भवतीत्यर्थः । अभिनयन्—नाट्येन प्रदर्शय-  
न्निव ।

इदानीमात्मानभोक्षितव्रधस्य निरपराधस्य चारुदत्तस्योपरिटङ्गुणामानकूल्यमुत्पा-  
दयितुमेव, निरन्तरं वधाभ्यस्तात हलात् अकस्मात् खड्गस्रजलनमभिनयन् सप्रकाशमाह,  
आकट इति ।—सरोष—सन्निभः यथा तद्वत्, आकट,—करवालाधारात्  
आकृष्य उत्तोलित इत्यर्थः वज्रस्य हननाशमिति भावः, अग्निसन्निभः,—वज्रसदृशः,  
अनीघाघात इति भावः, दारुणकः,—भीषणः, सुतीक्ष्ण इति यावत्, खड्गः,—  
असिः, सुटी—तरी, खड्गमूलभागे इत्यर्थः, सुटिना—बडपाणिना, (“—सुटिर्हन्तो  
पले । बडपाणी त्तरौ—” इति मेदिनी । “त्तरु खड्गादिमुटी स्यात्” इति च  
अनरः ) दृढमुटिना इत्यर्थः, गहीतोऽपि—भूतोऽपि, किमिति—कथं, धरणा—  
भूमौ, पतितः,—चालतः, मङ्गसा विधुत इत्यर्थः, कदाप्यभतद्वर्त्मसौदृश्यतन  
याददानां भवत्त, तन् तस्य किमपि कारणमाप्त इति दशकानां विषयमुत्पाद-  
यितुं कियत्कालक्षेपविधायकव्यापारोऽनुसृत इति वेदितव्यम् । आख्यामेदान्तर्गत  
गीतवृत्तं, तल्लक्षणेन वृत्तवाकरे यथा—“आख्या प्रथमदलीकं यदि कथमापि  
लक्षणे न वेदुमयो । दलीको कृतयतिशोभा ता गीति गीतवान् भुजङ्गेशः ॥”  
कीशेति इन्दोऽनुरोधात् लघुतया पाठ्यम् ॥ ३७ ॥

गाम चालुदत्तस्य मीक्षे भवे, तदो अणुगृहीत ( च ) तु ए  
चाण्डालकुल भवे । ॥

सह्यवानिनि । प्रसीद प्रसीद, आप नाम चारुदत्तस्य मीक्षा भवेत्, तदणुगृहीत  
त्वया चाण्डालकुल भवेत् ।

( च ) चारुदत्त इत्, कथमप्यनभिलाषुक अनीकञ्च खड्गपतनाभिनय कुर्वन्,  
परित दण्डायमानामा दर्शकाना भयसा आनुकूल्यमुष्णादित्तमेव श्लोकीकृतमदुतरमा  
प्रततया विस्मयत्पादक वस्तु पुन चूणकेन भस्मन्तरिणाभिधत्ते, यथेति ।—यथा—यत्,  
हस्तीचालनसमकालमेवेत्यथ । एतत्—इद, इदमुष्टना सवल गृहीतस्याप खड्गस्य  
भट्टिति खलनमिष्यथ । सह्यत्—जातम् । तथा—तत् इत्यथ । तकयामि—सम्भा-  
वयामि । विपद्यते—विपद्भी भवति मरिष्यति इत्यथ, इननादयागाभिनय कुर्वन्त  
चण्डालस्य एवविधा चक्रि क्लमिमा किलिष्यवधातव्यम्, [ विपद्यते इति विपूर्वकात्  
पडातोर्भविष्यत्सामोप्ये “वर्त्तमानसामोप्ये वर्त्तमानवद्वा” ( ३।३।१५१ पा० ) इति  
लट् ] । सह्यवानिनि ।—सह्य, —स्वनासप्राप्तं भारतीयसप्तकुलपञ्चतानासयतम्  
पर्वतविशेष, [ तथा हि किरात अष्टादशसर्गे “भृशया इव सह्यमदीभृता पृथुनि  
रीधमि सिन्धुमदीभृता ” इति, म हि पर्वत पृष्ठाव्यनगरस्य पथिमाभरस्या दिशि  
समुद्रवेलाभमित किण्टूरसवतिष्ठते, “पथिसघाट” इति पर्वतविशेषस्य असौ अग्र-  
विशेष एवेति आख्यायते आधुनिकै, अस्यादेव पर्वतात् गोदावरी नदी समुद्रमति ]  
तक्षामिन् ।—तस्ये । तदधिष्ठातृदेवते । इत्यथ, मा हि सवत्यानां चाण्डालानां  
कुलदेवता किल इत तत्सम्बोधनम् । अपि—प्रथे । नाम—सम्भावनायाम् ।  
मीक्ष, —मुक्ति । भवेत्—स्यात्, चारुदत्तस्य मुक्तिमभावना अपि किमिति  
समुद्दिताय [ भवेदिति सम्भावनाया लिङ् अपिशब्दात् मीक्षस्य भवनसमवायकत्व-  
प्रतीतौ तु, “उताप्या समययोर्लिङ्” ( ३।३।५२ पा० ) इति मूढेण लिङ् ] । तदा  
—यदि मुक्तिर्भवेत् तर्ह्येति । अणुगृहीतम्—अनुकम्पितम्, दीनशरणस्य सज-  
जनमानमोयस्य निरपराधस्य ब्राह्मणस्य चारुदत्तस्य इत्यानिमित्तकापराधमावात,  
पृथगे तद्वनने प्रवृत्तस्य स्वस्य इक्ष्वात खड्गभ्रष्टप्रतिवत्तकोत्पादनात् न केवल माग,  
अपि तु सर्वमेव चाण्डालकुल प्रति दिव्या अनुयच्छ प्रदर्शित इत वक्तुराशय ।  
[ एतत् चारुदत्तस्य निरपराधस्य इनने चाण्डालानां श्लोकीकृतोक्ता नादीदिति  
व्यज्यते ] ।

अपर । जधान्त (इ) अणुचिह्नम् । \*

पयस । भोदु, एव (ज) कलिन् । † [ इन्द्रो वाग्देव —

सनातोपनिमित्तम् । ]

चारु । [ पभवति— ] इत्यादि पुन पठति ।

भित्तु वसन्तेना च । [ इण (क) ] अज्जा । मा दाव मा

दाव । ‡ ( ज )

वस । अज्जा । एसा अह मन्दभाङ्गी, जाण कारणादो  
एसो वावादोअदि । §

चाण्डाल । [ इण ]—

तुलित का उण पशा अश पडन्तेण चिउलभालेण ।

मा मेत्ति वाहरन्तो, उड्डिटहत्या इदो एदि ? ¶ ॥ ३८ ॥

३ यदाऽऽज्ञप्तमनुष्ठानं ताव ।

† भवतु एव कुर्व ।

३ आद्या ' ना तावत ना तावत ।

§ आद्या ' एषा अह मन्दभागिनी, यस्या कारणादेष व्यापायने ।

¶ त्वरित का पनरिषा अस्ते पतता चिकुरभारिण ।

ना मेत्ति व्याहरन्तो उल्लितहस्ता इत एति ? ॥

( इ ) यदाऽऽज्ञप्तम्—आज्ञप्तम्—आज्ञति, आदेश इति यावत् तदनतिक्रम्य,  
वाङ्मनाञ्जत तादृशनिर्देशे अनतिक्रमेऽप्यधीभाव, आदेशानुरूपमित्यर्थ, यत् आवां  
पुलेन च तद्विस्तरेणोपदिष्टौ, न तु खड्गेन हनुमिलपरस्य चाण्डालस्याशय, राजा  
दि गृह्णागोचरेण हनुनाददेश, तन्तु खड्गेन हनुनुपाकनया, तत्र युज्यते इति  
असामारोप्यैव एव हनिष्याव इति समुदित्वा ।

( अ ) एव—यदाऽऽदेशमनुष्ठानमित्यर्थ ।

( ऋ ) इण—इत चारुदत्त गृहे भारीपथितुनुयतमवस्थित्यर्थ ।

( ज ) ना तावत ना तावत—नैव नैव, न तुले भारीपथेति शेष ।

मनसूतनागच्छन्तो वसन्तेना इण वितक्रात, त्वरितमिति ।—अस्ते—स्वस्व  
देशे, दत्ता—विस्तृता, स्वस्वित्व स्वना इत्यर्थ, चिकुरभारिण—कुल्लवलापेन  
उपवसिता, आनुष्ठापितकेशपाशतया अनपतितचिकुरभारिणिकृत्काया इति यावत्,  
[ इत्यनुष्ठानेन वर्तमाना । एतेन चारुदत्त आत्मन कृते एव विषयनानोऽमुदित्वा-

वस । अज्ज चारुदत्त । किमिदं ? ॥ [ इति चरास पतति ] ।

भिचु । अज्ज चालुदत्त । किमिदं ? ॥ [ इति पादयो पतति ] ।

चाण्डाल । [ सभवमपस्य ( ट ) ] कथ । वगन्तशेणा । ण क्खु  
अस्सेहि शाह्ण ण बावाटिदे । ॥ ( ठ )

भिचु । [ उल्लास्य ] अले । जीवटि चालुदत्ते ? §

चाण्डाल । जीवटि, वण्णगद । ॥ ( ड )

० आद्यचारुदत्त । किं तु इदम् ?

+ आद्यचारुदत्त । किं तु इदम् ?

‡ कथ । वसन्तसेना । ननु खलु अस्माभि साधुन व्यापादित ।

§ अरे । जीवति चारुदत्त ?

॥ जीवति, वर्षशतम् ।

कथं तद्दर्शनस्याकुलाया वसन्तसेनाया सम्भ्रमात् केशविशेषो जात इति सूचितम् ।  
चि इत्यन्त्यक्त शब्द कुरति रौति, इति व्युत्पत्त्या चिशब्दात् कुरते तौदादकात्  
“इगुपध—” ( १।१ १३५ पा० ) इति सूत्रेण कर्त्तरि क “चिकुर कुन्ती वाल ”  
इत्यमर ] उल्लितकृता—उल्लितौ—उल्लितौ, इहौ—करो वरा मा, निरपराध  
स्यास्य वधनिषेधार्थसुसौलितकरा सतीत्यर्थ, का पुन —किन्तु मधेश खल्वित्य,  
पधा—परिदृश्यमाना रमणी इत्यर्थ, मा मा—न हि, न हि, [ अथ तैन्ने सधुने वा  
दिकृति न कथितपदत्वदोषाघातिका ] इति—एतावन्मात्र, व्याहरन्ती—भाषमाणा,  
त्वगित—सत्वर यथा तथेत्यर्थ, इत,—अस्या दिश इत्यर्थ, एति—आगच्छति ।  
आव्या वृत्तम् ॥ ३८ ॥

( ट ) अपस्यत्य—दूर गत्वित्यर्थ, तरण्यानादिति शेष ।

( ठ ) ननु इति सम्भ्रमे आनन्दणे वाऽऽव्ययम् । खलु इति नियये । साधु —  
निर्दोष, अनपराधी चारुदत्त इति प्रावत, यदि साधुमम् चारुदत्तनञ्च हन्त्या, तदा  
सम मज्जननथ आपयेत, भाग्येनैव मया हन्तुमुद्यमेन निरपराधस्यास्य वध न  
समावित इति सम्येयेमम्पादनाथे चाण्डालेनैतदभिहितमिति बोध्यम् ।

( ड ) “अरे । जीवति चारुदत्त ।” इति भिचुकृतप्रश्नस्य समुचितम् उत्तर  
दात चाण्डाल केवल “जीवति” इति प्रतिवचनम् अनुक्ता, भद्रकरेण—न  
केवलम् अप्यापि जीवति, अपि तु वधशत—शतवर्णान् याव्य जीविव्यति इति  
अभिहितवानिति वेदितव्यम् ।

वस । [ सङ्गम ] पञ्चज्जीविटमिह । ३ ( ट )

चाख्खाम् । ता जाव एद वुत्त रस्सो जस्सवाड गदग्ग्य । ५ )

णिवेदेह्म । ४

[ इति निष्क्रान्त ( त ) ]

शब्दार्थः । [ वसन्तसेना दृष्टा नवामस ] हीमाटिके । केण गम्भ-  
दार्मी जीवाविटा ? उक्कन्ताइ (य) मे प्पाणाइ , भोटु, पला-  
इश्श । ३ [ इति पञ्चायने ] ।

चाख्खाम् । [ उपसृत्य ( ट ) ] अले । ण ( ध ) अह्माण ईदिग्गो

१ प्रत्युज्जीवितास्मि । २ तदुपवदतइत्त राज्ञी उज्जवाटगतस्य नवदग्गव

३ 'चाख्खं' केन गम्भदार्मी जीविता (जीवन प्रापिता) ? उक्कन्ता मे  
प्राणा , भवतु, पलायिष्ये ।

( ट ) प्रत्युज्जीविता—पुनर्जीविता, अहन्तु चारुदणवधवापायवयात् नृत  
वासस, इदानीं त जावन्तनाकण पुनर्जीवन अव्ववतीवेति तात्पर्यम् ।

( य ) तत—तस्मात्, यतो वसन्तसेना जीवतीति अत इत्यर्थः । यावत्  
इति साकल्ये, सञ्चनेवेत्यर्थः । एतत् वृत्तम्—इम व्यापार, वसन्तसेना जीवतीति  
वात्तानत्यर्थः । वज्जवाटगतस्य—वज्जस्यानस्थितस्य, ( "वाटी मार्गे वृत्तिस्थाने स्यात्  
कुटोवाल्लुनी स्त्रियान्" इति मेदिनी ) । राज्ञ, —नृपत पालकइत्यर्थः, [ सम्बन्ध-  
नात्रविचाराया कम्पणि षष्ठा ] ।

( त ) निष्क्रान्त, —निष्क्रान्ति प्रवृत्तौ भवत इत्यर्थः ।

( ध ) गम्भदार्मी—या जन्मन परिचारिका इत्यर्थः । जीविता—जीवन  
प्रापिता ? [ जावतण्णिचि निहाया रूपनिदम ] । उक्कन्ता, —उत्त—ऊह,  
कान्ता, —गता, स्वदेहात् अपसृता इत्यर्थे, दहान्तर प्राप्तं इति शेषः , वसन्तसेना  
दृष्टा नन प्राणा स्वदेह न सन्तोवेति मन्ये, इदानीं नितरा भयव्याकुल, सशयित  
जीवितदाहमस्मीति भावः ।

( द ) उपसृत्य—द्वितीयचाण्डालस्य समीप गत्वा ।

( ध ) ननु इति प्रत्युज्जी, द्वितीयचाण्डालात् "ता जाव" इत्यादि वाक्य  
श्रुत्वा तस्य प्रत्युत्तरनृपकमेतदिति, अथवा, अनधारेण, अस्माकमोदमी एव राजा  
प्रतिरिद्धः ।

लाभ्यास्यत्ती, जेण शा बाबादिदा, तं मालेध त्ति, ता लट्टिअ-  
शालअं जेव असोशम्ह । ५

[ इति निष्क्रान्तौ ] ।

चाह । [ सविस्मयम् ( न ) ]—

केयमभ्युद्यते शस्त्रे मृत्युवक्त्रगते मयि ।

अनावृष्टिहते शस्ये द्रोणवृष्टिरिवागता ? ॥ ३८ ॥

[ अवलोक्य च ]—

वसन्तसेना किमियं द्वितीया ? समागता सैव दिव किमित्यम् ।

भ्रान्त मन पश्यति वा ममैना, वसन्तसेना न मृताऽथ सैव ४० ॥

५ अरे । ननु अस्माकमौदृशो राजाप्रभि, येन सा व्यापादता, त मारयत  
इति, तत् राष्ट्रिप्रशालनवान्विधाय ।

( न ) सविस्मय—साथस्यै उद्या तथेत्यथ आह्वात शेष, अथ असम्भाव्य  
जीवितां वसन्तसेनामुपस्थिता दृष्ट्वा चारुदत्तस्य विस्मयोऽजनोति बोध्यम् ।

अकस्मात् मृत्युकवलितकल्पमात्मानम असम्भावितापायेन मुक्तप्राय सम्भाव्य सङ्घं  
विस्मयमाह, केयमिति ।—अनावृष्टिहते—अनावृष्ट्या—अवयवद्वेष, वर्यणाभावेनेत्यथ,  
हते—नष्टे, प्रचण्डभानुकरेण विदग्धे इत्यथ, शुक्लप्राये इति यावत्, शस्ये—चत्रस्य  
धान्ययवगोमूसादौ, द्रोणवृष्टि, —द्रोणनाम शस्त्रप्रपूरकात् सेधात् पाततत्रादित्यथ,  
इव, ( “पुष्करो दुष्करजलो द्रोण शस्त्रप्रपूरक ” इति प्रागुक्तज्योतिषतत्त्ववचनात् द्रोण  
मेघस्य शस्त्रप्रपूरकत्वं बोध्यम् ) शस्त्रे—वधसाधने खड्ग इत्यथ, अभ्युद्यत—अभि—  
सञ्चतोभावेन, लक्ष्योक्त्य वा, उद्यते—मम कण्ठदश लक्ष्योक्त्य उत्थापित मतात्यथ,  
अत एव मृत्युवक्त्रगते—मृत्यो, —कालस्य, वक्त्रे—मुख, तद्वत्—तत्र प्रावष्ट, मृत्यु  
कवलितप्राये इत्यथ, मयि—चारुदत्ते, [ विषयाधिकरणे समनो ], मम हतभाग्यस्य  
जीवनरचायम् इत्याशय, आगता—अकस्मादुपस्थिता, इयम्—एषा स्त्रीत्यथ, का ।  
—किन्नामधया ? मृत्युकवलात् सा प्रत्यावर्त्तयितुं, केऽमुपस्थिता ? अत इदमद  
वाच्यया वसन्तसेनया सङ्घ द्रोणवृष्टेरवैधर्म्यसाम्यप्रातपादनादुपमाऽलङ्कार । पद्यावक्र  
वृत्तम् ॥ ३८ ॥

सर्वैर्मृतत्वेन नियततया असम्भाव्यागमना मूर्तिमती वसन्तसेना समागतामा  
लोक्य सर्वथम् ? सत तत्समानाकातरपरा वा काचित इति वितर्कयत्, वसन्त-  
सेनात ।—इय—दृश्यमाना, मत्पुत्रस्या रमणीत्यथ, वसन्तसेना—स्वनामप्राप्तया



अथवा,—

किं नु स्वर्गात् पुनः प्राप्ता मम जीवातुकाम्यया ।

तस्या रूपानुरूपेण किमुतान्वेयमागता १ ॥ ४१ ॥

मत्प्रेयसीति यावत्, किम् ? अथवा द्वितीया १—अपरा वसन्तसेनात्यतिरिक्ता  
कापि किमित्यर्थः, किंवा सैव—मया पूर्वम् उपभुक्ता वसन्तसेना एव इत्यत्र  
इत्यम्—एवमकारिणः, मरणान्तरं तदर्थं व्यापयमानस्य मम प्राप्तरनाशं पुनर्देह  
धृतित्वम्, दिवः,—स्वर्गात्, समागता—समुपस्थिता किम् ? स्वकृतपरिपाकस्य  
विदिवन्नाशगताऽपि प्रेयसी मम निनिमित्तवधकातरा ना घातकहत्यात् परिवान्  
यादिकीं तानव मुक्तिं पुनः परिगृह्य इह समुपेता किमिति निवृत्त्या वा—  
अथवा वसन्त—वसन्तस्य मम—ने, मनः,—चित्तम्, एता—पुरोवर्तिनी नारी,  
वसन्त वसन्तसेनात् निद्रामपि इति भावः, पश्यति—अवलोकयति वसन्तसेनैव ।  
निति हत्वा तद्विद्रावानैवैतस्यो तद्विद्रावानुत्पादयतीत्यत्र, अतस्मिन् तदन्तःपुरेण भव  
रूपत्वादित्याशयः, मनः प्रियतमा सा वसन्तसेना सत्तैवेति सत्यं, मन्दमनसु सतत  
तदभावनाऽऽनक्ततया सर्वं जगत तन्मयमेव पश्यति इति भावः अथ—अथवा,  
मरणान्ते इत्यर्थं वसन्तसेना—स्वनामप्रसिद्धा गणिकेत्यत्र, न मृता—न उपरता,  
सैव—चरमनावात्कारकालेऽपि या नया सङ्गता सा एव इत्यनित्यम्, नेय तदस्या  
कापोल्याशयः । अत्र प्रकृताप्रकृतयो वसन्तसेनातद्विद्रावो नाथी इयोरिव तुल्य  
वसन्तया स्थिते एकशेष कर्तुमशक्यत्वात् आदौ मथ्य, स च “न मृताऽयं सैव”  
इत्यनेन उपसङ्गारे नियममन्तान् नियमान्त एवेति बोध्यम्, तदुक्तं विश्वनाथपादैः,—  
“वसन्तः प्रकृतेऽन्यस्य समस्य प्रतिभास्यते । शुद्धो नियमगर्भोऽसौ नियमान्त इति  
विधाऽ” इति । इत्यवस्योपेन्द्रवज्योरुपजातिर्हन्तम् ॥ ४० ॥

उक्तनिर्वाहं प्रकारान्तरेणाह, किं न्विति ।—मनः—ने, जीवातो,—जीवनस्य,  
कात्या—इच्छा तया, जीवनरचयेच्छया इत्यर्थः, [ “जीवरातु” इति १ पा० ७८  
उपादिनृत्वात् जीव्यते अनेनेत्यर्थं जीवनेरातु । “जीवातुरस्त्रिधा भक्ते जीवने  
जीवनौषधे” इति मेदिनी ] स्वर्गात्—दिवः, पुनः,—द्वितीयवारमित्यर्थः, प्राप्ता—  
अगता, किं नु ? ( किं नु इति विवर्त्ते ) पूर्वं जीवद्गुणाय बहुशः प्राप्ता, इदानीं  
नृत्वापि पुनः किं ननु खकातरा मुरलीकादिह समुपस्थिता ? इति तात्पर्यायः,  
सतः—अथवा, इत्यन—एषा परिदृश्यमानेत्यर्थः, अन्या—अपरा कापोल्यर्थः, तस्या,—  
वसन्तसेनायाः, एव इच्छन्मात्रेऽपि प्रकृतान्तया तच्छब्देन वसन्तसेनाया एव जीवः,

वस । [ सासम् ( प ) उत्थाय पादयोर्निपत्य ] अञ्ज-चालुदत्त । सा  
ज्जेव अहं पापा, जाए कारणादो इअ तुए असारसी अवत्या  
पाविदा ( फ ) । \*

[ नेपथ्ये ] अच्चरिअ अच्चरिअ ॥ जीवति वसन्तसेना । †

[ इति सर्वे पठन्ति ] ।

चारु । [ आकथ्यं सहस्रीत्याय स्पर्शमुखमभिनीय निमीलिताश्च एव हृषं  
गद्गदाधरम् ( व ) ] प्रिये । वसन्तसेना त्वम् ॥

वस । सा ज्जेवाह मन्दभाया । ‡

\* आश्व-चारुदत्त । सेवाह पापा, यस्या कारणादिय त्वया असदृशी  
अवस्था प्राप्ता ।

† आश्वयमाश्वयम् ॥ जीवति वसन्तसेना ।

‡ सेवाह मन्दभाया ।

यत्तदोर्नित्यसम्बन्धत्वेऽपि प्रकृतप्रसिद्धानुभूतायकत्वे तत्कृद्स्य यच्छब्दाकाङ्क्षाया  
विनिवृत्तेरिति धीष्यम् ] रूपस्य—आकृते, अङ्गसंस्थानस्येत्यर्थ, अनुसृष्टे—साम्येन,  
तत्सदृशाकृतिविशिष्टा सती इत्यर्थ, [ रूपानुरूपेणेति इत्यभूतलक्षणे प्रकृत्यादिभ्य वा  
तृतीया । रूपस्य योग्यमित्यर्थे अव्ययीभावे “तृतीया सप्तमीवहुलम्” ( २।४।८४ पा० )  
इति सूत्रेण तृतीयाया अमभावस्य वैकल्पिकत्वात्, पचे तृतीयाविभक्तिं सत्त्वमिति,  
रूपानुरूपमित्यपि पदान्तरमत्र भवतीति ज्ञेयम् ] आगता किम् १—उपस्थिता तु १  
अत्र ह्योरेव पचथी तुल्यबलतया स्थिते, एकतरस्याप्यनिर्णयात्, अन्ते च सप्रथम्यैव  
प्रत्यवसानाच्च शब्द सन्देहा नाम अलङ्कार । पर्यावक्तव्यम् ॥ ४२ ॥

( प ) सास—अशुशेकपूर्वक यथा तथेत्यर्थ, ( ‘अस कोणे कचं पुमि  
ज्जीवमशुणि शीणिते’ इति मोदनी ) ।

( फ ) पापा—पापीयसीत्यर्थ, [ पापमस्या असीत्यर्थे अर्थ आदित्वात् मतर्थयि  
अचि स्त्रिया टाप् ] । असदृशी—अनुरूपा, अतीव दृष्टतया भवत अयोद्या  
इत्यर्थ । प्राप्ता—अधिगता ।

( व ) स्पर्शमुख—पादपतितवसन्तसेनाया अङ्गसम्पर्कजनितानन्दमित्यर्थ ।  
अभिनीय—नाट्येन प्रदर्शयं । हृषंगद्गदाधर—हृषेय—वसन्तसेनास्य अङ्गजनितानन्देन,  
गद्गदम्—पञ्चकनधुरन्धरमयोगेनोच्चारितम्, अचर—वचनमूढ अचिन्त तदवस्था  
तथेत्यर्थ, आहति शब्द ।

चारु । [ निरुध्य ( भ ) नम्रपम । कथ । वसन्तमनेव ? नान्यस्य —

कुतो वाप्याबुधाराभि स्रपन्ती पयोधरी ।

मयि मृत्युवशं प्राप्ते विद्येव समुपागता ? ॥ ४२ ॥

( भ ) निरुध्य—वसन्तमनेव इय नवेति विशेषणावलीला इत्यर्थः ।

स्वप्रागेभ्योऽप्यधिका वसन्तमेना जीवन्ती परत मनागता दृष्टा इय प्रकाशय  
वाह, कुत इति ।—मयि—चारुदत्ते इत्यर्थः, मृत्युवशं—मृत्या, —मरणस्य, वशम्—  
अधीनता, कृतान्तकवलभित्वर्थं, प्राप्ते—गते सति, [ प्राणदण्डस्य अवग्रभात्तत्तेन  
ज्ञानात् एवम् अतीतप्रयोगी बोध्यः ] वाप्याबुधाराभि,—प्रियतमस्य मे प्राणदण्डा  
देशश्रवणजनितैरनुप्रवाहैरित्यर्थः, पयोधरी—कुक्षौ, स्रपन्ती—आर्माप्रचली सती  
[ अनुपसर्गस्य चान्तिरादादिकस्य णिचि ङ्गस्य वैकल्पिकविधानात्, ग्रथनात् तन्मात  
डोपि स्रपन्तीति वैकल्पिकसन्त्यदपि रूप भवितुमर्हतीति, अपि चात्राकम्पकसात  
णिचि प्रयोज्यकर्तृभूतयो पयोधरयो कम्पत्वे ज्ञेयम् ] विद्येव—स्वय मूर्तिमती मृतमन्त्रा-  
वनी विद्येवेत्यर्थः, [ इत्युपमा ] कुत,—कस्मात् स्थानात्, समुपागता ?—समुपस्थिता ?  
पुरा यथा मृतसञ्जीवनी विद्या, मृतानुरसैन्यसमक्ष समुपस्थिता स्वप्रभावेण अचिरा  
देव मृतानमुरानुज्जीवयति स्म, तथा त्वमपि स्वयमिहागत्य मृत्युकवलितकस्य ना  
द्राक् प्रत्युज्जीवयसीति निष्कर्षः । [ दैत्यगुरु शक्राचार्य विद्यायामस्मान्मतीव अभिज्ञ  
आसीत् इति श्रूयते, एतदेव चासौ देवासुरसङ्ग्रामनिहतान् असुरसैन्यान्वज्जीवि-  
दिति पौराणिका आननन्ति । यथा,—विद्या—इतराविविक्तात्मज्ञान, “विद्ययाऽमृत  
मश्नुते” ( ननु० १२ अ० १०४ श्लोक ) इति श्रूयते, सा च विद्या द्विविधा, परा  
अपरा चेति, यथा अक्षरमधिगम्यते सा परेत्युच्यते, ऋग्वेदादिलक्षणा च अपरा,  
सा च अध्ययनाध्यापनरूपा, एवम्भूताया विद्याया विद्वद्ब्राह्मणसन्नधानगमनीय  
वर्णनमपि दृश्यते, तथा हि, द्वितीयाध्याये चतुर्दशाधिकशतसङ्ख्यकश्लोके मनु,—  
“विद्या ब्राह्मणमेत्याह शिवधिक्षोऽस्मि रच माम् । अमृतकाय ना ना दाक्षया स्था  
बोध्यवत्तना ॥” इति । विद्या हि कदाचिदव्यापक विद्वत्पुरुषमुपागत्य, “तवाह  
निधिरस्मि” इति कथयन्ती निधिभूताया स्वस्या रचण तमेव विद्याम ब्राह्मण  
याचितवती चेत्येवविधायांभिप्रायिका कुल्लुकभट्टादिव्याख्या द्रष्टव्या, तथा कान्दीग्य  
ब्राह्मणेऽपि,—“विद्या ह वै ब्राह्मणमाजगाम तवाहनस्मि त्वं मा पालय, अनहते  
मानिने नैव ना दा गापाय ना येयसो तऽहनस्मि ॥” इति ] । रुदती विद्याऽधिष्ठात्री  
देवो यया न्वत कञ्चित् भव्यापन्नब्राह्मणमुपेतवती, तथा रीरुद्यमाना इय वसन्तसेना

प्रिये वसन्तसेने ।—

त्वदर्थमेतद्विनिपात्यमान देह त्वयैव प्रतिमोचित मे ।

अहो । प्रभाव प्रियसङ्गमस्य, मृतोऽपि को नाम पुनर्धियेत ? ॥४३॥

सत्युपश्रमात् त्राहणं सामुपगतवतीति एतावन्मात्रं साम्यमवलम्ब्य । वदया सहम् उपमेयभूताया विद्याया उपमानोपमयभाव प्रदर्शित, अत एव अवापि पक्षे चकारूपेण साम्यप्रदर्शनात् पुञ्जवद्वेषोपमाऽनङ्कार । अत्र “वायु ऊष्मणि नाऽस्ते” इति मदिनीवचनात् वायुपदेनैव नयनसन्तिलार्थबोधोपात् अस्त्युपदे पुनरुक्तमेव इति पुनरुक्तत्वदोष उन्नेय । पर्यावक्तव्यं ॥ ४२ ॥

वसन्तसेनाया कृते विगतप्रायप्राणोऽपि पुन तयैव संचितप्राणोऽहमभवमिति विचिन्त्य सानन्द प्रियजनसमागमस्य अनौक्तिक प्रभावमाह, त्वदर्थमिति ।—त्वदर्थ—त्वमेव अथ,—निमित्तं यस्मिन् तद् यथा तथेत्यथ, तव निमित्तमिति यावत्, [ क्रिया-विशेषणमेतत् ] विनिपात्यमान—विनाश्वयमान, घातकैरिति शेष, शकारवचनात् “अहं किल तव हृत्पाकारौ” इति निश्चिन्वानै राजपुरुषे मयि त्वहातकत्वभ्रमेण मन्त्राणदण्डविधानादित्याशय, एतत्—परिदृश्यमान, मे—मम, देह—शरीर, (‘का मे देहं क्लीवपुष्पो’ इत्यमरशासनात् अत्र देहशब्दस्य क्लीवत्वम् ) त्वयैव—भवत्या एव, प्राक् प्राणदण्डादेशस्यापि निमित्तोन्मूलतया त्वयैव, न तु अन्यथा कयाऽपीत्यथ, प्रतिमोचित—रचित, रचित्वा घातुकेभ्यो वा विसृक्तवन्तः कृतमित्यथ, पूवं उदेवं दुर्देववशात् मम नाशकारणमासीत्, तदेवेदानीं सौभाग्योदयात् जीवनकारणम् अजनि इत्यहो एकस्मिन्नेव वस्तुनि विरुद्धकाव्यजनकत्वमिति भावः । ननु कथं एकस्यैव वस्तुन परस्परविरुद्धाभयफलविधायकत्वमिति चेत्, अनौक्तिकशक्तिमतं प्रियजनसमागमस्य प्रभावादित्यवेष्टीत्याह, अहो इति ।—प्रियसङ्गमस्य—कान्तसमागमस्य, प्रणयजनसङ्गतिरित्यथ, अहो ।—विस्मयकर इत्यथ, अनिश्चयचिन्तय इति यावत्, प्रभाव,—सामर्थ्यं, साहाय्यमित्यथ, नन्वसौ प्रभाव कीदृशः । इत्याशङ्क्या तमेव वर्णयन्नाह, मृत इति ।—क,—को जनः, नाम—सम्भावनाया, मृतोऽपि—परितोऽपि, गतप्राण सन्नपीत्यथ, पुनर्धियेत—मृतोऽपि जिवतिष्ठत, पुनर्जीवादित्यथ, [ तोदादिकादात्मनेपदिन धृधातो कर्त्तरि लिङि उपमेतत् ] न कोऽपीत्याशयः, मय्ये प्रियसङ्गमाद कृते मृतकल्पं सञ्जीवयितुमिदं नाम्बपरं किमपि वस्तुतरानात्, यः गतप्रायजीवगोऽपि अहं केवलं प्रियजनसमागमप्रभावेणैव उज्जोयामि, तथा चास्य शक्तिरनिवचनीया एवेति भावः, “विपलम्बोऽपि लाभाय सति प्रियसमागमे”

अपि च,—प्रिये । पश्य,—

रक्तं तदेव वरवस्त्रमियञ्च माला

कान्तागमेन हि वरस्य यथा विभाति ।

एते च बध्यपटह ध्वनयस्तथैव

जाता विवाह पटह ध्वनिभिः समाना ॥ ४४ ॥

इति तात्पर्यम् । अथ एकस्मिन् वसन्तमेनारूपवस्तुनि दृष्टविनिपातकत्वधर्मयोगे  
पुनः तवैव दृष्टप्रतिपक्षकत्वव्ययनं न सम्भवति, नाशकत्वमोचकत्वात् परस्पर-  
विरोधात्, एवञ्चापाततः प्रतीयमाने अस्मिन् विरोधे सत्यपि वसन्तमेनाया अपदग-  
नकालकृतत्वे विनिपातनं, समागमकालकृतत्वे प्रतिमोचनमिति भिन्नकालिकत्वात्  
वसन्तमोचनयोगेकस्मिन्नाधारे कालभेदेन सत्ताग्रामविरोधात् पथ्यवसाने प्रीतिविरोध-  
परिहारेण विरोधाभासी नाम अलङ्कारः, तथा प्रियसङ्गमप्रभावस्य विन्ययजनकत्व-  
प्रतिपक्षतयापि पुनरुच्चीकृत्यरूपकारणस्य समयकतया अथान्तरत्यासः, इत्यनयो पर-  
स्परानुरूपेण च सन्ति सृष्टिः । इन्द्रवज्रोपन्द्रवज्रयोर्मेलनादुपजातिर्भवत् ॥ ४३ ॥

इदं रेच्छ्या विषयापि कदाचिदमृतायनान्तवत् निरतिशयसन्तापकराणामेतया  
पथ्य उच्चवसनमाल्यादीनां तावकीनसमागनात् इदानीं हृदयसन्तर्पकतया विपरीत-  
भावावगतात् परमशोभाऽऽधायकत्वमित्याह, रक्तमिति ।—तदेव—इदमेव, [ वध्य-  
दशागाम् अतिक्रमप्रदत्वेन अनुभूततया इदानीं प्रत्यक्षविषयस्यापि तच्छब्देन निर्देशः,  
पूज्यानुभूतत्वबोधनाय यच्छब्दनिरपेक्षं तच्छब्दप्रयोगस्य आलङ्कारिकसम्मतत्वात्, तथा  
च “इदमन्तु सान्नकृष्टं सनीपतरवर्ति चैतदो रूपम् । अदसस्तु विप्रकृष्टं तदिति परोक्षं  
विज्ञानीयात् ॥” इति नियमात् तदिदमो परोक्षापरोक्षवाचित्वेन विभिन्नायकत्वेऽपि  
अथ तच्छब्दः प्रत्यक्षोक्तियमात्रेऽपि वस्ते पूज्यानुभूतत्वबोधनाय, इदमर्थे प्रयुक्तं इति  
शोच्यम् ], रक्त—रक्तवर्णं, वरवस्त्रम्—उत्कृष्टपटवसनं, तथा इयं—दृश्यमाना,  
इदानीमपि मया कण्ठे परिहिता इत्यर्थः, माला—सूक्, वध्यलक्षणकरवीरमाला  
इत्यर्थः, च कान्तागमेन—कान्ताया,—प्रियाया, प्रीतिनिलयायास्तवेत्यर्थः, आगमः,—  
उपस्थितिः, प्रातिरित्यर्थः, तनः, पत्तेः,—कान्ताया,—वध्या, आगमः,—लाभः, तेन,  
यदा,—कान्ताया आगमो यदादिति व्युत्पत्त्या विदाहिनेत्यर्थः, वरस्य यथा—उद्योद-  
रिव, हि—नान्यथ, विभाति—शोभते, इदानीं प्रियस्यास्तव लाभेन, मनः बध्यदशागामो  
परिधानाननेतत् वसनं, तथा करवीरकुमुदमाल्यश्च नवोदासङ्गतस्य वरस्य रक्तपट-  
वसनमाल्यवत् अतितरा रमणीयतामाधत्ते इति भावः, च—तथा, एते—श्रुताः

वस । अदिदक्खिणदाए कि खेट ववसिटं (म) अज्जिण १ ॥

१ अतिदक्षिणतया कि न इदं व्यवसितमर्थेण १

इत्यथ वध्यपट्टस्य—वध्यववर्धोपणार्थं ताद्यमानस्य वाग्विशिष्टस्येत्यथ वनय,—  
गच्छा, तथैव—तादृशेव, रक्तवस्त्रादवस्तुजातं यथा वैवाहिकमाश्रित्यद्रव्यानुकारि  
भवात् तद्वद्वेत्यत्र, विनाशपट्टहृत्त्वानभि,—परिणयकालं वाद्यमानपट्टहृद्वादेत्यथ,  
सनाना,—तुल्या, जाता,—सम्पन्ना, रक्तवस्त्रादक परिधानस्य वरस्य वरस्त्री  
लाम यथा आगन्तातिमयी जायते, तथा एतादृशीमापदमापन्नस्यापि नम हृदय-  
वर्जभावा तव अकस्मादधिगमेन ततोऽप्यविकालौकिकद्वयो जात इत्यर्थो । प्रिय  
सङ्गमस्य प्रभाव, येन सस्यक् प्रतिकूलानामपि एतथा परमानन्दसुन्दोहजनकत्वेन  
अथर्त्तव अनकूलवराचङ्गमानतया परिणतजानति हृदयस, [ वैवाहिकवैशेष्यरूपतया  
पारणतन रक्तवस्त्रादना त्रगुपतस्य मे त्वया साउम्य विवाह एव सञ्जात, इत पर  
कदाऽपि मा मा व्याचारात् वक्तुरभिप्राय, आयकेश राज्ञा सुनुटेन आचरादेव  
वसन्तसना वधूश्चन्द्रप्रयोगेण सत्यङ्गिता भावप्यतीति भाव्यदृशनादवमवावगम्यत इति  
वेदितव्यम् ] । अथ प्रतिकूलानामपि वक्तुना रक्तदसन करवीरमाला वध्यपट्टहृत्त्वगोना  
वैवाहिकवस्तुत्वत्वन परिणमस्य नायकस्य आनुकूल्यकर्तृत्वोपवर्णनात् अनुकूलो  
ऽलङ्कार, तद्वक्ष्य यथा दपण,—‘अनुकूलं प्रातिकूल्यमनुकूलानुवन्ति चेत्’ इति,  
तथा वध्यचिह्नभूताना तपहस्तुजाताना तादृशे वैवाहिकमाश्रित्यजनकवस्तुभि  
सहावैधस्यसाम्यप्रतिपादनादुपनाऽलङ्कारस्य इत्यन्योरङ्गाङ्गिभावतया सस्यते सङ्ग ।  
वसन्ततिलकं वक्ष्यम् ॥ ४४ ॥

( म ) अतिदक्षिणतया—अत्रि गणिकाया प्रदक्षितया अलुदारतया इत्यथ,  
( “दक्षिणे सरलीदारौ” इत्यमर ), अत्रायनामोऽनुनोदत, तथा हि—दसन्त  
सनाया मनसि तदानोम् ईदृशी आशङ्का समुदपद्यत, यत् चारुदत्त तदसृष्टा सत्य  
घटनान् अधिकरणे सत्त्वससच्च प्राकाशयिष्यत् चेत् तदा नूनम अधिकरणिकक  
नादण्ड्यधियादति, किन्तु तथा कृतं “वसन्तसेनाविरहितस्य मे जीवने चिरसन्तापकर  
तया निष्पृजीजनम्” इति चारुदत्तस्य आशयो न सिध्येदिति सत्यप्राप्तेन त्वजीवन-  
रक्षायामुदासीनयाचदत्त वसन्तसेनाया य किल अनुपमसमुराग प्रकाशितवान्,  
आत्मन कृतं कृतं तनातिर्लज्जिता वसन्तसेना “आशयप्रनाप परनाधन्याया माय  
नवेदगोदायप्रकाश कथनप न युज्यत” इति आन्तरोपलतं प्रत, प्रकाशिताभ-  
मन्दयताति । नु इति प्रश्ने । व्यवसितम्—अनुहितमित्यथ ।

चारु । प्रिये । त्वं किल मया हतेति, (य) —

पूर्वानुवद्वैरेण शत्रुणा प्रभविष्णुना ।

नरके पतता तेन मनागस्मि निपातित ॥ ४५ ॥

वस । [ कर्णं पिधाय ] सान्त पाव , तेन स्मिन् रात्रिसालेण  
बावाटिदा ।

चारु । [ भिक्षुं दृष्ट्वा ] अयमपि कः ?

३ शान्त पाप, तनास्मि राजश्यालने व्यापादता ।

( य ) किलिति अनीके, ( चारुदत्तेन वसन्तसेनाहननस्य अनीकतया तस्य  
तत्त्वप्रशनायमव अतः किलशब्दः प्रयुक्तः ) । मया—चारुदत्तनेत्यत्र । हता—  
मारिता । इति—इत्यम्, अभियागमाराध्य इति शेषः, “निपातित” इति वक्ष्य-  
माणश्लोकस्थपदनाम्नयः ।

स्वावस्थाविषयस्य कारणं प्रियतमायै पुनः विद्वन्ब्रूयात्, पूर्व्वेति।—पूर्वानुवद्वैरेण  
—पूर्व्वज्ञातशत्रुभावेण, ( चारुदत्तः प्रति सम्ब्रह्मानुरागतया यदा वसन्तसेना सानुनय  
वाचनानमपि प्रकारमुपेक्षितवती, ततः प्रभृति अस्मीं दुष्टशकार तावुमौ प्रत्येव  
अत्यन्तं क्रुद्धः प्रतिहिंसासाधनपरवशतया सन्नुपजातवैरस्याभवादिति शेषः )  
प्रभविष्णुना—राजश्यालतया निरतिशयप्रभावशालिना, नियहानुगृहसमर्थनेत्यर्थः,  
नरके—निरये, पतता—आत्मानं निचिपता इत्यर्थः, अकारणपरद्रोहाचरणादिति  
भावः, [ पतता इत्येव भविष्यत्सामोष्ये वक्तमानप्रयोगो बोध्यः, तन नरके पतित्यता  
इत्यर्थो लभ्यते ] सम्प्रति वसन्तसेनायाः साक्षाद्दृशनात् शकारकृताभियोगस्य  
निष्ठात्वनिश्चयेन तथा प्रकारानुगृहीतया वसन्तसेनया अचिरादेव स्वनिर्गृहप्रकार  
स्वयमेव अधिकरणे प्रकाश्य करिष्यमाणानाभियोगेन च अचिरादेव तस्यैव प्राणदण्डो  
भावयति, ततश्च महापापिनस्तस्य नरकपतनं शीघ्रमेव अवश्यमासीति भावः, अथवा,  
यदि राजश्यालकृतया तस्य इह कोऽपि दण्डो न भवति, तथापि, परलोके एतस्य  
नरकदण्डः अवश्यमेव भविष्यतीत्यावेदयितुं “नरके पतता” इत्युक्तमिति वेदितव्यम्,  
तन—दुष्टतया अतिप्रसिद्धेन प्रकारेणेत्यर्थः, मनाक्—प्रापशः, जीवितया स्वय-  
सागतया त्वया मृत्युशिवलात् अधुनैव मम राक्षतत्वात् न सम्पूर्णरूपेणोत भावः,  
निपातित,—निचिप्तः, विनाशित इत्यर्थः, अस्मि—भवामः, मया त्वं हतात तन  
दुष्टेन कयनादिव अहं निहतप्राय एवाभवमित्यर्थः । पथ्यावक्तुं वृत्तम् ॥ ४५ ॥

वस । तेण अणज्जेण बाबादिदा, एदिणा अज्जेण (र) जीवा-  
विदम्हि । \*

चारु । कस्त्वम् अकारणवन्धुः ( ल ) ?

भिन् । ए पच्चभिजाणादि म अज्जो ? अहं शे अज्जश्श  
चलण-शवाह चिन्तए शंवाहके गाम , जूदिअलेहिं गहिटे  
एदाए उवाशिकाए अज्जश्श केलकेत्ति अलङ्कालपण-णिक्की-  
देम्हि, तेण अ जूदणिब्बेदेण शक्कशमणके शवुत्तेम्हि । एशा वि  
अज्जा पवहण-विपज्जाशेण पुप्फकलण्डक-जिस्सुज्जाण गदा,  
तेण अ अणज्जेण “ए म बहुमस्सेशि” त्ति बाहुपाशवलक्कालेण  
मालिदा, मए दिट्ठा । † (व)

५ तेनानार्येण व्यापादिता, एतेन आर्येण जीविता ( जीव प्रापिता ) अस्मि ।

† न प्रत्यभिजानाति सामाया ? अहं स आर्यस्य चरणसवाहचिन्तक सवाहको  
नाम द्यूतकरैर्गृहीत एतया उपासिकया आर्यस्यात्मनोऽस्मि इति अलङ्कारपण-  
निष्करोतीऽस्मि, तेन च द्यूतनिवेदेन शाक्यश्रमणक सवत्तोऽस्मि । एषा अपि आर्या  
प्रवहण विपय्यासेन पुष्प करण्डक-जीर्णोद्यान गता, तेन च अनार्येण “न ना बहु  
मन्वसे” इति बाहुपाशबलात्कारेण मारिता, मया दृष्टा ।

( र ) अनार्येण—असाधुना, दृष्टेन इत्यर्थः । तेन—शकारेणेत्यर्थः । एतेन  
—समीपस्थेन परिदृश्यमानेन अनेनेत्यर्थः । आर्येण—साधुत्तेन, भिक्षुणा इति  
वाच्यम् ।

( ल ) अकारणवन्धुः,—सहेतुकमिव, मयैतस्य कदापि कस्मिन्नपि उपकारे  
अकृतेऽपि, एतेन प्राणसमाया वसन्तसेनाया जीवनरक्षणादिति भावः ।

( व ) प्रत्यभिजानाति—स्मृत्या अवबुध्यते, परिचिनोतीत्यर्थः । आर्ये,—मान्य  
शारदक्ष इत्यर्थः । चरणसवाहचिन्तक,—चरणयोः,—पादयोः, सवाह—संवेदन  
काय, परिचय्याकम्प इत्यर्थः, चिन्तयति—कृतव्यतया भावयति, य तथाभूत, कथं  
चरणसवाहनेन प्रभो सन्तोष विधास्यामीति चिन्तापर इत्यर्थः, उपासिकया—  
उपासनशीलया वसन्तसेनया इत्यर्थः । आर्यस्य—पुत्रस्य, भवत इति शेषः ।  
आत्मनोः,—आत्मसम्बन्धो, दासजन इत्यर्थः । इति—इति हेतौ । अलङ्कारपण-  
निष्करोति,—अलङ्कार,—भूषणम्, एव पण,—मुख्य तेन, तद्दानेनेत्यर्थः, निष्करोति,



[ नेपथ्य । कलकल ] ।—

जयति वृषभकेतुर्दक्षयज्ञस्य हन्ता,

तदनु जयति भिक्षा परमुख कौञ्चगव, ।

—विमोक्षित इत्ययं, द्यूतकरहन्नादिति शेष । अस्मि—भवामि । [ “अलङ्कारपत्र” इत्यत्र “अलङ्कारपत्र” इति पाठान्तर—“अलङ्कारकण” इति संस्कृतम् ] । तन—सभिन्नादिकृताऽथाचारजन्यतया अतिप्रसिद्धेनेत्ययं । द्यूतनिवेष्टेन—द्यूतान्—द्यूत क्रीडाऽभ्यासजानतात्मनियहादित्ययं, जाती २ निवेष्ट,—वैराग्य, तेन । गान्ध्या—मान्यमणक,—औडुम्बरासी । एषा—इयं, पुरतः परिदृश्यमाना इत्ययं । आद्या—माननीया, वसन्तसेना इत्ययं । प्रपङ्गविपङ्गसेन—शकटव्यत्ययेन । तेन—सर्वविधा-निदोषाधिकतयाऽतिप्रसिद्धेन शकारिणेत्ययं । अनाद्येण—अनाधुना, पार्ष्णीयसेन इत्ययं । बहु नन्यसे—आद्रिगसे खेच्छया कामयसे इत्ययं । इति—एव कथयतेत्ययं, नारिता—मृतकल्या हन्ता, ( सजीवतया वसन्तसेनायाः प्रत्यक्षदृष्टिं सवाहकस्य वाक्ये “नारिता” इत्यस्य ‘हता’ इत्ययं कथमपि न युज्यत इति लक्षणया एवमेव व्याख्येयम् ) । नया—सवाहकेन । दृष्टा—मात्रात्कृता, मृतकल्या पण्यराग्यभन्तर-शाश्विता वसन्तसेनेति शेषः, वल्कलशोषणार्थं तत्र गतेन भिक्षुणा तदवस्थायास्तस्याः तत्र दर्शनात् इति बोध्यम् नारणमनो भिक्षोक्तवानुपस्थितेनैकल्लभृक्कारणदर्शनासम्भवात् “नण दिष्टा” इति प्राकृतस्य हत्याक्रियादर्शनाशक्तवसाशङ्कमानेन केनचित् अनङ्गवद्वशा अपमश उपेक्षितः ।

प्रियमुहद आद्यकस्य राज्यप्राप्तिजनितमानन्दं सूचयितुं नेपथ्यस्य शश्विलक आभोटदेवन्तुतिनुवेन अचिराद्विहृदराजासनस्य तस्य विजयमाश्रयते, जयतीति ।—दक्षयज्ञस्य—दक्ष—तद्वत्प्रजापते, यं यज्ञ,—याग, तेनानुष्ठेयमानं क्रतुरित्ययं, तस्य हन्ता—नाशक, वृषभकेतु,—वृषभज, शिव इत्ययं, जयति—सञ्चोत्कर्षेण वृन्तान्, यज्ञवाटगतस्य पालकस्य हननात् परमतीव हृष्टः शश्विलक तदनुवृत्तया आदौ यज्ञदोषितघातिनं भगवतः शिवस्य स्तुतिं कृतवानिति वेदितव्यं, ( दक्षप्रजापतिस्तु ब्रह्मणः दशमुपप्लेपु पञ्चतम आसीत्, तस्य अनेकासु कन्यासु चन्द्रसप्तविंशति कन्याः कश्यपः वज्रोदगः, भगवान् शङ्करस्तु एका दाचापणीनुपप्लेपे, एकदा त्वर्णा प्रजापतिं महाक्रतुं विरचय्य सञ्चान् देवान् क्षणीयाहृतवान् परन्तु तदाऽऽ दुहितरं मतो, जानातरं शङ्करं नाजुहाव, सतो तु पित्रा अनाहताऽपि तदाऽऽ पञ्चस्रवणादिति तेन अतोवावमानिता ततैव देहं तत्याज, भगवान् हरस्तु

तदनु जयति कृतस्त्रां प्रभ्रकैलामकेतु  
विनिहतवरवैरी चार्य्यको गा विशालाम् ॥ ४६ ॥

यदत हतान्तमग्न्यात् तदैवातिक्रुड तव गत्वा स्वगणपति वीरभद्र स्मर, ततय  
परत समागत वीरभद्र दृष्टा त यज्ञ विनष्टमादिदृश, तनादिदृश्य वीरभद्र गण-  
गणापित तव प्रवृत्त । ताथ तथा भोषणानवलोका यज्ञ स्वप्रसातभोत नृगरूप  
तत्पथात्, भेत्ता—सुनानोत्वात् शत्रुव्यूहभदकारो, कौञ्चशत्रु,—कौञ्च—दैत्य-  
विगणस्य, तदाख्यपञ्चतस्य वा, शत्रु,—शातयिता, इनमूदन इत्यथ, [ “कौञ्चो  
होपविशपे स्यात् पतिपर्वतभेदयो ” इति मेदिनी । कार्तिकेयस्य कौञ्चाख्यदैत्यस्य  
हन्तृत्वमुक्तं मृगन्दमहितायाम्, यथा,—“कौञ्चे ( होपे ) कौञ्चो हन्तो दैत्य कौञ्चाद्रो  
हमकन्दरे । क्तन्देन युद्धा सुचिर चिचमायी सुमायिना ॥ स शैलस्य दैत्यस्य  
ख्यातयित्वा कम्पना । केतुतामगमत् तस्य नाम्ना कौञ्च स उच्यते ॥ ” इति ],  
यथा,—भेत्ता—रन्ध्रकरणार्थं शरजालिन श्वेतगिरी साद्रकटस्य कौञ्चाख्यागरे  
विदारक इत्यथ, [ जलधरसमये येन रन्ध्रेण राजहसा मानसे सरसि पान्ति,  
कार्तिकेयेन हिमाचललग्नस्य कौञ्चाचलस्य तादृश एक रन्ध्र अकारि, तनैवास्य  
“भेत्ता” “कौञ्चदारण” इति सञ्ज्ञादय जातमिति पौराणिका आमनन्ति ।  
कार्तिकेयेन कौञ्चाख्यपञ्चतविगणस्य भेदकया भरते वनपञ्चणि २२४ अयावे  
उक्ता, तथा हि,—“धनुर्हिरेण्य व्यसृजद्वाणान् श्वेते महागिरौ । विभेद स  
( कार्तिकेय ) शरैः शैल कौञ्च हिमवत सुतम् ॥ ” इत्यादि । आगमैरपि एतद-  
विवरण दृश्यत यथा,—“मानसस्याविनी हसा कौञ्चरन्ध्रेण सञ्चरन्त” इति । अन्यत्र  
तु अन्यथाप्युपवर्णित दृश्यते, तथा च मेघदूते जामदग्न्यस्य कौञ्चभेदकयामाश्रित्य  
कालिदासेन—“भालिशद्रूपतटनतिक्रम्य तान्नाम् विगणान् हसद्वा रभृगुपतिथगोवर्त्म  
यत् कौञ्चरन्ध्रम् ” इति वर्णित, तच्च रन्ध्रे परशुरामेण कृतमिति तद्व्याख्याने विवृत  
मल्लिन थपादे,—“पुरा किल भगवतो देवात धूञ्जटे धनुषपनिपदमधोयानेन भृग  
नन्दनेन स्कन्दस्य स्वर्ज्या कौञ्च शिखरिणमतिनिगितविशिष्टमुत्तिन हनत्वा सृष्टिभेद  
भित्त्वा तत् कौञ्चभेदादेव सद्य समुञ्जृम्भिन् कश्चिन्नपि यम नीरनिधौ निमित्तनपि  
नगज्जालमाज्ञावितम् ” इति, भृगुनन्दनकार्तिकेयभ्यान्वोऽन्य विवदनानाम्यानेव  
कौञ्चविदारणमकाराति कौञ्चभेदं कुवचित् कार्तिकेयेन, कुवचित् परशुरामेण  
कृतमित्युपवर्णितमिति न विरोध इति ब्रवीम् ] यस्मिन्,—कार्तिकेय, जयति,

[ प्रविश्य सङ्गना शब्जिडक ] ।

शब्जिलक ।—

हत्वा त कुट्टपमह हि पालक भो ।  
तद्राज्ये द्रुतमभिषिच्य चार्यक तम् ।  
तस्याज्ञा शिरसि निधाय शेषभूता  
मोक्ष्येऽह व्यसनगतञ्च चारुदत्तम् ॥ ४७ ॥

शब्जिलकस्य सेनानायकत्वेन स्वाभोटतया दवसेनान्य कार्तिकेयस्य क्षुति तन कृति  
वेदितव्यम्, तदनु—तदनन्तरमित्यर्थ, विनिहत,—विनाशित, वर,—येन,  
वैरो—शत्रु, पालक इत्याशय, येन स, विनिपातितप्रधानरिपुमित्यर्थ, आर्यक,  
—तदाख्य प्राक् सिद्धादेशप्रामराज्य गोपालदारक इत्यर्थ, गम्,—धवल, य  
कैलास,—तदाख्य अक्षत, स एव केतु—विजयमूचकयेतपताका, सेनाचक्र वा,  
(“केतुना रुक्पताकाविवहात्पातेषु लक्षणे” इति मेदिनी) यस्या तां, कैलासपञ्चत  
पयन्तानित्यर्थ, (नृपाणामिह हि रीतिरस्ति, यत्, यावता मु तै अधिक्लियत,  
तत्सोमानिर्देशात्, सर्वस्य तावत्पयन्तस्य आत्मविजितत्वज्ञापनाय च सेनान्तप्रदेश  
स्वसङ्केतशालिनो विजयपताका निखुत्यत इति) विशाला—विस्तीर्णा, कस्मा—  
सम्पूणा, गा—पृथ्वी, जयति—स्वायत्तीकरोतु इत्यर्थ, यज्ञा,—जयति—परित  
स्वपताप प्रकोप्य पृथिव्या सर्वोत्कर्षण वर्त्तताम् इत्यर्थ । शालिनो वृत्तम् ॥ ४६ ॥

नेपथ्योक्तः पालकराज्ये आर्यकस्याधिकारनिर्दानो रुक्मिसमक्षसुहृद्य स्वस्यागमन-  
प्रयोजनमाह, इत्येति ।—भो ।—इति नागरकानुद्दिष्ट सम्बोधनम्, अहम्—  
एषोऽहं शब्जिलक इत्यर्थ, त—प्रजापौडकत्वेन आतप्रासङ्गं, कुट्टप—क्रांस्ततराजान्,  
अदृष्टाद छानुष्टानादिना परिहोषराजधम्माणमित्यर्थ, पालक—तदाख्यमुज्जयिनी  
पतिमित्यर्थ, हत्वा,—विनाश, तद्राज्य—तस्य—पालकस्य, राज्ये—राजकम्प्राप्त्य,  
प्रामधिकृत राष्ट्रे इत्यर्थ, त—पूर्वं सिद्धादेशेन सम्भावितराज्यतया अतिप्रसिद्धम्,  
आर्यक—तदाख्य गोपालदारकमित्यर्थ, द्रुतम्—अविलम्बित यथा स्यात् तथेत्यर्थ,  
अपुनरेवेति यावत् अभिषिच्य—अभिषिक्त कृत्वा, राज्याधिकारप्राप्त्यर्थं पूतत्वसम्पत्तये च  
तोषादकै स्वपत्न्या इत्यर्थ, तस्य—आर्यकस्य, शेषभूता—चरमाप्त, [ एतन् अस्या  
एव चरमाप्तत्वाभिधानात् अनेन नृपातकायमन्यत्त्वं अनुष्ठितमिति व्यज्यत । अत्र  
“प्रामादाऽन्नजनिष्ठाव्यदाने शर्धति कीर्तिता” इति विश्ववधन प्रसादत्वेन उद्धृत्य  
कथिदेव चाश्रयत, तवा हि,—शेषभूता—प्रसाददत्तनिमात्मदानरूपमित्यर्थ, इति,

हत्वा रिपुं तं बलमन्विहीन,

पौरान समाश्वास्य पुनः प्रकर्षात् ।

प्राप्तं समग्र वसुधाऽधिराज्य

राज्यं बलारिरिव शत्रुराज्यम् ॥ ४८ ॥

तत्र मञ्जुश्च ते, उल्लिखितकौषे, तथा, “—ग्रीप सङ्घर्षणे वने । अनन्ते ना प्रसादेन  
स्वनिम्नान्यापणं स्त्रियाम्” इति मेदिनीकौषे च “ग्रीपा” इति आकारान्तशब्दस्यैव  
प्रसाददत्तनिम्नान्यादानाथकत्वदर्शनात्, प्रकृते तु अकारान्तशब्दात् तादृशशलाभस्य कथ  
मपि असम्भवादिति सुधीभिर्विभाव्यम् ] आनाम्—आदेश, चारुदत्तस्य बन्धनमोचन  
विज्ञापिकाभिर्भित्ति भावः, शिरसि—मूर्द्धि, निधाय—धृत्वा, बहुमानास्पदतया तदादृश  
सादर गृहीत्वेति यावत्, व्यसनगत—विपन्न, चारुदत्त मोक्ष्ये—विपद मोचयिष्येति,  
रजिष्यामीत्यर्थः । गणव्याख्याने सुचते त्यागाथकत्वे एव सकम्पकत्वस्य, बन्धनरहितो  
भावाथकत्वे तु अकम्पकत्वस्य व्यवस्थापितत्वात् अत्र च सुचधातावन्धनरहितो  
भावाथकतया णिचि एवास्य “मोचयिष्यामि” “मोचयिष्ये” वा इत्येव रूपस्य प्रयोगस्य  
समोचीनतया “मोक्ष्ये” इति प्रयोगस्य व्याकरणलक्षणहीनत्वादस्य क्षुत्सत्कारतादीप  
दुष्टत्वमवगन्तव्यम् । प्रहर्षिणी वृत्तम् ॥ ४७ ॥

मन्त्रि-बलादिसहायशून्यस्य राज्ञः पालकस्य विजयकार्ये, राष्ट्रि-प्लवभौतानां पौरा  
णाञ्च समाश्वासनमुल्लिखन् पालकराज्ये आध्यक्षाधिकारं पुनरुद्घोषयत्, इत्येति ।—  
बलानि च—सैन्यानि च, मन्त्रिण्य—अमात्या, तै हीन,—परित्यक्त, ।वरहितो  
वा, तम्, अस्माकं पराक्रमं दृष्ट्वा सख्य एव बलमात्यादयः भौतिविह्वलाः तं परित्यज्य  
प्रलायिताः, न केऽपि तद्रक्षाथम् अयेसरा जाता इति भावः, मेदीपायमवलम्ब्य  
अस्माभिः राज्ञः पालकस्य बलवता ससत्तकानां सैन्यानां, तथा सुश्रीग्यानां मन्त्रिणाञ्च  
परस्परं वियोगे ललिते, असौ मुजय आसीत् इति तात्पर्यम्, [ एतेन स्वपक्षोपाया  
पराक्रमातिशयः, तथा पालके सर्वेषामेव प्रकृतवगाथाभननरक्तत्वं सूचितम्, “बल  
मन्विहीनम्” इत्यत्र ‘बलमिवहीनम्’ इति पाठांतरम् ] तं—प्रजापौडकत्वेन प्राप्तं,  
रिपु—शत्रुः, पालकमित्यर्थः, हत्वा—विनाशम्, प्रकर्षात्—अत्र प्रभावेत्कषमादित्य,  
[ ल्यब्लोपे पञ्चमी ] पुनः पौरान्—पुरवासिनः, राजकृतीपद्वेषं व्याकुलान् इति  
भावः, समाश्वास्य—आश्वासदानेन सात्वयित्वेति, कृतोऽपि मा भेद इत्यादि  
वचनेन राजानं प्रति तथा भयाभावसमुत्पाद इति यावत्, अत एव वसुधाऽधिराज्य  
—वसुधायाः,—समयायां लितः, अधिराज्य—साम्राज्यम्, आधिपत्याभिति यावत्,

[ अयती निरूप्य ] भवतु, अत्र तेन भवितव्य, यत्र अय जन-  
पदसमवाय । अपि नाम अयम् आरम्भ क्षितिपते आर्थिकस्य  
आर्थ्यचारुदत्तस्य जीवितेन सफल म्यात् ? ( ग ) [ त्वरिततरुप-  
स्य ] ( प ) अपयात जाल्मा । ( स ) [ दृश सदृशम् ] अपि ध्रियते  
चारुदत्त सह वसन्तसेनया । सम्पूर्णा खलु अम्भत्स्वामिनो  
मनोरथा, ( ह )—

[ आधकी राजा इति प्रादित्यरूपे अधिराज, तत तस्य कम्प इत्यर्थे 'राजपुत्राद-  
यत' ( ४ १।१३७ पा० ) इति उक्तं ] यस्मिन् तत तथामृत, समयश्रुतिवतीलाभपत्य  
निदानभूतमित्यर्थ, बलारे,—बलनामकदैत्यरिपी, इन्द्रस्यैव, राज्यमिदं—राज-  
पदमिव, इन्द्रत्वामत्रेत्यर्थ, ऐन्द्रपदवदतिमुखास्पदमिति भाव, समय—सम्पूर्ण,  
शची,—पालकस्य, राज्य—तदधिकृतराष्ट्रमित्यर्थ, प्राप्त—लब्ध, विजितमिति यावत्,  
आर्थ्यकेति शेष । अवीपसेप्रभृतस्य शत्रुराज्यस्य बलारिरज्येन सार्धं सवैषम्यसाध्य  
प्राप्तपादनात् उपमाऽलङ्कार । इन्द्रवच्चा उक्तम् ॥ ४८ ॥

( ग ) भवतु—अस्तु, आर्थ्यकविजयादिसृष्ट भूतवृत्तान्त इदानीमनालोच्यते  
एवेति शेष, परमोपकारकस्य आर्थ्यचारुदत्तस्य घातुकृष्णात् रक्षयात् पूर्वं विगत-  
विषयाञ्चोचनया कालक्षेपो न कर्तव्य इत्याशय । अत्र—यस्मिन् पुरोवर्तिनि स्थाने  
इत्यर्थ । तेन—आर्थ्यचारुदत्तेन इत्यर्थ । भवितव्य—वर्तितव्य, स्यात्तर्क्यमित्यर्थ ।  
यत्र—यस्मिन् स्थाने । जनपदसमवाय,—जनपदानां—जनानां, ( “भवेज्जनपदा-  
ज्ञानपदीऽपि जनदेशी” इति मेदिनी ) समवाय,—सङ्घात वर्धते इति शेष ।  
अपि—प्रथे । नाम—सम्भावनायाम् । आरम्भ,—पालकघननोद्दीप्त, आर्थ्यकस्य  
नूतनराजपदे प्रतिष्ठानमित्यर्थ । जीवितेन—चारुदत्तजीवनरक्षणेन । सफल,—  
फलवान्, सायक इत्यर्थ, चारुदत्तस्य जीवनरक्षणेन आर्थ्यकराज्यलाभस्य साफल्य-  
सम्प्राप्ति भवेत् किम् ? इति समुदिताशय ।

( प ) त्वरिततरु—प्रतिशुभ्र, द्रुतपदनित्यर्थ, उपसृत्य—समागत्य, जनपद  
समवायमिति शेष ।

( स ) अपयात—अपसरत । जाल्मा,—मूर्खा, इतरजना इत्यर्थ, दीनैक  
शरधाना नृराजनानां वधदर्शनं शस्त्रासङ्गतमिति चारुदत्तस्य वध द्रष्टुमागतान् प्राप्त  
अवस्था एवमभिहितमिति ज्ञेयम् ।

( ह ) आप ध्रियते—जीवात् एव, अपिकारोऽत्र एवार्थः । वसन्तसेनया सह

दिष्ट्या भोः । व्यसन-महार्णवादपारात्

उत्तीर्णं गुणधृतया सुशीलवत्या ।

नाविव प्रियतमया चिरान्निरीक्षे

ज्योत्स्नाया शशिनमिवोपराग सुक्तम् ॥ ४८ ॥

—वसन्तसेनया साहे, यथा वसन्तसेना जीवति तथैवायसपीत्यर्थः, वसन्तसेना अनेन भारितेति अस्यापि बधादेशयवणात् उभयोरेव नरण सम्भावितमासीत्, इदानीन्तु पुरत एव उभयोरेव जीवतीर्दशनादेव सहर्षोक्तिर्बोद्ध्या । सम्पूर्णा,—सर्व्वया सिद्धा, सफला जाता इत्यर्थः । अस्मत्स्वामिनः,—अस्माक प्रभो, आय्यकस्य इत्यर्थः । मनोरथा,—प्रभिलाषा, चारुदत्तस्य जीवनरक्षणविषयका इति भावः ।

वसन्तसेनासहितं चारुदत्तं जीवितं दृष्ट्वा हर्षं प्रकाशयति, दिष्ट्येति ।—भो ।—हे, नागरजना इति शेषः, नावेव—तरल्येव, गुणधृतया—गुण,—अनुरागादिर्बोध्यः, अन्यत्र गच्छ, तेन धृतया—आकृष्टयेत्यर्थः, एकत्र प्रेयस उज्जीवनायम्, अन्यत्र च वाहनायमिति भावः, सुशीलवत्या—सच्चरित्रया, प्रियतमया—प्रेयस्या वसन्तसेनया कवया, अपारात्—एकत्र अप्रतीकार्यात्, अन्यत्र—दक्षतरया अशक्यपारगमना दित्यर्थः, अनुत्तरणीयादिति यावत्, व्यसन—विषदेव, महार्णवं,—प्रशस्तसागरः, तस्मात्, दुस्तरविषद्विशालवारिधेरित्यर्थः, उत्तीर्णं—मुक्तं, पार गतमित्यर्थः, निस्तौणा पारापत्यारावारमिति यावत्, आय्य चारुदत्तमिति शेषः, उपरागात्—राहुयासात्, [ शकाराक्रमणादिति च व्यज्यते ] मुक्तं—परित्यक्तं, ज्योत्स्नाया—चान्द्रिकाया, [ वसन्त सेनयेति ध्वन्यते ] आय्य—युक्तं, सम्पूर्णं सङ्कुलमित्यर्थः, शशिनमिव—राकाचन्द्रमिव, [“पूर्णमाप्रतिपत्तन्वो यस्य ते राहुणा शशौ” इत्युक्ते पौर्णमासीप्रतिपदत्वावेव राह्वासास्य दर्शनात् ] दिष्ट्या—भास्ववशेनेत्यर्थः, [ दिष्ट्येति हर्षभस्यादिस्वकमव्ययम् ] चिरात्—बहुकालात् परमित्यर्थः, निरीक्षे—पश्चात्सीत्यर्थः । अत्र उपमेयभूते व्यसने उपमानभूतस्य महार्णवस्याभेदागोपातं निरुद्धं रूपकमलङ्कारः, अपि च उपमेयभूतया प्रियतमया साह नाव अवैधर्म्यं साम्यप्रतिपादनादुपमा, सा च “गुणधृतया” इति विशेषणश्लेषस्य साम्यमावर्ज्ज्याहकत्वपरतया उपन्यासात् श्लेषानुप्राणिततया श्लेषा विभेद्या, अपि च, विशेषणवलादुपस्थितस्य चारुदत्तस्य उपमेयभूतस्य शशिनो महा वैधर्म्यं साम्यप्रतीनेदोपमा, इत्येवामलङ्काराणामन्योऽन्यनैरपेक्ष्यैव संस्थितं संसृष्टं ।

तत् कृतमहापातकं कथमिव एनमुपनर्पामि ? अथवा.  
सर्वत्र आजिव (क) शोभते । [ प्रकाशमुपसृत्य वडाञ्जलि ] (ख) आर्थि-  
चारुदत्त ।

चारु । ननु । ( ग ) को भवान् ?

शवि ।—

येन ते भवनं भित्त्वा न्यामापहरणं कृतम् ।

सोऽहं कृतमहापापस्त्वामिव शरणं गतः ॥ ५० ॥

( क ) कृतमहापातकं,—कृतम्—आचरितं, महापातकं—त्रादण्यस्वामिकं  
मुवणचौख्येयं महापापं येन च, [ विप्रस्थानिकस्वर्णापहरणस्य महापातकत्वनुक्तं  
( ननु० ११ व० ५५ व्री० ) यथा,—‘त्रादण्यस्य सुरापानं स्त्रीयं गवदनागमः । नृणां  
पातकाभ्यां च सत्तर्ग्यापि तैः सह ॥’ अत्र स्त्रीयपदस्य त्रादण्यस्वामिकमुवणहरण-  
परत्वं कुट्टुभट्ट्याख्याया दृष्टम् । अस्य च शब्दिलकस्य त्रादण्यचारुदत्तगृहं सन्धि-  
खननपूर्वकं स्वर्णालङ्कारहरणं पूर्वमुक्तम् ] । कथमिव—इव—इति वाक्यालङ्कारं,  
केन वा प्रकारेण इत्यर्थः । एन—चारुदत्तम् । आजिवम्—अजुलं सरलता इत्यर्थः,  
नन्वे प्राङ्मुखादीयमुवणपहरणजनिता लज्जा विहाताधुना सरलभावेन दीनशरणस्यास्य  
चनीपे गमनं न शोभनं न भविष्यतीति वक्तुराशयः ।

( ख ) प्रकाश—स्यट्, प्रत्ययं यथा तथेत्यर्थः, चारुदत्तमनसम् इति यावत् । उप-  
सृत्य—सनीपं गत्वा इत्यर्थः, जनसङ्घान्तरालावस्थितं तत्सनीपगमने शङ्काऽऽकुलमात्मानं  
सनीपगमनेन प्रकाशोक्त्य इति यावत् । वडाञ्जलि,—कृताञ्जलिः, आर्द्रा इति शब्दः ।

( ग ) ननु इति शान्त्युपायेकनव्ययम् ।

अपरिचितपूर्वस्य स्वस्य नानजान्यादिनावकथने चारुदत्तस्य सम्यक्तया तत्परि-  
चयज्ञानासम्भवात् सहजपरिचायकेन पृथगान्वयसाधारणकस्मोत्तिष्ठेन रूपरिचयमाह,  
देनेति ।—येन—महापातकिना, ते—तव, दीनतया प्रशान्ततया च विस्मयमुपस्य  
इति भावः भवनं—गृहं, भित्त्वा—विदीप्य, तद्गृहं सन्धिं कल्पयित्वा इत्यर्थः, न्यासस्व-  
—वस्तुनस्तेन वा रचितस्य मुवणभाष्यस्य, अपहरणं—मोषणं, चौख्यमित्यर्थः, कृतं—  
विहितं, गणिकाऽऽसक्तचित्ततया नटनिका वस्तुनस्तेनात मोचयितुमिति भावः कृत-  
महापापं,—कृतम्,—आचरितं नष्टम्—उत्कटमित्यर्थः, विप्रस्थानपहरणादित्या-  
शयः, पाप—दुष्कृतं महापातकवृत्तिमिति भावः, येन तदीकृतं, च,—तादृशं, अहं—  
शब्दिवच इत्यर्थः, त्वामिव—भवन्तेव, दीनदेवविमोचनेन चनीपाद्यादिगुणेन च

चारु । सखे । मेवम् । त्वया असी प्रणय ( घ ) कृतः ।  
[ इति कण्ठे गृह्णाति ] ( ङ ) ।

शवि । अन्यच्च,—

आर्थिकेणार्थवृत्तेन कुलं मानञ्च रचता ।

पशुवद् यज्ञवाटस्थो दुरात्मा पालको हतः ॥ ५१ ॥

अतिप्रसिद्धमिति भावः, शरण—राक्षसतार, गत,—प्रातः, अस्मि दात शय, त्वयि  
कृतापराध मङ्गापातकी अह स्वमुखेनैव स्वदीपं स्वीकृत्य शरण गच्छामि, तदानौ  
प्रियतमायां मदनिकायाम् अत्यनुरागेण विमोहितचेतकया दूषितकुलाचारस्य मम  
पूर्वकृतम्पराधजातमात्मगुणेन क्षमस्वेति भावः । पश्यावकं वृत्तम् ॥ ५० ॥

( घ ) सखे ।—मित्र । शर्विलकैत्य, ( तत्कृतापराधस्य परिमार्जनान्नापनायै  
पूर्वकृतापकायेण सञ्जातनिर्देद शर्विलक सखिसम्बोधनेन आहूतवानिति वेदि  
तथम् ) । एवम्—उक्तदृष्ट, शरणागतत्वादिवचनमित्यर्थः, मा—न, वादीरिति शय ।  
असी—सदृहात् स्वणालद्वारापहरणरूपव्यापार इत्यर्थः । प्रणय,—प्रोतिसम्पादनार्थं  
परिहास इत्यर्थः, तवेदमनुष्ठान यदि परिहासकृतं न स्यात्, तदा कथं मम  
गृहात् बहुमूल्यं तं सुवणालद्वारं निर्विवादम् अपहृत्यापि तत्फलं स्वयं किञ्चिदनुप  
भुज्येव मम प्रियतमायै वसन्तसेनायै एव तद्दानं सम्भवेदिति, तथा च वसन्तसेना-  
स्वामिकस्यैवालद्वारस्य प्रकारान्तरेण तद्वस्ते एव समर्पणात् एतत्पराहासादन्वत् किमपि  
वस्तु न शक्यते इति भावः ।

( ङ ) कण्ठे गृह्णाति—सकण्ठग्रहम् आलिङ्ग्यतीत्यर्थः, कण्ठग्राहं स्वजते इति  
यावत् ।

इदानीं चारुदत्तस्य भोजनवार्त्ताज्ञापनेन प्रोति जनयितुं प्रथमतः पालकविनाश  
वार्त्तां ज्ञापयति, आर्थिकेणेति ।—आर्थ्य—साधु, अनुकरणयोग्यमित्यर्थः, वृत्त—चरित्र  
यस्य तेन गोपदारकत्वेऽपि न नीचप्रकृतिर्नेति भावः, कुल—सन्तति, प्रजानां वश  
धारामिति यावत्, दुराचारपालकस्य प्रजापौडकत्वादिति भावः मार—सम्मान,  
पालकेनावमानतानां प्रजानामिति भावः, रचता—पालयता, [ पालकस्य उत्प्रेक्ष्येन  
जनानां मानवता कुलवताञ्च दशलीपं तथा मानात्ययस्य अनेकश अभूत्, भवानपि  
सर्व प्रकटनिदर्शनम्, अतः तद्विनाशेन आर्थिकस्य तथा कुलमानरक्षित्वमिति  
चतुराशयः ], आर्थिकेण—दीनशरणेन त्वया प्राक् स्वप्रवृत्तदानविमोचितेन तन्नाद्या  
गोपालदारकेत्येव, यज्ञवाटस्थः,—यज्ञशालास्थितः, दुरात्मा—दुष्टान्तरकरः,



चारु । किम् ?

शवि ।—

त्वद्यान य समारुह्य गतस्त्व! शरणं पुरा ।

पशुवद् वितते यज्ञे हतस्तेनाय पालक ॥ ५२ ॥

चारु । शविनक । योऽसौ पालकेन घोषाटानीय निष्का-  
रणं कूटागारे वद आर्थिकनामा त्वया मोचित ? ( च )

पालक —तदाह्य उज्जयिनीपति, पशुवत्—झागादरिव, दीनं पश्यन्त्या जन-  
शालाया यजनानेन निह्य इत्यने, तदित्यर्थ, [ एतन् असहायस्य निरस्य तस्य  
निर्दयभावेन नारण सूचितम् ] हत —नारित, उत्थोडतप्रजाना कुलमाभाटनीना  
रचाय, तथा राष्ट्र सूचिरा शान्तध म्यापयित् साधुचेता आर्थिक दृष्टन्पात त पालक  
हतवान् न तु राज्यलिप्सया हात निक्षेप । यद्यपि शब्जिलक स्वयमेव पालक  
हतवानिति प्रागुक्तम् अथ तु आर्थिकतदननात्ते विरोध आयाति इति तथापि  
शब्जिलकादिभि पालकहाने आर्थिकस्य नञ्चेया आनुकूल्यं कृत, येन विना आर्थिक  
तदनने कथमपि प्रभुर्न भवेदिति अत एव आर्थिकवत् परम्परया शब्जिलकादीना-  
नपि पालकहन्तृत्वनायातमित्यविरोध द्रष्टव्य । पथ्यावक्तृ इत्तम् ॥ ५१ ॥

पालकहन्तृत्वेन आर्थिकस्य पारचयप्राप्त्यर्थं पूर्वज्ञानानुज्ञा पुनराप चारुदत्तेन  
पृष्ट पालकविनाशवाचां प्रकाशयति, त्वद्यानमिति ।—पुरा—प्राक्, य,—यो जन,  
चारानारात पलायित इति भाव, त्वद्यान—वसन्तसेनानयनार्थं पृथकरण्डकजीर्णो-  
यान प्रति चेष्टेन चालित तव प्रवहणमित्यर्थ, समारुह्य—अधिरुह्य, त्वा—भवन्त,  
शरणं—रक्षितार, गत —प्राप्त, आययत्वेन त्वत् इत्यर्थ, आसीदिति शेष, तेन—  
पूर्वोक्तपक्षे भवता विमोचितेन आर्थिकेणैव, अथ—एतस्मिन् दिवसे, वितते—  
विस्तृते यज्ञे—यज्ञक्षेत्र इत्यर्थ, पालक पशुवत् हत इत्यन्वय, व्याख्या तु पूर्ववत् ।  
यद्यपि पूर्वज्ञानेन एष एवाय प्रतिपादित, तथापि तव केवल पालकस्य प्रभाषोड  
कत्वनावनेव वक्तव्यनासीत्, अथ तु तद्विमोचन चारुदत्तौटार्थेण जातमिति कृतज्ञता  
प्रकाशयितुं पुन तादृशनेवायनवतारितवानिति वेदितव्यम्, अत नास्ति तेन सह अस्य  
पौनरुक्त्यमिति । पथ्यावक्तृ इत्तम् ॥ ५२ ॥

( च ) कूटागारं—चन्द्रशालिकायां, मौषचूडाव्यग्रह इत्यर्थ, वद,—  
उच्यते इत्यर्थ । त्वया मोचित,—भवता मुक्तवन्धनं कृत, स एव पालकं  
हतवान् किम् ? इति चारुदत्तप्रश्नाशयः ।

शर्वि । यथाह ( क ) तत्रभवान् ।

चाह । प्रिय नः प्रियम् । ( ज )

शर्वि । प्रतिष्ठितमात्रेण तव सुहृदा आर्य्यकेण उज्जयिन्या  
वेणातटे कुशावत्या राज्यमतिष्ठम् । तत् प्रतिमान्यता प्रथमं  
सुहृदप्रणयः । ( झ ) [ परिहृत्य ] ( ञ ) अरे रे । आनीयतामय  
पापो राष्ट्रियशठ । ( ट )

( क ) यथा—यदित्यथ, तत्रभवान् यदिति तदेवेति भावः ।

( ज ) प्रिय न प्रियम्—अस्माकं सम्बन्धे इयम् अतीव प्रियवाक्ता इत्यर्थः,  
निरपराधस्यास्य प्रियोचनेन, कुतूषलं पालकस्य हननेन चास्माकनतीव प्रियकाव्य-  
मनुष्ठितं भवतति बहु सातिशयवत्सूचकमतिदृढगमात् विभाव्यम् ।

( झ ) प्रतिष्ठितमात्रेण—राज्ये अभिषिक्तेन एवेत्यर्थः, मिह्रासनलाभचण्डे  
पर्वत्याशयः । सुहृदा—निवेण, [ राजरोषात् परित्रातुं पलायनार्थं चारुदत्तेन तस्मै  
यवहृणं प्रदत्तम् तेन चानेन आर्य्यकस्य सुहृत्कृत्यं कृतमिति बोध्यम् ] । उज्जयिन्याम्  
—उज्जयिनीसमीपे इत्यर्थः । वेणातटे—वेणानानद्या, तटे—तीरसमीपे इत्यर्थः ।  
कुशावत्या—तदाख्याया कुशप्रतिष्ठितनगर्या, दक्षिणकोशलस्य राजधान्यामित्यर्थः,  
तथा च रामायणे,—“कोशलस्य कुश वीरमुत्तरेषु तथा लवम् । अभिषिच्य महात्माना-  
बुभौ राम कुशीलवौ ॥” इति । कालपरिवर्तनेन पुरातनानां नदीनां नगरीणां देवानां  
विलोपात्, सप्ताजं अशोकस्याधिकारप्रापके भुवः चित्रे ( मानचित्रे ) चानुल्लेखात्  
पतासामर्थास्थितिस्थाननिर्णयो दुष्टः पर्वति । राज्य—राजपद, राजत्वमित्यर्थः ।  
अतिष्ठ—दत्तं, तुभ्यमिति शेषः । प्रतिमान्यता—सुहृदोपायनत्वेन स्वीक्रियता,  
कृतज्ञतानिदर्शनभूततया सादरं प्रदीयमानत्वादित्याशयः । प्रथमं,—आद्यं, प्रवं  
कदाप्यकृतं इति यावत् [ एतन् सर्वथा प्रत्याख्यानान्नृत्वं सूचितम् ] । सुहृत्  
प्रणयः,—सुहृदः,—मित्रस्य आर्य्यकस्येत्यर्थः, प्रणयः,—प्रोत्तदानं, कुशावतीराज्यं  
सम्प्रदानरूपमिति भावः ।

( ञ ) परिहृत्य—प्रत्याहृत्य, नेपथ्याभिमुखमिति शेषः ।

( ट ) राष्ट्रियशठ,—राष्ट्रियेषु—राजशालेषु, ( “राजशालांस्तु राष्ट्रियं” इत्य-  
मर ) शठः,—धूर्तः, यावन्तो राजशालां सन्ति, तव ज्ञापेक्षया अतीव प्रवृत्त-  
इत्यर्थः, यद्वा,—राष्ट्रियः,—राष्ट्रियरूपः शठः, धूर्तः राजशालाकं शकार इत्यर्थः ।

[ नेदये । यथाऽऽज्ञापयति शर्विलक ] ।

शर्वि । आर्य्य । ननु अयमार्य्यको राजा विज्ञापयति, इदं  
मया युष्मद्गुणोपाज्जितं राज्यं तदुपयुज्यताम् । ( ठ )

चारु । अस्मद्गुणोपाज्जितं राज्यम् । ( ड )

[ नेदये । अरे रे राष्ट्रियशालक । एहोहि, स्वस्याविनयस्य  
फलमनुभव ] ।

तत् पवित्रं पुरुषैरभिहितं पयादाहुवत् । ( उ ) गकारः ।

गकारः । होमादिके ।—

एव दूतमदिक्कन्ते उहामे त्रिअ गदहे ।

आणोटे क्तु हगे वडे हुडे अस्से व्व दुक्कले ॥ ५३ ॥

\* अहम् ।—एव दूतमदिक्कन्ते उहामे इव गदमे ।

आनीत खल्लह वडे कुकुरोऽन्य इव टक्कर ॥

( ठ ) उक्ताच्च—चारुदत्तप्रश्नोक्तानि न्ये गदै —प्रवृत्तदानादिष्वपि साहाय्य-  
दानादिभिः उपार्जित—स्वस्य मया—आयुक्तेषु अधिकृतमिति शेषः । तत्—  
तस्मात् उक्तास्तेवानुसङ्गेन सर्वस्य राज्यस्य लोभादित्यर्थः । उपयुज्यताम्—भुज्यताम्,  
आप्नोतिमिति हत्वा एतत् कुशावर्तं राज्यं उपभोगविषयोक्रियतानित्यर्थः ।

( ड ) “अककुपोपान्जितम्” इत्यादि वाक्यं चारुदत्तस्य विस्मयार्थकम्, तथा  
च—इदं नै का शक्तिं तस्मादायकरणे । स्वपराक्रमेणैव पालकेन विपत्त्याग-  
मुत्तमं राज्यं स्वस्य नात्र मया कृता साधितं नृहायतति चारुदत्तवाक्यमशयः ।

( उ ) उहये —रविदुहये । अधित, —अनुगत, गृहीत इत्यर्थः । पया-  
दाहुवत् —पयाद—उहये, वाह—मुनी, वडो—सप्तमी यस्य तयाम्, एव  
निर्दिष्टमुत् ६५२ ।

[ दिशोऽवलोक्य ] शमन्तदो उवद्विदे ण्णे लट्ठिअवन्धे । ता क  
दाणि अशरणे शरण व्वजामि १ (ग) [ विचिन्त्य ] भोदु, तं ज्जेव  
अम्भुववण शरणवच्छल ( त ) गच्छामि । [ इत्युपसृत्य ] अज्ज-  
चालुदत्त । पलित्ताआहि पलित्ताआहि । २ [ इति पादयो  
पतति ] ।

[ नेपथ्ये अज्ज चालुदत्त । मुञ्च मुञ्च, वावाटेक्क एट ] । १

शकार । [ चालुदत्त प्रति ] भो अशरण-शरणे । ( थ ) पलि-  
त्ताआहि । ३

\* समन्तत उपस्थित एष राष्ट्रियवन्ध । तत्कमिदानीनशरण शरण व्रजामि १  
भवतु तमेव अभ्युपपन्न शरण-वत्सल गच्छामि । आद्य चालुदत्त । परिवायस्व  
परिवायस्व ।

† आद्य चालुदत्त । मुञ्च मुञ्च, व्यापादयाम एतम् ।

‡ भो अशरण-शरण । परिवायस्व ।

उपस्थापित, आस्मि इति शेष । अत्र गद्मेन कुङ्कुणे च सह शकारस्य अवैधर्म्य  
साध्यप्रतीतरूपनादयम् । पथ्यावक्त वचन ॥ ५३ ॥

( ग ) समन्तत,—परित, चतुर्दंशु इत्यर्थ, ( “समन्ततस्तु परित सव्वतो  
विष्वगित्यपि” इत्यमर ) । राष्ट्रियवन्ध,—राष्ट्रियस्य—राजश्यालस्य मन, वन्ध,—  
विपन्न, शत्रुवर्ग इत्यर्थ, [ वय्यनेऽनेनेति वन्ध, करणे घञ्, ] अथवा,—वन्ध,—वन्धन,  
[ भावे घञ् ] विपदित्यर्थ, [ “लट्ठिअवन्धे” इत्यत्र “लण्ठिअवन्धे” इति प्राकृतपाठ  
कुत्रचित् दृश्यते, तस्य तु “राष्ट्रियवन्धु” इति संस्कृतम्, तददन्तु—राष्ट्रियस्य—  
शकारस्य समेत्यर्थ, वन्धु,—स्वजन, सव्वत सम आत्मीया विपन्न मा द्रष्टु समुपा-  
गता वर्त्तन्ते इत्यर्थ ] । अशरण,—निरायय इत्यर्थ, क, जनमिति शेष । शरण  
व्रजामि—आयय प्राप्नानि, आययत्वेन कमवलम्ब्य आत्मरक्षा करिष्यामीत्यर्थ ।

( त ) अभ्युपपन्नाना—अभि—सञ्ज्ञेताभावेन, उपपन्नाना—समीपमागताना,  
शरणागतानातिव्यर्थ, विपन्नानामिति भाव, शरणे—रक्षणे, वत्सल —खेदयुक्त,  
तम्, आपन्नरचितारमित्यर्थ ।

( थ ) अशरणशरण ।—अशरणस्य—नास्ति शरण—रक्षिता यस्य तथोक्तमित्यर्थ,  
निराययस्वेति यावत्, शरण—रक्षिता, आययदाता इत्यर्थ, तत्सम्बोधने, निरायय  
वान्वव । इत्यर्थ ।

चारु । [मानुकम्पम्] (द) अहह । (ध) अभयमभय गरणागतस्य ।  
शवि । [मावेगम्] (न) आ । अनुनीयतामय चारुदत्त-  
पाश्चात् । [चारुदत्त प्रति] ननु । उच्यता किमस्य पाणस्य अनु-  
ष्ठेयतामिति, (प) —

आकर्षन्तु सुवध्यै न ? श्वभि सद्वाद्यतामय ? ।

शूले वा तिष्ठतामिष ? पाव्यता क्रकचेन वा ? ॥ ५४ ॥

चारु । किमहं यद् ब्रवीमि, तत् क्रियते ?

शवि । कोऽत्र सन्देह ?

शकार । भट्टालाया । त्वालुदत्त । शलणागदे स्नि, ता  
पलित्ताआहि पलित्ताआहि, ज तुए शालिश, त कल्लेहि, पुणो  
ए ईदिश (फ) कालिश । \*

\* भट्टारक । चारुदत्त । शरणागतीऽस्मि, तत्परिवायस्व परिषापस्व, यत्तव  
सदृश तव कुरु, पननं ईदृश करिष्यामि ।

(द) मानुकम्प—सदपन् ।

(ध) अहह इति परटु खासहिणुतथा आतक्लेशज्ञापकमन्वयम्, (“अहहेत्यङ्गुने  
खेदे परित्क्लेशपक्षयो ” इति नेदिनी) ।

(न) मावेग—क्रोधजनितत्वरसहितमित्यर्थः ।

(प) ननु इति सामन्त्रणे । अनुनीयता—विधोऽता, क्रियतामित्यर्थः, दुष्मा-  
भिरिति शेषः, इदानीमस्य यादृशी दण्ड समुचित भवति, असावचिरेणैव भवद्भि  
विधातव्य इत्यर्थः ।

सद्वाद्यतामिषास्य दण्डप्रकारं पृच्छति, आकर्षन्तु इति ।—एन—शकार, सुवध्य  
—पादयो दृष्ट वडा इत्यर्थः, आकर्षन्तु—देशात् देशान्तरं गन्तुं, रचिण इति शेषः,  
अय—अथवा, एष, —अयम् आनीत राष्ट्रिय इत्यर्थः, श्वभि,—कुङ्कुरैः, सद्वाद्यता—  
भोज्यता, [खादने णिचि कम्पणि लोटि रूपः, ‘श्वभि’ इति प्रयोज्यकर्तुं न कर्त्तव्यं,  
खादन् तन्निषेधादिति] वा—अथवा, शूले—तदाख्यमारणसाधनयन्त्रविशेषः, तिष्ठतां  
—वृत्तताम्, इमं शूले आरोपयन्तु वा इत्यर्थः, वा—किंवा, क्रकचेन,—करपक्षेण,  
पाव्यता—विदाय्यताम्, [अत्र सर्व्वेव सम्प्रत्ये लोट्] । पद्यावक्तव्यम् ॥ ५४ ॥

(फ) सदृशम्—अनु रूपः, प्रकृतियोग्यमित्यर्थः । कुरु—विधेहि, यत्र कुले

गौरा । [ नेपथ्ये ] बाबादेध, किं निमित्तं पादकी जीवा-  
कीञ्चिदिति ? ॥ (ब)

वस । [ वध्यमालां चारुदत्तस्य कण्ठादपनीय शकारस्य उपरि चिपति (भ) ] ।

शकार । गवभदाशीधोऽ । (म) पशौद पशौद, ए उण  
मालङ्गश, ता पलित्ताआहि । ॥

शर्वि । अरे रे । अपनयत । आर्य्यचारुदत्त । आज्ञाप्यता,  
किमस्य पापस्य अनुष्ठीयताम् ?

चारु । किमहं यद् ब्रवीमि, तत् क्रियते ?

शर्वि । कीदृशं मन्देह ?

चारु । सत्यम् ?

शर्वि । सत्यम् ।

चारु । यद्येवं (य) शीघ्रमयम्—” ।

\* व्यापादयत, किं निमित्तं पादकी जीव्यते ?

† गर्भदासीपुत्रि । प्रसौद प्रसौद, न पुनर्माग्यस्यामि तत्परिवायस्य ।

भवान् जातः, तत्र कदापि आश्रितः न त्यज्यते निश्चयते वा इति आ जन्मनः स्वतः-  
सिद्धा तामेव प्रकृतिमाश्रित्य शरणागतं मामिदानीं परिवायस्वेति भावः । ईदृशम्—  
एवविधं, त्वन्निष्ठातनार्थं यादृक् क्रूराचरणपूर्वं मया कृते, तादृगित्यर्थः ।

( ब ) जीव्यते—जीवनेन धायते, संप्राणं विमोचते इत्यर्थः, दुष्प्रभाभिर्भरितं  
शेषः ।

( भ ) शकारस्य उपरि—शकारस्य कण्ठदेश इत्यर्थः, ( वसन्तसेनया शकारस्य  
कण्ठे वध्यमालाचोपपणेन, स्वस्य चारुदत्तस्य च निष्ठातनजनिताक्रोशेन शाब्जलक-  
कृतकर्तव्यजिज्ञासायाम् “अथ वध्य एव” इति प्रत्युत्तरं कुल्लेन प्रदत्तम् इत्यवधेऽयम् ) ।

( म ) गर्भदासीपुत्रि ।—गर्भदास्या, —या गर्भवत्तमात् कल्पितपरिचारि-  
काया, पुत्रि ।—तनये । [ पुत्रशब्दात् गौरादित्वात् स्त्रिया डोप्, गौरादेराकृति-  
गणत्वान्, तथा च, “सुता तु दुहितृता पुत्री” इति द्विकान्ठग्रहः ] । आत्मजीवनस्यार्थं  
विनीतभावेन प्रसादभिचासमर्थेऽपि “गर्भदासीपुत्रि ।” इति सावचनसम्बोधनं शकारस्य  
मुखताऽनुरूपमेवेति विभावनीयम् ।

( य ) एवम्—इत्यम्, अहं यद्ब्रवीमि, तदेव क्रियते चेदित्यर्थः ।

शवि । किं ह्यन्यताम् ? ( र )

चारु । न हि न हि, “—मुच्यताम् ।

शवि । किमर्थम् ?

चारु । शत्रु कृतापराधः शरणमुपेत्य पादयोः पतित ।  
शस्त्रेण न हन्तव्यः—” ( ल )

शवि । एवं, ( व ) तर्हि श्वभि खाद्यताम् ?

चारु । न हि,—“—उपकारहतस्तु कर्त्तव्यः । ( श )

शवि । अहो आश्चर्यम् । ( प ) किं करोमि, वदतु आर्य्यम् ?

( र ) शकारनिध्यातने विलम्बासङ्गिणुना शञ्ज्वलकेन चारुदत्तस्य “शौत्रमयम्” इत्यसम्पूर्णवाक्यस्य “मुच्यताम्” इति तदभिप्रेतप्रत्युत्तरबोधकक्रियापदमुच्चारयितुमवसरानदत्तैव स्वाभिप्रायानुकूल “किं ह्यन्यताम्” इति प्रतिवचन तडाकाशेषत्वेन उपादातु वितर्कितमित्यवगन्तव्यम् ।

( ल ) एव कृतापराधस्यापि विमुक्ते कारणमाह, शत्रुरिति ।—कृतापराधः, —कृतदोषः शत्रु,—रिपुः शरण—रक्षकम्, उपेत्य—प्राप्य, पादयोः,—चरणयोः, पतित —विलुठित स्वजीवनभित्तयेत्यर्थः, अत इति शेषः शस्त्रेण—मारणसाधनेन केनाप्यायुज्जेत्यर्थः, न हन्तव्यः,—न विनाशयितव्यः, शरणार्थिना रक्षणमेव धम्माशक्तकृताननुनत न तु तदनुनमिति तात्पर्यम् ।

( व ) चारुदत्तोक्त “शस्त्रेण न हन्तव्यः” इति, “किमर्थम्” इति स्ववाक्यस्य प्रतिवचन प्रकारान्तरसाध्यहननविषयकमेव इति अवबुध्यैव वितर्कयति, एवमिति ।—एव—शस्त्रेण न हन्तव्येदित्यर्थः ।

( श ) एतावता रत्नेन “किमर्थम्” इति शञ्ज्वलकप्रश्नोत्तरदत्त्वा, पुनः शञ्ज्वलकेन “एवम्” इत्यादिरत्नेन पृष्टस्योत्तरमाह, न हीति ।—न हि—नैव, “श्वभि खाद्यताम्” इत्यपि नेत्यर्थः, तर्हि किं कर्त्तव्यमित्यत्राह, उपकारेति ।—उपकारहतस्तु —उपकारिण—अनुग्रहप्रदशनेनेत्यर्थः, हतस्तु,—विनष्ट पक्षेनेत्यर्थः, [ उपकार एवायं ] कर्त्तव्यः,—विधेयः कृतापकारस्य श्वारूपकारि कृते स हतप्रायः एव भवतीति नात्र, श्वो शरणार्थिन उपहृतिवधानं हननादपि अधिकफलप्रदः प्रगल्भशक्तिर्भनीयः साधोयानिति सूक्ष्मेण ।

( प ) आततायिनः प्रति चारुदत्तस्य सदयव्यवहारदर्शनेन “अहो । आश्चर्यम् ।”

चारु । तन्मुच्यताम् ।

शवि । मुक्ती भवतु । [ इति मोक्षयति ] ।

शकार । हीमादिके । ( स ) पञ्चुज्जीविदेस्मि ॥ \* [ इति  
परुषे ( ह ) सङ्ग निष्कान्त ] ।

[ नेपथ्ये कलकल । पुनर्नेपथ्ये ] एसा अज्जचारुदत्तस्स बहुआ  
अज्जा धूदा पदे वसनञ्चले विलगन्त दारअ आक्खिबन्तो  
वाप्प भरिद णअणेहिं जणेहिं णिवारिज्जमाणा पज्जलिदे  
पावण पविसदि । ५ ( क )

\* आश्रय्ये । प्रत्युज्जीवितोऽस्मि ॥

+ एसा आश्रय्यचारुदत्तस्य वधूराश्रया धूता पदे वसनाञ्चले विलगन्त दारक-  
मानिपत्नी वाप्यभरितनयनै जने निवास्यमाणा पञ्जलिने पावके प्रविशति ।

इति एकायकाल्ययशब्दद्वयप्रयोगेण तदुदारताया स्वविधायतिशय्य प्रकटोक्तमिति  
वेदितव्यम् ।

( स ) “हीमादिके” इत्यय्यपद गतप्राप्तया अप्रत्याशितरक्षणस्य स्वजीवनस्य  
पुनः प्राप्ता आनन्दातिशय्यमेव प्रकटयति शकारस्य, न तु चारुदत्तस्य औदाय्यदशनेन  
विस्मयमिति ज्ञेयम्, अतिमूखे अकृतज्ञे शकारे कृतज्ञताया एकान्ततोऽसम्भवात् इति ।  
आनन्दप्रकाशाय आश्रय्याश्रयपदप्रयोग शकारे वक्तारि न विस्मयभावश्चेति ।

( ह ) परुषे,—रनिपरुषैरित्यर्थः ।

( क ) पद—चरणं, वसनाञ्चले—परिधियाश्रये, विलगन्त—लुठन्त, मातरञ्चले  
धृत्वा तदनपदं गच्छन्तमिति यावत्, अग्नौ आत्मप्रक्षेपणव्यापारात् मातरं निवारयितुं  
मिति शेषः, अत्र अञ्चलशब्दशक्त्या वसनप्रान्ताश्रयोऽपि पुनः वसनशब्दोपादानादस्य  
प्रान्तसावायकत्वमुपादातव्यमिति । दारक—बालक, रीक्षसेनमित्यर्थः । आचपत्नी—  
अपसारयन्ती, अञ्चलं धृत्वा प्राणविमज्जनोत्सुका मातरं प्रीक्षयवसायात् निवारयन्त  
बालमुदूरनयन्तीत्यर्थः । वाप्यभरितनयनै,—अश्रुपूर्णलाचनैः, ( अग्नौ आत्मविम-  
र्ज्जनोद्यताया धूताया चारुदत्तस्य च वियोगसम्भावनाया शोकाकुलानां जनानामेवमश्रु-  
पूर्णनयनत्व बोध्यम् ) । निवास्यमाणा—निपिद्यमाना, व्यवसायादध्यात निवर्तस्व इति  
भ्रमसा अनुकुर्यामाना अपि इत्यर्थः । पावके—पञ्चलतः, प्रविशति—आत्मानं  
निक्षिपति, धूतया अग्निप्रवेशोद्यमस्तु चारुदत्तस्य प्राणदग्नादेश्यवशात् पति मृतप्रायः



शवि । [ आकष्य नेपथ्याभिमुखमवलीक्य ] कथं चन्दनकम् ॥ चन्दनकम् । किमेतत् ?

चन्दनकम् । [ प्रविश्य ] किं न पेकुदि अज्जी महाराअप्पासादं दक्खिणेण महन्तो जणममहो ( ख ) वट्ठदि ? [ “ण्णा” इत्यादि पुन पठति ] कहिद अ मए तीए, जधा,—“अज्जे । मा माज्जमं करेहि, जीवदि अज्ज चारुदत्तो” त्ति, परतु, दुक्खवावुडदाए ( ग ) को सुणेदि ? को पत्तिआएदि ? \*

चारु । [ सोडेगन् ] हा प्रिये । जीवत्यपि मयि किमेतत् व्यवसितम् ? [ जहंसवलीक्य दीर्घे निश्चय्य च ]—

\* किं न पश्यति आर्य महाराजप्रासादं दक्षिणेन महान् जनसम्पदो वर्तन्ते ? कथितं नथा तस्यै, यथा,—“आर्ये । मा माहसं कुरुष्व, जीवति आर्य चारुदत्तः” इति परन्तु दुःखव्याप्ततया कं शयोति ? कं प्रत्ययते ?

जननाय तद्व्यापारोपेक्षया अकारोति वेदितव्यं, सती पतिविरहिता जीवनं चण-  
नपि धर्मुं नेच्छति, अतः चारुदत्तं सत्यं इति श्रवणात् प्रागेव पावके प्रवेशीदयोगं  
तत्परत्वाद् दृश्यते इति सुधीभिर्विभाव्यम् ।

( ख ) महाराजप्रासाद—महाराजभवनमित्यर्थः, [ महाराजप्रासादमित्यत्र  
“एनपत्त्यतरस्याम्”—( ५ । ३ । ३५ पा० ) इत्यादि सूत्रेण एनपत्त्यवनिष्ठादिनेन  
“दक्षिणस्यादिशि” इत्यवकेन दक्षिणेनेतिपदेन योगे “एनपा द्वितीया” ( २ । ३ । ३१  
पा० ) इति द्वितीया, महाराजभवनस्य दक्षिणभागे इति समुदिताया ] महाराज  
शब्देनाव आर्यकं खचित इत्यवगन्तव्यम् । “प्रासादो देवभुजानाम्” इत्यमरकौ  
प्रासादशब्दस्य राजभवनवाचकत्वेन विवक्षिततया तेनैव प्रोक्ताश्रयव्यवसानात् पुन  
महाराजशब्दोपादानं नवाभिपिकेन महाराजेन आर्यकेष्व अधिकृतस्य पालकभवनस्य  
बोधादिति विभाव्यम् । जनसम्पदः,—जनानां परस्परसङ्घर्षः, जनतैल्यर्थः ।

( ग ) माहसम्—“माहसा क्रियते यत्तु तस्माद्माहसमिहोच्यते” इति खचण्यात्  
अहंसाकाङ्क्षा कथं इत्यर्थः, पैर्जापय्यमज्ञात्वा अग्निप्रवेशरूपाकस्मिककाव्यारम्भ-  
नित्यं न । दुःखव्याप्ततया—दुःखेनाभिभूततयेत्यर्थः ।

न महीतलस्थितिमहानि भवच्चरितानि चारुचरिते । यदपि ।

उचित तथाऽपि परलोकसुखं न पतिव्रते । तव विहाय पतिम् ॥ ५५ ॥

[ इति मीढसुपागत ] ।

शवि । अहो । प्रमाद', (घ)—

त्वरया सर्पणं तत्र मोहमार्याऽत्र चागत' ।

हा धिक् । प्रयत्नवैफल्यं दृश्यते सर्वतोमुखम् ॥ ५६ ॥

पर्वो स्वस्य चिरविश्रीगामाद्गणतया अग्निप्रवेशप्रवृत्ता सुता अतीव व्याकुलः  
तद्गुणादिक स्मारं स्मारं विलपति, नेति ।—हे चारुचरिते ।—पाशुलत्वादिदीपरोहित-  
तया विशुद्धस्वभावे । धूते । इत्याशयः, यदपि—यद्यपि, भवच्चरितानि—भवत्या,—  
तव चरितानि—पातिव्रत्यलक्षणातीत्यथ, महीतलस्थितिसहानि—महीतले—भूतले,  
स्थिति,—अवस्थान, तां सहन्ते इति तथोक्तानि, पृथिवीतलावस्थानयोग्यानि इत्यथ,  
[ महीतलस्थितौत्युपपदात् सहते इत्यस्मादातो कर्त्तरि पचादित्वादचि रूपम् ]  
न, भवन्ति इति शेषः, भवच्चरितानि दिवौकसामनुष्पाणीति भावः, तथाऽपि भव-  
च्चरितस्य देवसदनवासयोग्यत्वेऽपि इत्यथ, हे पतिव्रते ।—पति, —पतियुगपणमेव  
व्रत—नियमं यस्याः, तथोक्ता, यद्वा,—पति व्रतमिव सदोपास्य यस्याः तथोक्ता,  
तत्सम्बोधने, पतिपरायणे इत्यथ, पति—मां, विहाय—त्यक्त्वा, एकाकिनं विसृज्ये-  
त्यथ, तव—एकपत्न्या भवत्या, परलोके—लोकान्तरे, स्वर्गे इत्यथ, यतः सुख—  
स्वर्गभोगजनितमित्यथ, तदुपभोगमिति शेषः, न उचित—न युक्तं, पतिव्रताद्यास्तं  
एकाकिन्याः स्वर्गसुखभोगः अयुक्तः, तथात्वे पातिव्रत्यभङ्गापत्तिरिति भावः । पतिव्रता-  
लक्षणमाह हारोत,—“आचार्ये मुदिता हृष्टे प्रोपिते मलिना कृशाः । मृते स्मियेत  
या पत्न्यौ सा स्त्री ज्ञेया पतिव्रता ॥” इति । अत्र पराशोपनिषदायस्य परमात्म-  
सुखोपभोगौचित्याभावरूपस्य प्रतियोगिनः प्रोक्तौचित्यं प्रति पूर्वोक्तवाक्यायस्य मही-  
तलस्थितिमहत्वाभावस्य हेतुत्वेनोपन्यासात् वाङ्माथहेतुकं काव्यनिद्रमलङ्कारः ।  
प्रमिताचरा वृत्तम्,—“प्रमिताचरा सज्जस्रैः कथिता” इति लक्षणात् ॥ ५५ ॥

(घ) अहो । इति खेदः । प्रमादः,—अनवधानता, कर्त्तव्यायस्याचिरादननु-  
पालनम् इत्यर्थः, चारुदत्तस्य आकस्मिकमीढस्य बध्ना धूताया अग्निप्रवेशनिवारणरूप-  
कर्त्तव्याथानुपालनस्यान्तरायभूतत्वादित्याशयः ।

प्रमादस्वरूपमेव विशदीकृत्याह, त्वरयेति ।—तत्र—तस्मिन् स्थाने, धूताया वार्ज-  
प्रवेशस्थाने इत्यथ, त्वरया—शीघ्रं, [ प्रकृत्यादिभ्यश्चर्त्तया ] सर्पणं—समनम्,

वन । समस्तमिदं अज्जो, तस्य गदुअ जीवावेदु अज्जा  
अस्सधा अधीरत्तगेण अणत्थो सम्भावीअदि । (ड)

वाक । [ नमश्च सङ्गमीत्यादि ] हा प्रिये । कामि ? देहि मे  
प्रतिवचनम् । (च)

चन्द । इटो इटो अज्जो । १ [ इति नर्व परिक्रानन्ति ] ।

० नमश्चसितु आद्य, तव गत्वा जीवयतु आध्याम, अन्यथा अधीरत्वेन अनय  
सम्भाव्यते ।

१ इत इत आद्ये ।

अस्माकमुचितमिति पदद्वयमध्याहार्यम्, किन्तु अतः—अस्मिन् प्रदेशे च, आद्य —  
चारुदत्त सोढ—विवेकराहित्यम्, अस्माकं प्रियस्या वज्रिपर्वेशवात्तायवणादिति  
भाव, आगत,—प्रातः । हा धिक् । [ एतद्वि आक्षेपोक्तिमात्र, धिगित्यन्यथस्य  
केनापि योगाभावात् न द्वितीयापत्तिः ], प्रयत्नस्य—प्रियमुद्धत आद्यैकस्य अकारण  
कारादण्डदातु सिद्धादेशेन सज्जातराज्याधिकारशङ्कस्य ज्ञानस्य पालकस्य प्रतिहिंसया  
प्रियतमाया नदनिकाया भावस्य रेभिलस्य गृहे स्थापनात् प्रवृत्ति राज्यावाप्तिपर्यन्तस्य  
उद्द्योगस्य, वैफल्य—निष्फलता, सर्वतोमुख—सर्वतः —सर्वेस्मिन् वस्तुनि, मुख—  
प्रारम्भ प्रसक्तिरित्यत्र, यस्य तत्, सर्वतोभागीत्यर्थे, सर्वप्रकारेण उपनतमिति  
यावत्, दृश्यते—पश्यन्तीक्यते । तथा हि धृतागमग्री प्रविष्टाया तच्छोकेन आर्य  
चारुदत्त नूनं प्राणान्त्यत्यति, यत्प्राणरचायमस्माभि र्देहश प्रयास कृत, तस्मिन्  
चारुदत्ते च मृते उपकारकस्य जीवनरचणानामन्यात् प्रियमुद्धदाद्यैकोऽपि अति  
शयेन खिन्न, न जाने किं करिष्यति इति विभाव्य 'हा धिक्' इति आक्षेपगर्भ-  
निर्गन्धनायकम् अन्वयपदानुपात्तमिति बोध्यम् । पद्यावक्तुं वृत्तम् ॥ ५६ ॥

( ड ) नमश्चसितु—आश्रयणी भवतु, धैर्येनवलम्बस्व इत्यर्थः । तव—धृताया  
वज्रिपर्वेशस्यने । आर्या—नान्या, धृतानित्यत्र । अन्यथा—त्वरित तवागमने इत्यर्थः ।  
अधीरत्वेन—धृताया वैद्याभावेण हतुना, चाक्षत्यदीपस्य स्त्रीणा साहजिकत्वा  
दिवाच्यः । अनय —अनिष्ट, धृताया अर्या प्राणविसृज्यनरूप इत्यर्थः । सम्भाव्यते  
—अनुमोदते ।

( च ) मे—नन्दम् । प्रतिवचन—नडाक्षरं प्रत्युत्तरमित्यत्र ।

[ ततः प्रविशति यथानिर्दिष्टा धृता चलाचलमाकर्षणं विदूषकेण  
अनुगम्यमानो ( छ ) रोहसेनी गटनिका च ] ।

धृता । [ सात्मम ] जाट । मुञ्चेहि मं, मा विग्व करेहि,  
भीआमि अज्जउत्तस्म अमङ्गलाकस्सणदी । \* ( ज ) [ इति उत्थाप  
अचलमाकृष्य पावकाभिमुखं परिक्रामति ( झ ) ] ।

रोह । माट अज्जए । पडिवालेहि म, तुए विणा ( ज ) ण  
सक्खीमि जीविदं धारिदुं । † [ इति त्वरितमुपसृत्य पुनः अचलं गृह्णाति ] ।

विदू । भोदीए दाव बम्हणीए भिस्सत्तणेण चिदाधरोहण  
पाव उदाहरन्ति ( ट ) रिमीओ । ‡

\* जात । मुञ्च मां, मा विग्नं कुरु, विमिमि आर्यपुत्रस्य अमङ्गलाकर्षणात् ।

† सातरार्थं । प्रतिपालय मां, त्वया विना न शक्नोमि जीवितं धारयितुम् ।

‡ भवत्याम्नावत ब्राह्मण्या भिन्नत्वेन चित्ताधरोहणं पापमुदाहरन्ति ऋषयः ।

( छ ) यथानिर्दिष्टा—उक्तानुरूपं, “पदे वसनक्षले बिलगन्त” इत्यादिरूपं वा  
प्रागुक्तया दिशा यादृशी वर्णिता, तादृशी इत्यर्थः । चलाचल—वस्त्रप्रालम्बं, मातु-  
र्धूताया इति शेषः, अथ चेलशब्दस्य प्रयोगे सत्यपि अचलशब्दस्य प्रालम्बमावायकत्वाद्वा  
कारात् न पौनरुक्त्यदोषः केवलम् अचलशब्देनैव विवक्षिताशलाभेन गताशत्वादिति  
शङ्का न करणीया । अनुगम्यमानः,—अनुस्रियमाणः, पथावतिविदूषकेण सात्वनाथं  
सागृह्यमनुधाव्यमान इत्यर्थः ।

( ज ) विग्न—प्रतिबन्धम्, अग्निप्रवेशे इति भावः । अमङ्गलाकर्षणात्—  
प्राणविनाशरूपपाशभवात्तायवणादित्यर्थः ।

( झ ) पावकाभिमुखम्—अनलसंमुखम्, अग्निं लक्ष्मीकृत्य इत्यर्थः, [ अग्निगतं  
मुखम् इत्यभिमुख इति प्रादिसमासः, ततः, पावक एव अभिमुखः पुरोवर्त्तो भवति  
यस्यां क्रियायां तत् यथा तथेत्यर्थः ] । परिक्रामति—अग्निप्रवेशात् प्रागनुष्ठेयमानं  
प्रदर्शयितुमाचरतीत्यर्थः ।

( ज ) प्रतिपालय—परिरक्ष । [ “माद अज्जए । पडिवालेहि” इत्यत्र “दाव  
अज्जए । पडिवालेहि” इति पाठान्तरे,—तावदार्थः । प्रातपालयस्व” इति सूत्रं  
तम्, तथात्वे तावदिति वाक्यालङ्कारः ] । त्वया विना—त्वामन्तरेण, [ त्वयेति  
विनायोगे वृत्तौ ] ।

( ट ) ब्राह्मण्या,—ब्राह्मणपत्रा इत्यर्थः । भिन्नत्वेन—व्यक्त्वेन, पत्युर्मृतदेह-

धृताः वर पापाचरण, न उण अज्जउत्तन् अमङ्गला-  
कस्सणं । ॐ ( ठ )

शवि । [ पुरोऽवलोक्य ] आसन्नहुतवहा आर्या, तत् त्वय्येता  
त्वय्येताम् । ( उ )

चारु । [ त्वरित परिक्रामति ] ।

१. \* वर पापाचरण न पुनराय्यपुनस्य अमङ्गलाकरणेनम् ।

सान्निध्यनन्तरेणेति यावत् । चिताऽधिरोहण—चिताया—दृढटाढाद्यं प्रज्वलित-  
काढाया पुष्पाग्निस्य, अधिरोहणम्—आरोहणम् । उदाहरति—कथयति ।  
ननु देशान्तरसूतस्य भक्तु दृढाप्रप्तौ मृतीना स्त्रीणा पत्यु पादकाशयम् उरगि  
निधाय प्रज्वलितचिताया प्रवेशनम् अनारोहणधर्म उत्तम, तथा च स्मृति,—  
'देशान्तरे सूतैः पत्यो साधो तत्पादकाशयम् । निधायोरगि सगुड्या प्रविशन्त्यात  
वदन्तम् ॥' इति, एवञ्च स्थानान्तरसूतस्य भक्तु चारुदत्तस्य दृढप्रतिरोधयोगात्  
धृताः एतदन्वारोहणं कथं पापजनकत्वेनोत्कीर्णितमिति चेत्, सैव, प्रोक्तविधानं हि  
चाक्षगादीनामेव, न तु विप्राणां, तथा च उग्रनसीका गृहितस्त्वधृता स्मृति,—  
“पृथक्चित्ति समावृत्तं न विप्रा गन्तुमर्हति । अन्यासामेव नारोणा स्त्रीधर्माऽप्य  
पर स्मृतः ॥” इति, तथा च, “ब्रह्मचर्यं तदन्वारोहणं वा” इति सूत्रान्  
ब्राह्मणा धृताः धर्मशास्त्रानुसारं यावज्जीवं ब्रह्मचर्यानुपालनमेव कर्तुंमुचित  
मिति वक्तुरभिप्रायः ।

( ठ ) पापाचरण—शास्त्रविधिलङ्घनरूपमनुचितानुष्ठानं, पत्युसङ्कृतचिता-  
ऽऽरोहणरूपमिति यावत् । वर—मनाकूपितम् । अमङ्गलाकरणं, न वरमिति पूर्वेषा-  
न्वयः, आय्यपुनस्य अमङ्गलनिधनवात्ताऽऽकर्णनात् पापाचरणमपि साधोय इति  
भावः ।

( उ ) आसन्नहुतवहा—आसन्न, —समीपवर्ती, हुतवह, —अग्निं यस्या-  
तयानता अग्निमनोपस्था इत्यर्थः, आता इति शेषः । आर्या—धृता । तत्—तस्मात्,  
आसन्नहुतवहं त्वरितमेवात्मविसृज्योदयोगदर्शनादित्यर्थः । त्वय्येता—सत्वरं भूय-  
तान्, यत् आर्या अग्रैरत्यासन्ना जाता, अतो मत्वे इदानीमेव अग्निं प्रवेक्ष्य-  
तोति, तत् सत्वरमागत्य तन्निवाच्यतानिधनं, अन्यथा कालविलम्बे अनर्थं पदनधि-  
करिष्यतीति भावः ।

धृता । रअणिए । अबलस्व दारअ, जाव अह समीहिद  
करेमि । \* ( ढ )

चेटी । [ सकरुणम् ] अहं पि जधोवदेसिणि णि भट्टि-  
णीए । † ( ग )

धृता । [ निदूषकमवलोक्य ] अज्जी दाव अबलस्वेदु । ‡

विदु । [ सावेगम् ] ( त ) समीहिद-सिद्धिए पउत्तेण वस्सणी  
अगदो कादब्बो, अदो भोदीए अह अगणी होमि । § ( थ )

\* रदनिके । अबलस्वस्व दारक, यावदह समीहित करोमि ।

† अहमपि यथोपदेशित्यस्मि भट्टित्या ।

‡ आय्यस्तावत् अबलस्वताम् ।

§ समीहितसिद्धौ प्रवृत्तेन ब्राह्मणोऽग्रे कर्तव्य, अती भवत्या अहम् अगणी  
र्भवामि ।

( ढ ) अबलस्वस्व—धारय, अवलम्बीत्यथ । समीहितम्—अभीष्टम् । करोमि  
—साधयामीत्यथ ।

( ग ) यथापदेशिनौ—यथा—यादृग्, उपदेश,—शिक्षा, तद्वतौ, भवदा  
अरितदृष्टान्तानुवर्तिनौत्यथ, भवती कम्पणा यथा उपदेशति, तदनुकारिणौ इति  
यावत्, अनुजीविनीनां भर्तृदृष्टान्तानुसरणौचित्यात् अहमपि भवती विद्यायां स्थातु  
म शक्यामि, अत भवती यदाचरति, तथाभूतमेव उपदेशं शिरसि निधाय तदेवा  
अरिप्यामोति भावः ।

( त ) सावेग—शोकजनितत्वरसहितमित्यथ ।

( थ ) समीहितसिद्धौ—अभीष्टकाव्यसाधनायमित्यथ, प्रवृत्तेन—उद्यतम्,  
अनेनेति शेषः । ब्राह्मण, —विप्र, अहमित्यथ । अग्रे कर्तव्य, —पुरस्काय, ब्राह्मण  
पुरता निधाय अभीष्टसिद्धौ यतितव्यम् इत्यथ । अहमगणीर्भवामि—परलोका-  
पतिसमागमसम्पत्तये पतिलाकाजगन्निधौ भवत्या वैधज्वलनप्रवेशस्य पुरत एव  
वैधकम्पणि अग्रे ब्राह्मणस्यैव नियोज्यत्वेन विधानादहं ब्राह्मण एव अग्रतः स्थापयितुं  
सुचित इति भावः, वक्तुर्विद्योगदुःखमसहमानोऽहं पूर्वमेव वक्तुं प्रविशामोति  
इदमम् ।

धृता । कथं, पञ्चादिष्टान् दुर्वेहि ॥ ( द ) [ बालकनामिन्द्रा ।

जाद । तुम ज्जेव पज्जवद्वावेहि अत्ताण अम्हाण तिलोदअ-  
दाणाअ । अदिकन्ते कि मणोरहेहि ? ( ध ) [ ननिश्चयन ]

ए क्खु अज्जउत्तो तुम पज्जवद्वाविस्सदि ॥ ३ ( न ) ।

चात् । [ आकल्यं सहस्रोपसृत्य ] अहमेव पथ्यवस्यापयामि  
बालिशम् । ( प ) [ इति बालक बाहुभ्यामुत्थाप्य वचसा आनिद्रति ] ।

\* कथं, प्रत्यादिष्टान् दाम्भ्याम् ॥ जात । तन्नव पथ्यवस्यापय आत्मानम्  
अस्माकं तिलोदकदानाय । अतिक्रान्ते कि मनोरथे ? न खलु आद्यपुत्रता पथ्यव  
स्यापदिष्यति ॥

( द ) प्रत्यादिष्टा—निराकृता ( 'प्रत्यादेशो निराकृति' इत्यमर ) । दाम्भा—  
विदूषकरदनिकाभ्याम्, अत एवकार ऊहनोय, तेन, दाम्भानिवेत्यर्थः ।

( ध ) पथ्यवस्यापय—प्रतिपालय, त्व स्वयमेव आत्मानं रक्ष, सान्त्वय इति  
वाऽयं, इदानीं रक्षान्तरस्याभावादति भावः । तिलोदकदानाय—सर्तलजल-  
दानाग्नित्वयः । अतिक्रान्ते—अतीतविषये, मनोरथे,—आभिलाषे, किम् ?—किं  
फलम् ? न किमपीत्यर्थः, अहन्तु वञ्चो अधुना अप्रविष्टाऽपि प्रावृष्टा एवात मत्वा  
न्यचेतसि स्थैर्यमाधातव्यं, गतकल्पाया समानुशोचनया न कोऽपि ते फलोदयोऽस्तीति  
तात्पर्यम् ।

( न ) आद्यपुत्रं,—तव पिता । खलु—निश्चितमेव । न पथ्यवस्यापदिष्यति—  
सान्त्वयिष्यति, त्वामात शय, स तु आद्यपुत्रं सम्प्रति परलोकप्राप्तिक एव, अतः  
कुतोऽपि ते अधुना रक्षणाया नास्ति, तदात्मनैव आत्मानं धृत्वा परलोकप्रियाभ्या-  
नन्नाकं निवापाञ्चलये त्वं सुचिरं जाय्या, मा भू अस्मद्विशोयानां पिण्डलोप इति  
इदम् ।

( प ) पथ्यवस्यापयामि—सान्त्वयामि, रक्षामि वा । बालिश—बालक,  
( 'शिशवाश्चैव बालिश' इत्यमर ), धृताया दीर्घं निश्चय्य "न खलु आद्यपुत्रता पथ्यव-  
स्यापदिष्यति" इत्यादिकं सखेदमुक्तवत्या, तस्या शोकनाशयितुं "अहमेव पथ्यव-  
स्यापदिष्यामि" इत्यादचारुदत्तवाक्यवत् बालककरचक्षुरपैरर्थं पत्न्या स्वाविशग-  
ननितचित्तार्थ्यादिद्रोकरूपेण स्विकारपातुं, लभ्यार्थं शोकादिक्लेशाद्येव  
भावनरूपं कृतिनामकं निर्वहणाख्यसत्वरङ्गमिदं वेदितव्यं, "लभ्यायश्चननं कृति" इति  
दृष्टोक्तमुच्यते ।

धृता । [ विलोक्य ] अम्हणे । अज्जउत्तस्स ज्जेव स्सर-  
सज्जोओ । (फ) [ पुनर्निपुण निरूप्य (य) सहर्षम् ] दिट्ठिआ अज्जउत्तो  
ज्जेव एसो, पिअ मे पिअ । \* (भ)

पालक । [ विलोक्य सहर्षम् ] अम्हो । आवुको म परिस्स-  
जटि । (म) [ धृता प्रति ] अज्जए वड्डवीअसि । (य) आवुको  
ज्जेव म पज्जवट्ठावोटि । † [ इति प्रत्यालिङ्गति ] ।

\* आश्चर्यम् । आश्चर्यस्यैव स्वरसंयोगः । दिष्ट्या आश्चर्यं पक्षे, प्रिय मे प्रियम् ।

† आश्चर्यम् । आवुको मां परिष्वजति । आर्ये । वड्डसे तात एव मां पश्य-  
स्थापयति ।

( फ ) आश्चर्यम् ।—चित्रम्, दुराचारे पालक शासितरि, प्राप्तप्राणदण्डाग्रस्य  
चारुदत्तस्य मुक्तैरात्यन्तिकासम्भवात् सर्व्व एव राज्यवातिन तज्जीवने । नराग्र  
जाता इति मगसाप्यप्रतक्ष्यपुनर्दशनस्य तस्य इदानीं सङ्गसा पुन सनागम धृतादीनां  
विस्मयवत्पुनर्जनोक्ति बोध्यम् । स्वरसंयोगः,—स्वरभ—कण्ठध्वने सुवाग,—प्रयोग,  
सम्बन्ध इत्यर्थः, श्रुतपूर्व्वस्वरस्य परिष्वय इति यावत्, स्वरसादृश्यात् अयमाश्चर्यपुत्र  
पर्वति विभाव्यते इति तात्पर्य्यम् ।

( व ) निपुण—सम्यगित्यर्थः । निरूप्य—निश्चित्य, सविशेषदण्डनेन चारुदत्त  
एवायमिति सहृद स्थिरीकृत्य इत्यर्थः ।

( भ ) “प्रिय मे प्रियम्” इत्यादियन्त्रेण, चिरात्कार्ज्जितदण्डनस्य प्रियस्य अप्रत्या-  
शितसमागमेन हृष्टाया नायिकाया वाञ्छितसमागमलाभोपवर्णनात्, वाञ्छितसमा-  
गमरूपम् आनन्दनानक निवर्द्धणसम्बन्धमिदं वेदितव्यम्, “आनन्दो वाञ्छितागमः”  
इति दर्पणकदुक्ते ।

( म ) आवुको,—पिता, (“अथावुको जनकः,—” इत्यमरः ) परिष्वजति—  
आलिङ्गति, [ “ष्वन् औ जि डालिङ्गने” इति गणपाठे भौवादिकस्यालिङ्गनायकस्य  
ष्वन्मधातोरात्मनेपदित्वेऽपि परिपूर्व्वकस्य तस्य परिष्वजति पाञ्चाली मन्त्रम पाठु-  
नन्दनम्’ इत्यादौ बहुश परस्मैपदे प्रयोगदण्डनात् गणकृतमनित्यमिति व्याख्येयं  
परस्मैपदित्वमपीति नाव काव्यनुपपत्तिरिति ध्येम् ] ।

( य ) वड्डसे—वड्डि गताऽऽपि, जययुक्ता भवन्तीत्यर्थः, सम्भावितनागस्य मे पित्र



वाक् । [ धृत् प्रणि ]—

हा प्रेयसि । प्रेयसि विद्यमाने कोऽय कठोरी व्यवसाय आसीत् ।  
अभोजिनी लोचनमुद्रण किं भानावनस्तद्गमितं करोति ? ॥५७॥  
धृता । अज्जउत्त । अदो ज्जेव सा अचेतनेति चुस्वी-  
अटि । २ । ( २ )

० आश्वयुज । अत एव सा अचेतनेति बुभ्यात् ।

इदानीं पुनः प्राप्ता त्व नौभाग्यवती जाता, तत्र घाटनसि नौभाग्येनैव भवान्तीति  
तादृश्यम् ।

प्रियतनः प्रातःपाण्डुरः निश्चिन्तः जलदग्निप्रवेशेन आत्मघातोद्यता धृतान्वितः  
कारितेन नाट्यरसमुद्रणे हति ।—हा इति शोकसूचकमश्रुतम्, प्रेयसि ।—प्रिय-  
तने । [ प्रियमृष्टात् इयोरैकोत्कर्षे गन्धमाने “अवचन—” ( ५ अ० ५७ पा० ) इति  
हेतुम् ततः स्त्रिया डोप् ] प्रेयसि—प्रियतन, पत्न्यौ इत्यर्थः, विद्यमाने—वर्तमाने  
सति एवेत्यत्र कठार—निहुर, निर्द्वय इत्यर्थः, अयम्—एष, आश्वयुजाय आश्व-  
प्रवेशोद्गोरूप इत्यर्थः, क, —कोट्टय व्यवसाय, —उद्गोर, नवेति शेषः, भानोत्—  
—अभवत्, नर्त्तया अमुक एवानीदति भावः, भानो—नृत्ये अनन्त गमिते—स्वप्नम्  
अतश्चिह्नरत्नमिति ठति सतीत्यर्थः, [ गमिते इत्यत्र स्वार्थे एव णिच् प्रत्ययी बोध्यः ]  
दत्ता—अनन्त गमिते—अनाचलनप्रापिते, विधिना इति शेषः [ अस्मिन् पक्षे गमिते  
इत्यत्र प्रेयसि एव णिच्प्रयोगः ] अभोजिनी—प्राणिनी लोचनमुद्रण—नेत्रनिमीलन-  
नेत्रवन्दनप्रदनिमीलनमित्यर्थः, करोति किम् ?—विदधाति किम् ? नैव करोतीत्यर्थः,  
नयि जीवत्येव तत्र अयम् अग्निप्रवेशेन प्राणपरित्यागसमनारम्भरूपं निर्द्वयव्यवहारं  
अनुचितं एवेति भावः । अत्र प्रियतने विद्यमाने प्रेयस्या तदश्रुत् अग्निप्रवेशसमनारम्भः,  
नवितरि अनाचलनं अनादिते अस्मिन्नित्या लोचनमुद्रणमिव नितान्तमयुक्तं इति  
ननानवर्त्तव्यइत्युच्यते परस्परं विन्दप्रतिविन्दभावावगमात् दृष्टान्ताल्लङ्कारः, तथा  
“प्रेयसि” इति पदस्य स्वरस्य प्रत्ययस्य कृते क्रमेणवत्या पादाद्वयसकालाद्वारयेति अनयो  
नृत्तं “अनन्त गमिते” इत्यत्र प्रतिषेधस्य प्राधान्यावगमात् नञः प्रसज्यप्रति-  
षेधादक्ततया हि यत्र नञः एव नाचात् अन्वयार्थं “न गमिते” इति कृत्वा प्राधान्येनैव  
तद्विदेश उचितः आसीत्, अतः तत्पुरुषनानास्य पश्येदन्ततया नञः गुणोभावे विवेक-  
त्वात् नञः अविस्तृतविशेषादन्तत्वेन दीप उद्गरे । इन्द्रवचा वृत्तम् ॥ ५७ ॥

( २ ) अत एव—भानौ अनन्तगमिते नृत्तान्विता नेत्रनिमीलनादिवेत्यर्थः । सा—

विदू । [ दृष्ट्वा सहस्रम् ] ह्री, ह्री, भो ! एदेहि ज्जेव अच्छीहि  
पिअवअस्सो पेक्खीअदि । अहो ! सदीए पद्दावो । जदो  
ज्जलण प्पवेस ब्वसाणण ज्जेव पिअसमागम प्पाविटा । (ल)  
[ चारुदत्त प्रति ] जेटु जेटु पिअवअस्सो । ३

चारु । एहि मैत्रेय ! [ इत्यालिङ्गति ] ।

चटो । अहो । सविधानअं । (व) अज्ज ! वन्दामि । ४  
[ इति चारुदत्तस्य पादयो पतति ] ।

\* आश्चर्य्य भो । एताभ्यामवाचिभ्या प्रियवयस्य प्रेत्यते । अहो । सत्या  
प्रभावः । यतो ज्वलन प्रवेश व्यवसायेनैव प्रियसमागम प्रापिता । जयति जयात  
प्रियवयस्य ।

† अहो । सविधानकम् । आश्चर्य्य । वन्दे ।

अश्वोजिनी, भवतो दृष्टान्तभूता पद्मिनोति यावत् । अचेतना इति चुम्बाने—  
अचेतनेति वाचा स्पृश्यत इत्यथ, जडा इति जनैराभधीयते इति यावत्, वक्त्रा  
अदायमाशयः,—आश्चर्य्यम् । सा हि भानुभामिनी अश्वोजिनी अचेतना, तेन एव  
भाविस्वात्म्यदर्शनं विभाव्य शोचितुमशक्ता, पत्यु भानो अस्माच्चलगमनात् परमेव  
स्वभावात् विरहकृशा चक्षुषी निम्रीलयति, अहन्तु सचेतना भाविदुःखानुशीलनचम  
तथा तव विपदात्ताश्रवणात् प्रागेव आत्मानं वक्त्रौ विसृष्टं प्रवृत्ता आसम्, अचेतन  
सचेतनयोरेवमिव विशेष इति ।

( ल ) सत्या,—पतिव्रताया । प्रभावः,—साक्षात्स्पृश्यम् । यतः,—यिन सती-  
प्रभावेणेत्यथ । ज्वलनेति ।—ज्वलनम्—अग्निः, तत्र प्रवेशात्—गाहनाय, यो व्य-  
सायः,—अश्रवसाय, उद्यम इत्यर्थः, तेन, ज्वलदनलावगाहोद्यममावेष्टेवेति यावत्,  
पतिवियुक्ता रमणी देहं विसृज्य विविधव्रतायाचरणजसुकुतपरिपाकरणं परलोकं गत्वा  
एव पतिसमागमं लभते, इति श्रूयते, पतिव्रताचरणोपस्य पतिविप्रोगान्तरमनल  
प्रवेगनात्महननस्य अनिवाच्यमाहाराभ्यादित्यन्तु अग्नौ अप्रविश्यापि प्रवेगोपक्रमदेव  
सतीधम्मप्रकटनेन मृतप्रायं पतिं पुनरुज्जीव्य अलौकिकपातिन्यमाहाराभ्यामनुगम्य  
इष्टेव तत्समागममलभतेति भावः ।

( व ) सविधानक—सङ्कटनम्, देवसम्मेलनं, दम्पत्योर्गन्धर्वगतिकर्तव्यं वा  
इत्यर्थः ।

चारु । [ पृष्ठे कर दत्त्वा ] रदनिके । उत्तिष्ठ । [ इति उत्थापयति ] ।

धृता । [ वसन्तसेना दृष्ट्वा ] दिष्ट्या कुमलिणी ( ग ) वह्नि-

ग्निम्ना १ \*

वस । अद्भुता कुमलिणी मवुत्तन्नि । १\* ( प ) [ इति

अन्योन्यमालिङ्गते ] ।

शवि । दिष्ट्या जीवितसुहृद्वर्ग ( स ) आर्य्य ।

चारु । युष्मत्प्रसादेन । ( ह )

शवि । आर्य्य वसन्तसेन । परितुष्टो राजा भवती वधूशब्देन अनुगृह्णाति । ( क )

\* दिष्ट्या कुमलिनी भगिनी ?

† अद्भुता कुमलिनी सुदृष्टाऽस्मि ।

( ग ) कुमलिनी—क्षेत्रवती, वर्तते इति शेष, भगिनि । अपि कुशल ते ? इति सन्निदिताय ।

( प ) अद्भुता—मन्त्रत्वेव, जीवन्ती त्वा जीवन्तमायचारुदत्तश्च दृष्टैव इत्यर्थ, न तु इत प्रागिति भाव, भवतीना कुशलेनैव न कुशलमिति तु फलितम् ।

( न ) दिष्ट्या—भाग्येनैव, न त्वन्येन केनापि हेतुनेति भाव । जीवितसुहृद्वर्ग, —जीवित, —प्राप्यैष्ट, रक्षित इत्यर्थ, सुहृदा—धृता वसन्तसेनादीनां मित्रजनानां, वर्ग —समूह इत्येव तथानृत, वर्तते इति शेष, भाग्यवक्त्रेनैव आर्य्यस्य सुहृद्वर्ग जीवितस्मिन्नस्ति तात्पर्याय ।

( ह ) युष्मत्प्रसादेन—युष्माकमनुग्रहेण, एतेन स्वस्य वितयातिशय्य प्रकटीकृतम्, ( “प्रसादोऽनुग्रहे काव्यगुणवान्यप्रसक्तिषु” इति मेदिनी ) ।

( क ) परितुष्ट —वस्त्रिप्तमचारुदत्तकृतोपकारेण अतिप्रीत इत्यर्थ । राजा—नवनृपति, आर्य्यक इत्यर्थ । वधूशब्देन—वधू, —विवाहिता स्त्री, ( “व जाया वधू स्ता च” इत्यमर ) तच्छब्देन—“वधू” इति पठेत्, चारुदत्तस्य पाणिगृह्णीता भृता यया वधू तथा भवती अपि वधूरिव, इदानीं न पुनर्गणिकात्वेन गणनीयेति भाव । अनुगृह्णाति—अनुग्रह करोति, प्रसोदति इत्यर्थ, इत पूर्व वधूस्त्वधीनम् अनध्वितवती त्वा तच्छब्देन आनन्त्या स्त्रीया प्रसन्नता प्रदर्शयति इति भाव ।

वस । अज्ज । कदत्थम्हि । \* (ख)

शर्वि । [ वसन्तसेनामवगुण्या ( ग. ) चारुदत्त प्रति ] आर्य्य । वि  
भिचोः (घ) क्रियताम् ?

चारु । भिचो । किं तव बहुमतम् ? (ङ)

भिच । इम ईदिश अण्णिच्चत्तणं पेक्खिअ दिउणे मे ।  
ज्जाए बहुमाणे सबुत्ते । † (च)

चारु । सखे । द्ढोऽस्य निश्चय' । तत् पृथिव्या सर्व्ववि  
रेषु कुलपतिरयं (छ) क्रियताम् ।

\* आर्य्य । कृतायाऽस्मि ।

† इदमौदृशमनित्यत्वं प्रेत्य दिगुणी मम प्रव्रज्याया बहुमानं सवृत्तम् ।

(ख) कृताया—सिद्धप्रयोजना, सफलमनारथा इत्यर्थ, चिरादाकादि  
चारुदत्तवधूपदस्य लाभादिति भावः ।

(ग) अवगुण्या—शिरावसनेन तस्या' मुखम् आच्छाद्य, वधूपदेन त  
मङ्केतितत्वादिति भावः, [ अवगुण्या—प्रावारकेणाच्छाद्य इति केचित् । एतेन व  
सेनाया गणिकात्वपरिहारेण आर्य्यकोक्तवधूपदाभिधानस्य सायकता सम्पादि  
बोध्यम् ] ।

(घ) अस्मेति पुरस्य भिचु प्रति अङ्गुलिनिर्देशपूर्व्वकं तत्प्रदर्शनम्,  
इदमा निर्देश इति बोध्यम् । भिचो,—आकाशमण्डलस्य सवाङ्कस्येत्यर्थः ।

(ङ) बहुमतम्—आहतम्, अभीष्टितमित्यर्थः, किं ते अभिन्नपितृमपुत्रम्  
तत्प्रकाशय, येनाचिरादव तत् तुभ्य प्रदातुमस्माभि चेष्टिष्यते इति फलिताय ।

(च) इदं—किञ्चित् पूर्व्वमेव दृष्टमित्यर्थः । ईदृशम्—एवम्भूतम् । अनि  
—क्षणस्थायित्वम्, असारत्वमित्यर्थः, सर्व्वस्यैव विषयस्येति शेषः । प्रव्रज्याय  
सत्यासायमे । बहुमानः,—आदरातिशयः । सबुत्तम्,—सञ्ज्ञातम्, अतः निष्पृह  
न किमपि अभीष्टितमस्ति, यत् त्वया प्रसन्नेन साधयितव्यमिति तात्पर्यायः ।

(छ) अस्मि—भिचो' । निश्चयः,—सर्व्वमिदमनित्यमित्यादिनिर्वेदाभ्यादि  
मिद्वान् इत्यर्थः । द्ढम्,—स्थिरम्, दुरपनेयतया दृढाभावाप्रतिपाद्यत इति यावत्  
अनेन अस्माकं यादृक् उपकारं कृतं, तत्प्रतिदानस्य इह असम्भवत्वेऽपि अस्मै कश्चि  
राज्याय दत्त्वा एनं सासारिकसुखभोगनिरतं करिष्यामीति मे वक्तव्यं वाच्यम् ।

शर्वि । यथाऽऽह ( ज ) आर्य्य ।

भित्तु । पित्र गो पित्र । \*

वस । सम्पद जीवाविदम्हि । † ( भ )

शर्वि । स्यावरकस्य किं क्रियताम् ?

चारु । सुवृत्त, अदामो भवतु । ते चाण्डाला सर्व-  
चाण्डालानामधिपतयो भवन्तु । चन्दनक पृथिवीदण्डपालको  
भवतु । तस्य राष्ट्रियश्यालस्य यथैव क्रिया पूर्व्वेमासीत्, वत्ते-  
माने तथैव अस्तु । ( ज )

\* प्रिय न प्रियन् ।

† नाम्प्रतं जीवताऽगम् ।

आसीत्, किन्तु इदानीमस्य वाक्येन एनं सत्यासायने कृतदृढानन्दयमग्नयं सा परि-  
त्यज्यते इति हृदयन । तर्हि अस्य किं क्रियतामित्याशङ्क्यामाह, तदिदम् ।—तत—  
तस्मात्, प्रव्रज्यायने दृढप्रत्ययतया ससारसुखे अनासक्तत्वादित्यथ । प्रायश्चा—भुवि,  
विद्यमानेषु इति शेष । सर्वविहारिषु—सर्वेषु बौद्धमठेषु । कुलपति, —सञ्चमठा यत्र ।  
( ज ) यथाऽऽह—यद्व्रवीतीत्यर्थे , भवता यदुक्तं, तत तथैव भाविष्यतीति  
समुदिततात्पर्यम् ।

( भ ) वसन्तसेनाया जीवनरक्षणरूपस्य भित्तुकीर्तयकारस्य प्रत्युपकारार्थं चारु-  
दत्तं शर्व्विज्ञेन भित्तुं सर्व्वविहाराध्यच कारितवान्, स्वप्रियेण चारुदत्तेन कृतं च  
प्रत्युपकारं आत्मकृतत्वेन मन्यमाना चामो हर्षभरात जीविताऽस्मीति उक्तवती ,  
उपकारिण प्रत्युपकाराकरणे जावितवैफल्यमिति वक्तुं आशयः । [“जीवाविदम्हि”  
इति प्राकृतं “जीवापिताऽस्मि” इति संस्कृतं केचित् पठन्ति, तथात्वे,—जीव—  
जावनम्, आपिताऽस्मि—प्रापिताऽस्मि इत्यर्थे, प्रियचारुदत्तेर्नाम शेष, उपकारिण  
प्रत्युपकारकरणेन तत्परिशोधादिति भावः ] ।

( ज ) सुवृत्त,—सुचरित्र, स्यावरक इत्यर्थे , [ सुवृत्तेति निर्व्विसर्गपाठोऽपि  
कचिद्दृश्यते, तथात्वे सुवृत्तेति शर्व्विलकसम्बोधनम्, अदामो भवतु—स्यावरक  
इति शेषः ] । अदान,—दासत्वविमुक्त । पृथिवीदण्डपालक,—पृथिव्या—भुवि,  
दण्डस्य—अपराधिनान् अपराधीचितनियहस्य, पालक,—सरत्तक विधायको वा,  
दृष्टदमनाधिकारिणा सत्वाच्च इत्यर्थे । राष्ट्रियश्यालस्य—शकारस्य, [ अत्र  
“राजश्यालन्तु राष्ट्रिय” इत्यनरवचनात्, राष्ट्रियशब्देनैव विवचितायलाभसम्भवात्  
श्यालपदनधिकर्त्तव्यता ज्ञेयम् ] । यदैव—यादृशो एव । क्रिया—काव्य, स्वेच्छया

शर्वि । एवं यथाह आर्यः, परमेनं मुञ्च मुञ्च, ( ट )  
व्यापादयामि ।

चारु । अभयं शरणागतस्य । ( “शब्द कृतापराध ” इत्यादि पठति ) ।

शर्वि । तदुच्यतां, किं ते भूयः प्रिय ( ठ ) करोमि ?

चारु । अतः परमपि ( ड ) प्रियमस्ति ?—

दानादानसम्मानमुखसम्भोगादिलक्षणी व्यापार इत्यर्थः । पूर्वं—प्राक्, पालकस्याधि-  
कारकाले इत्यर्थः । वर्त्तमाने—इदानीम्, अस्मादधिकारकालेऽपीत्यर्थः । [ “वर्त्तमाने”  
इत्यत्र “वर्त्तमाना” इति पाठान्तरे,—तथैव वर्त्तमाना—सम्प्रत्यपि तथैव स्थिताऽस्तु  
इत्यर्थः ] । अत्र दानीयप्राप्ताया प्रियभाषणेन सन्तोषविधानात्, तथा शब्दमिव-  
निर्विशेषेण यथायोग्य सर्वेभ्यः आधिपत्यादिदानाच्च इदं सामदानादिरूप भाषण-  
नाम निर्वहणसम्भेरङ्ग वेदितव्यम्,—“सामदानादि भाषणम्” इति दर्पणलक्षणात् ।

( ट ) आर्यः,—मान्यः, चारुदत्त इत्यर्थः । यथा—यत् । आह—कथयति ।  
एवम्—इत्थं, तथैव इत्यर्थः, अस्तु इति शेषः । पर—केवलमित्यर्थः, [ “एव यथाऽऽह  
आर्यः ” इत्यनेन आदेशशस्त्रीकाररूपवाक्याथसमाप्तावपि पुनः “परम्” इत्यनेन प्रिय-  
मुञ्चद चारुदत्तस्य प्रीतिमुत्पादयितुं तदुक्तौ स्वसम्प्रतिप्रदर्शनं, पुनः आततायिशकार-  
कृतेन अयथानित्यातनेन पापीयसस्तस्य दण्डविधानप्राशनञ्च सूच्यते ] । एन—  
शकारम् । मुञ्च—त्यज, [ मुञ्च मुञ्चेति द्विकृतिस्तु शकारनियङ्गायम् आयङ्गातिशय-  
सूचिका बोध्या ] । व्यापादयामि—विनाशयामि । भवता यद्वददादिष्टं तत्सञ्च-  
तथैव भविष्यति, स्थावरकस्य दासत्वविमोचनं, घातुकचाण्डालयो तत्समाजाधिपत्यं,  
चन्दनकस्य पृथिवीदण्डपालकत्वञ्च भवदाज्ञया अच्युतमेव भवतु, केवलं तव आत-  
तायिनः शकारस्य यथापूर्वमवस्थानविनिमयेन बधमात्रं प्राप्ये, तस्य बधं विना  
जमः प्रतिहिंसाया अनिवृत्तेरिति शब्दिलकस्याशयः ।

( ठ ) अथेदानीं काव्योपसृष्टारं कर्तुं ग्रन्थकारः सर्वेषामभीष्टितवस्तुसम्प्रदान-  
नायकमुखेन समुद्योष्य शब्दिलकमुखेन ग्रन्थसमाप्तिवतारयति, तदिति ।—भूय,—  
पुनः, अन्यदिति यावत् । प्रिय—प्रीतिजननं कर्मेत्यर्थः । यत्र अभिप्रेतवस्तूनां  
सर्वेषामेव लाभोत्कौत्तनात् अभिवाञ्छितदानप्राप्तिरूपं काव्योपसृष्टारनामकमेतत्  
निर्वहणसम्भेरङ्ग वेदितव्यम् ।

( ड ) अतः परमपि—अस्मादधिकमपि, स्त्रीइत्याऽपवादविमुक्तिं वक्ष्यमाण-  
नामादिरूपप्रिसमाप्तेरन्यदपीत्यर्थः ।

लब्धा चारित्रशुद्धिचरणनिपतितः शत्रुरप्येष सुक्त ,  
 प्रीत्खातारातिमूल. प्रियसुहृदचलामार्थिक. शास्ति राजा ।  
 प्राप्ता भूय. प्रियेयं, प्रियसुहृदि भवान् सङ्गतो मे वयस्यो  
 लभ्य किं चातिरिक्त यदपरमधुना प्रायेऽहं भवन्तम् ? ॥ ५८ ॥

जगति यानि अभिवाञ्छितानि तानि तु प्राप्तान्येव, अतो लब्धावशेषं नामान्यदित  
 किनपि इति विशिष्यावेदयितुं लब्धानि वस्तूनि विगृहीतव्यं प्रपञ्चयति, लब्धेति ।—  
 चारित्र्य—चरित्रमेव चारित्र्यं सौशील्यम् इत्यर्थः तस्य, वसन्तसेनाइत्याऽपवादो  
 कल्पीकृतस्येति शेषः, शुद्धिः—वसन्तसेनावधरूपात् दुरपनेपारोपितापवादात्  
 विमुक्तिरित्यर्थः, लब्धा—सवाहक-व्यावरकादीनामनुग्रहेण प्राप्ता, मयेति शेषः, यथा  
 हि स्वभावशुद्धं वस्तु वाह्यं मलीनं च समाच्छादितं सत् प्रधमत् कल्पितं भवति  
 पश्चात् पावनैः सलिलैः प्रक्षालितं पुनः स्वाभाविकी शुद्धिमुपैति, तद्वत् स्वभावशुद्धं  
 नञ्चरित्रमपि पापेन शकारेण कल्पीकृतं पुनः पुण्यात्मभिः सवाहकादिभिः विगृह्य  
 मजनीति तात्पर्यम्, एषः—अयः, पुरतः दृष्टायमानं शकार इत्यर्थः, शत्रुरपि—  
 रिपुरपि, सन्त्येव सा शतयितुमीहमानोऽपीत्यर्थः, चरणनिपतितः—पदतले पतितः,  
 शरणागत इति यावत्, अत एव सुक्तः—परिवातः, दण्डविधानमङ्गलैव परित्यक्तं  
 इत्यर्थः, “विनिपातप्रतीकारं सरम्भो हि महात्मनाम्” इति स्मरणात् चरणपतनादेव  
 सञ्जनानां क्रोधः शान्त्यमुपैति इति भावः, प्रियसुहृत्—प्रियनिवृत्तम्, आर्थिकः—  
 तन्नामा गोपालदारकः, प्रीत्खातम्—उत्पाटितम्, अरातीना—शत्रूणां, मूलम्—  
 आदिः, रिपुमहीरुहशिकाभूतपालकनृपतिरित्यर्थः, येन तादृशः, [ अनेन रिपुकूलस्य  
 पुनरङ्कुरोत्पत्तिसम्भावनाऽपि निराकृता इति बोध्यम् ] अत एव राजा—नृपति  
 सन्नित्यर्थः, अचला—भुवः, (“भूर्भूमिरचलानन्ता” इत्यमरः ) शास्ति—नियमयति,  
 शुद्ध्या दुष्टान् निगृह्यन् शिष्टान् पालयतीत्यर्थः, तथा इयम्—एषा, सत्यमुखात्  
 परिभटेति यावत्, प्रिया—प्रणयिनी वसन्तसेनेत्यर्थः, भूयः—पुनरपि, प्राप्ता—अधि-  
 गता, एव मे—मम, वयस्यः—प्रियवस्तु, भवान्—त्वः, शर्व्विलक इत्यर्थः, प्रियसुहृदि  
 —प्रियनिवे आर्थिके मयि वा, सङ्गतः—मिलितः, अतिरिक्तम्—अधिकञ्च, एष्य इति  
 शेषः, किं लभ्य—प्राप्तव्यम् ? अस्तीति शेषः, अधुना—इदानीम्, अहं भवन्तः—त्वा,  
 यतः अपरम्—अन्यत्, एष्य अतिरिक्तमित्यर्थः, प्राये—याचे, सुहृद्भिर्भवद्भिः सत्या-  
 दितसकलक्षिततया न किनपि मे अपरं प्रार्थयितव्यमस्तीति भावः । सम्भरा वृत्तः—  
 “चर्षेणानां वयेण विमुनियतियुता सम्भरा कौर्त्तितेयम्” इति लक्षणात् ॥ ५८ ॥

काश्चित् तुच्छयति प्रपूरयति वा, काश्चिन्नयत्युन्नतिं,  
 काश्चित् पातविधौ कराति च पुन. काश्चिन्नयत्याकुलान् ।  
 अन्योऽन्यं प्रतिपक्ष-संहतिमिमा लोकस्थिति बोधयन्  
 एष क्रौडति कूपयन्त घटिकान्याय-प्रसक्तो विधिः ॥ ५८ ॥

इदानीं प्राक्तनीम् आत्मीयामवस्थां स्मरन् विधे विलसितस्य अचिन्तनीववैषम्यं  
 प्रदर्शयति, काश्चिदिति ।—कूपयन्त—कूपस्य—स्वनामख्यातस्वल्पपरिसरगभोरजला-  
 शयस्य, यन्त—जलीतलनसाधनम्, अरघटापरनामक, “कपिकल” इति वङ्गभाषा-  
 प्रसिद्ध लपायविशेष, तस्य या घटिका—चुद्रघटी, रज्ज्वा यौवायो वड जलाधार-  
 पावमेद, [ ऋस्व ( चुद्र ) घट इति घटिका, घटशब्दात् चुद्रार्थे “ऋस्वे” ( ५३/८३  
 पा० ) इति कन्, तत् स्त्रियामाप् ] तस्या न्याय, —आचरण, नियम इत्यर्थे, तत्र  
 प्रसक्त, —रत, —प्रवृत्त इत्यर्थे, तदनुकूपव्यवहारक इति यावत्, एष विधि, —  
 दैवम्, अविज्ञेयप्रसरमिति यावत्, अन्योन्य—परस्पर, प्रतिपक्षाणां—विरोधिनाम्,  
 धनित्वाधनिलीत्रत्यवनतिप्रभृतिधर्माणामिति यावत्, संहति—समष्टिरूपम्, इमाम्—  
 एतां, सदा सर्वैरेव अनुभूयमानामित्यर्थे, लोकस्थिति—लोकव्यवहार, ससारगति-  
 मित्यर्थ, बोधयन्—ज्ञापयन् सन्, क्रौडति—दौर्व्यति, [ दैव हि पुरुषाधिष्ठित, तेन  
 हि आययभुतस्य नमनीन्नमनेन आययिन तस्य तथात्वमव्याहृतमेवेति विधे  
 कूपयन्तव्यवहार सुसङ्गत एवेति ज्ञेयम् ] क्रौडयति हि तत् दैवविलसित येन जना-  
 निरन्तर यन्त्रादृष्टमूर्तिवन् नर्त्यन्ते, इति तदेव विशदीकृत्याह, काश्चिदिति ।—अत्र  
 विधि काश्चित्—कियत, जनान् इति शेष, तुच्छयति—तुच्छान्—निर्धनत्वाद्धेतो  
 घृणितान्, धनमानादिराहित्येन सारभूतानपि असारान् करोतीत्यर्थ, [ तुच्छान्  
 करोति इति तुच्छशब्दात् “तत्करोति तदाचष्टे” ( वा० ) इति णिचि तुच्छिना-  
 धातोर्लटि रूपम् ] काश्चित्—कियत, तुच्छानपि जनानित्यर्थ, प्रपूरयति—धन-  
 मानादिभि पूर्णान् करोति, काश्चित् उन्नति—वृद्धि, नयति—प्रापयति,—उन्नत  
 पदाब्दान् करोतीत्यर्थ, काश्चित् पातविधौ—पातनविषये, करोति—स्थापयति,  
 अथ पातयतीत्यर्थ, पुन काश्चित् आकुलान्—विविधदुर्घटनादिभि व्याकुलान्,  
 शोकमोहादिभिर्विषयैस्तानित्यर्थ, नयति—करोतीत्यर्थ, कूपयन्तस्य सञ्चलनगति-  
 तन्मनावनमनाद्यनुसारेण तन्निवद्धा घटिका अपि यथा चालिता सता उन्नता अव-  
 नता पुष्पा रिक्ताश्च भवन्ति, तथा दैवस्य प्रातिकुल्यानुकूल्यादिवशात् शरीरिणीऽपि  
 इत्यर्हो अविभावनीयमेतत् विधे विलसितमिति भावः । अत्र एकमेव विधे तुच्छो



तथापि इदम् अस्तु भरतवाक्यम्, ( ढ )—  
 क्षीरिण्य सन्तु गावो भवतु वसुमती सर्वसम्पन्नशस्या,  
 पर्जन्य कालवर्षी, सकलजनमनो-नन्दिनो वान्तु वाता ।  
 मोदन्ता जन्मभाज सततमभिमता ब्राह्मणाः सन्तु मन्तः  
 श्रीमन्तः पान्तु पृथ्वीं प्रशमितरिपवो धर्म्मनिष्ठाश्च भूपा ॥ ६० ॥

[ इति निष्क्रान्ता मन्त्रः । ]

इति संहारो नाम दशमोऽङ्कः ॥ १० ॥

करणाद्यनेकक्रियाभिः कर्तृत्वेनाभिसम्बन्धात् दीपकालङ्कारः । अन्तर्विक्रीडित  
 वृत्तम् ॥ ५८ ॥

( ढ ) तथापि—सर्वविधे प्रियकर्मणि सम्पन्नेषु, यदि अन्यकिञ्चित् प्रिय  
 प्रार्थनं विद्यते, तदा इत्यर्थः । इदं—वक्ष्यमाणरूपमित्यर्थः । भरतव—भरतस्य—  
 तदाख्यनाय्यशास्त्रप्रवर्तकमुनिविशेषभूमिक्षाऽवलम्बितं नटस्य, । अथ—वचनम्,  
 इत्यादिशसनमूचकवचनरचनमित्यर्थः, नाय्याचार्य्ये भरते तच्छिष्यजीविभास्वेष्टा  
 प्रगाढा भक्तिं सूचयितुं तदाकालेन स्ववाक्यमवतारितमिति ज्ञेयम् । अत्र नाय्यगुरु-  
 मुखेणैव जगतः शान्तिसंस्थापनप्रार्थनापरत्वेन नटनीत्कीर्त्तितं प्रबलकानां श्रीमतां  
 राज्ञा तच्छासितानां देशानां शुभस्य शान्तेश्चाशनरूपं प्रशस्तिकं निर्वहणसम्भवे  
 चरमनन्दनिन्दं वेदितव्यम्,—“नृपदेशादिशान्तिस्तु प्रशस्तिरभिधीत इति दर्पणोक्त-  
 लक्षणात् ।

तदेव भरतवाक्यनाट्यं, क्षीरिण्य इति ।—गावः,—सौरभे क्षीरिण्य,—दुग्ध-  
 वत्यः, सन्तु—भवन्तु, परम्परया आज्याद्युत्पादकतया तां सृष्टिमूलत्वादिति  
 भावः, वसुमती—पृथिवी, सर्वसम्पन्नशस्या—सर्वतोभावेन शान्तिः,—परिपूर्णानि,  
 शस्यानि—यवगोधूमादीनि यव तादृशी, विविधशस्यपि इत्यर्थः, यद्वा,—  
 सम्पन्नानि—भूतिवृद्ध्याद्यात्मक-इतिरूपप्रतिबन्धरहिततया शान्तिरिति शस्यानि—  
 वृक्षादीनां फलानि, “वृक्षादीनां फलं शस्यम्” इत्यमरीक्या कलमकलावादीनि  
 चैवगतानि च “शस्यं चैवगतं प्राहुः” इत्युक्ते, ततश्च, —विविधानि सम्पन्न-  
 शस्यानि यस्यां तथाविधा, विविधस्वादुफलमुगन्धिकुम्भशस्यसमूहेति यावत्,  
 भवतु—अस्तु, पर्जन्य,—मेघः, काले—यथासमये,—वारिं ददाति यः,  
 तादृशः, भवतु इति शेषः, वाता,—वायवः, सकलजन्मसर्वलोकानां, मनांसि

—चेतासि, नन्दयन्ति—उत्फुल्लयन्तीति तयोक्ता सन्त, वान्तु—वहन्तु, जन्मभाज, —  
जन्मिन, उत्पत्तिमन्त प्राणिन सर्वे इत्यर्थ, नोदन्ता—दृष्यन्तु, सुप्तेन तिष्ठन्तु इत्यर्थ, —  
ब्राह्मणा, —विप्रा, सतत—मर्च्यदा, अभिमता, —यथाविधि स्वधर्मस्य अनुष्ठान  
वन्त, सर्वेषां हितकारितया वर्त्तमानत्वात्, सर्व्वसम समादृता इति वा, तथा  
सन्त, —माधव, सदाचारपरायणा इत्यर्थ सन्तु—भवन्तु, च—तथा, त्र्योमन्त, —  
लज्जोवन्त, प्रशंसिता, —निराकृता, रिपव, —शवव ये तादृशा, निष्कण्टका  
पराक्रमशालिन इत्यर्थ, धर्मनिष्ठा, —धर्मपरायणा, भगवन्मनुप्रदर्शितराजधर्मानु-  
पालिन इत्यर्थ, भूपा, —नृपतय, पृथ्वी—धरणी, पान्तु—रचन्तु, दृग्ग्यान्  
दृग्ग्यन्तु। गृष्टायान्पालयन्त्वित्यर्थ । “अन्ते कायस्य नित्यत्वात् कुल्यादाशिपमुत्तमास”  
इति सारस्वतालङ्कारवचनात् स्वरचितकाव्यान्ते कविना निबद्धा नायकाभिनाप्तानु-  
सारिणी आश्रयिणीत्यपि बोध्यम् । सम्भरा वृत्तमिदम् ॥ ६० ॥

इत्यग्रेपशास्त्रवैसञ्चरणपञ्चाननेन पण्डितकुलपतिना वि, ए, उपाधिवारिणा  
श्रीमञ्जीनन्दविद्यासागरभट्टाचार्येण विरचिताया, तदात्मजाभ्या  
पण्डितोमदाशुबोधविद्याभूषण-पण्डितश्रीमन्नित्यबोधविद्यारवाभ्या  
तिसकृतायाचामलाख्याया मृच्छकटिकव्याख्याया

दशमोऽङ्कः ॥ १० ॥



